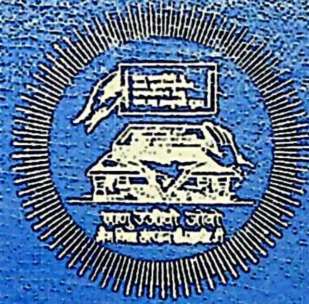
तार्किक-शिरोमणि आचार्य विद्यानन्दकृत

अष्टसहस्री



प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

तार्किक-शिरोमणि आचार्य विद्यानन्दकृत

अष्टसहस्री

सम्पादक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
ब्रह्मचारी सन्दीप जैन 'सरल'



प्रकाशक
जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

❒ प्रकाशक
जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
श्रीमहावीरजी–३२२२२० (राज.)

❒ सम्प्रेरक
आचार्यश्री १०८ विद्यासागरजी
इतिहासविद् पं० जुगलकिशोर मुख़्तार, सरसावा (सहारनपुर)
डॉक्टर गोपीचंद पाटनी, पूर्व संयोजक जैन विद्या संस्थान जयपुर
श्री ज्ञानचंद खिन्दूका, पूर्व संयोजक जैन विद्या संस्थान जयपुर

❒ सम्पादक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य, बीना (सागर) म०प्र०
ब्र० संदीप जैन 'सरल', अनेकान्त ज्ञान मंदिर, बीना (सागर)

❒ प्राप्तिस्थान :
१. जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)
२. अपभ्रंश साहित्य अकादमी
दिगम्बर जैन नसिया भट्टारकजी
सवाई रामसिंह रोड, जयपुर- ३०२००४

❒ प्रथम संस्करण १९९७

❒ मूल्य रु० ३५०-००

❒ मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय,
१९, जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी-१०

विषयानुक्रमणिका

आरम्भिक

डॉ० दरबारीलाल कोठियाके द्वारा सम्पादित ''अष्टसहस्री'' विद्वानोंके हाथोंमें समर्पित करते हुए हर्षका अनुभव हो रहा है।

''अष्टसहस्री'' जैन न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। भारतीय न्यायके अध्येताओंके लिए यह ग्रन्थ अपरिहार्य है। अष्टसहस्री के रचयिता आचार्य विद्यानन्दका समय ई० ७७५-८४० है। इस ग्रन्थके मूलमें आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रणीत देवागमस्तोत्र / आप्तमीमांसा है। इस पर आचार्य अकलंकदेव (आठवीं शती) ने 'अष्टशती' नामक व्याख्या लिखी। आठ सौ श्लोक-प्रमाण होनेसे इसे 'अष्टशती' कहा गया है। यह सबसे प्राचीन और अत्यन्त दूरूह व्याख्या है। इस पर आचार्य विद्यानन्दने 'अष्टसहस्री' नामक व्याख्या लिखी, जो आठ हजार श्लोक-प्रमाण होनेसे अष्टसहस्री कही गई। यह देवागम (आप्तमीमांसा) की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या है, साथ ही इसमें अष्टशतीका मर्म भी प्रस्तुत किया गया है।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया समाज एवं विद्वद्वर्गमें समानरूपसे प्रतिष्ठित हैं। उनके द्वारा किया गया यह सम्पादन-कार्य युगों-युगों तक न्याय-शास्त्रके अध्येताओंके लिए प्रेरणा-स्रोत रहेगा। डॉ० कोठियाको साधुवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संस्थापित एवं संचालित जैनविद्या संस्थान जैनधर्म, दर्शन एवं संस्कृतिकी बहुआयामी दृष्टिको सामान्यजन एवं विद्वानोंके समक्ष प्रस्तुत करनेके लिए सतत प्रयत्नशील है। डॉ० कोठिया द्वारा संपादित यह ग्रन्थ सामान्यतया भारतीय न्याय एवं मुख्यतया जैन न्यायके विद्वानोंके लिए उपयोगी होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

हम डॉ० कोठिया के आभारी हैं कि उन्होंने ''अष्टसहस्री'' नामक संपादित ग्रन्थ जैनविद्या संस्थानको प्रकाशनार्थ सौंपा। हम जैनविद्या संस्थान समिति के संयोजक डॉ० कमलचन्द सोगाणीके आभारी हैं कि उन्होंने इस ग्रन्थके प्रकाशनकी व्यवस्था डॉ० कोठियाकी भावनाके अनुरूप वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसीमें की। अतः पुस्तक प्रकाशन के लिए महावीर प्रेस, वाराणसी व डॉ० कोठियाजी के शिष्य डॉ० उदयचन्द्र जैन वाराणसी व ब्रह्मचारी संदीपजी ''सरल'' तथा जैनविद्या संस्थान के कार्यकर्त्ता धन्यवादार्ह हैं।

बलभद्रकुमार जैन
संयुक्त मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रकाशकीय

''जैन अनुश्रुतिके अनुसार कालके अन्तरालको लिए हुए चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि, तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ और चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर तो ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्ध भी हैं। इन तीर्थंकरोंके द्वारा जो उपदेश दिया गया वह द्वादशांग कहा गया है। वह द्वादशांगश्रुत दो भागोंमें विभक्त है— अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। जो श्रुत तीर्थंकरों तथा उनके प्रधान एवं साक्षात् शिष्यों द्वारा उक्त है वह अंगप्रविष्ट है तथा जो इसके आधारसे उत्तरवर्ती प्रवक्ताओं द्वारा रचा गया है वह अंगबाह्य है। अंगप्रविष्टके बारह भेदोंमें एक दृष्टिवाद है जो बारहवां श्रुत है। इस बारहवें दृष्टिवाद श्रुतमें विभिन्न वादियोंकी एकान्त दृष्टियों एवं मान्यताओंका निरूपण और समीक्षाके साथ उनका स्याद्वाद-न्यायसे समन्वय किया गया है।''

''आचार्य समन्तभद्रने सभी तीर्थंकरोंको स्याद्वादी कहा है। अकलंकदेवने भी उन्हें स्याद्वादका प्रवक्ता कहा है।''

जैन न्यायका सर्वप्रथम विकास स्वामी समन्तभद्रने अपनी कृतियों द्वारा प्रस्तुत किया है। इनका अस्तित्व ईसाकी दूसरी-तीसरी शतीमें माना गया है। ईसाकी सातवीं-आठवीं शतीमें आचार्य अकलंकदेव जैन न्यायके प्रतिष्ठाता कहे गये हैं। जैन न्यायकी परम्परामें आचार्य विद्यानन्द उन सारस्वतोंमें गणनीय हैं जिन्होंने एक-से-एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। इनका समय ई०७७५-८४० है। इन्होंने अपने समग्र ग्रन्थ प्राय: दर्शन और न्याय पर ही लिखे हैं। जो अद्वितीय और बड़े महत्त्वके हैं। ये दो तरहके हैं— टीकात्मक और स्वतन्त्र।

''तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक'' टीकात्मक ग्रन्थ है। आचार्य विद्यानन्दने आचार्य गृद्धपिच्छके सुप्रसिद्ध ''तत्त्वार्थसूत्र'' पर पद्यात्मक श्लोकवार्तिक रचा है और उसके पद्य-वार्तिकों पर उन्होंने स्वयं गद्यमें भाष्य अथवा व्याख्यान लिखा है। द्वितीय टीका आचार्य समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा) पर गद्यमें रचित अष्टसहस्री नाम से विख्यात है।

वास्तवमें देवागमकी तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं— १. देवागम-विवृति (अष्टशती भाष्य), २. देवागमालंकार (आप्तमीमांसालंकार-अष्टसहस्री) और ३.देवागमवृत्ति। देवागम-वृत्ति के रचयिता आचार्य वसुनन्दिदेव हैं। यह सामान्य है। अष्टशतीको ध्यानमें रखकर ही अपनी ''देवागमालंकृति'' व्याख्या को आचार्य विद्यानन्दने आठ हजार श्लोक प्रमाण बनाया और ''अष्टसहस्री'' नाम रखा। भारतीय दर्शन-साहित्यमें इसकी जोड़की रचना दुर्लभ है।

देवागमालंकृति (अष्टसहस्री) आचार्य विद्यानन्दकी अपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। इसे आप्तमीमांसालंकृति, आप्तमीमांसालंकार और देवागमालंकार–इन तीनों नामोंसे भी साहित्यमें उल्लिखित किया गया है। आठ हजार श्लोक प्रमाण होनेसे इसे लेखकने स्वयं ''अष्टसहस्री'' कहा है। देवागमकी तीनों व्याख्याओंमें यह विस्तृत और प्रमेयबहुल है। इसमें देवागमकी कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादिका विस्तारपूर्वक अर्थोद्‌घाटन किया है। साथ ही उपर्युक्त अष्टशतीके प्रत्येक पदवाक्यादिका भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। व्याख्याकारने अपनी इस व्याख्याके महत्वकी उद्घोषणा करते हुए लिखा है– ''हजार शास्त्रोंका पढ़ना-सुनना एक तरफ है और एकमात्र इस कृतिका अध्ययन एक ओर है, क्योंकि इस एकके अभ्याससे ही स्वसमय और परसमय दोनोंका ज्ञान हो जाता है।''

इस पर लघु समन्तभद्र (१३वीं शती) ''अष्टसहस्री-विषमपद-तात्पर्य-टीका'' और श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७ वीं शती) ने ''अष्टसहस्री-तात्पर्य-विवरण'' नामकी व्याख्या लिखी हैं, जो अष्टसहस्रीके विषमपदों, वाक्यों और स्थलोंका स्पष्टीकरण करती हैं।''

स्व० पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने पाटन (राजस्थान) में स्थित श्वेताम्बर शास्त्रभण्डार में मौजूद विक्रम

सं० १४५४ में लिखी प्रति मुनि जिनविजय जी द्वारा मंगाकर संपादक के लिए दी। यह प्रति सुन्दर, स्वच्छ और स्पष्ट पढ़ी जाती है।

मुझे लिखते हुए गर्व है कि अष्टसहस्री जैसे महान् ग्रन्थका सम्पादन कर डॉ० दरबारीलाल कोठियाने एक अनूठा कार्य किया है। इसका सम्पादन करनेके लिए अन्य प्रतियाँ सतना, ललितपुर व सागरसे प्राप्त की गई हैं। पाटनकी प्रति कालगणनाकी दृष्टिसे प्राचीन है। सम्पादनमें डॉ० कोठियाने उसे ही प्रमुखता दी है।''

डॉ० कोठिया जैन न्यायके मर्मज्ञ एवं उद्भट विद्वान हैं। बीसवीं शतीके जैन तार्किकोंमें डॉ० कोठियाका नाम गौरवसे लिया जा सकता है। इनके द्वारा ''जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार'', ''जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन'' तथा ''जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा'' ये तीन अनुसंधानपूर्ण मौलिक कृतियाँ हिन्दीमें प्रस्तुत की गई हैं। न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि रचनाएँ आपके द्वारा संपादित हैं जिनकी प्रस्तावनाएँ पठनीय हैं।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान डॉ० कोठिया द्वारा संपादित अष्टसहस्रीको प्रकाशित कर हर्षका अनुभव कर रहा है। जैनविद्या संस्थान डॉ० कोठियाका आभारी है। इस ग्रन्थके प्रकाशनमें ब्रह्मचारी संदीपजी ''सरल'', प्रो० उदयचंद्र जैन वाराणसी तथा वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के मुद्रण में श्री बाबूलाल जी ''फागुल्ल'' का सहयोग प्रशंसनीय रहा। हम इन सबके आभारी हैं।

डॉ० कमलचन्द सोगाणी
संयोजक
जैनविद्यासंस्थान समिति

अपनी बात और आशीर्वाद

सुना है लोगोंने 'अष्टसहस्रीको' 'कष्टसहस्री' का नाम दिया है। विचारें ! यदि ऐसा ही होता तो ८६ वर्षकी अवस्थाको प्राप्त श्री डॉ॰ पं॰ दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य इस ग्रन्थका निर्दोष सम्पादन कर सकते थे क्या ? जब हमने पहली बार इस ग्रन्थको पढ़ा तो बहुतसा विषय अस्पष्ट रह गया, लेकिन पंडितजीके साथ बैठकर अध्ययन किया, प्राय: सभी विषय स्पष्ट हो गया।

दूसरी बार अष्टसहस्री पढ़नेसे पूर्व न्यायके अन्य ग्रन्थोंको पढ़ एवं पढ़ा चुके थे। दूसरी बार पढ़ते समय ऐसा अनुभव हुआ कि लोगोंको यह ग्रन्थ 'कष्टसहस्री' प्रतीत क्यों हुआ ? समाधान भी मिल गया कि जो न्यायका क्रमसे अध्ययन नहीं करते, उन्हें ही यह वैसा प्रतीत होता है। न्यायकी कुन्जी 'परीक्षामुख', इसकी टीका 'प्रमेयरत्नमाला', 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' एवं न्यायके अन्यान्य ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद प्रस्तुत ग्रन्थराज का अध्ययन करनेमें कोई कठिनाई नहीं है, ऐसा अनुभव है। ''परीक्षामुखके'' सूत्रोंको णमोकार मंत्र जैसा रट लिया जाये तो उच्च कोटिके न्याय ग्रन्थोंके पढ़नेमें रुचि बढ़ जाती है, क्योंकि पढ़नेमें कठिनाई नहीं जाती।

हमारी पढ़नेमें रुचि देखकर, पण्डितजी पढ़ाते समय कभी-कभी बीचमें ही कह दिया करते थे- महाराज ! आप दस-पाँच वर्ष पूर्व पढ़नेके लिये आ गये होते तो न्यायग्रन्थोंके पठन-पाठन की परंपरा चिरकाल तक चलती रहती। वर्तमानमें आप जैसे बहुत ही कम साधु हैं, जो न्याय एवं व्याकरण जैसे विषयको पढ़नेमें रुचि रखते हों। यह कहते अवश्य सुने गये हैं– जब इस समय शास्त्रार्थ तो होते नहीं, फिर इन ग्रन्थोंको पढ़नेकी क्या उपयोगिता है ? हमने कहा– हाँ, सुना तो है। हम पण्डितजी से अकलंकस्वामीके न्यायग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहते थे, लेकिन उनकी अवस्थाको देखते हुए वैसा सम्भव न हो सका। अन्यत्र दुबारा मिलने, भेंट होने पर हमने कहा कि पण्डितजी न्यायके ये ग्रन्थ अल्मारियोंकी शोभा बढ़ाते हुए दीमकके लिये होंगे, दिमाग के लिये नहीं ? वे कहने लगे– महाराजश्री ! इन्हें तो आप स्वयं ही लगायें।

एक दिन अध्ययन प्रारम्भ होने से पूर्व पण्डितजीके साथ आये हुए जिज्ञासु कहने लगे– क्या आवश्यकता है इस समय इन ग्रन्थोंको पढ़ने की। हमने कहा– इसका समाधान पण्डितजी बहुत अच्छीतरहसे कर सकते हैं; फिर भी हम अपने अनुभवसे कहें कि जितनी आवश्यकता हमें नहीं है, उतनी उन्हें है जो अपने आपको 'जैन' कहकर भी एकान्त पकड़ बैठे हैं। वे कहने लगे– कैसे ? 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता' यह मान्यता स्त्रीमुक्तिका ही नहीं सारे मिथ्यामतोंका समर्थक कैसे ? लिखी जा रही मुमुक्षुसमीक्षा पढ़कर समझ लेना। यह भी अनुभव किया है कि समयसार जैसे अध्यात्मग्रन्थोंके विषय को गहराईसे समझनेके लिये द्रव्यानुयोगके अतिरिक्त अन्य अनुयोगोंके विषयको समझना परम आवश्यक है। समयसार ग्रन्थमें भी आचार्य कुन्दकुन्दने मतान्तरोंका नाम लेते हुए उल्लेख किया है, लेकिन वह अध्यात्मग्रन्थ होनेसे उनका विस्तृत विवेचन नहीं किया, अत: उन्हें विस्तारसे समझनेके लिये न्यायग्रन्थोंको पढ़ना आवश्यक प्रतीत हुआ / होता है।

मैं समझता हूँ न्यायग्रन्थोंके आधार पर एवं न्यायशैली से जितने अच्छे ढंगसे अध्यात्म ग्रन्थोंको पण्डितजी जैसे विद्वान् समझा सकते हैं वैसा कोई सिद्धान्ताचार्य भी नहीं समझा सकते हैं। न्यायग्रन्थोंको पढ़नेसे बुद्धि इतनी तार्किक एवं तीक्ष्ण हो जाती है, जो तत्त्वकी गहराईमें पहुँचनेमें एक असाधारण कारण है। धर्मका रूप ले चुकीं समाज में व्याप्त कुरीतियोंको कुरीति समझ लेना उपरोक्त बुद्धि की तीक्ष्णता पर ही निर्भर है, यह भी अनुभव है। 'शास्त्री', 'आचार्य',

'सिद्धान्ताचार्य' जैसी उपाधिसे विभूषित पण्डित पैसे एवं सम्मानके प्रलोभनमें आकर एकान्तमतके समर्थक बन बैठे। इस विषय में पण्डितजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करनेमें अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उन्हें उपरोक्त प्रलोभन छू भी नहीं सका। हम समझते हैं– इसका मुख्य कारण उनका न्यायविद् होना है। 'न्यायका' एक अर्थ यह भी होता है जिसे अन्यायके प्रतिकूल अर्थके रूपमें जाना जाता है। कहनेका तात्पर्य है– इन्होनें प्रलोभनमें न आकर धर्म ही कमाया, पापमय धन नहीं। यही चिरकालसे संचित धर्म उन्हें निर्दोष समाधिके लिये प्रेरित करता है। उपरोक्त तरीकेसे धन कमाया होता तो शायद है उपरोक्त प्रेरणा न मिलती। जैसे अधिकांश विद्वानोंको नहीं मिली, जिनका लक्ष्य धन रहा है। वैसे तो प्रायः लोग हर किसीके दीर्घजीवनकी कामना किया करते हैं, लेकिन जैन सिद्धान्तमें एकान्त है कहाँ ?

मैं समन्तभद्र स्वामीका अनन्य भक्त हूँ, उनके प्रति श्रद्धाका मुझमें अतिरेक है। पंडितजी न्यायविद् हैं। अतः यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि उनकी भी स्वामी जी के प्रति मेरी ही जैसी स्थिति होगी, क्योंकि स्वामी जी, मानो, न्यायके अवतार थे, जिनका पण्डितजीने ज्ञानके क्षेत्रमें अनुसरण किया है, उन्हें अपना आदर्श बनाया है। जीवनभर और अन्तके समय में उन्हींके द्वारा रचित श्रावकाचारको आदर्श बनाकर उन्हींके समान स्वर्गका अधिकारी बनकर मोक्ष चाहते हैं। अर्थात् 'उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां' इत्यादि श्लोकके अनुसार धर्मके लिए शरीरको छोड़ना चाहते हैं। उपरोक्त चारोंमेंसे कोई कारण उपस्थित होने पर कौन विवेकी करेगा किसीके दीर्घजीवन की कामना।

ब्रह्मचारी 'संदीपजी' जैनके सक्रिय सहयोगसे पण्डितजी द्वारा सम्पादित अष्टसहस्री ग्रन्थके प्रकाशनको पण्डितजी अपने सांव्यहारिक प्रत्यक्षसे देख सकें, यह तो अच्छी बात है, अन्यथा अपने अवधिज्ञानसे तो देखेंगे ही, इसके लिये उन्हें हमारा बहुत-बहुत आशीर्वाद है कि वे पंडितमरण करें, न कर सकें साहस, तो बाल पण्डित ही सही। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं वीर भी मरता है, संयमी भी मरता है और असंयमी भी मरता है, जब दोनों ही मरते हैं तो वीरता के साथ ही मरण करना चाहिए। इत्यलम्।

— मुनि सरलसागर

चातुर्मास-प्रवास
देवरी (सागर) म०प्र०

सम्पादकीय

जैन साहित्य और पुरातत्त्वके वेत्ता स्व॰ पं॰ जुगलकिशोरजी 'मुख्तार' सरसावा, जिला, सहारनपुरकी हमेशा प्रेरणा रही कि मैं न्यायदीपिका और आप्तपरीक्षाके सम्पादनकी तरह तार्किक-शिरोमणि आचार्य विद्यानंदकी अष्टसहस्रीका, जिसे 'कष्टसहस्री' कहा जाता है, सम्पादन करूँ। उनके विचारको मूर्त्त रूप देनेके हेतु उन्होंने ही पाटन (राज॰) में स्थित श्वेताम्बर-शास्त्रभण्डारमें मौजूद विक्रम सं॰ १४५४में लिखी प्रति मुनि जिनविजय जी द्वारा मँगाकर दी। प्रति सुन्दर, स्वच्छ और स्पष्ट पढ़ी जाती है। इसी प्राचीन प्रति परसे अष्टसहस्रीका सम्पादन किया। साथमें ललितपुरके शास्त्र- भण्डारमें उपलब्ध और पं॰ श्यामलालजी द्वारा प्राप्त, सतना (म०प्र०) के दिग० जैन मंदिरमें मौजूद एवं श्री नीरजजी द्वारा प्राप्त एवं वर्णीभवन मोराजी, सागर (म०प्र०) के शास्त्रभण्डारमें उपलब्ध और पं० दयाचंदजी जैन साहित्याचार्य द्वारा प्राप्त प्रतियोंकी भी सहायता ली गई है, कहीं-कहीं छोड़ भी दिया गया है तथा इन सब प्रतियोंका संकेत 'प' से पाटन, 'ल' से ललितपुर, 'स' से सतना और 'सा' से सागर किया गया है।

मुद्रित प्रतिमें प्राप्त "श्रीमदकलङ्क" तथा "वीरसेनाख्य" एवं "कष्टसहस्री सिद्धा"— ये तीन पद्य पाटन की प्रतिमें अनुपलब्ध हैं। साथ ही अन्तिम दो पद्य ललितपुर एवं सागरकी प्रतियोंमें नहीं पाये जाते, केवल "श्रीमदकलङ्क" पद्य पाया जाता है। पाटनकी प्रति कालगणनाकी दृष्टिसे सबसे प्राचीन है। सम्पादनमें हमने उसे ही प्रमुखता दी है। इस प्रतिके लेखकने कालगणना सूचक एक पद्य संस्कृतमें स्वयं रचकर दिया है, जो निम्न प्रकार है :

वेदेषुयुगभूसंज्ञे वत्सरे योगिनीपुरे।
लिखितोऽयं तपापक्षशालायां वाच्नाकृत्तो।।२०।।

पाटनकी प्रतिको हमने अधिक शुद्ध देखा एवं पाया तथा मुद्रित प्रतिको प्राय: अशुद्ध, अतएव उसका सम्पादन अभीष्ट था, किन्तु इस कार्यमें अनेक विघ्न-बाधायें आयीं। श्री महावीर जी (राज॰) में पूर्वसंयोजक माननीय श्री गोपीचंदजी पाटनीसे इसकी चर्चा की। उन्होंने कहा कि ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जैनविद्या संस्थानसे छपनेके लिए हमें प्रदान करें। किन्तु उक्त बाधाओंके कारण उस समय उन्हें न दिया जा सका, न ही पूर्वसंयोजक श्रीज्ञानचंदजी खिन्दूकाको दे पाया। प्रसन्नताकी बात है कि इन दोनों पूर्व संयोजकोंकी प्रेरणासे श्री महावीरजीकी कमेटी एवं वर्तमान संयोजक डॉ० कमलचन्द्रजी सौगाणीको प्रकाशित करनेका पूर्ण श्रेय मिला।

यद्यपि न्यायग्रन्थोंका प्रकाशन एवं पठन-पाठन अब दुर्लभ हो रहा है। फिर भी आचार्य विद्यानंदकी इस कृतिके महत्त्वको देखकर जैनविद्या संस्थानने प्रकाशनका प्रशंसनीय कार्य किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वर्तमानमें परम पूज्य श्री १०८ ज्ञानसागरजीके परम शिष्य एवं सर्वाधिक ख्याति प्राप्त आचार्य श्रीविद्यासागरजीने अतिशय क्षेत्र रामटेकजीमें मुझे निर्देश एवं आदेश दिया कि अष्टसहस्रीका सम्पादन करो, उसे ताम्रपत्र में टंकित किया जावेगा। उनकी आज्ञाको शिरोधार्य कर ५० वर्ष पूर्व अनछपी प्रस्तुत अष्टसहस्री अब छप रही है। अन्ततः इसका श्रेय भी श्री दिग० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजीकी कमेटी, उसके अध्यक्ष श्रीनरेशकुमारजी सेठी, पूर्व संयोजक डॉ॰ गोपीचंदजी पाटनी, पूर्व संयोजक श्रीज्ञानचंदजी खिन्दूका और वर्तमान संयोजक डॉ॰ कमलचन्द्रजी सोगाणीको प्राप्त है।

उल्लेख्य है कि परम पूज्य मुनि श्री १०८ सरलसागरजी महाराज इसका अध्ययन करनेके लिए ३५५ कि०मी० दूर खातेगांव से चलकर बीना आये थे, तथा जिसका उल्लेख महाराज ने स्वयं अपने प्रवचन में किया था और वे निश्चयत: हमसे अध्ययनरत रहे। महाराजश्रीने भी इसके सम्पादन-प्रकाशन के लिए प्रेरणा दी। प्रसन्नता है कि एक दिन ग्रन्थ की समाप्ति होने पर हर्षोल्लास भी प्रगट किया। उनका मंगल आशीर्वाद भी इसमें अन्यत्र प्रकाशित है।

मेरे सहायक कुशाग्रबुद्धि अध्येता ब्रह्मचारी संदीपजी 'सरल' को इस अवसर पर नहीं भुलाया जा सकता। उन्होंने मेरे निर्देशानुसार इसकी पाण्डुलिपि आदिके कार्यको बड़ी लगन से किया। मैं उन्हें धन्यवाद कैसे दूँ, वे चारित्रकी दृष्टिसे मुझसे अधिक पदासीन हैं। जैन न्यायमें यह कहा गया है कि "सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्"। इस युक्तिके अनुसार किसी भी कार्यकी जनक सामग्री होती है, एक कारण नहीं। अतएव सहयोग करनेवाले ये सभी महानुभाव मेरे साथ इसके सम्पादनमें सम्बद्ध हैं। मैं अकेला नहीं। दुर्भाग्य है कि पिछले १५ माहसे अस्वस्थ चला आ रहा हूँ। उसी अस्वस्थतामें यह सम्पादकीय लिखा गया हैं। इसका फाइनल प्रूफ प्रो० उदयचन्द्रजी वाराणसीने देखनेकी कृपा की, जो मेरे अतिनिकटवर्ती परम शिष्य रहे और अब काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैनबौद्धदर्शन विभाग के अध्यक्ष पदसे सेवानिवृत्त हैं। उन्हें आशीर्वाद देता हूँ। इसीके साथ बाबूलालजी जैन 'फागुल्ल' का प्रयत्न एवं मुद्रण में सहयोग प्रशंसनीय है। आप भी प्रो० उदयचन्द्रजीके साथ श्रीदिग० जैन अतिशय क्षेत्र पपौराजीमें मेरे योग्य शिष्य रहे हैं। उन्हें भी मेरा आशीर्वाद है।

—(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
सेवानिवृत्त रीडर
प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

स्थान–
बीना-इटावा (सागर) म०प्र०
१०/७/१९९७

प्रस्तावना

1. देवागम और समन्तभद्र

१. देवागम :

(क) नाम

प्रस्तुत कृतिका नाम 'देवागम' है। प्राचीन ग्रन्थकारोंने प्राय: इसी नामसे इसका उल्लेख किया है। अकलङ्कदेवने इसपर अपना विवरण (अष्टशती-भाष्य) लिखनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके आरम्भमें इसका यही नाम दिया है और उसे 'भगवत्स्तव' (भगवान् का स्तोत्र) कहा है।[१] विद्यानन्दने भी 'अष्टसहस्री (पृ० २९४)' में अकलङ्कदेवके अष्टशतीगत 'स्वोक्तपरिच्छेदे' पदकी व्याख्या 'देवागमाख्ये......शास्त्रे' करके इसका 'देवागम' नाम स्वीकार किया है।[२] वादिराज,[३] हस्तिमल्ल[४] आदि ग्रन्थकारोंने भी अपने ग्रन्थोंमें समन्तभद्रकी उल्लेखनीय कृतिके रूपमें इसका इसी नामसे निर्देश किया है। आश्चर्य नहीं कि जिस प्रकार 'कल्याणमंदिर', 'भक्तामर', 'एकीभाव' आदि स्तोत्र 'कल्याणमंदिर', 'भक्तामर', 'एकीभाव' जैसे आद्य पदोंसे आरम्भ होनेके कारण वे उन नामों से ख्यात हैं, उसी प्रकार यह 'स्तव' भी 'देवागम' पदसे आरम्भ होनेसे 'देवागम' नामसे अधिक प्रसिद्ध रहा हो और इसीसे ग्रन्थकारों द्वारा वह इसी नामसे विशेषरूपसे उल्लिखित हुआ हो। स्तवकारनें[५] इसका 'आप्तमीमांसा' नाम दिया है, जिसे अकलङ्कदेवने[६] 'सर्वज्ञविशेषपरीक्षा' कहा है। विद्यानन्द[७] ने अपने ग्रन्थोंमें 'देवागम' नामके अतिरिक्त इसके 'आप्तमीमांसा' नामका भी उपयोग किया है। इससे मालूम पड़ता है कि यह कृति जहाँ 'देवागम' नामसे जैन साहित्यमें विश्रुत है वहाँ वह 'आप्तमीमांसा' नामसे भी। और इस तरह यह महत्त्वपूर्ण रचना दोनों नामोंसे प्रख्यात है।

(ख) परिचय :

यह दश परिच्छेदोंमें विभक्त है और ये परिच्छेद विषय विभाजनकी दृष्टिसे स्वयं ग्रन्थकारोक्त हैं।[८] ग्रन्थकारकी यह दश-संख्यक परिच्छेदोंकी कल्पना हमें आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रके दश अध्यायोंका स्मरण दिलाती है। अन्तर इतना ही है कि सूत्र-ग्रन्थ गद्यात्मक तथा सिद्धान्तशैलीमें रचित हैं और देवागम पद्यात्मक एवं दार्शनिक शैलीमें रचा गया है। उस समय दार्शनिक रचनाएँ प्राय: कारिकात्मक तथा इष्टदेव की स्तुतिरूपमें रची जाती थीं। नागार्जुन, वसुबन्धु आदि दार्शनिकोंकी रचनाएँ इसी प्रकारकी उपलब्ध होती हैं। समन्तभद्रने भी समयकी मांगके अनुरूप अपने तीन (स्वयम्भू, युक्त्यनुशासन और देवागम) स्तोत्र दार्शनिक एवं कारिकात्मक शैलीमें रचे हैं।

प्रथम परिच्छेद

इसके दस परिच्छेदों में कुल११४ कारिकाएँ हैं। प्रथम परिच्छेद में १-२३ (कारिकाएँ) हैं। १-३ तक उन विशेषताओंका उल्लेख करके मीमांसा की गई है, जिनसे आप्त माननेकी बात कही जाती है। ४थीमें ऐसे व्यक्ति-विशेषकी सम्भावना की है, जो निर्दोष हो। ५वींमें ऐसे हेतुसे सामान्य आप्त (सर्वज्ञ) का संस्थापन (अनुमान) किया है जो साध्यका अविनाभावी तथा निर्दोष है। ६ठीमें वह सामान्य आप्तत्व युक्तिपूर्वक अर्हत् में पर्यवसित किया गया है और कहा गया है कि चूँकि उनका शासन (तत्त्वप्ररूपण) प्रमाणाविरुद्ध है, अत: वही आप्त प्रमाणित है। ७वींमें वर्णित है कि

जो एकान्त-तत्त्वके प्ररूपक हैं उनका वह एकान्त-प्ररूपण प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। ८वींमें यह बताया गया है कि एकान्तवादियोंका वह तत्त्व प्ररूपण प्रत्यक्ष-विरुद्ध कैसे है। यत: एकान्तवादी स्वपरवैरी हैं, अत: उनका पुण्यपापादिप्ररूपण उनके यहाँ सम्भव नहीं है। ९-११ तक तीन कारिकाओं द्वारा वस्तुको सर्वथा भाव (विधि) रूप स्वीकार करने पर प्रागभाव आदि चारों अभावोंके अपह्नवका दोष दिया गया है। बताया गया है कि प्रागभावका अपलाप करने पर किसीका उत्पाद नहीं हो सकेगा–अर्थात् कार्य अनादि हो जायेगा, प्रध्वंसाभावके न रहने पर किसीका नाश नहीं होगा–अर्थात् कार्य द्रव्य अनन्त हो जायेगा, अन्योन्याभावके निषेध करने पर 'यह अमुक है, अमुक नहीं' ऐंसा निर्धारण नहीं हो सकेगा– अर्थात् सब सबरूप हो जायेंगे और अत्यन्ताभावके लोप हो जाने पर वस्तुका अपना प्रतिनियत स्वरूप न रहेगा। इस तरह सारी वस्तुव्यवस्था चौपट (समाप्त) हो जायेगी।

कारिका १२ द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो वस्तुको सर्वथा अभाव (शून्य) रूप मानते हैं। कहा गया है कि अभावरूप वस्तु स्वीकार करने पर उसे स्वयं जाननेके लिए बोध (ज्ञान) और दूसरोंको जनाने-बतानेके लिए वचनरूप साधन-प्रमाणों तथा अनभिमत भावरूप वस्तुको स्वयं दोषपूर्ण जानने और दूसरोंको दोषपूर्ण बतानेके लिए उक्त दोनों (बोध और वचनरूप) दूषण-प्रमाणोंको स्वीकार करना आवश्यक है, जो सर्वथा अभाववादमें सम्भव नहीं, क्योंकि वे दोनों भावरूप हैं। कारिका १३ में सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव दोनों रूप वस्तुको मानने पर विरोध तथा उसे सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय) स्वीकार करने पर उसका 'अवाच्य' शब्दसे भी कथन न कर सकनेका दोष दिखाया गया है।

१४-२२ तक ९ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनय (अपेक्षावाद) से वस्तुको अनेकान्तात्मक अर्थात् भाव (विधि) और अभाव (निषेध) रूप विरोधी युगलको लेकर उसे सप्तभङ्गात्मक (सप्तधर्मरूप) सिद्ध किया है। २३वीं कारिका द्वारा एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि विरोधी युगलोंको लेकर भी वस्तु में सप्तभंगी (सप्तभङ्ग) की योजना करने की सूचना की गई है।

इस तरह इस प्रथम परिच्छेद में भाव और अभाव की एकान्त मान्यताओं की मीमांसा की गई है, जो ग्रन्थकारके समयमें चर्चित एवं बद्धमूल थीं। साथ ही उनका नय-विवक्षा से समन्वय करके उनमें सप्तभङ्गी द्वारा अनेकान्त की स्थापना की है।

द्वितीय परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेदमें २४ से ३६ तक १३ कारिकाएँ हैं। २४-२७ तक चार कारिकाओं द्वारा अद्वैतैकान्त (सर्वथा एकवाद) की समीक्षा की गई है और कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा एक मानने पर क्रियाभेद, कारकभेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुःखरूप फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप ज्ञानद्वैत और बन्ध-मोक्षरूप जीवकी शुद्धाशुद्ध दो अवस्थाएँ ये सब अद्वैतमें सम्भव नहीं हैं। इसके सिवाय हेतु से अद्वैत की सिद्धि करने पर साधन और साध्यका द्वैत स्वीकार करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। यदि बिना हेतु के ही अद्वैत माना जाये, तो द्वैतको भी बिना हेतु के मान लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादमें यह भी विचारणीय है कि 'अद्वैत' पदमें जो 'द्वैत' शब्द पड़ा हुआ है उसका वाच्य द्वैत है या नहीं ? क्योंकि नामवाली वस्तुका निषेध उसके अस्तित्वको स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता और द्वैतको स्वीकार करने पर सर्वथा अद्वैतकी मान्यता समाप्त हो जाती है। यथार्थमें अद्वैत द्वैतका निषेध है और द्वैत वस्तुभूत अद्वैतैकान्तमें स्वीकृत न होने से उसका निषेधरूप सर्वथा अद्वैत कैसे माना जा सकता है ?

कारिका २८ के द्वारा सर्वथा द्वैत (अनेक) वादी वैशेषिकों के अनेकवाद की आलोचना करते हुए प्रतिपादन किया गया है कि जिस पृथक्त्व गुण से द्रव्यादि पदार्थों को पृथक् (अनेक) कहा जाता है वह उनसे अपृथक् है या पृथक् ? उसे उनसे अपृथक् तो कहा नहीं ज़ा सकता, क्योंकि वैसा उनका सिद्धान्त नहीं है। यदि उसे उनसे पृथक् कहा जाये तो

वह पृथक्त्व गुण अपनी सत्ता कायम नहीं रख सकता, क्योंकि वह अनेकों में रहकर ही अपने अस्तित्व को स्थिर रखता है। इस प्रकार वैशेषिकों के अनेकवाद की मान्यताका आधार स्तम्भ (पृथक्त्वगुण) जब ढह जाता है तो उसपर आधारित अनेकवाद का प्रासाद भी धराशायी हो जाता है।

बौद्ध भी अनेकवादी हैं। पर उनका अनेकवाद वैशेषिकोंके अनेकवादसे भिन्न है। वे अन्वयरूप एकत्व न मानकर सर्वथा पृथक्-पृथक् अनेक विसदृश क्षणोंको ही वस्तु स्वीकार करते हैं। उनकी इस मान्यताकी भी २९-३१ तक तीन कारिकाओं द्वारा समीक्षा की गई है। कहा गया है कि मालाके दानोंमें सूत की तरह क्षणों में अन्वयरूप एकत्व न मानने पर उनमें सन्तान, सादृश्य, समुदाय और प्रेत्यभाव आदि नही बन सकते, क्योंकि क्षणोंका एक दूसरेसे एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त ज्ञान और ज्ञेय इन दोनोंको 'सत्' की अपेक्षासे भी भिन्न मानने पर दोनों ही असत् हो जावेंगे। और उस हालतमें न ज्ञान की स्थिति रहेगी और न बाह्य तथा अन्तस्तत्त्वरूप आभ्यन्तर ज्ञेय ही बन सकेगा। वचनोंसे भी उनकी स्थिति नहीं रोपी जा सकती है, क्योंकिं वचन सामान्य (अन्यापोह) मात्रको कहते हैं, जो अवस्तु है, विशेष (स्वलक्षणात्मक वस्तु) को नहीं, और ऐसी दशामें समस्त वचन यथार्थत: वस्तुके वाचक न होने से मिथ्या (असत्य) ही हैं।

कारिका ३२ के द्वारा वस्तुको सर्वथा एक और अनेक दोनों (उभय) रूप अङ्गीकार करने पर विरोध तथा अवाच्य (अनुभय) स्वीकार करने पर 'अवाच्य' शब्द द्वारा भी उसका निर्वचन न हो सकने का दोष प्रदर्शित किया गया है। ३३-३६ तक ४ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनय (कथञ्चिद्वाद) से एक और अनेक के विरोधी युगलकी अपेक्षा से सप्तभङ्गीकी योजना करके वस्तुमें कथंचित् एक और कथंचित् अनेक के अनेकान्तकी स्थापना की गई है।

इस प्रकार दूसरे परिच्छेद में एक (अद्वैत) और अनेक (द्वैत) के बारेमें रूढ़ एकान्त धारणाओंकी समालोचना करके इस युगलकी अपेक्षा वस्तु को सप्तभङ्गात्मक (अनेकान्तरूप) सिद्ध किया है।

तृतीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेदमें ३७ से ६० तक २४ कारिकाएँ हैं। ३७-४० तक चार कारिकाओं द्वारा सांख्यदर्शन के एकान्त नित्यवाद की आलोचना में कहा गया है कि प्रधान एवं पुरुषको सर्वथा नित्य स्वीकार करनेपर उनमें किसी भी प्रकार के विकार की सम्भावना नहीं है। क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व न किसी को कारक कहा जा सकता है और न ज्ञप्ति से पूर्व किसी को प्रमाण कह सकते हैं। अकारकस्वभाव छोड़कर कारकस्वभाव ग्रहण करने रूप उत्पत्ति होने के बाद कारक और अज्ञापकस्वभाव छोड़कर ज्ञापकस्वभाव ग्रहण करने रूप ज्ञप्ति होने के अनन्तर ज्ञापक (प्रमाण) व्यवहार होता है। एकरूप रहने के कारण एकान्त नित्य (प्रधान व पुरुष) से किसी की उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति आदिरूप कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है और इसलिए उसे न कारक कहा जा सकता है और न प्रमाण। इन्द्रियों से जैसे घटादि अर्थकी अभिव्यक्ति होती है वैसे ही प्रधानरूप कारक या प्रमाण से महदादि की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार की मान्यता भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण तथा कारक दोनों सर्वथा नित्य होने से उनका अभिव्यक्ति के लिए भी व्यापार सम्भव नहीं है। अन्यथा अभिव्यक्ति से पूर्व रहने वाले अनभिव्यञ्जक स्वभाव को छोड़ने तथा व्यञ्जक स्वभाव को ग्रहण करनेरूप अवस्थान्तरको प्राप्त करनेसे उसे अनित्य मानना पड़ेगा। अत: महदादि प्रधान से अभिव्यंग्य (विकार्य) भी नहीं हो सकते। इसी तरह एकान्त नित्य पक्षमें पुरुष की तरह सत्कार्यकी न उत्पत्ति सम्भव है और न अभिव्यक्ति, क्योंकि सदा विद्यमान रहने से उसमें किसी भी तरह का परिणमन (परिवर्तन), चाहे वह उत्पत्तिरूप हो और चाहे अभिव्यक्तिरूप, नहीं बन सकता है। पुण्य, पाप, प्रेत्यभाव (पर्यायान्तर), बन्ध और मोक्ष ये सब परिणाम भी एकान्त नित्य (अपरिणामी पुरुषवाद) में असम्भव हैं। नित्य जब सदा एकरूप (कूटस्थ) रहेगा तो उसमें कोई विकृति नहीं हो सकती तथा बिना विकृति के पुण्य-पापादि, जो भिन्न कालों में होनेवाली अवस्थाविशेष हैं, कैसे सम्भव हैं, यह विचारणीय है।

४१-५४ तक चउदह कारिकाओं द्वारा एकान्त अनित्यपक्ष (क्षणिकवाद) में दोष दिये गये हैं। कहा गया है कि वस्तु को सर्वथा अनित्य (क्षणिक) स्वीकार करने पर भी उक्त प्रेत्यभावादि नहीं बन सकते, क्योंकि पूर्वापर क्षणोंमें परस्पर अन्वय (ध्रौव्यात्मक बन्धनरूप कड़ी) न होने के कारण प्रत्यभिज्ञा, स्मरण, धारणा, अभिलाषा आदि ज्ञानधारा प्रवाहित नहीं हो सकती। ऐसी दशा में न पूर्व क्षण को कारण और न उत्तरक्षण को कार्य कहा जा सकता है। सर्वथा क्षणिकवाद में न असत्कार्य की उत्पत्ति, न कार्य-कारणभाव, न हिंस्य-हिंसकभाव, न गुरु-शिष्यभाव, न पति-पत्नीभाव, न मातृ-पुत्रभाव, न बद्ध-मुक्तभाव और न स्कन्धसन्ततियाँ ही बन सकती हैं।

५५ के द्वारा सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य दोनों (उभयैकान्त) के स्वीकार में विरोध और न सर्वथा नित्य तथा न सर्वथा अनित्य दोनों के निषेधरूप (अनुभयैकान्त) में 'अवाच्य' शब्द से उसका कथन न कर सकने का दोष प्रदर्शित किया गया है।

५६-६० तक ५ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनय से वस्तु को कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य, कथञ्चित् उभय, कथञ्चित् अनुभय आदि सप्तभङ्गात्मक अनेकान्त सिद्ध किया है। इस प्रकार इस परिच्छेद में नित्यानित्य के विरोधी युगल की अपेक्षा पूर्ववत् सप्तभङ्गी दिखायी गई है। उल्लेखनीय है कि दो महत्त्वपूर्ण दृष्टान्तों (लौकिक एवं लोकोत्तर) द्वारा भी वस्तु में नित्यता (ध्रौव्य) और अनित्यता (उत्पाद-व्यय) दोनों को प्रतीतिसिद्ध बतलाया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद:

चौथे परिच्छेद में ६१-७२ तक १२ कारिकाएं हैं, जिनके द्वारा भेद और अभेद का विचार किया गया है। ६१-६६ तक ६ कारिकाओंमें भेदवादी वैशेषिकों की एकान्तभेद मान्यता की समीक्षा की गई है। कहा गया है कि यदि कार्य और कारण में, गुण और गुणी में तथा सामान्य और सामान्यवानों (द्रव्य, गुण, कर्म) में सर्वथा अन्यत्व (भेद) माना जाये तो एक (कार्य-अवयवी आदि) का अनेकों (कारणों-अवयवों आदि) में रहना (वृत्ति) सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह एक अनेकों में (प्रत्येक में) अंशरूप से रहता है या सम्पूर्णरूप से ? प्रथमपक्ष तो ठीक नही, कारण कि उस एक के अंशों को नहीं माना गया है– उसे निरंश स्वीकार किया गया है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जितने कारण (अवयव) होंगे उतने ही कार्य (अवयवी) मानना पड़ेंगे। यदि उस एक (अवयवी) में अंश कल्पना करें, जो यथार्थ में स्वकीय सिद्धान्त विरुद्ध है, तो फिर उसे एक कैसे कहा जा सकता है— उसे सांश (अनेक) ही प्रतिपादन करना चाहिए। इस तरह सर्वथा भेदवाद में यह वृत्ति-दोष अनिवार्य है– जिसे दूर नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार इस भेदवाद में सामान्य व समवाय सम्बन्ध की, जिन्हें भिन्न पदार्थ स्वीकार किया है, अपने आश्रयों में वृत्ति नहीं बनती। कारण यह है कि जिन नाशशील एवं उत्पादशील व्यक्तियों (घट-पट-गो आदि) में उन दोनों की स्थिति स्वीकार की गई है उनके नाश या उत्पाद होने पर उन दोनों का न नाश होता है और न उत्पाद। ऐसी स्थिति में आश्रय के बिना आश्रयी (सामान्य तथा समवाय) कहाँ और कैसे रहेंगे ? जबकि उन्हें प्रत्येक व्यक्ति में सम्पूर्णरूप से रहनेवाला तथा नित्य और निष्क्रिय माना गया है। निष्क्रिय होने से वे नाशशील व्यक्ति के नाश और उत्पादशील व्यक्ति के उत्पाद के समय अन्यत्र (दूसरे व्यक्तियों में) जा नहीं सकते तथा नित्य होने से वे व्यक्ति के साथ न नष्ट हो सकते हैं और न उत्पन्न। अत: उनका विधान 'दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम' कहावत को चरितार्थ करता है। अर्थात् सामान्य और समवाय में परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है ? इसका कारण यह है कि वे द्रव्य न होने से उनमें संयोग सम्बन्ध तो स्वयं वैशेषिकों को भी इष्ट नहीं है। समवाय भी उनमें सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्हें अवयव-अवयवी, गुणा-गुणी आदि रूप से स्वीकृत नही किया गया। 'सामान्यं समावायि' सामान्य समवायवाला है, इस प्रकार से उनमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि एक समवाय के सिवाय अन्य समवायान्तर वैशेषिकों ने नहीं माना। अन्यथा अनवस्था दोष से वह मुक्त नहीं हो सकता है। हाँ, उनमें एकार्थसमवाय की कल्पना की जा सकती थी, पर वह भी नहीं की

जा सकती, क्योंकि घटत्वादि समान्य घटादि में समवाय से रह जाने पर भी समवाय उनमें समवेत नहीं है। स्पष्ट है कि वैशेषिकों ने समवाय के रहने के लिए अन्य समवाय नहीं स्वीकार किया– एक ही समवाय उन्होंने माना है। इस तरह जब सामान्य और समवाय दोनों में परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है तो ये असम्बद्ध रहकर द्रव्यादि से सम्बन्धित नहीं हो सकते। फलत: तीनों (सामान्य, समवाय और द्रव्यादि) बिना सम्बन्ध के खपुष्प तुल्य ठहरते हैं।

वैशेषिकों में कोई, परमाणुओं में पाक (अग्निसंयोग) होकर द्व्यणुकादि अवयवी में क्रमश: पाक मानते हैं और कोई परमाणुओं में किसी भी प्रकार की विकृति न होने से उनमें पाक (अग्नि-संयोग) न मानकर केवल द्व्यणुकादि (अवयवी) में पाक स्वीकार करते हैं। जो परमाणुओं में पाक नहीं मानते उनका कहना है कि परमाणु नित्य (अप्रच्युत-अनुत्पन्न-स्थिर एकरूप) हैं और इसलिये वे द्व्यणुकादि सभी अवस्थाओं में एक रूप बने रहते हैं— उनमें किसी भी प्रकार की अन्यता (भिन्नरूपतारूप परिणति) नहीं होती। उनमें सर्वदा अनन्यता (एकरूपता) विद्यमान रहती है। इसी (किन्ही वैशेषिकों की) मान्यता को आचार्य समन्तभद्र ने 'अणुओं का अनन्यतैकान्त' कहा है और कारिका ६७ के द्वारा उसकी भी समीक्षा की है।[१] उन्होंने इस मान्यता में दोषोद्घाटन करते हुए बताया है कि यदि अणु द्व्यणुकादि संघातदशा में भी उसी प्रकार के बने रहते हैं जिस प्रकार वे विभाग के समय रहते हैं, (क्योंकि उनमें अन्यता (भिन्नरूपता) नहीं होती, अन्यथा उनमें अनित्यता का प्रसंग आयेगा) तो वे असंहत (अमिश्र-बिना मिले) ही रहेंगे और उस हालत में अवयवीरूप पृथिवी आदि चारों भूत भ्रान्त (मिथ्या) ही होंगे और जब पृथिवी आदि अवयवीरूप कार्य भ्रान्त ठहरते हैं तो उनके जनक परमाणु भी भ्रान्त स्वत: सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि कार्य निश्यच ही अनुरूप कारण की ही सूचना करता है। इस तरह वैशेषिकों के अनन्यतैकान्त में न वास्तविक पृथिव्यादिरूप अवयवी बनता है और न वास्तविक उनके कारणरूप परमाणु ही सिद्ध होते हें तथा इन दोनों के न बनने पर उनमें रहने वाले गुण, जाति (सामान्य), विशेष, समवाय और कर्म ये कोई भी पदार्थ घटित नहीं होते।

आगे कारिका ६८ के द्वारा सांख्योंके अनन्यतैकान्त (अभेदैकान्त) की भी आलोचना करते हुए कहा गया है कि यदि कार्य (महदादि) और कारण (प्रधान) दोनों में सर्वथा अनन्यता (अभेद) हो, तो उनमें से एकका अस्तित्व रहेगा, दूसरे का अभाव हो जायेगा। फलत: वह एक भी दूसरे का अविनाभावी होने से उसके अभाव में न रह सकेगा। इसके अतिरिक्त इस अभेदैकान्तमें कार्य और कारण की लोकप्रसिद्ध द्वित्वसंख्या कभी भी उपलब्ध न होगी। यदि उसे संवृति से माना जाये, तो वह संवृति मिथ्या ही है और इसलिए संवृति तथा शून्यता दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

कारिका ७० के द्वारा सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद दोनों के स्वीकार में विरोध तथा न सर्वथाभेद और न सर्वथा अभेद अर्थात् अनुभय (अवाच्य) मानने में 'अवाच्य' शब्द द्वारा भी उसका निरूपण न हो सकने का दोष प्रदर्शित किया गया है। ७१-७२ द्वारा उन अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि में क़थञ्चित् भेद, कथञ्चित् अभेद आदि सप्तभङ्गी-प्रक्रिया की योजना करके उनमें अनेकान्त सिद्ध किया है और यह दिखाया है कि किस तरह उनमें अभेद (एकत्व) है और किस तरह उनमें भेद (नानात्व) आदि है।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें भेद और अभेदको लेकर विभिन्न वादियों द्वारा मान्य भेदैकान्त, अभेदैकान्त आदि एकान्तों की आलोचना और स्याद्वादनय से उनमें अनेकान्त की व्यवस्था की गई है।

पञ्चम परिच्छेद:

इस परिच्छेदमें ७३-७५ तक तीन कारिकाओं द्वारा उन वादियों की मीमांसा करते हुए जैन दृष्टि प्रस्तुत की गई है जो सर्वथा अपेक्षासे या सर्वथा अनपेक्षा आदिसे वस्तुस्वरूपको सिद्ध मानते हैं। कारिका ७३ में कहा गया है कि यदि धर्म और धर्मीकी, विशेषण और विशेष्य की, कार्य और कारण की तथा प्रमाण और प्रमेय आदि की सिद्धि सर्वथा अपेक्षासे मानी जाये तो उनकी कभी भी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वे उसी प्रकार अन्योन्याश्रित रहेंगे जिस प्रकार

किसी नदीमें डूबते हुए दो तैराक एक दूसरे के आश्रय होते हैं और फलत: दोनों ही डूब जाते हैं। यदि उनकी सिद्धि सर्वथा अनपेक्षा से (स्वत:) ही स्वीकार की जाय तो अमुक कार्य-कारण हैं, अमुक धर्म-धर्मी हैं, अमुक विशेषण-विशेष्य हैं, अमुक प्रमाण-प्रमेय हैं और अमुक सामान्य-विशेष हैं, इस प्रकार का नियत व्यवहार नहीं बन सकेगा, क्योंकि ये सब व्यवहार परस्पर की अपेक्षा से होते हैं।

कारिका ७४ में सर्वथा उभयवादियोंके उभयैकान्त में विरोध और सर्वथा अनुभयवादियोंके अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्द द्वारा भी कथन न हो सकनेका दोष दिया गया है।

७५ द्वारा स्याद्वादनय से वस्तुस्वरूप की सिद्धि प्रदर्शित की गई है। कहा गया है कि धर्म-धर्मीभाव, कार्य-कारणभाव, विशेषण-विशेष्यभाव और प्रमाण-प्रमेयभाव का व्यवहार तो अपेक्षासे सिद्ध होता है। परन्तु उनका स्वरूप स्वत: सिद्ध है। यथार्थमें कार्यमें कार्यता, कारणमें कारणता, प्रमाणमें प्रमाणता, प्रमेयमें प्रमेयता आदि स्वयं सिद्ध हैं, वे परापेक्ष नहीं हैं। अन्यथा किसी भी वस्तु का अपना स्वतंत्र स्वरूप नहीं बन सकेगा। जैसे कर्ताका स्वरूप कर्मापेक्ष और कर्म का स्वरूप कर्त्रपेक्ष नहीं है तथा बोधक का स्वरूप बोध्यापेक्ष और बोध्य का स्वरूप बोधकापेक्ष नहीं है। पर उनका व्यवहार अवश्य परस्पर-सापेक्ष है। उसी प्रकार धर्म-धर्मी आदि का स्वरूप तो स्वयं सिद्ध है, किन्तु उनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है। इस तरह इस परिच्छेदमें अपेक्षा और अनपेक्षा के विरोधी युगल में भी सप्तभङ्गी की योजना करके अनेकान्तकी व्यवस्था की गई है।

षष्ठ परिच्छेद:

षष्ठ परिच्छेद में ७६ से ७८ तक तीन कारिकाओं द्वारा हेतुवाद और अहेतुवाद की एकान्त मान्यताओं में दोषोद्घाटन करते हुए उनमें सप्तभङ्गी की योजनापूर्वक समन्वय (अनेकान्त स्थापन) किया गया है।

कारिका ७६ में सर्वथा हेतुवाद से वस्तुसिद्धि मानने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वस्तुज्ञान के अभाव का प्रसङ्ग तथा आगम से सर्वसिद्धि स्वीकार करने पर परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों के प्रतिपादक वचनोंसे भी विरोधी तत्त्वों की सिद्धिका प्रसङ्ग दिया गया है।

कारिका ७७ में पूर्ववत् उभयैकान्त में विरोध और अवाच्यतैकान्त में 'अवाच्य' शब्दद्वारा भी उसका निर्वचन न कर सकनेका दोष प्रदर्शित है।

इस परिच्छेद की अन्तिम ७८ वीं कारिका में हेतुवाद और अहेतुवाद दोनों से वस्तुसिद्धि होनेका निर्देश करते हुए सप्तभङ्गात्मक अनेकांत प्रदर्शित किया गया है। कहा गया है कि जहाँ आप्त वक्ता न हो वहाँ हेतु से साध्यकी सिद्धि की जाती है और उस सिद्धि को हेतु-साधित कहा जाता है तथा जहाँ आप्त वक्ता हो वहाँ उसके वचन से वस्तु की सिद्धि होती है और वह सिद्धि आगम-साधित कही जाती है। इस प्रकार वस्तु-सिद्धि का अङ्ग उपायतत्त्व (हेतुवाद और अहेतुवाद) भी अनेकान्तात्मक है।

सप्तम परिच्छेद:

इस परिच्छेद में ७९-८७ तक ९ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा ज्ञानैकान्त और बाह्यार्थैकान्त आदि एक-एक एकान्तों के स्वीकार करने में आनेवाले दोषोंको दिखलाते हुए निर्दोष अनेकान्त की स्थापना की गई है।

कारिका ७९ के द्वारा बतलाया गया है कि यदि सर्वथा ज्ञानतत्त्व ही हो, बाह्य अर्थ न हो, तो सभी बुद्धियाँ और सभी वचन मिथ्या हो जायेंगे, क्योंकि दोनों का प्रामाण्य बाह्य अर्थ पर निर्भर है, जिनका ज्ञात और कथ्य बाह्यार्थ सत्य निकलता है उन्हें प्रमाण और जिनका सत्य नहीं निकलता उन्हें प्रमाणाभास कहा जाता है। परन्तु ज्ञानैकान्तवाद में बाह्यार्थ को स्वीकार न करने के कारण किसी भी बुद्धि और किसी भी वचन की प्रमाणता का निश्चय नहीं हो सकता और इसलिये उन्हें मिथ्या ही कहा जावेगा और जब वे मिथ्या हैं तो वे प्रमाणाभासकी कोटिमें प्रविष्ट हैं। किन्तु बिना प्रमाण के उन्हें प्रमाणाभास भी कैसे कहा जा सकता है।

तात्पर्य यह कि सर्वथा ज्ञानतत्त्व को ही स्वीकार करने पर प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही नहीं बनते और उनके न बनने पर किस तरह ज्ञानमात्र को वास्तविक और बाह्यार्थ को अवास्तविक सिद्ध किया जा सकता है।

८० के द्वारा साध्य और साधन की विज्ञप्ति से विज्ञप्तिमात्र तत्त्व की सिद्धि के प्रयास को भी निरर्थक बतलाया गया है, क्योंकि उक्त प्रकार से सिद्धि करने पर प्रतिज्ञादोष और हेतु दोष आते हैं। स्पष्ट है कि विज्ञप्तिमात्रतत्त्व को माननेवालों के यहाँ न साध्य (प्रतिज्ञा) है और न हेतु। अन्यथा द्वैत का प्रसङ्ग आयेगा।

८१ के द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो केवल बाह्यार्थ स्वीकार करते हैं, अन्तरङ्गार्थ (ज्ञान) को नहीं मानते। कहा गया है कि यदि सर्वथा बाह्यार्थ ही हो, ज्ञान न हो, तो न संशय होगा, न विपर्यय और न अनध्यवसाय। इतना ही नहीं, सत्यासत्य का निर्णय भी नहीं किया जा सकेगा। फलत: जो विरोधी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उनके भी मोक्षादि कार्योंकी सिद्धि हो जायेगी। इसके अतिरिक्त स्वप्नबुद्धियों का स्वार्थ के साथ सम्बन्ध न होने से उन्हें अविसंवादी नहीं कहा जा सकेगा।

कारिका ८२ के द्वारा सर्वथा उभयवाद में विरोध और सर्वथा अनुभयवाद में 'अनुभय' शब्द से भी उसका कथन न हो सकने का दोष पूर्ववत् दिखाया गया है।

कारिका ८३ के द्वारा स्याद्वाद से वस्तुव्यवस्था करने पर कोई दोष नहीं आता, यह दिखलाते हुए कहा गया है कि स्वरूप-संवेदन की अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है। पर बाह्य प्रमेय की अपेक्षा प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों हैं। जिस ज्ञान का बाह्य प्रमेय ज्ञात होनेके बाद वही उपलब्ध होता है तो वह प्रमाण है तथा जिसका बाह्य प्रमेय ज्ञात होने के बाद वही उपलब्ध नहीं होता, अपितु अन्य मिलता है वह प्रमाणाभास है। इस तरह स्वरूपसंवेदन की अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण हैं, कोई प्रमाणाभास नहीं है। किन्तु बाह्य प्रमेय की सत्यता से प्रमाण और असत्यता से प्रमाणाभास होता है। अत: प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था अन्तरङ्गार्थ (ज्ञान) और बाह्यार्थ दोनों को स्वीकार करने से होती है, किसी एक से नहीं। यही अनेकान्तरूप वस्तुतत्त्व है जिसकी स्याद्वाद से उक्त प्रकार व्यवस्था होती है।

कारिका ८४ द्वारा उन (बौद्धों) का समाधान किया गया है जो बाह्यार्थ नहीं मानते, केवल उसकी शाब्दिक (काल्पनिक) प्रतीति स्वीकार करते हैं। उनके लिए कहा गया है कि कोई भी शब्द क्यों न हो, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है। उदाहरणार्थ जीवशब्द को ही लीजिए, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है क्योंकि वह एक संज्ञा है। जो संज्ञा होती है उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है, जैसे हेतुशब्द अपने वाच्य हेतुरूप बाह्यार्थ को लिए हुए है। यह भी उल्लेखनीय है कि जीवशब्दका प्रयोग शरीर या इन्द्रियों आदि के समूह में नहीं होता, क्योंकि ऐसी लोकरूढ़ि नहीं है। 'जीव गया, जीव मौजूद है' इस प्रकार का जिसमें व्यवहार होता है उसी में यह लोकरूढ़ि नियत है। कोई भी व्यक्ति यह व्यवहार न शरीर में करता है, क्योंकि वह अचेतन है, न इन्द्रियों में करता है, क्योंकि वे मात्र उपभोग की साधन हैं और न शब्दादि विषयों में करता है, क्योंकि वे भोग्यरूप से व्यवहृत होते हैं। वह तो भोक्ता आत्मा में 'जीव' यह व्यवहार करता है। अत: 'जीव' शब्द जीवरूप बाह्यार्थ सहित है। माया, अविद्या, अप्रमा आदि जो भ्रान्तिसूचक संज्ञायें हैं वे भी माया, अविद्या, अप्रमा आदि अपने भावात्मक अर्थों से सहित हैं। जैसे प्रमासंज्ञा अपने प्रमारूप अर्थ से सहित है। इन संज्ञाओंको मात्र वक्ता के अभिप्राय की सूचिका भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रोताओंकी जो उन संज्ञाओं (नामों) को सुनकर उस उस अर्थक्रिया में प्रवृत्ति का नियम देखा जाता है वह अभिप्राय से सम्भव नहीं है। अत: संज्ञाओं (शब्दों) को अभिप्राय का सूचक नहीं मानना चाहिए, किन्तु उन्हें सत्यार्थ (बाह्यार्थ) का सूचक स्वीकार करना चाहिए।

अगली ८५-८७ तक तीन कारिकाओं द्वारा ग्रन्थकार अपने उक्त कथन का सबल समर्थन करते हुए प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्येक वस्तु की तीन संज्ञायें होती हैं। बुद्धिसंज्ञा, शब्दसंज्ञा और अर्थसंज्ञा तथा ये तीनों संज्ञायें बुद्धि, शब्द और अर्थ इन तीन की क्रमश: वाचिका हैं और तीनों से श्रोता को उनके प्रतिबिम्बात्मक बुद्धि, शब्द और अर्थरूप तीन बोध

होते हैं। अत: 'जीव' यह शब्द केवल जीवबुद्धि या जीवशब्द का वाचक न होकर 'जीव अर्थ' 'जीवशब्द' और 'जीवबुद्धि' इन तीनों का वाचक है। वास्तव में उनके प्रतिबिम्बात्मक तीन बोध होने से उन तीनों संज्ञाओं के वाच्यार्थ तीन हैं, यह ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ तीन प्रकार का होता है— बुद्ध्यात्मक, शब्दात्मक और अर्थात्मक। और तीनों की वाचिका तीन संज्ञायें होती हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और इस तरह समस्त संज्ञायें (शब्द) अपने अर्थ सहित हैं।

यद्यपि विज्ञानवादीके लिए ऊपर कहा गया हेतु (संज्ञा होने से) असिद्ध है, क्योंकि उसके यहाँ विज्ञान के अलावा अन्य कोई संज्ञा (शब्द) नहीं है। उसके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जब हम कुछ कहते या सुनते या जानते हैं तो हम वक्ता, श्रोता या प्रमाता कहे जाते हैं और ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं तथा इन तीनों के तीन कार्य भी अलग-अलग होते हैं। वक्ता अभिधेय का ज्ञान करके वाक्य बोलता है, श्रोता उसको श्रवण कर उसका बोध करता है और प्रमाता शब्द और अर्थरूप प्रमेय की परिच्छित्ति (प्रमा) करता है। ये तीनों ही उन तीनों के बिलकुल जुदे-जुदे कार्य हैं। विज्ञानवादी इन अनुभव सिद्ध पदार्थों का अपह्नव करनेका साहस कैसे कर सकता है। ऐसी दशा में वह हेतु को असिद्धादि दोषों से युक्त नहीं कह सकता। यदि वह इन अनुभव सिद्ध पदार्थों (अभिधेय, अभिधेय के ग्राहक वक्ता, श्रोता और प्रमाता को विभ्रम कहे तो उसका विज्ञानवाद और साधक प्रमाण (वाक्य और बोध) भी विभ्रमकोटि में आने से कैसे बच सकते हैं ? और प्रमाण के विभ्रम होने पर उसे जो इष्ट अन्तर्ज्ञेय (ज्ञान) है वह और जो उसे इष्ट नहीं है ऐसा बहिर्ज्ञेय दोनो ही, जिन्हें तादृश (प्रमाणरूप) और इतर-अन्यादृश (अप्रमाणरूप) माना जाता है, विभ्रम ही सिद्ध होंगे। ऐसी हालत में सर्वथा विज्ञानवाद में हेयोपादेयका तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है ?

यदि प्रमाण को अभ्रान्त कहें तो उसके लिए बाह्यार्थका स्वीकार आवश्यक है। उसके बिना प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था संभव नहीं है, क्योंकि उन्हीं ज्ञानों तथा शब्दों में प्रमाणता होती है जिनका बाह्यार्थ होता है और जिनका बाह्यार्थ नहीं होता उन्हें प्रमाणाभास माना जाता है। यथार्थ में जिस बुद्धि का ज्ञात अर्थ प्राप्त नहीं होता उसे असत्य कहा जाता है। इसी प्रकार जिस शब्द का अभिहित अर्थ मिलता है वह सत्य और जिसका अभिहित अर्थ नहीं मिलता उसे असत्य माना जाता है। इस प्रकार बाह्यार्थ के सद्भाव और असद्भाव में ही बुद्धि और शब्द प्रमाण एवं प्रमाणाभास कहे जाते हैं। सर्वथा ज्ञानैकान्त में यह प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था सम्भव नहीं है। अत: उक्त प्रकार से बाह्यार्थ अवश्य सिद्ध होता है और उसके सिद्ध हो जाने पर वक्ता आदि तीन और उनके बोधादि तीन भी सिद्ध हो जाते हैं। अतएव उक्त 'संज्ञात्व' हेतु असिद्धादि दोष युक्त नहीं है।

इस प्रकार इस परिच्छेद में ज्ञापकोपायतत्त्व में भी सप्तभङ्गी की योजना करके उसे स्याद्वादनय से अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है।

अष्टम परिच्छेदः

इस परिच्छेद में ८८ से ९१ तक चार कारिकायें हैं। ८८वीं कारिका के द्वारा सर्वथा दैववाद की मान्यता में दोष दिखलाते हुए कहा है कि यदि एकान्तत: दैव से ही इष्टानिष्ट वस्तुओं की निष्पत्ति स्वीकार की जाय तो उनका निष्पादक दैव किससे निष्पन्न होता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है ? उसकी निष्पत्ति पौरुष से तो मानी नहीं जा सकती, क्योंकि 'सब पदार्थों की सिद्धि दैव से ही होती है' इस मान्यता की समाप्ति हो जाती है। यदि उसकी निष्पत्ति अन्य दैव से कही जाय तो मोक्ष कभी किसीको हो ही नहीं सकेगा, क्योंकि वह अन्य दैव पूर्व दैवसे उत्पन्न होगा और वह दैव भी और पूर्ववर्ती दैवसे उत्पन्न होगा और वह दैव भी और पूर्ववर्ती दैव से होगा और इस तरह पूर्व-पूर्व दैवों का जहाँ तांता बना रहेगा वहाँ पौरुष निष्फल सिद्ध होगा।

८९ वीं कारिका के द्वारा सर्वथा पौरुषवाद को भी दोषपूर्ण बतलाते हुए कहा गया है कि यदि सर्वथा पौरुष से ही

सभी इष्टानिष्ट वस्तुओंकी निष्पति हो तो पौरुष किससे उत्पन्न होता है, यह बताया जाय ? दैव से तो उसकी निष्पत्ति कही नहीं जा सकती, क्योंकि 'पौरुषसे ही सब पदार्थों की सिद्धि होती है' यह प्रतिज्ञा टूट जाती है। अगर अन्य पौरुष से उसकी निष्पत्ति कही जाय तो किसी भी प्राणी का पौरुष (प्रयत्न) निष्फल नही होना चाहिए—सभीका पौरुष सफल होना चाहिए। पर ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः दैवैकान्तकी तरह पौरुषैकान्त भी सदोष है और इसलिए वह भी ग्राह्य नहीं है। कारिका ९० के द्वारा उभयैकान्त में विरोध और अनुभयैकान्त में 'अनुभय' शब्द से भी उसका प्रतिपादन न हो सकने का दोष पूर्ववत् बताया गया है।

कारिका ९१ के द्वारा स्याद्वादसे पदार्थों की सिद्धि की गई है। जहाँ इष्टानिष्ट वस्तुओंका समागम बुद्धिव्यापार के बिना मिलता है वहाँ उनकी प्राप्ति दैवसे है और जहाँ उनका समागम बुद्धिव्यापारपूर्वक होता है वहाँ पौरुषकृत है।

इस प्रकार इस परिच्छेद में दैवैकान्त, पौरुषैकांत आदि एकान्तों को त्रुटिपूर्ण बतलाते हुए उनमें स्याद्वाद से वस्तुसिद्धि की व्यवस्था की गई है और यहाँ भी पूर्ववत् सप्तभङ्गीकी योजना दिखलाई है।

नवम परिच्छेदः

इस परिच्छेद में पिछले परिच्छेद में वर्णित दैवकारकोपायतत्त्व के पुण्य और पाप ये दो भेद करके उनकी स्थिति पर विचार किया गया हैं। पुण्य किन कारणों से होता है और पाप किन बातों से, यही इस परिच्छेद का विषय है, क्योंकि पुण्य और पाप के सम्बन्ध में भी ऐकान्तिक मान्यताएँ हैं।

इसमें चार कारिकाएँ हैं। ९२ वीं कारिका के द्वारा उस मान्यता की समीक्षा की है जिसमें दूसरेमें दुःख उत्पन्न करने से पापबन्ध और सुख उत्पन्न करने से पुण्यबन्ध स्वीकृत है। पर यह मान्यता युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर दूध आदि दूसरे में सुख तथा कण्टकादि दुःख उत्पन्न करने के कारण उनके भी पुण्यबन्ध और पापबन्ध मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि चेतन ही बन्धयोग्य हैं, अचेतन दुग्धादि एवं कण्टकादि नहीं, तो वीतराग (कषाय रहित) भी पुण्य और पाप से बंधेंगे, क्योंकि वे अपने भक्तोंमें सुख और अभक्तों में दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त पड़ते हैं। यदि कहा जाय कि उनका उन्हें सुख, दुःख उत्पन्न करने का अभिप्राय न होने से उन्हें पुण्य-पापबन्ध नहीं होता तो परमें सुख उत्पन्न करने से पुण्य और दुःख उत्पन्न करनसे पापबन्ध होता है, यह एकान्त मान्यता नहीं रहती।

९३ वीं कारिका के द्वारा उन वादियोंकी मीमांसा की है जो कहते हैं कि अपने में दुःख उत्पन्न करने से तो पुण्य और सुख उत्पन्न करने से पापका बन्ध होता है। कहा गया है कि ऐसा सिद्धान्त मानने पर वीतरागमुनि और विद्वान् मुनि भी क्रमशः काय-क्लेशादि दुःख तथा तत्त्वज्ञानादि सुख अपनेमें उत्पन्न करनेके कारण पुण्य-पाप से बँधेंगे। फलतः वे कभी भी संसार-बन्धन से छुटकारा न पा सकेंगे। अतः यह एकान्त भी संगत प्रतीत नहीं होता।

९४ के द्वारा उभयैकान्त में विरोध और अनुभयैकान्त में 'अनुभय' शब्द से भी उसका निर्वचन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् प्रदर्शित किया गया है।

कारिका ९५ के द्वारा स्याद्वादसे पुण्य और पाप की व्यवस्था की गई है। युक्तिपूर्वक कहा गया है कि सुख-दुःख, चाहे अपने में उत्पन्न किये जायें और चाहे परमें। यदि वे विशुद्धि (शुभ परिणामों) अथवा संक्लेश (अशुभ परिणामों) से पैदा होते हैं या उन परिणामों के जनक हैं तो क्रमशः उनसे पुण्यास्त्रव और पापास्त्रव होता है। यदि ऐसा नहीं है तो जो दोष ऊपर दिया गया है उसका होना दुर्निवार है। यथार्थ में पुण्य और पाप अपने को या परको सुख-दुःख पहुँचाने मात्र से नहीं होते हैं, अपितु अपने शुभाशुभ परिणामों पर उनका होना निर्भर है। जो सुख-दुःख शुभ परिणामों से जन्य हैं या उनके जनक हैं उनसे सो पुण्य का आस्त्रव होता है और जो अशुभ परिणामोंसे जन्य या उनके जनक हैं वे नियमसे पापास्त्रव के कारण या कार्य हैं। यह वस्तु-व्यवस्था है। इस प्रकार स्याद्वादमें ही पुण्य-पाप की व्यवस्था बनती है, एकान्तवाद में नहीं।

दशम परिच्छेद

इस अन्तिम परिच्छेद में ९६-११४ तक उन्नीस कारिकायें हैं। कारिका ९६ के द्वारा सांख्यदर्शन के उस सिद्धान्तकी समीक्षा की गई है, जिसमें कहा गया है कि 'अज्ञान से बन्ध होता है और ज्ञान से मोक्ष'। परन्तु यह सिद्धान्त युक्त नहीं हैं, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं और इसलिए किसी-न-किसी ज्ञेय का अज्ञान बना रहेगा। ऐसी स्थिति में कभी भी कोई पुरुष केवली (सर्वज्ञ) नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार अल्पज्ञान (प्रकृति-पुरुष का विवेक मात्र) से मोक्ष मानना भी युक्त नहीं हैं, क्योंकि अल्पज्ञान के साथ बहुत-सा अज्ञान भी रहेगा। ऐसी दशा में बन्ध ही होगा, मोक्ष कभी न हो सकेगा। इस प्रकार विचार करने पर ये दोनों ही एकान्त दोषपूर्ण हैं और इसलिए वे ग्राह्य नहीं है।

९७ के द्वारा उभयैकान्त में विरोध और अवाच्यतैकान्त में 'अवाच्य' शब्द के द्वारा उसका भी निर्देश न हो सकने का दोष दिया गया है।

९८ के द्वारा स्याद्वाद से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था बतलाते हुए कहा है कि मोहसहित अज्ञान से बन्ध होता है, मोहरहित अज्ञान से नहीं। इसी तरह मोहरहित अल्पज्ञान से मोक्ष सम्भव है और मोहसहित अल्पज्ञान से नहीं। अत: बन्ध का कारण केवल अज्ञान नहीं है और न मोक्ष का कारण केवल अल्पज्ञान है। यथार्थ में मोह के सद्भाव में बन्ध और मोह के अभाव में मोक्ष अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध होते हैं। अज्ञान का बन्ध के साथ और ज्ञानका मोक्ष के साथ अन्वयव्यभिचार तथा व्यतिरेकव्यभिचार होने से उनका उनके साथ न अन्वय है और न व्यतिरेक। और जब उनका उनके साथ अन्वय-व्यक्तिरेक नहीं है तो उनमें कार्यकारण भाव भी नहीं बन सकता। अत: मोहसहित अज्ञान से बन्ध और मोहरहित थोड़े से भी ज्ञान से मोक्ष की व्यवस्था मानी जानी चाहिए।

कारिका ९९ में उनकी समीक्षा अन्तर्निहित है जो प्राणियों की अनेक प्रकार की इच्छादि की सृष्टिको ईश्वरकृत मानते हैं–उसे उनके शुभाशुभ कर्मजन्य स्वीकार नहीं करते। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्राणियों की इच्छादि की विचित्र सृष्टि उनके स्वकर्मानुसार होती है, ईश्वर उसका कर्त्ता नहीं है और उनका वह कर्म उनके शुभाशुभ परिणामों से अर्जित होता है, क्योंकि समस्त संसारी जीव शुद्धि (शुभ परिणाम) और अशुद्धि (अशुभ परिणाम) की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त हैं।

उल्लिखित शुद्धि और अशुद्धि ये दोनों जीवों की एक प्रकारकी शक्तियाँ हैं जो उनमें पाक्य और अपाक्य शक्तियों की तरह नैसर्गिक होती हैं, यह कारिका १०० में प्रतिपादन किया गया है। कारिका १०१ में प्रमाण का लक्षण और भेद बतलाये गये हैं। तत्त्वज्ञान का नाम प्रमाण है। तत्त्वज्ञान दो प्रकार का है— अक्रमभावी और क्रमभावी। जो एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है ऐसा केवलज्ञान अक्रमभावी है। तथा जो क्रमसे पदार्थों को जानते हैं, ऐसे मति आदि चार ज्ञान क्रमभावी हैं। अक्रमभावी ज्ञान स्याद्वादरूप होता है। किन्तु क्रमभावी ज्ञान स्याद्वाद और नयरूप है।

कारिका १०२ में प्रमाणफलका निर्देश करते हुए उसे दो प्रकार का बतलाया है— एक साक्षात्फल और दूसरा परम्पराफल। अक्रमभावि (केवल ज्ञान) प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल उपेक्षा (वस्तुओं में रागद्वेषका अभाव) है। क्रमभावि प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननाश है और परम्पराफल हानबुद्धि, उपादानबुद्धि तथा उपेक्षाबुद्धि है।

कारिका १०३ में सूचित किया है कि वक्ताके प्रत्येक वाक्यमें उसके आशयका बोधक 'स्यात्' निपातपद प्रकट या अप्रकट रूपमें अवश्य विद्यमान रहता है जो एक धर्म (बोध्य) का बोधक (वाचक) होता हुआ अन्य अनेक धर्मों (अनेकान्त) का द्योतक होता है। यह बात सामान्य वक्ताके वाक्योंके विषयमें ही नहीं है, केवलियोंके भी वाक्योंमें 'स्यात्' निपातपद निहित रहता है और वह एक (विवक्षित) धर्मका प्ररूपक होता हुआ अन्य सभी (अविवक्षित) धर्मोका अस्तित्वप्रकाशक होता है।

कारिका १०४ में उसी 'स्यात्' के वाद (मान्यता) को, अर्थात् स्याद्वादको स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि

किञ्चित्, कथञ्चित् शब्दोंसे जिसका विधान होता है और जिसमें एकान्तकी गन्ध नहीं है तथा जो सप्तभङ्गीनय से विवक्षित (उपादेय) का विधायक एवं अविवक्षितों (हेयों-शेष धर्मों) का निषेधक (सन्मात्र सूचक) है वह स्याद्वाद है। कथञ्चिद्वाद, किञ्चिद्वाद इसीके पर्याय हैं।

कारिका १०५ में स्याद्वाद का महत्त्व घोषित करते हुए कहा गया है कि तत्त्वप्रकाशनमें स्याद्वादका वही महत्त्व है जो केवलज्ञान का है। दोनों ही समस्त तत्त्वोंके प्रकाशक हैं। उनमें यदि अन्तर है तो इतना ही कि केवलज्ञान साक्षात् समस्त तत्त्वोंका प्रकाशक है और स्याद्वाद असाक्षात् (परोक्ष) उनका प्रकाशक है।

कारिका १०६ में प्रतिपादन है कि उल्लिखित तत्त्वप्रकाशन स्याद्वाद (श्रुत-अहेतुवाद-आगम) के अतिरिक्त नय से भी होता है और नय से यहाँ हेतु विवक्षित है। जो स्याद्वादके द्वारा जाने गये अर्थ के विशेष (धर्म) का गमक है तथा सापेक्ष के साधर्म्य एवं विपक्षके वैधर्म्य (अन्यथानुपपन्नत्व) को लिए हुए है अर्थात् जो साध्य का अविनाभावी होता हुआ उस (साध्य) का साधक है वह हेतु है। व्याख्याकारोंने इस कारिकामें ग्रन्थकार द्वारा नयलक्षणके भी कहे जाने का व्याख्यान किया है। उनके व्याख्यानके अनुसार नय तत्त्वज्ञान का वह महत्त्वपूर्ण उपाय है जो स्याद्वादद्वारा प्रमित अनेकान्त के एक-एक धर्मका बोध कराता है। समग्रका ग्राहक ज्ञान तो प्रमाण है और असमग्रका ग्राहक नय है। यही इन दोनोंमें भेद है।

कारिका १०७ में जैन सम्मत वस्तु (प्रमेय) का स्वरूप निरूपित है। ऊपर नय का निर्देश किया जा चुका है। उसके तथा उसके भेदों, उपभेदों (उपनयों) के विषयभूत त्रिकालवर्ती धर्मों (गुण-पर्यायों) के समुच्चय (समष्टि) का नाम द्रव्य (वस्तु-प्रमेय) है। यह समुच्चय संयोगादि सम्बन्धरूप न होकर कथञ्चित् अविभ्राड्भाव सम्बन्ध (तादात्म्य) रूप है। वस्तुका कोई भी धर्म उसके शेष धर्मों से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सभी धर्म परस्पर मैत्रीभावके साथ वस्तुमें वर्तमान हैं और वे सभी वस्तुकी आत्मा (स्वरूप) हैं। इस प्रकार के सहअस्तित्वात्मक सम्बन्ध को अविष्वग्भाव सम्बन्ध कहते हैं। वस्तु सत्सामान्यकी अपेक्षासे एक होती हुई भी धर्म-धर्मीके भेद से अनेक रूप भी है। अथवा यों कहें कि वह न सर्वथा एक है और न सर्वथा अनेक है, अपितु एकानेकात्मक जात्यन्तररूप है।

कारिका १०८ में उस शङ्काका समाधान प्रस्तुत है, जिसमें कहा गया है कि जैनदर्शन में एकान्तोंके समूहका नाम अनेकान्त है और एकान्त को मिथ्या (असत्य) माना गया है। अतः उनका समूह (अनेकान्त) भी मिथ्या कहा जायेगा। अनेक असत्य मिलकर एक सत्य नहीं बन सकते। इसलिए उक्त एकान्तसमुच्चयरूप अनेकान्तको जो ऊपर वस्तु कहा गया है वह सम्यक् नहीं है ? इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि निरपेक्ष एकान्तोंके समूहको यदि मिथ्या कहा जाता है तो वह हमें इष्ट है, क्योंकि स्याद्वदियोंके यहाँ वस्तुमें निरपेक्ष एकान्तता नहीं है। स्याद्वादी सापेक्ष एकान्तको स्वीकार करते हैं तथा उनके ही समूहको अनेकान्त मानते हैं, निरपेक्ष एकान्तों के समूह को नहीं। उन्होंने स्पष्टतया निरपेक्ष नयों (एकान्तों)को मिथ्या (असत्य) और सापेक्षोंको वस्तु (सम्यक्-सत्य) कहा है, क्योंकि वे ही अर्थक्रिया-कारी हैं।

कारिका १०९में वाचकके स्वरूपकी भी स्याद्वाददृष्टि से व्यवस्था की गई है। जो विधि वाक्यों को केवल विधिका और निषेध वाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते हैं उनकी समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधि वाक्य हो, चाहे निषेध वाक्य, दोनों ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तत्मक वस्तुका बोध कराते हैं। जब विधि वाक्य बोला जाता है तो उसके द्वारा अपने विवक्षित विधि धर्मका प्रतिपादन होनेके साथ प्रतिषेध धर्मका भी मौन अस्तित्व स्वीकार किया जाता है–उसका निराकरण या लोप करके वह मात्र विधिका ही बोध नहीं कराता। इसी प्रकार प्रतिषेध वाक्य भी अपने विवक्षित प्रतिषेध धर्मका कथन करनेके साथ अविनाभावी विधि धर्मका भी मौन ज्ञापन करता है— उसका निरास या उपेक्षा करके केवल निषेधको ही सूचित नहीं करता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मा है– तद् और अतद् इन विरोधी धर्मोंको अपनेमें समाये हुए है। अतः कोई भी वाक्य उसके इस स्वरूपका लोप करके मनमानी नहीं कर सकता।

हाँ, वह अपने विवक्षित वाच्यका मुख्यतया और शेषका गौणरूपसे अवगम कराता है। इसी तथ्यको प्रस्तुत करनेके लिये स्याद्वाददर्शनमें वक्ता द्वारा बोले गये प्रत्येक वाक्य में 'स्यात्' निपात-पद कहीं प्रकट और कहीं अप्रकट रूपसे अवश्य रहता है। यदि विधि वाक्य या निषेध वाक्य केवल विधि या केवल निषेधके ही नियामक हों तो अन्य विरोधी धर्मोंका लोप होनेसे उनका अविनाभावी अभिधेय धर्मका भी अभाव हो जायेगा और तब वस्तुमें कोई भी धर्म (विशेषण) न रहने पर वह अविशेष्य (शून्य) हो जायेगी।

११०-११३ तक चार कारिकाओंके द्वारा वाच्यके स्वरूपमे अङ्गीकार करनेवाले एकान्तवादियोंके अभिनिवेशोंकी समीक्षा करते हुए स्याद्वादसे वाच्यके भी स्वरूपकी स्थापना की है। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्येक (वाक्य) तद् और अतद्रूप वस्तुको कहता हैं, यह हम ऊपर देख चुके हैं, तो 'तद्रूप' ही वस्तु है' ऐसा कथन करनेवाला वचन सत्य नहीं है और जब वह सत्य नहीं तब असत्य वाक्योंके द्वारा तत्त्वार्थ (यथार्थ वस्तु)का उपदेश कैसे हो सकता है? विधिवादियोंको इसपर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

'यदि कोई कहे कि वाक्य प्रतिषेध द्वारा ही अर्थ का नियमन या सूचन करते हैं तो ऐसी एकान्त मान्यता भी युक्त नहीं है', क्योंकि वाणीका स्वभाव है कि वह अन्य वचन द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका निषेध करती हुई अपने अर्थ सामान्यका भी प्रतिपादन करती है। जो वाणी ऐसी नहीं है वह खपुष्पके समान मिथ्या है।

वाणी केवल अन्यव्यावृत्तिरूप (अन्यापोह) सामान्यका प्रतिपादन करती है, विशेष (स्वलक्षण)का नहीं, यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि अन्यव्यावृत्ति मृषा होनेसे वह शब्दका अर्थ (वाच्य) नहीं हो सकती। जिस शब्द से जिस अर्थविशेष की प्रतीति, प्राप्ति और जिसमें प्रवृत्ति हो वही उस शब्द का अर्थ है। तुच्छरूप अन्यव्यावृत्ति किसी भी शब्दसे ज्ञात या प्राप्त नहीं होती और न उसमें किसीकी प्रवृत्ति होती है। अत: वह शब्दका वाच्य नहीं है। चूंकि घटपटादि शब्दोंसे घटपटादि विशेष अभिप्रेतोंकी प्रतीति एवं प्राप्ति होती है और उन शब्दोंको सुनकर श्रोताकी उन्हींमें प्रवृत्ति होती है, अत: घटादि शब्दोंका वाच्य घटादि अभिप्रेत विशेष है, अघटादिव्यावृत्ति नहीं। अत: 'स्यात्' पदसे अङ्कित वचन ही सत्यके सूचक एवं प्रकाशक हैं। जो वचन 'स्यात्' पदसे अङ्कित नहीं वे सत्यका प्रकाशन नहीं कर सकते।

जो अभीप्सित अर्थका कारण है और प्रतिषेध्य (विरोधी)का अविनाभावी है वही शब्दका विधेय है और वही आदेय तथा उसका प्रतिषेध्य हेय है। यथार्थमें वक्ताके लिये जो इष्ट है उसे कहने तथा जो इष्ट नहीं उसके निषेध करनेके लिये ही उसके द्वारा शब्दका प्रयोग किया जाता है। और जिसके लिये शब्दका प्रयोग होता है वही उसका वाच्य है। अत: शब्दका वाच्य न सर्वथा विधि है और न सर्वथा अन्यव्यावृत्ति (निषेध) है, अपितु उभयात्मक (अनेकान्तरूप) वस्तु उसका वाच्य है। इस प्रकार सभी वस्तुएँ— प्रमाण, प्रमेय, वाचक, वाच्य आदि स्वभावत: स्याद्वाद मुद्राङ्कित हैं।

इस अन्तिम परिच्छेदकी अन्तिम कारिका ११४ है। इसमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकारने अपनी प्रस्तुत कृतिका प्रयोजन प्रदर्शित किया है। कहा है कि हमने यह **आप्तमीमांसा** कल्याणके इच्छुक लोगोंके लिये की है, जिससे वे यह जान सकें, श्रद्धा कर सकें और समाचरण भी कर सकें कि सम्यक् कथन अमुक है और मिथ्या कथन अमुक है और इस तरह सम्यक् कथन की सत्यता एवं उपादेयता तथा मिथ्या कथनकी असत्यता एवं हेयताका उन्हें अवधारण हो सके। इससे आचार्य महोदयके परहित सम्पादन-प्रवण हृदयका और उनकी दर्शनविशुद्धि, प्रवचनवात्सल्य तथा मार्गप्रभावना जैसी उच्च भावनाओंका परिचय मिलता है।

(ग) देवागमकी व्याख्याएँ :

ऊपर देवागम और उसके प्रतिपाद्य विषय का कुछ परिचय दिया गया है। अब उसकी व्याख्याओंका भी परिचय देनेका प्रयास किया जाता है।

देवागम पर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं[१०]— १. देवागम-विवृत्ति (अष्टशतीभाष्य), २. देवागमालङ्कार (आप्तमीमांसालङ्कार-अष्टसहस्री) और ३. देवागमवृत्ति।

१. देवागम-विवृत्ति (अष्टशती) :

इसके रचयिता आ॰ अकलङ्कदेव हैं। यह देवागमकी उपलब्ध व्याख्याओंमें सबसे प्राचीन और अत्यन्त दुरूह व्याख्या है। इसके परिच्छेदोंके अन्तमें जो समाप्ति-पुष्पिकावाक्य पाये जाते हैं उनमें इसका आप्तमीमांसाभाष्य (देवागम-भाष्य) के नामसे उल्लेख हुआ है।[११] आ० विद्यानंदने अष्टसहस्रीके तृतीय परिच्छेदके आरम्भमें जो ग्रन्थ-प्रशंसामें पद्य दिया है उसमें उन्होंने इसका 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किया है[१२]। सम्भवत: आठसौ श्लोक-प्रमाण रचना होने से इसे उन्होंने 'अष्टशती' कहा है। लगता है कि इस अष्टशतीको ध्यानमें रखकर ही अपनी 'देवागमालंकृति' व्याख्याको उन्होंने आठ हजार श्लोक-प्रमित बनाया और 'अष्टसहस्री' नाम रखा। इस तरह यह अकलङ्कदेव की व्याख्या देवागम-विवृत्ति, आप्तमीमांसा-भाष्य (देवागम-भाष्य) और अष्टशती इन तीनों नामोंसे जैन वाङ्मयमें विश्रुत है। इसका प्राय: प्रत्येक स्थल इतना जटिल एवं दुरवगाह है कि साधारण विद्वानोंका इसमें प्रवेश सम्भव नहीं है। उसके मर्म एवं रहस्य को 'अष्टसहस्री'के सहारे ही ज्ञात किया जा सकता है। भारतीय दर्शन-साहित्यमें इसकी जोड़की रचना दुर्लभ है। अष्टसहस्रीके अध्ययनमें जिस प्रकार कष्टसहस्रीका अनुभव होता है उसी प्रकार इस अष्टशतीके अभ्यास में भी कष्टशतीका अनुभव उसके अभ्यासीको पद-पद पर होता है।

२. देवागमालंकृति (अष्टसहस्री)

यह आ० विद्यानन्दकी अपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। इसे आप्तमीमांसालंकृति, आप्तमीमांसालङ्कार और देवागमालङ्कार इन नामोंसे भी साहित्य में उल्लिखित किया गया है। आठ हजार श्लोक-प्रमाण होनेसे इसे लेखकने स्वयं 'अष्टसहस्री' भी कहा है[१३]। देवागमकी तीनों व्याख्याओं में यह विस्तृत और प्रमेयबहुल व्याख्या है। इसमें देवागमकी कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादिका विस्तारपूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ ही उपर्युक्त अष्टशती के प्रत्येक पद वाक्यादिका भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें इस तरह आत्मसात् कर लिया गया है, कि यदि दोनोंको भेद-सूचक पृथक्-पृथक् टाइपोंमें न रखा जाय तो पाठकको यह जानना कठिन है कि यह अष्टशतीका अंश है और यह अष्टसहस्रीका। विद्यानंदने अष्टशतीके आगे, पीछे और मध्य की आवश्यक एवं अर्थोपयोगी सान्दर्भिक वाक्यरचना करके अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें मणि-प्रवाल-न्यायसे अनुस्यूत किया है और अपनी तलस्पर्शिनी अद्भुत प्रतिभाका चमत्कार दिखाया है। वस्तुत: यदि विद्यानंद यह देवागमालंकृति न रचते तो अष्टशतीका गूढ़ रहस्य अष्टशतीमें ही छिपा रहता और मेधावियोंके लिये भी वह रहस्यपूर्ण बनी रहती। देवागम और अष्टशतीके व्याख्यानोंके अतिरिक्त इसमें विद्यानंदने कितना ही नया विचारपूर्ण प्रमेय और अपूर्व चर्चाएँ भी प्रस्तुत की हैं। व्याख्याकारने अपनी इस व्याख्याके महत्त्व की उद्घोषणा करते हुए लिखा है—

'हजारशास्त्रोंका पढ़ना-सुनना एक तरफ है और एकमात्र इस कृतिका अध्ययन एक ओर है ; क्योंकि इस एकके अभ्याससे ही स्वसमय और परसमय दोनोंका ज्ञान हो जाता है।' व्याख्याकारकी यह घोषणा न मदोक्ति है और न अतिशयोक्ति। अष्टसहस्री स्वयं इसकी निर्णायिका है। देवागममें यत: दश परिच्छेद हैं अत: उसके व्याख्यास्वरूप अष्टसहस्रीमें भी दश परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेदका आरम्भ और समाप्ति दोनों एक-एक गम्भीर पद्य द्वारा किये गये हैं। इस पर लघुसमन्तभद्र (१३वीं शती)ने 'अष्टसहस्री-विषमपदतात्पर्यटीका' और श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७वीं शती)ने अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं, जो अष्टसहस्रीके विषमपदों, वाक्यों और और स्थलोंका स्पष्टीकरण करती हैं। यह देवागमालंकृति कोई ८० वर्ष पूर्व सन् १९१५में सेठ नाथारङ्ग जी गांधी सोलापुर द्वारा एक बार प्रकाशित हो चुकी है। पर वह अब अप्राप्य है। अब आधुनिक सम्पादन के साथ इसका यह शुद्ध संस्करण प्रकट हो रहा है।

३. देवागम-वृत्ति— यह देवागमकी लघुपरिमाणकी व्याख्या है। यह न अष्टशतीकी तरह दुरूह है और न अष्टसहस्रीके

समान विस्तृत एवं गम्भीर है। कारिकाओंका व्याख्यान भी लम्बा नहीं है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है। मात्र कारिकाओं और उनके पद-वाक्योंका शब्दार्थ और कहीं-कहीं फलितार्थ अतिसंक्षेपमें प्रस्तुत किया गया है। पर हाँ कारिकाओंका अर्थ समझनेके लिये यह वृत्ति पर्याप्त उपयोगी है। इसके रचयिता आचार्य वसुनन्दि हैं, जिन्होंने वृत्तिके अन्तमें स्वयं लिखा है[१४] कि मैं मन्दबुद्धि और विस्मरणशील व्यक्ति हूँ। मैंने अपने उपकार के लिए ही इस देवागमका संक्षिप्त विवरण किया है। वृत्तिकार के इस स्पष्ट आत्मनिवेदनसे इस वृत्तिकी लघुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है। उल्लेखनीय है कि वसुनन्दि के समक्ष देवागम की ११४ कारिकाओं पर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए तथा 'जयति जगति' आदि कारिकाको विद्यानंदके उल्लेखानुसार किसी पूर्ववर्ती आचार्यकी देवागम-व्याख्याका समाप्ति-मङ्गल पद्य जानते हुए भी उन्होंने उसे देवागम की ११५ वीं कारिका किस आधार पर माना और उसका विवरण किया ? यह चिन्तनीय है। हमारा विचार है कि प्राचीनकालमें साधुओंमें देवागमका पाठ करने और उसे कठस्थ रखनेकी परम्परा रही है। वसुनन्दिने देवागमकी ११४ कारिकाओंके साथ उक्त अज्ञात देवागम-व्याख्याका समाप्तिमङ्गल-पद्य भी अङ्कित कर दिया होगा और उसपर ११५ का अङ्क डाल दिया होगा। वसुनन्दिने अष्टशती और अष्टसहस्री टीकाओं परसे जानकारी एवं अनुसन्धान किये बिना देवगमका अर्थ हृदयङ्गम रखनेके लिए यह देवागम-वृत्ति लिखी होगी और उसमें कण्ठस्थ सभी (११५) कारिकाओंका विवरण लिखा होगा। यही कारण है कि प्रस्तुतवृत्तिमें न कहीं अष्टशती के पद-वाक्यादिका निर्देश मिलता है और न कहीं अष्टसहस्री के। अस्तु। यह देवागमवृत्ति कलकत्ता की सनातन जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९१४ में एक बार प्रकाशित हो चुकी है। इसे अब अच्छे संस्करण के रूप में पुनः मुद्रित होना चाहिए।

(घ) देवागम-रचनाका मूलाधार :

ऊपर देवागम और उसकी व्याख्याओंका परिचय देनेके बाद उसकी रचनाके मूलाधार पर भी यहाँ विचार किया जाता है। आचार्य विद्यानंदका जैनवाङ्मय में सम्मानपूर्ण स्थान है और उनकी कृतियों को आप्तवचन जैसा माना जाता है। विद्यानन्दके उल्लेखानुसार स्वामी समन्तभद्र ने देवागमकी रचना तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें स्तुत आप्तकी मीमांसाके लिये की थी। उनके वे उल्लेख निम्न प्रकार हैं :—

(१) 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिः....' —अष्टस० आदिमङ्गल, श्लो० १, पृ० १।

(२) 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।' —अष्टस० पृ० २९४।

(३) श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य, प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पृथु-पथं स्वामि-मीमांसितं तत् विद्यानन्दैः स्वशक्त्या..........॥ —आप्तप० का० १२३, पृ० २६२।

(४) '.... इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्यान्वयः सम्प्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थ-घटनालक्षणो वा लक्षणीयः, प्रपञ्चतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्'। —(आप्तप० का० १२०, पृ० २६१-२६२।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थसूत्र, निःश्रेयसशास्त्र या मोक्षशास्त्र)के आरम्भमें जिन 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि तीन असाधारण विशेषणोंसे आप्तकी वन्दना शास्त्रकार आचार्य उमास्वामीने की है उन्हीं विशेषणों की मीमांसा (सोपपत्ति विचारणा) स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें की है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वार्थसूत्रका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गलस्तोत्र आप्तमीमांसा की रचना का मूलाधार है। विद्यानंदके उक्त उल्लेखोंमें आये हुए 'शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं', 'शास्त्रकारैः कृतं यत् स्तोत्रं-स्वामिमीमांसितं तत्',... 'शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्य.. तदन्वयस्याक्षेप-समाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्'

जैसे स्पष्ट और अर्थगर्भ शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं, जो आप्तमीमांसाको तत्त्वार्थसूत्रके मङ्गलस्तोत्रका व्याख्यान असन्दिग्ध घोषित कर रहे हैं। विद्यानंदने अपने इस कथनको साधार और परम्परागत बतलानेके लिए उसे अकलङ्कदेवके अष्टशतीगत उस प्रतिपादनसे भी प्रमाणित किया है जिसमें अकलङ्कदेवने आप्तकी मीमांसा (परीक्षा) करनेके कारण समन्तभद्र पर किये जानेवाले अश्रद्धालुता और अगुणज्ञताके आक्षेपोंका उत्तर देते हुए कहा है कि ग्रन्थकार ने देवागमादि मङ्गलपूर्वक की गई 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तवके विषयभूत परमात्माके गुणविशेषोंकी परीक्षाको स्वीकार किया है, इससे उनमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनों बातें स्वयं सिद्ध हो जाती हैं, क्योंकि उनमें एककी कमी रहने पर परीक्षा सम्भव नहीं है। निश्चय ही ग्रन्थकारने शास्त्रन्याय (तत्त्वार्थशास्त्रकी पद्धति-मङ्गल-विधानपूर्वक शास्त्रकरण)का अनुसरण करके ही आप्तमीमांसाकी रचनाका उपक्रम किया है और इससे सहज ही जाना जा सकता है कि ग्रन्थकारमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनों हैं। अकलङ्कका वह प्रतिपादन इस प्रकार है :—

'देवागमेत्यादिमंगलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते। तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्।

—अष्टश० अष्टस० पृ०२।

विद्यानंदने अकलङ्कदेवके इस प्रतिपादन और अपने उक्त कथनका इसी अष्टसहस्री (पृ०३) में समन्वय भी किया है और इस तरह अपने निरूपणको उन्होंने परम्परागत सिद्ध करके उसमें प्रामाण्य स्थापित किया है।

(ङ) 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्र तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण:

जहाँ विद्यानंद और अकलङ्कदेवके उपर्युक्त उल्लेखोंसे सिद्ध है कि स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्रके व्याख्यानमें लिखी गई है वहाँ विद्यानंदके ही उक्त उल्लेखों परसे यह भी स्पष्ट है कि वे उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रका मंगलाचरण मानते हैं तथा तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रसे उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छ रचित दशाध्यायी तत्त्वार्थसूत्र ही विवक्षित है[१५]। इस सम्बन्धमें पर्याप्त ऊहापोह एवं विस्तारपूर्वक विचार अन्यत्र किया जा चुका है[१६]। परन्तु कुछ विद्वान् विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंका साभिप्राय अर्थविपर्यास करके उसे सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद देवनन्दिकी रचना बतलाते हैं[१७]। उनका प्रयास है कि प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा खोजपूर्ण अनेकविध प्रमाणोंसे निर्णीत स्वामी समन्तभद्रके विक्रम सं० दूसरी-तीसरी शताब्दीके समयको वि० सं० सातवीं-आठवीं शताब्दी सिद्ध किया जाये।

यहाँ उनकी स्थापनाओंको देकर उनपर सूक्ष्म और गहराईसे विचार किया जाता है :—

(१) आप्तपरीक्षागत प्रयोगोंसे सिद्ध है कि 'सूत्रकार' शब्द केवल आचार्य उमास्वामीके लिए ही प्रयुक्त नहीं होता था, दूसरे आचार्योंके लिए भी उसका प्रयोग किया जाता था।

(२) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्रकी अनुपपत्ति उपस्थापन और उसके परिहारकी चर्चासे स्पष्ट फलित होता है कि विद्यानंदके सामने तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक नहीं था।

(३) अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कुछ विशेष उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि इसी श्लोकके विषयभूत आप्तकी मीमांसा समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें की।

१. समीक्षा :

इन तीनों स्थापनाओंकी यहाँ समीक्षाकी जाती है। प्रथम स्थापना के समर्थनमें विद्यानंद के ग्रन्थों से कोई ऐसा उल्लेखनीय प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, जिसमें उन्होंने उमास्वामीके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्यको सूत्रकार या शास्त्रकार कहा हो। तथ्य तो यह है कि विद्यानंदने अपने किसी भी ग्रन्थ में उमास्वामीके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थकर्ताको सूत्रकार या शास्त्रकार नहीं लिखा। जहाँ कहीं अन्य ग्रन्थकर्ताओंके उन्होंने अवतरण दिये हैं उन्हें उन्होंने उनके नाम से या

ग्रन्थनामसे केवल 'तदुक्तम्' कहकर उल्लेखित किया है, सूत्रकार या शास्त्रकारके नामसे नहीं। सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दका प्रयोग केवल उमास्वामीके लिए किया है। इस सम्बन्धमें हमने विद्यानंदके ग्रन्थों परसे खोजकर ३३ अवतरण उदाहरणार्थ अन्यत्र दिये हैं[१८], जिनसे स्पष्ट है कि विद्यानन्दकी प्रकृति अन्य आचार्योंको सूत्रकार या शास्त्रकार लिखनेकी नहीं रही, केवल उमास्वामीके लिए ही इन दोनों शब्दोंका उन्होंने प्रयोग किया है। किसी लेखकका जो सूत्रलक्षण 'सूत्रं हि सत्यं सयुक्तिकं चोच्यते...' उन्होंने कहींसे उद्धृत किया है उससे इतना ही सिद्ध करना उन्हें अभिप्रेत है कि इस लक्षणानुसार भी तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंमें सूत्रता है। उससे यह अभिप्राय कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि उन्होंने अन्य लेखकको भी शास्त्रकार या सूत्रकार कहा है।

२. दूसरी स्थापना के समर्थन में जो यह कहा गया है कि उक्त मङ्गल श्लोककी व्याख्याकारों द्वारा व्याख्या न होने से वह तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गल पद्य नहीं है। वह भी युक्त नहीं है; क्योंकि व्याख्याकारोंको यह आवश्यक नहीं है कि वे व्याखयेय ग्रन्थ के मङ्गलाचरण की भी व्याख्या करें। उदाहरणार्थ श्वेताम्बर 'कर्मस्तव' नामक द्वितीय कर्मग्रन्थ और 'षडशीति' नाम के चतुर्थ कर्मग्रन्थको लीजिए। इनमें मंगलाचरण उपलब्ध है। पर उनके भाष्यकारों ने अपने भाष्यों में उनका भाष्य या व्याख्यान नहीं किया है। फिर भी वे मङ्गलाचरण उन्हीं ग्रन्थोंके माने जाते हैं। एक अन्य उदाहरण और लीजिए, श्वेताम्बर तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमूलके साथ जो ३१ सम्बन्धकारिकाएँ पायी जाती हैं उनका स्वोपज्ञभाष्यमें कोई व्याख्यान या भाष्य नहीं किया गया। फिर भी उन्हें सूत्रकार-रचित माना जाता है। बात यह है कि व्याख्याकार मूलके उन्हीं पदों और वाक्योंकी व्याख्या करते हैं जो कठिन होते हैं या जिनके सम्बन्ध में विशेष कहना चाहते हैं। जो पद-वाक्यादि सुगम होते हैं उन्हें वे 'सुगमम्' कहकर या बिना कहे अव्याख्यात छोड़ देते हैं। 'मोक्षमार्गस्य... श्लोक भी सुगम है। इसीसे उसकी व्याख्याकारोंने व्याख्या नहीं की।[१९] 'अतः उक्त श्लोकको अव्याख्यात होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि वह सूत्रकारकृत नहीं है।'

इस स्थापनाके समर्थनमें एक बात यह भी कही गई है कि विद्यानंदको यदि उक्त मङ्गल-स्तोत्र उमास्वामी प्रणीत अभिप्रेत होता तो वे 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे... आदि सोत्थानिका वाक्य द्वारा अनुपपत्तिस्थापन और उसका परिहार न कर उसीका यहाँ निर्देश करते। इस सम्बन्ध में हम इतना ही पूछना चाहते हैं कि स्थापनाकारने उक्त उत्थानिकावाक्य सहित पद्योंसे उक्त अर्थ कैसे निकाला ? क्योंकि विद्यानंदने यहाँ केवल उस प्रसङ्गोपात्त अनुपपत्तिको प्रस्तुत करके उसका परिहार किया है, जिसमें अनुपपत्तिकारने कहा कि जब न कोई मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष है और न कोई प्रतिपाद्यविशेष, तब प्रथम सूत्र की रचना असंगत है ? इस अनुपपत्तिका परिहार करते हुए वे कहते हैं कि मुनीन्द्र (सूत्रकार)ने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गल स्तोत्र द्वारा सर्वज्ञ, वीतराग और मोक्षमार्गके नेता की स्तुति करके सिद्ध कर दिया है कि मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष है और प्रतिपाद्यविशेष भी है। और इसलिए भावी श्रेयसे युक्त होनेवाले ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा की मोक्षमार्गको जाननेकी अभिलाषा होने पर सूत्रकार द्वारा प्रथम सूत्रका रचा जाना संगत है। विद्यानंदका वह पूरा स्थल इस प्रकार है :—

"ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवक्तृविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्सायामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे।
सिद्धे मुनीन्द्रसंतुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यम्।"

—त० श्लोक०, पृ० ४।

विद्यानंदने यहाँ 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे', 'साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे' और 'मोक्षमार्गस्य नेतरि' पदोंके द्वारा आप्तके जिन गुणोंका उल्लेख किया है वे वही हैं जो 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्र में अभिहित हैं– उसीका यहाँ उन्होंने अनुवाद (पुनरावर्तन) किया है। 'सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' पदके द्वारा तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने उक्त विशेषणोंसे आप्तकी स्तुति करनेके बाद ही आदिसूत्र रचा। हमें आश्चर्य है कि विद्यानंदके जो उल्लेख स्थापनाकारके रंचमात्र भी साधक न होकर उसके लिए 'स्ववधाय कृत्योत्थापन' रूप हैं, उन्हें प्रस्तुत करनेका साहस क्यों किया जाता है।

३. तीसरी स्थापनामें जो उक्त स्तोत्रके व्याख्यानस्वरूप आप्तमीमांसाके लिखे जानेकी बात कही गई है उसमें कोई विवाद नहीं है। पर जब उस स्तोत्रको विद्यानंदके उल्लेखों द्वारा, जो स्थापनाकारके अभिप्रायके लेशमात्र भी साधक नहीं है, पूज्यपाद-देवनन्दिका सिद्ध करनेकी असफल चेष्टाकी जाती है तब भारी आश्चर्य होता है। 'प्रोत्थानारम्भकाले' इस आप्त-परीक्षागत पदका सीधा और प्रकरणसंगत अर्थ है—
'प्रयत्नारम्भसमय में अथवा अवतरणारम्भसमयमें'। परन्तु इस सीधे अर्थको अङ्गीकार न कर उसका अर्थ किया गया है कि 'उत्थान शब्दका अर्थ है पुस्तक, अतएव प्रोत्थान शब्दका अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान, अतएव 'प्रोत्थानारम्भकाले', का अर्थ हुआ 'व्याख्यानारम्भकाले'। प्रश्न है कि प्रकृष्टसे वृत्ति या व्याख्यानका ग्रहण कैसे कर लिया गया ? क्योंकि उसका समर्थन न किसी कोषसे होता है और न परम्परागत किसी स्रोतसे। यदि विद्यानंदको उक्त स्रोत पूज्यपाद-देवनन्दिकी वृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) का बताना इष्ट होता तो वे इतना बुद्धिव्यायाम न कर पाठकोंको उलझनमें न डालते और 'प्रोत्थानारम्भकाले' न लिखकर 'व्याख्यानारम्भकाले' लिख सकते थे। इसी तरह 'शास्त्रकारैः कृतं' के स्थान पर 'वृत्तिकारैः कृतं' दे सकते थे। इससे श्लोकको रचनामें कोई क्षति भी नही होती। किन्तु विद्यानंदको यह सब इष्ट ही नहीं था। वे असन्दिग्ध रूपमें उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थशास्त्रका मानते थे और उसे शास्त्रकार, न कि वृत्तिकार रचित स्वीकार करते थे और शास्त्रकार या सूत्रकारसे उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छ (उमास्वामी) ही अप्रिप्रेत थे।

अतः विद्यानंदके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकगत उक्त उल्लेख, अष्टसहस्रीमें आये 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्ग-प्रणेतृतया...' आदि निर्देश और आप्तपरीक्षागत 'श्रीमतत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेः... प्रोत्थानरम्भकाले....शास्त्रकारैः कृतं यत्। स्तोत्रं..., इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।' उल्लेखों से असन्दिग्ध है कि वे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्रका कर्ता शास्त्रकारको मानते हैं और 'शास्त्रकार'से उन्हें एकमात्र तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ ही विवक्षित हैं, सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दि नहीं। विद्यानंदने अपने सभी ग्रन्थोंमें 'शास्त्रकार' और सूत्रकार पदोंका प्रयोग केवल तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके लिए किया है। इसी प्रकार तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थशास्त्र, या निःश्रेयसशास्त्र शब्दोंका प्रयोग भी उन्हींके तत्त्वार्थसूत्रके लिए हुआ है, व्यापक या अन्य अर्थमें नहीं, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

विद्यानंदके उपर्युक्त उल्लेखोंके अलावा उक्त मङ्गलश्लोकको सूत्रकार गृद्धपिच्छ-उमास्वामीकृत बतलानेवाला एक अतिस्पष्ट, एवं अभ्रान्त उल्लेख और प्राप्त हुआ है। वह निम्न प्रकार है:—

'गृद्धपिच्छाचार्येणापि तत्त्वार्थशास्त्रस्यादौ' मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिना अर्हन्नमस्कारस्यैव परममंगलतया प्रथम-मुक्तत्वात्।'

—गो०जी०, म०प्र० टी०, पृ० १४।

यह उल्लेख सात-आठ सौ वर्ष प्राचीन गोम्मटसार जीवकाण्डकी मन्दप्रबोधिका टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य अभयचन्द्र (१२वीं-१३वीं सदी) का है। इसमें उन्होंने उक्त मङ्गलस्तोत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकृत स्पष्ट लिखा है और उसे तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) के आरम्भमें उनके द्वारा रचा गया बतलाया है, उसे पूज्यपाद-देवनन्दिकी तत्त्वार्थवृत्तिका नहीं कहा। इससे प्रकट है कि आजसे सातसौ-आठसौ वर्ष पूर्व भी वह गृद्धपिच्छाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गल-स्तोत्र माना जाता था। इस उल्लेखकी एक बात और ध्यातव्य है। वह यह कि प्राचीन समयमें तत्त्वार्थशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रको ही कहा जाता था और उससे आचार्य गृद्धपिच्छ रचित तत्त्वार्थसूत्र ही लिया जाता था।

देवागम और उसकी व्याख्याओंके प्रसङ्गसे इतनी चर्चा करनेके उपरान्त अब उसके कर्त्ताके सम्बन्धमें भी विचार किया जाता है।

२. समन्तभद्र :

इस मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण कृतिके उपस्थापक आचार्य समन्तभद्र हैं, जो साहित्य और शिलालेखों में विशिष्ट सम्मानके प्रदर्शक 'स्वामी' पदसे विभूषित मिलते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छके पश्चात् जैन वाङ्मयको जिस मनीषीने सर्वाधिक प्रभावित किया और जो यशोभाजन हुआ वह यही स्वामी समन्तभद्र हैं। इनका यशोगान शिलालेखों तथा वाङ्मय के मूर्धन्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें बहुलतया उपलब्ध है। अकलङ्कदेवने स्याद्वादतीर्थका प्रभावक और स्याद्वादमार्ग का परिपालक, विद्यानन्दने स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराजने सर्वज्ञका प्रदर्शक, मलयगिरिने आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखोंमें वीर शासनकी सहस्रगुणीवृद्धि करनेवाला, श्रुतकेवलिसन्तानोन्नायक, समस्तशास्त्रविद्यानिधि, शास्त्रकर्ता एवं कलिकालगणधर कहकर उनका कीर्तिगान किया है। यथार्थमें जब तत्त्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा आर्हत-परम्परा ऋषभादि तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थापक स्याद्वादन्यायको भूलने लगी, तो इसी महान् आचार्यने उसे उज्जीवित एवं प्रभावित किया। अतः ऐसे शासन-प्रभावक और तत्त्वज्ञान-प्रसारक मूर्धन्य मनीषीका विद्वानों द्वारा गुणगान हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इनका विस्तृत परिचय और समयादिका निर्णय श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामीसमन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थमें दिया है। वह इतना प्रभावपूर्ण, अविकल और शोधात्मक है कि आज भी उसमें संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धनकी गुंजाइश प्रतीत नहीं होती। वह बिल्कुल नया और चिन्तनपूर्ण है। उसमें इतनी सामग्री निहित है कि उसपर शोधार्थी अनेक शोध-प्रबन्ध लिख सकते हैं। अतएव यहाँ समन्तभद्रके परिचयादि की पुनरावृत्ति न करके केवल उनकी उपलब्धियोंपर प्रकाश डालनेका प्रयास करेंगे।

(क) समन्तभद्रके पूर्वका युग :

जैन अनुश्रुतिके अनुसार जैनधर्मके प्रवर्तक क्रमशः कालके अन्तरालको लिए चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। इनमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव, बाईसवें अरिष्टनेमि, तेईसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवें वर्द्धमान-महावीर तो ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्ध भी हैं। इन तीर्थंकरोंके द्वारा जो उपदेश दिया गया वह द्वादशांग कहा गया है। जैसे बुद्धके उपदेशको त्रिपिटक कहा जाता है। वह द्वादशाङ्गश्रुत दो भागोंमें विभक्त है—

अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य। ये दो भेद प्रवक्ताविशेषके कारण हैं। जो श्रुत तीर्थंकरों तथा उनके प्रधान एवं साक्षात् शिष्यों द्वारा उक्त है वह अङ्गप्रविष्ट है तथा जो इसके आधारसे उत्तरवर्ती प्रवक्ताओं द्वारा रचा गया वह अङ्गबाह्य है। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्यके भी क्रमशः बारह और चौदह भेद हैं। अङ्गप्रविष्टके बारहभेदोंमें एक दृष्टिवाद है जो बारहवां श्रुत है। इस बारहवें दृष्टिवादश्रुत[२०]में विभिन्नवादियोंकी एकान्त दृष्टियों एवं मान्यताओंके निरूपण और समीक्षाके साथ उनका स्याद्वादन्यायसे समन्वय किया गया है। इस तथ्यको समन्तभद्रने अपनी कृतियोंमें 'स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तम्' जैसे पद प्रयोगों द्वारा व्यक्त किया है[२१] और सभी तीर्थङ्करोंको स्याद्वादी (स्याद्वाद-प्रतिपादक) कहा है। अकलङ्कदेवने भी उन्हें स्याद्वादका प्रवक्ता तथा उनके शासन-उपदेशका स्याद्वादके अमोघ लांछनसे चिह्नित बतलाया है।[२२]

'षट्खण्डागम'में यद्यपि स्याद्वादकी स्वतंत्र चर्चा नहीं मिलती, फिरभी सिद्धान्त-प्रतिपादन 'स्यात्' (सिया) शब्दको लिये हुए अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ मनुष्योंको पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों बतलाते हुए कहा गया है कि 'सिया पज्जता, सिया अपज्जता अर्थात् मनुष्य 'स्यात्' पर्याप्तक हैं, 'स्यात्' अपर्याप्तक हैं। इसी प्रकार से आगमके कुछ दूसरे विषयोंका भी प्रतिपादन उपलब्ध होता है। आचार्य कुन्दकुन्दने उक्त दो (विधि और निषेध) वचन-प्रकारोंमें पांच वचन-प्रकार और मिलाकर सात वचनप्रकारोंसे वस्तु (द्रव्य) निरूपणका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥

—पंचास्तिकाय गा० १४/

स्यादस्ति द्रव्यं, स्यान्नास्ति द्रव्यं, स्यादुभयं, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्त्यवक्तव्यं, स्यान्नास्त्यवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यं' इन सात भङ्गोंका यहाँ उल्लेख हुआ है और उनको लेकर आदेशवशात् (नयविवक्षानुसार) द्रव्यनिरूपण करनेकी सूचना की है। कुन्दकुन्दने यह भी प्रतिपादन किया है[२३] कि यदि सद्रूप ही द्रव्य हो तो उसका विनाश नहीं हो सकता और यदि असद्रूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नहीं है और चूंकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्यपर्यायसे नष्ट, देवपर्यायसे उत्पन्न और जीवसामान्यसे ध्रुव रहनेसे वह उत्पाद-व्यय ध्रौव्यस्वरूप है।

इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दके समयमें जैनवाङ्मय में दर्शनका रूप तो आने लगा था, पर उसका अभी विकास नही हो सका था। आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रमें कुन्दकुन्द द्वारा प्रदर्शित दर्शनके रूपमें कुछ वृद्धि मिलती है। एक तो उन्होंने प्राकृतमें सिद्धान्त-प्रतिपादनकी पद्धतिको संस्कृत-गद्य सूत्रोंमें बदल दिया। दूसरे, उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तोंका निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञानमार्गणागत मत्यादि ज्ञानोंको प्रमाण -संज्ञा देना, उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद करना, दर्शनान्तरोंमें पृथक् प्रमाणरूपमें स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान को मतिज्ञान कहकर उनका 'आद्ये परोक्षम्' (त०सू०१-११) सूत्रद्वारा परोक्षप्रमाण में ही अन्तर्भाव करना और नैगमादिनयोंको अर्थाधिगमका उपाय बताना आदि नया चिन्तन प्रारम्भ किया। इतना होने पर भी दर्शनमें उन एकान्तवादों, संघर्षों और अनिश्चयोंका तार्किक समाधान नहीं हो पाया था, जो उस समयकी चर्चाके विषय थे।

(ख) तत्कालीन स्थिति:

विक्रमर्की दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके इतिहासमें दार्शनिक क्रान्तिका समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनों में अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओंमें अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्दी विद्वानोंका आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने मंडन और दूसरेके खंडनमें लग गए। शास्त्रार्थोंकी बाढ़-सी आ गई। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-उच्छेदवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार[२४] विरोधी युगलोंको लेकर तत्त्व की मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका चार कोटियोंसे विचार किया जाता था तथा वादियोंका अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही मानने का आग्रह रहता था। इस खींचतानके कारण अनिश्चय (अज्ञान)वादी संजयके 'अनुयायी तत्त्वको अनिश्चित ही बतलाते थे।[२५] उपर्युक्त युगलोंमें लगनेवाली चार कोटियाँ इस प्रकार होती थीं—

१. सदसद्वाद

(१) तत्त्व सत् है। एक पक्ष
(२) तत्त्व असत् है। द्वितीय पक्ष
(३) तत्त्व उभय है। तृतीय पक्ष
(४) तत्त्व अनुभय है। चतुर्थ पक्ष

२. शाश्वत-अशाश्वतवाद

(१) तत्त्व शाश्वत है।
(२) तत्त्व अशाश्वत है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुमय है।

३. द्वैत-अद्वैतवाद

(१) तत्त्व द्वैत है।
(२) तत्त्व अद्वैत है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

४. वक्तव्यावक्तव्यवाद

(१) तत्त्व वक्तव्य है।
(२) तत्त्व अवक्तव्य है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

(ग) समन्तभद्रकी देन :

समन्तभद्रने प्रतिपादन किया कि तत्त्व उक्त चार ही कोटियोंमें समाप्त नहीं है, अपितु सात कोटियों में वह पूर्ण होता है।[२६] उन्होंने स्पष्ट किया कि तत्त्व तो अनेकान्तरूप है[२७]– एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक आदि)के युगलके आश्रयसे प्रकाशमें आनेवाले वस्तुगत सात धर्मोंका समुच्चय है।[२८] और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्तधर्म-समुच्चय विराट् अनेकान्तात्मक तत्त्व-सागरमें अनन्त लहरोंकी तरह लहरा रहे हैं और इसीसे उसमें अनन्त सप्तकोटियाँ (सप्तभङ्गियाँ) भरी पड़ी हैं। हाँ, द्रष्टाको सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रहे कि वक्ता या ज्ञाता तत्त्वको जब अमुक एक कोटिसे कहता या जानता है तो तत्त्वमें वह धर्म अमुक अपेक्षासे रहता हुआ भी अन्य धर्मोंका निषेधक नहीं है। केवल वह विवक्षावश मुख्य और अन्य धर्म गौण हो जाते हैं।[२९] इसे समझनेके लिये उन्होंने प्रत्येक कोटि (भङ्ग-वचनप्रकार)के साथ 'स्यात्' निपात पद लगानेकी सिफारिशकी[३०] और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'- किसी एक दृष्टि-किसी एक अपेक्षा बतलाया[३१], साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटिकी निर्णयात्मकताको प्रकट करनेके लिए प्रत्येक वाक्यके साथ 'एवकार पद का प्रयोग भी निर्दिष्ट किया,[३२] जिससे उस कोटिकी वास्तविकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांवृतिकता नहीं। तत्त्वप्रतिपादनकी इन सात कोटियोंको उन्होंने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है— भङ्गिनी प्रक्रिया-सप्तभङ्गी[३३] अथवा सप्तभङ्गनय[३४]। समन्तभद्रकी वह परिष्कृत 'सप्तभङ्गी' इस प्रकार प्रस्तुत हुई :

सदसद्वाद

(१) स्यात् सद्रूप ही तत्त्व है।[३५]
(२) स्यात् असद्रूप ही तत्त्व है।
(३) स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है।
(४) स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्त्व है।
(५) स्यात सद् और अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।[३६]
(६) स्यात् असद् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।
(७) स्यात् सद् और असद् तथा अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।

इस सप्तभङ्गी में प्रथमभङ्ग स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे, द्वितीय पर द्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे, तृतीय दोनोंकी क्रमशः सम्मिलित अवस्थाओंसे, चतुर्थ दोनों (सत्त्व-असत्व) को एक साथ कह न सकने से, पंचम प्रथम चतुर्थके संयोग से, षष्ठ द्वितीय-चतुर्थके मेलसे और सप्तम तृतीय-चतुर्थके मिश्र रूपसे विवक्षित हैं और प्रत्येक भङ्गका प्रयोजन पृथक्-पृथक् है। जैसा कि समन्तभद्रके निम्न प्रतिपादनसे प्रकट है :

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥
क्रमार्पितद्वयात् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः॥
धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता॥

—आप्तमी० का० १५, १६, २१

समन्तभद्र ने सदसद्वादकी तरह अद्वैत द्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बरिहर्थवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्षकारणवाद इन एकान्तवादोंपर भी विचार प्रकट किया तथा उक्त प्रकारसे उनमें भी सप्तभङ्गी (सप्तकोटियों)की योजना करके स्याद्वादकी स्थापना की।[३८] इस तरह विचारकोंको उन्होंने स्याद्वाद दृष्टि (तत्त्व-विचार की पद्धति) देकर तत्कालीन विचार संघर्षको मिटानेमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया। साथ ही दर्शनके लिए जिन उपादानोंकी आवश्यकता होती है, उनका भी उन्होंने सृजन किया तथा आर्हत दर्शनको अन्य दर्शनोंके समकक्ष ही नहीं, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया।

जिन उपादानोंकी उन्होंने सृष्टि करके उन्हें जैन-दर्शनको प्रदान किया, वे इस प्रकार हैं :—

(१) प्रमाणका स्वपरावभासि लक्षण।
(२) प्रमाणके अक्रमभावि और क्रमभावि भेदों की परिकल्पना।[३९]
(३) प्रमाणके साक्षात् और परम्पराफलोंका निरूपण।[४०]
(४) प्रमाणका विषय[४१]
(५) नयका स्वरूप[४२]
(६) हेतुका स्वरूप[४३]
(७) स्याद्वादका स्वरूप[४४]
(८) वाच्यका स्वरूप[४५]
(९) वाचकका स्वरूप[४६]
(१०) अभावका वस्तुधर्म-निरूपण एवं भावान्तर कथन[४७]
(११) तत्त्वका अनेकान्तरूप प्रतिपादन
(१२) अनेकान्तका स्वरूप[४९]
(१३) अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना[५०]
(१४) जैन दर्शनमें अवस्तुका स्वरूप[५१]
(१५) स्यात् निपातका स्वरूप[५२]
(१६) अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि[५३]
(१७) युक्तियोंसे स्याद्वादकी व्यवस्था[५४]
(१८) आप्तका तार्किक स्वरूप[५५]
(१९) वस्तु (द्रव्य-प्रमेय)का स्वरूप[५६]

जैन न्यायके इन उपादानोंका उपस्थापन अथवा विकास करनेके कारण ही समन्तभद्रको जैनन्यायका आद्य-प्रवर्तक कहा गया है।[५७]

(घ) कृतियाँ :

समन्तभद्रकी ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं :

१. देवागम— इसमें ११४ कारिकायें हैं। आप्तकी इसमें परीक्षा की है।

२. स्वयम्भूस्तोत्र— इसमें चौबीस तीर्थंकरोंका दार्शनिक शैली में गुणस्तवन है। इसमें १४३ पद्य हैं।

३. युक्त्यनुशासन— इसमें भी वीरकी स्तुतिके बहाने दार्शनिक निरूपण है। यह ६४ पद्योंमें समाप्त है।

४. जिनशतक (स्तुति-विद्या)— यह ११६ पद्योंकी आलंकारिक अपूर्व काव्य-रचना है। चौबीस तीर्थंकरोंकी इसमें स्तुति की गई है।

५. रत्नकरण्डश्रावकाचार— यह उपासकाचार-विषयक १५० पद्योंकी अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति है।

इनमें आदिकी तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पांचवीं धार्मिक कृतियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त इनकी जीवसिद्धि जैसी कुछ कृतियोंके उल्लेख मिलते हैं। पर वे अनुपलब्ध हैं।

२. अष्टशती और अकलंकदेव

आचार्य अकलंकदेव ईसाकी सातवीं-आठवीं शतीके तीक्ष्णबुद्धि एवं महान् प्रभावशाली तार्किक हैं। ये जैन न्यायके प्रतिष्ठाता कहे जाते हैं। जैनधर्मके अनेकांत, स्याद्वाद आदि सिद्धांतों पर जब तीक्ष्णता से बौद्ध और वैदिक विद्वानों द्वारा दोहरा प्रहार किया जा रहा था, तब सूक्ष्मप्रज्ञ अकलंकदेव ने उन प्रहारोंको अपने वादविद्या-कवचसे निरस्त करके अनेकांत, स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि सिद्धान्तोंको सुरक्षित किया था तथा विरोधियों को सबल जवाब दिया था। इन्होंने सैकड़ों शास्त्रार्थ किये और जैन न्याय पर बड़े जटिल एवं दुरूह ग्रन्थोंकी रचना की।

इनके वे न्याय ग्रन्थ निम्न हैं— १. न्यायविनिश्चय, २. सिद्धि-विनिश्चय, ३. प्रमाणसंग्रह, ४. लघीयस्त्रय, ५. देवागम-विवृत्ति (अष्टशती), ६. तत्त्वार्थवार्तिक व उसकाभाष्य आदि। इनमें तत्त्वार्थवार्तिक व भाष्य तत्त्वार्थसूत्रकी विशाल, गम्भीर और महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इसमें अकलंकदेवने सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्यका अनुसरण करते हुए सिद्धान्त, दर्शन और न्याय तीनोंका विशद विवेचन किया है। विद्यानन्दने सम्भवतः इसी कारण– ''सिद्धेर्वात्राकलंकस्य महतो न्यायवेदिनः'' (त० श्लो० पृ० २७७) वचनों द्वारा अकलंकको 'महान्यायवेत्ता' (जस्टिस) (न्यायधीश) कहा है।

अष्टसहस्री और आचार्य विद्यानन्द :

आचार्य विद्यानन्द उन सारस्वतोंमें गणनीय हैं, जिन्होंने एक-से-एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। इनका समय ई० ७७५-८४० है। इन्होंने अपने समग्र ग्रन्थ प्रायः दर्शन और न्याय पर ही लिखे हैं, जो अद्वितीय और बड़े महत्त्वके हैं।

ये दो तरह के हैं—

१. टीकात्मक और २.स्वतंत्र। टीकात्मक ग्रन्थ निम्न हैं—

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-(सभाष्य)— आचार्य गृद्धपिच्छके सुप्रसिद्ध 'तत्त्वार्थसूत्र' पर कुमारिलके मीमांसाश्लोक-वार्तिक और धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह विद्यानन्दने पद्यात्मक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक रचा है और उसके पद्य वार्तिकों पर उन्होंने स्वयं गद्यमें भाष्य अथवा व्याख्यान लिखा है। यह भाष्य तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-व्याख्यान, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार और श्लोकवार्तिकभाष्य इन नामोंसे कथित होता है। जैन दर्शनके प्राणभूत ग्रन्थोंमें यह प्रथम कोटिका ग्रन्थरत्न है। विद्यानन्दने इसकी रचना करके कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध इतर तार्किकोंके जैनदर्शन पर किये गये आक्षेपोंका सबल जवाब ही नहीं दिया, किन्तु जैनदर्शनका मस्तक भी उन्नत किया है। हमें तो भारतीय दर्शन-साहित्यमें ऐसा एक भी ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता जो श्लोकवार्तिककी समानता कर सके।

श्लोकवार्तिककी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कितनी ही चर्चाएँ अपूर्व हैं। यह ग्रन्थ सेठ रामचन्द्रनाथरङ्गजी सोलापुर द्वारा १९१८में प्रथमबार प्रकाशित हुआ था। यही ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन सहित सात खण्डोंमें

आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुरसे प्रकाशित हुआ था। किन्तु अब अनुपलब्ध है।

२. अष्टसहस्री-देवागमालङ्कार— प्रस्तुत कृति है।

३. युक्त्यनुशासनालङ्कार— आप्तमीमांसाकार समन्तभद्रकी बेजोड़ दूसरी रचना 'युक्त्यनुशासन' है। यह एक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर स्तोत्रग्रन्थ है। आप्तमीमांसामें अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरकी परीक्षा की गई है और परीक्षाके बाद उनके आप्त सिद्ध हो जाने पर इस (युक्त्यनुशासन) में उनकी गुणस्तुति की गई है। इसमें कुल पद्य ६४ हैं। परन्तु एक-एक-पद्य इतना दुरूह और गम्भीर है कि प्रत्येकके व्याख्यान में एक-एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। आचार्य विद्यानंदने इस स्तोत्रग्रन्थको 'युक्त्यनुशासनालंकार' नामक सुविशद व्याख्यानसे अलंकृत किया है। यह उनका मध्यम परिमाणका टीका ग्रन्थ है– न ज्यादा बड़ा है और न ज्यादा लघु है। इसे उन्होंने आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षा के बाद रचा है, क्योंकि इसमें उन दोनोंके उल्लेख हैं। यह टीका मूल ग्रन्थके साथ वि-सं० १९७७ में 'माणिकचन्द्र दिग० जैन ग्रन्थमाला'से प्रकाशित हो चुकी है। किन्तु अब वह अनुपलब्ध है। पुन: नवीन संस्करण प्रकाशित होना चाहिए।

विद्यानंदके मौलिक स्वतन्त्र ग्रन्थोंका परिचय इस प्रकार हैं :—

१. विद्यानंद महोदय— यह आचार्य विद्यानंदकी सर्वप्रथम रचना है। इसके बाद ही उन्होंने श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ बनाये है। श्लोकवार्तिक आदिमें अनेक जगह इस ग्रन्थके उल्लेख किये हैं और विस्तारसे उसमें जानने एवं प्ररूपण करनेकी सूचनाएँ की हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ श्लोकवार्तिकसे भी विशाल और महत्वपूर्ण होगा। आज यह अनुपलब्ध है।

२. आप्तपरीक्षा— इस ग्रन्थमें कुल १२४ कारिकाएँ हैं और उनपर स्वयं विद्यानंदस्वामीकी 'आप्तपरीक्षालङ्कृति' नामकी स्वोपज्ञ टीका है, जो बहुत ही विशद और प्रसन्न है। इसमें दर्शनान्तरीय पदार्थोंकी व्यवस्थित मीमांसा और उनके उपदेशकों (ईश्वर, कपिल, बुद्ध और ब्रह्म) की विशद, विस्तृत और युक्तिपूर्ण परीक्षा की गयी है, जो प्राय: अन्यत्र अलभ्य है।

प्रमाणपरीक्षा— यह विद्यानंद की तीसरी स्वतन्त्र रचना है। इसे उन्होंने आप्तपरीक्षाके बाद रचा है, क्योंकि प्रमाणपरीक्षामें आप्तपरीक्षाका उल्लेख हुआ है और वहाँ अनादि एक ईश्वरके प्रतिक्षेप करनेका निर्देश किया गया है। इसमें प्रमाणके विषयका सुन्दर प्रतिपादन किया है।

पत्रपरीक्षा— यह ग्रन्थकारकी चतुर्थ मौलिक रचना है। इसमें दर्शनान्तरीय पत्रलक्षणोंकी समालोचनापूर्वक जैनदृष्टिसे पत्रका बहुत सुन्दर लक्षण किया है। यह रचना विद्यानंदकी सर्व तर्करचनाओंमें अतिलघु रचना है। यह वीर सेवा मंदिर ट्रस्टसे आधुनिक संपादनके साथ द्वितीय संस्करणके रूपमें प्रकाशित हैं।

सत्यशासनपरीक्षा— इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनोंकी परीक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। परन्तु १२ शासनोंमेंसे ९ शासनोंकी पूरी और प्रभाकरशासनकी अधूरी, परीक्षाएँ ही इसमें उपलब्ध होती हैं। प्रभाकर-शासनका शेषांश, तत्त्वोपप्लवशासनपरीक्षा और अनेकान्तशासन परीक्षा इसमें अनुपलब्ध हैं। इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ विद्यानंदकी अन्तिम समयकी रचना है और वे इसे पूरी नहीं कर सके।

श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र— इसमें कुल ३० पद्य हैं। ग्रन्थका विषय श्रीपुरस्थ भगवान् पार्श्वनाथ हैं। कपिलादिकमें अनाप्तता बतलाकर उन्हें आप्त सिद्ध किया गया है और उनके वीतरागित्व, सर्वज्ञत्व और मोक्षमार्गप्रणेतृत्व इन असाधारण गुणोंकी स्तुति की गई है।

आचार्य विद्यानंदकी इन कृतियोंके परिचयसे प्रतीत होता है कि आचार्यश्री समग्र भारतीय दर्शनोंके प्रौढ़ विद्वान् थे, और यावज्जीवन उन्हीं के अध्ययन-अध्यापनमें रत रहे। प्रस्तावनाके अंतमें स्वामी समन्तभद्र और अकलंकदेवके साथ उन्हें कोटिश: नमन करता हूँ।

विनम्र

दरबारीलाल कोठिया

प्रस्तावना-टिप्पण

१. कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः'

—अष्टश० प्रारम्भिक पद्य २।

२. इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे'... :

—अष्टस० पृ० २९४.

३. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—पार्श्व० च०।

४. देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः।

— विक्रान्त कौ० प्र०

५. इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।

—देवागम का० ११४

६. अष्टश०, देवागम का० ११४।

७. अष्टस० पृ० १, आप्तपरीक्षा पृ० २३३, २६२, वीरसेवा-मंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-२।

८. 'स्वोक्तपरिच्छेदे...' — अष्टश०, देवागम का० ११४।

९. अष्टसहस्री (पृ०२२२) में इस ६७ वीं कारिकाके उत्थानिकावाक्यके आरम्भिक 'अपरः प्राह' पद पर टिप्पण देते हुए टिप्पणकारने, जो उसका अर्थ 'सौगतः' दिया है वह ठीक नहीं है। यहाँ सारा सन्दर्भ वैशेषिकोंका है, सौगतोंका नहीं।

१०. आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें आचार्य अकलङ्कदेवके समाप्ति मङ्गलसे पूर्व 'केचित्' शब्दोंके साथ देवागमके किसी व्याख्याकारका 'जयति जगति' आदि समाप्ति मङ्गल पद्य दिया है, उससे प्रतीत होता है कि अकलङ्कदेवसे पूर्व भी देवागम पर किसी आचार्यकी व्याख्या रही है, जो विद्यानंदको प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसपर से ही उन्होंने उल्लिखित समाप्ति मङ्गल पद्य दिया है। लघुसमन्तभद्र (वि० सं० १३वीं शती)ने वादीभसिंह द्वारा देवागम (आप्तमीमांसा) के उपलालन-व्याख्यान करनेका उल्लेख अष्टसहस्री-टिप्पण (पृ०१)में किया है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। देवागमके महत्व और विश्रुति को देखते हुए आश्चर्य नहीं कि उस पर विभिन्न कालोंमें विविध टीका-टिप्पणादि लिखे गये हों। अलङ्कदेवने अष्टशती (का० ३३की विवृति) में एक स्थान पर 'पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' शब्दोंका प्रयोग करके देवागमके पाठ भेदों और उसकी अनेक व्याख्याओंकी ओर स्पष्ट संकेत किया है।

११. इत्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥छ॥

१२. अष्टशती ग्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात्।
विलसदकलाङ्कधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥

—अष्ट स० पृ०१७८

१३. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः ॥

—अष्टस० पृ० १५७।

१४: श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य–.... देवागमाख्याः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतं विस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय।

—वसुनंदि, देवागमवृत्ति, पृ०५०, सना० जैन० ग्रन्था०

१५. (क) कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं येन तदारम्भे परमेष्ठिनामाध्यानं विधीयत इति चेत् तल्लक्षणयोगत्वात्।....तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यातीति शास्त्रं तत्त्वार्थः'

—त० श्लो०, पृ०२ ।

(ख) इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा। आ० १२४।

(ग) दशाध्याये परिच्छन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

१६. 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक लेखकके दो लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, १०-११।

१७. 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' के कर्त्ता 'पूज्यपाद-देवनन्दि', शीर्षक लेख, मुनि हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ, पृ० ५६३।

१८-१९. 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक लेख। अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, पृ०२३२।

२०. 'एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां षष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च क्रियते।

—वीरसेन, धवला पु० १, पृ० १०८

२१. बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः। स्याद्वादिनो नाथ! तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता॥

—स्वयम्भू० स्तो० श्लो० १४।

२२. (क) धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥

—ल० का० १-१

(ग) वन्दित्वा परमार्हतां समुदायं गां सप्तभङ्गीविधिं।
स्याद्वादामृतगर्भिणीं प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयाम्॥

—अष्टश० मङ्गलश्लो० १।

२३. पंचास्तिकाय गा० १५,१७.

२४. सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते॥

—स्वयम्भू०श्लो० ११।

२५. 'दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त'में संजयका मत 'अमराविक्षेपवाद'के रूपमें मिलता है। अमरा एक प्रकार की मछलीका नाम है। उसके समान विक्षेप (चंचलता-अस्थिरता)का होना-मानना अमराविक्षेपवाद है।

२६. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥

—आप्तमी० का० १०४।

२७. (अ) 'तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्'

—युक्त्यनु० ४६।

(आ) एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम्।

—स्वयम्भू० ४१।

(इ) न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्वनिषेधगम्यम्।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि वै तत्त्वदृषेः परेषाम्॥
—युक्त्यनु० ३२।

२८. (क) विधिनिषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिद्विश एक एव।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे॥
—युक्त्य० ४५।

(ख) विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तत्
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः।
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्टगुरुणा
त्वया गीतं तत्वं बहुनय विवक्षेतरवशात्॥
—स्वयम्भू० का० ११८

२९. (क) विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टो विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
—स्वयम्भू० का० २५

(ख) विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।
—स्वयम्भू० ५३

३०. (अ) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥
—आप्तमी० का० १०३

(आ) तद्द्योतनः स्याद् गुणतो निपातः
युक्त्य० ४३।

३१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
आप्तमी० १०४

३२. (क) यदेवकारोपहितं पदं तदस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति।
युक्त्य० ४१।

(ख) अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं व्यावृत्त्यभावान्नियमद्वयेऽपि।
युक्त्य० ४२।

३३. प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैनर्य विशारदः।
आप्तमी० २३।

३४. 'सप्तभङ्गानपापेक्षः......
आप्तमी० १०४।

३५. कथञ्चित् ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगात्र न सर्वथा॥
आप्तमी० १४।

३६. अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः॥
आप्तमी० १६।

३७. आप्तमी० का० २३, ११३।

३८. स्वयम्भू-स्तोत्र का० ६३।

३९. आप्तमीमांसा का० १०१।

४०. उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादान-हान-धीः।
पूर्वाऽवाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥
—आप्तमी० १०२॥

४१. आप्तमी० १०७।

४२-४३. आप्तमी० १०६।

४४. आप्तमी० १०४।

४५. आप्तमी० १११, ११२।

४६. आप्तमी० १०९।

४७. भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः, भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
युक्त्य० ५७।

४८. युक्त्यनु० २३।

४९. आप्तमी० १०७, १०८।

५०. स्वयम्भू-स्तोत्र १०३।

५१. आप्तमी० ४८, १०५।

५२. स्वयम्भू० १०२।

५३. आप्तमी० ५।

५४. आप्तमी० ११३।

५५. जैन दर्शन, स्याद्वादाङ्क, वर्ष २, अङ्क ४-५, पृ० १७०।

५६. आप्तमी० का० ४, ५, ६।

५७. आप्तमी० १०७।



ॐ नमः सर्वज्ञाय

श्रीमद्विद्यानन्दाचार्यविरचिता आप्तमीमांसालङ्कृत्यभिधा

अष्टसहस्री

श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्यरचितदेवागमाख्याप्तमीमांसायुता
श्रीमदकलङ्कदेवकृताष्टशत्यपरनामाप्तमीमांसाभाष्यसमन्विता च

आप्तमीमांसाभाष्यमङ्गलाचरणम्

उद्दीपीकृतधर्मतीर्थमचलज्योतिर्ज्वलत्केवलाऽऽ-
लोकाऽऽलोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितम् ।
वन्दित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभङ्गीविधिं
स्याद्वादामृतगर्भिणीं प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयाम् ।।१।।

तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधे-
र्भव्यानामकलङ्कभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ।।२।।

अष्टसहस्रीमङ्गलाचरणम्

श्रीवर्द्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्रमुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृति[२]रलङ्क्रियते मया[३]स्य[४] ।।१।।

१. श्रेय[५]: **श्रीवर्द्धमानस्य** परमजिनेश्वरसमुदायस्य **समन्तभद्रस्य** तदमलवाचश्च संस्तवन[६]माप्तमीमांसितस्यालङ्करणे तदाश्रयत्वात्, तदन्य[७]तमासम्भवे तदघटनात्। तद्वृत्तिकारै[८]रपि तत एवोद्दीपीकृतेत्यादि[९]तत्संस्तवनविधानात् ।

२. **देवागमेत्यादि[१०]मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव[११] स्वयं[१२] श्रद्धा[१३]गुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं[१४] लक्ष्यते,[१५] तदन्य[१६]तरापायेऽर्थस्या[१७]नुपपत्ते[१८]ः। शास्त्र[१९]न्यायानुसारितया तथैवो[२०]पन्यासात्।** इत्यनेन[२१] ग्रन्थकारस्य[२२] श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे प्रयोजने[२३] साध्ये शास्त्रारम्भस्त[२४]वविषयाप्तगु[२५]णातिशय[२६]परीक्षोपक्षेपस्य[२७] साधन[२८]त्वसमर्थनात्। शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं **देवागमाभिधानमिति निर्णयः।**[२९]

(आप्तमीमांसितं शास्त्रं देवागमाख्यमिति कुतः ? तदेव स्पष्टयति)

३. मङ्गलपुरस्सर[३०]स्तवो[३१] हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते। मङ्गलपुरस्सरमस्येति मङ्गलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र तेन रचितः स्तवो मङ्गलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात्। तद्विषयो यः परमात्मा तद्गु[३२]णातिशयपरीक्षा तद्गोचराप्तमीमांसितमेवोक्तम्।

४. तदेव[३३] निश्श्रेयसशास्त्रस्यादौ[३४] तन्निबन्धनतया[३५] मङ्गलार्थतया च मुनिभिः[३६] संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छता[३७] [३८]सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेष[३९]प्रतिपत्त्यर्थ**माप्तमीमांसां** विदधानाः[४०] श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनसः कस्माद् देवागमादिविभूतितो[४१]ऽहं महान्नाभिष्टुत[४२] इति स्फुटं पृष्टा[४३] इव **स्वामिसमन्तभद्राचार्याः** प्राहुः—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्[४४]त्वमसि[४५] नो[४६] महान्॥१॥

५. देवागमादीनामादिशब्देन प्रत्येकमभिसम्बन्धाद्देवागमादयो[४७] नभोयानादय[४८]श्चामरादय[४९]श्च विभूतयः परिगृह्यन्ते ताश्च भगवतीव मायाविष्वपि मष्करिप्रभृतिषु दृश्यन्ते इति तद्वत्तया भगवन्नोऽस्माकं परीक्षा-प्रधानानां न महान् स्तुत्योऽसि।

६. **आ[५०]ज्ञाप्रधाना[५१] हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयः, तादृशो[५२] मायाविष्वपि भावात्[५३], इत्यागमाश्रयो[५४]यं स्तवः[५५]।**

७. श्रेयोमार्गस्य प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान्, देवागमननभोयानचामरादिविभूतिमत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतोरप्यागमाश्रयत्वात्[५६]। तस्य च प्रतिवादिनः[५७] प्रमाणत्वेनासिद्धेः। [५८]तदागमप्रामाण्यवादिनामपि विपक्ष-वृत्तितया गमकत्वायोगात्[५९], तदागमादेव हेतोर्विपक्षवृत्तित्वसिद्धेः। परमार्थपथप्रस्थायियथोदितविभूतिमत्त्वस्य हेतोर्माया[६०]पनिर्मिततद्विभूतिमद्भिर्मायाविभिर्न व्यभिचारः, [६१]सत्यधूमवत्त्वादेः पावकादौ साध्ये स्वप्नोपलब्धधूमादिमता देशादिनाऽनैकान्तिकत्वप्रसङ्गात् सर्वानुमानोच्छेदोपपत्तेः, इति चेत्; तर्हि मा भूदस्य[६२] हेतोर्व्यभिचारः।

८. पारमार्थिक्यः पुरन्दरभेरीनिनादादिकृतप्रतीघा[६३]तागोचरचारिण्यो यादृश्यो यथोदितविभूतय**स्तीर्थकरे** भगवति त्वयि तादृश्यो मायाविष्वपि नेत्य[६४]त[६५]स्त्वं महानस्माकमसीति[६६] व्याख्या, [६७]ग्रन्थविरोधाभावात्[६८]; इति कश्चित्[६९]; सोपि कुतः प्रमाणात्प्रकृतहेतुं [७०]विपक्षासम्भविनं[७१] प्रतीयात्[७२]। न तावत्प्रत्यक्षादनुमानाद्वा, तस्य[७३] [७४]तदविषयत्वात्। नाप्यागमादसि[७५]द्धप्रामाण्यात्तत्प्रतिपत्तिः, अतिप्रसङ्गात्। प्रमाण[७६]तःसिद्धप्रामाण्यादागमात्त-त्प्रतिपत्तौ ततः [७७]साध्यप्रतिपत्तिरेवास्तु पर[७८]म्परापरिश्रमपरिहारश्चैव[७९] प्रतिपत्तुः स्यात्। ततः[८०] सूक्तं सर्वथा नातो हेतोस्त्वमसि नो महान्, तस्यागमाश्रयत्वात् इति।

(अन्तरङ्गबहिरङ्गविग्रहादिमहोदयेनापि न महानिति प्रतिपादयति)

९. तर्ह्यन्तरङ्गबहिरङ्गविग्रहादिमहोदयेनान्यजनातिशायिना[८१] सत्येन[८२] स्तोत[८३]व्योहं महानिति भगवत्पर्यनुयोगे[८४] सतीव प्राहुः—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्[८५]वप्यस्ति[८६] रागादिमत्[८७]सु सः॥२॥

१०. आत्मानमधिश्रित्य वर्त्तमानोऽध्यात्ममन्तरङ्गो विग्रहादिमहोदयः शश्वन्निःस्वेदत्वादिः, परानपेक्षत्वात्[८८]। ततो बहिर्गन्धोदकवृष्ट्यादिर्बहिरङ्गः, देवोपनीतत्वात्। स च सत्यः, मायाविष्वसत्त्वात्। दिव्यश्च, मनुजेन्द्राणा[८९]मप्यभावात्। स एष **बहिरन्तःशरीरादिमहोदयोऽपि पूरणादिष्वसम्भवी व्यभिचारी, स्वर्गिषु भावादक्षीणकषायेषु। [९०]ततोऽपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते।**

११. अथ[९१] यादृशो घातिक्षयजः स [९२]भगवति न तादृशो देवेषु [९३]येनानैकान्तिकः स्यात्। दिवौकस्स्वप्यस्ति[९४] रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते; तदाप्यागमाश्रयत्वादहेतुः पूर्ववत्[९५]।

१२. ननु प्रमाणसंप्लववादिनां [९६]प्रमाणप्रसिद्धप्रामाण्यादागमात्साध्य[९७]सिद्धावपि तत्प्रसिद्धसाधनजनितानुमानात्पुनस्तत्प्रतिपत्तिरविरुद्धैवेति चेत्; न; उपयो[९८]गविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवस्यानभ्युपगमात्। सति हि प्रतिपत्तुरुपयोगविशेषे [९९]देशादिविशेषसमवधाना[१००]दागमात्प्रतिपन्नमपि हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्प्रतिपित्सते। तत्प्रतिबद्धधूमादिसाक्षात्करणात्प्रतिपत्तिविशेषघटनात्। [१०१]पुनस्तमेव प्रत्यक्षतो बुभुत्सते, [१०२]तत्करणसम्बन्धात्तद्विशेष[१०३]प्रतिभा[१०४]ससिद्धेः। न चैव[१०५]मागमानुगम्ये [१०६]साध्ये साधने च तत्प्रतिपत्तिविशेषो[१०७]ऽस्तीति किंम[१०८]कारण[१०९]मत्र [११०]प्रमाणसंप्लवोऽभ्युपगम्यते। [१११]प्रत्यक्षनिश्चितेऽग्नौ धूमे च तदभ्युपगमप्रसङ्गात्, सर्वथा विशेषाभावात्। ततो देवागमनभोयानचामरादिविभूतिभिरिवान्तरङ्गबहिरङ्गविग्रहादिमहोदयेनापि न स्तोत्रं भगवान् परमात्माऽर्हति।

(तीर्थक्ररत्वेनापि न महानिति कथयति)

१३. तर्हि तीर्थकृत्सम्प्रदाये[११२]न स्तुत्योऽहं महानिति भगवदाक्षे[११३]पप्रवृत्ताविव साक्षादाहुः—

तीर्थकृत्समयानां[११४] च परस्परविरोधतः[११५]।
[११६]सर्वेषामाप्तता [११७]नास्ति कश्चिदेव[११८] भवेद्गुरुः।।३।।

१४. भगवतो महत्त्वे साध्ये तीर्थकरत्वं साधनं कुतः प्रमाणात्सिद्धम्? न तावदध्यक्षात्, तस्य [११९]तदविषयत्वात् साध्यवत्। [१२०]नाप्यनुमानात्, तदविनाभाविलिङ्गाभावात्। [१२१]समयात्सिद्धम्; इति चेत्; पूर्ववदागमाश्रयत्वादगमकत्वमस्य व्यभिचारश्च। **[१२२]न हि तीर्थकरत्वमाप्ततां साधयति शक्रादिष्वसम्भवि, सुगतादिषु दर्शनात्।** यथैव[१२३] हि भगवति तीर्थकरत्वसमयोऽस्ति तथा सुगतादिष्वपि। **सुगतस्तीर्थकरः कपिलस्तीर्थकर** इत्यादिसमयाः सन्तीति[१२४] सर्वे महान्तः स्तुत्याः स्युः। **न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्परविरुद्धसमयाभिधायिनः।** तदु[१२५]क्तम्—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः[१२६] कथं तयोः[१२७]।।१।। (उद्धृत, त.सं.का. ३१४९)

१५. **ततोऽनैकान्तिको हेतुस्तीर्थकरत्वाख्यो** न कस्यचिन्महत्त्वं साधयतीति कश्चिदेव गुरुर्महान् भवेत्? नैव भवेदित्यायातम्[१२८]।

१६. **अत [१२९]एव न कश्चित्पुरुषः सर्वज्ञः** स्तुत्यः। श्रेयोऽर्थिनां श्रुतेरेव[१३०] श्रेयःसाधनोपदेशसिद्धेः; [१३१]इत्यपरः। तं प्रत्यपीयमेव कारिका योज्या। कथम्? तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो **मीमांसकाः,** [१३२]सर्वज्ञागमनिराकरणवादित्वात्। तेषां [१३३]समयास्तीर्थकृत्समयास्तीर्थच्छेदसम्प्रदाया [१३४]भावनादिवाक्यार्थप्रवादा

इत्यर्थः। तेषां च परस्परविरोधादाप्तता संवादकता[१३५] नास्तीति[१३६] कश्चिदेव सम्प्रदायो भवेद्गुरुः संवादको[१३७] नैव भवेदिति व्याख्यानात्। तदेवं वक्तव्यम्—

भावना यदि वाक्यार्थो[१३८] नियोगो नेति का प्रमा[१३९]।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्ट-प्रभाकरौ ।।२।।
कार्यार्थे चोदनाज्ञानं संविधौ किन्न तत्प्रमा।
द्वयोश्चे[१४०]द्धन्त तौ नष्टौ भट्ट-वेदान्तवादिनौ ।।३।।

(भाट्टः प्रभाकराभिमतं नियोगवाक्यार्थं प्रतिक्षिप्य स्वपक्षं भावनावाक्यार्थं स्थापयति)

१७. ननु[१४१] च भावना वाक्यार्थ इति सम्प्रदायः श्रेयान्, नियोगे बाधकसद्भावात्। नियुक्तोऽहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगो हि नियोगः, तत्र मनागप्ययोगस्य[१४२] सम्भवाभावात्। स चानेकविधः प्रवक्तृ[१४३]मतभेदात्। केषाञ्चिल्लिङादिप्रत्यया[१४३(क)]र्थः[१४४] शुद्धो[१४५]ऽन्य[१४६]निरपेक्षः कार्यरूपो[१४७] नियोगः।

प्रत्ययार्थो[१४८] नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते।
कार्यरूप[१४९]श्च तेनात्र[१५०] शुद्धं कार्यमसौ मतः ।।४।।
विशेषणं तु यत्तस्य[१५१] किञ्चिदन्यत्[१५२]प्रतीयते।
प्रत्ययार्थो[१५३] न तद्युक्तं धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ।।५।।
प्रेरकत्वं तु[१५४] यत्तस्य[१५५] विशेष[१५६]णमिहेष्यते।
तस्याप्रत्ययवाच्यत्वाच्छुद्धे कार्ये नियोगता ।।६।।

१८. इति वचनात्।

१९. परेषां[१५७][१५८] शुद्धा प्रेरणा[१५९] नियोग इत्याशयः[१६०]।

प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा[१६१] सर्वत्र गम्यते।
नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ।।७।।

२०. प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति केचन मन्यन्ते।

ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत्।
स्वसिद्ध्यै[१६२] प्रेरकं[१६३] तत्स्यादन्यथा[१६४] तन्न सिद्ध्यति ।।८।।

२१. कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यपरे।

प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित्।
ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ।।९।।

२२. कार्यस्यैवोपचारतः[१६५] प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यन्ये।

प्रेरणाविषयः[१६६] कार्यं[१६७] न तु तत्प्रेरकं स्वतः।
व्यापा[१६८]रस्तु प्रमाणस्य प्रमेये[१६९] उपचर्यते ।।१०।।

२३. कार्यप्रेरणयोः[१७०] सम्बन्धो नियोग इत्यपरे।

प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित्।
कार्यं वा प्रेरणायोगो नियोगस्तेन[१७१] सम्मतः ।।११।।

२४. तत्समुदायो[१७२] नियोग इति चापरे।

परस्पराविनाभूतं द्वयमेतत्[१७३]प्रतीयते[१७४]।
नियोगः समुदायोऽस्मात्कार्यप्रेरणयोर्मतः ।।१२।।

२५. तदुभयस्वभावविनिर्मुक्तो[१७५] नियोग इति चान्ये।

सिद्धमेकं[१७६] यतो[१७७] ब्रह्म गतमाम्नायतः[१७८] सदा।
सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं कुत[१७९] एव तत् ।।१३।।

२६. यन्त्रा[१८०]रूढो[१८१] नियोग इति कश्चित्।

कामी[१८२] यत्रैव[१८३] यः कश्चिन्नियोगे सति[१८४] तत्र सः।
विषया[१८५]रूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्त्तते ।।१४।।

२७. भोग्यरूपो[१८६] नियोग इत्यपरः।

ममेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते।
ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तर्येव व्यवस्थितम् ।।१५।।
स्वामित्वेनाभिमानो[१८७] हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम्।
भोग्यं तदेव विज्ञेयं तदेव स्वं[१८८] निरुच्यते ।।१६।।
साध्य[१८९]रूपतया येन[१९०] ममेदमिति गम्यते।
तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ।।१७।।
सिद्धं रूपं हि यद्भोग्यं न नियोगः स तावता।
साध्यत्वेनेह[१९१] भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता[१९२] ।।१८।।

२८. पुरुष एव नियोग इत्यन्यः।

ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा।
पुंसः कार्यविशिष्टत्वं[१९३] नियोगोऽस्य[१९४] च वाच्यता ।।१९।।
कार्यस्य[१९५] सिद्धौ जातायां तद्युक्तः[१९६] पुरुषस्तदा।
भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ।।२०।।

(भाट्टः पूर्वोक्तप्रकारणैकादशभेदं नियोगं प्रदर्श्य प्रमाणादिविकल्पैस्तं दूषयति)

२९. सोऽयमेकादशप्रकारोऽपि[१९७] नियोगो विचार्यमाणो बाध्यते, प्रमाणाद्यष्टविकल्पानतिक्रमात्। तदुक्तम्[१९८]—

प्रमाणं[१९९] किं नियोगः स्यात्प्रमेयमथवा पुनः ।
उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोऽथवा पुनः ।।२१।।
शब्दव्यापाररूपो वा व्यापारः[२००] पुरुषस्य वा ।
द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा ।।२२।।

३०. तत्रैकादशभेदोऽपि[२०१] नियोगो यदि प्रमाणम्[२०२], तदा विधिरेव[२०३] वाक्यार्थः, इति वेदान्तवादप्रवेशः प्रभाकरस्य[२०४] स्यात्, प्रमाणस्य चिदात्मकत्वात्[२०५], चिदात्मनः प्रतिभासमात्रत्वात्, तस्य[२०६] च परमब्रह्मत्वात्[२०७]। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः कार्यरूपतया[२०८] न प्रतीयते घटादिवत्। प्रेरकरूपतया वा नानुभूयते[२०९], वचनादिवत्[२१०]। कर्मकरणसाधनतया[२११] हि तत्प्रतीतौ[२१२] कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो[२१३] नान्यथा। किं तर्हि[२१४] ? 'दृष्टव्योऽरेऽयमात्मा[२१५] श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः[२१६]' (बृहदार० २/४/५) इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणेन[२१७] प्रेरितोऽहमिति जाताकूतेनाकारेण[२१८] स्वयमात्मैव प्रतिभाति। स एव विधिरिति **वेदान्तवादिभि**रभिधानात्।

३१. प्रमेयत्वं तर्हि नियोगस्यास्तु, प्रमाणत्वे दोषाभिधानात्; इत्यप्यसत्; प्रमाणाभावात् । प्रमेयत्वे हि तस्य[२१९] प्रमाणमन्यद्वाच्यम्[२२०],— तदभावे प्रमेयत्वायोगात्। श्रुतिवाक्यं प्रमाणमिति[२२१] चेत्; न, तस्याचिदात्मकत्वे[२२२] प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारात्[२२३]। संविदात्मकत्वे[२२४] श्रुतिवाक्यस्य पुरुष[२२५] एव श्रुतिवाक्यमिति स एव प्रमाणम्। तत्संवेदनविवर्त्तोऽस्तु[२२६] नियुक्तोऽहमित्यभिमानरूपो[२२७] नियोगः प्रमेयमिति, नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते, यतो वेदान्तवादिमतप्रवेशोऽस्मिन्नपि पक्षे न भवेत्।

३२. तर्हि प्रमाणप्रमेयरूपो नियोगो भवत्वित्यप्ययुक्तम्, संविद्विवर्त्तत्वापत्तेः,— अन्यथा[२२८] प्रमाणप्रमेयरूपतानुपपत्तेः। तथा च स एव चिदात्मोभयस्वभावतया[२२९]ऽऽत्मानमादर्शयन्[२३०]नियोग इति सिद्धो ब्रह्मवादः।

३३. अनुभयस्वभावो नियोग इति चेत्, तर्हि[२३१] संवेदनमात्रमेव[२३२] पारमार्थिकम्[२३३], तस्य[२३४] कदाचिदप्यहेयत्वादनुभयस्वभावत्वसम्भवात्[२३५]। प्रमाणत्वप्रमेयत्वव्यवस्थाभेदविकलस्य[२३६] तन्मात्रदेहतया[२३७] तस्य[२३८] **वेदान्तवादिभि**र्निरूपितत्वात्तन्मतप्रवेश एव।

३४. यदि पुनः शब्दव्यापारो[२३९] नियोग इति मतम्, तदा **भट्ट**मतानुसरणमस्य[२४०] दुर्निवारम्, शब्दव्यापारस्य शब्दभावनारूपत्वात्[२४१]।

३५. अथ पुरुषव्यापारो नियोगः[२४२], तदेव परमतानुसरणम्, पुरुषव्यापारस्यापि भावनास्वभावत्वात्[२४३]। शब्दात्मव्यापारभेदेन भावनायाः परेण द्वैविध्याभिधानात्[२४४]।

३६. तदुभयरूपो[२४५] नियोग इति चेत्[२४६], पर्यायेण युगपद्वा ? यदि पर्यायेण, स[२४७] एव दोषः, क्वचित्कदाचिच्छब्दव्यापारस्य पुरुषव्यापारस्य च भावनास्वभावस्य नियोग इति नामकरणात्। युगपदुभयस्वभावत्वं पुनरेकत्र विरुद्धं[२४८] न शक्यं व्यवस्थापयितुम्[२४९]।

३७. तर्हि तदनुभयव्यापाररूपो नियोगोऽङ्गीकर्त्तव्य इति चेत्, सोऽपि विषयस्वभावो[२५०] वा स्यात् फलस्वभावो वा निःस्वभावो[२५१] वा ? गत्यन्तराभावात्। विषयस्वभाव इति चेत्, कः पुनरसौ विषयः ?

‘अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः’ (   ) इत्यादिवाक्यस्यार्थो यागादिर्विषय इति चेत्, स[२५२] तद्वाक्यकाले[२५३] स्वयमविद्यमानो विद्यमानो वा ? यद्यविद्यमानः, तदा तत्स्वभावो[२५४] नियोगोऽप्यविद्यमान एवेति कथमसौ[२५५] वाक्यार्थः, खपुष्पवत्[२५६] । बुद्ध्यारूढस्य भाविनस्तस्य[२५७] वाक्यार्थत्वे **सौगत**मतानुसरण[२५८]प्रसङ्गः । अथ तद्वाक्यकाले[२५९] विद्यमानोऽसौ[२६०], तर्हि न नियोगो वाक्यस्यार्थः, तस्य यागादि[२६१]निष्पादनार्थत्वात्[२६२], निष्पन्नस्य च यागादेः पुनर्निष्पादनायोगात्[२६३], पुरुषादिवत् । अथ तस्य[२६४] किञ्चिदनिष्पन्नं रूपं तन्निष्पादनार्थो नियोग इति मतम्, तर्हि तत्स्वभावो[२६५] नियोगोऽप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थः । स्वयमसन्निहितस्य[२६६] कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स[२६७] एव **सौगत**मतप्रवेशः ।

३८. फलस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षो न कक्षीकर्त्तव्यः, तस्य[२६८] नियोगत्वाघटनात् । न हि स्वर्गादिफलं नियोगः, फलान्तर[२६९]परिकल्पनप्रसङ्गात्, निष्फलस्य नियोगस्यायोगात् । फलान्तरस्य च फलस्वभावनियोगवादिनां नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलपरिकल्पनेऽनवस्था[२७०]प्रसङ्गः । फलस्य[२७१] वाक्यकाले[२७२] स्वयमसन्निहितत्वाच्च तत्स्वभावो[२७३] नियोगोऽप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः ? तस्य[२७४] वाक्यार्थत्वे निरालम्बन[२७५]शब्दवादाश्रयणात् कुतः प्रभाकरमतसिद्धिः ।

३९. निःस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतिक्षिप्तः[२७६] ।

४०. किञ्च सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नेव वा उभयरूपो वाऽनुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे विधिवाद एव । द्वितीयपक्षे निरालम्बनवादः[२७७] । तृतीयपक्षे तूभयदोषानुषङ्गः[२७८] । चतुर्थपक्षे व्याघातः[२७९], सत्त्वासत्त्वयोः[२८०] परस्परव्यवच्छेदरूपयोरेकतरस्य[२८१] निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्तेः, सकृदेकत्र प्रतिषेधायोगात्[२८२] । सर्वथा सदसत्त्वयोः प्रतिषेधेऽपि कथञ्चिदसत्त्वसत्त्व[२८३]विधानाददोष इति चेत्**स्याद्वादा**श्रयणप्रसङ्गः **प्रभाकरस्य** ।

४१. किञ्च[२८४] नियोगः सकलोऽपि[२८५] प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेत् **प्राभाकराणा**मिव **ताथागता**दीनामपि प्रवर्त्तकः स्यात्, तस्य सर्वथा[२८६] प्रवर्त्तकत्वात् । तेषां[२८७] विपर्यासादप्रवर्त्तक इति[२८८] चेत्, परेषामपि[२८९] विपर्यासाद[२९०]प्रवर्त्तकोऽस्तु[२९१] । शक्यं हि वक्तुं **प्राभाकरा** विपर्यस्तत्वा[२९२]च्छब्द[२९३]नियोगात् प्रवर्तन्ते, नेतरे[२९४], तेषामविपर्यस्तत्वादिति । **सौगता**दयो[२९५] विपर्यस्ताः, तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात्, न पुनः **प्राभाकरा** इत्यपि पक्षपातमात्रम्[२९६], तन्मतस्यापि प्रमाणबाधितत्वाविशेषात् । यथैव हि प्रतिक्षणविनश्वरसकलार्थकथनं प्रत्यक्षादिविरुद्धं तथा नियोक्तृ[२९७]नियोगत[२९८]द्विषया[२९९]दिभेदपरिकल्पनमपि, सर्वप्रमाणानां विधिविषयता[३००]व्यवस्थापनेन[३०१] तद्बाधकत्वोपपत्तेः[३०२] । यदि पुनरप्रवर्त्तकस्वभावः शब्दनियोगः, तदा सिद्ध एव तस्य[३०३] प्रवृत्तिहेतुत्वायोगः । स[३०४] च वाक्यार्थत्वाभावं साधयति ।

४२. किञ्च नियोगः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेत्, न ततः[३०५] प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः, अप्रेक्षावत्त्वप्रसङ्गात्, ‘प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते’ (   ) इति प्रसिद्धेश्च । प्रसिद्ध[३०६]चण्ड[३०७]नरपतिवचननियोगादफलादपि प्रवर्त्तनदर्शनाददोष इति चेत्; न; तस्यापायपरिरक्षणफलत्वात् । तन्नियोगाद[३०८]प्रवर्त्तने हि तदाज्ञोल्लङ्घन[३०९]कृतामपायो[३१०]ऽवश्यंभावीति[३११] । तर्हि[३१२] वेदवचनादपि नियुक्तः प्रत्यवायपरिहाराय[३१३] प्रवर्त्तताम्, ‘नित्य[३१४]नैमित्तिकं[३१५] कुर्यात्प्रत्यवायजिहीर्षया[३१६]’ (   ) इति वचनात् । [३१७]कथमिदानीं[३१८] ‘स्वर्गकामः[३१९]’

इति लिट्लोट्तव्यप्रत्ययान्तनिर्देशमात्रादेव[३२१] 'जुहुयाज्जुहोतु होतव्यम्'[३२०] ( ) इति वचनमवतिष्ठते ( ) नियोगमात्रस्य सिद्धेः, तत एव प्रवृत्तिसम्भवात्[३२२]।

४३. यदि पुनः फलसहितो नियोग इति पक्षः, तदा फलार्थितैव प्रवर्तिका, न नियोगः; तमन्तरेणापि[३२३] फलार्थिनां प्रवृत्तिदर्शनात्। पुरुषवचनान्नियोगेऽयमुपालम्भो[३२४][३२५][३२६] नापौरुषेयाग्निहोत्रादिवाक्यात्[३२७], तस्यानुपलभ्यत्वादिति चेत्, 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' ( ) इत्यादिवचनमपि[३२८] विधिमात्रप्रतिपादकमनुपलभ्यमस्तु तत[३२९] एव। तथा च कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुत्वाभावात्[३३०], विधिवत्[३३१]। सर्वेषु[३३२] च पक्षेषु **वेदान्तवाद**सिद्धिः। तस्मान्न नियोगो वाक्यार्थः, नियोगस्य प्रत्येकं विचार्यमाणस्यायोगान्न वाक्यार्थत्वमवतिष्ठते। तथा हि—

४४. न तावत्कार्यं शुद्धं नियोग इति पक्षो घटते, प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य[३३३][३३४] नियोगस्यासम्भवात्। तस्मिन्नियोगसंज्ञाकरणे स्वकम्बलस्य कूर्दालिकेति[३३५] नामान्तरकरणमात्रं स्यात्। न च तावता स्वेष्टसिद्धिः[३३६]। शुद्धा प्रेरणा[३३७] नियोग इत्यप्यनेनापास्तम्[३३८], नियोज्यफलरहिताया:[३३९][३४०] प्रेरणाया:[३४१] प्रलापमात्रत्वान्नियोगरूपतानुपपत्तेः[३४२]। कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तम्। कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यप्यसारम्, नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इत्यप्यसम्भाव्यम्, नियोज्यविरहे नियोगविरोधात् । प्रवर्त्तकत्वोपचारायोगात्[३४३]। कदाचित्क्वचित्परमार्थतस्तस्य[३४४] तथानुपलम्भाच्च[३४५]। कार्यप्रेरणयोः[३४६][३४७] सम्बन्धो नियोग इति च न सङ्गतम्[३४८], ततो[३४९] भिन्नस्य[३५०] सम्बन्धस्य सम्बन्धिनिरपेस्य नियोगत्वाघटनात्[३५१]। सम्बन्ध्यात्मनः[३५२] सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्, प्रेर्यमाणपुरुषनिरपेक्षयोः[३५३] सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोर्नियोगत्वानुपपत्तेः। तत्समुदायनियोगवादोऽप्यनेन[३५४][३५५] प्रत्याख्यातः। कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो न **विधिवाद**मतिशेते[३५६]। यत्पुनः स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्त्तते इति यन्त्रारूढनियोगवचनम्, तदपि न परमात्मवादप्रतिकूलम्[३५७], पुरुषाभिमानमात्रस्य[३५८] नियोगत्ववचनात्, तस्य[३५९] चाविद्योदयनिबन्धनत्वात्। भोग्यरूपो नियोग इति चायुक्तम्, नियोक्तृप्रेरणाशून्यस्य[३६०][३६१] भोग्यस्य[३६२] तद्भावानुपपत्तेः। पुरुषस्वभावोऽपि[३६३] न नियोगो घटते, तस्य[३६४] शाश्वतिकत्वेन[३६५] नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गात्। पुरुषमात्रविधेरेव[३६६] तथाभिधाने[३६७] **वेदान्तवादः**परिसमाप्तः[३६८] कुतो नियोगवादो नाम।

(भट्टः प्रभाकराभिमतं नियोगवादं निराकृत्य वेदान्ताङ्गीकृतं विधिवादं प्रतिक्षिपति)

४५. नन्वेवं[३६९] नियोगनिराकरणेऽपि विधेर्वाक्यार्थत्ववचनान्न[३७०] भावना वाक्यार्थः सिद्धो **भट्ट**स्य; इति न चेतसि निधेयम्; विधेरपि विचार्यमाणस्य बाध्यमानत्वात्।

४६. सोऽपि हि प्रमाणरूपो वा स्यात् प्रमेयरूपो वा तदुभयरूपो वाऽनुभयरूपो वा पुरुषव्यापाररूपो वा शब्दव्यापाररूपो[३७२] वा द्वयव्यापाररूपो वाऽद्वयव्यापाररूपो वेत्यष्टौ विकल्पान्नातिक्रामति। तथा हि प्रमाणं विधिरिति कल्पनायां[३७३] प्रमेयं किमपरं स्यात्? तत्स्वरूपमेवेति[३७४] चेत्; न; सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रदेहस्य विधेः प्रमाणप्रमेयरूपद्वयविरोधात्। कल्पितत्वात्तद्रूपद्वयस्य[३७५] तत्राविरोध इति चेत्, कथमिदीनामन्यापोहः[३७६][३७७] शब्दैः प्रतिषिध्यते[३७८], संविन्मात्रस्याप्रमाणत्वव्यावृत्त्या[३७९] प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या च प्रमेयत्वमिति परैरभिधी[३८०]

शक्यते। वस्तु[३८१]स्वभावाभिधायकत्वाभावे शब्दस्यान्यापोहाभि[३८२]धायकत्वेऽपि [३८३]क्वचित्प्रवर्तकत्वायोगान्नान्यापोहः शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि वस्तुस्वरूपाभिधायिनोऽपि शब्दस्यान्यापोहा[३८४]नभिधायित्वे[३८५]ऽन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवृत्ति-निबन्धनतापायाद्विधिरपि शब्दार्थो माभूत्। [३८६]परमपुरुषस्यैव विधे[३८७]यत्वान्तद[३८८]न्यस्यासम्भवान्नान्यपरिहारेण [३८९]प्रवृत्तिरिति चेत्, [३९०]कथमिदानीं "द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा" ( ) [३९१]इत्यादिवाक्यान्नै[३९२]रात्म्यपरिहारेणात्मनि [३९३]प्रवृत्तिः, नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रसङ्गात्। नैरात्म्यादे[३९४]रनाद्यविद्योपकल्पितत्वान्न [३९५]तद्दर्शनादौ प्रवृत्तिरिति चेत्, [३९६]कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न भवेत्? [३९७]परब्रह्मणो [३९८]विधिरेवा[३९९]न्यस्यानाद्यविद्योपकल्पितस्य नैरात्म्यादेः परि[४००]हार इति चेत्, [४०१]कथमेवमन्यापोह[४०२]वादिनोऽपि परापोहनमेव स्वरूपविधिर्न [४०३]भवेत्? [४०४]तस्या**न्यापोहवाद**विरोधान्नैवमिति चेत्, [४०५]विधिवादिनोऽपि[४०५(क)] तथा विधिवादविरोधादन्यापोहाभ्युपगमो माभूत्। [४०६]परमार्थताऽन्यापोहो विधिवादिना नैवाभ्युपगम्यते, तस्य प्रतिभास[४०७]समानाधिकरणत्वेन प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः, परमपुरुषत्वात्; प्रतिभासस्वरूपवत्। तस्याप्रतिभाससमानत्वे व्यवस्थानुपपत्तेरन्यथाऽतिप्रसङ्गा[४०८]त्। [४०९]शब्दज्ञानेऽनुमान[४१०]ज्ञाने वाऽन्यापोहस्य प्रतिभासनेऽपि तत्स[४११]मानाधिकरणतया प्रतिभासनान्न ततो[४१२]ऽन्यत्वम्। तस्य च शब्दानुमानज्ञानस्य [४१३]प्रतिभासमात्रात्मकत्वान्नार्थान्तरत्वमिति चेत्, [४१४]कथमिदानीमुपनिषद्वाक्यं[४१५] [४१६]प्रतिभासमात्रा[४१७]दन्यल्लिङ्गं वा, यतः तत्प्रतिपत्तिः प्रे[४१८]क्षावतः स्यात्। [४१९]तस्य परमब्रह्म[४२०]विवर्तत्वाद्विवर्तस्य च [४२१]विवर्तिनोऽभेदेन परिकल्पनात्ततस्तत्प्रतिपत्ति-रिति चेत्, [४२२]कथं तत्परिकल्पिताद्वाक्याल्लिङ्गाद्वा परमार्थपथावतारिणः परमब्रह्मणः प्रतिपत्तिः, परिकल्पिताद्धूमादेः पारमार्थिकपावकादिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। [४२३]पारमार्थिकमेवोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमब्रह्मरूपत्वेन, इति चेत्, [४२४]तर्हि यथा तत्पारमार्थिकं [४२५]तथा साध्यसमं कथं पुरुषाद्वैतं व्यवस्थापयेत्? [४२६]यथा च प्रतिपाद्य[४२७]जनस्य प्रसिद्धं [४२८]तथा न पारमार्थि[४२९]कम्, [४३०]द्वैतप्रसङ्गात्। इति कुतः परमार्थसिद्धिः? [४३१]ततस्तामप्युपगच्छता पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं [४३२]च प्रतिपत्तव्यम्।

४७. [४३३]तच्चाचित्स्वभावम्, [४३४]चित्स्वभावत्वे परसंवेद्यत्वविरोधात्, प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात्, तत्सुखादिवत्। प्रतिपाद्यचित्स्वभावत्वे वा न प्रतिपादकसंवेद्यत्वं प्रतिपाद्यसुखादिवत्। [४३५]तस्य तदुभयचित्स्वभावत्वे प्राश्निकादिसंवेद्यत्वविरोधः, तदुभयसुखादिवत्। [४३६]सकलजनचित्स्वभावत्वे [४३७]प्रतिपादकादिभावानुपपत्तिः, अविशेषात्[४३८]। प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वाददोष इति चेत्, [४३९]यैव प्रतिपादकस्याविद्या प्रतिपादकत्वोपकल्पिका सैव प्रतिपाद्यस्य प्राश्निकादेश्चाविशिष्टा प्रतिपादकत्वमुपकल्पयेत्। प्रतिपाद्यस्य चाविद्या प्रतिपाद्यत्वोपकल्पनपरा प्रतिपादकादेरविशिष्टा प्रतिपाद्यत्वं परिकल्पयेत् प्रतिपादकादीमभेदात्तदविद्यानामभेद-प्रसङ्गात्[४४०]। [४४१]भेदे वा प्रतिपादकादीनां भेदसिद्धिः, विरुद्धधर्मा[४४२]ध्यासात्। अनाद्यविद्योपकल्पित एव तदविद्यानां भेदो न पारमार्थिक इति चेत्, परमार्थतस्तर्ह्यभिन्नास्तदविद्या इति स एव प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्गः[४४३]। यदि पुनरविद्या[४४४]पि प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वादेव न भेदाभेदविकल्पसहा, [४४५]नीरूपत्वात् इति मतम्; तदा परमार्थपथावतारिणः प्रतिपादकादय इति बलादायातम्, [४४६]तदविद्यानामविद्योपकल्पितत्वे विद्यात्वविधेरवश्यम्भावित्वात्। तथा च प्रतिपादकादिभ्यो भिन्नमुपनिषद्वाक्यम्, [४४७]सकृत्संवेद्य[४४८]त्वानुपपत्तेः, [४४९]इत्यचित्स्वभावं तत् सिद्धं बहिर्वस्तु, तद्वद् घटादिवस्तुसिद्धिः, इति न प्रतिभासाद्वैतव्यवस्था, प्रतिभा[४५०]सस्यापि

प्रतिभाससमानाधिकरणता[४५१][४५२] पुनः प्रतिभास्यस्य[४५३] कथञ्चिद्भेदेऽपि[४५४] न विरुद्ध्यते। घटः[४५५] सुप्रसिद्धत्वात्। प्रतिभासत इति प्रतिभासविषयो भवतीत्युच्यते, विषयविषयिणोरभेदोपचारात्[४५६][४५७], प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्था इति यथा। ततः सामानाधिकरण्यादुपचरितात्रानुपचरितैकत्वसिद्धिः। मुख्यं सामानाधिकरण्यं क्व सिद्धमिति चेत्, संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्तीत्यादिव्यवहारे मुख्यं तत्[४५८]। वैयधिकरण्यव्यवहारस्तु[४५९] गौणस्तत्र[४५९(क)], संवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमित्यत्र तस्य[४६०] मुख्यत्वप्रसिद्धेः। कथञ्चिद्भेदमन्तरेण सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तेः। तत[४६१] एव कथञ्चिद्भेदसिद्धिः। शुक्लः[४६२] पट इत्यत्र सर्वथा शुक्लपटयोरैक्ये हि न समानाधिकरणता पटः पट इति यथा। नापि सर्वथा भेदेऽपि[४६३], हिमवन्मकराकरवत्। तथाऽन्यापोहस्य[४६४] प्रतिभासमा[४६५]-नस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेऽपि प्रतिभासाद्भेदव्यवस्थितेस्तद्विषयः शब्दः कथं विधिविषय एव समवतिष्ठते[४६६]। तथाऽभ्युपगमे[४६७] च कथमन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवर्त्तकः शब्दः, यतो विधिविषयः स्यात्, इति सूक्तं विधेः प्रमाणत्वे तस्यैव प्रमेयत्वकल्पनायामन्यापोहानुप्रवेशोऽन्यथा[४६८][४६९] अन्यत्प्रमेयं वाच्यमिति तस्यैवोभयस्वभावत्वविरोधात्[४७०]।

४८. प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनायामपि प्रमाणमन्यद्वाच्यमिति, कल्पनावशाद्विधेः[४७१] प्रमाणरूपत्वेऽन्यापोहवादानुषङ्गस्याविशेषात्।

४९. प्रमाणप्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनाप्यनेन निरस्ता।

५०. तदनुभयरूपो विधिरिति कल्पनायां तु खरशृङ्गादिवदवस्तुतापत्तिः, प्रमाणप्रमेयस्वभावरहितस्य विधेः स्वभावान्तरेण व्यवस्थानायोगात्[४७२]। प्रमात्रादेरपि[४७३] प्रमेयत्वोपपत्तेः[४७४], अन्यथा तत्र[४७५] प्रमाणवृत्तेरभावात्सर्वथा वस्तुत्वहानिः।

५१. शब्दव्यापारो[४७६] विधिरिति चेत्, सा शब्दभावनैव।

५२. पुरुषव्यापारः स इति चेत्, साऽर्थभावना[४७७] स्यात्।

५३. एतेनोभयव्यापाररूपो[४७८][४७९] विधिरिति प्रत्याख्यातम्।

५४. तदनुभयव्यापाररूपस्तु[४८०][४८१] विधिर्विषयस्वभावश्चेत्[४८२], तस्य[४८३] वाक्यकालेऽसन्निधानान्निरालम्बनशब्दवाद[४८४]-प्रवेशः[४८५]। फलस्वभावश्चेत्[४८६], स एव दोषः[४८७], तस्यापि तदाऽसन्निधानादन्यथा विधेरनवतारात्। निस्स्वभावो विधिरिति कल्पनायां तु विधिर्वाक्यार्थ इति न किञ्चिद्वाक्यार्थ इत्युक्तं स्यात्।

(सदादिभेदचतुष्टयेनापि विधिर्निरस्यते)

५५. किञ्च[४८८], यदि विधिः सन्नेव तदा न कस्यचिद्विधेयः[४८९], पुरुषस्वरूपवत्। अथासन्नेव तथापि न विधेयः, खरविषाणादिवत्[४९०]। अथ पुरुषरूपतया सन् दर्शनादिरूपतया[४९१] त्वसन्निति विधेयः[४९२] स्यात्, तदोभयरूपतापत्तिः[४९३][४९४]। न सन्नाप्यसन् विधिरिति चेत्, तदिदं व्याहतम्[४९५], सर्वथा सत्त्वप्रतिषेधे सर्वथैवासत्त्वविधिप्रसङ्गात्। तन्निषेधे[४९६] वा सर्वथा सत्त्वविधानानुषङ्गात्। सकृदुभयप्रतिषेधे तु कथञ्चित्सदसत्त्वविधानान्मतान्तरानुषङ्गात्[४९७] कुतो विधिरेव वाक्यार्थः।

(प्रवर्त्तकाप्रवर्त्तकस्वभावद्वयेनापि समालोचयति)

५६. किञ्च, विधिः प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेद्वेदान्तवादिनामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्त्तकः स्यात्। तेषां विपर्यासान्न प्रवर्त्तक इति चेत्, तत एव वेदान्तवादिनामप्रवर्त्तक इत्यपि वक्तुं शक्यते। सौगतादीनामेव विपर्यासोऽप्रवर्त्तमानानां न पुनः प्रवर्त्तमानानां विधिवादिनाम्, इत्यप्रामाणिकमेवेष्टम्, उभयेषां समानाक्षेपसमाधानत्वात्। यदि पुनरप्रवर्त्तकस्वभाव एव विधिः, तदा कथं वाक्यार्थः स्यान्नियोगवत्।

(फलाफलाभ्यामपि तन्निराकरोति)

५७. किञ्च, विधिः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेन्न प्रवर्त्तको नियोगवदेव। पुरुषाद्वैते न कश्चित्कुतश्चित्प्रवर्त्तते इति चेत्, कथमप्रवर्त्तको विधिः सर्वथा वाक्यार्थः कथ्यते, तथा नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्। तथा 'द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा' (   ) इत्यादिवाक्यादात्मनि दर्शनश्रवणमननध्यानविधाने प्रतिपत्तुरप्रवृत्तौ किमर्थस्तद्वाक्याभ्यासः ? फलसहितो विधिरिति कल्पनायां फलार्थितयैव लोकस्य प्रवृत्तिसिद्धेर्वृथा विधिकथनम्, नियोगकथनवत्। तथापि विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगोऽपि वाक्यार्थः कुतो न भवेत्। पटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनान्नियोज्यमानविषयनियोक्तृधर्मत्वेन वाऽनवस्थानान्न नियोगो वाक्यार्थ इति चेत्, तदितरत्र समानम्, विधेरपि घटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनात्, विधाप्यमानविषयविधायकधर्मत्वेनानवस्थितेश्च। यथैव हि नियोज्यस्य पुंसो धर्मे नियोगेऽननुष्ठेयता, नियोगस्य सिद्धत्वात्, अन्यथाऽनुष्ठानोपरमाभावानुषङ्गात्, कस्य चिद्रूपस्यासिद्धस्याभावात्। असिद्धरूपतायां वा नियोज्यत्वविरोधाद्वन्ध्यास्तनन्धयादिवत्। सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे तस्यैवासिद्धरूपेण वा नियोज्यतायामेकस्य पुरुषस्य सिद्धासिद्धरूपसङ्करान्नियोज्येतरत्वविभागासिद्धिः। तद्रूपासङ्करे वा भेदप्रसङ्गादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोः सम्बन्धाभावोऽनुपकारात्। उपकारकल्पनायामात्मनस्तदुपकार्यत्वे नित्यत्वहानिः। तयोरात्मोपकार्यत्वे सिद्धरूपस्य सर्वथोपकार्यत्वव्याघातः। असिद्धरूपस्याप्युपकार्यत्वे गगनकुसुमादेरुपकार्यतानुषङ्गः। सिद्धासिद्धरूपयोरपि कथञ्चिदसिद्धरूपोपगमे प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्थानुषङ्गादित्युपालम्भः। तथा विधाप्यमानस्य पुरुषस्य धर्मे विधावपि सिद्धस्य पुंसो दर्शनश्रवणानुमननध्यानविरोधः। तद्विधाने वा सर्वदा तदनुपरतिप्रसक्तिः। दर्शनादिरूपेण तस्यासिद्धौ विधानव्याघातः, कूर्मरोमादिवत्। सिद्धरूपेण विधाप्यमानस्य विधाने तस्यैवासिद्धरूपेण वा विधाने सिद्धासिद्धरूपसङ्कराद्विधाप्येतरत्वविभागासिद्धिः। तद्रूपासङ्करे वा भेदप्रसङ्गादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोस्तत्सम्बन्धाभावादिदोषासञ्जनस्याविशेषः। तथा विषयस्य यागलक्षणस्य धर्मे नियोगे तस्यापरिनिष्पन्नत्वात्। स्वरूपाभावाद्वाक्येन प्रत्येतुमशक्यत्वस्य विधावपि विषयधर्मे समानत्वात् कुतो विषयधर्मो विधिः ? पुरुषस्यैव विषयतयाऽवभासमानस्य विषयत्वात्, तस्य च परिनिष्पन्नत्वान्न तद्धर्मस्य विधेरसम्भव इति चेत्, तर्हि यजनाश्रयस्य द्रव्यादेः सिद्धत्वात्, तस्य च विषयत्वात्कथं तद्धर्मो नियोगोऽपि न सिद्ध्येत्। येन रूपेण विषयो विद्यते तेन तद्धर्मो नियोगोऽपीति तदनुष्ठानाभावे विधिविषयो येन रूपेणास्ति तेन तद्धर्मस्य विधेः कथमनुष्ठानम् ? येनांशेन नास्ति तेनानुष्ठानमिति चेत्, तन्नियोगेऽपि समानम्। कथमसन्नियोगोऽनुष्ठीयते, अप्रतीयमानत्वात्; खरविषाणवत्; इति चेत्, तत एव विधिरपि नानुष्ठेयः। प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयतया वा

सिद्धत्वादनुष्ठेयो विधिरिति चेत्, नियोगोऽपि तथाऽस्तु[५६२]। [५६३]नन्वनुष्ठेयतयैव[५६४] नियोगोऽवतिष्ठते[५६५], न प्रतीयमानतया, तस्याः [५६६]सकलवस्तुसाधारणत्वात्। [५६७]अनुष्ठेयता च यदि प्रतिभाता कोऽन्यो नियोगो यस्यानुष्ठितिः ? इति चेत्; तर्हि विधिरपि न प्रतीयमानतया प्रतिष्ठा[५६८]मनुभवति, किन्तु विधीयमानतया[५६९]। सा चेदनुभूता कोऽन्यो विधिर्नाम, यस्य विधानमुपनिषद्वाक्यादुपवर्ण्यते[५७०]।

५८. ननु [५७१]द्रष्टव्यादिवाक्येनात्मदर्शनादिकं [५७२]विहितं ममेति प्रतीतेरप्रतिक्षेपार्हो विधिः कथमपाक्रियते[५७३] ? [५७४]किमिदानीमग्निहोत्रादिवाक्येन यागादिविषये नियुक्तोऽहमिति प्रतीतिर्न विद्यते येन नियोगः प्रतिक्षिप्यते। सा प्रतीतिरप्रमाणमिति चेत्, विधिप्रतीतिः कथमप्रमाणं न स्यात् ? विधिप्रतीतेः पुरुषदोषरहितवेदवचनेन जनितत्वादिति चेत्, तत एव नियोगप्रतीतिरप्यप्रमाणं मा भूत्, सर्वथाऽप्यविशेषात्[५७५]। तथापि नियोगस्य विषयधर्मस्यासम्भवे विधेरपि तद्धर्मस्य न सम्भवः।

५९. [५७६]शब्दस्य [५७७]विधायकस्य धर्मो विधिः, इत्यपि न निश्चेतुं शक्यम्[५७८], नियोगस्यापि नियोकृशब्दधर्मत्वप्रतिघाताभावानुषक्तेः। शब्दस्य सिद्धरूपत्वात्[५७९]तद्धर्मो नियोगः कथमसिद्धः, येनासौ सम्पाद्यते[५८०]? [५८१]तस्यापि सिद्धोपनिषद्वाक्यधर्मत्वाविशेषात्। [५८२]प्रसिद्धस्यापि कस्यचित्; इत्यपि न मन्तव्यम्; विधिसम्पादनविरोधात्, स्मृतिवत्[५८३]। सम्पादने पुनः पुनस्तत्सम्पादनप्रवृत्त्यनुपरमात् कथमुपनिषद्वचनस्य प्रमाणता, तदपूर्वार्थताविरहात्, तस्य वा प्रमाणत्वे नियोगवाक्यं प्रमाणमस्तु, विशेषाभावात्।

(विधिप्रतिपादकं वाक्यं विधिं कथं प्रतिपादयति ? प्रधानभावेनाप्रधानभावेन वेति विकल्पद्वयेन दूषयति)

६०. किञ्च तद्विधिविषयं वाक्यं गुणभावेन प्रधानभावेन वा विधौ प्रमाणं स्यात् ? यदि गुणभावेन, तदा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' ( ) इत्यादिरपि तदस्तु[५८४], [५८४(क)]गुणभावेन विधिविषयत्वस्य भावात्, [५८५]तत्र भट्टमतानुसारिभिर्भावनाप्राधान्येनोपगमात्, **प्राभाकरैश्च** नियोगगोचरत्वस्य [५८६]प्रधानताऽङ्गीकरणात्। तौ च भावनानियोगौ [५८७]नासद्विषयौ प्रवर्तेते प्रतीयेते वा, सर्वथाऽप्यसतोः प्रतीतौ प्रवृत्तौ वा शशविषाणादेरपि तदनुषक्तेः[५८८]। [५८९]सद्रूपतया च तयोर्विधिनान्तरीयकत्वसिद्धेः, सिद्धं गुणभावेन विधिविषयत्वं वाक्यस्य। इति नाप्रमाणतापत्तिः, येन कर्मकाण्डस्य पारमार्थिकता न भवेत्। [५९०]प्रधानभावेन विधिविषयं चोदनावाक्यं प्रमाणम्; इति चायुक्तम्; विधेः [५९१]सत्यत्वे [५९२]द्वैतावतारात्। तदसत्यत्वे प्राधान्यायोगात्। तथा [५९३]हि—यो योऽसत्यः स स न प्रधानभावमनुभवति, यथा तदविद्याविलासः, तथा चासत्यो विधिरिति न प्रधानभावेन तद्विषयतोपपत्तिः।

(विधिवादी विस्तरतः स्वपक्षं समर्थयति)

६१. स्यान्मतम्, न सम्यगवधारितं विधेः स्वरूपं[५९४] भवता[५९५], तस्यैव[५९६] यतो व्यवस्थितत्वात्। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः कार्यतया न प्रतीयते, घटादिवत्[५९७], प्रेरकतया च नाध्यवसीयते, [५९८]वचनादिवत्। कर्मकरणसाधनतया हि [५९९]तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकता[६००]प्रत्यययो युक्तो नान्यथा[६०१]। किं तर्हि ? 'द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ( ) इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणेन[६०२] प्रेरितोऽहमिति जाताकूतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति। स एव विधिरित्युच्यते। [६०३]तस्य च ज्ञानं विषयतया सम्बन्ध[६०४]मधितिष्ठतीति प्रधानभावविभावना [६०५]विधेर्न

विहन्यते, तथाविधवेद[६०६]वाक्यादात्मन एव विधायकतया प्रतिभासनात्। तद्दर्शनश्रवणानुमननध्यानरूपस्य विधीयमानतयाऽनुभवात्। [६०७]तथा च स्वयमात्माऽऽत्मानं द्रष्टुं श्रोतुमनुमन्तुं [६०८]ध्यातुं प्रवर्त्तते। तथा प्रवृत्त्यसम्भवे ह्यात्मना प्रेरितोऽहमित्य[६०९]वगतिरप्रामाणिकी स्यात्। ततो नासत्यो विधिर्येन प्रधानता तस्य विरुध्यते नापि सत्यत्वे द्वैतसिद्धिः, आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण [६१०]तदभावात्, तस्यैकस्यैव [६११]तथा प्रतिभासनादिति।

(भाट्टः पुनरपि नियोगपक्षमभ्युपगम्य विधिं दूषयति)

६२. तदप्य[६१२]सत्यम्, [६१३]नियोगादिवाक्यार्थस्यापि निश्चयात्मकतया प्रतीयमानत्वात्। तथा हि—नियोगस्तावदग्निहोत्रादिवाक्यादिव द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मेत्यादिवचनादपि प्रतीयत एव। नियुक्तोऽहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो [६१४]योगः प्रतिभाति, मनागप्ययोगाशङ्कानवतारादवश्यकर्त्तव्यतासम्प्रत्ययात्। कथमन्यथा तद्वाक्यश्रवणाद[६१५]स्य प्रवृत्तिरुपपद्यते, [६१६]मेघ[६१७]ध्वन्यादेरपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात्।

(विधिवाक्यं स्वाभिधेयं विधिमितरार्थं निराकृत्य प्रतिपादयति, तदनिराकृत्य वेति विकल्पद्वयेन भाट्टः पुनर्दूषयति)

६३. किञ्च, शब्दाद् द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मेत्यादेरात्म[६१८]द्रष्टव्यतादिविधिस्तदद्रष्टव्यतादिव्यवच्छेदरहितो यदी[६१९]ष्यते, तदा न [६२०]कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुः, प्रतिनियतविषयविधिनान्तरीयकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः, तस्य [६२१]चातद्विषयपरिहाराविनाभावित्वात्, कटः कर्त्तव्य इति यथा। न हि कटे कर्त्तव्यताविधिरतद्[६२२]व्यवच्छेदमन्तरेण व्यवहारमार्गमवतारयितुं शक्यः। [६२३]परपरिहारसहितो विधिः शब्दार्थ इति चेत्, [६२४]तर्हि विधि[६२५]प्रतिषेधात्मकः शब्दार्थ इति कुतो विध्येकान्तस्य प्रतिष्ठा, प्रतिषेधैकान्तवाद[६२६]वत्।

(विधिवादी कथयति—परपरिहारो गौणो विधिस्तु मुख्यः, स एव च प्रवृत्त्यङ्गत्वेन शब्दार्थ इति)

६४. स्या[६२७]न्मतम्, परपरि[६२८]हारस्य गुणीभूतत्वाद्विधेरेव प्रवृत्त्य[६२९]ङ्गत्वेन प्राधान्याद्विधिः शब्दार्थ इति।

(भावनावादी भाट्टस्तदपि दूषयति)

६५. [६३०]कथमि[६३१]दानीं शुद्धकार्यादि[६३२]रूपनियोगव्यवस्थितिर्न स्यात्, कार्यस्यैव शुद्धस्य प्रवृत्त्यङ्गतया प्रधानत्वोपपत्तेः, [६३३]नियोज्यादे[६३४]स्तत्रापि गुणीभावात्। तद्वत्प्रेरणादिस्वभावनियोगवादिनां प्रेरणादौ प्रधानताभिप्रायात्, तदितरस्य सतोऽपि गुणभावाध्यवसायाद्युक्तो शब्दार्थः। [६३५]शुद्धकार्यप्रेरणादि[६३६]षु स्वाभिप्रायात् कस्यचित्प्रधानभावेऽपि पराभिप्रायात्प्रधानत्वाभावात्। तदन्य[६३७]तरस्यापि स्वभावस्याव्यवस्थितेनै[६३८]कस्यापि शब्दार्थत्वमिति चेत्, [६३९]तर्हि **पुरुषाद्वैतवाद्या**शयवशाद्विधेः प्रधानत्वेऽपि **ताथागत**मताश्रयणादप्रधानताघटनात् सोऽपि न प्रतिष्ठामापद्येत, विप्रतिपत्तिसद्भावावि[६४०]शेषात्।

(विधिवादी विधेरेव प्रधानत्वेन वाक्यार्थत्वं समर्थयन्नाह)

६६. स्यान्मतिरेषा [६४१]ते विधेरेव [६४२]सर्वत्र प्रधानता, प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेः। न पुनः प्रतिषेधस्य, सर्वथा [६४३]प्रवृत्त्य[६४४]ङ्गतानुपपत्तेः। [६४५]क्वचित्प्रवर्त्तितुकामो हि [६४६]सर्वस्[६४७]तद्विधिमन्वेषते, तत्र पररूप[६४८]प्रतिषेधान्वेषणे [६४९]परिनिष्ठानुपपत्तेः [६५०]पररूपाणामानन्त्यात् [६५१]क्वचित्प्रति[६५२]षे[६५३]द्धुमशक्तश्च। तद्धि [६५४]पररूपं न तावत्स्वयमप्रतिपद्य क्रमशः प्रतिषेद्धुं शक्यम्, प्रतिषेधस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। नापि [६५५]प्रतिपद्य, तत्प्रतिपत्तेरपि पररूपप्रतिषेधापेक्षत्वात, [६५६]तस्यापि च प्रतिपन्नस्यैव

[६५७]प्रतिषेधेऽनवस्थानुषङ्गात्। युगपत्सकलपररूपप्रतिषेधे परस्पराश्रयानुषङ्गात्। सिद्धे सकलपररूपप्रतिषेधे [६५८]प्रतिपत्तिसतविधिसिद्धिस्तत्[६५९]सिद्धौ च तत्परिहारे[६६०]ण तत्प्रतिपत्तिपूर्वकसकलपररूपप्रतिषेधसिद्धिरिति।

(भावनावादी भाट्टो विधिवादिनस्तदेतत्कथनं दूषयति)

६७. [६६१]तदेतदनालोचिताभिधानं [६६२]**मण्डनमिश्रस्य**, सर्वथा विधेरपि प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः। सर्वो हीष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तितुमना जनोऽनिष्टपरिहारं [६६३]तत्रान्वेषते, अन्यथाऽनिष्टेऽपि प्रवृत्तौ समीहितव्याघातप्रसक्तेः। अनिष्टप्रतिषेधश्च [६६४]प्रत्यक्षादिवत् कुतश्चिदाक्यादपि शक्यः प्रतिपत्तुम्, केवलविधिप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्, केवलभूतलप्रतिपत्तेरेव घटाभावप्रतिपत्तिसिद्धेः। न ह्ययं प्रतिपत्ता [६६५]किञ्चिदुपलभमानः पररूपैः [६६६]सङ्कीर्णमुपलभते, यतः प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिषेधः [६६७]साध्यते। [६६८]न च सर्वथा तैरसङ्कीर्णमेव, [६६९]सदाद्यात्मनापि तदसङ्करे तस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। [६७०]परस्मात्कथञ्चिद् [६७१]व्यावृत्ताव्यावृत्तात्मकं च [६७२]कुतश्चित्प्रमाणादुपलभमानोऽर्थी परव्यावृत्तिद्वारेण वा प्रवर्त्तेत [६७३]विधिद्वारेण वेति। विधेरिवान्यापो[६७४]हस्यापि प्रवृत्त्यङ्गतोपपत्तेर्न विधिरेव प्रधानम्, [६७५]विधात्रेव प्रत्यक्षमुपनिषद्वाक्यं चेति [६७६]नियमस्यासम्भवात्। अन्यथा ततो[६७७] विद्यावदविद्याविधानानुषङ्गात्। [६७८]सोऽयमविद्याविवेके[६७९]न सन्मात्रं [६८०]कुतश्चित्प्रतीयन्नेव न निषेद्धृ [६८१]प्रत्यक्षमन्यद्वेति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? कथं वा प्रत्यक्षादेर्निषेद्धृत्वाभावं [६८२]प्रतीयात् ? [६८३]यतस्तत्प्रतिपत्तिः, तस्यैवाभावविषयत्वसिद्धेः। [६८४]प्रत्यक्षादेर्विधातृत्वप्रतिपत्तिरेव निषेद्धृत्वाभावप्रतिपत्तिरिति चेत्, तर्हि सिद्धं भावाभावविषयत्वं [६८५]तस्येति न परोदितो विधिर्वाक्यार्थः सिद्ध्यति, नियोगस्यैव वाक्यार्थत्वोपपत्तेः **प्राभाकरमतसिद्धिः**।

(सम्प्रति भाट्टो वेदान्तवादिनां विधिवाक्यार्थं ताथागतानामन्यापोहवाक्यार्थं प्राभाकराणां च नियोगवाक्यार्थं प्रदूष्य स्वाभिमतं भावनावाक्यार्थं प्रतिपादयति)

६८. [६८६]स [६८७]एव वाक्यार्थोऽस्त्वित्यत्ययुक्तम्, [६८८]धात्वर्थव[६८९]न्नियोगस्य [६९०]परोपवर्णितस्वरूपस्य वाक्यार्थतया प्रतीत्यभावात्, [६९१]सर्वत्र [६९२]भावनाया एव वाक्यार्थत्वप्रतीतेः। सा हि द्विधा—शब्दभावनाऽर्थभावना च।

शब्दात्मभावनामाहुरन्या[६९३]मेव [६९४]लिङादयः।
[६९५]इयं [६९६]त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते ।।२३।। ( ) इति वचनात्।

६९. तत्र शब्दभावना शब्दव्यापारः। [६९७]शब्देन हि पुरुषव्यापारो [६९८]भाव्यते, पुरुषव्यापारेण धात्वर्थो [६९९]धात्वर्थेन [७००]फलमिति। न चैवं[७०१] [७०२]पुरुषव्यापारे [७०३]शब्दव्यापारवद्धात्वर्थे च पुरुषव्यापारवत् फले धात्वर्थे भावना[७०४]ऽनुषज्यते, [७०५]तस्य [७०६]शुद्धस्य सन्मात्ररूपतया विधिरूपत्वप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

सन्मात्रं [७०७]भावलिङ्गं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः।
धात्वर्थः केवलः[७०८] शुद्धो[७०९] भाव इत्यभिधीयते ।।२४।।
[७१०]तां [७११]प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।
सा सत्ता सा [७१२]महानात्मा यामाहुस्त्वतलादयः ।।२५।। ( ) इति च।

७०. [७१३]प्रतिक्षिप्तश्चैवंविधो विधिवादो नियोगवादिनैवेति [७१४]नास्माकमत्रातितरामादरः। [७१५]अथ [७१६]ततोऽन्यो [७१७]धात्वर्थः सोऽपि न प्रत्य[७१८]यार्थशून्यः [७१९]कुतश्चिद्वाक्यात्प्रतीयते [७२०]तदुपाधे[७२१]रेव तस्य ततः [७२२]प्रत्ययात्। [७२३]प्रत्ययार्थस्तत्र [७२४]प्रतिभासमानोऽपि

न प्रधानं कर्मादिवत्[७२५], अन्यत्रापि[७२६] सम्भवात्[७२७], इति चेत्, तर्हि[७२८] धात्वर्थोऽपि[७२९] यजनादिः प्रधानं मा भूत्, [७३०]प्रत्ययान्तरेऽपि भावात् प्रकृत[७३१]प्रत्ययापायेऽपीति समानं पश्यामः[७३२]। यदि[७३३] पुनः क्रिया[७३४] सकल(धातु[७३५])व्यापिनी धात्वर्थः, सर्वधातुषु भावात्, तदा सैव भावना[७३६] किं नेष्यते, सर्वार्थेषु[७३७] सद्भावात्। यथैव हि जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङादयः क्रियां हवनावच्छिन्नां[७३८] प्रतिपादयन्ति तथा सर्वाख्यातप्रत्यया[७३९] अपि, पचति पपाच पक्ष्यतीति पचनावच्छिन्नायाः क्रियाया एव प्रतिपत्तेः। पाकं[७४०] करोति चकार करिष्यतीति। [७४१]तथा च लिङादिप्रत्ययप्रत्याय्यः करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इत्यायातम्। स[७४२] च भावना[७४३]स्वभाव एवेति न धात्वर्थ[७४४] एव वाक्यार्थतया प्रतीयते। [७४५]नापि कार्यादिरूपो[७४६] नियोगः।

(शब्दव्यापाररूपो नियोग इति मतमपि भाट्टो दूषयति)

७१. [७४७]ननु शब्द[७४८]व्यापाररूपो नियोगः प्रतीयत[७४९] एव। शब्दो हि स्वव्यापारस्य पुरुषव्यापारकरण[७५०]लक्षणस्य [७५१]प्रतिपादको, न पुनः कारकः, शब्दादुच्चरितान्नियुक्तोऽहमनेनेति[७५२] प्रतिपत्तॄणां प्रतिपत्तेः, अन्यथा[७५३]ऽनुपपत्तेः, इति चेत्; [७५४]तर्हि भावनैव[७५५] नियोग इति शब्दान्तरेणोक्ता स्यात्। तदुक्तम्—

शब्दादुच्चरितादात्मा[७५६] नियुक्तो गम्यते नरैः।
[७५७]भावनातः परः[७५७(क)] को वा नियोगः परिकल्प्यताम्।।२६।। ( ) इति।

७२. [७५७(ख)]स्यान्मतम्–यदि शब्दव्यापारो भावना कथमगृहीतसङ्केतो[७५८] नावगच्छति[७५९] नियुक्तोऽहमनेनेति, स्वभावतस्तस्य[७६०] नियोजकत्वात्, सङ्केत[७६१]ग्रहणस्यानुपयोगित्वादिति; तदसमीचीनमेव[७६२]; सङ्केतस्य[७६३] तथाऽवगतौ[७६४] सहकारित्वात्, 'सामग्री जनिका नैकं [७६५]कारणम्' ( ) इति प्रसिद्धेः।

७३. [७६६]ननु च सङ्केतसामग्री[७६७] न प्रेरणे[७६८] भावनायां[७६९] वा व्याप्रियते, [७७०]अर्थवेदने तस्याः प्रवृत्तेः, [७७१]अर्थप्रतीतौ पुरुषस्य[७७२] स्वयमेव [७७३]तत्र तदर्थितया प्रवृत्तेः[७७४]। इदं[७७५] कुर्विति प्रेरणा[७७६]ध्येषणयोरेव हि प्रतीतिः, तदप्रतीतौ नियुक्तत्वाप्रतिपत्तेः। नियुक्तत्वं च नाम[७७७] कार्ये व्यापारितत्वम्। कार्ये व्यापृता[७७८]मवस्थां प्रतिपद्य[७७९] नियोजको[७८०] नियुङ्क्ते। सा च [७८१]तस्य भाविन्यवस्था न स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं शक्या। स्वरूपसाक्षात्करणे हि सर्वं तदैव[७८२] सिद्धमिति न नियोगः स्यात्सफलः। ततः प्रयोजको बाध्यमानप्रतीतिक एव। तदुक्तम्—

यथा प्रयोजकस्तत्र बाध्यमानप्रतीतिकः।
प्रयोज्यो[७८३]ऽपि तथैव[७८४] स्याच्छब्दो[७८५] बुद्ध्यर्थ[७८६]वाचकः।।२७।। ( )

७४. यथैव हि प्रयोजकस्य[७८७] शब्दस्य प्रयोज्येन पुरुषेण [७८८]स्वव्यापारशून्यमात्मानं प्रतियता प्रयोजकत्वप्रतीतिर्बाध्यमाना[७८९] निरालम्बना तथा प्रयोज्यत्वप्रतीतिरपि[७९०] तेनैव[७९१] स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतियता बाध्यते[७९२]। शब्दात् सा[७९३] प्रतीतिरिति च न युक्तम्[७९४], तस्य[७९५] बुद्ध्यर्थख्यापनत्वात्। सोऽपि हि शब्दो बुद्ध्यर्थमेव ख्यापयति। एवं [७९६]मया प्रतिपादितमेवं [७९७]मया प्रतिपन्नमिति द्वयोरपि प्रतिपादकप्रतिपाद्ययोरध्यवसायात्। पौरुषेयवचनाद्धि मयैवं तावत्प्रतिपन्नमस्य[७९८] तु वक्तुरयमभिप्रायो[७९९] भवतु मा वाऽभूदिति प्रतिपत्ता[८००]ऽध्यवस्यति। अपौरुषेयादपि[८०१] शब्दादेवमयमर्थो मया प्रतिपन्नोऽस्य[८०२] भवतु मा वा भूदिति[८०३] वक्तृव्यापारविषयो[८०४] योऽर्थः पौरुषेयशब्दस्य

यो वा बुद्धौ प्रकाशतेऽर्थः, अपौरुषेयत्वाभिमतशब्दस्य [८०५]तत्र प्रामाण्यं न पुनर्बाह्यार्थ[८०६]त्वनिबन्धनम्। तदुक्तम्—

वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो [८०७]बुद्धौ प्रकाशते।
[८०८]प्रामाण्यं [८०९]तत्र शब्दस्य [८१०]नार्थतत्त्वनिबन्धनम्।।२८।। ( ) इति वचनात्।

७५. ततो विवक्षारूढ एवार्थो वाक्यस्य, न पुनर्भावना, इति **[८११]प्रभाकरः**।

(वाक्यस्य विवक्षारूढार्थं मन्यमानस्य प्रज्ञाकरस्य बौद्धस्य मतमपि ग्रन्थकृद्दूषयति)

७६. [८१२]सोऽपि न परीक्षकः, [८१३]प्रत्यक्षादिव शब्दाद्बहिरर्थप्रतिपत्तिसिद्धेः। यथैव हि प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तृप्रणिधानसामग्रीसव्यपेक्षात्प्रत्यक्षार्थ[८१४]प्रतिपत्तिस्तथा [८१५]सङ्केतसामग्रीसव्यपेक्षादेव शब्दाच्छब्दार्थ[८१६]प्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा, [८१७]अन्यथा ततो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात्। न चार्थवेदनादेवार्थे पुरुषस्यार्थिनः स्वयमेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्त्तक इति वक्तुं युक्तम्, [८१८]प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्, [८१९]तदर्थेऽपि सर्वस्या[८२०]भिलाषादेव [८२१]प्रवृत्तेः। [८२२]परम्परया प्रत्यक्षादिप्रवर्त्तकमिति चेत्, [८२३]तथा वचनमपि प्रवर्त्तकमस्तु, विशेषाभावात्। यथा च प्रत्यक्षस्य सलिलादिरर्थः, तस्य तत्र प्रतीतेः, तथा वाक्यस्य भावना प्रेरणा वा, [८२४]तस्यैव [८२५]तत्र प्रतीतेरबाध्यमानत्वात्।

(प्रज्ञाकरो भावनाप्रेरणारूपवाक्यार्थं दूषयन्नाह)

७७. [८२६]नन्विदं कुर्विति [८२७]वचनात्कार्ये व्यापारितत्वं पुरुषस्य नियुक्तत्वम्। न च कार्ये व्यापृतावस्था भाविनी तेन साक्षात्कर्त्तुं शक्या, [८२८]तत्साक्षात्करणे नियोगस्याफलत्वप्रसङ्गात्। ततो बाध्यमानैव [८२९]तत्प्रतीतिरिति।

(प्रज्ञाकरोक्तं समालोच्य प्रत्यक्षादेर्वाक्यस्य वा बहिरर्थं द्रढयति)

७८. [८३०]तदेतदसमञ्जसमालक्ष्यते, [८३१]अन्यत्रापि समानत्वात्, प्रत्यक्षस्य हि प्रवर्त्तकत्वं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वमुच्यते। प्रवृत्तिविषयश्चार्थक्रि[८३२]याकारी सलिलादिः। सा च [८३३]तस्यार्थक्रियाकारिता भाविनी न साधनावभासिना [८३४]वेदनेन साक्षात्कर्त्तुं शक्या, तत्साक्षा[८३५]त्करणे प्रवृत्तिनै[८३६]ष्फल्यात्। ततोऽध्यक्षस्य प्रवर्त्तकत्वं बाध्यमानप्रतीतिकमेवेति [८३७]शक्यं [८३८]वक्तुम्। [८३९]यदि पुनरर्थक्रियाकारिताऽपि साधनावभासिनि [८४०]वेदने प्रतिभातैव, [८४१]एकत्वाध्यवसायात्; तदा शब्दादपि पुरुषस्य कार्यव्या[८४२]पृतता [८४३]तत एव प्रति[८४४]भातेति किं नानु[८४५]मन्यते। [८४६]तथा सति बुद्ध्यारूढोऽर्थः शब्दस्य स्यात्; इति चेत्; [८४७]तवापि प्रत्यक्षस्य बुद्ध्यध्यवसितोऽर्थः किन्न [८४८]भवति, यतो निरालम्बनमेव प्रत्यक्षं [८४९]न स्यात्। [८५०]परमार्थतः प्रत्यक्षमपि न प्रवर्त्तकम्, स्वरूपस्य [८५१]स्वतो गतेः संवेदनाद्वैत[८५२]स्य सिद्धेः[८५३]; इति चेत्; [८५४]पुरुषाद्वैतस्य कुतो न सिद्धिः ? तस्य नित्यसर्वगतस्यैकस्य संवि[८५५]त्त्यभावात्; इति चेत् क्षणिकनिरंशस्यैकस्य संवित्तिः किं कस्यचित्कदाचिदस्ति, यतस्तत्सिद्धिरेव[८५६]। ततः पुरुषाद्वैतवत्संवेदनाद्वैतस्य सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्तेर्भेद[८५७]वादे [८५८]च प्रत्यक्षस्य प्रवर्त्तकत्वायोगाद्भिन्नाभिन्नात्मकं वस्तु प्रातीतिकमभ्युपग[८५९]न्तव्यम्, [८६०]विरोधादेश्चित्रज्ञानेनोत्सारितत्वात्। [८६१]भेदस्या[८६२]भेदस्य वा [८६३]सांवृतत्वे सर्वथाऽर्थक्रियाविरोधात्। तथा च शब्दात्कार्यव्यापृततया व्यक्तिरूपेण भाविन्या अपि शक्तिरूपेण पुरुषस्य [८६४]सतः कथञ्चिदभिन्नाया शाब्दज्ञाने [८६५]तदैव प्रतिभासनेऽपि न नियोगो निष्फलः स्यात्, [८६६]प्रत्यक्षतः सलिलादौ प्रवृत्तिवत्। [८६७]तत्र हि सलिलादेरर्थक्रियायो[८६८]ग्यताप्रतिभासनेऽपि व्यक्तार्थक्रियानुभवाभावात्तदर्थं प्रवर्त्तनं प्रतिपत्तुः सफलतामियर्त्ति,

नान्यथा[८६९]। एवं[८७०] शब्दादात्मनः[८७१] कार्य[८७२]व्यापृततायोग्यताप्रतिपत्तावपि व्यक्तकार्य[८७३]व्यापृततानुभवाभावात् पुरुषस्य नियोगः सफल[८७४] एव[८७५], समानन्यायात्[८७६], तथा[८७७] प्रतीतेरेवाऽबाध्यत्वसिद्धेः। ततो[८७८] न विवक्षारूढ एव शब्दस्यार्थः प्रमाणबलादवलम्बितुं युक्तः सन्मात्रविधिवत्।

(शब्दभावनारूपे नियोगे वाक्यार्थे मन्यमाने प्रज्ञाकरः पुनर्दोषमाविष्करोति भाट्टस्तमपि परिहरति)

७९. यदप्युक्तम्[८७९]—नियोगो यदि शब्दभावनारूपो वाक्यार्थस्तथा सति देवदत्तः पचेदिति कर्त्तुरनभिधानात्कर्तृकरणयोस्तृतीयेति[८८०] तृतीया[८८१] प्राप्नोति। कर्त्रभिधाने[८८२] त्वनभिहिताधिकारात्तिङैव चोक्तत्वात्र[८८३] भवतीति[८८४]। तदप्ययुक्तम्[८८५], भावना[८८५(क)]विशेषणत्वेन कर्त्तुः प्रतिपादनात्। भावना[८८६] हि करोत्यर्थः। स च[८८७] देवदत्तकर्त्तृकः प्रतिभाति। पचेद्देवदत्तः पाकं कुर्यादिति पाकावच्छिन्नायाः क्रियायाः[८८८] देवदत्तकर्तृकायाः प्रतीतेः, सकृदेव[८८९] विशेषणविशेष्ययोः प्रतिभासाविरोधात्, नीलोत्पलादिवत्। ततो[८९०] नेदं **प्रज्ञाकरवचश्चारु**—

क्रम[८९१]प्रतीतिरेवं स्यात् प्रथमं भावनागतिः।
तत्सामर्थ्यात्पुनः[८९२] पश्चाद्यतः कर्त्ता प्रतीयते।।२९।। ( ) इति।

(प्रज्ञाकरेण पुनरप्युक्तं दूषणं निराकरोति भाट्टः)

८०. यदप्यभ्यधायि[८९३]—द्विवचन[८९४]बहुवचने[८९५] च न[८९६] प्राप्नुतः, एकत्वाद्व्यापारस्य। अथ कारकभेदाद्व्यापारभेदो[८९७] भविष्यति, क्रियते[८९८] कटो देवदत्तयज्ञदत्ताभ्या[८९९]मिति महदसमञ्जसं स्यात्। तथा हि—

एकत्वात्कर्मणः[९००] प्राप्तं क्रियैकत्वं तथाभिदः[९०१]।
कर्तृभेदा[९०२]दितीत्थं[९०३] च किं कर्त्तव्यं[९०४] विचक्षणैः।।३०।।

८१. तदप्यसत्यम्[९०५]; प्रतीति[९०६]विरोधात्। प्रतीयते हि धात्वर्थ[९०७]स्याभेदादेकवचनं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामास्यते[९०८]। स च धात्वर्थो न नियोगः, नियोगस्य प्रत्यया[९०९]र्थत्वात्। स[९१०] च धात्वर्था[९११]तिरिक्तः कर्तृसाध्यः। तस्य[९१२] कर्तृभेदाद्भेद इति। ततः[९१३] कटं कुरुत[९१४] इति द्विवचनम्। धात्वर्थस्तु शुद्धो न कारकभेदाद्भेदी[९१५]।

(योगाचारमतानुयायी प्रज्ञाकरः पुनः शङ्कते)

८२. स्यादाकूतम्[९१६]—

सम्बन्धाद्यदि[९१७] तद्भेदो[९१८] धात्वर्थ[९१९]स्याप्यसौ[९२०] भवेत्।
सोऽपि[९२१] निर्वर्त्य[९२२] एवेति[९२३] तद्भेदेनैव भिद्यताम्।।३१।।

८३. अस्माकं[९२४] तु

विवक्षा[९२५]परतन्त्रत्वाद्भेदाभेदव्यवस्थितेः[९२६] ।
लाभिधाना[९२७]त्कारकस्य[९२८] सर्वमेतत्[९२९]समञ्जसम्।।३२।।

८४. क्रिया[९३०] हि[९३१] कर्त्तुः कर्मणश्च[९३२] भेदेन[९३३] विवक्ष्यते। सा[९३४] यदा लकारे[९३५]णाभिधीयते न कर्त्ता, तदा कर्त्तरि[९३६] तृतीया भवति। यदा कर्त्ताऽभिधीयते तदा प्रथमार्थत्वात्प्रथमा भवति। क्रियते[९३७] महात्मना करोति महात्मा, इति।

(तदपि निराकरोति भाट्टः)

८५. [१३८]तदेतदपि पक्षपातमात्रं **सौगतस्य**, भेदाभेदयोर्वस्तुरूपयोः प्रतीतिसिद्धत्वेन तद्विवक्षावशात्तथा व्यवहारस्य पारमार्थिकत्वोपपत्तेः। [१३९]ततो युक्ता शब्दव्यापाररूपा शब्दभावना पुरुषव्यापाररूपाऽर्थभावना च। तत्र हि कर्त्तृव्यापारस्तिङा[१४०] प्रतिपाद्यते। [१४१]स एव च [१४२]भावना। [१४३]तथा चाह—'[१४४]भावार्थाः [१४५]कर्मशब्दाः। भावनं भावो [१४६]ण्यन्ताद्धञ्प्रत्ययः। तथा च सति भावनैवासौ। भावना च कर्त्तृव्यापारः। [१४७]स चोदितः [१४८]स्वव्यापारे [१४९]प्रवर्त्तते।' ( ) इति। [१५०]नियोगस्य च [१५१]तद्विशेष्यत्वादप्रधानत्वाद[१५२]वाक्यार्थत्वम्। नियोगविशिष्टत्वाच्च [१५३]भावनायास्तथा प्रतिपादने [१५४]नियमेन प्रवर्त्तते।

[१५५]कथं चासौ स्वव्यापारं प्रतियन्नेव प्रवर्त्तते ? [१५६]अन्यथा स्वव्यापारे एव न [१५७]चोदितो भवेत्।

(बौद्धः पुनः शङ्कते—भोः। वेदवाक्येन प्रतिपादितो यागादिलक्षणो व्यापारो मम कर्त्तव्य इति पुरुषो भाविनं स्वर्गादिफलमनवगम्य कथं यागकर्मणि प्रवर्त्तेत)

८६. [१५८]स्यान्मतम्—

[१५९]व्यापार एष मम [१६०]किमवश्यमिति मन्यते।
फलं विनैव [१६१]नैवं चेत् स [१६२]फलाधिगमः कुतः।।३३।। ( ) इति।

(भाट्टस्तस्येमां शङ्कां निराकुर्वन्नाह)

८७. [१६३]तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; 'अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' ( ) इत्यादिवेदवाक्यसामर्थ्यादेव पुरुषेण [१६४]तदा ममैष व्यापार इति प्रत्येतुं शक्यत्वात्। [१६५]ममेदं कर्त्तव्यमिति फलमपश्यन् कथं प्रत्येतीति चेत्; [१६६]प्रत्यक्षतः कथं प्रत्येति ? [१६७]फलयोग्यतायाः प्रतीतेरिति चेत्; वाक्यादपि [१६८]तत एव तथा प्रत्येतु। [१६९]फलस्यातीन्द्रियत्वात् कथं तद्योग्यता स्वव्यापारस्य [१७०]कर्त्रा प्रतीयते इति चेत्, प्रत्यक्षेऽपि [१७१]समानमेतत्। प्रतिपत्तुरभ्यासमामर्थ्यात्[१७२]प्रत्यक्षविषये फलयोग्यतानिश्चय इति चेत्; [१७३]तत एव च [१७४]कर्त्तुः [१७५]स्वव्यापारे [१७६]तद्योग्यतानिश्चयोऽस्तु, सर्वथा विशेषाभावात्।

(प्रज्ञाकरो भावनाया वाक्यार्थत्वे पुनरपि दूषणमापादयति)

८८. [१७७]यदप्यवादि **प्रज्ञाकरेण**—

यजते पचतीत्यत्र भावना न प्रतीयते।
यजाद्यर्थातिरेकेण[१७८] तस्या वाक्यार्थता कुतः।।३४।।
यागं करोति पाकं च यदि भेदः प्रतीयते।
एवं सत्यनवस्था स्यादसमञ्जसताकरी।।३५।।

८९. [१७९]करोति यागं स्वव्यापारं निष्पादयति यागनिष्पत्तिं निर्वर्त्तयति। [१८०]व्यपदेशा एते [१८१]यथा कथञ्चिद्भेदपरिकल्पना[१८२]पुरस्सराः। [१८३]नैतेभ्योऽस्ति [१८४]पदार्थतत्त्वव्यवस्था [१८५]इति। [१८६]'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इति भेद[१८७]व्यवहारा भेदमन्तरेणापि [१८८]दृश्यन्ते।

[९८९]यथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यपि[९९०] गीयते ।
[९९१]ततः परा पुनर्दृष्टा करोतीति न हि क्रिया ।।
[९९२]यजिक्रिया च [९९३]द्रव्यस्य विशेषा[९९४]दपरा न हि[९९५] ।
[९९६]सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतेः ।।( ) इति ।

(भाट्टस्तदपि निराकुर्वन्नाह)

९०. तदपि न परीक्षाक्षमम्—

यजते पचतीत्यत्र भावनायाः प्रतीतितः ।
यजाद्यर्थातिरेकेण युक्ता वाक्यार्थता ततः ।।३६।।
यागं करोति पाकं चेत्येवं भेदेऽवभासिते ।
काऽनवस्था भवेत्तत्र [९९७]तत्प्रतीत्यनुसारिणाम् ।।३७।।

९१. यजते यागं करोतीति हि यथा प्रतिपत्तिः, तथा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यपि सैव [९९८]प्रतीतिः, स्वव्यापारशब्देन यागस्याभिधानात् । निष्पादयतीत्यनेन तु करोतीति प्रतीतेः । यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयतीति नार्थभेदः । यागनिष्पत्तिं निर्वर्त्तयतीत्यत्रापि यागनिष्पत्तिर्याग एव, निर्वर्त्तनं करणमेव । ततो यागं करोतीति प्रतीतं स्यात् । [९९९]ततो नैते व्यपदेशा यथा[१०००] कथञ्चिद्भेदपरिकल्पनापुरस्सराः, प्रतीयमानकरोत्यर्थविषयत्वात्, यागं करोति विदधात्येवमादिव्यपदेशवत् । ततो युक्तैवैतेभ्यः[१००१] पदार्थतत्त्वव्यवस्था, अनवस्था[१००२]ऽनवतारात् ।

(पुनरपि प्रज्ञाकरशङ्कां निरस्यन् भाट्ट आह)

९२. अथ[१००३] यजते यागं करोति यागक्रियां करोतीत्येवमनवस्थोच्यते[१००४] तर्हि[१००५] स्वरूपवेदनं[१००६] संवेदयते इत्यप्यनवस्था[१००७] स्यात् । अथ स्वरूपं संवेदयते इत्यनेनैव स्वरूपसंवेदनप्रतिपत्तेः स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यादिनिरर्थकत्वादयुक्तम्, [१००८]तर्हि यागं करोतीत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्तेर्यागक्रियां करोतीत्यादिवचनमनर्थकमेव, व्यवच्छेद्या[१००९]भावात् । यजते इत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतीतेर्यागं करोतीत्यपि वचनमनर्थकम्; इति चेत्; सत्यम्[१०१०], यदि तद्वचनादेव तथा प्रत्येति । यस्तु न प्रत्येति तं प्रति विशेषणविशेष्यभेदकथनपरत्वात्तथाऽभिधानस्य नानर्थक्यम् । शिलापुत्रकस्य शरीरं राहोः शिर इत्यादिभेदव्यवहारा अपि न कथञ्चिद्भेदमन्तरेण प्रवर्त्तन्ते, गौणत्व[१०११]प्रसङ्गात्[१०१२] । शिलापुत्रकस्य राहोरित्युच्यमाने हि किमिति[१०१३] सन्देहः, तद्व्यवच्छित्तये शरीरं शिर इत्यभिधानमन्यस्य कार्यादेर्व्यवच्छेदकमुपपन्नम्[१०१४] । तस्मिंश्च[१०१५] सति कस्येति संशयः स्यात् । तद्व्यपोहनाय शिलापुत्रकस्य राहोरित्यभिधानं श्रेयः, अवस्था[१०१६]तद्वतोः कथञ्चिद्भेदात्[१०१७] । शरीरं हि शिलापुत्रकस्यावस्था, अवयवोप[१०१८]चयलक्षणावस्था[१०१९]न्तरव्यावृत्ता । शिलापुत्रकः पुनरवस्थाता[१०२०], खण्डा[१०२१]द्यवस्थान्तरेष्वपि प्रतीतेः । एतेन राहुरवस्थाता शिरोऽवस्थायाः[१०२२] व्याख्यातः । [१०२३]सांवृतोऽवस्थाता, अवस्थाव्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेत्; न; [१०२४]उभयासत्त्वात् । अवस्थातुरसत्त्वे सांवृतत्वे वाऽवस्थायाः सत्त्वाऽसांवृतत्वविरोधात्, [१०२५]खपुष्पसौरभवत् कृत्रिमफणिस्फटादिवच्च । [१०२६]ततो वस्तुस्व[१०२७]रूपाश्रय एव यागं करोतीति [१०२८]व्यपदेशः, सत्यप्रतीतिकत्वात्, संविदमनुभवतीत्यादिव्यपदेशवत् ।

[१०२९]तथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते।

ततः परा च निर्बाधा करोतीति क्रियेष्यते।।३८।।

[१०३०]यजिक्रियापि [१०३१]भावस्य [१०३२]विशेषादपरैव [१०३३]हि।

सामानाधिकरण्येन [१०३४]देवदत्ततया गतेः।।३९।। ( )

(भाट्टः कारिकयोरनयोरर्थं स्पष्टयन् यागकर्तुस्तद्व्यापारस्य च यागलक्षणस्य करोतीति सामान्यक्रियाया यजिक्रियायाश्च तद्विशेषरूपायाः पारमार्थिकं भेदं प्रदर्शयति)

९३. द्विजो हि व्यापृतेतरावस्थानुयायी 'स एवायम्' इत्येकत्व[१०३५]प्रत्यवमर्शवशान्निश्चितात्मा परमार्थ[१०३६]सन्नेकः। यागस्तु तद्व्यापारः प्रागभूत्वा भवन् [१०३७]पुनरपगच्छन्ननित्यतामात्मसात्कुर्वन्नभेदप्रत्ययविषयस्[१०३८]ततोऽपर एव, [१०३९]कथञ्चि[१०४०]द्विरुद्धधर्माध्यासात्[१०४१], [१०४२]तथा [१०४३]यागेतरव्यापारव्यापिनी करोतीति क्रियाऽनुस्यूत[१०४४]प्रत्ययवेद्या [१०४५]तद्विपरीतात्मनो यागादर्थान्तरभूता सर्वथाऽप्यप्रतिक्षे[१०४६]पार्होऽनुभूयते, [१०४७]यजते यागं करोति देवदत्त इति [१०४८]समानाधिकरणतया देवदत्तेन [१०४९]सहावगतेः। [१०५०]सर्वथा तदैक्ये तद्विरोधात्, पटतत्स्वात्मवत्। [१०५१]किं करोति देवदत्तः? यजति पचतीति प्रश्नोत्तरदर्शनात्। करोतीति निश्चितेऽपि यज्यादिषु [१०५२]सन्देहाच्च। तथा हि—[१०५३]यस्मिन्निश्चीयमानेऽपि यत्र निश्चीयते तत्ततः कथञ्चिदन्यत्, यथाऽन्यदेहे निश्चीयमानेऽप्यनिश्चीयमाना बुद्धिः। करोतीति निश्चीयमानेऽप्यनिश्चीयमानश्च यज्यादिरिति।

(प्रज्ञाकरः पुनः सामान्यविशेषक्रिययोस्तादात्म्यं साधयन्नाह)

९४. [१०५४]स्यान्मतम्—

[१०५५]करोत्यर्थयजत्यर्थौ विभिन्नौ यदि तत्त्वतः।

अन्यत्सन्दिग्धमन्यस्य कथने दुर्घटः क्रमः।।४०।। ( )

९५. नहि करोतीति क्रियातो विभिन्नायां यज्यादिक्रियायां सन्देहे [१०५६]ततोऽन्यत्र करोत्यर्थे निश्चिते प्रश्नः श्रेयान्, [१०५७]अनिश्चिते एव प्रश्नस्य साधीयस्त्वात्। ततः करोत्यर्थयज्याद्यर्थयोस्तादात्म्यमेषितव्यम्, तत्रैव प्रश्नोत्तरदर्शनादिति।

(भाट्टस्तदेतन्मतं निराकरोति)

९६. [१०५८]तदेतदनुपपन्नम्, करोत्यर्थस्य सामान्यरूपत्वात् तद्विशेषरूपत्वाच्च यज्यादेः। सामान्यविशेषयोश्च कथञ्चिदभेदोपगमात्। [१०५९]सन्दिग्धस्यैव [१०६०]कथनात्प्रश्नोत्तरक्रमस्य [१०६१]दुर्घटत्वाघटनात्। [१०६२]तदभेदैकान्ते एव तस्य दुर्घटत्वात्।

(प्रज्ञाकरः सामान्यमाक्षिप्यमाणं विशेषं च पारमार्थिकं मन्यमानो भाट्टेनोक्तं दूषयति)

९७. [१०६३]स्यादाकूतं ते—

सामान्यं [१०६४]न विशेषेण विना [१०६५]किञ्चित्प्रतीयते।

[१०६६]सामान्याक्षिप्यमाणस्य न हि [१०६७]नामाप्रतीतता।।४१।।

९८. केवल[१०६८]सामान्यप्रतीतौ हि विशेषांशे सन्देह इत्युक्तम्[१०६९]; तस्या[१०६९(क)] प्रतीतत्वात्। घटप्रतीतौ हिमवदादिवत्। [१०७०]अथ [१०७१]सामान्येन [१०७२]विशेष आक्षिप्यते, [१०७३]तथा सोऽपि प्रतीत एवेति कथं संशयः ? न हि प्रतीतत्वादपर आक्षेपः[१०७४]। अथ प्रतीत एवासौ सामान्येन[१०७५] न तु विशेषेण[१०७६], तस्य सामान्यरूपेणाक्षेपात्[१०७७]। ननु[१०७८] तदेव सामान्यमाक्षेपकं[१०७९] तदेवाक्षेप्यमिति कथमेतत्। न च सामान्यादपरं सामान्यमाक्षेप्यमस्ति। तथा[१०८०] सति ततोऽप्यपरं ततोऽप्यपरमित्यनवस्था।[१०८१] ननु सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयो युक्त एव[१०८२], न त्वनुपलम्भादभाव एव युक्तः सामान्येनानुपलम्भप्रमाणवादिनः[१०८३]। [१०८४]अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भादभावो नानुपलब्धिमात्रात्, तथा सत्य[१०८५]नुपलब्धेरेव[१०८६] संशयः, [१०८७]व्यर्थमेतत्सामान्यप्रत्यक्षादिति। यदि सामान्यप्रत्यक्षतायामप्युपलब्धिलक्षण[१०८८]प्राप्ता[१०८९]नुपलब्धिर्न स्यात्[१०९०], स्यात्[१०९१] संशयः[१०९२]। [१०९३]अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरेव न सम्भवति सामान्यप्रत्यक्षतायाम्। एवं तर्हि सैवानुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः संशयहेतुरिति प्राप्तम्, विशेषस्मृतेरिति च व्यर्थम्[१०९४]। न हि विशेषस्मृतिव्यतिरेकेणापरः संशयः, उभयांशावलम्बिस्मृतिरूपत्वात्[१०९५] संशयस्य। दृश्यते च कन्याकुब्जादिषु[१०९६] सामान्यप्रत्यक्षतामन्तरेणापि[१०९७] प्रथमतरमेव स्मरणात्संशयः। तस्मात्[१०९८]करोतीति[१०९९] तदेव यज्यादिकमनियमेन[११००] प्रतीयमानं सामान्यतो[११०१]दृष्टानुमानात्[११०२]सामान्यम्।

(भाट्टः प्रज्ञाकरोक्तान् दोषान् निराकरोति)

९९. तदेतदपि प्रज्ञापराधविजृम्भितं **प्रज्ञाकरस्य**, करोत्यर्थसामान्यस्याध्यवसाये[११०३] यज्याद्यर्थविशेषानवगतावेव तत्संशयोपगमात्[११०४]। न च सामान्ये व्यवसिते[११०५] ततोऽन्यत्र विशेषेऽनवसिते[११०६] संशीतावतिप्रसङ्गः, सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदभेदात्[११०७]। हिमवद्घटादीनां तु परस्परमत्यन्तभेदात्।[११०८] एकत्र निश्चयेऽपि नानवगततदन्यतमे[११०९] संशीतिर्यतोऽतिप्रसङ्गः स्यात्। नापि सामान्येनाक्षिप्ते तद्विशेषे संशयोपगमोऽस्ति, यतस्तदाक्षेपपक्षनिक्षिप्तदोषोपक्षेपः[१११०]। न चैवमनभिमततद्विशेषेण संशयोऽनुषङ्गी, स्मरणविषये एव विशेषेऽनेकत्र संशय[११११]प्रतीतेः। 'सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः' (   ) इति वचनात्। सामान्ये ह्युपलभ्यमाने तदविनाभाविनो[१११२] विशेषस्यानुपलम्भेऽपि नाभावः सिद्ध्यति, तदभावे तस्याप्यभावप्रसङ्गात्[१११३]। तदुक्तम्—

निर्विशेषं[१११४] तु सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव[१११५] हि ॥४२॥

१००. न[१११६] चैवं[१११७] विशेषेऽदृश्यानुपलब्धेरेव संशयः, स्मृतिनिरपेक्षत्वप्रसङ्गात्। विशेषस्मृतिरेव संशय इति चेत्; न; साध्यसाधनव्याप्तिस्मृतेरपि संशयत्वप्रसङ्गात्। सर्वसाधनानां[१११८] संशयितसाध्यव्याप्तिकत्वापत्तेस्तत्स्मृतेरचलितत्वान्न संशयत्वमिति चेत्, तर्हि[१११९] चलिता प्रतिपत्तिः[११२०] संशयः। सा चोभयविशेषस्मृत्युत्तरकालभाविनी, तदन्वय[११२१]व्यतिरेकानुविधानात्। न पुनर्विशेषस्मृतिरेव[११२२], सामान्योपलब्धिवत्। तदुभयांशावलम्बिनी स्मृतिः संशीतिरित्यपि फल्गुप्रायम्[११२३], तदविचलनेऽपि[११२४] संशीतिप्रसङ्गात्। सामान्या[११२५]प्रत्यक्षतायामपि कन्याकुब्जादिषु प्रथमतरमेव स्मरणात् संशयदर्शनान्न सामान्योपलम्भः संशयहेतुरिति चेत्; न; असिद्धत्वात्। तत्रापि हि प्रासादादिसन्निवेशविशेषविषयः[११२६] संशयः कन्याकुब्जनगरसामान्योपलम्भपुरस्सर[११२७] एव [११२८]सर्वथानुपलम्भे संशयविरोधात्, सर्वथोपलम्भवत्। योऽपि तद्भावाभाव[११२९]विषयः संशयः, सोपि

नगरादिसामान्योपलम्भपूर्वक एव। नगरादिकं सामान्यतस्तावत्प्रसिद्धम्। कन्याकुब्जादिनामकं तु तदस्ति किं वा नास्तीत्युभयांशावलम्बिनः प्रत्ययस्योत्पत्तेः। न च नगरं[११३०] नाम न किञ्चिदिति वक्तुं शक्यम्, प्रत्यासत्तिविशेषस्य प्रासादादिसमूहस्य नगरत्वोपवर्णनात्। तत्रानुस्यूतप्रत्ययहेतोर्नगरत्वसामान्यस्य[११३१] सिद्धेस्तदुपलम्भपूर्वकस्तद्विशेषे[११३२] संशयो न विरुध्यत एव। ततः करोत्यर्थसामान्योपलम्भात्तद्विशेषयज्याद्यर्थस्यानुपलब्धेरनेकविशेषस्मरणाच्च[११३३] युक्तस्तत्र सन्देहः[११३५]। न हि तदेव यज्यादिकमनियमेन[११३६] करोतीत्युपलब्धुं[११३७] शक्यम्। करोत्यर्थसामान्यासम्भवे[११३८] सत्त्वसामान्यासम्भवे घटादिकमिवास्तीत्यनियमेन परापरसामान्येषु[११३९] पुनः सामान्यमित्यनियमेनोपलम्भो गौण एव, सामान्येषु सामान्यान्तरासम्भवात्। तत्सम्भवे वाऽनवस्थाप्रसङ्गात्। न चैवं[११४०] सर्वत्र[११४१] सामान्यमन्तरेणैवानियतप्रत्ययो[११४२] गौणं इति वक्तुं शक्यम्[११४३], मुख्याभावे[११४४] गौणस्यानुपपत्तेः[११४५]। विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः सामान्याकारो[११४६] मुख्यः स्वलक्षणेषु[११४७] पुनरारोप्यमाणो गौण इति चेत्; न[११४८]; विशेषाकारस्यापि[११४९] तत्र[११५०] गौणत्वप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुं प्रत्यक्षबुद्धौ[११५१] प्रतिभासमानो विशेषाकारो मुख्यः[११५२] बहिः स्वलक्षणेषु स एवाध्यारोप्यमाणो गौण इति।

(अत्र सौत्रान्तिकेन प्रसक्तं विज्ञानवादिमतं भाट्टो निरस्यति)

१०१. नन्वेवमपि[११५३] ज्ञानविशेषाः[११५४] परमार्थतः सिद्धा[११५५] बहिरर्थविशेषास्तु न वास्तवा इति विज्ञानवादिमतमायातम्[११५६]। तर्हि विज्ञानसामान्यं[११५७] वस्तुभूतं न बहिरर्थसामान्यमिति सामान्यविशेषात्मकं[११५८] विज्ञानं परमार्थसदायातं[११५९] न क्षणिकविज्ञानस्वलक्षणवादिमतम्[११६०]। विकल्पज्ञानेऽपि[११६१] न वास्तवः सामान्याकारः[११६२], तस्यानाद्यविद्योपपादितत्वात्, संवेदनस्वरूपस्यैवासाधारणस्य परमार्थसत्त्वात्, इति चेत्; न[११६३]; विपर्ययस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात्। संवेदनेऽपि नासाधारणाकारः पारमार्थिकः, तस्यानाद्यविद्योदयनिबन्धनत्वात्, संवेदनसामान्यस्यैव[११६४] वास्तवत्वादिति वदतोऽन्यस्यापि[११६५] निवारयितुमशक्यत्वात्[११६६]। न[११६७] वस्तुभूतं संवित्सामान्यम्, वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषङ्गात्[११६८], बहिरर्थसामान्यवत्, इति चेत्[११६९], तर्हि न संविद्विशेषः परमार्थसन्[११७०], विचार्यमाणायोगात्[११७१], बहिरर्थविशेषवत्, इत्यप्यन्यो[११७२] ब्रूयात्। तथा च सत्याऽऽश्रयासिद्धो[११७३] हेतुरित्युभयत्र[११७४] समानं दूषणम्। साधनविकलं[११७५] निदर्शनमित्यपि न चोद्यम्, समानत्वात्। संवित्स्वलक्षणाद्वैतोपगमात्सिद्धसाधनमिति[११७६][११७७][११७८][११७९] चेत्, संवित्सामान्याद्वैतोपगमात्परस्यापि[११८०] सिद्धसाधनं[११८१] कुतो न भवेत्? संवित्सामान्याद्वैतं[११८२] प्रतीतिविरुद्धम्, विशेषसंविदभावे जातुचिदसंवेदनादिति चेत्, संवित्स्वलक्षणाद्वैतमपि[११८३] तर्हि प्रतीतिविरुद्धमेव, संवित्सामान्याभावे तद्विशेषसंवेदनस्य[११८४] सकृदप्यभावात्, सर्वाक्षेपसमाधीनां समानत्वात्। ततो[११८५] निर्बाधप्रतीतिबलाद्भेदव्यवस्थायां[११८६] सामान्यव्यवस्थाऽस्तु[११८७] सुघटैवान्तःसंवेदनेषु[११८८][११८९]। तद्वद्बहिरर्थेषु च सामान्यविशेषव्यवस्थोररीकर्त्तुं[११९०] युक्ता, निर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वाविशेषात्।

१०२. एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं **धर्मकीर्तिना**—

अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रवेदनात्[११९१][११९२] ।

सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं[११९३] भेदाप्रतिष्ठितेः[११९४] ।।४३।। ( ) इति।

१०३. [११९५]तद्रूपानुवृत्तस्य [११९६]वस्तुमात्रस्य [११९७]निर्बाधबोधाधिरूढस्य [११९८]सिद्धेर्भेदमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वात्, सर्वदा [११९९]बहिरन्तश्च [१२००]भेदाभेदात्मनो वस्तुनः प्रतिभासनात्।

(बौद्धस्य भेदाभेदौ विवक्षामात्रवशवर्त्तिनौ मन्यमानस्य मतं निराकरोति)

१०४. [१२०१]न चैतौ भेदाभेदौ विवक्षामात्रवशवर्त्तिनौ, [१२०२]सर्वत्र तत्सङ्करप्रसङ्गात्। [१२०३]येनात्मना भेदव्यवस्था तेनैवाभेदव्यवस्थितिः स्यात्, तद्विवक्षाया निरङ्कुशत्वात्। [१२०४]पूर्ववासनाप्रतिनियमाद्विवक्षायाः प्रतिनियमसिद्धेर्न तद्वशाद्भेदाभेदव्यवस्थितौ सङ्करप्रसङ्ग इति [१२०५]चेत्, [१२०६]कुतस्तद्वासनाप्रतिनियमः ? प्रबोधक[१२०७]प्रत्ययप्रतिनियमात्, इति चेत्; न; [१२०८]तदनियमे तदनियमप्रसङ्गात्। पूर्वस्ववासनाप्रतिनियमात्प्रकृतवासनाप्रतिनियम इति चेत्; न; [१२०९]तस्याः संविदव्यभिचारे [१२१०]वस्तुस्वभावतापत्तेः। [१२११]कदाचित्तद्व्यभिचारे [१२१२]भेदाभेदव्यवस्थितेरपि व्यभिचारप्रसक्तेः कुतो न तत्सङ्करप्रसक्तिः ? सुदूरमपि गत्वा वस्तुस्वभावावलम्बनादेव तत्परिहारमिच्छता [१२१३]वस्तुस्वभावावेव भेदाभेदौ [१२१४]परेणाभ्युपगन्तव्यौ। [१२१५]ततो [१२१६]यदभिन्नं साधारणं [१२१७]वस्तुरूपं तदेव सामान्यं सिद्धम्। न [१२१८]पुनरन्यापोहमात्रं [१२१९]विकल्पबुद्धिपरिनिष्ठितम्, यतः करोतिसामान्यं यज्यादिविशेषव्यापि वास्तवं न भवेत्। तदुपलम्भेऽपि च विशेषे सन्देहोऽनुपलभ्यमानेऽपि स्मृतिविषये न [१२२०]स्यात्।

(प्रज्ञाकरः सामान्यं विशेषादभिन्नं मन्यमानो वदति—भोः भाट्ट ! बुद्धिभेदादेव पदार्थभेदव्यवस्था, स एव वास्तवो न सामान्यं वास्तवं बुद्ध्यभेदात्।

एतन्मतमपि भाट्टो निरस्यति)

१०५. [१२२१]ननु च [१२२२]स्थाणुपुरुषविविक्तमपरमूर्ध्वतासामान्यं [१२२३]यज्यादिविशेषव्यतिरिक्तं च [१२२४]करोति, सामान्यं न वास्तवमस्ति बुद्ध्यभेदात्। नहि बुद्धिभेदमन्तरेण [१२२५]पदार्थभेदव्यवस्थितिरस्त्य[१२२६]तिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

> **न भेदाद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं [१२२७]बुद्ध्यभेदतः।**
> **बुद्ध्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता।।४४।।**

१०६. [१२२८]तदेतदसदेव, [१२२९]सामान्यभेदयोर्बुद्धिभेदस्य सिद्धत्वात्। सामान्यबुद्धिर्हि तावद[१२३०]नुगताकारा विशेषबुद्धिः [१२३१]पुनर्व्यावृत्ताकाराऽनुभूयते। दूरादूर्ध्वतासामान्यमेव च प्रतिभाति न स्थाणुपुरुषविशेषौ, तत्र [१२३२]सन्देहात्। तद्विशेषपरिहारेण प्रतिभासनमेव[१२३३] सामान्यस्य [१२३४]ततो व्यतिरेकावभासनम्, एतावन्मात्रलक्षणत्वात्तद्व्यतिरेकस्य। [१२३५]यदप्युक्तम्—

> **[१२३६]ताभ्यां [१२३७]तद्व्यतिरेकश्चेत् किन्नादूरेऽवभासनम्।**
> **दूरेऽवभासमानस्य[१२३८] सन्निधाने[१२३९]ऽतिभासनम्।।४५।।**

१०७. [१२४०]तदप्ययुक्तम्, विशेषेऽपि समानत्वात्। सोऽपि हि [१२४१]यदि सामान्याद्व्यतिरिक्तस्तदा दूरे वस्तुनः स्वरूपे सामान्ये प्रतिभासमाने किन्न प्रतिभासते ? न हीन्द्रधनुषि [१२४२]नीले रूपे प्रतिचाकसति पीतारूपं दूरान्न प्रतिपत्तॄणामिति[१२४३] न प्रतिचकास्ति। [१२४४]अथ निकटदेशसामग्री विशेषप्रतिभासस्य जनिका न दूरदेशवर्तिनां प्रतिपत्तॄणामिति न विशेषप्रतिभासः[१२४५], तर्हि [१२४६]सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री काचिन्निकटदेशवर्त्तिनां नास्ति, ततो न निकटे तत्प्रतिभासनमिति समः समाधिः। अस्ति च निकटे [१२४७]सामान्यस्य प्रतिभासनं स्पष्टम्, विशेषप्रतिभासनवत्। यादृशं तु दूरे तस्यास्पष्टं प्रतिभासनं तादृशं न निकटे विशेषप्रतिभासनवदेव। विशेषो हि यथा दूरादस्पष्टः प्रतिभाति न

तथा [१२४८]सन्निधाने, [१२४९]स्वसामग्र्यभा[१२५०]वात्। [१२५१]अत एव च न सामान्यप्रतिभासने विशेषेष्वप्रतिभा[१२५२]समानेष्वस्पष्टप्रतिभासव्यवहा[१२५३]रः, प्रतिभासमानस्वरूपे एव सा[१२५४]मान्ये विशेषे वाऽस्पष्टव्यवहारदर्शनात्। न [१२५५]ह्यप्रतिभासिताऽन्यप्रतिभासिता [१२५६]वा कस्यचिदस्पष्टप्रतिभासिता। [१२५७]किं तर्हि ? [१२५८]कुतश्चिद् दृष्टादृष्टकारणकलापादस्पष्टज्ञानोत्पत्तिरर्थेष्व[१२५९]स्पष्टता, विषयिधर्मस्य विषयेषूपचारात्। संवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता धर्मः, स्पष्टतावत्। त[१२६०]स्यां विषयधर्मत्वे सर्व[१२६१]दा त[१२६२]था प्रतिभासप्रसङ्गात् [१२६३]कुतः प्रतिभासपरावृत्तिः [१२६४]स्यात्। न चा[१२६५]स्पष्टं संवेदनं निर्विषयमेव, [१२६६]संवादकत्वात्, [१२६७]स्पष्टसंवेदनवत्। [१२६८]क्वचिद्विसंवाददर्शनात् सर्वत्र विसंवादे स्पष्टसंवेदनेऽपि [१२६९]तत्प्रसङ्गात्। ततो [१२७०]नैतत्साधु—

> **[१२७१]बुद्धिरेवातदाकारा [१२७२]तत उत्पद्यते [१२७३]यदा।**
> **तदाऽस्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मतः ।।४६।।**

१०८. चन्द्रद्वया[१२७४]दिप्रतिभासे तद्व्यवहारप्रसक्तेः। [१२७५]न च **मीमांसका**नां सामान्यं [१२७६]विशेषेभ्यो भिन्नमेवाऽभिन्न[१२७७]मेव वा, तस्य कथञ्चित्ततो भिन्नाभिन्नात्मनः प्रतीतेः। प्रमाणसिद्धे च सामान्यविशेषात्मनि जात्यन्तरे वस्तुनि तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मकत्वोपपत्तेर्न काचिद् बुद्धिरविशे[१२७८]षाकारा सर्वथास्ति। नाप्यसामान्याकारा, सर्वदा उभयाकारायास्तस्याः प्रतीतेः।

(बुद्धेरर्थाकारत्वं बौद्धाभिमतं निराकरोति)

१०९. न चार्थाकारा [१२७९]बुद्धिः, तस्या निराकारत्वात्, [१२८०]तत्र प्रतिभासमानस्याकारस्यार्थधर्मत्वात्। [१२८१]न च निराकारत्वे संवेदनस्य प्रतिकर्मव्यवस्था ततो विरुध्यते, प्रतिनियतसाम[१२८२]ग्रीवशात् प्रतिनियतार्थव्यवच्छेद[१२८३]कतया तस्योत्पत्तेः प्रतिकर्मव्यवस्थासिद्धेः। [१२८४]साकारज्ञानवादिनामपि तथाभ्युपग[१२८५]मस्यावश्यम्भावितवात्। [१२८६]अन्यथा सकलसमानाकारव्यवस्थापकत्वाप[१२८७]त्तेः संवेदनस्य तदसि[१२८८]द्धेः। ततोऽसामान्याकारा [१२८९]बुद्धिः सामान्यावभासिनी [१२९०]कुतश्चिदस्पष्टा कस्मिंश्चिद्वस्तुन्यविशे[१२९१]षाकारा च विशेषावभासिनीति दूरे सामान्यस्य प्रतिभासोऽस्पष्टः स्याद्विशेषस्य च कस्यचित्, [१२९२]सकलविशेषरहितस्य सामान्यस्य प्रतिभासासम्भवात्। [१२९३]न चोर्ध्वतासामान्ये विशेषे च प्रतिनियतदेश[१२९४]त्वादौ प्रतिभासमाने स्थाणुपुरुषविशेषयोः सन्देहानुपपत्तिः, तयोरप्रतिभासनात्, [१२९५]तत्प्रतिभासनसामग्र्यभावात्, अनुस्मरणे सति सन्देहघटनात्। [१२९६]तद्वत्पचति यजत इत्यादिक्रियाविशेषाप्रतिभासने करोतीतिक्रियासामान्यस्य प्रतिनियतदे[१२९७]शादिरूपस्य प्रतिभासने युक्तः सन्देहः किं करोतीति ! [१२९८]तथा प्रश्ने च पचति यजते इत्यादि प्रतिवचनं न दुर्घटम्, कथञ्चि[१२९९]त्पृष्टस्यैव प्रतिपादनात्। एवं [१३००]च यजनादिक्रियाविशेषाणां साधारणरूपा करोतीति क्रिया [१३०१]कथञ्चि[१३०२]त्ततो व्यतिरेकेणोपलभ्यमाना [१३०३]कर्तृव्यापाररूपाऽर्थभावना विभाव्यत एव, शब्दव्यापाररूपशब्दभावनावत् सकलबाधकरहितत्वनिर्णयात्। सैव [१३०४]च वाक्यार्थो न पुनर्नियोगोऽन्यापोहादिवदिति **भट्टसम्प्रदाय** एव संवादकः सिद्धः। [१३०५]कार्ये [१३०६]चार्थे **चोदना**याः प्रमाण्यं तत एव, न स्वरूपे[१३०७] तत्र बाधकसद्भावात्सर्ववेदान्तवादनिराकरणान्न भट्टस्य कश्चिदपि प्रतिघात इति कश्चि[१३०८]त्।

(इतो ग्रन्थकृद् भावनावाक्यार्थं मन्यमानानां भाट्टानामपि मतमपाकरोति)

११०. अत्र प्रतिविधीयते[१३०९]—यत्तावदुक्तं[१३१०] 'शब्दव्यापारः शब्दभावना' इति, तत्र शब्दात्तद्व्यापारोऽनर्थान्तरभूतोऽर्थान्तरभूतो वा स्यात्? यद्यर्थान्तरभूतस्तदा कथमभिधेयः, शब्दस्य स्वात्मवत्[१३११]। न ह्येकस्यैवानंशस्य[१३१२] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो युक्तः, संवेद्यसंवेदकभाववत्[१३१३], स्वेष्टविपर्यासेन[१३१४] तद्भावापत्तेः[१३१५], प्रतिनियमहेत्वभावात्[१३१६]। तद्भेदपरिकल्पनया[१३१६(क)] प्रतिभाद्यप्रतिपादकभावे[१३१६(ख)] तस्य सांवृतत्वप्रसङ्गात्[१३१६(ग)]। स्वरूपमपि[१३१७] शब्दः श्रोत्रेण गम्यति बहिरर्थवत्[१३१८] स्वव्यापारेण[१३१९], ततस्तस्य[१३२०] प्रतिपादक इति चेत्; न[१३२१]; रूपादीनामपि स्वरूपप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात्[१३२२]। तेऽपि[१३२३] हि स्वं स्वं स्वभावं चक्षुरादिभिर्गमयन्ति[१३२४], चक्षुरादीनां[१३२५] स्वातन्त्र्येण तत्र प्रवर्त्तनात्[१३२६], तत्प्रयोज्यत्वात्[१३२७], तेषां च रूपादीनां निमित्तभावेन प्रयोजकत्वात्[१३२८], स्वयमधीयानादीनां[१३२९] कारीषाग्न्यादिवत्।

१११. अथ[१३३०] रूपादयः प्रकाश्या एव ततोऽर्थान्तरभूतानां चक्षुरादीनां प्रकाशकादीनां सद्भावात्, इति मतम्; तथैव[१३३१] शब्दस्वरूपं प्रकाश्यमस्तु, ततोऽन्यस्य श्रोत्रस्य प्रकाशकस्य भावात्।

११२. सत्यमेतदिन्द्रिय[१३३२]बुद्धेर्विषय[१३३३]भावमनुभवन् प्रकाश्य एव शब्दः, रूपादिवत्। प्रतिपादकस्तु स्वरूपे शाब्दीं बुद्धिमुपजनयन्नभिधीयत इति चेत्; न[१३३४]; तत्र वाच्यवाचकभावसम्बन्धाभावात्। तस्य च द्विष्ठत्वे[१३३५]नैकत्रानवस्थितेः[१३३६]।

११३. यदि पुनरर्थान्तरभूत[१३३७] एव शब्दात्तद्व्यापार इति मतम्, तदा[१३३८] स शब्देन प्रतिपाद्यमानो व्यापारान्तरेण[१३३९] प्रतिपाद्यते चेत्तर्हि[१३४०] तद्भाव्यः[१३४१] स्यात्। व्यापारान्तरं तु भावनानुषज्येत[१३४२]। तदपि यदि शब्दादर्थान्तरं तदा तद्भाव्यं व्यापारान्तरेणं स्यात्। तत्तु भावनेत्यपरापरभाव्यभावनापरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गः।

११४. अथ[१३४३] वाक्यात्तद्व्यापारः[१३४४] कथञ्चिदनर्थान्तरम्, विष्वग्भावेना[१३४५]नुपलभ्यमानत्वात्, कुण्डादेर्बदरादिवत्[१३४६]। कथञ्चिदर्थान्तरं च विरुद्धधर्माध्यासात्[१३४७]। तदनुत्पादेऽप्युत्पादात्[१३४८], तदविनाशे[१३४९]ऽपि च विनाशात्, आकाशान्धकारवत्, इति मतम्; तदा[१३५०]ऽप्युभय[१३५१]दोषानुषङ्गः।

(भट्टो जैनानां संवेदनमाश्रित्य स्वपक्षं साधयितुं प्रयतते)

११५. स्यान्मतम्[१३५२]—अग्निष्टोमादिवाक्यमुपलभ्यमानं पुरुषव्यापारस्य[१३५३] भावकमिदमित्यनुभवा[१३५४]द्वाक्यस्थ एव तद्व्यापारो भावना वाक्यस्य विषयतां समञ्चति[१३५५], तथा प्रतीतेः[१३५६]। अन्यथा सर्वत्र[१३५७] विषयविषयिभावसम्भावनाविरोधात्। संवेदनमपि[१३५८] हि भवतां[१३५९] स्वव्यापारं[१३६०] विषयीकुर्वन् तदनर्थान्तरभूतमर्थान्तरभूतं वा कथञ्चिदुभयस्वभावं वा संवेदयेत्[१३६१]? प्रथमपक्षे न संवेद्यसंवेदकभावः, संवेदनतद्व्यापारयोः सर्वथाऽनर्थान्तरत्वात्, वाक्यतद्व्यापारयोः[१३६२] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाववत्। द्वितीयपक्षेऽपि न तयोस्तद्भावः, अनवस्थानुषङ्गात्[१३६३], तद्वत्। तृतीयपक्षे तु तदुभयदोषप्रसक्तिः[१३६४], तद्वदेव। कुतः संवेद्यसंवेदकभावः सिध्येत्? स्वार्थसंवेदनमेव[१३६५] व्यपारविशिष्टं[१३६६] संवेदनमबाधमनुभूयमानं विकल्पशतेनाप्यशक्यनिराकरणं संवेद्यसंवेदकभावं साधयतीत्यभिधाने[१३६७] परस्यापि[१३६८] शब्दः स्वव्यापारविशिष्टः[१३६९] पुरुषव्यापारं भावयतीत्य[१३७०]बाधकप्रतीतिसद्भावाद्वाक्यव्यापारो भावनावाक्यस्य[१३७१] विषयो व्यवतिष्ठते एवेति।

(जैनो भट्टस्यैतन्मतं समुत्सारयति)

११६. [१३७२]तदनुपपन्नम्, [१३७३]वैषम्यात्[१३७४]। संवेदनेन हि [१३७५]संवेद्यमानः [१३७६]स्वात्माऽर्थो वा [१३७७]तस्य विषयः, न पुनः संवेदकः स्वात्मा। [१३७८]तत्संवेद्यत्वे[१३७९]ऽन्यस्य [१३८०]संवेदनस्यात्मनः [१३८१]संवेदकत्वोपपत्तेराकाङ्क्षा[१३८२]परिक्षयादनवस्थानवतारात्। [१३८३]वाक्येन तु [१३८४]भाव्यमानः पुरुषव्यापारो न तस्य विषयः। [१३८५]स्वव्यापारस्तु [१३८६]भावकत्वलक्षणो भावनाख्यो विषयोऽ[१३८७]भ्युपगम्यते इति चेत्; न; [१३८८]कश्चिद्वाक्यश्रवणादेव [१३८९]प्रत्येति—स्वव्यापारोऽनेन वाक्येन मम मनागपि न साम्यम्, तथाप्रतीत्यभावाच्च। न हि कश्चिद्वाक्यश्रवणादेव प्रत्येति—स्वव्यापारोऽनेन वाक्येन प्रतिपादित इति। किं तर्हि ? [१३९०]जात्यादिविशिष्टोऽर्थः [१३९१]क्रियाख्योऽ[१३९२]नेन प्रकाशित इति प्रतीतिः, सर्वेण वाक्येन क्रियाया एव कर्मादिविशेषणविशिष्टायाः प्रकाशनात्, देवदत्त गामभ्याज [१३९३]शुक्लां [१३९४]दण्डेनेत्यादिवत्। [१३९५]सैवाभ्याजनादिव्यवच्छिन्ना क्रिया भावना अभ्याज अभ्याजनं कुर्विति प्रतीतेरिति चेत्; [१३९६]न; तस्याः पुरुषस्थत्वेन सम्प्रत्ययाच्छब्दात्मभावनारूपत्वायोगात्। [१३९७]तथा च कथमिदमवतिष्ठते—

शब्दात्मभावनामाहुर[१३९८]न्यामेव लिङादयः ।।४७।। (   ) इति ।

११७. [१३९९]यदप्युक्तम्, अर्थभावना पुरुषव्यापार[१४००]लक्षणा वाक्यार्थ इति; तदप्ययुक्तम्; नियोगस्य वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्। नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन यागादाविति प्रतिपत्तुः प्रतीते। [१४०१]इष्टस्तादृशो नियोगो [१४०२]भावनास्वभावः शुद्धकार्यादिरूपस्यैव नियोगस्य निराकरणादिति चेत्; [१४०३]न; तस्यापि प्रधानभावार्पितस्य [१४०४]करोत्यर्थादिविशेषण[१४०५]स्य वाक्यार्थत्वोपपत्तेः। निरपेक्षस्य तु करोत्यर्थस्यापि वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः। न च करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इति युक्तम्, यज्याद्यर्थस्यापि वाक्यार्थतयाऽ[१४०६]नुभवात्। करोतिसामान्यस्य सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वम्, '[१४०७]नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः' (   ) इति वचनात्। न पुनर्यज्यादिक्रियाविशेषाः, [१४०८]तेषामनित्यत्वाच्छब्दार्थताऽ[१४०९]घटनात्; इति [१४१०]चेत्; न; यज्यादिक्रियासामा[१४११]न्यस्य सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो [१४१२]नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वा[१४१३]विशेषात्। सर्वक्रियाव्यापित्वात्करोतिसामान्यं शब्दार्थ इति [१४१४]चेत्, तर्हि [१४१५]सत्तासामान्यं [१४१६]शब्दार्थोऽस्तु करोतावपि तस्य सद्भावात्, [१४१७]महाक्रिया[१४१८]सामान्य[१४१९]रूपत्वात्। यथैव हि पचति पाकं करोति, यजते यागं करोतीति प्रतीतिस्तथा पचति पाचको भवति, यजते याजको भवति, करोति कारको भवतीत्यपि प्रत्ययोऽस्ति। ततः [१४२०]करोतीतरार्थव्यापित्वा[१४२१]द्भवत्यर्थस्यैव [१४२२]शब्दार्थत्वं [१४२३]युक्तमुत्पश्यामः।

(क्रियारहितवस्तुन्यपि भवत्यर्थो वर्तत एव। ततो न भवत्यर्थस्य क्रियास्वभावत्वमिति भट्टेनोक्ते जैनस्तद् दूषयति)

११८. स्यान्मतम्—'[१४२४]निर्व्यापारेऽपि वस्तुनि भवत्यर्थस्य क्रियास्वभावत्वम्, [१४२५]निष्क्रियेषु गुणादिषु [१४२६]भावनाऽभावप्रसङ्गात्' (   ) इति चेत्; न; करोत्यर्थेऽपि समानत्वात्। [१४२७]परिस्पन्दात्मकव्यापाररहितेऽपि करोत्यर्थस्य भावात्, तिष्ठति स्थानं करोतीति प्रतीतेः। गुणादिषु [१४२८]च करोत्यर्थाभावे सर्वथा कारकत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः। [१४२९]तत एव करोत्यर्थो व्यापकः, [१४३०]सति सर्वत्र भावात्। [१४३१]अन्यथा तस्याकारकत्वेनावस्तुत्वात्सत्त्वविरोधात्। [१४३२]भवनक्रियेत्यादिव्यवहारदर्शना[१४३३]च्च सत्ता करोत्यर्थविशेषणमेव, करोत्यर्थस्यैव सर्वत्र प्राधान्याद्वाक्यार्थत्वमिति चेत्; [१४३४]न; [१४३५]तस्य नित्यस्यैकस्यानंशस्य सर्वगतस्य सर्वथा विचार्यमाणस्यासम्भवात्।

(करोत्यर्थसामान्यं नित्यमिति वदतो भट्टस्य मतं निराक्रियते)

११९. 'नित्यं[१४३६] करोत्यर्थसामान्यम्, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, शब्दवत्' इति चेत्; न[१४३७]; हेतोर्विरुद्धत्वात्, कथञ्चिन्नित्यत्वस्येष्टविरुद्धस्य साधनात्[१४३८], सर्वथा नित्यस्य प्रत्यभिज्ञानायोगात्, तदेवेदमिति पूर्वोत्तरपर्यायव्यापिन्येकत्र[१४३९] प्रत्ययस्योत्पत्तेः, पौर्वापर्य[१४४०]रहितस्य पूर्वापरप्रत्यय[१४४१]विषयत्वासम्भवात्। धर्मावेव[१४४२] पूर्वापरभूतौ न धर्मिसामान्यमिति चेत्, कथं[१४४३] तदेवेदमित्य[१४४४]भेदप्रतीतिः ? पूर्वापरस्वरूपयोरतीतवर्तमानयोस्तदित्यतीतपरामर्शिना स्मरणेनेदमिति वर्त्तमानोल्लेखिना प्रत्यक्षेण च विषयीक्रियमाणयोः परस्परं भेदात्[१४४५]। करोति[१४४६]सामान्यादेकस्मात्तयोः कथञ्चिदभेदादभेदप्रतीतिरिति चेत्, सिद्धं[१४४७] तस्य कथञ्चिदनित्यत्वम्, अनित्यस्वधर्मा[१४४८]व्यतिरेकात्। न[१४४९] ह्यनित्यादभिन्नं नित्यमेव युक्तमनित्यस्वात्मवत्। सर्वथा नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च। तदनित्यं सामान्यम्, विशेषादेशात्[१४५०], शब्दवत्। तत एवानेकं तद्वत्।

(करोतिसामान्यमेकमित्यपि भाट्टस्य मतं दूषयति)

१२०. करोतीति[१४५१] स्वप्रत्ययाविशेषादेकं करोतिसामान्यम्, सदिति स्वप्रत्ययाविशेषादेकसत्तासामान्यवत्; इति चेत्; न; सर्वथा स्वप्रत्ययाविशेषस्या[१४५२]सिद्धत्वात्[१४५३]। प्रतिकरोत्यर्थ[१४५४]व्यक्ति करोतीति प्रत्ययस्य[१४५५] विशेषात्[१४५६], प्रतिसद्व्यक्ति सदितिप्रत्ययवत्। तद्व्यक्तिविषयो विशेषप्रत्यय[१४५७] इति चेत्, तर्हि[१४५८] या व्यक्तयः[१४५९] सामान्यात्[१४६०]सर्वथा यदि भिन्नाः प्रतिपाद्यन्ते, तदा **यौगमतप्रवेशो मीमांसकस्य**। अथ[१४६१] कथञ्चिदभिन्नाः[१४६२], तदा सिद्धं सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वम्, विशेषप्रत्ययविषयेभ्यो विशेषेभ्यः कथञ्चिदभिन्नस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वोपपत्तेः, विशेषस्वात्मवत्। ततोऽनेकमेव[१४६३] करोतिसामान्यम्, सत्तासामान्यवत्।

(करोतिसामान्यमनंशमिति मन्यमानस्य भाट्टस्य मतं दूषयति)

१२१. नाप्यनंशम्[१४६४], कथञ्चित्सांशत्वप्रतीतेः, सांशेभ्यो[१४६५] विशेषेभ्यो[१४६६]ऽनर्थान्तरभूतस्य[१४६७] सांशत्वोपपत्तेः, तत्स्वात्मवत।

(इत्थमेव तत्सर्वगतत्वाभ्युपमे तन्मतं दूषयति)

१२२. तथा[१४६८] न सर्वगतं तत्सामान्यम्, व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वात्। तत्रानभिव्यक्तत्वात्तस्यानुपलम्भ[१४६९] इति चेत्, तत[१४७०] एवं व्यक्तिस्वात्मनोऽपि तत्रानुपलम्भो[१४७१]ऽस्तु। तस्य तत्र सद्भावावेदक-प्रमाणाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भ इति चेत्, सामान्यस्यापि विशेषाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भोऽस्तु, व्यक्त्यन्तराले तस्यापि सद्भावावेदकप्रमाणाभावात् प्रत्यक्षं[१४७२]तस्तथाननुभावात्, खरविषाणादिवत्।

(व्यक्त्यन्तराले सामान्यसाधने दूषणं प्रदर्शयति)

१२३. व्यक्त्यन्तराले[१४७३]ऽस्ति सामान्यम्, युगपद्भिन्न[१४७४]देशस्वाधारवृत्तित्वे[१४७५] सत्येकत्वात्, वंशादिवत्[१४७६], इत्यनुमानात्तत्र तत्सद्भावसिद्धिः, इति चेत्; न[१४७७]; हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्[१४७८]। न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु

सामान्यमेकम्, यथा स्थूणादिषु वंशादि[१४७९]रिति प्रतीयते, यतो युगपद्भिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वं[१४८०] तस्यं[१४८१] सिध्यत् स्वाधारान्तरालेऽस्तित्वं साधयेत्। प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य भेदाद्विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत्। यथैव[१४८२] हि काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमाना[१४८३] व्यक्त्यन्तराद्[१४८४]विशिष्टा[१४८५] विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामदर्शनात्किञ्चित्केनचित्[१४८६]समानम[१४८७]वसीयत इति निर्बाधमेव, तेनायं समानः, सोऽनेन समान इति समानप्रत्ययात्।

(भाट्टस्य शङ्का निराकुर्वन् सामान्यस्य सदृशपरिणामरूपत्वेनानेकत्वं समर्थयति)

१२४. ननु[१४८८] पूर्वमननुभूतव्यक्त्यन्तरस्यैक[१४८९]व्यक्तिदर्शने समानप्रत्ययः भवति, तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्, तवापि विशिष्ट[१४९०]प्रतीतिः कस्मान्न भवति वैसादृश्य[१४९१]भावात् । परापेक्ष[१४९२]त्वाद्विशिष्टप्रतीतेरिति चेत्, तत एव तत्र[१४९३] समानप्रत्ययो[१४९४]ऽपि मा भूत्। न हि स परापेक्षो न भवति, परापेक्षामन्तरेण (तस्य) क्वचित्कदाचिदप्यभावात्, द्वित्वादि[१४९५]प्रत्ययवद्दूरत्वादिप्रत्ययवद्वा। द्विविधो हि वस्तुधर्मः परापेक्षः परानपेक्षश्च, वर्णादिवत्[१४९६]स्थौल्यादिवच्च।

(पुनरपि भाट्टः शङ्कते—सामान्यस्य सदृशपरिणामरूपत्वे स एवायं गौरिति प्रत्ययः शबलं दृष्ट्वा धवलं पश्यतः कथं घटेतेति शङ्कां निरस्यन्नाह)

१२५. ननु[१४९७] च सादृश्ये[१४९८] सामान्ये स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं शबलं[१४९९] दृष्ट्वा धवलं पश्यतो घटेतेति चेत्, एकत्वोपचारा[१५००]दिति ब्रूमः[१५०१]। द्विविधं ह्येकत्वं मुख्यमुपचरितं चेति। मुख्यमात्मादिद्रव्ये, सादृश्ये तूपचरितमिति। मुख्ये तु[१५०२] तत्रैकत्वे तेन[१५०३] समानोऽयमिति प्रत्ययः कथमुपपद्येत[१५०४]? तयोरेक[१५०५]सामान्ययोगादिति चेत्; न[१५०६]; सामान्यवन्ताविति प्रत्यय[१५०७]प्रसङ्गात्। अभेदोपचारे[१५०८] तु सामान्यतद्वतोः सामान्यमिति प्रत्ययः स्यात्, न तेन समानोऽयमिति। यष्टिसहचरितः पुरुषो यष्टिरिति यथा, यष्टिपुरुषयोरभेदोपचारात्[१५०९]। मृण्मये[१५१०-११] गवि सत्यगवसदृशे गोसादृश्यस्य सामान्यस्य भावाद्गोत्वजातिप्रसङ्ग इति चेत्; न[१५१२]; सत्यगवय[१५१३]व्यवहारहेतोः सादृश्यस्य तत्राभावात्[१५१४], तद्भावे तस्य सत्यत्वप्रसङ्गात्। भावैः[१५१५]गवादिभिः स्थापना[१५१६]गवादेः सादृश्यमात्रं तु **गवादिमात्र[१५१७]**व्यवहारकारणं तदेकजातित्व[१५१८]निबन्धनमनुरुध्येत[१५१९] एव सत्त्वादिसादृश्यवत्। ततो न **मीमांसकाभ्यु[१५२०]**पगतस्वभावं करोतिसामान्यमुपपद्यते यत्सकल[१५२१]यज्यादिक्रियाविशेषव्यापि कर्तृव्यापाररूपभावनाख्यां प्रतिपद्यमानं वाक्येन[१५२२] विषयीक्रियेत। प्रतिनियतक्रियागत[१५२३]स्य तु करोतिसामान्यस्य शब्दविषयत्वे यज्यादिसामान्यस्य[१५२४] कथं तद्वि[१५२५]निवार्येत, येन तदपि[१५२६] वाक्यार्थो न स्यात्।

१२६. तदेवं भावनावाक्यार्थसम्प्रदायो न श्रेयान्, बाधकसद्भावान्नियोगादिवाक्यार्थसम्प्रदायवदिति श्रुति[१५२७]सम्प्रदायावलम्बिनां मतम्। **"अत एव न कश्चित्सर्वज्ञः" इत्युक्तम्[१५२८], श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्ते[१५२९]रि**ति सूक्तम्।

(तदेवाकलङ्कविवृतमष्टसहस्रीकारः स्पष्टयति)

१२७. यथैव[१५३०] हि सुगतादयः परस्परविरुद्धक्षणिकनित्याद्येकान्तसमयाभिधायिनः सर्वे न सर्वदर्शिन इति न

कश्चित्सर्वज्ञस्तथा श्रुतयोऽपि परस्परविरुद्धकार्यार्थ[१५३१]स्वरूपाद्य[१५३२]र्थाभिधायिन्यः सर्वा न प्रमाणभूता[१५३३] इति न काचिदपि श्रुतिः प्रमाणं स्यात्। न हि कार्येऽर्थे श्रुतिरपौरुषेयी[१५३४], न पुनः[१५३५] स्वरूपे, येनापौरुषेयत्वात्तदन्यतरश्रुतिजनितमेव ज्ञानं प्रमाणं दोषवर्जितैः कारणैर्जनितत्वादुपपद्यते[१५३६]। बाधवर्जितत्वं[१५३७] तु नैकत्राप्यस्ति[१५३८] हिंसाद्यभिधायिनः "श्वेतमजमालभेत भूतिकामः' ( ) इत्यादेः[१५३९] "सधनं हन्यात्" ( ) इत्यादेरिव धर्मे प्रमाणत्वानुपपत्तेः। [१५४०]पुरुषाद्वैताभिधायिनश्च "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ( ) इत्यादेः 'सर्वं प्रधानमेव[१५४१]' ( ) इत्यादेरिव स्वविषये प्रमाणत्वायोगात्। अपूर्वार्थत्वं[१५४२] पुनः सर्वस्याः श्रुतेरविशिष्टम्, प्रमाणान्तराप्रतिपन्ने धर्मादौ परब्रह्मादौ च प्रवृत्तेः। न[१५४३] च काचिच्छ्रुतिः स्वयं[१५४४] प्रतिपादयत्यन्यव्यवच्छेदेन कार्ये एवार्थे अहं प्रमाणं[१५४५] न स्वरूपे, स्वरूपे एव वा न कार्येऽर्थे सर्वथेत्यविशेषः सिद्धः।

(अत्र मीमांसकः श्रुतेः स्वत एव स्वार्थप्रतिपादनं साधयति)

१२८. ननु[१५४६] च पदानि तावल्लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि तेष्वेव वेदे, तेषाम[१५४७]ध्याहारा[१५४८]दिभिरर्थस्यापरिकल्पनीयत्वादपरिभाषितव्य[१५४९]त्वाच्च। सति सम्भवे[१५५०] लौकिकपदार्थज्ञश्च विद्वानश्रुतपूर्वं काव्यादिवाक्यार्थमवबुध्यमानो दृष्टस्तद्व[१५५१]च्छ्रुतिवाक्यार्थमपि कश्चित्स्वत[१५५२] एवाश्रुतपूर्वमवबोद्धुमर्हतीति युक्तं श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनमिति कश्चित्[१५५३]।

(जैनस्तद्दूषयन्नाह)

१२९. सोऽपि न परीक्षाचतुरः, सर्वस्याः श्रुतेस्तथाभावा[१५५४]विशेषात्। न[१५५५] च भावनैव नियोग एव वा लौकिकवाक्यस्यार्थः शक्यः प्रतिष्ठापयितुम्, येन वैदिकवाक्यस्यापि स एवार्थः स्यात्। नापि सन्मात्रविधिरेव कस्यचिद् वाक्यस्यार्थः शक्यप्रतिष्ठः, येन श्रुतिवाक्यस्यापि स एवार्थोऽन्ययोगव्यवच्छेदेन स्यात्, [१५५६]तत्रानेकबाधकोपन्यासात्। ततः सुगता[१५५७]दिवच्छ्रुतयोऽपि न प्रमाणमित्यायातम्।

(अधुना चार्वाकमतमुपस्थापयति तद्दूषयति च)

१३०. **तथेष्टत्वाद[१५५८]दोष इत्येकेषाम[१५५९]प्रमाणि[१५६०]कैवेष्टिः**। न कश्चित्तीर्थकरः प्रमाणम्, नापि समयो वेदोऽन्या वा तर्कः[१५६१], परस्परविरोधात्[१५६२]।

तर्को[१५६३]ऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना[१५६४] नासौ[१५६५] मुनिर्[१५६६]यस्य वचः प्रमाणम्।
[१५६७]धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन[१५६८] गतः स पन्थाः ।।४८।।

( ) इति वचनात्।

१३१. कश्चिद् देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिर्भवेत् संवादकः[१५६९], प्रत्यक्षसिद्धपृथिव्यादितत्त्वोपदेशात्, इति[१५७०]
लौकायतिकानामिष्टिरप्रामाणिकैव, प्रत्यक्षतस्तद्व्य[१५७२]वस्थापनासम्भवात्। **न**
प्रत्यक्षमेकमेव[१५७१] प्रमाणमिच्छन्ति ये तेषां सर्वज्ञस्य[१५७४] हि मुनेः प्रमाणान्तरस्य च
खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणा[१५७३]न्तराभावविषयम्, अतिप्रसङ्गात्। यदि किञ्चित्[१५७५] प्रत्यक्षं[१५७६] व्यवस्थापयेत् तत्राप्रवर्त्तमानत्वात्[१५७७], तदा
वेदाद्यागमस्यानुमानस्य च तर्काख्यस्याभावं

[१५७८]पुरुषान्तरादिप्रत्यक्षान्तराणामप्यभावं तदेव गमयेत्, तद्विषयाणां च [१५७९]क्ष्मादीनाम्, इत्यतिप्रसङ्गः, स्वयमिष्टस्य **बृहस्पत्**यादिप्रत्यक्षस्यापि [१५८०]सविषयस्याभावसिद्धेः।

(चार्वाकः प्रत्यक्षं तद्विषयं पृथिव्यादिकं च प्रत्यक्षान्तरेण व्यवस्थापयति, जैनस्तन्निराकरोति)

१३२. [१५८१]अथ प्रत्यक्षान्तरं [१५८२]स्वयमात्मानं व्यवस्थापयति पृथिव्यादि स्वविषयं च, तत्र प्रवर्त्तनात्, अतो न तदभावप्रसङ्गः, इति मतम्, तर्हि [१५८३] सर्वज्ञोऽपि स्वसंवेदनादात्मानं स्वर्गापूर्वादिविषयं[१५८४] च व्यवस्थापयतीति कथं [१५८५]तदभावसिद्धिः ? [१५८६]प्रमाणान्तरस्य च तद्वचनस्याहेतुवादरूपस्य [१५८७]हेतुवादरूपस्य च स एव व्यवस्थापकः स्यादिति [१५८८]कुतस्तदभावसिद्धिः ?

१३३. सर्वज्ञः[१५८९] स्वपरव्यवस्थापकोऽस्तीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्, [१५९०]स्वप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः[१५९१] [१५९२]प्रत्यक्षान्तरं स्वपरविषयमस्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ? [१५९३]तथाप्रसिद्धिरन्यत्रापीति न प्रत्यक्षं तदभावावेदकम्, अतिप्रसङ्गस्य[१५९४] दुष्परिहरत्वात्।

(चार्वाको यदि अनुमानेन प्रत्यक्षं तद्विषयं च साधयेत् तदा परो दोषानाह)

१३४. **नानुमानम्[१५९५], असिद्धेः**। [१५९६]प्रत्यक्षमेकमेव [१५९७]प्रमाणम्, अगौणत्वात्[१५९८]प्रमाणस्य[१५९९], अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः, [१६००]सामान्ये [१६०१]सिद्धसाधनाद्विशेषेऽनुगमाभावात्[१६०२]सर्वत्र विरुद्धाव्यभिचारिणः[१६०३] सम्भवात्, इति स्वयमनुमानं निराकुर्वन्ननुमानादेव सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावं व्यवस्थापयतीति कथमनुन्मत्तः ? प्रतिपत्तुः[१६०४] प्रसिद्धं हि प्रमाणं स्वप्रमेयस्य निश्चायकं नाप्रसिद्धम्, अतिप्रसङ्गादेव[१६०५]। [१६०६]परप्रसिद्धानुमानं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावग्राहकमिति चेत्, तत् [१६०७]परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणमन्तरेण वा ? यदि **प्रमाणतः सिद्धं नाऽनात्मसिद्धं नाम,** परस्येवात्मनोऽपि[१६०८] वादिनः सिद्धत्वात्, [१६०९]प्रमाणसिद्धस्य सर्वेषामविप्रतिपत्तिविषयत्वात्[१६१०], अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, प्रत्यक्षस्यापि[१६११] प्रमाणासिद्धस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वापत्तेरनात्मसिद्धत्वप्रसङ्गात्[१६१२]। ततो यत्परस्य[१६१३] प्रमाणतः सिद्धं तच्चार्वाकस्यात्मसिद्धम्, यथा प्रत्यक्षम्, प्रमाणसिद्धं च परस्यानुमानम्, तस्मान्नाऽनात्मसिद्धम्। [१६१४]अथ प्रमाणमन्तरेण सिद्धम्, एवं तवापि तत्सिद्धिप्रसङ्गोऽविशेषात्[१६१५]। **अन्यथा[१६१६] परस्यापि न सिद्ध्येत्,** अतिप्रसङ्गादेव। तथा हि—यत् प्रमाणमन्तरेण सिद्धं तत्परस्यापि न सिद्धम्, यथा तदनभिमतं तत्त्वम्, प्रमाणमन्तरेण सिद्धं च परस्यानुमानम्। तत्र सिद्धम्, [१६१७]स्वयमनभिमततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्[१६१८]। [१६१९]**तदिमे स्वयमेकेन [१६२०]प्रमाणेन सर्वं सर्वज्ञरहितं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं[१६२१] निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्,** अतिप्रसङ्गादेव। [१६२२]स्वयमनिष्टं ह्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमेषां[१६२३] स्यात्, [१६२४]इन्द्रियप्रत्यक्षेण सर्वज्ञरहितस्य पुरुषसमूहस्य संवेदनानुपपत्तेः[१६२५], [१६२६]प्रमाणान्तराभावस्येव प्रमाणान्तरमन्तरेण, इति सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञत्वाभावं प्रत्यक्षतः संविदन् सर्वज्ञः स्यात्। तथा सति व्याहतमेतत् सर्वज्ञप्रमाणान्तराभाववचनं[१६२७] **चार्वाकस्य**। प्रत्यक्षैकप्रमाणैषणं[१६२८] वा व्याहतमस्य, देशकालनरान्तरप्रत्यक्षाणां स्वयं प्रत्यक्षतः प्रामाण्यस्य साधने सर्वसाक्षात्कारित्वप्रसङ्गात्। संवादकत्वादिलिङ्गजनितानुमानात्तत्साधनेऽनुमानप्रामाण्यसिद्धिप्रसक्तेः। [१६२९]परस्य प्रसिद्धेनानुमानेन तत्प्रमाणताव्यवस्थापने [१६३०]स्वस्यापि तत्सिद्धेरनिवार्यत्वात्, [१६३१]अन्यथा परस्यापि तदप्रसिद्धेः। कुतः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं न पुनरन्यदिति व्यवस्था स्यात् ?

(अधुना चार्वाकमतं निराकृत्य 'तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः' इत्यकलङ्कोक्तवचनस्यैव

व्याख्यान्तरद्वारा तत्त्वोपप्लववादिमतमपि निरस्यति)

१३५. **तथेष्टत्वाददोष** [१६३२]**इत्येकेषामप्रामाणिकैवेष्टिः**। एके हि **तत्त्वोपप्लववादिनः** सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतमेवेच्छन्ति। तेषां प्रमाणरहितैव तथेष्टिः सर्वमनु[१६३३]पप्लुतमेवेतीष्टेर्न विशिष्यते।

('न खलु' इत्याद्यकलङ्कवचनस्यैव ग्रन्थकृत्तत्त्वोपप्लववादिमतेन व्याख्यान्तरं प्रदर्शयन् तन्मतं पुनरपि दूषयति)

१३६. न खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञ[१६३४]प्रमाणान्तराभावविषयम्, अतिप्रसङ्गात्। नानुमानम्, असिद्धेः। सर्वं हि [१६३५]प्रत्यक्षमनुमेयमत्यन्तपरोक्षं च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानि प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेषाः, तेषामभावं [१६३६]स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वा कथं व्यवस्थापयेत्, यतस्तद्विषयं स्यात्? [१६३७]तथा सति सर्वं प्रमाणं सर्वस्य[१६३८] स्वेष्टतत्त्व[१६३९]विषयं भवेदिति कुतस्तत्त्वोपप्लवः? [१६४०]परस्य सिद्धं प्रमाणं तदभावविषयमिति चेत्[१६४१], [१६४२]परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणमन्तरेण वा? यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम, प्रमाणसिद्धस्य नानात्मनां वादिप्रतिवादिनां सिद्धत्वाविशेषात्। [१६४३]अन्यथा [१६४४]परस्यापि न सिद्ध्येत्, प्रमाणमन्तरेण सिद्धस्यासिद्धत्वाविशेषात्। तदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा सकलतत्त्वपरिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त [१६४५]एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्, [१६४६]तथा **तत्त्वोपप्लववादि**त्वव्याघातात्।

(तत्त्वोपप्लववादिनोऽनुपप्लुतवादं दूषयन्ति)

१३७. [१६४७]ननु चानुपप्लुतवादिनो[१६४८]ऽपि [१६४९]प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं च प्रमाणतः सिद्ध्येत् प्रमाणमन्तरेण वा? प्रमाणतश्चेत्तदपि प्रमाणान्तरतः सिद्ध्येदित्यनवस्थानात्कुतः प्रमाणतत्त्वव्यवस्था? यदि पुन प्रथमं प्रमाणं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते, तदेतरेतराश्रयणान्नैकस्यापि व्यवस्था। [१६५०]स्वतः प्रमाणस्य प्रामाण्यव्यवस्थितेरयमदोष इति चेत्; न; सर्वप्रवादिनां तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। कुतश्चित्प्रमाणात्तद्विप्रतिपत्तिनिराकरणे तत्रापि प्रमाणान्तराद् विप्रतिपत्तिनिराकरणेन भाव्यमित्यनवस्थानमप्रतिहतप्रसरमेव। [१६५१]परस्परं विप्रतिपत्तिनिराकरणे चान्योन्यसंश्रयणं दुरुत्तरम्। प्रमाणमन्तरेण तु प्रमाणादितत्त्वं यदि सिद्ध्येत्, तदा तदुपप्लवव्यवस्थापि तथा दुःशक्या निराकर्त्तुम्।

१३८. [१६५२]स्यान्मतम्—विचारोत्तरकालं प्रमाणादितत्त्वव्यवस्थितिः। विचारस्तु यथाकथञ्चि[१६५३]त्क्रियमाणो [१६५४]नोपालम्भार्हः, सर्वथा[१६५५] वचनाभावप्रसङ्गादिति। [१६५६]एवं तर्हि तत्त्वोपप्लववादिनामपि विचारादुत्तरकालं तत्त्वोपप्लवव्यवस्था तथैवास्तु, सर्वथा विशेषाभावात्।

१३९. एवं च तत्र प्रमाणतत्त्वमेव तावद्विचार्यते[१६५७]—कथं प्रमाणस्य प्रामाण्यम्? [१६६२]यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, [१६५८]किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, बाधारहितत्वेन[१६५९], [१६६०]प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा[१६६१] वा?

तदा सैव कारकाणामदुष्टता कुतोऽवसीयते ? न तावत्प्रत्यक्षात्, नयनकुशलतादेः[१६६३] संवेदनकारणस्यातीन्द्रियस्यादुष्टतायाः प्रत्यक्षीकर्त्तुमशक्तेः। नानुमानात्, तदविनाभाविलिङ्गाभावात्। विज्ञानं[१६६४] तत्कार्यं लिङ्गमिति चेत्, न[१६६५]; विज्ञानसामान्यस्य तदव्यभिचारित्वाभावात्[१६६६]। प्रमाणभूतं[१६६७] विज्ञानं तल्लिङ्गमिति चेत्, कुतस्तस्य[१६६८] प्रमाणभूतताऽवसायः ? तददुष्टकारणारब्धत्वादिति चेत्, सोऽयमन्योन्याश्रयः। सिद्धे विज्ञानस्य प्रमाणभूतत्वे निर्दोषकारणारब्धत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च प्रमाणभूतत्वसिद्धिरिति।

१४०. किञ्च[१६६९], चक्षुरादिकारणानां गुणदोषाश्रयत्वे[१६७०] तदुपजनितसंवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तिर्न स्यात्, गुणदोषाश्रयपुरुषवचनजनितवेदनवत्। गुणाश्रयतयैव[१६७१] तन्निश्चये तदुत्थविज्ञाने दोषाशङ्कानिवृत्तौ पुंसोऽपि कस्यचिद् गुणाश्रयत्वेनैव निर्णये तद्वचनजनितवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तेः किमपौरुषेयशब्दसमर्थनायासेन[१६७२] ? अथ[१६७३] पुरुषस्य गुणाधिकरणत्वमेवाशक्यनिश्चयम्, परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात्[१६७४], तद्व्यापारादेः साङ्कर्यदर्शनात्, निर्गुणस्यापि[१६७५] गुणवत इव व्यापारादिसम्भवादुपवर्ण्यते, तर्हि[१६७६] चक्षुरादीनामप्यतीन्द्रियत्वसाङ्कर्योपलब्धेः कुतो गुणाश्रय-[१६७७]त्वनियमनिश्चयः शक्यः कर्त्तुम् ? कस्यचिदपौरुषेयस्यापि[१६७८] च ग्रहोपरागादेः शुक्लवस्त्रादौ पीतज्ञानहेतोरुपलक्षणाद्वेदस्यापौरुषेयस्यापि मिथ्याज्ञानहेतुत्वसंभावनायां कथमिव निश्शङ्कं **याज्ञिका**नां तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयः ? ततो नादुष्टकारकजन्यत्वेन कस्यचित्प्रमाणता।

(तत्त्वोपप्लववादी विकल्पचतुष्टये प्रथमविकल्पं 'अदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति मतं' दूषयित्वा 'बाधारहितत्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्यम्' इति द्वितीयविकल्पं दूषयति)

१४१. नापि बाधानुत्पत्त्या, मिथ्याज्ञानेऽपि[१६७९] स्वकारणवैकल्याद्[१६८०]बाधस्यानुत्पत्तिसम्भवात्[१६८१] प्रमाणत्वप्रसक्तेः। अथ[१६८२] यथार्थग्रहणनिबन्धना बाधानुत्पत्तिरप्रमाणाऽसंभवनी प्रमाणत्वसाधिनीति मतम्, कुतस्[१६८३]तस्याः[१६८४] सत्यार्थग्रहणनिबन्धनत्वनिश्चयः ? संविदः[१६८५] प्रमाणत्वनिश्चयादिति चेत्, परस्पराश्रयः[१६८६]। सति प्रमाणत्वनिश्चये संवेदनस्य यथार्थग्रहणनिबन्धनबाधानुत्पत्तिनिर्णयस्तस्मिँश्च सति प्रमाणत्वनिश्चय इति। अन्यतः[१६८७] प्रमाणत्वनिश्चये किमेतया बाधानुत्पत्त्या ? न[१६८८] च बाधानुत्पत्तेर्यथार्थग्रहणनिबन्धनत्वं स्वत एव निश्चीयते, सन्देहाभावप्रसङ्गात्[१६८९]। दृश्यते च सन्देहः, किं यथार्थग्रहणान्नोऽत्र[१६९०] बाधानुत्पत्तिराहोस्वित् स्वकारणवैकल्यादित्युभयसंस्पर्शिप्रत्ययोत्पत्तेः[१६९१], क्वचिद् दूरे मरीचिकायां जलज्ञाने स्वकारणवैकल्याद्बाधकप्रत्ययानुत्पत्तिप्रसिद्धेरभ्यासदेशे[१६९२] तत्कारणसाकल्याद्बाधकज्ञानोत्पादात्।

१४२. किञ्च[१६९३], अर्थसंवेदनानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिस्तत्प्रामाण्यं व्यवस्थापयेत् सर्वदा वा ? न तावत्प्रथमविकल्पः संभवति, मिथ्याज्ञानेऽपि क्वचिदनन्तरं बाधानुत्पत्तिदर्शनात्। सर्वदा बाधानुत्पत्तेः संविदि प्रामाण्यनिश्चयश्चेत्[१६९४], न, तस्याः[१६९५] प्रत्येतुमशक्यतवात्, संवत्सरादिविकल्पेनापि[१६९६] बाधोत्पत्तिदर्शनात्। चिरतरकालं बाधस्यानुत्पत्तावपि स्वकारणवैकल्यात् कालान्तरेष्वसौ[१६९७] नोत्पत्स्यते इति कुतो निश्चयनीयः[१६९८] ? क्वचित्तु मिथ्याज्ञाने तज्जन्मन्यपि बाधा नोपजायते, स्वहेतुवैकल्यात्[१६९९]। न चैतावता[१७००] तत्प्रामाण्यम्[१७०१]।

१४३. किञ्च, क्वचिद्देशे स्थितस्य बाधानुत्पत्तिः प्रतिपत्तुः सर्वत्र[१७०२] वाऽर्थसंविदि प्रामाण्यहेतुः ? न

तावत्प्रथमः पक्षः, [१७०३]कस्यचिन्मिथ्यावबोधस्यापि [१७०४]प्रमाणत्वापत्तेः। नापि द्वितीयः, कस्यचिद्दूरे स्थितस्य बाधानुत्पत्तावपि समीपे बाधोत्पत्तिप्रतीतेः सर्वत्र स्थितस्य बाधानुत्पत्तिसन्देहात्, समीपे बाधानुत्पत्तावपि दूरे [१७०५]बाधोत्पत्तिसंभवात्।

१४४. किञ्च, कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः सर्वस्य वा ? न तावत्कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः संविदि प्रामाण्यहेतुः, विपर्ययेऽपि भावात्, मरीचिकादौ तोयज्ञाने देशान्तरगमनादिना बाधानुत्पत्तावपि प्रमाणत्वाभावात्। [१७०६]सर्वस्य बाधानुत्पत्तिरर्थसंवेदने प्रामाण्यकारणमिति चेत्, न, तस्याः किञ्चिज्ज्ञैर्ज्ञातुमशक्तेः। शक्तौ वा तस्य सर्वज्ञत्वापत्तेः, [१७०७]असर्वज्ञव्यवहाराभावप्रसङ्गात्, सर्वदेशकालपुरुषापेक्षया बाधकाभावनिर्णयस्ययान्यथानुपपत्तेः। इति न बाधारहितत्वेन संवेदनस्य प्रामाण्यम्।

(प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति नैयायिकमतमपि तृतीयविकल्पद्वारा तत्त्वोपप्लववादी दूषयन् प्रमाणतत्त्वं निरस्यति)

१४५. [१७०८]नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येन, [१७०९]अनवस्थाप्रसक्तेः। [१७१०]प्रवृत्तिसामर्थ्यं हि [१७११]फलेनाभिसम्बन्धः[१७१२] [१७१३]सजातीयज्ञानोत्पत्तिर्वा[१७१४] ? यदि फलेनाभिसम्बन्धः, सोऽवगतोऽनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत् ? न तावदनवगतः, [१७१५]अतिप्रसङ्गात्। सोऽवगतश्चेत्, तत एव प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्तत एव, परस्पराश्रयानुषङ्गात्। सति फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमे [१७१६]तस्य प्रमाणत्वनिश्चयात् [१७१७]तस्मिँश्च सति [१७१८]तेन तदवगमात्। अन्यतः प्रमाणात्सोऽवगत इति चेत्, तदन्यत्प्रमाणं कुतः [१७१९]प्रामाण्यव्यवस्थामास्तिघ्नुते ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत्, तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदाऽनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेदित्यादि पुनरावर्तत इति [१७२०]चक्रकप्रसङ्गः। [१७२१]एतेन सजातीयज्ञानोत्पत्तिः प्रवृत्तिसामर्थ्यं संवित्प्रामाण्यस्यागमकं प्रतिपादितम्, सजातीयज्ञानस्य प्रथमज्ञानात्प्रामाण्यनिश्चये परस्पराश्रयणस्याविशेषात्। [१७२२]प्रमाणान्तरात्तत्प्रामाण्यनिर्णयेऽनवस्थानुषङ्गात्।

१४६. [१७२३]प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुः प्रमेयदेशोपसर्पणं प्रमेयस्य प्रतिपत्तौ स्यादप्रतिपत्तौ वा ? न तावदप्रतिपत्तौ, सर्वत्र [१७२४]सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। [१७२५]प्रतिपत्तौ चेत्, [१७२६]निश्चितप्रामाण्यात् संवेदनात्तत्प्रतिपत्तिरनिश्चितप्रामाण्याद्वा ? प्रथमपक्षे परस्पराश्रयणमेव, सति प्रवर्त्तकस्य संवेदनस्य प्रामाण्यनिश्चये ततः प्रमेयप्रतिपत्तिः, सत्यां च प्रमेयप्रतिपत्तौ प्रवृत्तेः सामर्थ्यात्तत्प्रामाण्यनिश्चयात्। [१७२७]प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ प्रथमसंवेदनस्य वैयर्थ्यम्, स एव च [१७२८]पर्यनुयोगोऽनवस्थापत्तिकरः। द्वितीयपक्षे[१७२९] तु प्रामाण्यनिश्चयानर्थक्यम्, स्वयमनिश्चितप्रामाण्यादेव संवेदनात्प्रमेयप्रतिपत्तिप्रवृत्तिसिद्धेः। [१७३०]संशयात्प्रवृत्तिदर्शनाददोष इति चेत्, [१७३१]किमर्थमिदानीं प्रमाणपरीक्षणम् ? [१७३२]लोकवृत्तानुवादार्थमिति[१७३३] चेत्, [१७३४]तर्हि लोकवृत्तं[१७३५] [१७३६]कुतो निर्विवादं प्रसिद्धम्, यस्यानुवादार्थं प्रमाणशास्त्रप्रणयनम् ? न [१७३७]तावत्स्वत एव, प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमिति परतः प्रामाण्यानुवादविरोधात्। [१७३८]स्वतः प्रसिद्धं हि [१७३९]प्रमाणप्रमेयरूपं लोकवृत्तं तथैवानुवदितुं[१७४०] युक्तं नान्यथा[१७४१], अतिप्रसङ्गात्। [१७४२]यथाऽनूद्यते[१७४३]ऽस्माभिस्तथैव लोकवृत्तं प्रसिद्धं [१७४४]स्वत इति चेत्, न, 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यम्' ( ) [१७४५]इत्यन्यैर्लोकवृत्तस्यानुवादात् तथैव[१७४६]

स[१७४७] मिथ्यानुवाद इति चेत्, तवापि[१७४८] मिथ्यानुवादः कुतो न भवेत् ? तथा[१७४९] लोकवृत्तस्य प्रसिद्धिप्रसङ्गात्। स मिथ्यानुवाद इति चेत्, परोऽप्येवं[१७५०] ब्रूयात्। तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वे तथानुवादस्य सत्यत्वं तत्सत्यत्वाच्च तथैव प्रसिद्धत्वादिति चेत्, परोऽप्येवं ब्रूयात्। तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वमितीतरेतराश्रयत्वमप्युभयोः[१७५१] समानम्। तथा[१७५२] लोकवृत्तान्तरा[१७५३]त्तस्य[१७५४] प्रसिद्धौ पुनरनवस्था दुर्निवारैव। इति न प्रवृत्तिसामर्थ्यात्संविदः प्रामाण्यनिश्चयानुवादो[१७५५] युक्तः। ततो न प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यं व्यवतिष्ठते।

(तत्त्वोपप्लववादी 'अविसंवादित्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्यं व्यवतिष्ठते' इति बौद्धमतमपि चतुर्थविकल्पद्वारा दूषयन् प्रमाणतत्त्वं निराकुरुते)

१४७. नाप्यविसंवादित्वेन[१७५६], तदविसंवादस्या[१७५७]र्थक्रियास्थितिलक्षणस्यानवगतस्य[१७५८] प्रामाण्यव्यवस्थाहेतुत्वायोगात्। तस्यावगतस्य तद्धेतुत्वे कुतस्तदवगमस्य प्रामाण्यम् ? संवादान्तरादिति चेत्, न, तदवगमस्यापि संवादान्तरात्प्रामाण्यनिर्णयेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। अथार्थ[१७५९]क्रियास्थितिलक्षणाविसंवादज्ञानस्याभ्यासदशायां स्वतः प्रामाण्यसिद्धेरदोषः, कोऽयम[१७६०]भ्यासो नाम ? भूयः संवेदने संवादानुभवनमिति चेत्, तज्जातीये[१७६१]ऽतज्जातीये[१७६२] वा ? तत्रातज्जातीये[१७६३] न तावदेकत्र[१७६४] संवेदने भूयः संवादानुभवनं संभवति **क्षणिकवादिनः**[१७६५]। सन्तानापेक्षया[१७६६] संभवतीति चेत्, न, सन्तानस्यावस्तुत्वादपेक्षानुपपत्तेः। वस्तुत्वे वा तस्यापि क्षणिकत्वसिद्धेः कुतस्तदपेक्षया सोऽभ्यासः ? सन्तानस्या[१७६७]क्षणिकत्वे वा 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकम्' इति न सिद्ध्येत्। तज्जातीये[१७६८] भूयः संवादानुभवनमिति[१७६९] चेत्, न[१७७०], जाति[१७७१]निराकरणवादिनः[१७७२] क्वचित्तज्जातीय[१७७३]त्वानुपपत्तेः। अन्यापोह[१७७४]लक्षणया जात्या क्वचित्तज्जातीय[१७७५]त्वमुपपन्नमेवेति चेत्, न[१७७६], अन्यापोहस्यावस्तुरूपत्वात्। तस्य वस्तुरूपत्वे वा जातित्व[१७७७]विरोधात्, स्वलक्षणस्यासाधारणरूपस्य[१७७८] वस्तुत्वोपगमात्[१७७९]।

१४८. तदेवं[१७८०] सामान्यतः प्रमाणलक्षणानुपपत्तौ विशेषतो[१७८१]ऽपि प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपपत्तेर्न प्रमाणतत्त्वं विचार्यमाणं व्यवतिष्ठते। तदव्यवस्थितौ कुतः प्रमेयतत्त्वव्यवस्थेति विचारात्तत्त्वोपप्लवव्यवस्थितिः।

(अत्र तत्त्वोपप्लववादिमतं निराकुर्वन्नाह)

१४९. इत्येतदपि[१७८२] सर्वमसारम्, तत्त्वोपप्लवस्यापि विचार्यमाणस्यैवमव्यव[१७८३]स्थितेरनु[१७८४]पप्लुततत्त्वसिद्धि-निराकरणायोगात्[१७८५]।

१५०. अथ[१७८६] तत्त्वोपप्लवः[१७८७] सर्वथा न विचार्यः, तस्योपप्लुत[१७८८]त्वादेव, विचारासहत्वात्, अन्यथा-ऽनुपप्लुततत्वसिद्धिप्रसङ्गात्[१७८९]। केवलं[१७९०] तत्त्ववादिभिरभ्युपगतस्य प्रमाणप्रमेयतत्त्वस्य विचाराक्षमत्वात्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः, इति मतम्, तदपि[१७९१] फल्गुप्रायम्, यथा[१७९२]तत्त्वमविचारितत्वात्[१७९३]।

(जैनस्तत्त्वोपप्लववादिमतं समालोचयन्निराकरोति)

१५१. न ह्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन संवेदनस्य प्रमाणत्वं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, बाधारहितत्वमात्रेण वा। नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा[१७९४] वा, प्रतिपादितदोषोपनिपातात्। किं तर्हि ? सुनिश्चितासम्भवबाधकत्वेन[१७९५]। न[१७९६] चेदं

स्वार्थव्यवसायात्मनो ज्ञानस्य दुरवबोधम्[१७९७]। सकलदेशकालपुरुषापेक्षया सुष्ठु निश्चितमसम्भवद्बाधकत्वं हि प्रमाणस्याभ्यस्तविषये स्वत एवावसीयते, स्वरूपवत्। अनभ्यस्ते तु परत इति नानवस्थेतरेतराश्रयदोषोपनिपातः। स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमेव[१७९८] हि सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वम्। तच्चाभ्यासदशायां न परतः प्रमाणात्साध्यते, येनावस्था स्यात्, परस्पराश्रयो वा, तस्य स्वत एव सिद्धत्वात्। तथाऽनभ्यासदशायामपि परतः[१७९९] स्वयंसिद्धप्रामाण्याद्वेदनात् पूर्वस्य तथाभावसिद्धेः[१८००] कुतोऽनवस्थादिदोषावकाशः ?

(को नामाभ्यासोऽनभ्यासो वा इति प्रतिपादयति)

१५२. क्वचिदभ्यासानभ्यासौ[१८०१] तु[१८०२] प्रतिपत्तुरदृष्टविशेषवशाद्देशकालादिविशेषवशाच्च[१८०३] भवन्तौ सम्प्रतीतावेव[१८०४], यथावरणक्षयोपशममात्मनः[१८०५] सकृदसकृद्वा स्वार्थसंवेदनेऽभ्यासोपपत्तेः। स्वार्थव्यवसायावरणोदये[१८०६][१८०७] चासंवेदन[१८०८]-संकृत्संवेदने वा संवेदनपौनःपुन्येऽपि वाऽनभ्यासघटनात्। पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वित[१८०९]-स्वभावस्थितिलक्षणत्वेनात्मनः परिणामिनोऽभ्यासानभ्यासाविरोधात्[१८१०]। सर्वथा क्षणिकस्य नित्यस्य वा प्रतिपत्तुस्तदनुपपत्तेरभीष्टत्वात्[१८११][१८१२]।

(अत्र तत्त्वोपप्लववादी जैनं प्रति पृच्छति)

१५३. नन्विदं[१८१३] सुनिश्चितासम्भद्बाधकत्वं संवेदनस्य कथमसर्वज्ञो ज्ञातुं समर्थ इति चेत्, सर्वत्र[१८१४] सर्वदा सर्वस्य सर्वं संवेदनमसुनिश्चितासम्भवद्बाधकमित्यप्यसकलज्ञः कथं जानीयात् ? तत[१८१५] एव संशयोऽस्त्विति चेत्, सोऽपि[१८१६] तथाभावेतरविषयः सर्वस्य सर्वदा सर्वत्रेति कथमसर्वज्ञः[१८१७] शक्तोऽवबोद्धुम् ? स्वसंवेदने तथाऽवबोधात्सर्वत्र[१८१८] तथाऽवबोध इति चेत्, तर्ह्यनुमानमायातम्[१८१९], विवादाध्यासितं संवेदनं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धम्, संवेदनत्वात्, अस्मत्संवेदनवदिति। तच्च[१८२०] यदि[१८२१] सुनिश्चितासम्भवद्बाधकं सिद्धम्, तदा तेनैव साधनस्य व्यभिचारः। अथ[१८२२] न तथा सिद्धम्, कथं[१८२३] साध्यसिद्धिनिबन्धनम् ? अतिप्रसङ्गात्। स्वसंवेदनं च प्रतिपत्तुः किञ्चित्[१८२४] क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासम्भवद्बाधकं किञ्चित्तद्विपरीतं[१८२५] प्रसिद्धं न वा ? यदि न प्रसिद्धम्, कथं सन्देहः ? क्वचिदप्रसिद्धोभयविशेषस्य[१८२६] तत्सामान्यदर्शनेनैव[१८२७] तत्परामर्शिप्रत्ययस्य सन्देहस्यासम्भवाद् भूभवनसंवर्द्धितोत्थितमात्रस्य तादृशः स्थाणुपुरुषविषयसन्देहवत्[१८२८]। यदि[१८२९] पुनस्तदुभयं[१८३०] प्रसिद्धम्, तदा[१८३१] स्वतः परतो वा ? अभ्यासदशायां स्वतोऽनभ्यासदशायां परत एवेति चेत्, **सिद्धमलङ्कशासनम्**, सर्वस्य संवेदनस्य स्यात्स्वतः[१८३२] स्यात्परतः प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्व्यवस्थानात्, अन्यथा[१८३३] क्वचिद् व्यवस्थातुमशक्तेः।

१५४. एतेन **तत्त्वोपप्लववादिनः** किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन बाधकानुत्पत्त्या प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वेत्यादिविकल्पसन्दोहहेतुकप्रश्नानुपपत्तिः प्रकाशिता, स्वयमन्यत्रान्यदा कथञ्चिदप्रतिपन्नतद्विकल्पस्य[१८३४][१८३५] पुनः क्वचित्तत्परामर्शिसंशयप्रत्ययायोगात्। क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादिविशेषप्रतिपत्तौ तु कुतस्तत्त्वो-पप्लवसिद्धिः ? पराभ्युपगमात्तत्प्रतिपत्तेरदोष[१८३६] इति चेत्, स तर्हि पराभ्युपगमो[१८३७] यदि प्रमाणात्प्रतिपन्नः स्वयं[१८३८] तदा कथं प्रमाणप्रमेयतत्त्वोपप्लवः ? पराभ्युपगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ तदपि पराभ्युपगमान्तरमन्यस्मात्पराभ्युपगमात्प्रतिपत्तव्य-मित्यनवस्था। पराभ्युपगमं च स्वयं प्रतियन्नेव न प्रत्येमीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? स्वयमप्रतियंस्तु[१८३९] पराभ्युपगमं ततः[१८४०] किञ्चित्प्रत्येतीति[१८४१] दुरवबोधमेतत्।

(ततस्तत्त्वोपप्लववादिमतं न युक्तमिति प्रदर्शयतिं)

१५५. सों[१८४२]ऽयं किञ्चिदपि स्वयं निर्णीतमनाश्रयन् क्वचिद्विचारणायां व्याप्रियत इति न बुध्[१८४३]यामहे, किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारस्यानिर्णीतेऽर्थे प्रवृत्तेः। सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिद्विचारणाऽनवतारात्। तदुक्तम्—

किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽ[१८४४]न्यत्र वर्तते ।
सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा ।। ।। ( ) इति ।

१५६. ततः सूक्तं तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा विचारोत्तरकालमपि प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतमे[१८४५]तदिति ।

(मीमांसक-चार्वाक-तत्त्वोपप्लववादिनां मतं समीक्ष्य ब्रह्माद्वैताद्यद्वैतवादिनां नैयायिकादिद्वैतवादिनां च मतं समालोचयन् तेषां सर्वेषामाप्तता नास्तीति कारिकाव्याख्यानमनवद्यं प्रदर्शयति)

१५७. तदे[१८४६]वं कारिकाव्याख्यानमनवद्यमवतिष्ठते। "**तीर्थच्[१८४७]छेदसम्प्रदायानां तथा सर्वमवगतमिच्छतामाप्तता नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात्, एकानेकप्रमाणवादिनां स्वप्रमाव्यावृत्तेः**" इति । एकप्रमाणवादिनो हि **संवेदनाद्वैतावलम्बिनश्चित्राद्वैताश्रयिणः परब्रह्मशब्दाद्वैतभाषिणश्च सुगतादयो** यथा तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदन्तोऽपि चार्वाकाः, परमागमनिराकरणसमर्थ[१८४८]त्वात्। यथा च **कपिलादयो**ऽनेकप्रमाणवादिनस्तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्त्वोपप्लववादिनोपि, तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात्, नैक[१८४९]प्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिन इति व्याख्यानात्। तथा सर्वमाप्तागमपदार्थजात[१८५०]मवग[१८५१]तमिच्छन्तोऽप्यनेकप्रमाणवादिनो वैनयिकास्तीर्थच्छेदसम्प्रदायाः। तेषामशेषाणामाप्त[१८५२]ता नास्ति, परस्परविरुद्धयोरर्थयोरभिधानात्।

१५८. तत्र संवेदनाद्वैतानुसारिणः स्वपक्षसाधनस्य परपक्षदूषणस्य वा संविदद्वैतविरुद्धस्याभिधानम्, त[१८५३]था द्वैतप्रसिद्धेः। संवृत्[१८५४]त्या तदुपगमे न परमार्थतः संविदद्वैतसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात्। एतेन चित्राद्वैतपरमब्रह्माद्यवलम्बिनां परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिवर्णितम्। प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व[१८५५]दता प्रमाणेतर[१८५६]सामान्यव्यवस्थापनस्य संवादेतर[१८५७]स्वभावलिङ्गजानुमानिबन्धनस्य परचित्तावबोधस्य च व्यापारादिकार्यलिङ्गोत्थानुमाननिमित्तस्य परलोकादिप्रतिषेधस्य चानुपलब्धिलिङ्गोद्भूतानुमानहेतुकस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणविरुद्धस्याभिधानं प्रतिपत्तव्यम्, त[१८५८]था प्रमाणा[१८५९]न्तरसिद्धेः। परोपगमात्तत्स्वीकरणे स्वयं प्रमाणेतरसामान्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः कुतः प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद[१८६०]ः? अतिसङ्[१८६१]गात्।

१५९. तथाऽनेकप्रमाणवादिनां **कपिल[१८६२]कणभक्षा[१८६३]क्षपाद[१८६४]जैमिनि[१८६५]मतानुसारिणां** स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमविरुद्धस्य सामस्त्येन साध्यसाधनसम्बन्धज्ञान[१८६६]स्याभिधाने बोद्धव्यम्, प्रमाणान्तरस्योहस्य सिद्धेः। यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति न प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यम्, त[१८६७]स्य सन्निहितविषयप्रतिपत्तिफलत्वात्। नाप्यनुमानस्[१८६८]य, अनवस्थाना[१८७०]त्, तद्व्याप्तेरप्यपरानुमानगम्यत्वादिति **वैशेषिक**स्योहः प्रमाणा[१८६९]न्तरमनिच्छतोऽप्यायातम्। एतेन **सौगतस्य** प्रमाणान्तरमापादित[१८७१]म्। तथाऽऽगमस्यापि

व्याप्तिग्रहणेऽनधिकारात्कापिलस्योहः प्रमाणम्, **नैयायिक**कस्य च[१८७२] तत्रोपमानस्याप्यसमर्थत्वात्, [१८७३] **प्राभाकरस्य** चार्थापत्तेरप्यनुमानवत्तत्राव्यापारात्, भट्टमतानुसारिणश्चाभावस्यापि तत्रानधिकृतत्वात्।

१६०. तथैकमपि प्रमाणमनभ्युपगच्छतां तत्त्वोपप्लवावलम्बिनामनेकप्रमाणवादिनां तत्त्वोपप्लवोपगमस्य प्रमाणसिद्ध्यविनाभाविनः सकलतत्त्वोपप्लवविरुद्ध[१८७४]स्याभिधानमवगन्तव्यम्। **वैनयिकानां** तु सर्वमवगतमिच्छतां परस्परविरुद्धाभिधानं विरुद्धसंवेदनं प्रसिद्धमेव, **सुगत**[१८७५]मतोपगमे **कपिला**दिमतोपगमस्य विरोधात्।

१६१. ततः सिद्धो हेतुः परस्परविरोधत इति तीर्थकत्समयानां सर्वेषामाप्तत्वाभावं साधयति।

(न वयं परतः प्रमाणात्स्वमतसिद्धिं कुम, अपितु स्वत एव संविदद्वैतादीनां प्रमितिं साधयाम इति परवादिनां पक्षमपि दूषयति)

१६२. यदि[१८७६] पुनः संविदद्वैतादीनां[१८७७] स्वतः[१८७८] प्रमितिप्रसिद्धेः[१८७९] प्रमाणान्तरतः स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनाभावान्न परस्परविरुद्धाभिधानं स्वसंवेदनैकप्रमाणवादिनाम्, [१८८०]नापीन्द्रियजप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनाम्, प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षत एव सिद्धेः, अनुमानादिप्रामाण्याभावस्यापि तत एव प्रसिद्धेः प्रमाणान्तराप्रसङ्गात्। तथाऽनेकप्रमाणवादिनामपि स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमस्य स्वत एव सिद्धेः प्रमाणान्तरस्योहस्याप्रसङ्गान्न विरुद्धाभिधानं सम्भवतीति मतम्, तदा[१८८१]ऽपि न तेषामाप्तताऽस्ति, स्वप्रमाव्यावृत्तेः, **अन्यथा**[१८८२]**ऽनैकान्तिकत्वात्**। न हि संविदद्वैतेऽन्यत्र[१८८३] वा स्वस्य स्वेनैव प्रमा सम्भवति, निरंशत्वात्[१८८४]प्रमातृप्रमाणप्रमेयस्वभावव्यावृत्तौ प्रमाया व्यावृत्तेः, तदव्यावृत्तौ[१८८५] प्रमात्रादिस्वभावाव्यावृत्तेरैकान्तिकत्वाभावात्[१८८६] प्रमात्राद्यनेकस्वभावस्यैकस्य संवेदनस्यानेकान्तात्मनोऽनुमननात्[१८८७], संवित् स्वयं स्वेन स्वं संवेदयत इति प्रतीतेः। नापीन्द्रियजप्रत्यक्षे स्वप्रमा घटते, **भूतवादि**[१८८८]भिस्तस्यास्वसंविदितत्त्वोपगमात्, इति सिद्धा तत्र स्वप्रमाया[१८८९] व्यावृत्तिः। ततो न प्रत्यक्षत एव प्रमाणेतरसामान्यस्थित्यादिः। तदव्यावृत्तौ वा स्वार्थव्यवसायात्मकत्वसिद्धेः **स्याद्वादा**श्रयणादैकान्तिकत्वाभावादनैकान्तिकत्वम्। एतेना[१८९०]नेकप्रमाणवादिनामनेकस्मिन् प्रमाणे स्वप्रमाव्यावृत्तिर्व्याख्याता। तदव्यावृत्तौ वाऽनैकान्तिकत्वप्रसक्तिः, अनेकशक्त्यात्मक[१८९१]स्वार्थव्यवसायात्मकानेक[१८९२]प्रमाणसिद्धेः। तत्त्वोपप्लववादिनां तु तत्त्वोपप्लवे स्वप्रमाया व्यावृत्तिः सिद्धैव। तदव्यावृत्तौ तत्त्वोपप्लवैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तिश्च[१८९३]। ततो नैतेषामाप्तता।

(सम्प्रति भट्टाकलङ्कदेवस्यैवाष्टशतीवचनव्याख्यानमुखेन सर्वथा नित्यानित्यवादिनां सांख्यसौगतादीनां मतं निरस्यति)

१६३. किञ्च[१८९४], **सर्वप्रमाण**[१८९५]**विनिवृत्तेरितरथा**[१८९६] **सम्प्रतिपत्तेः**। ये[१८९७] तावदेकं नित्यं[१८९८] प्रमाणं स्वभावभेदाभावाद्वदन्ति[१८९९] तेषां सर्वप्रमाणविनिवृत्तिः, येऽप्य[१९००]नेकमनित्यं प्रतिक्षणं स्वभावभेदादाचक्षते तेषामपि[१९०१], प्रत्यक्षादिप्रमाणानां नित्यैकान्ता[१९०२]दनित्यैकान्ता[१९०३]च्चे[१९०४]तरेणैव[१९०५] प्रकारेण कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन सम्प्रतिपत्तेः। ततो नैतेषां नित्यानित्यैकान्तप्रमाणवादिनां तीर्थकृत्समयानामाप्तता।

(ये वक्तृत्वेन्द्रियबुद्धीच्छापुरुषत्वादिहेतुभिर्वीतरागसर्वज्ञं निराकुर्वन्ति, तान् प्रत्यष्टशतीवचनव्याख्या-द्वाराऽष्टसहस्रीकारः समाधत्ते)

१६४. किञ्च, [१९०६]**वागक्षबुद्धीच्छापुरुषत्वादिकं**[१९०७] **क्वचिद[१९०८]नाविलज्ञानं निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु**[१९०९] **तथेति परमगहनमेतत्**[१९१०]। तथा हि तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथैकान्तवादिनो नाऽनाविलज्ञाना[१९११] अविशिष्टवागक्षबुद्धीच्छादिमत्त्वादविशिष्टपुरुषत्वादेर्वा रथ्यापुरुषवत्, इति नैषामाप्तता। [१९१२]तत्प्रतिषेधवादिनां पुनः स्याद्वादिनां नाप्तः[१९१३] कश्चिदविशिष्टवागादिमानविशिष्टपुरुषो वा, तस्य युक्तिशास्त्रविरोधिवाक्त्वेनाभ्युपगतत्वात्[१९१४], [१९१५]करण[१९१६]क्रमव्यवधानातिवर्ति[१९१७]बुद्धित्वात्, इच्छारहितत्वाद्[१९१८]विशुद्ध[१९१९]पुरुषातिशयत्वादिति। [१९२०]यथा वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं न तथा स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिष्टूयमाने भगवतीति परमगहनमेतत्, [१९२१]अयुक्तिशास्त्रविदामगोचरत्वाद[१९२२]कलङ्कधिषणाधिगम्यत्वात्।

१६५. **तदित्थं**[१९२३] **सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वम्। [१९२४]तेन कः परमात्मा चिदेव** **[१९२५]लब्ध्युपयोगसंस्काराणामावरणनिबन्धनानामत्यये[१९२६] भवभृतां[१९२७] प्रभुः।** सकलस्याद्वादन्यायविद्विषामाप्तत्व[१९२८]प्रतिक्षेप[१९२९]प्रकारेण हि स्याद्वादिन एवाप्तस्याप्रतिक्षेपार्हत्वेन [१९३०]सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सिद्ध्यति। तेनैवं कारिकायास्तुरीयः पादो व्याख्यायते। कः परमात्मा पराऽऽत्यन्तिकी मा लक्ष्मीर्यस्येति विग्रहात्। चिदेव[१९३१] ज्ञ[१९३२] एव न पुनः कथञ्चिदप्यज्ञः, चिदिति शब्दस्य मुख्यवृत्त्याश्रयणात्, कथञ्चिद[१९३३]चित्यपि चिच्छब्दस्य प्रवृत्तौ गौणत्वप्रसङ्गात्।

(परमात्मन इन्द्रियसंस्कारानुरोधत एव ज्ञानमित्याशङ्क्य तन्निराकरोति ज्ञत्वमेवेति च साधयति)

१६६. [१९३४]ननु च परमात्मा साक्षाद्वस्तु जानन्निन्द्रियसंस्कारानुरोधत एव जानीयान्नान्यथा, [१९३५]तद्वेदनस्य प्रत्यक्षत्वविरोधात्। न चेन्द्रियसंस्काराः सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलम्, सम्बद्धवर्तमार्थविषयत्वात्, "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः।" ( ) इति वचनात्। ततो न ज्ञ एव भाव्यतीतासम्बद्धार्थज्ञानाभावादज्ञत्वत्वस्यापि भावात्; इति न मन्तव्यम्[१९३६]; 'लब्ध्युपयोगसंस्काराणामत्यये' इति वचनात्। लब्ध्युपयोगौ हीन्द्रियम्, "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" (त. सू. २) इति वचनात्[१९३७]। तयोः[१९३८] संस्काराः स्वार्थ[१९३९]धारणाः। तेषामत्यये सति ज्ञ एव स्यात्। कुतः पुनर्भावेन्द्रियसंस्कारणामत्यये सति ज्ञ एव स्यान्न तु द्रव्येन्द्रियाणामत्यये, अतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽशेषार्थसाक्षात्कारित्वोपगमात्; इत्यपि न शङ्कनीयम्, [१९४०]भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात्। कात्स्न्र्यतो ज्ञानावरणसंक्षये हि[१९४१] भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्धः[१९४२]। न च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां सम्भवः, [१९४३]कारणाभावे [१९४४]कार्यानुपपत्तेः।

(भावेन्द्रियाणि आवरणक्षयोपशमनिबन्धनान्यभ्युपगतानि, तत्कथं तान्यावरणनिबन्धनानीत्याशङ्क्य तत्परिहरति)

१६७ [१९४५]ननु चावरणक्षयोपशमनिबन्धनत्वाद्भावेन्द्रियाणां कथमावरणनिबन्धनत्वमिति चेत्, [१९४६]देशघातिज्ञाना-[१९४७]वरणस्पर्द्धकोदये सति सर्वघाति[१९४८]ज्ञानावरणस्पर्द्ध[१९४९]कानामुदयाभावे [१९५०]सदवस्थायां [१९५१]च तेषां भावादावरणनिबन्धनत्व-[१९५२]सिद्धेरचोद्यमेतत्। न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा सम्भाव्यते; इत्यपि शङ्का न श्रेयसी; तस्य भवभृतां प्रभुत्वात्। न हि भवभृत्[१९५३]सामान्ये दृष्टो धर्मः सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्यः, [१९५४]तस्य संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्वात्।

(पुनरपि मीमांसकः सर्वज्ञस्याभावं शङ्कते)

१६८. [१९५५]ननु च सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्तथाविधो भवभृतां प्रभुः साध्यते। [१९५६]तच्चासिद्धम्, सुनिश्चितासम्भवत्साधकप्रमाणत्वस्य तद्बाधकस्य सद्भावात्। न हि [१९५७]तत्साधकं प्रत्यक्षम्। नाप्यनुमानम्, तदेकदेशस्य लिङ्गस्यादर्शनात्। तदुक्तम्—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति [१९५८]लिङ्गं वा योऽनुमापयेत्।। ( ) इति।

आगमोऽपि न तावन्नित्यः सर्वज्ञस्य प्रतिपादकोऽस्ति, तस्य [१९५९]कार्य एवार्थे प्रामाण्यात्। स्वरूपेऽपि प्रामाण्येऽ[१९६०]तिप्रसङ्गात्। [१९६१]स सर्ववित् स लोकविदित्यादेः ( ) हिरण्यगर्भः सर्वज्ञ इत्यादेः ( ) चागमस्य नित्यस्य [१९६२]कर्मार्थवादप्रधानत्वा[१९६३]त्तात्पर्यासम्भवादन्यार्थ[१९६४]प्रधानैर्वचनैरन्यस्य सर्वज्ञस्य विधानासम्भवात्। [१९६५]पूर्वं [१९६६]कुतश्चिदप्रसिद्धस्य तैरनुवादायोगात्। अनादेरागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादनविरो[१९६७]धाच्च। नाप्यनित्यस्तत्प्रणीत एवागमस्तस्य प्रकाशको युक्तः, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। नरान्तरप्रणीतस्तु न प्रमाणभूतः सिद्धो यतः सर्वज्ञप्रतिपत्तिः स्यात्। असर्वज्ञप्रणीताच्च [१९६८]वचनान्मूलवर्जितात्सर्वज्ञप्रतिपत्तौ स्ववचनात्किन्न तत्प्रतिपत्तिः, अविशेषात्। तदुक्तम्—

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधनः।
न च [१९६९]मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते।।
[१९७०]न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैर[१९७१]बोधितः।।
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन[१९७२] स कथं प्रतिपाद्यते।।
अथ [१९७३]तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते।
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः।।
[१९७४]सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन[१९७५] तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिद्ध्येत् [१९७६]सिद्धमूलान्तरादृते।।
असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात्।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते।।( ) इति।

नोपमानमपि सर्वज्ञस्य साधकम्, [१९७७]तत्सदृशस्य जगति कस्यचिदप्यभावात्। तदुक्तम्—

सर्वज्ञसदृशं कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम्।। ।। ( ) इति।

नार्थापत्तिरपि सर्वज्ञस्य साधिका, तदुत्थाप[१९७८]कस्यार्थस्यान्यथानुपपद्यमानस्याभावात्। धर्माद्युपदेशस्य [१९७९]बहुजन-परिगृहीतस्यान्यथाभावात्। तथा चोक्तम्—

उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः ।
[१८०]अन्यथाप्यु[१८१]पपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत् ।।
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसम्भवः ।
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ।।
ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्[१८२] ।
[१८३]त्रयीविदाश्रि[१८४]तग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ।। ( ) इति ।

न च प्रमाणान्तरं [१८५]सदुपलम्भकसर्वज्ञस्य साधकमस्ति । मा भूदत्रत्येदानीन्तनानामस्मदादिजनानां सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तरकालान्तरवर्त्तिनां केषाञ्चिद्भविष्यतीति चायुक्तम्—

[१८६]यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ।। ( ) इति ।

इति वचनात् । तथा हि—विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणमत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थ-ग्राहकं भवति तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्, अत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् ।

१६९. [१८७]ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तादृशं साध्यतेन्यथाभूतं वा ? तथाभूतं चेत्, सिद्धसाधनम् । अन्य[१८८]थाभूतं चेत्, अप्रयोजको हेतुः, जगतो बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्ववत्; इति चेत्; तदसत्, तथाभूतस्यैव तथा साधनात्, सिद्धसाधनस्याप्यभावात्, अन्यादृशप्रत्यक्षाद्यभावात् । तथा हि—[१८९]विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्, प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमा[१९०]णवत् । न [१९१]गृध्रवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा [१९२]नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वाऽऽलोकानपेक्षिणाऽनेकान्तः, [१९३]कात्यायना[१९४]द्यनुमानातिशयेन जैमिन्याद्या[१९५]गमातिशयेन वा, तस्यापीन्द्रियादिप्रणि[१९६]धानसामग्रीविशेषमन्तरेणासम्भवात्, [१९७]स्वार्थातिलङ्घनाभावात्, अतीन्द्रि[१९८]यानुमेयाद्यर्थाविषयत्वाच्च । तथा चोक्तम्—

[१९९]यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादि[२००]दृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ।।
[२०१]येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ।।
प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोपि सन् ।
[२०२]स्वजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान्नरान् ।।
एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।
न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मा[२०३]त्रेणैव लभ्यते ।।

ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः ।
प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ।।
ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु ।
न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ।।
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि[२००४] ।
न स्वर्गदेवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे[२००५] क्षमः ।।
दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ।। ।। ( )

इति न दृष्टप्रत्यक्षादिविजातीया[२००६]तीन्द्रियप्रत्यक्षादिसम्भावना, यतः सम्भाव्य[२००७]व्यभिचारिता साधनस्य[२००८] स्यात्। पुरुषविशेषस्य तत्सम्भावनायां[२००९] सम्भाव्यव्यभिचारित्वमेवेति चेत्; न; तस्या[२०१०]सिद्धत्वात्। साधकाभावात्सर्वपुरुषाणां त्रिविप्रकृष्टार्थसाक्षात्कारित्वानुपपत्तेरिति ।

(मीमांसकोक्तं सर्वज्ञाभावं निरस्य सर्वज्ञसद्भावं साधयति)

१७०. तदेतत्[२०११]सर्वमपरीक्षिताभिधानं **मीमांसकस्य। न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः प्राक् सुनिश्चितासम्भवत्साधकप्रमाणत्वं सिद्धम्, येन परः[२०१२] प्रत्यवतिष्ठेत । नापि बाधकासम्भवात्[२०१३]परं प्रत्यक्षादेरपि विश्वासनिबन्धनमस्ति[२०१४] । तत्प्रकृते[२०१५]ऽपि सिद्ध[२०१६] यदि तत्सत्तां न साधयेत्[२०१७], सर्वत्राप्य[२०१८]विशेषात्तदभावे[२०१९] दर्शनं[२०२०] नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत् ।**

(मीमांसकः पुनरपि शङ्कते)

१७१. स्यान्मतम्[२०२१]—मा सिधत्सर्वज्ञनिराकरणात्पूर्वं सुनिश्चितासम्भवत्साधकप्रमाणत्वम्, स्वप्रत्यक्षस्य सर्वज्ञान्तरप्रत्यक्षस्य च तत्साधकस्य[२०२२] सम्भवात्। परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षा[२०२३]ऽवितथाऽशेषसूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकतद्-वचनविशेषात्मकलिङ्गजनितानुमानस्य च तत्साधकस्य[२०२४] सम्भवादनादिप्रवचनविशेषस्य च तदुद्द्योतितस्य तत्साधकत्वेन[२०२५] सिद्धेः। निराकरणादुत्तरकालं तु सिद्धमेवेति; तदपि[२०२६] स्वमनोरथमात्रम्; सर्वज्ञस्य निराकृतेरयोगात् सर्वथा बाधकाभावात्। सदुपलम्भक[२०२७]प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिलक्षणज्ञापकानुपलम्भनं[२०२८] सर्वज्ञस्य बाधकमिति चेत्, न; तस्य स्वसम्बन्धिनः[२०२९] परचेतोवृत्तिविशेषादिना[२०३०] व्यभिचारात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात्।

तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

स्वसम्बन्धि यदीदं स्याद्व्यभिचारि[२०३१] पयोनिधेः ।
अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः सद्भिर[२०३२]ज्ञायमानकैः[२०३३] ।।
सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं किञ्चिद्बोधैर्न[२०३४] शक्यते ।
सर्वबोधोऽस्ति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ।।

सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् ।
न चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ।।
नानुमानादलिङ्गत्वात्[२०३५] क्वार्थापत्त्युपमागतिः ।
सर्वज्ञस्यान्यथाभावसादृश्यानुपपत्तितः[२०३६] ।।
सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् ।
केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत्[२०३७] ।।
कार्येर्थे चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य[२०३८] सम्मतम् ।
तस्य स्वरूपसत्तायां[२०३९] तन्नैवातिप्रसङ्गतः[२०४०][२०४१] ।।
[२०४२] तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणतः ।
साध्यते चेन्न तस्यापि सर्वत्राप्यप्रवृत्तितः[२०४३] ।।
'गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ।।'
तेषामशेषनृज्ञाने स्मृते[२०४४] तज्ज्ञापके[२०४५] क्षणे ।
जायेत नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा ।।
न चाशेषनरज्ञानं सकृत्साक्षादुपेयते[२०४६] ।
न क्रमादन्यसन्तानप्रत्यक्षत्वानभीष्टितः[२०४७] ।।
यदा च क्वचिदेकत्र[२०४८] भवेत्तन्नास्तितागतिः[२०४९] ।
नैवान्यत्र[२०५०] तदा सास्ति[२०५१] क्वेवं सर्वत्र नास्तिता ।।
प्रमाणान्तरतोऽप्येषा[२०५२][२०५३] न सर्वपुरुषग्रहः ।
तल्लिङ्गादेरसिद्धत्वात्[२०५४] सहोदीरितदूषणात्[२०५५] ।।
तज्ज्ञापकोपलम्भोऽपि सिद्धः पूर्वं न जातुचित् ।
[२०५६] यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिताज्ञानमाञ्जसम् ।।
परोपगमतः[२०५७] सिद्धः स[२०५८] चेन्नास्तीति साध्यते ।
व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेऽन्योन्यं[२०५९] सिद्धो न सोऽन्यथा ।।
नन्वेवं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथम् ।
सिद्धो निषिध्यते जैनैरिति चोद्यं न श्रीमताम् ।।
प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते ।
को दोषः सुनयैस्तत्रैकान्तोपप्लवसाधने[२०६०] ।।
अनेकान्ते[२०६१] हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम् ।
तद्विधिस्तन्निषेधश्च मतो नैवान्यथा[२०६२] गतिः ।।

नैवं[२०६३] सर्वत्र सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम् ।
सिद्धं, तद्दर्शनारोपो[२०६४] येन तत्र निषिध्यते ।। (त. श्लो. वा.) इति ।

१७२. तदेवमसिद्धं ज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य न बाधकमिति सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमेव साधकम्[२०६५] । तथा हि—अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्, प्रत्यक्षादिवत् । प्रत्यक्षादेस्तावद्विश्वासनिबन्धनं[२०६६] बाधकासम्भव एव सुनिश्चितः । न ततोऽपरं संवादकत्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यमदुष्टकारणजन्यत्वं वा, तस्य[२०६७] तत्रावश्यं[२०६८] भावादिति प्रत्यक्षादिप्रमाणमुदाहरणम्, वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धत्वात्, साध्यसाधनधर्माविकलत्वात् । सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणश्च स्यादविद्यमानश्चेति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनं न मन्तव्यम्, विपक्षे बाधकसद्भावात् । तथा हि—यदसत्तत्र सुनिश्चितासम्भवाद्बाधकप्रमाणम्, यथा मरीचिकायां तोयं सम्भवद्बाधकप्रमाणम्, मेरुमूर्धनि मोदकादिकं च सन्दिग्धासम्भवद्बाधकम्[२०६९] । सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणश्च सर्वज्ञः । इति प्रकृते सर्वज्ञे सिद्धमपि साधनं यदि सत्तां न साधयेत्तदा दर्शनं[२०७०] नादर्शनमतिशयीत, अनाश्वासात्, स्वप्नादिविभ्रमवत्, तस्य[२०७१] सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वस्याभावे सर्वत्र दर्शने दर्शनाभासे च विशेषाभावात् । साधकबाधकप्रमाणाभावात्सर्वज्ञे[२०७२] संशयोस्त्वित्यत्ययुक्तम्, यस्मात् **साधकबाधकप्रमाणयोर्निर्णयाद् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका[२०७३] स्यात् ।** साधकनिर्णयात्तत्सत्तायामविप्रतिपत्तिर्बाधकनिर्णयात्त्व-सत्तायाम् । उभयनिर्णयस्तु न सम्भवत्येव क्वचित्[२०७४], व्याघातात्[२०७५], साधकबाधकाभावनिर्णयवत्[२०७६] । साधकानिर्णयात्पुनः सत्तायामारेका स्याद्बाधकानिर्णयादसत्तायामिति विपश्चितामभिमतो[२०७७] न्यायः । ततो भवभृतां प्रभौ सुनिश्चितमसम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं[२०७८] सत्तायाः सिद्ध्यत् सुनिश्चितासम्भवत्साधकप्रमाणत्वं व्यावर्त्त्येव, विरोधात्[२०७९] । नैवमेतत्[२०८०]तत्र[२०८१] सिद्ध्यति, येन सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वस्य व्यावर्त्तकं स्यात् । ततः[२०८२] सिद्धो भवभृतां प्रभुः सर्वज्ञ एव । **न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्[२०८३] ।**

(ग्रन्थकारो भवभृतां प्रभोरज्ञत्वस्वभावं निराकृत्य ज्ञस्वभावत्वं साधयति)

१७३. कुतः पुनस्तस्याज्ञत्वलक्षणस्वभावान्तरप्रतिषेधः[२०८४] सिद्धः यतोसौ ज्ञस्वभाव एव स्यात्, सर्वश्चार्थस्तस्य विषयः स्यात्, ततस्तं[२०८५] क्रमेतैव ? इति चेत्, चोदनाबलाद्भू[२०८६]ताद्यशे[२०८७]षार्थज्ञाना[२०८८]न्यथानुपपत्तेः[२०८९] । सोऽयं[२०९०] 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषान्' (.) इति स्वयं प्रतियन्[२०९१] सकलार्थज्ञानस्वभावतामात्मनो न प्रत्येतीति कथं स्वस्थः ? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव **मीमांसकस्य** कथञ्चिदभेदोपगमात्[२०९२], अन्यथा[२०९३] मतान्तरप्रसङ्गात्[२०९४] । ततो नाज्ञस्वभावः पुरुषः क्वचिदपि[२०९५] विषये, सर्वविषये **चोदना**ज्ञानोत्पत्तेर्विकल्प[२०९६]ज्ञानोत्पत्तेर्वा, सर्वत्र तदनुपपत्तौ[२०९७] विधिप्रतिषेधविचाराघटनात् ।

(ज्ञस्वभावत्वे आत्मनः कथं क्वचित्कस्यचिदज्ञानमित्याशङ्कां निराकरोति)

१७४. कथमेवं[२०९८] कस्यचित्क्वचिदज्ञानं स्यात् ? इति चेत्; उच्यते[२०९९]; **चेतनस्य सतः सम्बन्ध्यन्तरं[२१००] मोहोदयकारणं[२१०१] मदिरादिवत् ।** तत्कुतः[२१०२] सिद्धम् ? विवादाध्यासितो[२१०३] जीवस्य मोहोदयः[२१०४] सम्बन्ध्यन्तरकारणको

मोहोदयत्वान्मदिरादिकारणकमोहोदयवत्, इत्यनुमानात्। यत्सम्बन्ध्यन्तरं तदात्मनो ज्ञानावरणादि कर्मेति। **तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः[२१०५] सर्वं पश्यति, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात्।**

(अज्ञानकारणं ज्ञानावरणं कर्म तदभावे कात्स्र्न्यतोऽज्ञानाभावे भवतीति प्रतिपादयति)

१७५. कथं पुनर्ज्ञानावरणादिसम्बन्ध्यन्तरस्याभावे साकल्येन विरतमोहः[२१०६] स्यात्, यतः सर्वमतीतानागतवर्त्तमानानन्तार्थव्यञ्जन[२१०७]पर्यायात्मकं जीवादितत्त्वं साक्षात्कुर्वीतेति[२१०८] चेत्; इमे ब्रूमहे। यद्यस्मिन् सत्येव भवति तत्तदभावे न भवत्येव। यथाऽग्नेरभावे धूमः। सम्बन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो व्यामोहः[२१०९], तस्मात्तदभावे स न भवतीति निश्चीयते। देशकालतः[२११०] प्रत्यासन्नमेव[२१११] पश्येद्विरतव्यामोहोपि सर्वात्मना न पुनर्विप्रकृष्टम्[२११२]; इत्ययुक्तम्[२११३]; प्रत्यासत्तेर्ज्ञानाकारणत्वाद्विप्रकर्षस्य चाज्ञाननिबन्धनत्वात्, तद्भावेपि[२११४] ज्ञानाज्ञानयोरभावान्नयनतारकाञ्जनवच्चन्द्रार्कादिवच्च[२११५]। योग्यतासद्भावेतराभ्यां ज्ञानाज्ञानयोः[२११६] क्वचिद्भावे योग्यतैव[२११७] ज्ञानकारणम्, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात्[२११८]। सा पुनर्योग्यता देशतः कात्स्र्न्यतो वा व्यामोहविगमस्तत्प्रतिबन्धिकर्मक्षयोपशमक्षयलक्षण[२११९] इति साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं पश्यत्येव। तदुक्तम्—

ज्ञो[२१२०] ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धरि[२१२१]।
दाह्येऽग्निर्दाहको न[२१२२] स्यादसति प्रतिबन्धरि[२१२३]।। ।। ( )

(प्रत्यासत्तिविप्रकर्षवदिन्द्रियमपि न ज्ञानकारणमिति निगदति)

१७६. **अत एवाक्षानपेक्षा[२१२४]ऽञ्जनसंस्कृतचक्षुषो यथाऽऽलोकानपेक्षा।** अत एव। कुत एव ? साकल्येन विरतव्यामोहत्वादेव सर्वदर्शनादेव वा। यो हि देशतो विरतव्यामोहः किञ्चिदेवास्फुटं पश्यति वा तस्यैवाक्षापेक्षा लक्ष्यते, न तद्विलक्षणस्य प्रक्षीणसकलव्यामोहस्य सर्वदर्शिनः, सर्वज्ञत्व[२१२५]विरोधात्। न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः सम्भवति साक्षात्परम्परया वा।

(अवधिमनःपर्ययज्ञानिनोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा ? इत्यत्राह)

१७७. ननु[२१२६] चावधिमनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया ? तदावरण[२१२७]क्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः। न चैवं[२१२८] साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वाऽनैकान्तिकत्वं शङ्कनीयम्, विपक्षेऽक्षापेक्षे मतिश्रुतज्ञाने तदसम्भवात्[२१२९]। अवधिमनःपर्ययज्ञाने तदसम्भवात् पक्षाव्यापकत्वा[२१३०]दहेतुत्वमिति चेत्; न; सकलप्रत्यक्षस्यैव पक्षत्ववचनात्, तत्र चास्य हेतोः सद्भावात्, विकलप्रत्यक्षस्यावधिमनःपर्ययाख्यस्यापक्षीकरणात्। न चास्मदादिप्रत्यक्षेऽक्षापेक्षोपलक्षणात्सकलवित्प्रत्यक्षेऽपि साऽस्त्येवेति वक्तुं शक्यम्[२१३१], अञ्जनादिभिरसंस्कृतचक्षुषोऽस्मदादेरालोकापेक्षोपलक्षणात् तत्संस्कृतचक्षुषोऽपि कस्यचिदालोकापेक्षाप्रसङ्गात्। नक्तञ्चराणामालोकापायेऽपि स्पष्टरूपावलोकनप्रसिद्धेर्नालोको नियतं कारणं प्रत्यक्षस्येति चेत्, तर्हि सत्यस्वप्न[२१३२]ज्ञानस्येक्षणिकादिज्ञानस्य च स्पष्टस्य चक्षुराद्यनपेक्षस्य प्रसिद्धेरक्षमपि नियतं प्रत्यक्षकारणं माभूत्। ततो यथाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामालोकानपेक्षा स्फुटं रूपेक्षणे तथा साकल्येन

विरतव्यामोहस्य सर्वसाक्षात्करणेऽक्षानपेक्षा इति करणक्रमव्यवधानातिवर्त्तिसकलप्रत्यक्षो भवभृतां[२१३३] गुरुः प्रसिद्ध्यत्येव।

(तृतीयकारिकां विस्तरतो वैशद्येन च व्याख्याय पूर्वोक्तमुपसंहरन् चतुर्थकारिकाव्याख्यानस्योत्थानिकामाह)

१७८. यतश्चासौ न देवागमादिविभूतिमत्त्वादध्यात्मं बहिरपि दिव्यसत्यविग्रहादिमहोदयाश्रयत्वाद्वा महान्, नापि तीर्थकृत्त्वमात्रात्। यतश्च तीर्थच्छेदसम्प्रदायोऽपि वैदिको नियोगभावनादिसम्प्रदायो न संवादकः[२१३४] प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिसम्प्रदायस्तत्त्वोपप्लववादिसम्प्रदायो वा सर्वाप्तवादो[२१३५] वा न प्रमाणभूतो व्यवतिष्ठते, ततः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणो भगवन्! भवानेव[२१३६] भवभृतां प्रभुरात्यन्तिकदोषावरणहान्या[२१३७] साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थत्वेन च मुनिभिः **सूत्रकारादि**भिरभिष्टूयत इति **समन्तभद्राचार्यै**र्निरूपिते सति कुतस्तावदात्यन्तिकी दोषावरणहानिर्मयि[२१३८] विनिश्चितेति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषाऽस्त्यतिशायनात्[२१३९]।
क्वचिद्यथा[२१४०] स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ।।४।।

१७९. दोषावरण[२१४१]सामान्ययोर्हानेः प्रसिद्धत्वाद्[२१४२]धर्मित्वं न विरुद्ध्यते। तत्प्रसिद्धिः पुनरस्मदादिषु देशतो निर्दोषत्वस्य ज्ञानादेश्च कार्यस्य[२१४३] निश्चयाद्भवत्येव, अन्यथा तदनुपपत्तेः। सा क्वचिन्निश्शेषाऽस्तीति साध्यते[२१४४], वादिप्रतिवादिनोरत्र[२१४५] विप्रतिपत्तेः। अतिशायनादिति हेतुः। क्वचित्कनकपाषाणादौ किट्टकालिकादिबहिरन्तर्मलक्षयो यथेति दृष्टान्तः, प्रसिद्धत्वात्[२१४६]। स हि कनकपाषाणादौ प्रकृष्यमाणो[२१४७] दृष्टो निश्शेषः। तद्वद्दोषावरणहानिरपि प्रकृष्यमाणाऽस्मदादिषु प्रतीता सती क्वचिन्निश्शेषाऽस्तीति सिद्ध्यति। कः पुनर्दोषो नामावरणाद्भिन्नस्वभाव इति चेदुच्यते[२१४८]। **वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः[२१४९] स्वपरपरिणामहेतुः[२१५०]**। न हि दोष एवावरणमिति प्रतिपादने कारिकायां[२१५१] दोषावरणयोरिति द्विवचनं समर्थम्[२१५२]। ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात्पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्यूह्यते। तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च[२१५३]। स्वपरिणामहेतुक[२१५४] एवाज्ञानादिरित्ययुक्तम्, तस्य कादाचित्कत्वविरोधा[२१५५]ज्जीवत्वादिवत्[२१५६]। परपरिणामहेतुक[२१५७] एवेत्यपि न[२१५८] व्यवतिष्ठते, मुक्तात्मनोपि तत्प्रसङ्गात्[२१५९], सर्वस्य[२१६०] कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च। तथा च दोषो जीवस्य स्वपरपरिणामहेतुकः, कार्यत्वान्माषपाकवत्। नन्वेवं[२१६१] निश्शेषावरणहानौ दोषहानेः सामर्थ्यसिद्धत्वाद्दोषहानौ[२१६२] वावरणहानेरन्यतरहानिरेव[२१६३] निश्शेषतः साध्येति चेन्न, दोषावरणयोर्जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थत्वादुभयहानेर्निश्शेषत्वसाधनस्य[२१६४]। दोषो हि तावदज्ञानं ज्ञानावरणस्योदये जीवस्य स्याददर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्य, विविधमचारित्रमनेकप्रकारचारित्रमोहस्य, अदानशीलत्वादिर्दानाद्यन्तरायस्येति, तथा[२१६५] ज्ञानदर्शनावरणे तत्प्रदोष[२१६६]निह्नव[२१६७]मात्सर्या[२१६८]न्तराया[२१६९]ऽऽसादनो[२१७०]पघातेभ्यो[२१७१] जीवमास्रवतः[२१७२], केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादा[२१७३]द्दर्शनमोहः[२१७४], कषायोदयात्तीव्रपरिणामाच्चारित्रमोहः, विघ्नकरणादन्तराय इति **तत्त्वार्थे** प्ररूपणात्। समर्थयिष्यते चायं कार्यकारणभावो दोषावरणयोः "कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः" (आ.मी.९९) इत्यत्र।

१८०. [२१७५]अथ दोष एवाविद्या[२१७६]तृष्णा[२१७७]लक्षणश्चेतसो[२१७८]ऽनादितद्वासनोद्भूतः संसारहेतुर्नावरणं पौद्गलिकम्, तेन मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणायोगादिति वदतो बौद्धान्निराकर्तुमावरणग्रहणम्, मूर्तिमतापि मदिरादिना चित्तस्यामूर्तस्यावरणदर्शनात्, तत्[२१७९]सम्बन्धाद्विभ्रमसंवेदनात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः। मदिरादिनेन्द्रियाण्येवाव्रियन्त इति चेन्न, तेषामचेतनत्वे तदावरणासंभवात्, स्थाल्यादिवद्विभ्रमायोगात्। चेतनत्वे[२१८०] तेषाममूर्तत्वेपि मूर्तिमतावरणमायातमिति प्रायेणा[२१८१]न्यत्र चिन्तितम्। ततो दोषहानिवदावरणहानिरपि निश्शेषा क्वचित्साध्या, तदावरणस्य दोषादन्यस्य मूर्तिमतः प्रसिद्धेः। **अत[२१८२] एव लोष्टादौ निश्शेषदोषावरणनिवृत्तेः सिद्धसाध्यतेत्यसमीक्षिताभि[२१८३]धानम्, साध्यापरिज्ञानात्।**

१८१. प्रध्वंसाभावो हि दोषावरणयोः साध्यो न पुनरत्यन्ताभावः, तस्यानिष्टत्वात्[२१८४], सदात्मनो[२१८५] मुक्तिप्रसङ्गात्। नापीतरेतराभावः[२१८६], तस्य[२१८७] प्रसिद्धत्वात्, दोषावरणयोरनात्मत्वादात्मनश्चादोषावरणस्वभावत्वात्। प्रागभावोऽपि न साध्यस्तत[२१८८] एव, प्राग[२१८९]विद्यमानस्य दोषावरणस्य स्वकारणादात्मनि प्रादुर्भावाभ्युपगमात्। न च लोष्टादौ दोषावरणयोः प्रध्वंसाभावः सम्भवति, तस्य भूत्वा अभवनलक्षणत्वात्[२१९०], तयोस्तत्रा[२१९१]त्यन्तमभावात्। तत्र सिद्धसाध्यता।

१८२. नन्वेवं **दोषावरणयोर्हानिरतिशायनान्निश्शेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि किन्न परिक्षयः स्याद्वि[२१९२]शेषाभावादतो[२१९३]ऽनैकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षितम्,** चेतनादि[२१९४]गुणव्यावृत्तेः सर्वात्मना पृथिव्यादे[२१९५]रभि[२१९६]मतत्वात्[२१९७]। ननु च पृथिव्यादौ सर्वात्मना[२१९८] चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावस्याभावाद्[२१९९] बुद्धिहान्या[२२००]नैकान्तिकमेवातिशायनमित्यप्यनवबोधविजृम्भितम्, पृथिव्यादौ पुद्गले पृथिवीकायिकादिभिरात्मभिः शरीरत्वेन गृहीते स्वायुषः क्षयात्त्यक्ते चेतनादिगुणस्य व्यावृत्तेः सर्वात्मना प्रध्वंसाभावरूपत्वेन स्याद्वादिभिरभिमतत्वात्, "न हि स कश्चित्पुद्गलोस्ति यो न जीवैरसकृद्भुक्तोज्झितः" इति वचनात्। प्रसिद्धश्च पृथिव्यादौ चेतनादिगुणस्याभावः, अनुपलम्भा[२२०१]न्यथानुपपत्तेः। **अदृश्यानुपलम्भादभावा[२२०२]सिद्धि[२२०३]रित्ययुक्तम्, परचैतन्य[२२०४]निवृत्तावारेकापत्तेः, संस्कर्तॄणां पातकित्वप्रसङ्गात्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्।**

१८३. स्यान्मतं[२२०५] ते, **व्यापारव्याहाराकारविशेषव्या[२२०६]वृत्तिसमय[२२०७]वशात्ता[२२०८]दृशं लोको विवेचयति**—नास्त्यत्र मृतशरीरे चैतन्यम्, व्यापारव्याहाराकारविशेषानुपलब्धेः, कार्यविशेषानुपलम्भस्य कारण[२२०९]विशेषाभावाविनाभावित्वात्, चान्दनादिधूमानुपलम्भस्य तत्समर्थचान्दनादिपावकाभावाविनाभावित्ववत्। तथा नास्त्यस्य रोगो ज्वरादिः स्पर्शादिविशेषानुपलब्धेर्भूत[२२१०]ग्रहादिर्वा, चेष्टाविशेषानुपलब्धेः। सम्यग्वैद्यशास्त्रभूततन्त्रादिसमयवशादत्यन्ताभ्यस्तचैतन्यरोगादिकार्यविशेषाणां लोकानां तद्विवेकोपपत्तिरिति, तदेतत्[२२११]पृथिव्यादौ सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तावपि समानम्—नास्त्यत्र भस्मादिपृथिव्यादौ पृथिवीचेतनादिगुणः, **व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तेरिति समयवशात्तत्सिद्धान्तविल्लोको विवेचयति।**

१८४. स्यादाकूतं ते[२२१२], 'व्यापारादिविशेषस्यानुपलब्धेस्तज्जननसमर्थचेतनादिगुणव्यावृत्तिसिद्धावपि[२२१३] तज्जननासमर्थचेतनादिव्यावृत्त्यसिद्धेर्न सर्वात्मना तद्व्यावृत्तिसिद्धिः' इति, तदसमञ्जसम्, व्यापाराद्यशेषकार्य-जननासमर्थस्य शरीरिणां चेतनादेरसम्भवात्, संभवे वा शरीरित्वविरोधात्[२२१४]। ततः कार्यविशेषानुपलब्धेः[२२१५] सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेः सिध्यत्येव, मृतशरीरादेः परचैतन्यरोगादिनिवृत्तिवत्।

१८५. **यदि पुनरयं[२२१६] निर्बन्धः सर्वत्र विप्रकर्षिणामभावासिद्धेस्तदा[२२१७][२२१८][२२१९] कृतकत्वधूमादेर्विनाशानलाभ्यां व्याप्तेरसिद्धेर्न[२२२०] कश्चिद्धेतुः[२२२१]। ततः शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत्[२२२२], अनुमानोच्छेदप्रसङ्गात्[२२२३]।** न हि जैमिनीयमतानुसारिणो विप्रकर्षिणामर्थानामभावासिद्धिमनुमंन्यन्ते[२२२४], वेदे कर्त्रभावासिद्धिप्रसङ्गात्[२२२५] सर्वज्ञाद्यभावसाधनविरोधाच्च। ते तामनुमन्यमाना वा शौद्धोदनिशिष्यका एव। न चैषामेतदात्मनीनम्[२२२६][२२२७], अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वात्, साध्यसाधनयोर्व्याप्त्यसिद्धेः[२२२८]। परोपगमाद् व्याप्तिसिद्धेर्नानुमानोच्छेद इति चेन्न, तस्यापि परोपगमान्तरात्सिद्धावनवस्थाप्रसङ्गात्, तस्यानुमानात्सिद्धौ परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। प्रसिद्धेनुमाने ततः परोपगमस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च ततो व्याप्तिसिद्धेरनुमानप्रसिद्धिरिति। ततो न श्रेयानयं निर्बन्धः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेर्न सिद्ध्यत्येवेति। तत्प्रसिद्धौ च न बुद्धिहान्या हेतोर्व्यभिचारः तस्याः सपक्षत्वात्। **तथा हि—यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित् सर्वात्मना व्यावृत्तिः, यथा बुद्ध्यादिगुणस्याश्मनः[२२२९]। तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती[२२३०] कुतश्चिन्निवर्तयितुमर्हति सकलकलङ्कमिति[२२३१] कथमकलङ्कसिद्धिर्न[२२३२] भवेत्?**

१८६. ननु[२२३३] च यदि प्रध्वंसाभावो[२२३४] हानिस्तदा सा पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादेः कर्मद्रव्यस्य न संभवत्येव नित्यत्वात्[२२३५], तत्पर्यायस्य तु हानावपि कुतश्चित्[२२३६] पुनः प्रादुर्भावान्न[२२३७] निश्शेषा हानिः स्यात्। निश्शेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापि हानिप्रसङ्गः, तस्य तदविनाभावात्। तथा च निरन्वयविनाशसिद्धेरात्मादिद्रव्याभावप्रसङ्ग इति कश्चित्, सोप्यनवबुद्धसिद्धान्त एव। यस्माद्[२२३८] **मणेर्मलादेर्व्यावृतिः क्षयः[२२३९], सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तेः। तादृगात्मनोपि कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः।** प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता। सा च व्यावृत्तिरेव मणेः कनकपाषाणाद्वा मलस्य किट्टादेर्वा[२२४०]। न पुनरत्यन्तविनाशः। स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा? न तावद् द्रव्यस्य, नित्यत्वात्। नापि पर्यायस्य द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात्। तथाहि—विवादापन्नं मण्यादौ मलादि पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवं सत्त्वान्यथानुपपत्तेः[२२४१]। शब्देन व्यभिचार[२२४२] इति चेन्न, तस्य द्रव्यतया ध्रौव्याभ्युपगमात्। विद्युत्प्रदीपादिभिरनेकान्त[२२४३] इत्ययुक्तम्, तेषामपि द्रव्यत्वतो[२२४४] ध्रुवत्वात्, क्षणिकैकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधस्याभिधानात्। ततो यादृशी मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिर्हानिः परिशुद्धिस्तादृशी जीवस्य कर्मणां निवृत्तिर्हानिः। तस्यां च सत्यामात्यन्तिकी शुद्धिः सम्भाव्यते, सकलकर्मपर्यायविनाशेपि कर्मद्रव्यस्याविनाशात्तस्याकर्मपर्यायाक्रान्ततया[२२४५][२२४६] परिणमनात्, मलद्रव्यस्य मलात्मकपर्यायतया निवृत्तावप्यमलात्मकपर्यायाविष्टतया[२२४७] परिणमनवत्। तदेतेन तुच्छः प्रध्वंसाभावः सर्वत्र प्रत्याख्यातः,

कार्योत्पादस्यैव पूर्वाकारक्षयरूपत्वप्रतीतेः। समर्थयिष्यते चैतत् ''कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात्'' (आ.मी.) इत्यत्र[२२४८]। तेन मणेः कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम्। **कर्मणोपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो नातिप्रसज्यते[२२४९]।** द्रव्यार्थतया बुद्धेरात्मन्यविनाशात्सर्वात्मना परिक्षयाप्रसङ्गात्। पर्यायार्थतया परिक्षयेपि सिद्धन्ताविरोधात्।

१८७. ननु[२२५०] च यथा कर्मद्रव्यस्य कर्मस्वभावपर्यायनिवृत्तावप्यकर्मात्मकपर्यायरूपतयावस्थानम्, तथात्मनो बुद्धिपर्यायतयानिवृत्तावप्यबुद्धिपर्यायतयावस्थानात् सिद्धान्तविरोध एवेत्यतिप्रसज्यत इति चेन्न[२२५१], वैषम्यात्[२२५२]। कर्मद्रव्यं हि पुद्गलद्रव्यम्। तस्यात्मनि पारतन्त्र्यं कुर्वतः कर्मत्वपरिणामस्तदकुर्वतोऽकर्मत्वपरिणामेनावस्थानम्, रूपादिमत्त्व[२२५३]सामान्यलक्षणत्वात्पुद्गलद्रव्यस्य कर्मत्वलक्षणत्वाभावादविरुद्धमभिधीयते। बुद्धिद्रव्यं तु जीवः। तस्य बुद्धिः पर्यायः। तत् सामान्यं लक्षणम्, ''उपयोगो लक्षणम्'' (त.सू. २.८) इति वचनात्। न च लक्षणाभावे लक्ष्यमवतिष्ठते, [२२५४]तस्य [२२५५]तदलक्षणत्वप्रसक्तेर्येनाबुद्धिपर्यायात्मकतयावस्थानं जीवस्य निःशेषतो बुद्धिपरिक्षयेप्यविरुद्धं[२२५६] स्यात्।

१८८. नन्वेवमज्ञानादेर्दोषस्य[२२५७] पर्यायार्थतया हानिर्निश्शेषा सिध्येदावरणवन्न पुनर्द्रव्यार्थतया बुद्धिवत्। ततो दोषसामान्यस्यात्मन्यवस्थानान्न निर्दोषत्वसिद्धिरित्यपरः[२२५८], सोप्यतत्त्वज्ञ एव, यतः **प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुको[२२५९] मलः[२२६०] परिक्षयी[२२६१] स्वनिर्ह्रास[२२६२]निमित्तविवर्द्धनवशात्।** द्विविधो ह्यात्मनः परिणामः— स्वाभाविक आगन्तुकश्च। तत्र स्वाभाविकोनन्तज्ञानादिरात्मस्वरूपत्वात्। मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः, कर्मोदयनिमित्तकत्वात्[२२६३]। स चात्मनः प्रतिपक्ष एव। ततः परिक्षयी। तथा हि—यो यत्रागन्तुकः[२२६४] स तत्र स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्धनवशात्परिक्षयी। यथा जात्यहेम्नि ताम्रादिमिश्रणकृतः कालिकादिः[२२६५]। आगन्तुकश्चात्मन्यज्ञानादिर्मल इति स्वभावहेतुः। न तावदयमसिद्धः। कथम्? यो[२२६६] यत्र कादाचित्कः स तत्रागन्तुकः, यथा स्फटिकाश्मनि लोहिताद्याकारः। कादाचित्कश्चात्मनि दोष इति। न चेदं कादाचित्कत्वमसिद्धम्, समयग्ज्ञानादिगुणाविर्भावदशायामात्मनि दोषानुपपत्ते। ततः[२२६७] प्राक्[२२६८] तत्सद्भावाद्गुणा[२२६९]विर्भूतिदशायामपि तिरोहितदोषस्य सद्भावान्न कादाचित्कत्वम्, सातत्यसिद्धिरिति चेन्न, [२२७०]गुणस्याप्येवं[२२७१] सातत्यप्रसङ्गात्। [२२७२]तथा च हिरण्यगर्भादेर्वेदार्थज्ञानकालेपि वेदार्थाज्ञानप्रसङ्गः। ज्ञानाज्ञानयोः परस्परविरुद्धत्वादेकत्रैकदा न प्रसङ्ग इति चेत्तत एव सकलगुणदोषयोरेकत्रैकदा प्रसङ्गो मा भूत्। पुनर्दोषस्याविर्भावदर्शनाद्गुणकालेपि सत्तामात्रसिद्धिरिति चेत्तर्हि गुणस्यापि पुनराविर्भूतिदर्शनाद्दोषकालेपि सत्तामात्रसिद्धिरस्तु[२२७३], सर्वथा विशेषाभावात्। तथा चात्मनो दोषस्वभावत्वसिद्धिवद्गुणस्वभावत्वसिद्धिः कुतो निवार्येत? विरोधादिति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिरेव निवार्यताम्, [२२७४]तस्य गुणस्वभावत्वसिद्धेः। कुतः[२२७५] सेति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिः[२२७६] कुतः? संसारित्वान्यथानुपपत्तेः[२२७७], इति चेत्, [२२७८]तत्संसारित्वं सर्वस्यात्मनो यद्यनाद्यनन्तं तदा प्रतिवादिनोऽसिद्धम्, प्रमाणतो मुक्तिसिद्धेः। [२२७९]कुत इति चेदिमे [२२८०]प्रवदामः—क्वचिदात्मनि संसारोत्यन्तं निवर्तते, [२२८१]तत्कारणात्यन्तनिवृत्त्यन्यथानुपपत्तेः। संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादिकमुभयप्रसिद्धं[२२८२] क्वचिदत्यन्तं निवृत्तिमत्, तद्विरोधिसम्यग्दर्शनादिपरमप्रकर्षसद्भावात्। यत्र

यद्विरोधिपरप्रकर्षसद्भावस्तत्र तदत्यन्तं निवृत्तिमद्भवति, यथा चक्षुषि तिमिरादिः। नेदमुदाहरणं साध्यसाधनधर्मविकलम्, कस्यचिच्चक्षुषि तिमिरादेरत्यन्तनिवृत्तिमत्वप्रसिद्धेस्तद्विरोधिविशिष्टा[२२८३]ञ्जनादिपरम-प्रकर्षसद्भावसिद्धेश्च निर्वि[२२८४]वादत्वात्।

१८९. कथं मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि निश्चीयते, इति चेत्, [२२८५]तत्प्रकर्षे [२२८६]तदपकर्षदर्शनात्। यद्धि प्रकृष्यमाणं यदपकर्षति तत् तद्विरोधि सिद्धम्। यथोष्णस्पर्शः प्रकृष्यमाणः शीतस्पर्शमपकर्षंस्तद्विरोधी। मिथ्यादर्शनादिकमपकर्षति च प्रकृष्यमाणं क्वचित्सम्यग्दर्शनादि तत् तद्विरोधि। कथं पुनः सम्यग्दर्शनादेः क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावः सिद्धः, इति चेत्, प्रकृष्य[२२८७]माणत्वात्। यद्धि प्रकृष्यमाणं तत् क्वचित्परमप्रकर्षसद्भाव-भाग्दृष्टम्, यथा नभसि परिमाणम्, प्रकृष्यमाणं च सम्यग्दर्शनादि, तस्मात्परमप्रकर्षसद्भावभाक्। परत्वापरत्वाभ्यां व्यभि[२२८८]चार इति चेत्; न; तयोरपि सपर्यन्त[२२८९]जगद्वादिनां परमप्रकर्षसद्भावभाक्त्वसिद्धेः। न चापर्यन्तं जगदिति वक्तुं शक्यम्, विशिष्टसन्निवेशत्वात्पर्वतवत्। यत्पुनरपर्यन्तं तन्न विशिष्टसंन्निवेशं सिद्धम्, यथा व्योम, विशिष्टसन्निवेशं च जगत् तस्मात्सर्वतः सपर्यन्तमिति निगदितमन्य[२२९०]त्र। संसारेणाने[२२९१]कान्त इति चेन्न, तस्याप्यभव्यजीवेषु परमप्रकर्षसद्भावसिद्धौ प्रकृष्यमाणत्वेन प्रतीतेः। एतेन मिथ्यादर्शनादिभिर्व्यभिचार प्र[२२९२]त्याख्यातः, तेषामप्यभव्येषु परमप्रकर्षसद्भावात्। ततो नानैकान्तिकं प्रकृष्यमाणत्वं परमप्रकर्षसद्भावे साध्ये। नापि विरुद्धम्, सर्वथा विपक्षाद्व्या[२२९३]वृत्तेः। इति क्वचिन्न मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि परमप्रकर्षसद्भावं साध[२२९४]यति। स च सिध्यन्मिथ्यादर्शनादेरत्यन्तनिवृत्तिं गमयति। सा च गम्यमाना स्व[२२९५]कार्यसंसारात्यन्तनिवृत्तिं निश्चाययति। यासौ संसारस्यात्यन्तनिवृत्तिः सा मुक्तिरिति। तद[२२९६]न्यथानुपपत्तेरात्मनो ज्ञानादिगुणस्वभावत्वसिद्धेर्न दोषस्वभावत्वसिद्धिः, विरोधात्[२२९७]। प्रसिद्धायां क्वचिदात्मनि निःश्रेयसभाजि गुण[२२९८]स्वभावतायामभव्यादावपि त[२२९९]न्निर्णयः, जीवस्या[२३००]न्यथानुपपत्तेः। प्रसिद्धे च सर्वस्मिन्नात्मनि ज्ञानादिगुणस्वभावत्वे दोषस्वभावत्वासिद्धेः। सिद्धं दोषस्य कादाचित्[२३०१]कत्वमागन्तुकत्वं साधयति। ततः स[२३०२] एव परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तवि[२३०३]वर्द्धनवशादिति सुस्पष्टमाभाति, दोषनिर्ह्रासनिमित्तस्य सम्यग्दर्शनादेर्विवर्द्धनप्रसाधनात्। इत्यावर[२३०४]णस्य द्रव्यकर्मणो दोषस्य च भावक[२३०५]र्मणो भूभृत इव महतोत्यन्तनिवृत्तिसिद्धेः कर्मभूभृतां भेत्ता मोक्षमार्गस्य प्रणेता स्तोतव्यः समवतिष्ठते विश्वतत्त्वानां ज्ञाता च।

१९०. [२३०६]**ननु निरस्तोपद्रवः सन्नात्मा कथमकलङ्कोपि विप्रकर्षिणमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात्**। न हि नयनं निरस्तोपद्रवं विगलिततिमिरादिकलङ्कपटलमपि देशकालस्वभावविप्र[२३०७]कर्षभाजमर्थं प्रत्यक्षीकुर्वत् प्रतीतम्, स्वयो[२३०८]ग्यस्यैवार्थस्य तेन प्रत्यक्षीकरणदर्शनात्। निरस्तग्रहोपरागाद्युपद्रवोपि दिवसकरः प्रतिहतघनपटलकलङ्कश्च स्वयोग्यानेव वर्त्तमानानर्थान् प्रकाशयन्नुपलब्धो नातीतानागतानर्थानयोग्यानिति जीवोपि निरस्तरागादिभावकर्मोपद्रवः सन् विगलितज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मात्मककलङ्कोऽपि च कथं विप्रकृष्टमर्थमशेषं प्रत्यक्षीकर्तुं प्रभुः? मुक्तात्मा भवन्नपि न चोदनाप्रामाण्यप्रतिबन्धविधायी, [२३०९]धर्मादौ तस्या[२३१०] एव प्रामाण्यप्रसिद्धेः, मुक्तात्मनस्तत्राप्रमाणत्वात्, तस्यानन्दादिस्वभावपरिणामेपि धर्मज्ञत्वाभावादप्रतिषेध्यत्वात्[२३११]। तदुक्तम्—

धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलो[२३१२]ऽत्रोपयुज्यते ।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ।।१।।'' ( )

इति वदन्तमिव स्तोतुः[२३१३] प्रज्ञातिशय[२३१४]चिकीर्षया भगवन्तं प्र[२३१५]त्याहुः—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्व[२३१६]तोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ।।५।।

१९१. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकर्षिणोर्थाः परमाण्वादयः, अन्तरिताः कालविप्रकर्षिणो रामादयः, दूरास्तु देशविप्रकर्षिणो हिमवदादयस्ते कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, यथाऽग्न्यादिः, इत्येवं सर्वज्ञस्य सम्यक् स्थितिः स्यात् ।

१९२. अथ [२३१७]मतमेतत्—'सूक्ष्मादयोर्था [२३१८]यथाभूताः कस्यचित्प्रत्यक्षा दृष्टास्तथाभूता एव [२३१९]तथानुमेयत्वेन साध्यन्ते[२३२०]ऽन्यथाभूता वा ? यथाभूताश्चेत्सिद्धसाध्यता, सूक्ष्माणां सहस्रधा भिन्नकेशाग्रादीनामन्तरितानां च प्रपितामहादीनां दूरार्थानां च हिमवदादीनां क[२३२१]स्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रसिद्धेः । अन्यथाभूतानां तु कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधनेऽनुमेयत्वादित्यप्रयोजको हेतुः, क्ष्माधरादीनां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्ट[२३२२]त्वादिवत् । धर्म्यसिद्धिश्च, परमाण्वादीनामप्रसिद्धत्वात्' इति, तदयुक्तम्, विवादाध्यासितानां सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन साध्यत्वादप्रसिद्धं साध्यमिति वचनात् । धर्मादयोऽ[२३२३]पि कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन वादिप्रतिवादिनोर्विवादापन्नास्त[२३२४]त एव कस्यचित्प्रत्यक्षा इति साधयितुं युक्ता न पु[२३२५]नरन्ये । न चै[२३२६]वं धर्म्यसिद्धिः, धर्मादीनामसर्वज्ञवादिनोपि याज्ञिक[२३२७]स्य सिद्धत्वात् । नन्वेवं भूधरादीनां धीमद्धेतुकतया विवादापन्नानां तथा साध्यत्वे कथमप्रयोजको हेतुः, सन्निवेशविशिष्टत्वादिति, चेत्, स्वभावभेदात् । [२३२८]यादृशमभिनवभवनादिषु सन्निवेशविशिष्टत्वमक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकं धीमद्धेतुकत्वेन व्याप्तं प्रतिपन्नम्, तादृशमेव जीर्णप्रासादादिषूपलभ्यमानं धीमद्धेतुकत्वस्य प्रयोजकं स्यान्नान्यादृशं भूधरादिषु प्रतीयमानमकृतबुद्ध्युत्पादकमिति स्वयं मीमांसकैरभिधानात् । नैवमनुमेयत्वम्, तस्य स्वभावभेदाभावात्[२३२९] । न हि साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणलिङ्ग[२३३०]जनितज्ञानविषयत्वमनुमेयत्वम[२३३१]ग्न्यादौ धर्मादौ च लिङ्गिनि भिद्यते, येन कि[२३३२]ञ्चित् प्रयोजक[२३३३]मपरमप्रयोजकमिति विभागोऽवतरेत् । **स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वम[२३३४]सिद्धमित्यनुमानमुत्सारयति, यावान् कश्चिद्भावः स सर्वः क्षणिक इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसं[२३३५]हारायोगादवि[२३३६]प्रकर्षिणामनुमितेरानर्थक्यात् । [२३३७]सत्त्वादेरनित्यत्ववादि[२३३८]ना व्याप्तिमि[२३३९]च्छतां सिद्धमनुमेयत्वम[२३४०]नवयवेनेति न कि[२३४१]ञ्चिद्व्याहतं पश्यामः ।**

१९३. [२३४२]स्यान्मतम्—'केचिदर्थाः प्रत्यक्षाः, यथा घटादयः, केचिदनुमेयाः कदाचित् क्वचित् [२३४३]प्रत्यक्षप्रतिपन्नाविनाभावि[२३४४]लिङ्गाः, केचिदागममात्रगम्याः सर्वदा स्वभावादिविप्रकर्षिणो धर्मादयः, तेषां सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिगोचरत्वायोगात् । तदुक्तम्—

सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् ।
केवलागमगम्यत्वं [२३४५]लप्स्यते पुण्यपापयोः ।। ( ) इति ।

१९४. ततो धर्मादीनामनुमेयत्वमसिद्धमुद्भावयन्नपि [२३४६]नानुमानमुत्सारयति, [२३४७]तस्यानुमेयेर्थे व्यवस्थानात्।' इति; तदसत्, धर्मादीनामप्यनित्यत्वादि[२३४८]स्वभावतयानुमेयत्वोपपत्तेः। यथा हि—यावान्कश्चिद्भावः पर्यायाख्यः स सर्वोऽनेकक्षणस्थायितया [२३४९]क्षणिकः, यथा घटस्तथा च धर्मादिरिति मीमांसकैरपि [२३५०]कुतश्चित् पर्यायत्वादेरनित्यत्वेन व्याप्तिः साधनीया, तदसिद्धौ प्रकृतेपि धर्मादौ, पर्यायश्च धर्मादिरित्युपसंहारायोगात्। कथं चायं स्वभावादिविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धम[२३५१]भिदधानः सुखादीनाम[२३५२]विप्रकर्षिणामनुमितेरानर्थक्यं परिहरेत्? [२३५३]शश्वदविप्रकर्षिणामनुमितेरनिष्टेरदोष इति चेत्, क्व पुनरियमनुमितिः [२३५४]स्यात्? कदाचिदविप्रकर्षिणामन्यदा[२३५५] देशादिविप्रकृष्टानां[२३५६] प्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गानामनुमितिरिति चेत्, कथमेवं शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत [२३५७]इदं शोभेत? 'ज्ञाते त्वर्थेनुमानाद[२३५८]वगच्छति बुद्धिम्' इति। अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेरदोष इति चेत्, धर्मादिप्रतिपत्तिरपि तत एवास्तु। यथैव हि बहिरर्थपरिच्छित्यन्यथानुपपत्तेर्[२३५९]बुद्धिप्रतिपत्तिस्तथा श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्त्या धर्माधर्मादिप्रतिपत्तिरपि[२३६०] युक्ता भवितुम्। श्रेयःप्रत्यवायादेर[२३६१]न्यथाप्युपपत्तेः क्षीणार्थापत्तिरिति चेन्न, तदुत्पत्तौ दृष्टकारणव्यभिचार[२३६२]ाददृष्टकारणप्रतिपत्तेः, रूपादिज्ञानादिन्द्रियशक्ति[२३६३]प्रतिपत्तिवत्। न [२३६४]चार्थापत्तिरनुमानादन्यैव, अनुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणात्। ततो बुद्ध्यादेः शश्वद्वि[२३६५]प्रकर्षिणोनुमेयत्वसिद्धौ धर्मादेरपि [२३६६]तत्सिद्धिः।

१९५. ये तु [२३६७]ताथागतादयः सत्त्वकृत[२३६८]कत्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छन्ति, तेषां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्व्याहतमसर्वज्ञवादिनां [२३६९]सर्वज्ञवादिनां च, स्वभावादिविप्रकृष्टेष्वर्थेष्वनुमेयत्वव्यवस्थितेः।

१९६. एतेनात्यन्तपरोक्षेष्वर्थेष्वनुमेयत्वाभावाद्भागासिद्धमनुमेयत्वमित्येतदपि प्रत्याख्यातम्, तेषामपि [२३७०]कथञ्चिदनेकान्तात्मकत्वादिस्वभावतयानुमेयत्वसिद्धेः। [२३७१]अथवानुमेयत्वं श्रुतज्ञानादिगम्यत्वं हेतुः, मतेरनुपश्चान्मीयमानत्वाद्[२३७२], [२३७३]अनुमेयाः सूक्ष्मादयोर्था इति व्याख्यानान्मतिपूर्वज्ञानस्य श्रुतत्वात्, "श्रुतं मतिपूर्वम्" (त.सू. १.२०) इति वचनात्। न चैतदसिद्धं [२३७४]प्रतिवादिनोपि [२३७५]सर्वस्य [२३७६]श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वोपगमात्। 'चोदना[२३७७] हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलम् ( ) इति स्वयमभिधानात्। तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके—

सूक्ष्माद्यर्थोपि चाध्यक्षः [२३७८]कस्यचित्सकलः स्फुटम्।
[२३७९]श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपादिदेशवत् ।।
न हेतोः [२३८०]सर्वथैकान्तै[२३८१]रनेकान्तः कथञ्चन।
[२३८२]श्रुतज्ञानाभिगम्यत्वा[२३८३]त्तेषां [२३८४]दृष्टेष्टबाधनात् ।।
[२३८५] [२३८६]स्थानत्रयाविसंवादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते।
[२३८७]तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ।। इति ॥

१९७. ततोनुमेयाः सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः सिद्धा एव। **तेऽनुमेया[२३८८] न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च स्युः, किं व्याहन्यते? [२३८९]इति समानमग्न्यादीनाम्।** अग्न्यादयोनुमेयाः स्युः कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च न स्युरिति। **तथा चानुमानोच्छेदः स्यात्,** सर्वानुमानेषू[२३९०]पालम्भस्य समानत्वात्। शक्यं हि वक्तुं धूमश्च क्वचित्स्यादग्निश्च न

स्यादिति । [२३९१]**तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्य[२३९२]विज्ञानव्यक्तिभिरध्यक्षं किं [२३९३]लक्ष्येत [२३९४]प्रमाणतया [२३९५]परमप्रमाणतयेति [२३९६]न [२३९७]किञ्चि[२३९८]देतत् तया नैतत्तया वा [२३९९]अयमभ्युपगन्तुमर्हति ।** प्रत्यक्षं प्रमाणमविसंवादित्वादनुमानादिकमप्रमाणम्, विसंवादित्वादिति [२४००]लक्षयतोनुमानस्य बलाद् व्यवस्थितेर्न प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व्यवतिष्ठते। ततोनुमानमिच्छता याज्ञिकेनेव [२४०१]लौकायतिनेनापि प्रसिद्धाविनाभावनियमनिश्चयलक्षणादनुमेयत्वहेतोः सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसिद्धिरेषितव्या ।

१९८. [२४०२]स्यान्मतम्—बाधितविषयोयं हेतुरनुमानेन पक्षस्य बाधनात्। तथाहि—न कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थ-साक्षात्कारी, प्रमेयत्वात् सत्त्वाद्वस्तुत्वादस्मदादिवत्। न चेदं [२४०३]साधनमसिद्धं व्यभिचारि वा, प्रत्यक्षाद्य[२४०४]विसंवादित्वात्। तदुक्तम्—

प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि [२४०५]यस्य तु ।
सद्भाववारणे शक्तं को नु [२४०६]तं कल्पयिष्यति ।। ( ) इति।

१९९. तदप्यसम्यक्, [२४०७]तत एव कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धेः। सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वाद्वा स्फटिकादिवत्। अनुमेये[२४०८]नात्यन्त[२४०९]परोक्षेण चार्थेन व्यभिचार इति चेन्न, [२४१०]तस्य पक्षीकरणात्। **तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र[२४११] [२४१२]हेतुलक्षणं पुष्णाति, तं[२४१३] कथं [२४१४]चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा ।** सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणस्तस्यैव[२४१५] सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादस्तित्वसिद्धेरबाधितविषयत्वस्यापि [२४१६]परोपगतहेतुलक्षणस्य प्रकृतहेतोः पोषणात्।

२००. [२४१७]ननु च सर्वज्ञस्यास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं हेतुः सर्वज्ञभावधर्मश्चेदसि[२४१८]द्धः। को हि नाम सर्वज्ञभावधर्मं हेतुमिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत् ? सर्वज्ञाभावधर्मश्चेद्विरुद्धः, [२४१९]ततः सर्वज्ञनास्तित्वस्यैव सिद्धेः। सर्वज्ञभावाभावधर्मश्चेद्व्यभिचारी, सपक्षविपक्षयोर्वृत्तेः। तदुक्तम्—

असिद्धो भावधर्मश्चेद्व्यभिचार्युभयाश्रयः ।
विरुद्धो धर्मोऽभावस्य स सत्तां साधयेत् कथम् ।। ( ) इति।

[२४२०]**धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वात् कथं सकलविदि सत्त्वसिद्धिरिति ब्रुवन्नपि [२४२१]देवानांप्रियस्तद्धर्मि[२४२२]स्वभावं न लक्षयति ।** [२४२३]स हि तावदेवं[२४२४] सौगतमतमाश्रित्य ब्रुवाणः [२४२५]प्रष्टव्यः—**शब्दानित्यत्वसाधनेपि [२४२६]कृतकत्वादावयं विकल्पः किं न स्यादिति ।** शक्यं हि वक्तुम्, कृतकत्वादिहेतुर्यद्यनित्यशब्दधर्मस्तदाऽसिद्धः। को हि नामानित्यशब्दधर्मं हेतुमिच्छन्ननित्यशब्दमेव नेच्छेत्[२४२७] ? अथ नित्यशब्दधर्मस्तदा विरुद्धः, साध्य[२४२८]विरुद्धसाधनात्। अथोभयधर्मस्तदा व्यभिचारी, सपक्षेतरयोर्वर्तमानात्[२४२९]। इति सर्वानुमानोच्छेदः, [२४३०]क्वचित्पावकादौ साध्ये धूमवत्त्वादावपि विकल्पस्यास्य[२४३१] समानत्वात्।

२०१. [२४३२]विमत्यधिकरणभावापन्न[२४३३]विनाशधर्मिधर्मत्वे[२४३४] कार्यत्वादेरसंभवद्बाधकत्वादेरपि [२४३५]सन्दिग्धसद्भाव-[२४३६]धर्मिधर्मत्वं [२४३७]सिद्धं बोद्धव्यम्।

२०२. [२४३८] ननु च शब्दादेर्धर्मिणि शब्दत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धानित्यत्वादिसाध्यधर्मकस्य धर्मो हेतुः कृतकत्वादिरिति युक्तम्, सर्वथाप्यसिद्धसत्ताकस्य तु सर्वज्ञस्य कथं विवादापन्नसद्भावधर्मकस्य धर्मो हेतुरसंभवद्बाधकत्वादिर्युज्यते, 'प्रसिद्धो धर्मी, अप्रसिद्धधर्मविशेषणविशिष्टतया [२४३९] स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः पक्षः' ( ) इति [२४४०] वचनात्, कथञ्चिदप्यप्रसिद्धस्य धर्मित्वायोगादिति [२४४१] कश्चित्; सोपि यदि सकलदेशकालवर्तिनं शब्दं धर्मिणमाचक्षीत तदा कथं प्रसिद्धो धर्मीति ब्रूयात्, तस्याप्रसिद्धत्वात्। परोपगमात् सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीति चेत्, [२४४२] स्वाभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी किन्न भवेद्धेतु[२४४३]धर्मवत्। [२४४४] परं प्रति समर्थित एव हेतुधर्मः साध्य[२४४५]साधन इति चेत, धर्म्य[२४४६]पि [२४४७] परं प्रति [२४४८] समर्थित एवास्तु विशेषाभावात्।

२०३. किञ्च[२४४९], सर्वथा प्रसिद्धसत्ताको धर्मी कथञ्चिद्वा ? सर्वथा चेच्छब्दादिरपि धर्मी न स्यात्, तस्याप्रसिद्ध[२४५०]-साध्यधर्मोपाधिसत्ताकत्वात्[२४५१]। कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकः शब्दादिर्धर्मीति चेत्, सर्वज्ञः कथं धर्मी न स्यात् ? प्रसिद्धात्मकत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य[२४५२] च [२४५३] धर्मिणोभ्युपगमे सर्वथा नाप्रसिद्धसत्ताकत्वम्, कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकत्वात्। स्याद्वादिनो हि कश्चिदात्मा सर्वज्ञोस्तीति पक्षप्रयोगमाचक्षते [२४५४] नान्यथा। ततोय[२४५५]मुपालभ[२४५६]मानो धर्मिस्वभावं न [२४५७] लक्षयत्येव, [२४५८] प्रकृतानुमाने सर्वज्ञस्य धर्मित्वावचनाच्च। सूक्ष्माद्यर्था एव ह्यत्र धर्मिणः प्रयुक्ता[२४५९]स्तावत् प्रसिद्धसत्ताका एव, परमाण्वादीनामपि प्रमाणप्रसिद्धत्वेन वक्ष्यमाण[२४६०]त्वात्।

२०४. ननु [२४६१] सूक्ष्मादयोऽर्थाः किमिन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्या उतातीन्द्रियप्रत्यक्षेण[२४६२] ? प्रथमविकल्पेऽनुमानविरुद्धः[२४६३] पक्षः सूक्ष्माद्य[२४६४]र्था न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः सर्वथे[२४६५]न्द्रियसम्बन्धरहितत्वात्[२४६६]। [२४६७] ये तु कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयास्ते न सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिता दृष्टाः, यथा घटादयः, सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिताश्च सूक्ष्माद्यर्थास्तस्मान्न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषया' इति केवलव्यतिरेकिणानुमानेन बाध्यमानत्वात्। न च सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहितत्व[२४६८]मसिद्धम्, साक्षात्परमाणु[२४६९]धर्मादीनामिन्द्रियसम्बन्धाभावात्। तथा हि—न कस्यचिदिन्द्रियं साक्षात्परमाण्वादिभिः सम्बध्यते, इन्द्रियत्वात्, अस्मदादीन्द्रियवत्। योग[२४७०]जधर्मा[२४७१]नुगृहीतमिन्द्रियं योगिनस्तैः साक्षात्सम्बध्यते इति चेत्, कोय[२४७२]मिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम ? स्वविषये [२४७३] प्रवर्तमानस्यातिशया[२४७४]धानमिति चेत्तदसंभव एव, परमाण्वादौ स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावात्। प्रवर्तने वा योगजधर्मानुग्रहस्य वैयर्थ्यात्। तत एवेन्द्रियस्य परमाण्वादिषु प्रवृत्तौ परस्पराश्रयप्रसङ्गः[२४७५]। सतीन्द्रियस्य योगजधर्मा[२४७६]नुग्रहे परमाण्वादिषु प्रवृत्तिः सत्यां च तस्यां योगजधर्मानुग्रह इति। परमाण्वादिष्विन्द्रियस्य प्रवृत्तौ सहकारित्वं योगजधर्मानुग्रहस्य, इति चेन्न, स्वविषयातिक्रमेण[२४७७] तस्य तत्र तदनुग्रहायोगात्, अन्यथा कस्यचिदेकस्येन्द्रिय[२४७८]स्य सकलरसादिषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गात्[२४७९]। [२४८०] दृष्टविरोधान्नैवमिति चेत्, समान[२४८१]मन्यत्र[२४८२]। यथैव हि चक्षुरादीनि प्रतिनियतरूपादिविषयाणि दृष्टानि नाप्रतिनियतसकल[२४८३]रूपा[२४८४]दिविषयाणि, तथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानि महत्त्वोपेतानि पृथिव्यादिद्रव्याणि तत्समवेतरूपादीनि चक्षुरादीन्द्रियगोचरतया प्रसिद्धानि, न पुनः परमाण्वादीनि। [२४८५] अथ [२४८६] समाधिविशेषोत्थधर्ममाहात्म्याद् दृष्टातिक्रमेण परमाण्वादिषु

चक्षुरादीनि प्रवर्तन्ते, न पुना रसादिष्वेकमिन्द्रियम्, [२४८७]इति न किञ्चिद्विशेषव्यवस्थानिबन्धनमन्यत्र जाड्यात्।

२०५. एतेन[२४८८] परम्परया परमाणुरूपादि[२४८९]ष्विन्द्रियसम्बन्धः प्रतिध्वस्तः, संयोगाभावे संयुक्तसमवायादीना[२४९०]मसंभवात्। श्रोत्रे सकलशब्दसमवायासंभवे शब्दत्वेन समवेतसमवायासंभववत्।

२०६. [२४९१]यदि पुनरेकमेवान्तःकरणं योगजधर्मानुगृहीतं युगपत्सकलसूक्ष्माद्यर्थविषयमिष्यते[२४९२], तदापि दृष्टातिक्रम[२४९३] एव, मनसो युगपदनेकत्र विषये प्रवृत्त्यदर्शनात्[२४९४]। तत्र दृष्टातिक्रमेष्टौ[२४९५] वा स्वयमात्मैव समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषवशादन्तःकरणनिरपेक्षः साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थान् पश्यतु, किमिन्द्रियेणेवान्तःकरणेन ? तथा च नेन्द्रियजज्ञानेन कस्यचित्प्रत्यक्षाः सूक्ष्माद्यर्थाः संभाव्यन्ते।

२०७. [२४९६]अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्यन्ते इति चेत्, [२४९७]अप्रसिद्धविशेषणः[२४९८] पक्षः, [२४९९]क्वचिदतीन्द्रियज्ञानप्रत्यक्षत्वस्याप्रसिद्धेः सांख्यं प्रति विनाशी शब्द इत्यादिवत्[२५००]। साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यादग्न्यादेरतीन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वाभावात्, [२५०१]इति केचित्।

२०८. तेपि न सम्यग्वादिनः, सूक्ष्माद्यर्थानामिन्द्रियजप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधनात्तत्पक्षनिक्षिप्तदोषानवतारात्[२५०२]। तथा साधयतां[२५०३] स्याद्वादिभिरपि तद्दोषसमर्थनात्। [२५०४]नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्तत्प्रत्यक्षत्वं साध्यते, येनाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यात्, प्रत्यक्ष[२५०५]सामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वसाधनात्। प्रसिद्धे च सूक्ष्माद्यर्थानां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वज्ञत्वस्य सम्यक्स्थित्युपपत्तेस्तत्प्रत्यक्षस्येन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वं सिध्यत्येव। तथा हि—योगि[२५०६]प्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम्, सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात्, [२५०७]यत्रेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं तत्र सूक्ष्माद्यर्थविषयं दृष्टम्, यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, सूक्ष्माद्यर्थविषयं च योगि[२५०८]प्रत्यक्षं प्रसिद्धम्, तस्मादिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम्। नावधिमनःपर्ययप्रत्यक्षाभ्यां हेतुर्व्यभिचारी, तयोरपीन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वसिद्धेः।

२०९. ननु[२५०९] च कस्येदं सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वं साध्यते ? अर्हतोऽनर्हतः[२५१०] सामान्यात्मनो वा ? **यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः [२५११]साध्यते, पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम्। अत एव [२५१२]व्याप्तिर्न सिद्ध्येत्। अनर्हतश्चेदनिष्टानुषङ्गोऽपि[२५१३]। कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थ[२५१४]प्रत्यक्षत्वम् ? [२५१५]इत्येतद्विकल्पजालं शब्दनित्यत्वेपि[२५१६] समानम्, न केवलं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा। [२५१७]तदयमनुमानमुद्रां भिनत्ति[२५१८]।** न कश्चित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारी, पुरुषत्वादेः, रथ्यापुरुषवत्। विवादापन्नः पुरुषः सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वेन संशयित एव, विप्रकृष्ट[२५१९]स्वभावत्वात्[२५२०], पिशाचादिवत्। इति सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा [२५२१]तावदिदं विकल्पजालं समानं सिद्धमेव। [२५२२]स हि तत्र प्रतिषेधं संशयं वा साधयन् किमर्हतः साधयेदनर्हतः सामान्यात्मनो वा ? अर्हतश्चेदप्रसिद्धविशेषणः पक्षो व्याप्तिश्च न सिध्येत्, दृष्टान्तस्य[२५२३] साध्यशून्यतानुषङ्गात्। अनर्हतश्चेत् स एव दोषो बुद्धादेः परस्या[२५२४]सिद्धेरनिष्टानुषङ्गश्च, अर्हतस्तत्प्रत्यक्षत्वविधाननिश्चयात्। कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य [२५२५]विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्व-

प्रतिषेधसंशयौ साध्येते ? इति। [२५२६]तद्वच्छब्दनित्यत्वसाधनेपि समानमेतद्विकल्पजालम्। तथाहि— [२५२७]अयं शब्दानां नित्यत्वं साधयन् सर्वगतानां साधयेदसर्वगतानां वा सामान्यात्मनां वा ? **वर्णानां नित्यत्वमकृतकत्वादिना सर्वगतानां यदि साधयति स्यादप्रसिद्ध[२५२८]विशेषणः [२५२९]पक्षः, [२५३०]इतरथानिष्टानुषङ्गः। कीदृक् पुनः सामान्यं नाम [२५३१]यदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतत्वसाधनेपि [२५३२]समानम्।** [२५३३]तद्धि वर्णानाममूर्तानां साधयेन्मूर्तानां तदुभयसामान्यात्मनां वा ? यद्यमूर्तानां [२५३४]सर्वगतत्वं साधयेत्तदाऽप्रसिद्धविशेषणता पक्षस्य। अथ मूर्तानाम[२५३५]निष्टानुषङ्गः। कीदृक् पुनः सामान्यं नाम [२५३६]यदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतेतरसामान्यात्मन इव मूर्तेतरसामान्यात्मनोऽसम्भवाद्वर्णेषु। [२५३७]तदयमनुमानमुद्रां [२५३८]सर्वत्र भिनत्ति, इति नानुमानविचारणायामधिकृतः स्यात्। [२५३९]**अविवक्षितविशेषस्य पक्षीकरणे समः [२५४०]समाधिरित्यलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः।** यथैव हि शब्दस्याविवक्षितसर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेषस्याकृतकत्वादिहेतुना नित्यत्वे साध्ये न कश्चिद् दोषः स्यात्। नाप्यविवक्षितामूर्तत्वेतरविशेषस्य सर्वत्रोप[२५४२]लभ्यमानगुणत्वादिना[२५४३] सर्वगतत्वे, तथैवाविवक्षितार्हदनर्हद्विशेषस्य कस्यचित्पुरुषस्य विप्रकृष्टार्थसाक्षात्करणेपि साध्येऽनुमेयत्वादिहेतुना न कश्चिद्दोषं [२५४४]पश्यामोन्यत्राप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघेभ्यः [२५४५]प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धिभ्यः, [२५४६]तेषामप्रतिष्ठितत्वात्, [२५४७]साधनाभासे इव सम्यक्साधनेपि [२५४८]स्वाविषयेवतारात्। ततो निरवद्यमिदं साधनं कस्यचित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वं साधयति।

२१०. नन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्मभूभृद्भेदित्वमिव विश्वतत्त्वसाक्षात्कारित्वम्, प्रमाणसद्भावात्।[२५४९] स तु परमात्माऽर्हन्नेवेति कथं निश्चयो यतोहमेव महानभिवन्द्यो भवतामिति [२५५०]व्यवसिता[२५५१]भ्यनुज्ञानपुरस्सरं भगवतो विशेष-सर्वज्ञत्वपर्य[२५५२]नुयोगे सतीवाचार्याः प्राहुः—

स त्वमेवासि निर्दोषो [२५५३]युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते[२५५४]।।६।।

२११. दोषास्तावदज्ञानरागद्वेषादय उक्ताः। निष्क्रान्तो दोषेभ्यो निर्दोषः। [२५५५]प्रमाणबलात्सिद्धः सर्वज्ञो वीतरागश्च सामान्यतो यः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्। यो [२५५६]यत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टः, यथा क्वचिद् व्याध्युपशमे भिषग्वरः[२५५७]। युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिसंसारतत्[२५५८]कारणेषु, तस्मान्निर्दोष इति निश्चयः। युक्तिशास्त्राभ्यामविरोधः कुतो [२५५९]मद्वाचः सिद्धोऽनवय[२५६०]वेनेति चेत्, यस्मादिष्टं मोक्षादिकं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते। तथा हि—यत्र [२५६१]यस्माभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्, यथा रोगस्वास्थ्यतत्का[२५६२]रणतत्त्वे भिषग्वरः, न बाध्यते च प्रमाणेन भगवतोऽभिमतं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम्, तस्मात्तत्र [२५६३]त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। इति विषयस्य युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्व-[२५६४]साधनम्। [२५६५]कथमत्र कारिकायामनुपात्तो भिषग्वरो दृष्टान्तः कथ्यते इति चेत्; स्वयं ग्रन्थ[२५६६]कारेणान्यत्रा[२५६७]भिधानात्—

त्वं शम्भवः [२५६८]संभवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके।
[२५६९]आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै।।

(स्वयंभू. ११(३.१) श्लोक)

इति स्तोत्रप्रसिद्धेः। इह [२५७०]दृष्टान्तावचनं तु संक्षेपोपन्यासान्न विरुध्यते, अन्यथानुपपन्नत्वनियमैकलक्षण-प्राधान्य[२५७१]प्रदर्शनार्थं वा।

२१२. [२५७२]तत्र भगवतोभिमतं मोक्षतत्त्वं तावन्न प्रमाणेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य [२५७३]तद्बाधकत्वायोगात्। [२५७४]नास्ति कस्यचिन्मोक्षः, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात्, कूर्मरोमादिवत्, इत्यनुमानेन बाध्यते, इति चेन्न, मोक्षस्यानुमानादागमाच्च प्रसिद्धप्रामाण्यादस्तित्वव्यवस्था[२५७५]पनात्, क्वचिद्दोषावरणक्षयस्यैवानन्तज्ञानादिस्वरूप-लाभफलस्यानुमाना[२५७६]गमप्रसिद्धस्य मोक्षत्वात्;—

'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' (त.सू. १०,२)

इति वचनात्। [२५७७]तत एव नागमेनापि मोक्षतत्त्वं बाध्यते, [२५७८]तस्य तत्सद्भावावेदकत्वव्यवस्थितेः। तथा [२५७९]मोक्षकारणतत्त्वमपि न प्रमाणेन विरुध्यते, प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षप्रतिपत्तेरभावात्, [२५८०]तेन तद्बाधनायोगात्। नानुमानेनापि तद्बाधनम्, [२५८१]ततो मोक्षस्य कारणवत्त्वसिद्धेः। [२५८२]सकारणको मोक्षः, प्रतिनियतका[२५८३]लादित्वात्, पटादिवत्। तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुषङ्गः, परापेक्षारहितत्वाद् इति। नागमेनापि मोक्षकारणतत्त्वं बाध्यते, तस्य तत्साधकत्वात्—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि [२५८४]मोक्षमार्गः' (त.सू. १,१) इति वचनात्। तथा संसारतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षतः संसाराभावासिद्धेः, [२५८५]तस्य तद्बाधकत्वाघटनात्। स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः। स न प्रत्यक्षविषयो येन प्रत्यक्षं तं बाधेत।

२१३. [२५८६]अनुमानं तद्बाधकमिति चेन्न, [२५८७]तदभावप्रतिबद्धलिङ्गाभावात्। [२५८८]गर्भादिमरणपर्यन्तचैतन्यविशिष्ट[२५८९]कायात्मनः पुरुषस्य जन्मनः पूर्वं मरणाच्चोत्तरं नास्ति भवान्तरम्, अनुपलब्धेः, खपुष्पवत्, इत्यनुपलम्भः संसाराभावग्राहकः संसारतत्त्वबाधक इति चेन्न, तस्यासिद्धेः। प्राणिना[२५९०]माद्यं चैतन्यं [२५९१]चैतन्योपादानकारणकम्, चिद्विवर्तत्वात्, [२५९२]मध्यचैतन्यविवर्तवत्। तथाऽन्त्यचैतन्यपरि[२५९३]णामश्चै[२५९४]तन्यकार्यः, तत एव, तद्वत्। इत्यनुमानेन पूर्वोत्तरभावोपलम्भाद्यथोक्तसंसारतत्त्वसिद्धेः। गोमयादेरचेतनात्वाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिदर्शनात्तेन [२५९५]व्यभिचारी हेतुरिति चेन्न, [२५९६]तस्यापि पक्षीकरणात्। वृश्चिकादिशरीरस्याचेतनस्यैव गोमयादेः [२५९७]सम्मूर्च्छनम्, न पुनर्वृश्चिकादिचैतन्यविवर्तस्य, तस्य पूर्वचैतन्यविवर्तादेवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात्। [२५९८]खड्गिचरमचित्तेन चित्तान्तरानु[२५९९]पादानेन व्यभिचारः साधनस्येत्यपि [२६००]स्वमनोरथमात्रम्, [२६०१]तस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धत्वात्, निरन्वयक्षणक्षयस्य [२६०२]प्रतिक्षेपात्।

२१४. ननु च यथाद्यः पथिकाग्नि[२६०३]ररणिनिर्मथनोत्थोऽनग्निपूर्वको दृष्टः, परस्त्वग्निपूर्वक एव, तथाद्यं चैतन्यं कायाकारादिपरिणतभूतेभ्यो भविष्यति, [२६०४]परं तु चैतन्यपूर्वकम्, विरोधाभावात्; इति कस्यचित्प्रत्यवस्थितिः स्वपक्षघातिनी [२६०५]जातिरेव, चिद्विवर्तत्वस्य [२६०६]हेतोः साध्येन व्याप्तेरखण्डनात्। प्रथमपथिकाग्नेरनग्न्युपादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्युपादानत्वोपपत्तेः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य तत्त्वान्तर[२६०७]भावविरोधः। तथा हि—येषां परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न [२६०८]तत्त्वान्तरत्वम्, यथा क्षितिवि[२६०९]वर्तानाम्, परस्परमुपादानोपादेयभावश्च पृथिव्यादीनाम्, इत्येकमेव पुद्गलतत्त्वं पृथिव्यादिविवर्तमवतिष्ठेत।

२१५. अथ न क्षित्यादीनां परस्परमुपादानोपादेयभावः, सहकारिभावोपगमात्। कथमपावक[२६१०]कोपादानः प्रथमः पथिकपावकः प्रसिद्ध्येत्, यतस्तद्वदचेतनपूर्वकं प्रथमचैतन्यं प्रसज्येत ? यथैव हि प्रथमाविर्भूत[२६११]-पावकादेस्तिरोहितपावकान्तरादिपूर्वकत्वं तथा गर्भचैतन्यस्याविर्भूतस्वभावस्य तिरोहितचैतन्यपूर्वकत्वमिति किन्न व्यवस्था स्यात् ?

२१६. स्यान्मतम्[२६१२], सहकारि[२६१३]मात्रादेव प्रथमपथिकाग्नेरुपजननोपगमात्तिरोहिताग्न्य[२६१४]न्तरोपादानत्वमसिद्धमिति; तदसत्[२६१५], अनुपादानस्य कस्यचिदुपजननादर्शनात्। शब्दविद्युदादेरुपादानादर्शनाददोष इति चेन्न, शब्दादिः सोपादान एव, कार्यत्वात्, घटादिवत्, इत्यनुमानात्तस्यादृश्योपादानस्यापि सोपादानत्वस्य[२६१६] साधनात्। नन्वस्तु[२६१७] सर्वोऽग्निरग्न्यन्तरोपादान एव, सर्वस्य[२६१८] सजातीयोपादानत्वव्यवस्थितेः। चेतनस्य तु चेतनान्तरोपादानत्वनियमो न युक्तः, तस्य भूतोपादानत्वघटनात्, भूतचेतनयोः सजातीयत्वात्तत्त्वान्तरत्वासिद्धेः[२६१९], इति चेन्न, तयोर्भिन्नलक्षणत्वात्तत्त्वान्तरत्वोपपत्तेः, तोयपावकयोरपि तत[२६२०] एव परैस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात्[२६२१]। तथा हि—तत्त्वान्तरं भूताच्चैतन्यम्, तद्भिन्नलक्षणत्वान्यथानुपपत्तेः। न तावदसिद्धो हेतुः, क्षित्यादिभूतेभ्यो रूपादिसामान्यलक्षणेभ्यः[२६२२] स्वसंवेदनलक्षणस्य चैतन्यस्य तद्भिन्नलक्षणत्वसिद्धेः। न हि भूतानि स्वसंवेदनलक्षणानि, अस्मदाद्यनेकप्रतिपतृप्रत्यक्षत्वात्। यत्पुनः स्वसंवेदनलक्षणं तन्न तथा[२६२३] प्रतीतम्, यथा ज्ञानम्[२६२४], तथा[२६२५] च भूतानि तस्मान्न स्वसंवेदनलक्षणानि। अनेकयोगिप्रत्यक्षेण सुखादिसंवेदनेन[२६२६] व्यभिचारी हेतुरिति न शङ्कनीयम्, अस्मदादिग्रहणात्[२६२७]। ज्ञानस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वमसिद्धमिति चेन्न, बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्त्या[२६२८] तस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वसिद्धेः। यो ह्यस्वसंवेदनलक्षणः स न बहिरर्थस्य परिच्छेदको दृष्टः, यथा घटादिरिति विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावात्सिद्धा हेतोरन्यथानुपपत्तिः। प्रदीपादिनानेकान्त[२६२९] इति चेन्न, तस्य जडत्वेन[२६३०] बहिरर्थपरिच्छेदकत्वासम्भवात्, बहिरर्थपरिच्छेदकज्ञानोत्पत्तिकारणत्वात्तु प्रदीपादेर्बहिश्चक्षुरादिरिव परिच्छेदकत्वोपचारात्। न चोपचरितेनार्थपरिच्छेदकेन प्रदीपादिना मुख्यस्यार्थपरिच्छेदकत्वस्य हेतोर्व्यभिचारचोदनं विचारचतुरचेतसां कर्तुमुचितम्, अतिप्रसङ्गात्[२६३१]। स्वरूपमात्रपरिच्छेदनव्यापृते सुखादिज्ञाने बहिरर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेन्न, तस्यापि[२६३२] स्वतो बहिर्भूतसुखादिपरिच्छेदकत्वाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्वसिद्धेः कुम्भादिवेदनस्यापि[२६३३] सर्वथा स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वानुपपत्तेः; सदाद्यात्मना[२६३४] कुम्भादे संवेदनादभेदप्रतीतेः[२६३५], अन्यथा[२६३६] तदसत्त्वप्रसङ्गात्। कथञ्चित्स्वबहिर्भूतत्वं तु सुखादिसंवेदनात्सुखादेरपि प्रतीयत एव, सुखादि-तत्संवेदनयोः कारणादिभेदाद्भेदव्यवस्थितेः[२६३७]। तर्हि घटादिज्ञानवत् सुखादिज्ञानस्यापि स्वबहिर्भूतार्थ-परिच्छेदकत्वात्ततोऽन्यस्य[२६३८] विज्ञानस्यासम्भवात्किं स्वस्य संवेदकं ज्ञानं स्यात्, इति चेन्न, तस्यैव घटादि-सुखादिज्ञानस्य स्वरूपसंवेदकस्य सतः[२६३९] परसंवेदकत्वोपगमात् स्वसंवेदनसिद्धेः, स्वपरव्यवसायात्मकत्वात् सर्ववेदनस्य।

२१७. स्वात्मनि क्रियाविरोधान्न स्वरूपसंवेदकं ज्ञानमिति चेत्, का पुनः क्रिया स्वात्मनि विरुध्यते ? न तावद्धात्वर्थलक्षणा, भवनादिक्रियायाः क्षित्यादिष्वभावप्रसङ्गात्। परिस्पन्दात्मिका[२६४०] क्रिया स्वात्मनि विरुद्धेति चेत्, कः पुनः क्रियायाः स्वात्मा ? क्रियात्मैवेति चेत्, कथं तस्यास्तत्र विरोधः ? स्वरूपस्य

विरोधकत्वायोगात्। अन्यथा[२६४१] सर्वभावानां स्वरूपविरोधान्निस्स्वरूपतानुषङ्गात्। विरोधस्य द्विष्ठत्वाच्च न क्रियायाः स्वात्मनि विरोधः। क्रियावदात्मा[२६४२] क्रियायाः स्वात्मेति चेत्, कथं तत्र विरोधः? क्रियावत्येव[२६४३] सर्वस्याः क्रियायाः प्रतीतेरविरोधसिद्धेः। अथ क्रिया करणं निष्पादनं स्वात्मनि विरुद्धमित्यभिमतम्, तर्हि न ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयति, इत्युच्यते[२६४४] येन विरोधः[२६४५] स्यात्। इत्यसिद्धः स्वात्मनि क्रियाविरोधः; स्वकारणविशेषान्निष्पद्यमानस्य[२६४६] ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशनरूपत्वात्, प्रदीपस्य स्वपरोद्योतनरूपत्ववत्, यथैव हि रूपज्ञानोत्पत्तौ प्रदीपः सहकारित्वाच्चक्षुषो रूपस्योद्योतकः कथ्यते, तथा स्वरूपज्ञानोत्पत्तौ तस्य[२६४७] सहकारित्वात्स्वरूपोद्योतकोपि। ततो ज्ञानं स्वपररूपयोः परिच्छेदकम्, तत्राज्ञाननिवृत्तिहेतुत्वा[२६४८]न्यथानुपपत्तेः[२६४९], इत्यविरुद्धं पश्यामः। स्वसंवेदनमन्तस्तत्त्वस्य[२६५०] लक्षणं भूतासम्भवतीति भिन्नलक्षणत्वं तयोः[२६५१] सिद्ध्यत्येव। तच्च सिद्ध्यत् तत्त्वान्तरत्वं साधयति, तच्चा[२६५२]ऽसजातीयत्वम्। तदप्यु[२६५३]पादानोपादेयभावाभावम्[२६५४], तयोस्तत्[२६५५]प्रयोजकत्वात्[२६५६]। तदेवं भूतचैतन्ययोर्नास्त्युपादानोपादेयभावो:, विभिन्नलक्षणत्वात्, इति व्यापकविरुद्धव्याप्तो[२६५७]पलब्धिः[२६५८], उपादानोपादेयभावव्यापकस्य सजातीयत्वविशेषस्य विरुद्धेन तत्त्वान्तरभावेन व्याप्ताद्भिन्नलक्षण-[२६५९]त्वात्प्रतिषेध्या[२६६०]भावसाधनात्। न ह्यत्र[२६६१] सजातीयत्वविशेषस्योपादानोपादेयभावव्यापकत्वमसिद्धम्, विजातीयत्वाभिमतयोः पयःपावकयोः सत्त्वादिना सजातीययोरपि तदनुपगमात्[२६६२] कथञ्चिद्विजातीययोरपि[२६६३] मृत्पिण्डघटाकारयोः[२६६४] पार्थिवत्वादिना विशिष्टसामान्येन सजातीययोरुपादानोपादेयभावसिद्धेः। कथं[२६६५] तर्हि[२६६६] सजातीयत्वविशेषस्य तत्त्वान्तरभावेन विरोध इति चेत्, तत्त्वान्तरभूतयोस्त[२६६७]दनुपलम्भात्, पूर्वाकारपरित्यागा-[२६६८]ऽजहद्वृत्तोत्तराकारा[२६६९][२६७०]न्वयप्रत्यय[२६७१]विषयस्योपादानत्वप्रतीतेः, परित्यक्तपूर्वाकारेण द्रव्येणात्मसात्क्रियमाणोत्तराकारस्योपादेयत्वनिर्ज्ञाना[२६७२]दन्यथा[२६७३]तिप्रसङ्गात्[२६७४]। कथं तत्त्वान्तरभावेन भिन्नलक्षणत्वं व्याप्तमिति चेत् तदभावे[२६७५]नुपपद्यमानत्वात्[२६७६]। किण्वादिमदिरादिपरिणामयोरतत्त्वान्तरभावेपि[२६७७] भिन्नलक्षणत्वस्य[२६७८] दर्शनात्, तस्य[२६७९] तेनाव्याप्तेरिति[२६८०] चेन्न, तयोर्भिन्नलक्षणत्वासिद्धेः[२६८१], किण्वादेरपि मदजननशक्तिसद्भावान्मदिरादिपरिणामवत्। सर्वथा मदजननशक्तिविकलत्वे हि किण्वादेर्मदिरादिपरिणामदशायामपि तद्वैकल्यप्रसङ्गः।

२१८. नन्वेवं[२६८२] भूतान्तस्तत्त्वयोरपि[२६८३] भिन्नलक्षणत्वं मा भूत्, कायाकारपरिणतभूतविशेषावस्थातः प्राग क्षित्यादिभूतानां चैतन्यशक्तिसद्भावादन्यथा तदवस्थायामपि चैतन्योद्भूतिविरोधादिति न प्रत्यवस्थेयम् चैतन्यस्यानाद्यनन्तत्वप्रसिद्धेरात्मवादिनामिष्टप्रतिष्ठानात्। न चैवं चैतन्यं भूतविवर्तः, क्षित्यादितत्त्वस्या तद्विवर्तत्वप्रसङ्गात्, अनाद्यनन्तत्वा[२६८४]विशेषात्। ततो भिन्नलक्षणत्वं तत्त्वान्तरत्वेन व्याप्तं भूतचैतन्ययोस्तत्त्वान्तर साधयत्येव। इति चैतन्य[२६८५]परिणामोपादान एवाद्यचैतन्यपरिणामः प्राणिनामन्त्यचैतन्योपादेयश्च[२६८६] जन्मान्तरा चैतन्यपरिणामः सिद्धः। पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च संसारः। इति प्रसिद्धेन[२६८७] प्रमाणेन संसारतत्त्वं बाध्यते, नानुमानेन[२६८८], (तेन तत्साधनात्।) नाप्यागमेन, तस्य तत्प्रतिपादकतया श्रुतेः—

'संसारिणस्त्रसस्थावराः' (त. सू. २.१२) इति वचनात्।

२१९. तथा संसारोपायतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य तदबाधकत्वात्। निर्हेतु

संसारो[२६८९]ऽनाद्यनन्तत्वात्, आकाशवत्, इत्यनुमानेन तद्बाध्यते, इति चेन्न, पर्यायार्थादेशात्संसारस्यानाद्यन्तत्वासिद्धेः दृष्टान्तस्यापि साध्यसाधनविकल[२६९०]त्वात्, द्रव्यार्थादेशातु तस्य[२६९१] तथा साधने[२६९२] सिद्धसाध्यतानुषक्तेः। सुखदुःखादिभाव[२६९३]परि[२६९४]वर्तनलक्षण[२६९५]स्य संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभव[२६९६]विशेषहेतुकत्वाप्रतीतेश्च नाहेतुकसंसारसाधनानुमानमनवद्यम्। इति न किञ्चिदनुमानं संसारोपायतत्त्वस्य बाधकम्। नाप्यागमः, तस्य तत्साधकत्वात्— 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः'—(त.सू. ८,१) इति वचनात्, बन्धहेतूनामेव संसारहेतुत्वात्। तदेवं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वं भगवतोभिमतं प्रसिद्धेन प्रमाणेन युक्तिशास्त्राख्येनाबाध्यं सिध्यत्तद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्वं साधयति, तच्च[२६९७] निर्दोष[२६९८]त्वम्। इति त्वमेव स सर्वज्ञो वीतरागश्च संस्तोतुं युक्तो नान्य[२६९९] इत्युच्यते।

२२०. **विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना कस्यचित्प्रत्यक्षं सोत्र भवानर्हन्नेव[२७००]।** [२७०१]दृश्यलक्षणाद्भिन्नलक्षणमदृश्यस्वभावस्तत्सम्बन्धित्वेन विप्रकर्षि परमाण्वा[२७०२]दिकम्। तथा वर्त्तमानकालाद्भिन्नः कालोऽतीतोनागतश्च, तत्सम्बन्धित्वेन रावणशङ्खा[२७०३]दि। तथा दर्शनयोग्याद्देशाद्भिन्नदेशोऽनुपलब्धियोगस्तत्सम्बन्धित्वेन मकराकरादि[२७०४]। तद्भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना स्वभावकालदेशविप्रकर्ष्यपि[२७०५] कस्यचित्प्रत्यक्षं साधितम्। सोत्र भवानर्हन्नेव, न पुनः कपिलादय इति। एतत्कुतो निश्चितमिति चेत्, **अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्।** ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषाः, यथा दुर्वैद्यादयः, तथा चान्ये कपिलादय इत्यनुमानान्न्यायागमाविरुद्धभाषिण एव भगवतोर्हतो निर्दोषत्वमवसीयते। न चात्र न्यायागमविरुद्धभाषित्वं कपिलादीनामसिद्धम्, तदभिमतस्य मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वस्य प्रसिद्धेन प्रमाणेन बाधनात्।

२२१. तत्र कपिलस्य तावत्स्वरूपे चैतन्यमात्रेवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभि[२७०६]मतं तत्प्रमाणेन बाध्यते, चैतन्यविशेषेनन्तज्ञानादौ स्वरूपेवस्थानस्य मोक्षत्व[२७०७]साधनात्। न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपम्, [२७०८]सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादिस्वरूपम्, नात्मन इति चेत्; न, तस्याचेतनत्वादाकाशवत्। ज्ञानादेरप्यचेतनत्वादचेतनप्रधानस्वभावत्वं युक्तमेवेति चेत्, कुत[२७०९]स्तदचेतनत्वसिद्धि? 'अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वात्, घटादिवत्, इत्यनुमानादिति चेन्न, हेतोरनुभवेन[२७१०] व्यभिचारात्, तस्य चेतनत्वेप्युत्पत्तिमत्त्वात्। कथमुत्पत्तिमाननुभव इति चेत्, परापेक्षत्वात्[२७११], बुद्ध्यादिवत्। परापेक्षो सौ[२७१२] 'बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात्, बुद्ध्यध्यवसितमर्थं[२७१३] पुरुषश्चेतयते[२७१४]' ( ) इति वचनात्। बुद्ध्यध्यवसितार्थानपेक्षत्वेनुभवस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य[२७१५] पुंसोनुभवप्रसङ्गात्, सर्वस्य सर्वदर्शित्वा[२७१६]पत्तेः, तदुपायानुष्ठानवैयर्थ्यमेव स्यात्। यदि पुनरनुभवसामान्यमात्मनो नित्यमनुत्पत्तिमदेवेति मतम्[२७१७], तदा ज्ञानादिसामान्यमपि नित्यत्वादनुत्पत्तिमद्भवेदित्यसिद्धो हेतुः[२७१८]। ज्ञानादिविशेषाणामुत्पत्तिमत्त्वान्नासिद्ध इति चेत्, तर्ह्यनुभवविशेषाणामप्युत्पत्तिमत्त्वादनै[२७१९]कान्तिकोसौ कथं न स्यात्? नानुभवस्य विशेषाः सन्तीति चायुक्तम्, वस्तुत्व[२७२०]विरोधात्। तथा हि—नानुभवो वस्तु, सकलविशेषरहितत्वात्, खरविषाणवत्। नात्म[२७२१]नोनेकान्तः, तस्यापि सामान्यविशेषात्मकत्वात्, अन्यथा तद्वदवस्तुत्वापत्तेः। कालात्ययापदिष्टश्चायं हेतुः[२७२२], ज्ञानादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वाच्चेतनत्वप्रसिद्धेरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात्।

२२२. अथ[२७२३] चेतन[२७२४]संसर्गादचेतनस्यापि ज्ञानादेश्चेतनत्वप्रतीतिः प्रत्यक्षतो भ्रान्तैव। तदुक्तम्[२७२५]— '[२७२६]तस्मात्त[२७२७]त्संसर्गादचेतनं चेतनावदिह लिङ्गम्[२७२८]' ( ) इति। तदप्य[२७२९]चर्चिताभिधानम्, शरीरादेरपि चेतनत्वप्रतीतिप्रसङ्गाच्चेतनसंसर्गाविशेषात्[२७३०]। शरीराद्यसंभवी बुद्ध्यादेरात्मना संसर्गविशेषोस्तीति चेत्, स कोन्योन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यात्, [२७३१]तददृष्टकृतकत्वादिविशेषस्य शरीरादावपि भावात्। ततो नाचेतना ज्ञानादयः, स्वसंविदितत्वात्, अनुभववत्। [२७३२]स्वसंविदितास्ते, परसंवेदनान्यथानुपपत्तेरिति प्रतिपादितप्रायम्। तथा चात्मस्वभावा[२७३३] ज्ञानादयः, चेतनत्वात्, अनुभववदेव। इति न चैतन्यमात्रेवस्थानं मोक्षः, अनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीतेः।

२२३. एतेन बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रेवस्थानं मुक्तिः, इति कणभक्षाक्षपाद[२७३४]मतं प्रमाणेन बाधितमुपदर्शितम्, पुंसोनन्तज्ञानादिस्वरूपत्वसाधनात्, स्वरूपोपलब्धेरेव मुक्तित्वसिद्धेः।

२२४. स्यान्मतम्[२७३५] 'न बुद्ध्यादयः पुंसः स्वरूपम्, ततो भिन्नत्वात्, अर्थान्तरवत्। [२७३६]ततो भिन्नास्ते, [२७३७]तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्, घटादिवत्। तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं पुनस्तेषामुत्पादविनाशधर्मकत्वात्, आत्मनोनुत्पादाविनाशधर्मकत्वात्प्रसिद्धम्' इति; तदयुक्तम्[२७३८], विरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि सर्वथा भेदासिद्धेर्मेचकज्ञान-तदाकार[२७३९]वत्। एकं हि मेचकज्ञानमनेकश्च तदाकारो नीलादिप्रतिभासविशेष इत्येकत्वानेकत्वविरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि मेचकज्ञानतत्[२७४०]प्रतिभासयोर्न भेदोभ्युपगम्यते, मेचक[२७४१]ज्ञानत्वविरोधात्। यदि पुनर्युगपदनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमेकमेव, न तत्रानेकप्रतिभासविशेषसम्भवः, यतो विरुद्धधर्माधि[२७४२]करणत्वमभेदेपि स्यादिति [२७४३]मतम्, तदापि तत्किमनेकया शक्त्यानेकमर्थं युगपद् गृह्णाति किं वैकया ? यद्यनेकया तदेकमनेकशक्त्यात्मकमिति स एव विरुद्धधर्माध्यासः[२७४४]। ततोनेकशक्तेरनेकत्वधर्माधारभूतायाः पृथक्त्वात्। तस्य त्वेकत्वधर्माधारत्वान्नैकत्र विरुद्धधर्माध्यास इति चेत्कथमनेका शक्तिस्तस्येति व्यपदिश्यते ? ततो भेदा[२७४५]दर्थान्तरवत्। सम्ब[२७४६]न्धादिति चेत्, [२७४७]तर्हि तदनेकया शक्त्या संबध्यमानमनेकेन रूपेण कथमनेक[२७४८]रूपं न स्यात् ? तस्या[२७४९]प्यनेकरूपस्य [२७५०]ततोन्यत्वात्तदे[२७५१]कमेवेति चेत्कथं तत्तस्येति[२७५२] व्यपदेष्टव्यम् ? सम्बन्धादिति चेत्स एव दोषोऽनिवृत्तश्च पर्यनुयोगोऽनवस्थानात्। यदि पुनरेकेनैव[२७५३] रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यते, तदानेकविशेष[२७५४]णत्वविरोधः। पीतग्रहणशक्त्या हि येन स्वभावेन संबध्यते[२७५५] तेनैव नीलादिग्रहणशक्त्या चेत् पीतग्राहित्वविशेषणमेव मेचकज्ञानं स्यान्न नीलादिग्राहित्वविशेषणमिति पीतज्ञानमेव स्यान्न तु मेचकज्ञानम्। अथैकया शक्त्यानेकमर्थं [२७५६]तद्गृह्णातीति द्वितीयविकल्पः समाश्रीयते, तदापि सर्वार्थग्रहण[२७५७]प्रसङ्गः। [२७५८]पीतग्रहणशक्त्या ह्येकया यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्येत ? [२७५९]अथ न पीतग्रहणशक्त्या नीलग्रहणशक्त्या वा पीतनीलाद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते[२७६०], किं तर्हि, नीलपीतादिप्रतिनियतानेकार्थग्रहणशक्त्यैकयेति[२७६१] मतम्, [२७६२]तदा न कार्य[२७६३]भेदः कारणशक्तिभेदव्यवस्था[२७६४]हेतुः स्यादित्येकहेतुकं विश्वस्य वैश्वरूप्यं प्रसज्येत। तथा चानेककारणप्रतिवर्णनं सर्वकार्योत्पत्तौ विरुध्यते[२७६५]। तदभ्युपगच्छता मेचकज्ञानमनेकार्थग्राहि नानाशक्त्यात्मकमुररीकर्तव्यम्। [२७६६]तेन च विरुद्धधर्माधिकरणेनैकेन प्रकृत[२७६७]हेतोरनैकान्तिकत्वान्न[२७६८] ज्ञानादीनामात्मनो भेदैकान्तसिद्धिर्येनात्मानन्तज्ञानादिरूपो न भवेत्। निराकरिष्यमाणत्वाच्चाग्रतो[२७६९] गुणगुणिनोरन्यत्वैकान्तस्य[२७७०] न ज्ञानादयो गुणाः सर्वथात्मनो भिन्नाः शक्याः प्रतिपादयितुं यतोऽशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तिर्व्यवतिष्ठेत।

२२५. ननु[२७७१] च धर्माधर्मयोस्तावन्निवृत्तिरात्यन्तिकी मुक्तौ प्रतिपत्तव्या, अन्यथा तदनुपपत्तेः[२७७२]। तन्निवृत्तौ च तत्फल[२७७३]बुद्ध्यादि[२७७४]विनिवृत्तिरवश्यंभाविनी, निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यनुपपत्तेः। मुक्तस्यात्मनोऽन्तःकरणसंयोगाभावे वा न [२७७५]तत्कार्यस्य बुद्ध्यादेरुत्पत्तिः, इत्यशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तौ सिद्ध्यत्येवेति केचित्[२७७६]; तेप्यदृष्टहेतुकानां बुद्ध्यादीनामात्मान्तःकरणसंयोगजानां च मुक्तौ निवृत्तिं ब्रुवाणा न निवार्यन्ते[२७७७], कर्मक्षयहेतुकयोस्तु प्रशम-सुखानन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्थाः, प्रमाण[२७७८]विरोधात्। ततः कथञ्चिद्[२७७९]बुद्ध्यादिविशेषगुणानां निवृत्तिः [२७८०]कथञ्चिदनिवृत्तिर्मुक्तौ व्यवतिष्ठते। न चैवं सिद्धान्तविरोधः—'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' (त. सू. १०.२) इत्यनुवर्तमाने[२७८१] 'औपशमिकादिभव्यत्वानां चान्यत्र[२७८२][२७८३] केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः' (त. सू. १०.३-४) इति सूत्रसद्भावात्।

२२६. तत्रौपशमिक[२७८४]क्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकभावानां दर्शनज्ञान[२७८५]गत्यादीनां भव्यत्वस्य च विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यभिसम्बन्धान्मुक्तौ विशेषगुण[२७८६]निवृत्तिरिष्टा, 'अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः' (त. सू. १०.४) इति वचनात्। अनन्तज्ञानदर्शनसिद्धत्वसम्यक्त्वानामनिवृत्तिश्चेति युक्तं तथा वचनम्। [२७८७]कथमेवमनन्तसुखसद्भावो मुक्तौ सिद्ध्येदिति चेत्, सिद्धत्व[२७८८]वचनात्। सकलदुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी हि भगवतः सिद्धत्वम्। सैव चानन्तप्रशमसुखम्, इति सांसारिकसुखनिवृत्तिरपि मुक्तौ न विरुध्यते।

२२७. अनन्त[२७८९]सुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष इत्यपरः सोपि युक्त्यागमाभ्यां बाध्यते। तदनन्तं सुखं मुक्तौ पुंसः संवेद्यस्वभावं[२७९०]मसंवेद्यस्वभावं वा? संवेद्यं चेत्, तत्संवेदनस्यानन्तस्य सिद्धिः[२७९१], अन्यथानन्तस्य सुखस्य स्वयं[२७९२] संवेद्यत्वविरोधात्। यदि पुनरसंवेद्यमेव तत्तदा कथं सुखं नाम? सातसंवेदनस्य सुखत्वप्रतीतेः।

२२८. स्यान्मतं ते[२७९३], अभ्युपगम्यते एवानन्तसुखसंवेदनं परमात्मनः। केवलं बाह्यार्थानां ज्ञानं नोपेयते[२७९४] तस्येति[२७९५], तदप्येवं सम्प्रधार्यम्[२७९६]—किं बाह्यार्थभावाद्बाह्यार्थसंवेदनाभावो मुक्तस्येन्द्रियापायाद्वा? प्रथमपक्षे सुखस्यापि संवेदनं मुक्तस्य न स्यात्, बाह्यार्थवदभावात्। पुरुषाद्वैतवादे हि बाह्यार्थाभावो यथाभ्युपगन्तव्यस्तथा सुखाभावोपि, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात्। अथ द्वैतवादावलम्बिनां[२७९७] सतोपि बाह्यार्थस्येन्द्रियापायादसंवेदनं मुक्तस्येति मतम्, तदप्यसंगतम्, तत[२७९८] एव सुखसंवेदनाभावप्रसङ्गात्। अथान्तःकरणा[२७९९]भावेपि मुक्तस्यातीन्द्रियसंवेदनेन सुखसंवेदनमिष्यते, तर्हि बाह्यार्थसंवेदनमस्तु तस्यातीन्द्रियज्ञानेनैवेति मन्यताम्, सर्वथा विशेषाभावात्[२८००]।

२२९. येऽपि[२८०१] निरास्रवचित्त[२८०२]सन्तानोत्पत्तिर्मोक्ष इत्याचक्षते; तेषामपि मोक्षतत्त्वं युक्त्याभ्युपायेन[२८०३] च बाध्यते, प्रदीपनिर्वाणोपम[२८०४]शान्तनिर्वाणवत्, चित्तानां[२८०५] तत्त्वतोऽन्वितत्वसाधनात्[२८०६] सन्तानोच्छेदानुपपत्तेश्च[२८०७] निरन्वयक्षणक्षयैकान्ताभ्युपायेन च मोक्षाभ्युपगमबाधनस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

२३०. तथा[२८०८] मोक्षकारणतत्त्वमपि कपिलादिभिर्भाषितं न्यायागमविरुद्धम्। तद्धि ज्ञान[२८०९]मात्रं न परनिःश्रेयसकारणम्, प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि[२८१०] शरीरेण सहावस्थानान्[२८११]मिथ्याज्ञानवत्। न तावदिहासिद्धो

हेतुः सर्वज्ञानामपि कपिलादीनां स्वयं प्रकर्षपर्यन्तावस्थाप्राप्तस्यापि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानोपगमात्[२८१२]। साक्षात्सकलार्थज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं शरीराभावे कुतोयमाप्तस्योपदेशः प्रवर्तेत[२८१३] ? अशरीरस्याप्तस्योपदेशकरणविरोधात्, आकाशवत्। तस्यानुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्योपदेश[२८१४] इति चेत्; न[२८१५], तस्याप्रमाणत्वशङ्काऽनिवृत्तेरन्याऽज्ञानपुरुषोपदेशवत्। यदि पुनः शरीरान्तरानुत्पत्तिर्निःश्रेयसं न गृहीतशरीरनिवृत्तिः, तस्य[२८१६] साक्षात्सकलतत्त्वज्ञानं कारणम्, न तु गृहीतशरीरनिवृत्तेः[२८१७], फलोपभोगात्तदुपगमात्[२८१८]। ततः पूर्वोपात्तशरीरेण सहावतिष्ठमानात्तत्वज्ञानादाप्तस्योपदेशो युक्त इति मतम्[२८१९], तदा हेतुः सिद्धोभ्युपगंतस्तावत्[२८२०]। स च परनिःश्रेयसोऽकारणत्वं तत्त्वज्ञानस्य साध्यत्येव, भाविशरीरस्येवोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तेः परनिःश्रेयसत्वात्, तस्य[२८२१] च तद्भावेप्यभावात्[२८२२]। फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षं[२८२३] तत्त्वज्ञानं परनिःश्रेयसकारणम्, इत्यप्यनालोचिताभिधानम्[२८२४], फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौपक्रमिकविकल्पानतिक्रमात्। तस्यौपक्रमिकत्वे[२८२५] कुतस्तदुपक्रमोन्यत्र[२८२६] तपोतिशयात्[२८२७]। इति तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकं परनिःश्रेयसमायातम्[२८२८]। समाधिविशेषादुपात्ताशेषकर्मफलोपभोगोपगमाददोष[२८२९] इति चेत्, कः[२८३०] पुनरसौ समाधिविशेषः ? स्थिरीभूतं ज्ञानमेव स इति चेत्। तदुत्पत्तौ परनिःश्रेयसस्य भावे स एवाप्तस्योपदेशाभावः। सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यावस्थायामसमाधिरूपस्योपजनने[२८३१] [२८३२] युक्तोऽयं योगिनस्तत्त्वोपदेश इति चेत्; न[२८३३] सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यविरोधात्[२८३४], तस्य कदाचिच्चलनानुपपत्तेः, अक्रमत्वाद्विषयान्तरसंचरणाभावात्[२८३५] [२८३६], अन्यथा[२८३७] सकलतत्त्वज्ञानत्वासंभवादस्मदादिज्ञानवत्। अथ[२८३८] तत्त्वोपदेशदशायां योगिनोपि ज्ञानं विनेयजनप्रतिबोधाय व्याप्रियमाणमस्थिरमसमाधिरूपं पश्चान्निवृत्तसकलव्यापारं स्थिरं समाधिव्यपदेशमास्कन्दतीत्युच्यते, तर्हि[२८३९] समाधिश्चारित्रमिति नाममात्रं भिद्यते, नार्थः[२८४०], तत्त्वज्ञानादशेषाज्ञाननिवृत्तिफलादन्यस्य[२८४१] परमोपेक्षालक्षणस्वभावस्य समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपातिपरमशुक्लध्यानस्य[२८४२] तपोतिशयस्य समाधिव्यपदेशकरणात्। तथा च चारित्रसहितं तत्त्वज्ञानमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धानं परनिःश्रेयसकारणमनिच्छतामपि कपिलादीनामग्रे[२८४३] व्यवस्थितम्। ततो न्यायविरुद्धं सर्वथैकान्तवादिनां ज्ञानमेव मोक्षकारणतत्त्वम्। स्वागमविरुद्धं च, सर्वेषामागमे प्रव्रज्याद्यनुष्ठानस्य[२८४४] सकलदोषोपरमस्य[२८४५] च बाह्यस्याभ्यन्तरस्य च चारित्रस्य मोक्षकारणत्वश्रवणात्।

२३१. तथा संसारतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम्। तथा हि—नास्ति नित्यत्वाद्येकान्ते कस्यचित्संसारः, विक्रियानुपलब्धेः[२८४६], इति न्यायविरोधः। समर्थयिष्यते[२८४७] तदागमविरोधश्च स्वयं[२८४८] पुरुषस्य संसाराभाववचनात्, गुणानां[२८४९] संसारोपपत्तेः। परेषां[२८५०] संवृत्या[२८५१] संसारव्यवस्थितेः।

२३२. तथा संसारकारणतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम्। तद्धि[२८५२] मिथ्याज्ञानमात्रं तैरुररीकृतम्। न च तत्कारणः संसारः, तन्निवृत्तावपि[२८५३] संसारानिवृत्तेः। यन्निवृत्तावपि यन्न निवर्त्तते न तत्तन्मात्रकारणम्। यथा तक्षादिनिवृत्तावप्यनिवर्तमानं देवगृहादि न तन्मात्रकारणम्। मिथ्याज्ञाननिवृत्तावप्यनिवर्त्तमानश्च संसारः। तस्मान्न मिथ्याज्ञानमात्रकारणक इति। अत्र न हेतुरसिद्धः[२८५४], सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ मिथ्याज्ञाननिवृत्तावपि दोषानिवृत्तौ[२८५५] संसारानिवृत्तेः स्वयमभिधानात्[२८५६]। दोषाणां संसारकारणत्वावेदकागमस्वीकरणाच्च। तन्मात्रं संसारकारणतत्वं न्यायागमविरुद्धं सिद्धम्। तदेवमन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वादर्हन्नेव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् सर्वज्ञो वीतरागश्च निश्चीयते। ततः स एव सकलशास्त्रादौ[२८५७] प्रेक्षावतां संस्तुत्यः।

२३३. ये[२८५८] त्वाहुः—'सतोपि यथार्थदर्शिनो वीतरागस्येदन्तया[२८५९] निश्चेतुमशक्तेस्तत्कार्यस्य व्यापारादेस्तद्व्यभिचारा[२८६०]दवीतरागेपि दर्शनात्, सरागाणामपि वीतरागवच्चेष्टमानानामनिवारणान्न कस्यचित् स त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवति', इति तेषामपि **विचित्राभिसन्धि[२८६१]तया[२८६२] व्यापारव्याहारादिसाङ्कर्येण क्वचिद[२८६३]प्यतिशया[२८६४]निर्णये कैम[२८६५]र्थक्याद्विशेषेष्टिः, ज्ञानवतोपि विसंवादात्, क्व पुनराश्वासं[२८६६] लभेमहि ?** न हि ज्ञानवतो वीतरागात्पुरुषाद् विसंवादः क्वचित्[२८६७]संभवति, सुगतादाव[२८६८]प्यनाश्वासप्रसङ्गात्, तस्य[२८६९] कपिलादिभ्यो विशेषेष्टेरानर्थक्यप्रसङ्गात्। न च व्यापारव्याहाराकारविशेषाणां तत्र[२८७०] साङ्कर्यं[२८७१] सिध्यति, विचित्राभिसन्धितानुपपत्तेः, तस्याः[२८७२] पृथग्जने रागादिमत्यज्ञे प्रसिद्धे प्रक्षीणदोषे भगवति निवृत्तेः,[२८७३] अस्य यथार्थप्रतिपादनाभिप्रायतानिश्चयात्। कुतश्चायं[२८७४] सर्वस्य[२८७५] विचित्राभिप्रायतामदृश्यां व्यापारादिसाङ्कर्यहेतुं निश्चिनुयात् ? शरीरित्वादेर्हेतोः[२८७६] स्वात्मनीवेति चेत्, तत[२८७७] एव सुगतस्यासर्वज्ञत्वनिश्चयोऽस्तु। तत्रास्य[२८७८] हेतोः[२८७९] सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वान्न[२८८०] तन्निश्चयः। शरीरी च स्यात्सर्वज्ञश्च, विरोधाभावात्, विज्ञान[२८८१]प्रकर्षे शरीराद्यपकर्षादर्शनादिति चेत्तत[२८८२] एव सर्वज्ञस्य विचित्राभिप्रायतानिश्चयोपि मा भूत्, तत्रापि प्रोक्तहेतोः सन्दिग्धविपक्षाव्यावृत्तिकत्वाविशेषात्। सोयं[२८८३] विचित्रव्यापारादिकार्यदर्शनात्सर्वस्य विचित्राभिसन्धितां निश्चिनोति, न पुनः कस्यचिद्वचनादिकार्यातिशयनिश्चयात् सर्वज्ञत्वाद्यतिशयमिति कथमनुन्मत्तः[२८८४] ? कैमर्थक्या[२८८५]च्चास्य[२८८६] सन्तानान्तरस्वसन्तानक्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेर्विशेषस्येष्टिः[२८८७] ? विप्रकृष्टस्वभावत्वाविशेषात्, वेद्यवेदकाकाररहितस्य[२८८८] संवेदनाद्वैतस्य वा विशेषस्य[२८८९] प्रमाणभूतस्य[२८९०] जगद्धितैषिणः शास्तुस्तायिन शोभनं गतस्य सम्पूर्णं वा गतस्य पुनरनावृत्त्या[२८९१] सुष्ठु, वा गतस्य तस्य विशेषस्येष्टिः[२८९२] ?[२८९३] सर्वत्रा[२८९४]नाश्वासाविशेषात्। **न[२८९५] चैवंवादिनः[२८९६] किञ्चिदनुमानं नाम, निरभिसन्धीनामपि[२८९७] बहुलं कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्, सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे क्वचि[२८९८]दुपलब्धस्य[२८९९] तदभावे प्रायशोनुपलब्धस्य म[२९००]ण्यादिकारणकलापेपि संभवात्। यज्जातीयो यतः संप्रेक्षितस्तज्जातीयात्तादृगिति दुर्लभनियमतायां धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभावः कथमिव निर्णीयेत ? वृक्षः शिंशपात्वा[२९०१]दिति लताचूता[२९०२]दे[२९०३]रपि क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावतां किमिव निःशङ्कं चेतः स्यात् ? तदेतदृष्टसंशयैकान्तवादिनां विदग्धमर्कटानामिव स्वलाङ्गूलभक्षणम्।**

२३४. ननु[२९०४] च काष्ठादिसामग्रीजन्योऽग्निर्यादृशो दृष्टो न तादृशो मण्यादिसामग्रीप्रभव इति, यज्जातीयो यतो दृष्टः स तादृशादेव न पुनरन्यादृशादपि, यतो धूमपावकयोर्व्याप्यव्यापकभावो न निर्णीयते, तथा[२९०५] यादृशं चूतत्वं वृक्षत्वेन व्याप्तं तादृशं न लतात्वेन, यतः शिंशपात्ववृक्षत्वयोरपि व्याप्यव्यापकभावनियमो दुर्लभः स्यात्[२९०६], इति कश्चित्[२९०७]; सोपि प्रतीतेरपलापकः[२९०८], कार्यस्य[२९०९] तादृशतया[२९१०] प्रतीयमानस्यापि कारण[२९११]विशेषातिवृत्तिदर्शनात्[२९१२]। यत्नतः[२९१३] परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तत इति चेत्[२९१४], स्तुतं प्रस्तुतम्[२९१५], व्यापारादि[२९१६]विशेषस्यापि किञ्चिज्ज्ञरागादिमदसंभविनो यत्नतः परीक्षितस्य भगवति ज्ञानाद्यतिशयानतिवृत्तिसिद्धेः।[२९१७] एतेन यत्नतः परीक्षितं व्याप्यं व्यापकं नातिवर्तत इति ब्रुवता[२९१८]पि स्तुतं प्रस्तुतमित्युक्तं वेदितव्यम्, पुरुषविशेषत्वादेः स्वभावस्य व्याप्यस्य सर्वज्ञत्वादिव्यापकस्वभावानतिक्रमसिद्धेस्तद्वद्[२९१९]विशेषात्। **ततोयं[२९२०] प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्येत्यनुकूलमाचरति[२९२१]।** मन्दतरधियां धूमादिकमपि परीक्षितुमक्षमाणां ततो[२९२२] धूमध्वजादिबुद्धेरपि व्यभिचारदर्शनात्। प्रज्ञातिशयवतां तु सर्वत्र परीक्षाक्षमाणां यथा धूमादिः पावकादिकं न व्यभिचरति, तथा व्यापारव्याहाराकारविशेषः

क्वचिद्विज्ञानाद्यतिशयमपीत्यनुकूलाचरणम्। एवं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वं भगवतोर्हत एव सर्वज्ञत्वं साधयतीत्यभिधाय **तदेव[२९२३] तत्[२९२४] सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमर्हत्येव सकलज्ञत्वं साधयति नान्यत्रेत्यविरोध इत्यादिना[२९२५] स्पष्टयति,** स्वामीति[२९२६] शेषः। यद्यस्मादविरोधः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं त्वय्येव तस्माच्च त्वमेव स इत्यभिधानमसंबन्धात्। स एवाविरोधः कुतः सिद्ध इत्यारेकायां 'यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते' इत्यभिधानात्। तत्रेष्टं[२९२७] मतं[२९२८] शासनमित्युपचर्यते[२९२९], **निराकृतवाचोपि[२९३०] क्वचिदविप्रतिषेधात्[२९३१]।** न पुनरिच्छाविषयीकृतमिष्टम्, प्रक्षीणमोहे भगवति मोहपर्यायात्मिकायास्तदिच्छायाः[२९३२] संभवाभावात्। तथा हि—नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तम्, प्रणष्टमोहत्वात्, यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम्, न स प्रणष्टमोहो यथा किञ्चिज्ज्ञः, प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः[२९३३] साधितः, तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम्, इति केवलव्यतिरेकी हेतुर्निराकृतवाचं[२९३४] साधयति, अव्यभिचारात्। न[२९३५] सर्वविदिच्छामन्तरेण वक्ति, वक्तृत्वात्, अस्मदादिवत्, इत्यनेन निराकृतवाचो विप्रतिषेध इति चेत्; नायं[२९३६] नियमोऽस्ति। तदभ्युपगमे[२९३७] को दोष इति चेत्, **नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्।**

२३५. न हि सुषुप्तौ गोत्रस्खलनादौ[२९३८] वाग्व्याहारादिहेतुरिच्छास्ति। **प्रतिसंविदिताकारेच्छा[२९३९] तदा संभवन्ती पुनः स्मर्येत वाञ्छान्तरवत्।** न ह्यप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवति या पश्चान्न[२९४०] स्मर्यते। पूर्वकालभाविनीच्छा[२९४१] तदा[२९४२] वागादिप्रवृत्तिहेतुरप्रतिसंविदिताकारानुमेया सम्भवत्येवेति चेत्, किं पुनस्तदनुमानम्? विवादाध्यासिता[२९४३] वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विका, वागादिप्रवृत्तित्वात्, प्रसिद्धेच्छापूर्वकवागादिप्रवृत्तिवदिति चेन्न, हेतुरप्रयोजकत्वात्। यथाभूतस्य[२९४४] हि जाग्रतोनन्यमनसो वा वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विका प्रतिपन्ना देशान्तरे कालान्तरे च तथाभूतस्यैव तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्विका साधयितुं शक्या न पुनरन्यादृशोतिप्रसङ्गात्[२९४५]। न च सुषुप्तस्यान्यमनस्कस्य वा तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तावगता, तदवगतेरसंभवात्। सा[२९४६] हि स्वसन्ताने[२९४७] तावन्न संभवति, सुषुप्त्यादिविरोधात्। सुषुप्तोन्यमनस्कश्च[२९४८] प्रवृत्तिमिच्छापूर्विकामवगच्छति चेति व्याहतमेतत्। पश्चादुत्थितोवगच्छतीति चेदिदमपि तादृगेव[२९४९]। स्वयमसुषुप्तोनन्यमनाश्च[२९५०] सुषुप्तान्यमनस्कप्रवृत्तिमिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तामवगच्छतीति ब्रुवाणः[२९५१] कथमप्रतिहतवचनपथः स्वस्थैरास्थीयते[२९५२]? तदानुमानात्तदवगतेरदोष इति चेन्न, अनवस्थाप्रसङ्गात्, तदनुमानस्यापि[२९५३] व्याप्तिप्रतिपत्तिपुरस्सरत्वात् तद्व्याप्तेरप्यनुमानान्तरापेक्षत्वात्, सुदूरमपि गत्वा प्रत्यक्षतस्तद्व्याप्तिप्रतिपत्तेरघटनात्।

२३६. एतेन[२९५४] सन्तानान्तरे तद्व्याप्तेरवगतिरपास्ता[२९५५], अनुमानात्तदवगतावनवस्थानाविशेषात्, प्रत्यक्षतस्तदवगतेरसंभवाच्च। इति नानुमेया सुषुप्त्यादाविच्छास्ति तत्काला पूर्वकाला वा, तदनुमानस्यानुदायात्। तथा च सर्वज्ञप्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वे[२९५६] साध्ये वक्तृत्वादिहेतोः सुषुप्त्यादिना[२९५७][२९५८] व्यभिचारात्तदनियम एव[२९५९]। **ततश्चैतन्य[२९६०]करणपाटवयोरेव[२९६१] साधकतमत्वम्[२९६२]।**

२३७. ननु[२९६३] च सत्यपि चैतन्ये करणपाटवे च वचनप्रवृत्तेरदर्शनाद्विवक्षापि तत्सहकारिकारणपेक्ष्यते एवेति चेत्, सहकारिकारणान्तरं न वै नियतमपेक्षणीयम्[२९६४], **नक्तञ्चरादेः संस्कृतचक्षुषो[२९६५] वाऽनपेक्षितालोकसन्निधेः**

रूपोपलम्भात्। न चैवं[२९६६] संवित्करणपाटवयोरप्यभावे विवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवृत्तिः प्रसज्यते, संवित्करणवैकल्ये यथाविवक्षं वाग्प्रवृत्तेरभावात्[२९६७]। न हि शब्दतोऽर्थतश्च शास्त्रपरिज्ञानाभावे तद्व्याख्यानविवक्षायां सत्यामपि तद्वचनप्रवृत्तिर्दृश्यते, करणपाटवस्य चाभावे स्पष्टशब्दोच्चारणम्[२९६८], बालमूकादेरपि तत्प्रसङ्गात्। ततश्चैतन्यं करणपाटवं च वाचो हेतुरेव नियमतो न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात्। **न च दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्तां[२९६९] वाणी नातिवर्तेत[२९७०], तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावाद्[२९७१] बुद्ध्यादिवत्[२९७२]**। न हि यथा बुद्धेः शक्तेश्च[२९७३] प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते, तथा दोषजातेरपि, तत्प्रकर्षे[२९७४] वाचोपकर्षात्[२९७५] तदपकर्षे एव तत्प्रकर्षात्[२९७६], यतो[२९७७] वक्तुर्दोषजातिरनुमीयेत। सत्यपि च रागादिदोषो कस्यचिद् बुद्धेर्यथार्थव्यवसायित्वादिगुणस्य[२९७८] सद्भावात् सत्यवाक्प्रवृत्तेरुपलम्भात्। कस्यचित्तु वीतरागद्वेषस्यापि बुद्धेरयथार्थाध्यवसायित्वादिदोषस्य भावो वितथवचनस्य दर्शनाद्विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा। तदुक्तम्—

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता।
वाञ्छन्तो[२९७९] वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥ ( )

इति। ततः साधूपादेशि[२९८०]—'तत्रेष्टं[२९८१] मतं शासनमुपचर्यते।' इति।

२३८. तत्प्रसिद्धेन न बाध्यते। **प्रमाणतः सिद्धं प्रसिद्धम्। तदेव कस्यचिद्बाधनं युक्तम्। विशेषणमेतत्[२९८२] परमतापेक्षम्, अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण बोधा[२९८३]ऽकल्पनात्[२९८४]**। न[२९८५] ह्यनेकान्तशासनस्य प्रत्यक्षतः सिद्धोस्त्यनित्यत्वधर्मो बाधकः, सर्वथा नित्यत्वादिधर्मवत्[२९८६]। अनुमानात्सिद्धो बाधक इति **चेन्नर्ते[२९८७] प्रमाणात्प्रतिबन्धसिद्धेरभ्युपगमात्। न खलु[२९८८] परेषां[२९८९] प्रत्यक्षमग्निधूमयोः क्षणभङ्गसद्भावयोर्वा[२९९०] साकल्येन व्याप्तिं प्रति समर्थम्, अविचारकत्वात्[२९९१]सन्निहितविषयत्वाच्च**। अस्मदादिप्रत्यक्षं हि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहि परैरभ्युपगन्तव्यम्, न योगिप्रत्यक्षम्, अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, योगिप्रत्यक्षेण देशतः कार्त्स्न्यतो वा निश्शेषसाध्यसाधनव्यक्तिसाक्षात्करणे[२९९३] समारोपस्याप्यभावात्, तद्व्यवच्छेदनार्थमप्यनुमानोपयोगायोगात्। तच्च[२९९४] निर्विकल्पकमिव सविकल्पकमपि न विचारकम्[२९९५], पूर्वापरपरामर्श[२९९६]शून्यत्वादभिलापसंसर्गरहितत्वात्[२९९७]। सन्निहितविषयं च, देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थागोचरत्वात्[२९९८]। तत्र साकल्येन व्याप्तिग्रहणसमर्थम्[२९९९]।

२३९. **न चानुमानमनवस्थानुषङ्गात्[३०००]**। व्याप्तिग्राहिणोनुमानस्यापि व्याप्तिग्रहणपुरस्सरत्वात्तद्व्याप्तेरप्यनुमानान्तरापेक्षत्वात् क्वचिदप्यवस्थानाभावात्। एवमप्रसिद्धव्याप्तिकं च कथमनुमानमेकान्तवादिनामनित्यत्वाद्येकान्तधर्मस्य साधकं येन प्रमाणसिद्धः सर्वथैकान्तोऽनेकान्तशासनस्य बाधकः स्यात्। स्याद्वादिनां[३००१] तु, **परोक्षान्तर्भाविना[३००२] नस्तर्केण[३००३] सम्बन्धो व्यवतिष्ठते**, तस्य विचारकत्वात्, प्रत्यक्षानुपलम्भसहकारिणो[३००४] मतिज्ञानविशेषपरोक्षतर्क[३००५]ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषादुपजायमानस्य यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति शब्दयोजनासहितपरामर्शात्मकत्वात्[३००६]कालत्रयत्रिलोक[३००७]वर्तिसाध्यसाधनव्यक्तिविषयत्वाच्च व्याप्तिं प्रति समर्थत्वात्, प्रत्यक्षवद्व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वा[३००८]भावादनुमानोहान्तरान-

पेक्षत्वादनवस्थानानुषङ्गात्[३००९][३०१०], संवादकत्वेन समारोपव्यवच्छेदकत्वेन च प्रमाणत्वात्[३०११][३०१२]। **तदप्रमाणत्वे न लैङ्गिकं प्रमाणमिति शेषः, समारोपव्यवच्छेदाविशेषात्[३०१३]।** तर्कतः सम्बन्धस्याधिगमे समारोपविरोधात्[३०१४]। न हि निर्विकल्पकोधिगमोस्ति, यतस्तत्र समारोपोपि[३०१५] स्यात्। किं तर्हि ? **अधिगमोपि व्यवसायात्मैव[३०१६], तदनुत्पत्तौ सतोपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया[३०१७] सन्निधानाऽभेदात्[३०१८], सुषुप्तचैतन्यवत्[३०१९]।**

२४०. सन्निधानं हीन्द्रियार्थसन्निकर्षः। तत्स्वयमप्रमाणमाख्यत् तथागतः, साधनान्तरापेक्षत्वात् तस्यार्थपरिच्छित्तौ। तत[३०२०] एव दर्शनस्याप्रमाणत्वम्। सुषुप्तचैतन्यवत्, स्वयं[३०२१] संशयविपर्यासानध्यवसायाव्यवच्छेदकत्वात्। तद्व्यवच्छेदिनो निश्चयस्य[३०२२] जननात्प्रमाणं दर्शनमिति चेत्, तत एव सन्निकर्षः प्रमाणमस्तु। तस्यासाधकतमत्वान्न[३०२३] प्रमाणत्वमिति चेत्, कुतस्तस्यासाधकतमत्वम् ? अचेतनत्वात् घटादिवत्, इति चेत्, दर्शनस्याप्यसाधकतमत्वं चेतनत्वात्[३०२४] सुषुप्तचैतन्यवत्किं न स्यात्। यस्य भावेर्थः परिच्छिन्नो व्यवह्रियतेऽभावे चाऽपरिछिन्नस्तद्दर्शनं साधकतममिति चेत्, सन्निकर्षः साधकतमोऽस्तु, न हि सन्निकर्षस्य भावे भावाभावयोस्तद्वत्ता[३०२५] साधकतमत्वमिति वचनात्। नाप्यर्थस्यान्यत्[३०२६] परिच्छिन्नत्वम्, तत्परिच्छित्त्युत्पत्तेः[३०२७] भाववत्त्वमभावेऽभाववत्त्वमर्थपरिच्छित्तेरप्रतीतम्। परिच्छित्तिरुत्पन्ना चेत्[३०२८], परिच्छिन्नोर्थ[३०२९] उच्यते। अथ निर्विकल्पकदृष्टौ सत्यामर्थस्य परिच्छित्तिर्निश्चयात्मकार्थ परिच्छेदव्यवहारहेतुरुत्पद्यते नासत्याम्। अतस्तस्याः साधकतमत्वमिति तवाकूतम्[३०३०], तदपि न समीचीनम् सन्निकर्षादेव तदुत्पत्त्यविरोधात्। कथमचेतनात्सन्निकर्षाच्चेतनस्यार्थनिश्चयस्योत्पत्तिर्न विरुध्यते, इति चेत्, तवापि कथमचेतनादिन्द्रियादेरविकल्पदर्शनस्य चेतनस्योत्पत्तिरविरुद्धा। चेतनान्मनस्कारादिन्द्रियादिसहकारिणो[३०३१] दर्शनस्योत्पत्तिरिति चेत्तर्हि चेतनादात्मनः सन्निकर्षसहकारिणोऽर्थनिश्चयोत्पत्तिरपि कथं विरुध्यते। यत स्वार्थव्यवसायात्मकोधिगमो न भवेत्। स च साकल्येन साध्यसाधनसम्बन्धस्तर्कादेवेति प्रमाणं तर्कः स्वार्थाधिगमफलत्वात्, समारोपव्यवच्छेदकत्वात् संवादकत्वात् च, अनुमानादिवत्। ततः स्याद्वादि व्याप्तिसिद्धेरस्त्यनुमानम्, न पुनरेकान्तवादिनाम्[३०३२], यतोनुमानसिद्धेन सर्वथैकान्तेनानेकान्तस्य बाधाकल्पना स्यात् इत्यप्रमाणसिद्धेनापि बाधा कल्पनीयैव परैः, अन्यथा स्वमतनियमाघटनात्। तथा सति सूक्तं परमतापेक्षं विशे प्रसिद्धेन न बाध्यते इति।

२४१. एतेन यदुक्तं भट्टेन—

नरः कोप्यस्ति सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ इत्यपि[३०३३]।
साधनं[३०३४] यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत्।।
सिसाधयिषितो[३०३५] योर्थः[३०३६] सोनया नाभिधीयते[३०३७]।
यस्तूच्यते[३०३८] न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम्।।
यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते।
न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते।।

यावद्बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा ।
यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता[३०३९] कुतः ।।
अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे वचसोन्यस्य सत्यता ।
सामानाधिकरण्ये[३०४०] हि तयो[३०४१]रङ्गाङ्गिता[३०४२] भवेत् ।।

२४२. इति तन्निरस्तम्, भगवतोर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात् । ततस्त्वमेव महान् मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः । यस्मात्—

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं[३०४३] दृष्टेन[३०४४] बाध्यते ।।७।।

२४३. त्वन्मतमनेकान्तात्मकं वस्तु तज्ज्ञानं च । तदेवामृतम्, अमृतस्य मोक्षस्य कारणत्वात्, सर्वथा निर्बाधत्वेन परितोषकारित्वाच्च । ततो बाह्याः सर्वथैकान्तास्तदभिनिवेशिनश्च[३०४५] वादिनः । ते चाप्ताभिमानदग्धा एव विसंवादकत्वेन तत्त्वतोऽनाप्तत्वाद्वयमाप्ता इत्यभिमानेन [३०४६]स्वरूपात्प्रच्यावितत्वाद्दग्धा इव दग्धा इति [३०४७]समाधिवचनत्वात्, तेषां स्वेष्टस्य सदाद्येकान्तस्य दृष्टबाधनात् ।

२४४. **अनेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणं बहिरन्तश्च[३०४८] सकलजगत्साक्षीभूतं विपक्षे प्रत्यक्षविरोध-लक्षणमनेन[३०४९][३०५०] दर्शयति[३०५१] ।** सदाद्येकान्तविरोधस्या[३०५२]नेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणलक्षणत्वात्, बहिरिवान्तरपि तत्त्वस्यानेकान्तात्मकतया सकलदेशकालवर्तिप्राणिभिरनुभवनात् सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वसिद्धेः[३०५३] । **न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलं[३०५४] सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तरूपं संवेदनमन्यद्वा[३०५५][३०५६] संपश्यामो यथात्र[३०५७] प्रतिज्ञायते[३०५८], चित्रज्ञानवत्[३०५९] कथञ्चिदसंकीर्णविशेषैकात्मनः[३०६०][३०६१] [३०६२]सुखादिचैतन्यस्य वर्णसंस्थानाद्यात्मनः[३०६३] स्कन्धस्य च प्रेक्षणात् ।**

२४५. स्यान्मतम्[३०६४]—'सुखादिचैतन्यमसङ्कीर्णविशेषात्मकमेव न पुनरेकात्मकम्[३०६५], सुखचैतन्यादाह्लादना-कारान्मेयबोधनाकारस्य विज्ञानस्यान्यत्वात्, विरुद्धधर्माध्यासस्यान्यत्वसाधनत्वात्, अन्यथा[३०६६] विश्वस्यैकत्व-प्रसङ्गात्' इति, तदसत्[३०६७], चित्रज्ञानस्याप्येकात्मकत्वाभावप्रसङ्गात्[३०६८], पीताकारसंवेदनस्य नीलाद्याकारसंवेदना-दन्यत्वात्, [३०६९]तद्वद्विरुद्धधर्माध्यासात् । यदि पुनरशक्यविवेचनत्वात्[३०७०]पीताद्याकारसंवेदनमेकात्मकमुररीक्रियते, तदा सुखादिसंवेदनेन कोपराधः कृतः ? तस्याप्यशक्यविवेचनत्वादेवैकात्मकत्वोपपत्तेः, पीताद्याकाराणामिव सुखाद्याकाराणां चैतन्यान्तरं[३०७१] नेतुमशक्यविवेचनत्वसद्भावात् । [३०७२]तर्ह्येकात्मकमेव सुखादिचैतन्यं न पुनरसंकीर्णविशेषात्मकमित्यपि न मन्तव्यम्, चित्रज्ञानस्याप्यसंकीर्णविशेषात्मकत्वाभावप्रसङ्गात् ।[३०७३] तथा च सति न तच्चित्रमेकज्ञानवत्[३०७४] । चित्रज्ञाने पीताद्याकारप्रतिभासस्याविद्योपकल्पितत्वादेकात्मकत्वमेव वास्तवमिति चेत्कथमेकानेकाकारयोः प्रतिभासाविशेषेपि वास्तवेतरत्वप्रविवेकः ? एकाकारस्यानेकाकारेण विरोधात्तस्यावास्तवत्वे कथमेकाकारस्यैवावास्तवत्वं न स्यात्[३०७५] ? स्वप्नज्ञानेऽनेकाकारस्यावास्तवस्य प्रसिद्धेश्चित्र[३०७६][३०७७]ज्ञानेपि तस्यावास्तवत्वं[३०७८] युक्तं कल्पयितुमिति चेत्, केशादावेकाकारस्याप्यवास्तवत्वसिद्धेस्तत्रावास्तवत्वं[३०७९]

कथमयुक्तम्? [३०८०]पीताद्याकारस्य संवेदनादभेदे[३०८१]ऽनेकत्वविरोधाद्भेदे प्रतिभासासम्भवात्, प्रतिभासे वा संवेदना-न्तरत्वापत्तेर[३०८२]वास्तवत्वमेवेति चेत्, तत एवैकारस्या[३०८३]वास्तवत्वमस्तु[३०८४], तस्यापि पीताद्याकारप्रतिभासेभ्योनर्थान्तर-[३०८५]तायामेकत्वविरोधादर्था[३०८६]न्तरतायां संवित्त्यभावात्[३०८७], [३०८८]संवित्तौ वा ज्ञानान्तरत्वप्रसक्तेर्विशेषाभावात्। [३०८९]ततो न चित्रज्ञानेऽनेकाकारप्रतिभासस्यैव प्रेक्षावद्भिरवास्तवत्वं शक्यं कल्पयितुम्, येनेदमेवाभिधीयमानं शोभेत—

किं स्यात्सा चित्रतै[३०९०]कस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि[३०९१] ।
[३०९२]यदीदं स्वयमर्थेभ्यो[३०९३] [३०९४]रोचते तत्र के वयम्[३०९५] ।।

इति। न पुनरिदमपि[३०९६]—

किं नु स्यादेकता[३०९७] न स्यात्तस्यां चित्रमतावपि ।
[३०९८]यदीदं रोचते बुद्ध्यै चित्रायै तत्र के वयम् ।। ( )

२४६. [३०९९]ननु चैकस्यां मतौ[३१००] चित्रतापायेपि[३१०१] संवेदनमात्रस्य[३१०२] भावान्न स्वरूपस्य[३१०३] स्वतो[३१०४] गतिर्विरुध्यते। संवेदनमात्रस्य त्वपाये सा विरुद्ध्येतेति चेन्न[३१०५], तदभावेपि[३१०६] नानापीतादिप्रतिभाससद्भावात्तदविरोधात्[३१०७]। [३१०८]नन्वेवं [३१०९]नीलसंवेदनस्यापि प्रतिपरमाणुभेदान्नीलाणुसवेदनैः परस्परं भिन्नैर्भवितव्यम्, [३११०]तत्रैकनीलपरमाणुसंवेदनस्याप्येवं[३१११] वेद्यवेदकसंविदाकारभेदात्, त्रितयेन भवितव्यम्, वेद्याकारादिसंवेदनत्रयस्यापि, प्रत्येकमपरस्ववेद्याकारादिसंवेदन-[३११२]त्रयेण, इति परापरवेदनत्रयकल्पनादनवस्थानान्न क्वचिदेकसंवेदनसिद्धिः संविदद्वैतविद्विषाम्[३११३]। [३११४]क्वचिदप्येकात्मकत्वानभ्युपगमे च कुतो नानात्मव्यवस्था[३११५]? वस्तुन्येकत्रापरै[३११६]कवस्त्वपेक्षयानेकत्वव्यवस्थोपपत्तेः। [३११७]क्वचिदैक्योपगमे वा कथं चित्रमतौ नैक्यमविरुद्धम्? चित्राकारापायेपि [३११८]तस्य सम्भवात्। इति कश्चित् [३११९]सोप्यप्रेक्षापूर्ववादी, [३१२०]तथा सति चित्रज्ञाने संविदाकारवदेकस्य[३१२१] पीताकारस्य नीलाद्याकारस्य च सद्भावसिद्धे[३१२२] परस्परापेक्षयानेकत्वसिद्धेरनेकचैतन्य[३१२३]व्याप्तस्यानेकाकारस्य चित्रज्ञानस्या[३१२४]न्तरेका[३१२५]नेकात्मकत्वसाध निदर्शनत्वोपपत्तेः[३१२६]।

२४७. स्यान्मतम्[३१२७]—सुखादीनां[३१२८] चैतन्यं व्यापकं भवत् किमेकेन स्वभावेन भवत्यनेकेन स्वभावेन वा [३१२९]यद्येकेन तदा तेषामेकस्वरूपत्वापत्तिः। अथानेकेन तदा सोप्यनेकस्वभावः परेणानेकेन स्वभावेन व्यापनी इत्यनवस्था। अथैकादृशेन स्वभावेन सुखादयश्चैतन्येन व्याप्यन्ते तदानेकेन स्वभावेन सजातीयेनेत्युक्तं स्यात्। त च सैवानवस्था। न च गत्यन्तरमस्ति येन सुखादिव्याप्यैकं चैतन्यं सिद्ध्येदिति। तदेत[३१३०]च्चित्रज्ञानेपि समानम्[३१३१]। त पीताद्याकारव्यापिनः [३१३३]स्वयं संवेदनान्न दोष इति चेत्, सुखादिव्यापिनश्चैतन्यस्य सह क्रमेण च स्व संवेदनात्कथमुपालम्भः स्यात्? न हि [३१३४]दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। [३१३५]न च सुखादीनां चैतन्यव्याप्तत्वसंवे भ्रान्तम्, अचेतनत्वग्राहिप्रमाणाभावात्। अचेतनाः सुखादयः, उत्पत्तिमत्त्वात्, घटादिवत्, इत्यनु सुखाद्यचेतनत्वग्राहीति चेन्न, तस्य प्रत्यक्षबाधितविषयत्वात्, चित्समन्वितानामेव सुखा स्वसंवेदनप्रत्यक्षे सर्वदा प्रतिभासनात्। अनुमान[३१३६]विरुद्धश्च पक्षः। तथा हि—चेतनाः सुखाद

स्वसंवेद्यत्वात्, पुरुषवत्। पुरुषसंसर्गात्तेषां[३१३७] स्वसंवेद्यत्वात् स्वतः संवेद्यत्वमसिद्धमिति चेन्न, जातुचिदस्वसंवेद्यत्वाऽप्रतीतेस्तथा[३१३८] वक्तुमशक्तेः। अन्यथा पुरुषस्य स्वसंवेद्यसुखादिसंबन्धात्स्वसंवेद्यत्वम्, न स्वत इति वदतो[३१३९] निवारयितुमशक्यत्वात्, चैतन्य[३१४०]विशेषेण हेतोर्व्यभिचार[३१४१]प्रतिपादनाच्च। न ततोऽचेतनत्वसिद्धिः सुखादीनाम्। न चैषां चेतनत्वसाधनेऽपसिद्धान्तः स्याद्वादिनां प्रसज्येत, चैतन्यजीवद्रव्यार्थादेशाच्चेतनत्वप्रसिद्धेः[३१४२] सकलौ[३१४३]पशमिकादिभावानां सुखज्ञानादिप्रतिनियतपर्यायार्थादेशादेव सुखादीनां ज्ञानदर्शनाभ्या[३१४४]मन्यत्ववचनात्। तथापि[३१४५] ज्ञानात्मकाः सुखादयः, ज्ञानाभिन्नहेतुजत्वाद्विज्ञानान्तरवत्, इति चेन्न, सर्वथा विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वासिद्धत्वात्, सुखादीनां सद्वेद्योदयादिनिमित्तत्वाद्विज्ञानस्य तु ज्ञानावरणान्तरायक्षयोपशमादिनिबन्धनत्वात्। कथञ्चि[३१४६]द्विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं तु रूपालोकादिनानैकान्तिकम्[३१४७], यथैव हि ततो विज्ञानस्योत्पत्तिस्तथा रूपालोकादिक्षणान्तरोत्पत्तिरपीति परैः[३१४८] स्वयमभिधानात्।

२४८. तदेतेन[३१४९] यदभ्यधायि[३१५०]—

तदतद्रूपिणो[३१५१] भावास्तदतद्रूपहेतुजाः।
तत्सुखादि किमज्ञानं[३१५२] विज्ञानाभिन्नहेतुजम्।। ( )

२४९. तदपास्तम्, सुखादीनां विज्ञानरूपत्वासिद्धेः,

सुखमाह्लादनाकारं[३१५३] विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे।। ( )

२५०. इति वचनादतद्रूपाः[३१५४] सुखादयः इति। अतद्रूपाणां[३१५५] तद्रूपोपादानत्वे सर्वस्य सर्वोपादानत्वप्रसक्तिः। न च सुखादयो विज्ञानाभिन्नोपादानाः स्युः।

२५१. विज्ञानाभिन्नसहकारित्वं तु यथा सुखादीनां तथा रूपादीनामपि इति। ततस्तेषां विज्ञानात्मकत्वसाधने रूपादीनामपि तथात्वसाधनं स्यात्। तदुक्तम्[३१५६]—

तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः[३१५७]।
तद्रूपादि[३१५८] किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्।। ( ) इति।

यदि पुनरिन्द्रियानिन्द्रियहेतुजत्वं विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वमित्यभिधीयते, तदपि न सुखादीनां ज्ञानत्वं साधयति, द्रव्येन्द्रियानिन्द्रियैर्व्यभिचारात्[३१५९]। इति नैकान्ततो ज्ञानात्मकाः सुखादयः, द्रव्यार्थत[३१६०] एव तेषां चेतनत्वोपपत्तेः, चेतनद्रव्यादात्मनोऽनर्थान्तरभूतानाम[३१६१]चेतनत्वविरोधात्।

२५२. एतेन ज्ञानादर्थान्तरभूतत्वात्सुखादीनामचेतनत्वमेवेति वदन्तोऽपाकृताः[३१६२] प्रत्येतव्याः, चेतनादात्मनोनर्थान्तरत्वेन कथञ्चिच्चेतनत्वसिद्धेः। आत्मनश्चेतनत्वमसिद्धमिति चेन्न, तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्[३१६३]। तथात्मा चेतनः, प्रमातृत्वात्, यस्त्वचेतनः स न प्रमाता, यथा घटादिः, प्रमाता चात्मा, तस्माच्चेतन इत्यनुमानाच्च तत्सिद्धम्। प्रमितिस्वभावचेतनासमवायादात्मनि चेतनत्वसाधने सिद्धसाध्यतेति चेन्न, स्वयं[३१६४]

सामान्यतश्चेतनत्व[३१६५]साधनात्, तदभावे चेतनाविशेषप्रमितिसमवायायोगात्, पटादिवत्[३१६६], कथञ्चित्तादात्म्यस्यैव समवायस्य साधनात्। चेतनादप्यात्मनः[३१६७] कथमभिन्नाः सुखादयो भिन्नप्रतिभासविरोधादिति चेन्न[३१६८], तत्र[३१६९] सर्वथा भिन्नप्रतिभासस्यासिद्धत्वात्, कथञ्चिद्भिन्नप्रतिभासस्य कथञ्चिदभेदाविरोधात्, चित्रज्ञानवदेव सुखाद्यात्मनः[३१७०] पुरुषस्यैकस्य घटनात्, सर्वेषामेकानेकात्मनश्चित्रज्ञानस्येष्टत्वात्। तत्सिद्धं चित्रज्ञानवत्[३१७१]कथञ्चिदसंकीर्णविशेषैकात्मनः[३१७२] सुखादिचैतन्यस्य प्रेक्षणं तथा वर्णसंस्थानाद्यात्मनः स्कन्धस्य च[३१७३]। न[३१७४] हि वर्णादीनामेव[३१७५] प्रेक्षणं प्रत्यक्षबुद्धौ, न पुनः स्कन्धस्यैकस्येति[३१७६] कल्पनमुपपन्नम्, सर्वाग्रहणप्रसङ्गात्[३१७७], स्कन्धव्यतिरेकेण वर्णादीनामनुपलम्भात् स्कन्धस्यैवासत्त्वात्[३१७८]।

२५३. अथ 'प्रत्यासन्नासंसृष्टा[३१७९] रूपादिपरमाणवः प्रत्यक्षाः, तेषां स्वकारण[३१८०]सामग्रीवशात्प्रत्यक्ष[३१८१]संविज्जननसमर्थानामेवोत्पत्तेः, स्कन्धस्यापि[३१८२] तत एव परेषां[३१८३] प्रत्यक्षतोपपत्तेरन्यथा[३१८४][३१८५] सर्वस्कन्धानां[३१८६] प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, स्कन्धत्वाविशेषात्। तदविशेषेपि केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वेऽपरेषामप्रत्यक्षत्वस्वभावत्वे[३१८७] पिशाचशरीरादीनां तथा[३१८८] स्वकारणादुत्पत्तेः[३१८९] परमाणूनामपि केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वमन्येषामप्रत्यक्षत्वं[३१९०][३१९१] तत एवास्तु[३१९२], किमवयविपरिकल्पनया? तस्या[३१९३]ऽमूल्यदानक्रयित्वात्[३१९४]। स हि[३१९५] प्रत्यक्षे स्वात्मानं न समर्पयति, प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छतीत्यमूल्यदानक्रयीति[३१९६], विकल्पबुद्धावेव[३१९७] 'तस्य[३१९८] प्रतिभासनाद्विचार्यमाणस्य[३१९९] सर्वथानुपपन्नत्वात्' इति मतम्[३२००], तदप्यसंगतमेव[३२०१], प्रत्यासन्नासंसृष्टपरमाणूनां तथात्वेन[३२०२] कस्यचित्कदाचिन्निश्चयासत्त्वात्[३२०३] प्रत्यक्षतानुपपत्तेः, स्कन्धस्यैव स्फुटमध्यक्षेवभासनात् तथा निश्चयनाच्च प्रत्यक्षत्वघटनात्। न[३२०४] च परमाणुवत्सर्वे स्कन्धाः समपरिमाणा एव, येन केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वे सर्वेषां प्रत्यक्षस्वभावता स्यात्, अणुमहत्त्वादि[३२०५]परिमाणभेदेन तेषामदृश्येतरस्वभावभेदाद्भेदसिद्धेः[३२०६]। न[३२०७] चायममूल्यदानक्रयी, प्रत्यक्षे स्वसमर्पणेन प्रत्यक्षतास्वीकरणात्, सर्वथा विचार्यमाणस्यापि घटनात्। विचारयिष्यते चैतत्[३२०८]पुरस्तात्[३२०९]।

२५४. अपरः[३२१०] प्राह—स्कन्ध एव, न वर्णादयस्ततोन्ये सन्ति, तस्यैव चक्षुरादिकरणभेदाद्वर्णादिभेदप्रतिभासनात्, किञ्चिदङ्गुलि[३२११]पिहितनयनभेदाद्दीपकलिकाभेदप्रतिभासनवदिति; तदप्यसम्यक्; सत्ताद्यद्वैतप्रसङ्गात्[३२१२]। शक्यं हि वक्तुम्, सत्तैवैका, न द्रव्यादय[३२१३]स्ततोर्थान्तरभूताः सन्ति कल्पना[३२१३(क)]भेदात्तद्भेदप्रतिभासनादिति। न[३२१४] चैतद्युक्तमिति निवेदयिष्यते। ततश्चित्रज्ञानवन्न केवलं सुखाद्यात्मनश्चैतन्यस्य प्रेक्षणं सिद्धम्। किं तर्हि? वर्णसंस्थानाद्यात्मनः स्कन्धस्यापि। ततः सूक्तम्[३२१५]— न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलं सदेकान्त[३२१६]रूपमसदेकान्त[३२१७]रूपं वा, नित्यैकान्तरूपमनित्यैकान्तरूपं वा, अद्वैतैकान्तरूपं द्वैताद्येकान्तरूपं वा, संवेदनमन्तस्तत्त्वमन्यद्बहिस्तत्त्वं संपश्यामो यथा[३२१८] प्रतिज्ञायते सर्वथैकान्तवादिभिरिति।

२५५. **सामान्यविशेषैकात्मनः[३२१९] संवित्तिरेकान्तस्या[३२२०]नुपलब्धिर्वा सर्वतः सिद्धा चक्षुरादिमतामनार्हत[३२२१]कल्पना[३२२२]मस्तंगमयतीति किं नः[३२२३] प्रमाणान्तरेण[३२२४]।** न तावत्सामान्यैकान्त[३२२५]स्योपलब्धिर्विशेषस्याप्युपलब्धेः, नापि विशेषैकान्तस्य[३२२६], सामान्यस्यापीक्षणात्। न सामान्यविशेषैकान्तयोरेव[३२२७] परस्पर[३२२८]निरपेक्षयोः, एकात्मनोप्युपलक्षणात्। न चैकात्मन[३२२९] एव सामान्यविशेषैकात्मनः, ततो जात्यन्तरस्य[३२३०] संवित्तेः। सर्वं[३२३१] हि वस्तु सामान्

विशेषापेक्षया विशेषः सामान्यापेक्षया वाऽपोद्धार[३२३२]कल्पनायाम्, स्वरूपेण तु सामान्यविशेषात्मकमेकम्, तस्य संवित्तिश्चक्षुरादिमतामनार्हतकल्पनामस्तङ्गमयति, चक्षुरादिविकलानामेव [३२३३]तत्संभवात्। एकान्तस्यानुपलब्धिर्वा तामस्तंगमयति तत एव। तथा हि—नास्ति सर्वथैकान्तः सर्वदानेकान्तोपलब्धेरिति स्वभावविरुद्धोपलब्धिः, नास्ति सर्वथैकान्तोऽनुपलब्धेरिति स्वभावानुपलब्धिर्वा सर्वतश्चक्षुरादेः संवेदनात्सिद्धाऽध्यवसीयते।

२५६. [३२३४]ननु 'सर्वथैकान्तस्य क्वचित्कदाचिदुपलब्धौ न सर्वत्र सर्वदा प्रतिषेधः सिद्ध्येत्, तस्यानुपलब्धौ नानेकान्तेन विरोधः, सत एव कथञ्चित्केनचिद्विरोधप्रतीतेः। प्रतिषेधश्च न स्यात्, [३२३५]तत एव।' इति कश्चित्; तदसत्; सर्वथैकान्तस्याध्यारोप्य[३२३६]माणस्य प्रतिषेधसाधनात्, तद्विरुद्धोपलब्धिसिद्धेस्तत्स्वभावानुपलब्धिसिद्धेश्च, [३२३७]स्वयमन्यथा कस्यचिदनिष्टतत्त्वप्रतिषेधायोगादिष्टतत्त्वनियमानुपपत्तेः। अथवा [३२३८]प्रत्यक्षमेव सामान्यविशेषात्मकमेकं वस्तु [३२३९]विदधत्[३२४०]सर्वथैकान्तं प्रतिषेधयतीति किं नः प्रमाणान्तरेणानुमानेनानुपलब्धिलिङ्गेन [३२४१]समर्थनापेक्षेण, प्रयासमन्तरेणेष्टानिष्टतत्त्वविधिप्रतिषेधसिद्धेः। **न हि [३२४२]दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टम्[३२४३], [३२४४]तदभावे प्रमाणान्तराप्रवृत्तेः, समारोपविच्छेदविशेषा[३२४५]च्च।**

२५७. ननु च दृष्टं प्रत्यक्षमिष्टं पुनरनुमानादिप्रमाणम्। तत्र यथा दृष्टं ज्येष्ठम्, अनुमानादेरग्रेसरत्वात्, [३२४६]तथानुमानाद्यपि प्रत्यक्षात्, [३२४७]तस्यापि [३२४८]तदग्रेसरत्वात्, क्वचिदनुमानाद्युत्तरकालं प्रत्यक्षस्य प्रवृत्त्युपलक्षणत्वात्। यथा च दृष्टमविसंवादकत्वाद्गरिष्ठमिष्टात् तथेष्टमपि, तदविशेषात्। ततः कथं दृष्टमिष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठं च व्यवतिष्ठते, न पुनरिष्टं दृष्टादिति न [३२४९]चोद्यमनवद्यम्, दृष्टस्य लिङ्गादिविषयस्याभावेऽनुमानादेः प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः, अनुमानान्तराल्लिङ्गादिप्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात् प्रत्यक्षस्यैव नियतसकलप्रमाणपुरस्सरत्वप्रसिद्धेर्ज्येष्ठत्वोपपत्तेः, प्रत्यक्षस्यानुमानादिना विनैव प्रवृत्तेरनुमानादेर्दृष्टात्पुरस्सरत्वाभावात्, ततो ज्येष्ठत्वायोगात्। दृष्टस्यैव चेष्टाद्गरिष्टत्वात् समारोपविच्छेदविशेषा[३२५०]त्। [३२५१]न हि यादृशो दृष्टात्समारोपविच्छेदो विशेष[३२५२]विषये प्रतिनिवृत्ता[३२५३]काङ्क्षोऽक्षूणतया लक्ष्यते तादृशो[३२५४]नुमानादेः, [३२५५]तेन सामान्यतः समारोपस्य व्यवच्छेदनात्। **दृष्टस्यान्[३२५६]वयव्यतिरेकयोः स्वभावभेदप्रदर्शनार्थत्वा[३२५७]च्च गरिष्ठत्वसिद्धेः।** [३२५८]प्रत्यक्षमेव हि स्वविषये सामान्यविशेषात्मकत्वान्[३२५९]वयस्य विधिलक्षणस्य सर्वथैकान्तव्यतिरेकस्य च प्रतिषेधलक्षणस्य स्वभावभेद[३२६०]प्रदर्शन-प्रयोजनमुपलक्ष्यते साक्षात्, न पुनरनुमानादि, तस्य सामान्य[३२६१]तस्तत्प्रदर्शनप्रयोज[३२६२]कत्वात्। [३२६३]किमर्थं पुनरार्हतस्ये[३२६४]ष्टस्य प्रसिद्धेनाबाधनं भगवतोर्हतः परमात्मकत्वं चाभिधाय सर्वथैकान्तस्य दृष्टेन बाधनं स्वयमसम्मतस्य, कपिलादीनां परमात्मत्वाभावं च सामर्थ्यलभ्यमपि ब्रवीति [३२६५]ग्रन्थकार इति चेत्।

२५८. **अनेकान्तैकान्तयोरुपलम्भानुपलम्भयोरेकत्वप्रदर्शनार्थं तावदु[३२६६]भयमाह मतान्तरप्रतिक्षेपार्थं वा,** **यदाह [३२६७]धर्मकीर्तिः—[३२६८]साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतावुभयप्रतिपादनं पक्षादि[३२६९]वचनं वा निग्रहस्थानमिति। न तद्युक्तम्;** कुत इति [३२७०]चेत्, **साधनसामर्थ्येन विपक्षव्यावृत्तिलक्षणेन पक्षं [३२७१]प्रसाधयतः केवलं वचनाधिक्योपालम्भच्छलेन पराजयाधिकरणप्राप्तिः [३२७२]स्वयं निराकृतप[३२७३]क्षेण प्रतिपक्षिणा लक्ष[३२७४]णीया, इति** [३२७५]वचनात्।

२५९. यथोक्तेन हि साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं साधयतः सद्वादिनः सभ्यसमक्षं जय एवेति[३२७६] युक्तम्, न केवलं वचनाधिक्योपालम्भव्याजेन पराजयाधिकरणप्राप्तिः[३२७७] साधीयसी, स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोपि[३२७८] दोषाभावाल्लोकवत्। सा च स्वयं निराकृतपक्षेण प्रतिवादिना लक्षणीया, इत्यपि न युक्तम्, परेण[३२७९] निराकृतपक्षस्यैव पराजयप्राप्तियोग्यत्वनिश्चयात्, लोकवदेव।[३२८०] यदि पुनः स्वपक्षमसाधयतो वादिनो वचनाधिक्येन प्रतिवादी पराजयप्राप्तिं लक्षयेत्, तदा स्वपक्षं साधयन्नसाधयन्वा ? प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैव परस्य पराजितत्वाद् वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकम्, तस्मिन् सत्यपि पक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात्। द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा, स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात्[३२८१]।

२६०. स्यान्मतम्[३२८२]—'न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात्। तत्र साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनेपि वार्थस्य[३२८३] प्रतिपत्तौ तदुभयवचनात्[३२८४] साधनवचनसामर्थ्याज्ञानं वादिनः स्यादेव। प्रतिवादिनस्तु तदुद्भावयतस्तज्ज्ञानम्[३२८५]। अतस्तद्धेतुकौ तयोर्जयपराजयौ कथमयुक्तौ स्याताम्।' इति; तदपि न परीक्षाक्षमम्; वादिप्रतिवादिनः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, क्वचिदेकत्रापि[३२८६] पक्षे ज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात्[३२८७]। न हि शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा ज्ञानाज्ञानपरीक्षायामेकस्य[३२८८] तद्विज्ञानमपरस्य[३२८९] तदविज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निबन्धनं न सम्भवति, साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानवत्। युगपत्साधनसामर्थ्यज्ञाने[३२९०] च वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यात् ? तदविशेषात्[३२९१]। न कस्यचिदिति चेत्, तर्हि साधनवादिनो[३२९२] वचनाधिक्यकारिणो यथा साधनसामर्थ्याज्ञानं तथा प्रतिवादिनोऽपि वचनाधिक्यदोषोद्भावनात् तस्य तद्दोषमात्रे[३२९३] ज्ञानसिद्धेः। न हि यो यद्दोषं वेत्ति सः तद्गुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तौ विदितायामपि विषद्रव्यस्य कुष्टापनयनादिशक्तौ वेदनानुदयात्। ततो न जयः पराजयो वा स्यात्।

२६१. स्यान्मतम्[३२९४]—'साधनवादिना[३२९५] साधु साधनं वक्तव्यं दूषणवादिना च तद्दूषणम्, तत्र[३२९६] वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधनाङ्गवचनस्योद्भावने[३२९७] साधु साधनाभिधानाज्ञानसिद्धेः पराजयः[३२९८] प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात्।' इति; तदप्यपेशलम्; विकल्पानुपपत्तेः[३२९९]। स हि प्रतिवादी निर्दोषसाधनवादिनो वचनाधिक्यमुद्भावयेत्साधनाभासवादिनो[३३००] वा ? प्रथमविकल्पे वादिनः कथं साधनस्वरूपाज्ञानम् ? तद्वचने इयत्ताज्ञानस्यैवाभावात्। द्वितीयविकल्पे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवष्ठिते, साधनाभासस्यानुद्भावनात्तद्विज्ञानासिद्धेः[३३०१][३३०२]। तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानाद्दूषणज्ञोऽसाविति चेत्साधनाभासाज्ञानाददूषणज्ञोपीति नैकान्ततो वादिनं जयेत्, तददोषोद्भावनलक्षणस्य[३३०३] पराजयस्यापि[३३०४] निवारयितुमशक्तेः। अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकमिति मन्यसे, नन्वेवं साधनाभासानुद्भावनात्तस्य[३३०५] पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्भावनं कथं जयाय प्रकल्प्येत ? यदि पुनः साधनाभासं वचनाधिक्यं चोद्भावयन्प्रतिवादी जयतीति मतम्, तदास्य महती द्विष्टकामिता[३३०६], साधर्म्यवचनादेवार्थगतौ वैधर्म्यवचनमनर्थकत्वाद् द्विष्ट्वा[३३०७] साधनाभासोद्भावनादेव परस्य[३३०८] न्यक्कारसिद्धौ[३३०९] तद्वचनाधिक्योद्भावनस्यानर्थकस्यापि कामितत्वात्।

२६२. अथ न वचनाधिक्यमात्रं द्विष्यते, अर्थादापन्न[३३१०]स्य[३३११] स्वशब्देनाभिधानस्य द्विष्टत्वादिति मतम्; तदपि न सङ्गतम्; निगमनवचनदोषस्य प्रतिज्ञावचनदोषोद्भावनोद्[३३१२]गतस्यानुद्भावनप्रसङ्गात्। प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं हि निगमनम्। तच्च प्रतिज्ञावचनस्य दुष्टत्वप्रतिपत्तौ दुष्टं साम[३३१३]र्थ्यात् प्रतीयते एव। अथार्थादापन्नस्यापि निगमनवचनदुष्टत्वस्यो[३३१४]द्भावनमदोषो[३३१५]द्भावनभयादभिमन्यते,[३३१६] तर्हि साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यस्यार्था-दायात[३३१७]स्याप्यसाधनाङ्ग[३३१८]वचनभयादभिधानं मन्यताम्, विशेषा[३३१९]भावात्। न हि साधर्म्यमेव वैधर्म्यमेव वा साधनस्याङ्गम्, पक्षधर्मत्ववत्त[३३२०]दुभय[३३२१]स्यापि साधनाङ्गत्वात्। साधनस्य त्रिरूपत्वप्रतिज्ञानात्। ततो न ज्ञानाज्ञानमात्रनिबन्धनौ जयपराजयौ शक्यव्यवस्थौ, यथोदि[३३२२]तदोषोपनिपातात्। स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ निरवद्यौ, पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात्, [३३२३]कस्यचित्कुतश्चित्स्वपक्षसिद्धौ सुस्थितायां परस्य पक्षसिद्धेरसंभवात्। सकृत्तज्जयपराजययोरप्रसक्तेः। [३३२४]न हि वादिना साध्याविनाभावनियमैकलक्षणेन हेतुना स्वपक्षसिद्धौ विधातुं शक्यायामपि प्रतिज्ञोदाह[३३२५]रणादिवचनमनर्थकमपजया[३३२६]य प्रकल्प्यते, तद्विघाताहेतुत्वात् ततः प्रतिपक्षा[३३२७]सिद्धेः, प्रतिपाद्याशयानुरोधतस्तत्प्रयोगात्तत्प्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयोजनस्य सद्भावात्। नापि हेतो[३३२८]र्विरुद्धतोद्भावनादेव प्रतिवादिनः स्वपक्षसिद्धौ सत्यामपि दोषान्तरानुद्भावनं[३३२९] तस्य[३३३०] पराजयाय प्रकल्प्यते, तत[३३३१] एव।

२६३. एतेन स्वपक्षसिद्धौ कृतायामपि परपक्षनिराकरणम्, तस्मिन्[३३३२] वा स्वपक्षसाधनाभिधानं न वादिप्रतिवादिनोर्जयप्राप्तिप्रतिबन्धकमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम्।

२६४. तदेवं साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतौ तदुभयवचनं वादिनो निग्रहाधिकरणमित्ययुक्तं च व्यवस्थितम्[३३३३]। प्रतिज्ञादिवचनं निग्रहस्थानमित्येतत्कथमयुक्तमिति चेदुच्यते। **प्रतिज्ञानुपयोगे शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत, विशेषाभावात्[३३३४]।** न हि शास्त्रे प्रतिज्ञा नाभिधीयते एव अनियतकथायां वा, अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्, इत्यादिवचनानां शास्त्रे दर्शनात्[३३३५], विरुद्धोयं हेतुरसिद्धोयमित्यादिप्रतिज्ञावचनानामनियत-कथायां प्रयोगात्[३३३६]। परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्राकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव, उपयोगित्वात्तस्येति चेद्वादेपि सोस्तु, तत्रापि तेषां तादृश[३३३७]त्वात्, वादे[३३३८]पि विजिगीषुप्रतिपादनायाचार्याणां प्रवृत्तेः। नियतकथायां[३३३९] प्रतिज्ञाया न प्रयोगो युक्तः, तद्विषयस्यार्थाद्गम्यमानत्वात्, निगमनादिवत्, इति चेत्; तत[३३४०] एव शास्त्रादिष्व[३३४१]पि। न हि तत्र[३३४२] विजिगीषवो न प्रतिपाद्याः प्रतिज्ञादिविषयो वा सामर्थ्यान्न गम्यते। शास्त्रादा[३३४३]विजिगीषूणामपि प्रतिपाद्यत्वात् प्रतिज्ञादेरप्रयोगे केषाञ्चिन्मन्दधियां प्रकृतार्थप्रतिपत्तेर्गम्यमान[३३४४]स्य विषयस्यापि प्रयोगः, [३३४५]तत्प्रतिपत्त्यर्थत्वात्, इति चेत्, जिगीषवः[३३४६] किमु मन्दमतयो न सन्ति? येन तथा[३३४७] तेषामप्रतिपद्यमानानां प्रतिपत्तये प्रतिज्ञादिप्रयोगो न स्यात्। इति विशेषाभावादेव शास्त्रादौ वादे च प्रतिज्ञादेरभिधानमनभिधानं वाभ्युपगन्तव्यमविशेषेणैव।

२६५. ननु च प्रतिज्ञायाः प्रयोगेपि हेत्वादिवचनमन्तरेण[३३४८] साध्याप्रसिद्धेर्व्यर्था प्रतिज्ञा हेत्वादिवचनादेव च साध्यप्रसिद्धेर्निगमनादिकमकिञ्चित्करमेवेति कश्चित्[३३४९]सोपि **यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकम्, यथा घटः, संश्च शब्द इति त्रिलक्षणं हेतुमभिधाय यदि[३३५०] समर्थयते, कथमिव सन्धा[३३५१]मतिशेते[३३५२]?** स्वहेतुसमर्थनमन्तरेण

[३३५३]तदभिधानेपि तदर्थाप्रतिपत्तेः। **[३३५४]तावतार्थप्रतिपत्तौ [३३५५]समर्थनं [३३५६]वा [३३५७]निगमनादिकम्** [३३५८]कथमतिशयीत? [३३५९]अकिञ्चित्करत्वाविशेषात्, **यतः पराजयो न भवेत्,** ताथागतस्य हेत्वाद्यभिधाने तत्समर्थनाभिधाने वा। [३३६०]हेत्वाद्यनभिधाने कस्य समर्थनमिति [३३६१]चेत्तथा सन्धाया अप्यनभिधाने क्व हेत्वादिः प्रवर्तताम्? [३३६२]गम्यमाने प्रतिज्ञाविषये एवेति चेत्, गम्यमानस्य हेत्वादेः समर्थनमस्तु। गम्यमानस्यापि हेत्वादेर्मन्दमति[३३६३]प्रतिपत्त्यर्थं वचनमिति चेत्, तथा [३३६४]सन्धावचने कोऽपरितोषः।

२६६. [३३६५]स्यान्मतम्—[३३६६]समर्थनं नाम हेतोः साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य [३३६७]धर्मिणि [३३६८]सद्भावसाधनम्। यथा यत्सत् कृतकं वा तत्सर्वमनित्यम्, यथा घटादिः, सन् कृतको वा शब्द इति। यश्चैवं स सर्वो नश्वरो यथा घटादिः; इति वा प्रयोगक्रमनियमाभावात्, [३३६९]इष्टार्थसिद्धे[३३७०]रुभयत्राविशेषात्, प्राक् सत्त्वं धर्मिणि प्रसाध्य साधनस्य पश्चादपि साध्येन [३३७१]व्याप्तिप्रसाधनस्याविरोधात्। [३३७२]व्याप्तिप्रसाधनं पुनर्[३३७३]विपर्यये [३३७४]बाधकप्रमा[३३७५]णोपदर्शनम्। [३३७६]यदि पुनः सर्वं सत्कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि न [३३७७]स्यान्नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। अर्थक्रियासामर्थ्यं [३३७८]सत्त्वलक्षणमतो व्यावृत्तमित्यसदेव [३३७९]तत्स्यात्। [३३८०]सर्वसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षणं हि निरुपाख्यमिति। एवं [३३८१]साधनस्य [३३८२]साध्यविपर्यये [३३८३]बाधकप्रमाणानुपदर्शने [३३८४]विरोधाभावा[३३८५]दस्य विपक्षे नित्ये वृत्तेरदर्शनेपि [३३८६]सन् कृतको वा स्यान्नित्यश्चेत्यनिवृत्तिरेव शङ्कायाः। [३३८७]ततो व्यतिरेकस्य [३३८८]सन्देहादनैकान्तिको[३३८९] हेत्वाभासः स्यात्। न [३३९०]ह्यदर्शनमात्राद्[३३९१]व्यावृतिः, विप्रकृष्टेष्वर्थेष्वसर्वदर्शिनोऽदर्शनस्याभावासाधनात्[३३९२], [३३९३]अर्वाग्दर्शनेन सतामपि [३३९४]केषाञ्चिदर्थानामदर्शनात्। [३३९५]बाधकं [३३९६]पुनः प्रमाणम्। यस्य क्रमयौगपद्याभ्यां न योगो न तस्य [३३९७]क्वचित्सामर्थ्यम्। अस्ति चाक्षणिके [३३९८]सः। इति [३३९९]प्रवर्तमानमसामर्थ्यमसल्लक्षणमाकर्षति[३४००]। तेन यत्सत्कृतकं वा तदनित्यमेवेति सिध्यति, [३४०१]तावता च [३४०२]साधनधर्ममात्रान्वयः [३४०३]साध्यधर्मस्य [३४०४]स्वभावहेतुलक्षणं सिद्धं भवति। [३४०५]अत्राप्यदर्शनमप्रमाणं यतः [३४०६]क्रमयौगपद्याऽयोगस्यैवासामर्थ्येन व्याप्त्यसिद्धेः पूर्वस्यापि हेतोः सत्त्वादेर्न व्याप्तिसिद्धिः। [३४०७]पुनरिहापि [३४०८]साधनोपगमेनवस्थाप्रसङ्ग इति न [३४०९]चोद्यम्, [३४१०]इष्टस्याभावसाधनस्यादर्शनस्य प्रमाणत्वाप्रतिषेधात्। [३४११]यददर्शनं [३४१२]विपर्ययं [३४१३]साधयति [३४१४]हेतोः [३४१५]साध्यविपर्यये तदपि [३४१६]विरुद्धप्रत्युपस्थानाद्बाधकं प्रमाणमुच्यते। [३४१७]एवं हि स [३४१८]हेतुः साध्याभावेऽसन् सिध्येद्यदि [३४१९]तत्र प्रमाणवत [३४२०]स्वविरुद्धेन बाध्येत। अन्यथा [३४२१]तत्रास्य बाधकासिद्धौ संशयो दुर्निवारः। न च सर्वानुपलब्धिर्भावस्[३४२२] बाधिका, दृश्यानुपलब्धेरेव तद्बाधकत्वात्। [३४२३]तत्र [३४२४]सामर्थ्यं [३४२५]क्रमाक्रमयोगेन व्याप्तं सिद्धम्, प्रकारान्तरासम्भवात्, तेन व्यापकधर्मानुपलब्धिरक्षिणके सामर्थ्यं बाधत इति क्रमयौगपद्यायोगस्य सामर्थ्याभावेन व्याप्तिसिद्धेर्नानवस्था प्रसङ्ग इति [३४२६]स्वभावहेतोः समर्थनम्।

२६७. [३४२७]कार्यहेतोरपि, यत्कार्यलिङ्गं कारणसाधनायोपादीयते, तस्य तेन कार्यकारणभावप्रदर्श [३४२८]प्रमाणाभ्याम्। यथेदमस्मिन् सति भवति, सत्स्वपि [३४२९]तदन्येषु समर्थेषु [३४३०]तद्धेतुषु [३४३१]तदभावे न भवतीति। ए ह्यस्यासन्दिग्धं [३४३२]तत्कार्यत्वं समर्थितं भवति। [३४३३]अन्यथा केवलं [३४३४]तदभावे न भवतीत्युपदर्शने[३४३५]ऽन्यस्यापि [३४३६]तत्राभा

सन्दिग्धमस्य[३४३७] सामर्थ्यं स्यात्, अन्यत्त्र[३४३८] समर्थं[३४३९] तदभावे[३४४०] तत्र[३४४१] भूतमिति शङ्कायाः प्रतिनिवृत्त्यभावात्। एतन्निवृत्तौ[३४४२] पुनर्निवृत्तौ[३४४३] यदृच्छासंवादो मातृविवाहोचितदेशजन्मनः[३४४४] पिण्डखर्जूरस्य देशान्तरेषु मातृविवाहाभावेऽभाववत्[३४४५]। एवं[३४४६] समर्थितं तत्तस्य[३४४७] कार्यं सिद्ध्यति। सिद्धं स्वसंभवेन तत्संभवं साधयति, कार्यस्य कारणाव्यभिचारात्। अव्यभिचारे[३४४८] च स्वकारणैः सर्वकार्याणां सदृशो[३४४९] न्याय इति[३४५०]।

२६८. अनुपलब्धेरपि[३४५१] समर्थनम्, प्रतिपत्तुरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिसाधनम्। तादृशस्यैवानुपब्धेर-सद्व्यवहारसिद्धेः, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य[३४५२] प्रतिपत्तृप्रत्यक्षोपलब्धिनिवृत्तावप्यभावासिद्धेः[३४५३]। तत्रोपब्धिलक्षणप्राप्तिः स्वभावविशेषः[३४५४] कारणान्तरसाकल्यं[३४५५] च स्वभावविशेषः। यत्र त्रिविधेन[३४५६] विप्रकर्षेण विप्रकृष्टं यदनात्मरूपप्रतिभासविवेकेन[३४५७][३४५८][३४५९][३४६०] प्रतिपत्तृप्रत्यक्षप्रतिभासिरूपं स तादृशः[३४६१] सत्स्वन्येषूपलम्भकारणेषु[३४६२] तथानुपलब्धोऽसद्व्यवहारविषयः[३४६३][३४६४]। ततोन्यथा[३४६५][३४६६] सति लिङ्गे[३४६७] संशयः। अत्रापि[३४६८] सर्वमेवंविधमसद्व्यवहारविषयः[३४६९][३४७०]। इति[३४७१] व्याप्तिः—कस्यचिदसतोभ्युपगमेऽन्यस्य[३४७२][३४७३][३४७४][३४७५] तल्लक्षणाविशेषात्[३४७६]। न ह्येवंविधस्यासत्त्वानभ्युपगमेन्यत्र[३४७७][३४७८][३४७९] तस्य योगः। न ह्येवंविधस्य[३४८०] सतः सत्स्वन्येषूलम्भकारणेष्वनुपलब्धिः[३४८१]। अनुपलभ्यमानं त्वीदृशं नास्तीत्येतावन्मात्रनिमित्तोयमसद्व्यवहारः[३४८२], अन्यस्य[३४८३] तन्निमित्तस्याभावादिति। तच्चैवं त्रिविधस्य हेतोः समर्थनं न रूपान्तरम्, विपक्षाव्यावृत्तिरूपत्वात्, तृतीयस्यैव[३४८४] रूपस्यासपक्षासत्त्वलक्षणस्यैवं[३४८५] प्रतिपादनात्[३४८६]। तदवचने[३४८७] साधनाङ्गस्य[३४८८] त्रिरूपलिङ्गस्यावचनादसाधनाङ्गवचनं निग्रहाधिकरणं प्रसज्येत। निगमनादेस्तु हेतुरूपातिरिक्तत्वादभिधानमनर्थकम्, त्रिरूपहेतुना साध्यार्थप्रतिपत्तेर्विहितत्वात्। ततो निगमनादीनतिशेते[३४८९] एव समर्थनमिति।

२६९. तदेतदपि[३४९०] स्वदर्शनानुरागमात्रं सौगतस्य, निगमनादेरपि साधनावयवत्वात्, 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय-निगमनान्यवयवाः' ( ) इति परैरभिधानात्[३४९१], निगमनस्योपनयस्य वा संगरस्येवावचने[३४९२][३४९३] न्यूनाख्यस्य निग्रहस्थानस्य प्रसक्तेः, 'हीनमन्यतमेनापि[३४९४] न्यूनम्[३४९५]' ( ) इति वचनात्।

२७०. यदि[३४९६] पुन साधनावयवत्वेपि निगमनादेर्वचनमयुक्तम्, हेत्वादिनैवार्थप्रत्यायनात्; इति मतम्; तदा[३४९७] समर्थनस्य[३४९८] हेतुरूपत्वेपि निर्दोषहेतुप्रयोगादेव साध्यप्रसिद्धेस्तदभिधानमनर्थकं कथं न भवेत्? यतः समर्थनं निगमनादीनतिशयीत[३४९९]।

२७१. हेतोर्विपक्षव्यावृत्तिसाधनलक्षणस्य[३५००] समर्थनस्यावचने रूपान्तरसत्त्वेपि[३५०१] गमकत्वासम्भवात्, निगमनाद्यवचनेपि गमकत्वोपपत्तेः समर्थनं निगमनादीनतिशयीत; इति चेत्; हन्त[३५०२] हतोसि, पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वयोर्हेतुरूपत्वापायापत्तेः, अन्यथानुपपन्नत्वस्यैव[३५०३] तथा[३५०४] हेतुलक्षणत्वसिद्धेः, तस्यैव समर्थनरूपत्वात्, तद्भावे[३५०४(क)][३५०५] एव हेतोः प्रयोजकत्वदर्शनात्, पक्षधर्मत्वादिप्रयोगे वादिनोऽसाधनाङ्गवचनस्य[३५०६][३५०७] निग्रहस्थानस्य प्रसक्तेः। प्रतिपाद्यानुरोधतः[३५०८] पक्षधर्मत्वादिवचनान्न निग्रहस्थानप्राप्तिः, इति चेत्, तथा[३५०९] निगमनादिवचनादपि सा[३५१०] मा भूत्, सर्वथातिशयासत्त्वात्[३५११]।

२७२. यदि [३५१२]पुनरयं [३५१३]निर्बन्धः प्रतिपाद्यानुरोधतोप्यतिरिक्तवचनम[३५१४]साधनाङ्गवचनं निग्रहस्थानमिति, तदा
सत्त्वमात्रेण [३५१५]नश्वरत्वसिद्धावुत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिवचनमतिरिक्तविशेषणोपादानात् कृतकत्वप्रयत्ना-
नन्तरीयकत्वादिषु च कप्रत्ययातिरे[३५१६]कादसाधनाङ्गवचनं पराजयाय प्रभवेत्। [३५१७]क्वचित्पक्ष[३५१८]धर्मत्वप्रदर्शनम्,
संश्च शब्द इत्यविगानात्। [३५१९]यस्य [३५२०]निरुपाधि सत्त्वं प्रसिद्धं तं प्रति शुद्धः स्वभावहेतुः प्रयुज्यते, नश्वरः शब्दः
[३५२१]सत्त्वादिति। [३५२२]यस्य त्वनर्थान्तरभूत[३५२३]विशेषणं सत्त्वं प्रसिद्धं तं प्रति सोनर्थान्तरभूतविशेषण [३५२४]एवोत्पत्तिमत्त्वादिति।
[३५२५]यस्य पुनरर्थान्तरभूत[३५२६]विशेषणं सत्त्वं संप्रसिद्धं तं प्रत्यर्थान्तरभूतविशेषण एव कृतकत्वादिति, 'अपेक्षितपरव्यापारो
हि भावः कृतकः' ( ) इति वचनात्। तथा कृतकत्वात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यादिषु च स्वार्थिकस्य
कप्रत्ययस्याभिधानमपि [३५२७]तादृशशब्द[३५२८]प्रसिद्ध्यनुसारिणं प्रति नातिरिक्त[३५२९]मुच्यते, [३५३०]अन्यथा प्रयोगे तद[३५३१]परितोषात्। तथा च
यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घट [३५३२]इतीयता शब्देप्यविगानेन सत्त्वप्रतिपत्तावपि संश्च शब्द इति पक्षधर्मप्रदर्शनं
नातिरिक्तवचनम्, तदन्तरेण तत्प्रतिपत्तुमशक्तं प्रति तथा [३५३३]वचनाच्छक्तं प्रति [३५३४]तदवचनात्, '[३५३५]विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि
केवलः' ( ) इति वचनान्न पराजयाय कस्यचित्प्रभवेत्, इति वदन्तः सौगताः प्रतिपाद्यानुरोधतः साधर्म्यवचनेपि
वैधर्म्यवचनं तद्वचनेपि च साधर्म्यवचनं पक्षादिवचनं वा नेच्छन्तीति किमपि महाद्भुतम्। तथा [३५३६]तदिष्टौ वा तद्वचनं
निग्रहाधिकरणमित्य[३५३७]युक्तमेव व्यवतिष्ठते।

२७३. किञ्च, [३५३८]क्वचित्पक्षधर्मत्व[३५३९]प्रदर्शनं संश्च शब्द [३५४०]इत्यविगानात्, त्रिलक्षणवचनसमर्थनं [३५४१]च
असाधनाङ्गवचनमपजयप्राप्तिरिति [३५४२]व्याहतम्। संश्च शब्द इति वचनमन्तरेणापि शब्दे सत्त्वप्रतीतेस्तस्य
निग्रहस्थानत्वप्रसङ्गात्। प्रतिज्ञावचनवदसाधनाङ्गत्वा[३५४३]त्तस्या[३५४४]निग्रहस्थानत्वे वा संगरवचनादेरप्यपजयप्राप्तिविरोधा-
त्पक्षधर्मप्रदर्शनमसाधनाङ्गवचनादपजयप्राप्त्या व्याहतमेव। त्रिलक्षणवचनसमर्थनं च, [३५४५]तदन्तरेणापि
त्रिलक्षणवचनस्य साधनाङ्गत्वसिद्धौ प्रतिज्ञादिवचनस्य साधनाङ्गत्वसिद्धे[३५४६]रन्यथा [३५४७]तस्य प्रतिज्ञादिवचनवद-
पजयप्राप्तिनिबन्धनत्वप्रसक्तेः। ततस्तद्[३५४९]व्याहतिं परिजिही[३५५०]र्षता गम्य[३५५१]मानस्यापि वचनं नासाधना[३५५२]ङ्गवादिनो
निग्रहाधिकरणमिति प्रतिपत्तव्यम्।

२७४. [३५५३]नन्वेवमप्रस्तुतस्यापि नाटकादिघोषणस्य [३५५४]द्वादशलक्षणप्ररूपणस्य वा निग्रहाधिकरणत्वं न स्यादिति
चेत्; [३५५५]एवमेतत्। [३५५६]**तथान्यस्यापि प्रस्तुतेरस्य [३५५७]वादिनोक्तावितरस्य स्वपक्षमसाधयत**
[३५५८]विजयासंभवान्निग्रहस्थानमयुक्तम्, [३५५९]स्वपक्षं साधयतस्तु [३५६०]तत्सिद्ध्यैव विजयसंभवादितरस्य पराजयप्राप्तेर्नि
प्रस्तुतादिवचनं निग्रहस्थानम्। [३५६१]**साधनाङ्गस्यावचनं** वादिनो निग्रहस्थानम्, [३५६२]स्वेष्टसाधनवचनमभ्युपगम्य[३५६३]
[३५६४]ऽप्रतिभया तूष्णीभावात्, [३५६५]इत्यप्यनेन [३५६६]प्रत्युक्तम्। **प्रतिवादिनोप्य[३५६७]दोषोद्भावनं दोषस्यानु[३५६८]द्भावनं वानेन प्रत्युक्तम्**
[३५६९]न्यायस्य समानत्वात्। [३५७०]किमेवं [३५७१]वादिना कर्त्तव्यम्; इति चेत्; **विजिगीषुणोभयं कर्त्त**
स्वपरपक्षसाधनदूषणम्। ततः किम्; इति चेत्; **अतोन्यतरेणा[३५७२]सिद्धानैकान्तिकवचनेपि [३५७३]जल्पापरिसमाप्ति**
कस्यचित्स्वपक्षसिद्धेरभावात्। कथं तर्हि वादपरिसमाप्तिर्वादिप्रतिवादिनोरिति चेत्, **निराकृतावस्थापितविपक्ष**
स्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था, नान्यथा। तदुक्तम्—

स्वपक्षसिद्धिरेकस्य[३५७४] निग्रहोन्यस्य वादिनः ।
नासाधनाङ्गवचनं[३५७५] नादोषोद्भावनं[३५७६] द्वयोः[३५७७] ।। ( ) इति

इति । तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकेऽप्युक्तम्—

स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा ।
वस्त्वाश्रयत्वतो[३५७८] यद्वल्लौकिकार्थविचारणा ।। ( ) इति ।

२७५. **इति दर्शयन्नुभयमाह[३५७९]**—ग्रन्थकारः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यः । 'स त्वमेवासि निर्दोषः' इति,[३५८०] 'त्वन्मतामृतबाह्यानाम्'[३५८१] इत्यादि च, गम्यमानस्यापि वचने दोषाभावात् ।

२७६. ननु च सर्वथैकान्तवादिनामपि कुशलाकुशलस्य कर्मणः परलोकस्य च प्रसिद्धेराप्तत्वोपपत्तेर्महत्त्वं किं न स्तुतमित्याशङ्कायामिदमाहुः[३५८२]—

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्[३५८३] ।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ।।८।।

२७७. कायवाङ्मनःकर्म[३५८४] क्रिया, त्रिविधो[३५८५] योग आस्रवः[३५८६], तद् द्विविधं कुशलाकुशलभेदात्[३५८७], 'कायवाङ्मनःकर्म योगः', 'स[३५८८] आस्रवः', 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' (त.सू. ६,१,२,३) इति वचनात्[३५८९]। प्रेत्यभावः[३५९०] परलोकः। तद्धेतुर्वा[३५९१] धर्मोऽधर्मश्च[३५९२], कारणे कार्योपचारात्। चशब्दान्त्रि-श्रेयसादिपरिग्रहः[३५९३]। एतत्सर्वमेकान्तग्रहरक्तेष्वनित्यैकान्ताद्यभिनिवेशपरवशीकृतेषु[३५९४] मध्ये न क्वचित्संभवति, तेषां स्ववैरित्वात्[३५९५], तत्त्वोपप्लववादिवत्। स्ववैरिणस्ते[३५९६] परवैरित्वात् तद्वत्। किं पुनः स्वं को वा परः ? पुण्यं पापं च कर्म तत्फलं[३५९८] कुशलमकुशलं[३५९९] च स्वम्, तत्सम्बन्धः[३६००] परलोकादिश्च[३६०१], तस्य[३६०२] स्वयमेकान्त-वादिभिरिष्टत्वात्। परः पुनरनेकान्तः, तस्य तैरनिष्टत्वात्। तद्वैरित्वं[३६०३] तु तेषां तत्प्रतिषेधाभिधानात्[३६०४]। तत् स्ववैरित्वं[३६०५] साधयति, यस्मात् **कर्मफलसंबन्धपरलोकादिकमेकान्तवादिनां[३६०६] प्रायेणेष्टं[३६०७] तदनेकान्तप्रतिषेधेन बाध्यते[३६०८] ।**

२७८. ननु[३६०९] च शून्यवादिभिरद्वैतावलम्बिभिश्च[३६१०] तस्यानिष्टत्वात्कथं[३६११] सर्वेषामेकान्तवादिनां तदिष्टम्; इति चेन्न; तैरपि संवृत्त्या[३६१२] प्रायेणेष्टत्वात्। कथं पुनरनेकान्तप्रतिषेधेन तद्बाध्यते, इति चेत्, क्रमाक्रमयोः[३६१३] प्रतिषेधात्[३६१४], तयोरनेकान्तेन[३६१५][३६१६] व्याप्तत्वात्, तत्प्रतिषेधेने[३६१७] तत्प्रतिषेधसिद्धेः[३६१८][३६१९]। क्रमाक्रमप्रतिषेधे चार्थक्रियाप्रतिषेधः[३६२०], तस्यास्ताभ्यां व्याप्तत्वात्। अर्थक्रियाप्रतिषेधे च कर्मादिकं विरुध्यते, तस्य तया व्याप्तत्वात्। यदि[३६२१] वानेकान्तप्रतिषेधेन क्षणिकाद्येकान्तविरोधः[३६२२], तदेकान्तस्यानेकान्ताविनाभावित्वात्। तस्यापि[३६२२(क)] स्वरूपेण[३६२३] सत्त्वेऽनेकान्तरूपेण चासत्त्वव्यवस्थायामनेकान्तस्य[३६२४] दुर्निवारत्वात्तदविनाभावित्वं[३६२५] सिद्धमेव, अन्यथा तद्व्यवस्थानुपपत्तेः[३६२६]। इति परवैरित्वात् स्ववैरित्वम्। तथा[३६२७] च कथं कर्मादिकमनाश्रयं[३६२८] न विरुध्यते ? **ततोनुष्ठानमभिमतव्याघातकृत्[३६२९][३६३०][३६३१], सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तेषु कस्यचित्कुतश्चित्कदा-[३६३२][३६३३][३६३४] चित्क्वचित्प्रादुर्भावासम्भवात्[३६३५][३६३६] ।**

२७९. [३६३७]ननु च 'कस्यचित्कर्मणः पुण्यपापाख्यस्य कुतश्चिदनुष्ठानात्कायादिव्यपार[३६३८]लक्षणात्क्वचिदात्मनि˝ कदाचित्संसारिदशायां [३६३९]जन्म मा भूत् मा सर्वथा सततस्तदघटनात्, कर्मफलस्य वा शुभाशुभपरलोक[३६४०][३६४१]लक्षणस्य [३६४२]कर्मविशेषात्, [३६४३]तत्त्वज्ञानादेर्वा [३६४४]निश्श्रेयसस्य च, सर्वथा सद्भावाविशेषात्। [३६४५]तस्यासतस्तु [३६४६]ततो जन्मास्तु प्रागसतः पश्चात्प्रादुर्भावदर्शनात्, इति चेन्न, [३६४७]उभयत्र [३६४८]तद्विरोधाविशेषात्। **न हि सर्वात्मना सर्वस्य [३६४९]भूतावेव जन्म विरुद्धमपि तु [३६५०]सर्वथाऽभावेऽपि [३६५१]व्यलीकप्रतिभासानामनुपरमप्रसङ्गात्।**

२८०. ननु च [३६५२]शून्यवादिनः स्वप्नदशायामिवा[३६५३]न्यदापि व्यलीकप्रतिभासानां कर्मादीनां कथमनुपरमप्रसङ्गः, यतः संवृत्या कर्मादिजन्माविरुद्धं न भवेदिति चेन्न, [३६५४]साध्यसमत्वादुदाहरणस्य। [३६५५]यथैव ह्यस्वप्नदशायां व्यलीकप्रतिभासानामहेतुकत्वादनुपरमप्रसङ्गः शून्यवादिनां तथा स्वप्नावस्थायामपि, [३६५६]तदविशेषात्। तेषामविद्यावासनाहेतुकत्वादहेतुकत्वमसिद्धमिति चेन्न, अनाद्यविद्यावासनाया अप्यसत्त्वे वितथप्रतिभासहेतुत्वविरोधात्, खपुष्पवत्, सत्त्वे वा सर्वथा शून्यवादानवतारात्। संवृतिसत्त्वा[३६५७]त्तस्याः शून्यवादावतार इति चेत्, तर्हि परमार्थतोसत्यविद्या कथं वितथप्रतिभासहेतुः स्यात्? [३६५८]स्वरूपेण सदेव हि किञ्चिद्वितथप्रतिभासान[३६५९]पि जनयद्दृष्टम्, यथा चक्षुषि [३६६०]तिमिरादिकम्, न पुनरसत्खरविषाणम्। इति सर्वशून्यवादिनो व्यलीकप्रतिभासानुपरमप्रसङ्ग एव, अहेतुकत्वात्। ततो [३६६१]नाभावैकान्ते [३६६२]कस्यचित्कुतश्चित्कदाचित्क्वचिज्जन्म संभवति, सदसदनेकान्तप्रतिषेधा[३६६३]द्भावैकान्तवत्। **न केवलं [३६६४]स्वभावनैरात्म्ये एवायं [३६६५]दोषः, किन्त्वन्त[३६६६]रुभयत्र [३६६७]वा [३६६८]निरन्वय[३६६९]सत्त्वेऽपि,** कार्यस्य निर्हे[३६७०]तुकत्वाविशेषाज्जन्मविरोधसिद्धेः, [३६७१]जन्मनि वा तस्यानुपरतिप्रसङ्गात्।

२८१. नन्वन्तस्तत्त्ववादिनो योगाचारस्य पूर्वविज्ञानादुत्तरविज्ञानस्योत्पत्तेः सौत्रान्तिकस्य चान्तर्बहिस्तत्त्वोभयवादिनः पूर्वार्थक्षणादुत्तरार्थक्षणस्य प्रादुर्भावात्कुतो निष्कारणत्वं कार्यस्य; इति चेत्; न, **[३६७२]कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणत्वानुपपत्ते[३६७३]श्चिरतरातीतवत्।** कार्यकालं प्राप्नुवतोपि कारणत्वादर्शना[३६७४]दन्यथा [३६७५]सर्वस्य समान[३६७६]क्षणवर्तिनस्तत्कारणत्वप्रसङ्गात्। यस्य भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावौ, तदेव कारणमिति कल्पनायाम्[३६७७] **[३६७८]सत्यभवतः [३६७९]स्वयमेव [३६८०]नियमेन पश्चाद्भवतस्तत्[३६८१]कार्यत्वं विरुद्धम्।** [३६८२]तत्र तदकारणत्वसाधना[३६८३]दन्यकार्यवत्, [३६८४]तस्य वा [३६८५]तदकार्यत्वसिद्धे[३६८६]स्तद्वत्। [३६८७]तत्कार्यमेव [३६८८]तदनन्तरं सम्भवतीति चेत्, **कालान्तरेपि किन्न स्यात्? [३६८९]तदभावाविशेषात्, समनन्तरवत्।** कालान्तरेपि किञ्चिद्भवत्येव मूषिकाऽलर्कविष[३६९०]विकारवद्भाविराज्यादिनिमित्तकरतलरेखादि[३६९१]वच्चेति चेत्, **[३६९२]समर्थे सत्यभवतः पुनः कालान्तरे भाविनस्तत्प्रभवाभ्युपगमे कथमक्षणिकेऽर्थक्रियानुपपत्तिः [३६९३]तत्सत्त्वासत्त्वयो[३६९४]रविशेषात्।** [३६९५]स्वसत्ताक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चासति समर्थे [३६९६]कारणे [३६९७]स्वकालनियताऽर्थक्रियोपपद्यते, न पुनः [३६९८]शश्वत्सतीति कुतो नियमः? **कारणसामर्थ्यापेक्षिणः फलस्य [३६९९]कालनियमकल्प[३७००]नायामचलपक्षेपि समानः परिहारः।** [३७०१]यथैव हि क्षणिकं कारणं यद्यदा यत्र यथोत्पित्सु कार्यं तत्तदा तत्र [३७०२]तथोत्पादयति, [३७०३]तस्यैवंविधसामर्थ्यसद्भावात् तत्सामर्थ्यापेक्षिणः कार्यस्य स्वकालनियमः [३७०४]सिद्ध्यतीति कल्प्यते, तथा नित्यमपि कारणं यद्यदा यत्र यथा फलमुत्पित्सु तत्तदा तत्र तथोपजनयति, [३७०५]तस्य तादृशसामर्थ्ययोगात् तत्सामर्थ्यापेक्षिणः फलस्य कालनियमः किन्न कल्पयितुं शक्यः? शाश्वतिकस्य प्रतिकार्यं सामर्थ्यभेदादनित्यत्वप्रसङ्ग इति चेन्न, क्षणिक[३७०६]स्याप्येकस्य

युगपदनेककार्य[३७०७]कारिणः प्रतिकार्यं सामर्थ्यभेदादनेकत्वप्रसङ्गात्। **क्षणवर्तिन[३७०८] एकस्मात्[३७०९]कारणस्वभावमभेदतां[३७१०] विचित्र[३७११]कर्मणामुत्पत्तौ कूटस्थेपि किं न स्यात्[३७१२] क्रमशः कार्योत्पत्तिः?** तस्यापि तथाविधैकस्वभावत्वात्[३७१३]। **कथमत्रोत्पत्तिर्नाम[३७१४]? तत्र[३७१५] समानः पर्यनुयोगः[३७१६], सदसतोरनुत्पत्तेर्निष्पन्न[३७१७]खपुष्पवत्।** नित्यं कथमुत्पद्यते सत्त्वान्निष्पन्नवदिति पर्यनुयुज्यते[३७१८], न पुनः क्षणिकं कथं प्रादुर्भवेत्, असत्त्वात्खपुष्पवदिति पर्यनुयोगार्हमिति[३७१९] पक्षपातमात्रम्[३७२०]। **सतः पुनर्गुणान्तराधानमनेकं[३७२१] क्रमशोप्यनुभवतः[३७२२] किं विरुध्येत[३७२३]?** नन्वेकत्वं[३७२४] विरुध्यते। तद्धि[३७२५] गुणान्तराधानमनेकं[३७२६] क्रमशोनुभवन् यद्येकेन[३७२७] स्वभावेनानुभवेत्तदा तस्यैकस्वभावतापत्तिः[३७२८], अन्यथा निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्[३७२९], तदनुभवनस्य[३७३०] नियमायोगात्[३७३१]। अथानेकेन स्वभावेन तदनुभवेत्तदा कथमेकस्वभावता तस्य[३७३२]। अनेकस्य स्वभावस्य ततो[३७३३] भेदात्तस्यैकरूपत्वे[३७३४] कुतोयमस्यानेकस्वभावः? सम्बन्धात्तस्य[३७३५] स[३७३६] इति कल्पनायां[३७३७] स सम्बन्धः[३७३८] स्वस्वभावैर्गुणान्तराधानानुभवनहेतुः किमेकेन स्वभावेन स्यादनेकेन वेति स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च; इति कश्चित्[३७३९], सोपि दूषणाभासवादी[३७४०], स्वयमिष्टस्यैकस्य[३७४१] ज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्य[३७४२]विरोधप्रसङ्गात्, प्रकृत-[३७४३]पर्यनुयोगस्याविशेषात्। **क्षणस्थायिनः कस्यचिदेव[३७४४] ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यानभ्युपगमेपि[३७४५] संविदितज्ञानस्य[३७४६] ग्राह्यग्राहकाकारविवेकं[३७४७] परोक्षं[३७४८] बिभ्राणस्य सामर्थ्यप्राप्तेः[३७४९],** संवेदनस्यैकस्य[३७५०] प्रत्यक्षपरोक्षाकारतया वैश्वरूप्यसिद्धेः। संविद्रूपतया संवेदनस्य प्रत्यक्षतैव ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि[३७५१] प्रत्यक्षता, न पुनः परोक्षता, यतो वैश्वरूप्यं प्रकृत[३७५२]पर्यनुयोगयोग्यं भवेदिति चेत्; न; तथा[३७५३] सकृदप्यप्रतिभासमानाद् ब्रह्माद्वैतवत्[३७५४], ग्राह्यग्राहकाकाराक्रान्तस्यैव सर्वदा वेदनस्यानुभवात्। ततः[३७५५] संवेदनमेकमनेकं प्रत्यक्षपरोक्षाकारौ बिभ्राणं सामर्थ्यप्राप्तमेव, **अन्यथा[३७५६] शून्य[३७५७]संविदो[३७५८]र्विप्रतिषेधात्[३७५९]।** ग्राह्यग्राहकाकारशून्यतया[३७६०] हि शून्यम्, संवेदनमात्रमुपयतस्[३७६१]तत्[३७६२]संविदुपपद्यते, न पुनः संविन्मात्रमप्यसदुपवर्णयतः[३७६३][३७६४], विप्रतिषेधात्स्वेष्टासिद्धेः[३७६५] प्रलापमात्रप्रसक्तेः। **तदयं[३७६६]** योगाचारः सौत्रान्तिको वा सर्वथा शून्यं संविदद्वैतं वानिच्छन्, **क्षणस्थायि कारणं स्वसत्तायां कार्यं कुर्वदभ्युपगच्छन् क्रमोत्पत्तिमुपरुणद्धि[३७६७], सकलजगदेकक्षणवृत्तिप्रसङ्गात्[३७६८]।** कालान्तरे कार्यं कुर्वत्कारणं क्षणिकमभ्युपगच्छतां[३७६९] नायं दोष इति चेन्न, तेषामपि **कारणस्य कार्यकालप्राप्तौ क्षणभङ्ग[३७७०]भङ्गानुषङ्गात्[३७७१], तदप्राप्नुवतस्तत्कृतौ[३७७२] व्यलीककल्पनाविशेषेण कूटस्थानतिशायनात्।** यथैव हि कूटस्थमपरिणामित्वात्क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियायामसमर्थमपि व्यलीककल्पनया क्रमाक्रमसमाक्रान्तकार्यपरम्परां कुर्वदभ्युपगम्यते नित्यैकान्तवादिभिः सांख्यादिभिस्तथा क्षणिकमपि स्वसत्ताक्षणात् पूर्वं पश्चाच्चात्यन्तम-सत्सर्वथार्थक्रियायामसामर्थ्यं प्रथयदपि संवृत्त्या क्रमाक्रमवृत्तिकार्यमालां निर्वर्त्तयदुरीक्रियते क्षणिकवादिभिरिति कूटस्थादनतिशायनं क्षणिकस्य सिद्धमेव। **ततः सुभाषितं** समन्तभद्रस्वामिभिः **कुशलाद्यसंभूतिरेकान्तग्रहरक्तेष्विति।** परस्पर[३७७३]निरपेक्षसदसदुभयैकान्तनित्यानित्यो[३७७४]भयैकान्तवादिनोपि तदसंभवात्, अद्वैतैकान्तादिवादिवत्[३७७५]।

२८२. तदेवं सर्वथैकान्तवादिनां दृष्टेष्टविरुद्धभाषित्वादज्ञानादिदोषाश्रयत्वसिद्धेराप्तत्वानुपपत्तेस्त्वमेव भगवन्नर्हन् सर्वज्ञो वीतरागश्च युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन निर्दोषतया निश्चितो महामुनिभिस्तत्त्वार्थशासनारम्भेभिष्टुतः तत्सिद्धिनिबन्धनत्वात्, इति तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालङ्कारे व्यासतः समर्थितं प्रतिपत्तव्यम्।

२८३. ननु च भाव एव पदार्थानामिति निश्चये दृष्टेष्टविरोधाभावात्तद्वादिनो निर्दोषत्वसिद्धेराप्तत्वोपपत्तेः स्तुत्यताऽस्त्विति भगवत्पर्यनुयोगे[३७७६] सतीवाहुः—

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्[३७७७] ।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्[३७७८][३७७९] ।।९।।

२८४. पदार्थाः प्रकृत्यादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः[३७८०][३७८१][३७८२] प्रकृतिविकृतयः[३७८३] सप्त ।
षोडशकश्च[३७८४] विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।। ( ) इति वचनात् ।

२८५. तेषामस्तित्वमेवेति निश्चयो भावैकान्तः । तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने सर्वेषामितरेतराभावादीनामभावानामपह्नवः स्यात् । ततः सर्वात्मकत्वादिप्रसङ्गः[३७८५] । तत्र व्यक्ताव्यक्तयोस्तावदितरेतराभावस्यापह्नवे[३७८६] व्यक्तस्याव्यक्तात्मकत्वे सर्वात्मकत्वम् । तथा च—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं[३७८७] लिङ्गम्[३७८८] ।
सावयवं परतन्त्रं[३७८९] व्यक्तं[३७९०] विपरीतमव्यक्तम्[३७९१] ।। ( )

इति व्यक्ताव्यक्तलक्षणभेदकथनविरोधः[३७९२] । प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्ताभावनिह्नवे प्रकृतेः पुरुषात्मकत्वे सर्वात्मकत्वमेव । तथा च—

त्रिगुणमविवेकि[३७९३][३७९४] विषयः[३७९५] सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि[३७९६] ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा[३७९७][३७९८] च पुमान् ।। ( )

२८६. इति तल्लक्षणभेदकथनव्याघातः[३७९९] । प्रागभावस्यापह्नवे महदहङ्कारादेर्विकारस्यानादित्वप्रसङ्गः । तथा च—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च[३८००] षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः[३८०१] पञ्चभूतानि ।। ( )

२८७. इति सृष्टिक्रमकथनं विप्रतिषिध्यते[३८०२] । प्रध्वंसाभावस्यापह्नवे तस्यानन्तत्वप्रसङ्गात्, पृथिव्यादीनि पञ्चमहाभूतानि पञ्चसु तन्मात्रेषु लीयन्ते—पृथिव्या गन्धरूपरसस्पर्शशब्दतन्मात्रेषु प्रवेशात्, सलिलस्य रसादिषु, तेजसो रूपादिषु, वायोः स्पर्शशब्दतन्मात्रयोः, आकाशस्य शब्दतन्मात्रेनुप्रवेशात् । तन्मात्राणां च पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च मनसा सह षोडशकस्य गणस्याहङ्कारेऽन्तर्भावस्तस्य च महति, महतः प्रकृताविति संहारनिवेदनमतिव्याकुलं स्यात् । ततः सर्वमस्वरूपम्, स्वेनासाधारणेन रूपेण कस्यचित्तत्त्वस्य व्यवस्थानाघटनात्[३८०३] । तच्च[३८०४]—

सर्वस्योभयरूपत्वे[३८०५] तद्विशेषनिराकृतेः[३८०६] ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ।। ( )

इति दूषणास्पदमतावकं मतम्, न तव भगवतोर्हतः, कथञ्चिदभावापह्नवाभावात्[३८०७] ।

२८८. ननु च व्यक्ताव्यक्तयोरितरेतराभावस्य [३८०८]तत्स्वभावस्य, प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्ताभावस्य च तद्रूपस्य, महदहङ्कारादीनां प्रागभावस्य च [३८०९]स्वकारणस्वभावस्य, महाभूतादीनां प्रध्वंसाभावस्य च [३८१०]स्वान्तर्भावाश्रयस्वरूपस्य साङ्ख्यैरभ्युपगमादभावापह्नवासिद्धेः कथं सर्वात्मकत्वादिदोषः ? इति चेत्; न, तथा [३८११]भावैकान्तविरोधात्, सर्वस्य भावाभावात्मकत्वप्रसक्तेः। न हि [३८१२]वयमपि भावादर्थान्तरमेवाभावं संगिरामहे, [३८१३]तस्य नीरूपत्वप्रसङ्गात्, नास्तीति प्रत्ययजनकत्वरूपसद्भावादभावस्य नीरूपत्वाभावोपगमे तस्य भावस्वभावत्वसिद्धेः, [३८१४]प्रत्ययाभिधानविषयस्यार्थक्रियाकारिणः [३८१५]पदार्थस्य भावस्वभावत्वप्रतिज्ञानात्, नास्तित्वस्य वस्तुधर्मत्वादस्तित्ववत्। वस्तुनोस्तीति प्रत्ययविषयो हि [३८१६]पर्यायोस्तित्वम्, नास्तीति प्रत्ययविषयवस्तु नास्तित्वम्। [३८१७]**निष्पर्यायद्रव्यैकान्तपक्षे सर्वात्मकत्वादिदोषानुषङ्गः** कथं परिहर्तुं शक्यः ? [३८१८]सर्वविवर्तात्मकस्यैकस्यानाद्यनन्तस्य प्रधानस्येष्टत्वात्, [३८१९]तद्व्यतिरेकेण सकलविशेषाणां [३८२०]तत्त्वतोऽसंभवात्सिद्ध[३८२१]साधनमिति चेन्न, [३८२२]प्रकृतिपुरुषयोरपि विशेषाभावानुषङ्गात्, सत्ताव्यतिरेकेण तयोरप्रतिभासनात् [३८२३]सत्ताद्वैतप्रसङ्गात्। तदेवास्तु, [३८२४]चेतने[३८२५]तरविशेषाणामविद्योपकल्पितत्वात्, इति चेत्, [३८२६]**कुतः पुनर्विशेषानपह्नु[३८२७]वीत ?** न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य विधायकत्वनियमात्, [३८२८]विशेषप्रतिषेधे प्रवृत्त्ययोगात्। नाप्यनुमानादागमाद्वा, तस्यापि प्रतिषेधकत्वानि[३८२९]ष्टेः, अन्यथा प्रतिषेधकत्वप्रस[३८३०]ङ्गात्। स्वयं न [३८३१]कुतश्चित्प्रमाणादयं विशेषानपह्नुते। किं तर्हि ? [३८३२]**तत्साधनव्यभिचारात्।** [३८३३]वस्तुविशेषसाधनवादिना [३८३४]हि न कारणभेदस्तत्साधनं प्रयोक्तव्यम्, तस्याभेदवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात्। नापि विरु[३८३५]द्धधर्माध्यासः, तत एव। किं तर्हि ? [३८३६]**संविन्निर्भासभेदाद्भावस्व[३८३७]भावभेदः प्रकल्प्येत। [३८३८]स पुनरभेदेप्यात्मनः खण्डशः प्रतिभासनाद्** व्यभि[३८३९]चारी।

२८९. [३८४०]ननु [३८४१]ज्ञानात्मनः खण्डशः प्रतिभासनस्य विभ्रान्तत्वात्तत्त्वतस्तस्यैकत्वान्न तेन व्यभिचारः। तदुक्तम्—

[३८४२]अविभागोपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासित[३८४३]दर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते।। ( )

इति [३८४४]चेत्, **[३८४५]तदन्यत्रापि विभ्रमाभावे [३८४६]कोशपानं [३८४७]विधेयम्।** शक्यं हि वक्तुम्, संविन्निर्भासभेदः [३८४८]कुतश्चित्प्रतिपत्तुर्विभ्रम एव, तत्त्वतः संविन्मात्रस्याद्वयस्य व्यवस्थितेः।

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो नरः।
सङ्कीर्णमिव [३८४९]मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते।।
[३८५०]तथेदममलं ब्रह्म [३८५१]निर्विकल्पमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति।। (बृहदा. भा. ३.५.४३-४४)

इति वचनात्। तथा चासिद्धं [३८५२]विशेषसाधनं न साध्यसाधनायालम्। **[३८५३]तदेकं चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासभेदवशाद्रूपादिव्यपदेशभाग् [३८५४]ग्राह्यग्राहकसंवित्तिवत्।** [३८५५]चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासभेदोप्यसिद्ध एवाभे[३८५६]दवादिन इति चेत्, ग्राह्यग्राहकसंवित्तिप्रतिभासभेदोपि [३८५७]भेदवादिनः किमेकत्र ज्ञानात्मनि [३८५८]सिद्धः ? संवृत्या सिद्ध इति चेत्,

समः [३८५९]समाधिः । [३८६०]योऽपीतरेतराभावप्रत्ययाद्भावस्वभावभेदं साधयेत्तस्य **[३८६१]इतरेतराभावविकल्पोऽपि [३८६२]कथमयथार्थो न स्याद्वर्णादिविकल्पवत्** [३८६३]। [३८६४]वर्णादिप्रत्ययो भावस्वभावभेदं स्वसाध्यमर्थमन्तरेणैव भावाद्व्यभिचारित्वादयथार्थः, न पुनरितरेतराभावप्रत्यय [३८६५]इत्यशक्यव्यवस्थम्, [३८६६]तस्य [३८६७]भावाभावयोरभेदेपीतरेतरा[३८६८]भावप्रत्ययेन व्यभिचारात् । **[३८६९]न हि वस्तुव्यतिरिक्तमसन्नाम, प्रमाणस्यार्थविषयत्वात् ।** [३८७०]प्रत्यक्षमभावविषयं [३८७१]भवत्येव, [३८७२]तस्येन्द्रियैः [३८७३]संयुक्तविशेषणसम्बन्धसद्भावात्, घटाभावविशिष्टं भूतलं गृह्णामीति प्रत्ययात्, इति चेत्; न; तस्य [३८७४]भूतलादिभावविषयत्वात् । **अभावदृष्टौ हि तदवसानकारणाभावाद्भावदर्शनमनवसरं प्राप्नोति ।** क्रमतोनन्तपररूपाभावप्रतिपत्तावेवोपक्षीणशक्तिकत्वप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षस्य क्वचित्प्रतिपन्ना [३८७५]स्मर्यमाणस्य [३८७६]घटस्याभावप्रतिपत्तौ [३८७७]तदपररूपस्यानन्तस्यास्मर्यमाणत्वं भावदर्शनावसरकारणम्, इति चेत् न; [३८७८]प्रत्यक्षस्य स्मरणानपेक्षत्वात्, तस्य स्मृत्यपेक्षायामपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वविरोधात् । [३८७९]भावप्रत्यक्षं किञ्चित्तु स्मरणनिरपेक्षम्, योगिप्रत्यक्षवत् । [३८८०]किञ्चित्तु स्मरणापेक्षं [३८८१]सुखादिसाधनार्थव्यवसायवत् । क्वचिदभावप्रत्यक्षं स्मरणनिरपेक्षम्, योगिनोऽभावप्रत्यक्षं यथा । [३८८२]क्वचिदभावप्रत्यक्षम्, पुनः प्रतिषेध्यस्मरणापेक्षमेव, तथा प्रतीतेः, इति चेत्, [३८८३]न; स्मरणापेक्षस्य विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वविरोधात्, अनुमानादिवत् । प्रत्यक्षस्य सकल[३८८४]कल्पनाविषयत्वात्स्मृत्यपेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात्, [३८८५]स्मृतेः पूर्वानुभवापेक्षत्वात्पूर्वानु[३८८६]भवस्याप्यपरस्मृत्यपेक्षत्वात्, सुदूरमपि गत्वा [३८८७]कस्यचिदनुभवस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वे [३८८८]प्रकृतानुभवस्यापि स्मृतिसापेक्षत्वकल्पनावैयर्थ्यात् । [३८८९]न च स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषया कथञ्चिदप्य[३८९०]पूर्वार्थे ज्ञानमुपजनयितुमलम्, [३८९१]तस्या[३८९२]स्तत्प्र[३८९३]त्यभिज्ञानमात्रजननसामर्थ्यप्रतीतेर्दृष्टे सजातीयार्थेपि स्मृतेः [३८९४]सादृश्यप्रत्यभिज्ञानजनकत्वसिद्धेः । पूर्वानुभूते घटे स्मृतिस्ततो विजातीयेर्था[३८९५]न्तरे [३८९६]तदभावे [३८९७]विज्ञानमुपजनयतीति शिलाप्लवं कः श्रद्दधीतान्यत्र [३८९८]ज[३८९९]डात्मनः । ततः स्मृतिनिरपेक्षमेव सर्वं प्रत्यक्षम् । तच्च यद्यभावविषयं स्यात्तदा भावदर्शनमनवसरमेव, तत्कारणाभावात् । प्रतिपत्तुर्भावदिदृक्षा भावदर्शनकारणमित्यपि न सम्यक्, पुरुषेच्छानपेक्षत्वात्प्रत्यक्षस्य, सत्यामपि घटदिदृक्षायां तद्विकले प्रदेशे दर्शनाभावादसत्यामपि सति घटे दर्शनसद्भावात् । इति न प्रत्यक्षमभावं प्रत्येति, तस्य सन्मात्रविषयत्वात्तत्रैव प्रमाणत्वोपपत्तेरव्यभिचारात् । **[३९००]सकलशक्तिविरहलक्षणस्य [३९०१]निरुपाख्यस्य [३९०२]स्वभावकार्यादेरभावात्कुतस्तत्प्रमितिः** स्यादानुमानिकी ? नहि निरुपाख्यस्य स्वभावः कश्चित्संभवति, भावस्वभावत्वप्रसङ्गात् । नापि [३९०३]कार्यम्, [३९०४]तत एव । इति कुतः [३९०५]स्वभावात्कार्याद्वा हेतोस्तत्प्रमितिः ? अनुपलब्धिः [३९०६]पुनस्तस्या[३९०७]सिद्धि[३९०८]मेव व्यवस्थापयेदिति ततोपि न तत्प्रमितिः । भावानामनुपलब्धेस्तत्प्रमितिरित्यपि न सम्यक्, [३९०९]ततो [३९१०]भावान्तरस्वभावस्यैवाभावस्यावभासनात् ।

२९०. एतेन विरोधि[३९११]लिङ्गा[३९१२]न्निरुपाख्यस्याभावस्य प्रमितिरपास्ता । सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तेस्तत्प्र[३९१३]मितिरित्यपि मिथ्या, तस्या अपि [३९१४]निरुपाख्यत्वे [३९१५]क्वचित्प्रमितिजननासंभवात्, [३९१६]आत्मनः सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकरूपत्वेनापरि[३९१७]णामस्य प्रसज्यप्रति[३९१८]षेधरूपस्य [३९१९]प्रमाणत्वविरोधात् । यदि पुनरन्य[३९२०]वस्तुविज्ञानरूपा तन्नि[३९२१]वृत्तिस्तदा न [३९२२]ततो निरूपाख्यस्य प्रमितिः, वस्त्वन्तररूपस्यैवाभावस्य सिद्धेः । न च प्रकारान्तरमस्ति किञ्चित्, इति कुतस्तत्प्रमितिः ।

२९१. मा भून्निरुपाख्यस्याभावस्य प्रत्यक्षतोऽन्यतो वा प्रमाणात्प्रतिपत्तिस्तथापि न सत्ताद्वैतस्य सिद्धिः, वस्तुनानात्वस्यैव ततः परिच्छित्तेरित्यपरः,[३९२३] स्तस्यापि **वस्तुनानात्वं बुद्ध्यादिकार्यनानात्वात्[३९२४]प्रतीयेत,** नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्[३९२५]। तदपि[३९२६] व्यभिचार्येव, विपक्षेपि[३९२७] भावात्। तथाहि—**स्वभावाभेदेपि विविधकर्मता[३९२८] दृष्टा युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टिविषयक्षणवत्।** न ह्येकत्र नर्तक्यादिक्षणे युगपदुपनिबद्धदृष्टीनां प्रेक्षकजनानां विविधकर्मबुद्धिव्यपदेशसुखादिकार्यमसिद्धम्,[३९२९] येन तस्य[३९३०] स्वभावाभेदेपि विविधकर्मता न भवेत्। **शक्तिनानात्वे[३९३१] [३९३२] प्रसवविशेषात्[३९३३]। स[३९३४] चेद् व्यभिचारी, कुतस्तद्गतिः[३९३५]?** तस्यापि[३९३६] शक्तिनानात्वोपगमान्न बुद्ध्यादिः प्रसवविशेषो व्यभिचारीति[३९३७] चेत्, न,[३९३८] अनवस्थाप्रसङ्गात्, नर्तक्यादीक्षणैकशक्तावपि[३९३९] बुद्ध्यादिकार्यनानात्त्वाच्छक्तिनानात्वप्रसङ्गात्, तथा तच्छक्तावपि[३९४०]। इति[३९४१] सुदूरमपि गत्वा बुद्ध्यादिप्रसवविशेषसद्भावेपि शक्तिनानात्वाभावे कथं नासौ[३९४२] व्यभिचारी स्यात्? इति कुतो वस्तुनानात्वगतिः? **केवलमविद्या[३९४३] स्वभावदेशकालावस्थाभेदानात्मनि परत्र वा सतः[३९४४] स्वयमसती मिथ्याव्यवहारपदवीमुपनयति[३९४५] यतः क्षणभङ्गिनो भिन्नसंततयः[३९४६] स्कन्धा[३९४७] विकल्पैरन्नन्यथा[३९४८] वा[३९४९] इति** सताद्वैतवादी विशेषानपह्नुवीत, तद्रूपादिस्कन्धानां[३९५०] द्रव्यादिपदार्थानां[३९५१] वा निरुपाख्याभावानामिव,[३९५२] परमार्थतः क्षणिकत्वाक्षणिकत्वतदुभयानुभयरूपत्वादिविशेषसाधनेपि[३९५३] [३९५४] [३९५५] साधनव्यभिचारात्, सोपि[३९५६] **प्रतिभासकार्याद्यभेदेपि[३९५७] कस्यचिदेकत्वं[३९५८] साधयतीति साध्यसाधनयोरभेदे किं केन कृतं[३९५९] स्यात्? पक्षविपक्षादेरभावात्[३९६०]।** कस्यचिद्धि सन्मात्रदेहस्य परब्रह्मणस्तद्वादी[३९६१] एकत्वं प्रतिभासनात्तत्कार्यात्तत्स्वभावाद्वा[३९६२] साधयेदन्यतो[३९६३] वा? तच्च साधनं साध्यादभिन्नमेव, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात्। साध्यसाधनयोरभेदे[३९६४] च किमेकत्वं केन प्रतिभासकार्यादिना निर्णीतं स्यात्,[३९६५] पक्षस्य विपक्षस्य सपक्षस्य चाभावात्। साध्यधर्माधारतया हि प्रसिद्धो धर्मी पक्षः। स च सर्वेषामर्थानां धर्मिणामप्रसिद्धौ[३९६६] ततोन्यत्वेन[३९६७] साध्यधर्मस्य चैकत्वस्यासंभवे कथं प्रसिध्येन्नाम[३९६८]? विपक्षश्च[३९६९] तद्विरुद्धस्ततोन्यो[३९७०] वा नाद्वैतवादिनोस्ति। तथा सपक्षश्च[३९७१] साध्यधर्माविनाभूतसाधनप्रदर्शनफलस्तस्य[३९७२] दूरोत्सारित एव।[३९७३] तत्सिद्धौ वा भेदवादप्रसिद्धिः। पराभ्युपगमात्पक्षादिसिद्धेरदोष इति चेन्न, स्वपरविभागासिद्धौ पराभ्युपगमस्याप्यसिद्धेः। एतेन[३९७४] यदुक्तम्—सर्वेर्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभाससमानाधिकरणतयाऽवभासमानत्वात्[३९७५], प्रतिभासस्वात्मवत्, इति ब्रह्माद्वैतस्य साधनं तदपि प्रत्याख्यातम्।

२९२. आम्नायात्तत्सिद्धिरित्यप्यसंभाव्यम्,[३९७६] तस्यापि साध्यादभेदे[३९७७] साधनत्वायोगात्। ततः साध्यसाधनयोरभेदे किं सत्ताद्वैतं केनानुमानेनागमेन प्रत्यक्षेण वा प्रमाणेन साधितं स्यात्, पक्षसपक्षविपक्षाणामाम्नायस्येन्द्रियादेश्चानुमानागमप्रत्यक्षज्ञानात्मकप्रमाणकारणस्याभावान्नैव[३९७८] तत्कृतं[३९७९] स्यात्। **न क्वचिदसाधना साध्यसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात्।** साधनं हि प्रमाणं साध्यते निश्चीयतेऽनेनेति। तद्रहिता न साध्यस्य प्रमेयस्य सिद्धिः, शून्यतादिसिद्धिप्रसङ्गात्। स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति तु संविदद्वैतवादिनोपि समानम्[३९८०]। किं बहुना, सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणाभावेपि व्यवतिष्ठेत, स्वरूपस्य स्वतो गतेः, इत्यतिप्रसङ्ग[३९८१] एव, पुरुषाद्वैतवदनेकान्तवादस्यापि सिद्धेः,[३९८२] संविदद्वैतवदनेकसंवेदनस्यापि सिद्धेः, इति न सत्ताद्वैतं निष्पर्यायं[३९८३]

शक्यमभ्युपगन्तुम्। विचारयिष्यते चैतत् प्रपञ्चतोग्रे। तदलमतिप्रसङ्गेन। ततो[३९८४] भावा एव नानात्मादय इति भावैकान्तोऽभ्युपगम्यताम्[३९८५]। तत्र[३९८६] च सर्वात्मकत्वादिदोषानुषङ्गः परिहर्तुमशक्यः।

२९३. संप्रति घटादे शब्दादेश्च प्रागभावप्रध्वंसाभावनिह्नववादिनं[३९८७] प्रति दूषणमुपदर्शयन्तः कारिकामाहुः—

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽ[३९८८]नन्ततां व्रजेत्॥१०॥

२९४. कार्यस्यात्मलाभात्[३९८९]प्रागभवनं प्रागभावः। स च तस्य प्रागनन्तरपरिणाम[३९९०] एवेत्येके[३९९१], तेषां[३९९२] तत्पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ[३९९३] कार्यसद्भावप्रसङ्गः[३९९४]। तत्रेतराभावरूपस्य[३९९५] तदभावस्योपगमान्नायं[३९९६][३९९७] दोष इति चेत्, तदनन्तरपरिणामेपि तत[३९९८] एव कार्यस्याभावसिद्धेः किमर्थं प्रागभावः परिकल्प्यते[३९९९]? कार्यस्य[४०००] प्रागभावाभावस्वभावत्वसिद्ध्यर्थमिति[४००१] चेत्, कथमेवं[४००२] कार्यात्पूर्वपर्यायेण[४००३] रहितेषु तत्पूर्वोत्तराखिलपरिणामेषु कार्यस्वभावत्वं न प्रसज्येत[४००४]? प्रागभावाभावस्वभावत्वाविशेषेऽपि कश्चिदेवेष्टः[४००५] पर्यायः कार्यम्[४००६], न पुनरितरे परिणामा[४००७] इत्यभिनिवेशमात्रम्।

२९५. स्यादाकूतम्[४००८]—'कार्यात्प्रागनन्तरपर्यायस्तस्य[४००९] प्रागभावः। तस्यैव[४०१०] प्रध्वंसः कार्यं घटादि, न पुनरितरेतराभावो[४०११] येन तत्पूर्वोत्तरसकलपर्यायाणां घटत्वं प्रसज्येत। न च तेषां[४०१२] प्रागभावप्रध्वंसरूपतास्ति, तदितरेतराभावरूपतोपगमात्'[४०१३] इति[४०१४], तदेतदपि सुगतमतानुसरणं[४०१५] स्याद्वादवादिनामायातम्, स्वमतविरोधात्। प्रागभावो ह्यनादिरिति तन्मतम्[४०१६]। तच्च[४०१७] घटस्य प्रागनन्तरपर्यायमात्रप्रागभावस्योपगमे विरुध्यते। द्रव्यार्थादेशादनादिः[४०१८] प्रागभावोभिमत इति चेत्, किमिदानीं[४०१९] मृदादिद्रव्यं प्रागभावः? तथोपगमे कथं प्रागभावाभावस्वभावता घटस्य घटेत, द्रव्यस्याभावासंभवात्[४०२०]। तत[४०२१] एव न जातुचिद् घटस्योत्पत्तिः स्यात्। यदि पुनः पूर्वपर्यायाः[४०२२] सर्वेऽप्यनादिसन्ततयो घटस्य प्रागभावोऽनादिरिति मतम्[४०२३], तदापि प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि[४०२४] घटस्योत्पत्तिप्रसङ्गः। तथा सति घटस्यानादित्वं पूर्वपर्यायनिवृत्तिसन्ततेरप्यनादित्वात्।

२९६. ननु च न प्रागनन्तरपर्यायः प्रागभावो घटस्य, नापि मृदादिद्रव्यमात्रम्[४०२५], न च तत्पूर्वसकलपर्यायसन्ततिः[४०२६]। किं तर्हि? द्रव्यपर्यायात्मा[४०२७] प्रागभावः। स च स्यादनादिः[४०२८] स्यात्सादिरिति[४०२९] स्याद्वादिदर्शनं निराकुलमेवेति चेन्न, एवमप्युभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गात्[४०३०]। द्रव्यरूपतया तावदनादित्वे प्रागभावस्यानन्तत्वप्रसक्तेः[४०३१] सर्वदा कार्यानुत्पत्तिः स्यात्। पर्यायरूपतया च सादित्वे प्रागभावात्[४०३२]पूर्वमप्युत्पत्तिः[४०३३][४०३४] पश्चादिव कथं निवार्येत? न च गत्यन्तरमस्ति। 'ततो[४०३५] न भावस्वभावः[४०३६] प्रागभावः, तस्य भावविलक्षणत्वात्पदार्थविशेषणत्वसिद्धेः'[४०३७]। इत्यन्ये[४०३८], तेपि न समीचीनवाचः, सर्वथा भावविलक्षणस्याभावस्य ग्राहकप्रमाणाभावात्। 'स्वोत्पत्तेः[४०३९] प्राग्नासीद् घट इति प्रत्ययोऽसद्विषयः, सत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्। यस्तु सद्विषयः स न सत्प्रत्ययविलक्षणः, यथा सद्द्रव्यमित्यादिप्रत्ययः, सत्प्रत्ययविलक्षणश्चायम्, तस्मादसद्विषयः।'

इत्यनुमानं प्रागभावस्य ग्राहकमिति चेन्न[४०४०], प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसाभावादिरिति प्रत्ययेन[४०४१] व्यभिचारात्[४०४२]। तस्याप्यसद्विषयत्वान्न[४०४३] दोष इति चेन्न, अभावानवस्थाप्रसङ्गात्[४०४४]।

२९७. स्यान्मतम्[४०४५], भावे भूभागादौ नास्ति कुम्भादिरिति प्रत्ययो मुख्याभावविषयः प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसाभावादिरित्युपचरिताभावविषयः[४०४६][४०४७]। ततो नाभावानवस्थेति, तदप्ययुक्तम्, परमार्थतः प्रागभावादीनां साङ्कर्यप्रसङ्गात्। न ह्युपचरितेनाभावेन परस्परमभावानां[४०४८] व्यतिरेकः सिंध्येत्, सर्वत्र[४०४९][४०५०] मुख्याभावपरिकल्पना[४०५१]नर्थक्यप्रसङ्गात्[४०५२]। यदप्युक्तम्[४०५३]— न भावस्वभावः प्रागभावादिः, सर्वदा भावविशेषणत्वादिति[४०५४], तदपि न सम्यगनुमानम्, हेतोः पक्षाव्यापकत्वात्, न[४०५५] प्रागभावः प्रध्वंसादावित्यादेरभावविशेषणस्याप्यभावस्य प्रसिद्धेः, गुणादिना व्यभिचाराच्च, तस्य सर्वदा भावविशेषणत्वेपि[४०५६] भावस्वभावत्वात्। रूपं पश्यामीत्यादिव्यवहारेण गुणस्य स्वतन्त्रस्यापि प्रतीतेर्न सर्वदा भावविशेषणत्वमस्येति[४०५७] चेत्तर्ह्यभावस्तत्त्वमित्यभावस्यापि स्वतन्त्रत्वप्रतीतेः[४०५८] शश्वद्भावविशेषणत्वं मा सिधत्। सामर्थ्यात्तद्विशेष्यस्य[४०५९] द्रव्यादेः संप्रत्ययात्सदा भावविशेषणमेवाभाव इति चेत्तथैव[४०६०] गुणादिः सततं भावविशेषणमस्तु, तद्विशेष्यस्य[४०६१] द्रव्यस्य सामर्थ्याद्गम्यमानत्वात्।

२९८. किञ्च[४०६२], प्रागभावः सादिः सान्तः परिकल्प्यते, सादिरनन्तो वानादिरनन्तो वाऽनादिः सान्तो वा? प्रथमे विकल्पे प्रागभावात्पूर्वं[४०६३] घटस्योपलब्धिप्रसङ्गः, तद्विरोधिनः[४०६४] प्रागभावस्याभावात्[४०६५]। द्वितीये प्रागभावकाले घटस्यानुपलब्धिप्रसक्तिः, तस्यानन्तत्वात्[४०६६]। तृतीये तु सदानुपलब्धिः[४०६७]। चतुर्थे पुनर्घटोत्पत्तौ प्रागभावस्याभावे घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिः स्यात्, सर्वकार्याणामुत्पत्स्यमानानां प्रागभावस्यैकत्वात्। यावन्ति[४०६८] कार्याणि तावन्तस्तत्प्रागभावाः। तत्रैकस्य प्रागभावस्य विनाशेपि शेषोत्पत्स्यमानकार्यप्रागभावानामविनाशान्न घटोपलब्धौ सर्वकार्योपलब्धिरिति चेत्, तर्ह्यनन्ताः[४०६९] प्रागभावास्ते स्वतन्त्रा[४०७०] भावतन्त्रा वा? स्वतन्त्राश्चेत् कथं न भावस्वभावाः कालादिवत्? भावतन्त्राश्चेत्[४०७१], किमुत्पन्नभावतन्त्रा उत्पत्स्यमानभावतन्त्रा वा? न तावदादिविकल्पः, समुत्पन्नभावकाले तत्प्रागभावविनाशात्। द्वितीयविकल्पोपि न श्रेयान्, प्रागभावकाले स्वयमसतामुत्पत्स्यमानभावानां तदाश्रयत्वायोगात्[४०७२], अन्यथा[४०७३] प्रध्वंसाभावस्यापि प्रध्वस्तपदार्थाश्रयत्वापत्तेः। न[४०७४] चानुत्पन्नः प्रध्वस्तो वार्थः[४०७५] कस्यचिदाश्रयो नाम, अतिप्रसङ्गात्[४०७६]। यदि[४०७७] पुनरेक एव प्रागभावो विशेषणभेदाद्भिन्न उपचर्यते घटस्य प्रागभावः पटादेर्वेति, तथोत्पन्नपदार्थविशेषणतया[४०७८] तस्य विनाशेप्युत्पत्स्यमानार्थविशेषणत्वेनाविनाशान्नित्यत्वमपीति मतम्, तदा प्रागभावादिचतुष्टयकल्पनापि मा भूत्, सर्वत्रैकस्यैवाभावस्य विशेषणभेदात्तथाभेदव्यवहारोपपत्तेः[४०७९]। कार्यस्यैव पूर्वेण कालेन विशिष्टोऽर्थः प्रागभावः, परेण विशिष्टः प्रध्वंसाभावः, नानार्थविशिष्टः स एव चेतरेतराभावः, कालत्रयेप्यत्यन्तनानास्वभावभावविशेषणोत्यन्ताभावः[४०८०] स्यात्, प्रत्ययभेदस्यापि[४०८१] तथोपपत्तेः[४०८२], सत्तैकत्वेपि द्रव्यादिविशेषणभेदाद्भेदव्यवहारवत्। यथैव हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावादेकत्वं सत्तायाः[४०८३] इष्टं भवद्भिस्तथैवासत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावादसत्ताया अप्येकत्वमस्तु। अथ प्राग् नासीदित्यादिप्रत्ययविशेषादसत्ता चतुर्भेदेष्यते, तर्हि प्रागासीत्पश्चाद्भविष्यति सम्प्रत्यस्तीति कालभेदेन, पाटलिपुत्रेस्ति चित्रकूटेस्तीति देशभेदेन, घटोस्तीति द्रव्यभेदेन, रूपमस्ति रसोस्तीति गुणभेदेन, प्रसारणमस्ति

गमनमस्तीति कर्मभेदेन च [४०८४]प्रत्ययविशेषसद्भावात् [४०८५]प्राक्सत्तादयः सत्ताभेदाः किमु नेष्यन्ते ? अथ प्रत्ययविशेषात्तद्विशेषणान्येव भिद्यन्ते, [४०८६]तस्य तन्निमित्तकत्वात्, न तु सत्ता; ततः सैकेवेति मतम्, तर्हि [४०८७]तत एवाभावभेदोपि मा भूत्, सर्वथा विशेषाभावात्। न चैकोप्यभावः क्षित्यादिविवर्त्तघटशब्दादिव्यतिरेकेण प्रत्यक्षतः [४०८८]प्रतिभासते। केवलं [४०८९]गतानुगतिकतया लोकः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयविषयमेव [४०९०]प्रागभावादिविकल्पमात्रवशात्प्रागभावादिव्यवहारं प्रवर्तयति, [४०९१]द्रव्यादिविकल्पमात्राद्[४०९२]द्रव्यादिव्यवहारवत्, [४०९३]प्रमाणादि[४०९४]प्रकृत्यादि[४०९५]रूपस्कन्धादिविकल्पमात्रात्तद्व्यवहारवच्च। ततो न प्रागभावः कश्चिदिह प्रतीयते, [४०९७]प्रध्वंसाभावादिवत्। [४०९८]इति प्रागभावादिनिह्नवं कृत्वा पृथिव्यादिकार्यद्रव्यमभ्युपगच्छँश्चार्वाकोनेनो[४०९९]पालभ्यते, न पुनः सांख्योन्यो[४१००] वा, तस्य कार्यद्रव्यानभ्युपगमात्, तिरोभावाविर्भाववत्परिणामोपगमेपि भावस्वभावप्रागभावाद्यभ्युपगमस्यापि सद्भावात्। [४१०१]तत्र प्रागभावस्य प्रसिद्धस्याप्यपलपनं निह्नवः। तस्मिन्क्रियमाणे कार्यद्रव्यं पृथिव्यादिकमनादि स्यात्। प्रध्वंसस्य च धर्मस्य स्वभावस्य प्रच्यवोऽपलापः। तस्मिन्विधीयमाने तदनन्ततां व्रजेत्। न चानाद्यनन्तं पृथिव्यादिकं प्रागभावाद्यपह्नववादिनाभ्युपगन्तुं शक्यते, स्वमतविरोधाल्लो[४१०२]कायतिकत्वहानिप्रसङ्गात्।

२९९. [४१०३]कथं पुनः प्रागभावः प्रसिद्धः, तस्योक्तदूषणविषयतया व्यवस्थित्यभावादिति चेत्; न; स्याद्वादिभिरभीष्टे प्रागभावे यथोक्तदूषणा[४१०४]नवकाशात्, नैयायिकादिभिरभिमत[४१०५]स्य तु तस्य तैर[४१०६]पि निराकरणात्। [४१०७]ऋजुसूत्रनयार्पणा[४१०८]द्धि [४१०९]प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणा[४११०]म एव पूर्वोनन्तरात्मा। न च [४१११]तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसङ्गः, [४११२]प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात् 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोः' इति [४११३]वक्ष्यमाणत्वात्। [४११४]प्रागभावतत्[४११५]प्रागभावादेस्तु पूर्वपूर्वपरिणामस्य सन्तत्यानादे[४११६]र्विवक्षितकार्यरूपत्वाभावात्। न च [४११७]तत्रास्येतरेतराभा[४११८]वः [४११९]परिकल्प्यते, येन [४१२०]तत्पक्षोपक्षिप्तदूषणावतारः स्यात्। [४१२१]नाप्येवं प्रागभावस्यानादित्वविरोधः, प्रागभावतत्प्रागभावादेः प्रागभाव[४१२२]सन्तानस्यानादित्वोपगमात्। न [४१२३]चात्र [४१२४]सन्तानिभ्यस्त[४१२५]त्त्वान्यत्वपक्षयोः [४१२६]सन्तानो [४१२७]दूषणार्हः, पूर्वपूर्वप्रागभावात्मकभावक्षणानामेवा[४१२८]परामृष्टभेदानां सन्तानताभिप्रायात्। सन्तानिक्षणापेक्ष[४१२९]या तु प्रागभावस्यानादित्वाभावेपि न दोषः, तथा [४१३०]ऋजुसूत्रनयस्येष्टत्वात्। तथास्मिन्पक्षे पूर्वपर्यायाः सर्वेप्यनादिसंततयो घटस्य प्रागभाव इति [४१३१]वचनेपि न प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव [४१३२]तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिप्रसङ्गः, येन [४१३३]तस्यानादित्वं पूर्वपर्यायनिवृत्तिसंततेरप्यनादित्वादापाद्यते, घटात्पूर्वक्षणानामशेषाणा[४१३४]मपि तत्प्रागभावरूपाणामभावे घटोत्पत्त्यभ्युपगमात्, प्रागनन्तरक्षणनिवृत्तौ[४१३५] तदन्यतमक्षणानिवृत्ताविव सकलतत्प्रा[४१३६]गभावनिवृत्त्यसिद्धेर्घटोत्पत्तिप्रसङ्गासंभवात्। [४१३७]व्यवहारनयार्पणात्तु मृदादिद्रव्यं घटादेः प्रागभाव इति [४१३८]वचनेपि प्रागभावाभावस्वभावता घटस्य न दुर्घटा, यतो द्रव्यस्याभावासंभवान्न जातुचिदुत्पत्तिर्घटस्य [४१३९]स्यात्, [४१४०]कार्यरहितस्य [४१४१]पूर्वकालविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य घटादिप्रागभावरूपतोपगमात्, [४१४२]तस्य च कार्योत्पत्तौ विनाशसिद्धेः, कार्यरहितताविनाशमन्तरेण कार्यसहिततयोत्पत्त्ययोगात्, कार्योत्पत्तेरेवोपादानात्मकप्रागभावक्षयस्य [४१४३]वक्ष्यमाणत्वात्। तथा [४१४४]प्रमाणार्पणाद् द्रव्यपर्यायात्मा [४१४५]प्रागभाव इत्यभिधानेपि नोभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गः, प्रागभावस्य द्रव्यरूपतयेव [४१४६]पर्यायरूपतयाप्यनादित्वनिरूपणात्। [४१४७]न चानादेरनन्ततैकान्तः सिध्यति, भव्यजीवसंसारस्यानादित्वेपि सान्तत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा कस्यचिन्मुक्त्ययोगात्। नापि सान्तस्य सादित्वैकान्तः, कस्यचित्संसारस्य

सान्तत्वेप्यनादित्वप्रसिद्धेः[४१४८]। ततो न सर्वदा कार्यानुत्पत्तिः पूर्वमप्युत्पत्तिर्वा घटस्य दुर्निवारा स्यात्।[४१४९] ततो भावस्वभाव एव प्रागभावः। स चैकानेकस्वभावो[४१५०] भाववदेवेति न तदेकत्वानेकत्वै[४१५१]कान्तपक्षभावी दोषोवकाशं लभते। न च भावस्वभावे प्रागभावे प्राग् नासीत्कार्यमिति नास्तित्वप्रत्ययो विरुध्यते, तदभावस्य[४१५२] भावान्तररूपत्वात्, तत्र[४१५३] च नास्तित्वप्रत्ययाविरोधात्, घटविविक्तभूभागे घटनास्तित्वप्रत्ययवत्।[४१५४] तदेवं प्रसिद्धस्यैव प्रागभावस्यापलपनं निह्नवः।

३००. परस्य[४१५५] प्रध्वंसाभावः कथं प्रसिद्ध इति चेत्, नयप्रमाणार्पणादिति ब्रूमः[४१५६]। तत्र ऋजुसूत्रनयार्पणात्तावदुपादेय[४१५७]क्षण एवोपादानस्य[४१५८] प्रध्वंसः। न चैवं[४१५९] तदुत्तर[४१६०]क्षणेषु[४१६१] प्रध्वंसस्याभावात्पुनरुज्जीवनं घटादेः प्रसज्येत, कारणस्य कार्योपमर्दनात्मकत्वाभावात्[४१६२], उपादानोपमर्दनस्यैव कार्योत्पत्त्यात्मकत्वात्, प्रागभावप्रध्वंसयोरुपादानोपादेयरूपतोपगमात्प्रागभावोपमर्दनेन प्रध्वंसस्यात्मलाभात्। कथमभावयोरुपादानोपादेयभाव इति चेत्, भावयोः कथम्? यद्भावे एव यस्यात्मलाभस्तदुपादानमितरदुपादेयमिति चेत्, तर्हि प्रागभावे कारणात्मनि पूर्वक्षणवर्त्तिनि सति प्रध्वंसस्य कार्यात्मनः स्वरूपलाभोपपत्तेस्तयोरुपादानोपादेयभावोस्तु, तुच्छरूपयोरेवाभावयोस्तद्भावविरोधात्।[४१६३] तथा व्यवहार[४१६४]नयादेशान्मृदादिद्रव्यं घटोत्तरकालवर्ति घटाकारविकलं घटप्रध्वंसः। स चानन्तः[४१६५] समवतिष्ठते।[४१६६] तेन घटात्पूर्वकालवर्ति मृदादिद्रव्यं घटस्य प्रागभाव एव, न पुनः प्रध्वंसः, तथा घटाकारमपि[४१६७] तत्तस्य[४१६८] प्रध्वंसो मा भूत्, घटाकारविकलमिति विशेषणात्।

३०१. नन्वेवं घटोत्तरकालवर्तिघटाकारविकल[४१६९]सन्तानान्तरमृदादिकमपि तद्घटप्रध्वंसः[४१७०] स्यादिति चेत्, न; द्रव्यग्रहणात्। वर्त्तमानपर्यायाश्रयरूपमेव हि मृदादिकं तद्द्रव्यमन्वयीष्यते, न पुनः सन्तानान्तरम्, तस्य स्वपर्यायमेवातीतमनागतं वा प्रत्यन्वयिनस्तद्द्रव्यत्व[४१७१]विरहात्। तदेवं प्रसिद्धप्रध्वंसो वस्तुधर्मः। तस्य प्रच्यवोऽपह्नव एव चार्वाकस्य। तस्मिंश्च कार्यद्रव्यं पृथिव्यादिकमनन्ततां व्रजेदिति **समन्तभद्रस्वामिना**मभिप्रायः। वृत्तिकारास्त्व**कलङ्कदेवा एवमाचक्षते**[४१७२]—कपिलमतानुसारिणां **प्रागभावानभ्युपगमे घटादेरनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यं[४१७३] स्यात्**। न च पुरुषव्यापारमन्तरेण घटादि भवदुपलभ्यते जातुचिदिति कार्यद्रव्यं तदापादनीयम्[४१७४]। तच्च[४१७५] प्रागभावस्य निह्नवेऽनादि स्यादिति सूक्तं दूषणम्, आपाद्यस्य[४१७६]प्युद्भाव्य[४१७७]वद्दूषणत्वोपपत्तेः।

३०२. एतेन मीमांसकानां शब्दस्य प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यं[४१७८] स्यादित्युक्तं प्रतिपत्तव्यम्। शब्दस्याभिव्यक्तौ[४१७९] पुरुषव्यापारस्योपगमान्नानर्थक्यमिति चेन्न, ततः[४१८०] प्राक् तदावेदकप्रमाणाभावादभिव्यक्तिकल्पनानुपपत्तेः। कलशादेर्हि समन्धकारावृततनोः प्रदीपव्यापारात्पूर्वं सद्भावावेदकप्रमाणस्य स्पा(स्प)र्शनप्रत्यक्षादेः संभवादुपपन्ना प्रदीपेनाभिव्यक्तिकल्पना, न पुनः शब्दस्य, तदभावात्[४१८१]। प्रत्यभिज्ञानादेस्तद्भावावेदकस्य प्रमाणस्य भावाददोषः, इति चेत्; न, तस्य[४१८२] विरुद्धत्वात्। शब्दस्याभिव्यक्तेः पूर्वं सर्वथाऽसत्त्वात्साध्याद्विपरीतेन कथञ्चित्सत्त्वेन[४१८३] व्याप्तत्वा[४१८४]दन्यथा[४१८५] प्रत्यभिज्ञायमान[४१८६]त्वा[४१८७]द्यनुपपत्तेः[४१८८]। ततोभिव्यङ्ग्य[४१८९]विलक्षणत्वान्न शब्दस्याभिव्यक्तिकल्पना[४१९०] युक्ता। एतेन कुम्भकारादिव्यापाराद् घटाद्यभिव्यक्तिकल्पना[४१९१] प्रत्युक्ता। **कल्पयित्वापि तदभिव्यक्तिं तस्याः[४१९२] प्रागभावोङ्गीकर्तव्यः[४१९३]। तथा[४१९४] हि—सतः शब्दस्य ताल्वादिभिरभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनः शब्द एवेति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्[४१९५]।**

३०३. ननु च मीमांसकैः शब्दस्यापौरुषेयत्वप्रदर्शनान्नासौ[४१९६] प्रागसन् क्रियते। तदभिव्यक्तिस्तु पौरुषेयी। सा प्रागसती क्रियते इति कथं स्वरुचिविरचितस्य दर्शनस्य प्रदर्शनमात्रम्, प्रमाणशक्तिविरचितस्य [४१९७]तथा दर्शनस्य प्रदर्शनात्, इति चेत्, न; शब्दादभिन्नायास्तदभिव्यक्तेरप्यपौरुषेयत्वात्। तस्याः पौरुषेयत्वात्प्रागसत्त्वे तदभिन्नस्य शब्दस्यापि [४१९८]तत एव प्रागसत्त्वमनुमन्यताम्, [४१९९]विशेषाभावात्। शब्दाद्भिन्नैवाभिव्यक्तिरिति चेत्, **सा यदि [४२००]श्रवणज्ञानोत्पत्तिः[४२०१], [४२०२]सेव कथं प्राक्सती यत्नतः कर्तव्या?** तस्याः प्रागसत्त्वे शब्दस्याश्रावणत्वापत्तेर्नित्यत्वविरोधः[४२०३], प्रागश्रावणत्वस्वभावत्यागेनोत्तरश्रावणत्वस्वभावोत्पत्तेः कथञ्चिदनित्यत्वमन्तरेणानुपपत्तेः। अथ श्रवणज्ञानोत्पत्तेरभावेपि पूर्वं शब्दस्य श्रावणत्वमेवेष्टम्[४२०४], किमनया श्रवणज्ञानोत्पत्त्याभिव्यक्त्या[४२०५]?

३०४. स्यान्मतम्[४२०६]—न शब्दधर्मः श्रवणज्ञानोत्पत्तिः, [४२०७]तस्याः [४२०८]कर्मस्थक्रियात्वाभावात्। किं तर्हि? पुरुषस्वभावः, [४२०९]कर्तृस्थक्रियात्वादिति, तदप्ययुक्तम्, [४२१०]कर्तृवत्तस्याः प्राक्सत्त्वापत्तेरविशेषात्तद्व्यापारानर्थक्यात्। श्रवणज्ञानोत्पत्तियोग्यता शब्दस्याभिव्यक्तिः, इति चेत्, तर्हि **योग्यतायां** समानश्चर्चः[४२११]। योग्यतापि हि यदि शब्दधर्मत्वाच्छब्दादभिन्ना तदा कथं तद्वत्सती पुरुषयत्नेन क्रियते? [४२१२]अथ शब्दाद्भिन्ना, श्रोत्रस्वभावत्वात्तस्या इति मतिः, तथापि न सा प्रागसती श्रोत्रस्य नभोदेशलक्षणस्य सर्वदा सत्त्वात् तत्स्वभावभूताया योग्यतायाः प्रागपि सत्त्वात्। [४२१३]एतेनात्मधर्मो योग्यता शब्दाद्भिन्नेति निरस्तम्, नित्यत्वादात्मनः प्रागसत्त्वासम्भवात्[४२१४]। [४२१५]अथ भिन्नाभिन्ना श्रवणज्ञानोत्पत्तिस्तद्योग्यता चाभिव्यक्तिः[४२१६] शब्दादिति मतम्, तदप्यसत्यम्, [४२१७]पक्षद्वयोक्तदोषानुषङ्गात्, [४२१८]सर्वथा [४२१९]तस्याः प्रागभावायोगात्, [४२२०]तद्योगे वा [४२२१]शब्दवदेव श्रोत्रप्रमात्रोरपि प्रागसतोः प्रयत्नेन करणप्रसङ्गात्[४२२२], अन्यथा स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रप्रसक्तेः। आवरणविगमोभिव्यक्तिरिति[४२२३] चेत्, [४२२४]**तदावरणविगमः[४२२५] प्राक्किमभूत्[४२२६]? भूतौ वा किं यत्नेन[४२२७]?** [४२२८]विशेषस्याधानमभिव्यक्तिरिति[४२२९] चेत्, ननु **विशेषाधानमपि [४२३०]तादृगेव, कर्मकर्तृकरणानां प्रागभावाभावात्।** [४२३१]आवरणविगमविशेषाधानयोर्हि शब्दपुरुषश्रोत्राणां स्वरूपत्वे तेषां [४२३२]याज्ञिकैरपि नित्यत्वोपगमात्कथं प्रागभावः संभवेत्? संभवे वा प्रयत्नकार्यत्वप्रसङ्गः[४२३३], अभिव्यक्तिवत्। पुरुषप्रयत्नेन अभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनस्तत्स्वरूपः शब्दः पुरुषः श्रोत्रं चेति स्वरुचिविरचितदर्शनमात्रम्।

३०५. [४२३४]एवं हि कपिलमतानुसारिणां घटादेरभिव्यक्तिः [४२३५]प्रागसती चक्रदण्डादिभिः क्रियते न [४२३६]पुनर्घटादिरित्यपि शक्यं प्रदर्शयितुम्। [४२३७]यतोत्र **न कश्चिद्विशेषहेतुस्ताल्वादयो[४२३८] व्यञ्जका[४२३९] न [४२४०]पुनश्चक्रादयोपीति,** [४२४१]ते वा घटादेः कारकाः, न पुनः शब्दस्य ताल्वादयोपीति[४२४२]। **न हि व्यञ्जकव्यापृतिर्नियमेन व्यङ्ग्यं[४२४३] सन्निधापयति।** सन्निधापयति च ताल्वादिव्यापृतिर्नियमेन शब्दम्। ततो[४२४४] नासौ ताल्वादीनां व्यङ्ग्यश्चक्रादीनां घटादिवत्।

३०६. [४२४५]**नायं दोषः, सर्वगतत्वाद्वर्णानामित्यपि वार्तम्,** [४२४६]प्रमाणबलायातत्वाभावात्, [४२४७]**अन्यत्रापि तथाभावानुषङ्गात्।** शक्यं हि वक्तुं घटादीनां सर्वगतत्वाच्चक्रादिव्यापारान्नियमेनोपलब्धिरिति[४२४८]। **इष्टत्वाददोषोयं** [४२४९]कापिलानामिति **चेन्न, [४२५०]कारणव्यापारेष्वपि चोद्यानिवृत्तेः,**[४२५१] चक्रादीन्यपि कारणानि

[४२५२]स्वव्यापाराणां नियमेन सन्निधापकान्यभिव्यञ्जकानि भवन्तु, तेषां सर्वगतत्वादेवेति चोद्यस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात्। **[४२५३]एतेनानवस्था प्रत्युक्ता।** [४२५४]स्वव्यापारोत्पादने हि कारणानां व्यापारान्तराणि कल्पनीयानि तथा [४२५५]तदुत्पादनेपीत्यनवस्था स्यात्, न पुनः [४२५६]स्वव्यापाराभिव्यक्तौ [४२५७]तत्सन्निधिमात्रादेव [४२५८]तत्सिद्धिः, अन्यथा व्यञ्जककारकयोरविशेषप्रसङ्गात्। कारणव्यापाराणां च कारणेभ्यो भेदैकान्तो वा स्यादभेदैकान्तो वा? [४२५९]तद्भेदैकान्ते [४२६०]तद्वतोनुपयोगः, [४२६१]तावतेतिकर्तव्यतास्थानात्। [४२६२]व्यवहारिणामभिमतकार्यसंपादनमेव हीतिकर्त्तव्यता। तस्याः [४२६३]स्थानं यदि व्यापारेभ्य एवैकान्ततो भिन्नेभ्यो [४२६४]भावाद्भवेत्तदा किं व्यापारवतान्यत्साध्यम्, [४२६५]यतस्तस्योपयोगः क्वचिदुपपद्यते? तद्वतो व्यापाराणामभेदैकान्तेभिव्यक्तिवत्प्रसङ्गस्तद्वत इव व्यापाराणां सर्वदा सद्भावः। [४२६७]तेषां प्रागभावे वा व्यापाराः प्रागसन्तः क्रियन्ते, न [४२६८]पुनस्तदव्यतिरेकिणोपि तद्वन्त इति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्। [४२६९]एतेनानवस्था [४२७०]प्रत्युक्ता। **[४२७१]तद्विशेषैकान्ते तद्वतोनुपयोगः, तावतेतिकर्तव्यता[४२७२]स्थानात्। अभेदैकान्ते [४२७३]पूर्ववत्प्रसङ्गः। परिणामेप्येष पर्यनुयोगः।** परिणामिनो [४२७४]बहुधानकस्य परिणामा घटादयोत्यन्तभिन्ना वा स्युरभिन्ना वा? कथञ्चिद्भेदाश्रयणे स्याद्वादानुसरणप्रसङ्गात्। तत्र **परिणामानां [४२७५]तदभिन्नानां क्रमशो वृत्तिर्मा भूत्,** परिणामिनो[४२७६]ऽक्रमत्वात्। ततो **भिन्नानां [४२७७]व्यपदेशोपि मा भूत्**—प्रधानस्यैते परिणामा इति, **सम्बन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात्।** न हि नित्यं प्रधानं परिणामानामुपकाकम्, [४२७८]तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामुपकारकत्वायोगात्। नापि परिणामेभ्यस्तस्योपकारः, तस्य [४२७९]तत्कार्यत्वेनानित्यत्वापत्तेः। **तैस्तस्योपकारेपि [४२८०]सर्वं समानमनवस्था च।** [४२८१]यावन्तो हि परिणामास्तावन्तस्तस्योपकारास्तत्[४२८२]कृतास्[४२८३]ततो यदि भिन्नास्तदा तस्येति व्यपदेशोपि मा भूत्, सम्बन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात्। [४२८४]तद्वतस्तैरु[४२८५]पकारैरुपकारान्त[४२८६]रेपि स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था। ततस्ते यद्यभिन्नास्तदा [४२८७]तावद्धा प्रधानं भिद्येत, ते वा प्रधानैकरूपतां प्रतिपद्येरन्। इति प्रधानस्योपकाराणां चावस्थानासंभवादनवस्था। [४२८८]तस्या [४२८९]भोग्याभावे पुंसो भोक्तृत्वा[४२९०]भावादभावः स्यात्, [४२९१]तस्य [४२९२]तल्लक्षणत्वात्। ततः प्रकृतिपुरुषतत्त्वयोरवस्थानाभावादनवस्था। इति न कपिलमतानुसरणेनापि प्रधानात्मनामशेषतो घटादीनामपि शब्दवदभिव्यङ्ग्यत्वं युक्तं कल्पयितुम्, सर्वदा प्रागभावापह्नवे तदभिव्यक्तेरप्यनादित्वप्रसङ्गात्, [४२९३]कार्यद्रव्यवत्।

३०७. ननु कार्यद्रव्यमसिद्धं कापिलानाम्, कथमनादि ग्रन्थकारेणापाद्यते; इति चेत्; प्रमाणबलात्कार्यत्वं [४२९४]कार्यद्रव्यस्यापाद्य तथाभिधानाददोषः। कथं कार्यत्वमापाद्यते प्रागभावानभ्युपगमवादिनं प्रति, इति चेत्; 'कार्यं घटादिकम्, अपेक्षितपरव्यापारत्वात्, यत्तु न कार्यं तन्न तथा दृष्टम्, यथा गगनम्, तथा च घटादिकम्, तस्मात्कार्यम्' इत्यनुमानात्। नात्रासिद्धं साधनम्, कादाचित्कत्वात्, [४२९५]तस्यानपेक्षितपरव्यापारत्वे—कादाचित्कत्वविरोधादाकाशवत्। तदाविर्भावस्य कादाचित्कत्वादपेक्षितपरव्यापारत्वम्, न तु घटादेरिति चेत्; कोयमाविर्भावो नाम? प्रागनुपलब्धस्य [४२९६]व्यञ्जकव्यापारादुपलम्भ इति चेत्; [४२९७]स तर्हि प्रागसन् [४२९८]कारणैः क्रियते, न [४२९९]पुनर्घटादिरिति स्वरुचिवचनमात्रम्।

३०८. अथ [४३००]तस्यापि प्राक् तिरोहितस्य सत एव कारणैराविर्भावान्तरमिष्यते, तर्हि तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्य-दाविर्भावनमित्यनवस्थानान्न कदाचिद् घटादेराविर्भावः स्यात्। अथाविर्भावस्योपलम्भरूपस्य [४३०१]तद्रूपावि-

भावान्तरानपेक्षत्वात्, प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्ववन्नानवस्थेति चेत्; तर्हि[४३०२] तस्य कारणादात्मलाभोऽभ्युपगन्तव्यः[४३०३], ततः[४३०४] कार्यमाविर्भाव इति। तद्वद् घटादिकमपि[४३०५], अपेक्षितपरव्यापारत्वाविशेषादात्मलाभे[४३०६]। न ह्यलब्धात्मलाभस्योपलम्भः शक्यः कर्त्तुम्, सर्वथातिप्रसङ्गात्[४३०७]। तदेवं प्रधानपरिणामतयापीष्टं घटादिकं कार्यद्रव्यमापाद्यते[४३०८]। तस्य च प्रागभावापह्नवेऽनादित्वप्रसङ्गात्कारणव्यापारानर्थक्यं स्यादिति सूक्तं दूषणम्। प्राक्तिरोभावस्योपगमे वा स[४३०९] एव प्रागभावः सिद्धः, तस्य तिरोभाव इति नामान्तरकरणे दोषाभावादुत्पादस्याविर्भाव इति नामान्तकरणवत्। ततो न मीमांसकस्य[४३१०] सांख्यमतानुसारणं युक्तम्, सर्वथा शब्दस्य प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात्, पुरुषव्यापारानर्थक्यस्य समर्थनात्।

३०९. **तथा[४३११] विनाशानभ्युपगमे तस्य[४३१२] किंकृतमश्रवणम्[४३१३]?** स्वावरणकृतमिति चेत्, नैतत्सारम्, **तदात्मानमखण्डयतः[४३१४] कस्यचिदावरणत्वायोगात्[४३१५]।** तिरोधायकस्य कस्यचिद्वायुविशेषस्य[४३१६] शब्दात्मानं खण्डयत एवावरणत्वे स्वभावभेदप्रसङ्गः[४३१७]। **आवृतानावृतस्वभावयोरभेदानुपपत्तेः तयोरभेदे वा शब्दस्य श्रुतिरश्रुतिर्वेत्येकान्तः** प्रसज्येत, पुरुषव्यापारात्पूर्वमश्रुतिस्तदनन्तरं श्रुतिरिति[४३१८] विभागानुपपत्तेः।

३१०. स्यान्मतम्[४३१९]—यथा घटादेरात्मानमखण्डयत्तमस्तस्यावरणं तथा शब्दस्यापीति; तदसत्, तस्यापि[४३२०] तेनात्मखण्डनोपगमात्, दृश्यस्वभावस्य[४३२१] खण्डनात्तमसस्तदावरणत्वसिद्धेः सर्वस्य[४३२२] परिणामित्वसाधनात्। **तमसापि घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धिः किन्न भवितुमर्हति,** तस्य तेनोपलभ्यतयाप्यखण्डनात्।

३११. ननु च पुरुषव्यापारात्प्राक् पश्चाच्च शब्दस्याखण्डितस्वभावत्वेपि[४३२३] नैकान्ततः श्रुतिः, सहकारिकारणापेक्षत्वात्[४३२४], स्वविज्ञानोत्पादने तदश्रुतेरपि तद्वैकल्ये[४३२५] संभवादिति चेत्, तर्हि किमयं शब्दः स्वविषयसंवित्तिकरणे[४३२६] समर्थोऽसमर्थो वा? **स्वसंवित्त्युत्पत्तौ[४३२७] कारणान्तरापेक्षा[४३२८] मा भूत् तत्करणसमर्थस्य। अन्यथा** स्वयमसमर्थस्य सहकारीन्द्रियमनोभिव्यञ्जकव्यापारलक्षणं किमस्यासामर्थ्यं[४३२९] खण्डयत्याहोस्विन्नेति पक्षद्वितयम्। **तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्[४३३०]? तत्खण्डने वा स्वभावहानिरव्यतिरेकात्। व्यतिरेके व्यपदेशानुपपत्तिः[४३३१]। इति पूर्ववत्सर्वम्[४३३२],** शब्दासामर्थ्ययोः परस्परमनुपकारकत्वाविशेषात्[४३३३]। शब्दस्य हि तदसामर्थ्येनोपकारः क्रियमाणस्तस्मादभिन्नश्चेत्, स एव कृतः स्यादिति तन्नित्यत्वहानिः। भिन्नश्चेत्सम्बन्धासिद्धिः, अनुपकारात्। तदुपकारान्तरे[४३३४] वा स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था, प्रधानतत्परिणामव्यतिरेकपक्षवत्।

३१२. किञ्च, वर्णाः सर्वे नित्यसर्वगतास्तद्विपरीता[४३३५] वा? न तावद्द्वितीयः पक्षोऽनभ्युपगमात्[४३३६], प्रथमपक्षे तु **वर्णानां व्यापित्वान्नित्यत्वाच्च क्रमश्रुतिरनुपपन्नैव,** देशकालकृतक्रमासंभवात्। तदभिव्यक्तिप्रतिनियमात्तेषां[४३३७] क्रमश्रुतिरिति चेत्, न; अस्मिन्नपि पक्षे **समानकरणानां[४३३८] तादृशामभिव्यक्तिनियमायोगात्[४३३९] सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां[४३४०] सङ्कुला[४३४१] श्रुतिः स्यात्।** समानं[४३४२] हि करणं वर्णानां श्रुतौ श्रोत्रम्, नीलपीतादीनां रूपविशेषाणां दृष्टौ चक्षुर्वत्। ततस्तेषामेकव्यञ्जकव्यापारेपि[४३४३] समानदेशकालानां[४३४४] कथमभिव्यक्तिनियमो नीलादिवत्[४३४५]? क्वचिदेकत्रैकदापि च सर्ववर्णाभिव्यक्तौ सर्वत्र सर्वदाभिव्यक्तिस्तेषाम्, स्वरूपेणाभिव्यक्तित्वात्, तत्स्वरूपस्य च

व्यापिनित्यत्वात्[४३४६]। खण्डशस्तदभिव्यक्तौ वर्णानां व्यक्तेराकारभेदाद्भेदप्रसक्तेः प्रत्येकमनेकत्वापत्तिरेकानेकात्मकत्वप्रसङ्गो[४३४७] वा। सर्वात्मनाभिव्यक्तौ[४३४८] सर्वदेशकालवर्तिप्राणिनः प्रति तेषामभिव्यक्तत्वात्[४३४९] कथं सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां सङ्कुला श्रुतिर्न स्यात्, यतः कलकलमात्रं न भवेत्।

३१३. ननु समानोपादानकारणानामभिन्नदेशकालानां[४३५०] समानकरणानामुत्पत्तावपि[४३५१] तद्देशकालवर्तिसकलपुरुषाणामविकलसहकारिणां कथं न संकुला श्रुतिः स्यात्, क्रमश्रुतिर्वा न विरुध्येत? इति चेदत्रोच्यते[४३५२]- **वक्तृश्रोतृविज्ञानयोस्तत्कारणकार्ययोः[४३५३] क्रमवृत्तिमपेक्ष्य[४३५४] परिणामिनां क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योर्न[४३५५] किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः[४३५६]**। समानेपि हि शब्दानामारम्भकपुद्गले तद्देशकालवर्त्तिन्युपादाने[४३५७] सहकारिणि[४३५८] च बहिरङ्गे ताल्वादिकारणे वक्तृविज्ञानस्य वर्णोत्पत्तौ सहकारिकरणस्याऽऽन्तरस्य[४३५९] क्रममपेक्ष्य क्रमोत्पत्तौ परिणामिनां न किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः, कारणक्रमानुविधायित्वात्सर्वत्र कार्यक्रमस्य, शश्वदपरिणामिनामेव[४३६०] तथाविरोधदर्शनात्[४३६१]। नापि श्रोतृविज्ञानस्य[४३६२] शब्दकार्यस्य[४३६३] क्रममपेक्ष्य वर्णक्रमप्रतिपत्तौ किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः, प्रमाणक्रमानुविधायित्वा[४३६४]त्तत्फलभूतप्रमितिक्रमस्य सततमपरिणामिनामेवात्मनां[४३६५][४३६६] तद्विरोधनिर्णयात्। तत्र संकुला श्रुतिः स्याद्वादिनां प्रसज्येत।

३१४. **सर्वगतानामेषः[४३६७] क्रमो दुष्करः स्यात्**। ततः क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योरन्यथानुपपत्त्या न सर्वगता वर्णाः, नापि नित्याः प्रत्येतव्याः।

३१५. ननु च नित्या वर्णाः, प्रत्यभिज्ञानात्, आत्मादिवत्; इति चेत्; **क्षणिकेष्वेव करणाङ्गहारादिषु[४३६८] प्रत्यभिज्ञानाद्विरुद्धो हेतुः**। एतेन[४३६९] बुद्धिभिर्व्यभिचारी च हेतुरुक्तः[४३७०], 'बुद्धिकर्मभ्यां व्यभिचारः'[४३७१] इत्यभिधानात्[४३७२]। ( ) ननु बुद्धिकर्मणोरपि नित्यत्वोपगमान्नायं दोषः, 'ते अपि नित्ये () इति वचनात्, तथोपगमे विरोधाभावात्; इति चेत्; **तत्क्रियैकत्वेपि[४३७३] किमिदानीमनेकं[४३७४] स्यात्?** तथा बुद्ध्येकत्वेपि[४३७५] न किञ्चिदनेकं स्यादित्यपि प्रतिपत्तव्यम्, **सर्ववर्णैकत्वप्रसङ्गात्[४३७६]। शक्यं हि वक्तुम्, अभिव्यञ्जकभेदाद्वैश्वरूप्यं[४३७७] जलचन्द्रवत्[४३७८]। क्वचित्प्रत्यक्षविरोधे[४३७९] तदन्यत्राप्यविरोधः[४३८०]**। कुतः?[४३८१] यथैव हि नानादेशजलप्रतिबिम्बितस्य चन्द्रस्यानेकत्वप्रतीतावपि परमार्थतश्चन्द्रैकत्वम्, तथैव नानादेशव्यञ्जकभेदादकारादिवर्णनानात्वप्रतीतावपि वर्णैकत्वमिति वदतः कः प्रतीघातः। प्रत्यक्षविरोधो वर्णैकत्ववचने स्यात्, न पुनः क्रियाद्येकत्ववचने याज्ञिकस्येति[४३८२] कुतो विभागः सिध्येत्? ततो[४३८३] वर्णाद्वैतमनिच्छता न करणाङ्गहारादिक्रियैका वक्तव्या, येन शब्दस्य नित्यत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानं विरुद्धं न स्यात्। **तदयं[४३८४] ताल्वादिव्यापारजनितश्रावणस्वभावं[४३८५] परित्यज्य विपरीतस्वभावमासादयन्नपि[४३८६] नित्यश्चेन्न किञ्चिदनित्यम्।** तदेवमकारादिवर्णस्त्रिजगत्यामेक[४३८७] एवेत्यपि[४३८८] निरस्तम्[४३८९], युगपद्भिन्नदेशस्वाभावोपलब्धेर्घटादिवत्[४३९०]। भानुनानेकान्त इति चेत्? न; तस्य सकृद्भिन्नदेशतयोपलब्धावपि[४३९१] भिन्नस्वभावतयोपलब्ध्यभावात्। प्रत्यासन्नेतरदेशप्रतिपत्तृजनानां स्पष्टेतरादिभिन्नस्वभावतयोपलभ्यमानेनैकपादपेन व्यभिचार इति चेन्न, तस्य भिन्नदेशतयानुपलब्धेः। नयनावरणविशेषवशात्सकृद्भिन्नदेशस्वभावतयोपलभ्यमानेन चन्द्रद्वयेन व्यभिचार इति चेन्न, भ्रान्तोपलम्भेना-

भ्रान्तोपलम्भस्य व्यभिचारायोगात्, अन्यथा सर्वहेतूनामव्यभिचारासंभवात्[४३९२]। न च शब्दस्यापि सकृद्भिन्न-देशस्वभावतयोपलम्भो भ्रान्तः, सर्वदा बाधकाभावात्[४३९३]। **युगपत्प्रतिनियतदेशमन्द्रतारश्रुतेः[४३९४] कस्यचिदेकत्वे[४३९५] न क्वचिदनेकत्वसिद्धिः।** स एवायमकार इति प्रत्यवमर्शादकारादेरेकत्वे[४३९६]ऽङ्गहारादिक्रियाविशेषस्याप्येकत्वमस्तु, स एवायमङ्गहारादिरिति प्रत्यवमर्शात्। तथा सर्वस्यार्थविशेषस्यापि[४३९७]। **न हि कथञ्चित्[४३९८]क्वचित्प्रत्यवमर्शो[४३९९] न स्याद्वर्णवत्। तच्छेषविशेषबुद्धेरभिव्यञ्जकहेतुत्वप्रक्लृप्तौ[४४००][४४०१] सर्वं[४४०२] समञ्जसं प्रेक्षामहे[४४०३],** सर्वस्याङ्गहारादेरपि देशादिविशेषबुद्धेरभिव्यञ्जकहेतुत्व[४४०४]प्रक्लृप्तेः[४४०५] कर्तुं सुशकत्वात्। **तदेतेषां[४४०६] पुद्गलानां[४४०७] करणसन्निपातोपनिपाते श्रावणस्वभावः शब्दः[४४०८] पूर्वापरकोट्योरसन् प्रयत्नानन्तरीयको[४४०९] घटादिवत्,** इति प्रतिपत्तव्यम्, न पुनः प्राक् पश्चाच्च सन्नेवापौरुषेय इति। तस्य प्रागभाववत्प्रध्वंसस्यापि न प्रच्यवः श्रेयान्।

३१६. ननु[४४१०] शब्दस्य पुद्गलपर्यायत्वे चक्षुषोपलम्भप्रसङ्गः—'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' (त.सू. ५.२३) इति वचनात्, अन्यथा[४४११] सिद्धान्तविरोधात्; इति चेत्; न, गन्धपरमाणुभिर्व्यभिचारात्। पुद्गलपर्यायत्वस्य[४४१२] गन्धपरमाणूनामदृश्यत्वान्न दर्शनमिति चेत्, शब्दपुद्गलानामपि तत एव तन्मा भूत्। अथ मतमेतत्, चक्षुषोपलभ्योऽस्तु शब्दः, पुद्गलस्कन्धस्वभावत्वाद्घटवदिति, तदप्यपेशलम्, गन्धस्यापि चक्षुरुपलभ्यत्वप्रसङ्गात्तत एव। अथ तस्यानुद्भूतरूपपुद्गलस्कन्धस्वभावत्वाच्चक्षुरुपलम्भताऽयोग्यत्वाच्च न चक्षुषा दर्शनम्। तत[४४१३] एव शब्दस्य तन्मा भूत्। शब्दपरमाणूनां ताल्वादिजनितपवनप्रेरितानां[४४१४] विस्तारप्रसङ्ग[४४१५] इति चेन्न, गन्धपरमाणूनामपि[४४१६] तत्प्रसङ्गात्। तेषां गन्धद्रव्यस्कन्धपरिणतत्वान्न[४४१७] पवनप्रेरितानामपि विस्तारः शरीरवत्, इति चेत्, तर्हि शब्दपरमाणूनामपि शब्दस्कन्धपरिणतत्वात्कुतो विस्तारप्रसङ्गः? तत[४४१८] एव न विक्षेपो[४४१९] गन्धपरमाणुवत् तेषां[४४२०] बन्धविशेषात्[४४२१]स्कन्धपरिणामसिद्धेः। मूर्तद्रव्येण प्रतिघातस्तेषां स्यादिति चेन्न, गन्धपरमाणूनामपि तदनुषङ्गात्। कुड्यादिनास्त्येव[४४२२] तत्प्रतिघात इति चेत्, शब्दपरमाणुप्रतिघातोपि। मूर्तिमद्भिः शब्दपरमाणुभिः स्कन्धपरिणतैः श्रोतृकर्णपूरणप्रसङ्ग इति चेन्न, गन्धपरमाणुभिरपि घ्राणपूरणप्रसङ्गात्, स्कन्धपरिणामाविशेषात्।

३१७. नन्वेकश्रोत्रप्रवेशाद्योग्यदेशस्थितैरपि श्रोत्रान्तरैः शब्दस्याश्रवणप्रसङ्ग इति चेन्न, एकघ्राणप्रवेशा-त्प्रतिपत्त्रन्तराणां योग्यदेशस्थानामपि गन्धस्याप्यघ्राणप्रसङ्गात्। गन्धपरमाणूनां सदृशपरिणाम-(माण)-भाजां समन्ततः प्रसर्पणाददोष इति चेत्तर्हि शब्दपरमाणूनामपि समानपरिणाम-(माण)-भृतां नानादिक्तया विसर्पणात्स दोषो मा भूत्। शब्दस्यागमनादीनामदृष्टानामपि परिकल्पनाप्रसङ्ग[४४२३] इति चेत्, गन्धपरमाणूनामपि। अथैषां प्रतिपत्तिविशेषान्यथानुपपत्त्या निश्चयनान्नागमनादीनामदृष्टपरिकल्पनेति चेत्, शब्दपुद्गलानापि यथा यत्र यदा यावतां प्रतिपत्तृणामुपलब्धिस्तथा तत्र तदा तावतामुपलब्धियोग्यपरिणाम-(माण)-विशेषोपगमात्। तदेवं[४४२४] शब्दस्य **पुद्गलस्वभावत्वे दर्शनविस्तारविक्षेपप्रतिघातकर्णपूरणैकश्रोत्रप्रवेशाद्युपालम्भो गन्धपरमाणु-कृतप्रतिविधानतयोपेक्षामर्हति[४४२५]।**

३१८. ननु न पुद्गलस्वभावः शब्दः, अस्पर्शत्वात्, सुखादिवत्, इति बाधकसद्भावान्न पुद्गलस्वभावत्वं शब्दस्येति चेत्, न; हेतोरसिद्धत्वात्। यतः **कर्णशष्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवनाद्युपघातिनः[४४२६][४४२७] शब्दस्य प्रसिद्धिरस्पर्शत्वकल्पनामस्तङ्गमयति[४४२८]।**

३१९. ननु च 'न पुद्गलस्वभावः शब्दः, निश्छिद्रभवनाभ्यन्तरतो निर्गमनात्, तत्र[४४२९] बाह्यतः प्रवेशाद्व्यवधायकाभेदनादेश्च[४४३०] दर्शनात्। यस्तु पुद्गलस्वभावो न तस्यैवं दर्शनम्, यथा लोष्ठादेः, तथा दर्शनं च शब्दस्य, ततो न पुद्गलस्वभाव मिति चेत्; न; पुद्गलस्वभावत्वेपि तदविरोधात्[४४३१]। तस्य हि **निश्छिद्रनिर्गमनादयः सूक्ष्मस्वभावत्वात् स्नेहादिस्पर्शादिवन्न[४४३२] विरुध्येरन्।** कथमन्यथा[४४३३] पिहितताम्रकलशाभ्यन्तरात्तैलजलादेर्बहिर्निगमनं स्निग्धतादिविशेषदर्शनादनुमीयेत ? कथं वा पिहितनिश्छिद्रमृद्घटादेः सलिलाभ्यन्तरनिहितस्यान्तःशीतस्पर्शोपलम्भात्सलिलप्रवेशोऽनुमीयेत ? तदभेदनादिकं वा तस्य निश्छिद्रतयेक्षणात्कथमुत्प्रेक्षेत ? ततो निश्छिद्रनिर्गमनादिः स्नेहादिस्पर्शादिभिर्व्यभिचारी, न सम्यग्घेतुः, यतः शब्दस्य पुद्गलस्वभावत्वं प्रतिक्षिपेत्, तस्य[४४३४] पुद्गलस्वभावत्वनिर्णयात्सर्वथाप्यविरोधात्। **अतो[४४३५] यत्नजनितवर्णाद्यात्मा[४४३६] श्रावणमध्यस्वभावः[४४३७] प्राक् पश्चादपि पुद्गलानां नास्तीति तावानेव[४४३८] ध्वनिपरिणामः** सर्वैरभ्युपगन्तव्यः, तस्य सकलकालकलाव्यापित्वे[४४३९] मध्यवत्प्राक्पश्चाच्च श्रावणस्वभावत्वप्रसङ्गात्, प्रयत्नजनितवर्णपदवाक्यात्मकत्वायोगात्[४४४०]। **तत्प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपे[४४४१] कौटस्थ्यं क्रमयौगपद्याभ्यां स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियां[४४४२] व्यावर्तयतीति निरुपाख्यमित्यभिप्रायः** श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याणाम्, प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपस्य कौटस्थ्येन व्याप्तत्वात्, तस्य[४४४३] च क्रमयौगपद्याभावेन[४४४४] तत्र तद्विरोधात्, तस्यापि[४४४५] स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियाव्यावर्तनेन[४४४६] तस्य[४४४७] च निरुपाख्यत्वेन[४४४८] सर्वथानर्थक्रियाकारिणः सकलवाग्विकल्पेभ्यो निष्क्रान्तत्वात्।

३२०. स्यादाकूतम्[४४४९]—वर्णानामानुपूर्व्यपौरुषेयीष्यते, तस्या एव प्राक्प्रध्वंसाभावानभ्युपगमात्। ततो नोपालम्भः श्रेयानिति, तदप्ययुक्तम्, वर्णव्यतिरेकेणानुपूर्व्यसंभवात्। कथञ्चित्क्रियमाणामपि **तदानुपूर्वीकल्पनां विस्तरेण प्रतिक्षेपस्यामः,** 'वक्तर्यनाप्ते' (का. ७८) इत्यत्र तत्प्रतिक्षेपविस्तरवचनात्। तदिह पर्याप्तम्, तत्प्रबन्धेन[४४५०] सर्वथा प्राक्प्रध्वंसाभावनिह्नवे यथानिगदितदूषणगणप्रसङ्गस्य परिहरणासंभवात्।

अथेतरेतराभावात्यन्ताभावानभ्युपगमवादिनां[४४५१] दूषणमुद्भावयिषवः प्राहुराचार्याः—

सर्वात्मकं तदेकं[४४५२] स्यादन्यापोह[४४५३]व्यतिक्रमे[४४५४]।
अन्यत्र[४४५५] समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ।।११।।

३२१. तदित्यनेन सर्वप्रवादिनामिष्टं तत्त्वं परामृश्यते। तदेकं सर्वात्मकं स्यात्, अनिष्टात्मनापि भावादन्यापोहस्य व्यतिक्रमे। स्वसमवायिनः[४४५६] समवाय्यन्तरे[४४५७] समवायोन्यत्र समवायः, अत्यन्ताभावव्यतिक्रमः। तस्मिन् सर्वस्येष्टं तत्त्वं सर्वथा न व्यपदिश्येत, स्वेष्टात्मना व्यपदेशेऽनिष्टात्मनापि व्यपदेशप्रसङ्गात्[४४५८], तेनाव्यपदेशे स्वेष्टात्मनाप्यव्यपदेशापत्तेः, स्वयमिष्टानिष्टात्मनोः[४४५९] कालत्रयेपि विशेषानुपगमात्[४४६०]। कः पुनरन्यापोहो नाम ? **स्वभावान्तरात्[४४६१]स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः।** स्वभावान्तरादिति वचनान्न स्वस्वभावाद्व्यावृत्तिरन्यापोहः, तस्याः[४४६२] स्वापोहत्वप्रसङ्गात्[४४६३]। अथापि[४४६४] प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरन्यापोहत्वप्रसक्तिरिति चेत्; न, कार्यद्रव्यात्पूर्वोत्तरपरिणामयोः[४४६५] स्वभावान्तरेपि तस्य[४४६६] तद्व्यावृतेर्विशिष्टत्वात्[४४६७]। यदभावे[४४६८] हि नियमतः कार्यस्योत्पत्तिः

स प्रागभावः, यद्भावे च कार्यस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंसः। न चेतरेतराभावस्याभावे भावे च कार्यस्योत्पत्तिर्विपत्तिर्वा जलस्याभावेप्यनलस्यानुत्पत्तेः[४४६९] क्वचित्तद्भावे[४४७०] च तस्याऽविपत्तेः[४४७१]। क्वचिदन्धकारस्याभावे[४४७२] रूपज्ञानोत्पत्तेः स प्रागभावस्तस्य स्यादिति न मन्तव्यम्, नियमग्रहणात्, केषाञ्चिदन्धकारेपि रूपज्ञानोत्पत्तेः। तत एव नान्धकारं रूपज्ञानस्य प्रध्वंसः, तद्भावे[४४७३] नियमतस्तद्विपत्त्यप्रतीतेः[४४७४]। ततः सूक्तमन्यापोहलक्षणं स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोह इति, तस्य[४४७५] कालत्रयापेक्षेऽत्यन्ताभावेप्यभावादतिव्याप्त्ययोगात्। न हि घटपटयोरितरेतराभावः कालत्रयापेक्षः, कदाचित्पटस्यापि घटत्वपरिणामसंभवात्, तथा परिणामकारणसाकल्ये तदविरोधात्[४४७६]; पुद्गलपरिणामानियमदर्शनात्[४४७७]। न चैवं चेतनाचेतनयोः कदाचित्तादात्म्यपरिणामः, तत्त्वविरोधात्[४४७८]।

३२२. नन्वितरेतराभावस्य[४४७९] व्यतिक्रमे चार्वाकस्य पृथिवीतत्त्वं सकलजलाद्यात्मकमनुषज्यताम्, सांख्यस्य च महदादिपरिणामात्मकमशेषतस्तदस्तु। सौगतानां तु विज्ञानमात्रमुपयतां किं किमात्मकं[४४८०] स्यादिति कश्चित्; सोपि न विपश्चित्; सौगतानामपि हि **संविदो** ग्राह्याकारात्[४४८१][४४८२]**कथञ्चिद्व्यावृत्तावनेकान्तसिद्धिरन्यथा संबन्धासिद्धेः**[४४८३][४४८४][४४८५] सर्वथा व्यावृत्तौ संविद्ग्राह्याकारयोरुपकार्योपकारकभावानभ्युपगमात्संबन्धान्तराभावात्[४४८६]। **अव्यावृतावन्यतरस्वभावहानेर्न किञ्चित्स्यात्**। संविदो **ग्राह्याकारे**[४४८७]नुप्रवेशे ग्राह्याकार एव स्यान्न संविदाकारः। तथा[४४८८] च तस्याप्यभावः[४४८९], संविदभावे **ग्राह्याकारायोगात्**। **ग्राह्याकारस्य** वा संविद्यनुप्रवेशे संविदेव, न **ग्राह्याकारः** स्यात्[४४९०], कस्यचित्संवेदनमात्रस्य **विषयाकारविकलस्यानुपलब्धेः**।

३२३. ननु च—

नान्योनुभाव्यो[४४९१] बुद्ध्यास्ति[४४९२] तस्या[४४९३] नानुभवो[४४९४]ऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव[४४९५] प्रकाशते।। ()

इति चेत्; न, एवमपि **संवित्तेः[४४९६] स्वलक्षणप्रत्यक्षवृत्तावपि संवेद्याकारविवेकस्वभावान्तरानुपलब्धेः स्वभावव्यावृत्तिः** स्वभावान्तरात्[४४९७]सिद्धेति कथं तल्लक्षणान्यापोहव्यतिक्रमः[४४९८] सौगतस्य शक्यः कर्तुम्? चित्रैकज्ञानवादिनः[४४९९] पुनः **शबलविषनिर्भासेपि**[४५००] लोहितादीनां[४५०१] परस्परव्यावृत्तिर**भ्युपगमनीया, अन्यथा**[४५०४] **चित्रप्रतिभासासंभवात्तदन्यतमवत्**[४५०२], **तदालम्बनस्यापि**[४५०३] **नीलादेरभेदस्वभावत्वापत्ते**र्नीलाद्यन्यतमवत्। प्रतिभासभेदाभावेपि[४५०५] नीलादेर्भेदव्यवस्थितौ न किञ्चिदभिन्नमेकं स्यात्, निरंशस्वलक्षणस्याप्यनेकत्वप्रसक्तेः[४५०६]। ततः पीतादिविषयस्वरूपभेदमन्विच्छता तत्प्रतिभासभेदोऽनेकविज्ञानवदेकचित्रज्ञानेप्येष्टव्यः। तदिष्टौ च स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिः पारमार्थिकी सिध्यतीति सिद्धस्तल्लक्षणोन्यापोहः। तथा[४५०७] चित्रज्ञानस्य स्वनिर्भासेभ्यो लोहितादिभ्यो[४५०८] विषयस्य च चित्रपटादेः स्वाकारेभ्यो नीलादिभ्यो व्यावृत्तिः सिद्धा। कुतः प्रमाणादिति चेत्, **तद्वतस्तेभ्यो[४५०९] व्यावृत्तिः[४५१०], एकानेकस्वभावत्वाद् घटरूपादिवदित्यनुमानात्**। न हि लोहितादिनिर्भासा एव नीलाद्याकारा एव वानेकस्वभावाः, न पुनरेकस्वभावं तद्वद्वेदनं[४५११] बहिर्द्रव्यं चेति शक्यं वक्तुम्, यतोऽसिद्धो हेतुः[४५१२], तस्याप्यबाधितप्रतीतिसिद्धत्वात्[४५१३]। **अन्यथा[४५१४] द्रव्यमेव स्यान्न रूपादयः**। एतेन[४५१५] चित्रज्ञानमेव स्यान्न लोहितादिनिर्भासा इत्युपदर्शितम्। शक्यं हि वक्तुम्, **स्वभावैकत्वेपि निर्भासवैलक्षण्यं[४५१६] करणसामग्रीभेदमनुविदध्यात्, दूरासन्नैकार्थोपनिबद्धनानादर्शननिर्भासवत्**[४५१७]। यथैव हि

चित्रपटादिद्रव्यमेकस्वभावमपि , चक्षुरादिकरणसामग्रीभेदाद्रूपादिविलक्षणाकारम्, [४५१८]तदनुविधानात्, तथा चित्रज्ञानमपि [४५१९]नानान्तःकरणवासनासामग्रीभेदाद्विलक्षणलोहितादिनिर्भासम्। तथानभ्युपगमे **प्रतिपुरुषं विषयस्वभावभेदो [४५२०]वा [४५२१]सामग्रीसम्बन्धभेदात्।** [४५२२]क्वचिदेकत्रार्थे [४५२३]दूरस्थपुरुषस्यान्यो हि दूरदेशसामग्रीसंबन्धोन्यश्चासन्नपुरुषस्यान्यदेशसामग्रीसंबन्धः। इति दूरासन्नानामेकत्र वस्तुन्युपनिबद्धनानादर्शनानां पुरुषाणां निर्भासभेदात्तद्विषयस्य वस्तुनोपि [४५२४]स्वभावभेदोस्तु, [४५२५]विशेषाभावात्, करणसामग्रीभेदवद्दूरादिदेशसामग्रीसंबन्धभेदस्यापि विषयस्वभावभेदमन्तरेणानुपपत्तेः। ततोऽन्तर्बहिश्च स्वभावभेदै[४५२६]कान्तसिद्धेर्न क्वचिदेकत्वव्यवस्था। **अन्यथा** निर्भासभेदेपि [४५२७]कस्यचिदेकरूपतोपगमे **न केवलं रूपादेरभेदः।** किं तर्हि? **[४५२८]कस्यचित्क्रमशः [४५२९]संबन्ध्यन्तरोपनिपातोपि स्वभावं न भेदयेत्।** **ततः क्रमवन्त्यपि [४५३०]कार्याणि तत्स्वभावभेदं नानुमापयेयुः,** क्रमशः सुखादिकार्यभेदस्य साधनधर्मस्य[४५३१] क्वचिदेकत्र[४५३२] [४५३३]सामग्रीसंबन्धोपनीतनिर्भासभेदेन व्यभिचारात्। न चैवं [४५३४]शक्यमभ्युपगन्तुम्। **ततो यावन्ति [४५३५]संबन्ध्यन्तराणि तावन्तः प्रत्येकं भावस्वभावभेदाः परस्परव्यावृत्ताः** [४५३६]सह क्रमेण च प्रतिपत्तव्याः।

३२४. ननु च सर्वथा संबन्धासंभवाद्भावानां पारतन्त्र्यानुपपत्तेः—

पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता।
तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः।।

इत्यादि वचनान्न कस्यचित्संबन्ध्यन्तराणि स्वभावभेदनिबन्धनानि सन्तीति चेत्; न द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रत्यासत्तिलक्षणस्य संबन्धस्य निराकर्त्तुमशक्तेः। **न हि कस्यचित्केनचित्साक्षात्परम्परया वा संबन्धो [४५३७]नास्तीति, [४५३८]निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात्।** गुणगुणिनोः पर्यायतद्वतोश्च साक्षादविष्व[४५३९]ग्भावाख्यसमवायासत्त्वे स्वतन्त्रस्य गुणस्य पर्यायस्य वाऽसत्त्वप्रसङ्गात् सकलगुणपर्यायरहितस्य द्रव्यस्याप्यसत्त्वापत्तिरिति [४५४०]तयोर्निरुपाख्यत्वम्। गुणानां पर्यायाणां च परस्परं स्वाश्रयैकद्रव्यसमवायसम्बन्धाभावेप्य[४५४१]नेन निरुपाख्यत्वं प्रतिपादितम्। चक्षूरूपयोः परम्परया क्षेत्रप्रत्यासत्तेरसत्त्वे योग्यदेशेप्ययोग्यवद्रूपे चक्षुर्ज्ञानं न जनयेत्। [४५४२]ततस्तद्ग्राहकानुमाना[४५४३]सत्त्वादसत्त्वप्रसङ्गो[४५४४] रूपस्यापि चेन्द्रियप्रत्यक्षासत्त्वादसत्त्वप्रसक्तिः। [४५४५]इत्युभयोर्निरुपाख्यत्वम्। तथा कारणकार्यपरिणामयोः कालप्रत्यासत्तेरसत्त्वेऽनभिमतकालयोरिवाभिमतकालयोरपि कार्यकारणभावासत्त्वादुभयोर्निरुपाख्यतापत्तिः। तथा व्याप्तिव्यवहारकालवर्तिनोर्धूमादिलिङ्गाग्न्यादिलिङ्गिनोर्भावप्रत्यासत्त्यसत्त्वे क्वचित्पावकादिलिङ्गिनि ततोनुमानायोगादनुमानानुमेययोरसत्त्वप्रसङ्गान्निरुपाख्यत्वप्रसङ्गः। किं बहुना, संवेदनस्य कस्यचित्केनचि[४५४६]द्वेद्याकारेण प्रत्यासत्तेरसत्त्वे [४५४७]तदुभयोरसत्त्वान्निरुपाख्यत्वम्। [४५४८]तत्प्रत्यासत्तिसद्भावे वा सिद्धश्चतुर्धापि संबन्धः, [४५४९]संवित्तदाकारयोर्द्रव्यादिप्रत्यासत्तिचतुष्टयस्यापि भावात्परस्परं पारतन्त्र्यप्रसिद्धेः। सिद्धस्य संविदाका[४५५०]रस्य संवित्परतन्त्रतानिष्टौ संविदभावेपि भावप्रस[४५५१]ङ्गात् संविदो वा स्वाकार[४५५२]परतन्त्रतानुपगमे निराकारसंविदनुषङ्गात्, [४५५३]तथोपगमेपि संविदो वेद्याकारविवेकपरतन्त्रतानभिमनने वेद्याकारात्मताप्रसङ्गात्, सर्वथा सम्बन्धाभावस्य च भावपरतन्त्रत्वानङ्गीकरणे [४५५४]स्वतन्त्रस्याभावरूपत्वविरोधात् [४५५५]कुतस्तद्व्य[४५५६]वस्था? तदयं कस्यचित्सिद्धस्यासिद्धस्य वा परतन्त्रतामुपलभ्य सर्वत्र[४५५७] सिद्धेऽसिद्धे वा का परतन्त्रतेति ब्रुवाणः कथं

न [४५५८]परतन्त्रः ? कस्यचिदसिद्धस्यापि कार्यात्मनः कारणपरतन्त्रतोपपत्तेरन्यथा कारणाभावेपि कार्योत्पत्तेर्निवारणायोगात्। कुतश्चित्[४५५९]कस्यचिदनुत्पत्तौ शश्वत्सत्त्वप्रसङ्गात्, 'सदकारणवन्नित्यम्', ( ) इति वचनात्। [४५६०]संवृत्या पारतन्त्र्योपगमेपि तद्दोषानतिवृत्तेः संवृतेर्मृषारूपत्वात्। तत्त्वतोपि [४५६१]क्वचित्पारतन्त्र्येष्टौ सिद्धस्तात्त्विकः सम्बन्धः। इति न तत्प्रतिक्षेपः श्रेयान्, यतः [४५६२]सम्बन्ध्यन्तरापेक्षया सकृदसकृच्च सन्तानान्तर[४५६३]भावस्वभाव[४५६४]भेदाः परस्परं व्यावृत्ता न [४५६५]सिद्ध्येयुः।

३१५. **तदेवं प्रतिक्षणमनन्तपर्यायाः प्रत्येकमर्थ[४५६६]सार्थाः**, न पुनरेकस्वभावा एव भावाः क्षणमात्रस्थितयः, अन्वयस्यानारतमविच्छेदात्। **क्रमशोपि विच्छेदेर्थक्रियानुपपत्तेः [४५६७]स्वयमसतस्तत्त्वतः क्वचिदुपकारितानुपपत्तेः** कुतः कस्यात्मलाभः स्यात् ? कथञ्चिदविच्छेदे पुनः [४५६८]स सुघट एव **कारणस्य [४५६९]स्वकार्यात्मना भवतः [४५७०]प्रतिक्षेपायोगात्, [४५७१]स्वभावान्तरान[४५७२]पेक्षणात्,** [४५७३]स्वयमुत्पित्सोरपि स्वभावान्तरापेक्षणे विनश्वरस्यापि [४५७४]तदपेक्षणप्रसङ्गात्।

३२६. [४५७५]एतेन स्थास्नोः स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तम्, [४५७६]विश्रसा [४५७७]परिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादादित्रयव्यवस्थानात्[४५७८]तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्। यतश्[४५७९]चैवं पर्यायार्थिकनयादेशात्प्रतिक्षणमनन्तपर्यायः क्रमेणाविच्छिन्नान्वयसंततिरर्थः प्रतीयते, **[४५८०]तस्मादयमुत्पित्सुरेव विनश्यति** जीवादिः, [४५८१]पूर्वदुःखादिपर्यायविनाशाजहद्वृत्तित्वात्तदुत्तरसुखादिपर्यायोत्पादस्य। **[४५८२]नश्वर एव तिष्ठति,** [४५८३]कथञ्चिदस्थास्नोर्नाशानुपपत्तेरश्वविषाणवत्। स द्रव्यचेतनत्वादिना **स्थास्नुरेवोत्पद्यते,** सर्वथाप्यस्थास्नोः कदाचिदुत्पादा[४५८४]योगात्[४५८५]तद्वत्। ततः प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं सर्वम्—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (त.सू. ५.३०) [४५८६]इति वचनात्।

३२७. [४५८७]नन्वेवं स्थित्यादयो जीवादेर्वस्तुनो यद्यभिन्नास्तदा स्थितिरेवोत्पत्तिविनाशौ, विनाश एव स्थित्युत्पत्ती, उत्पत्तिरेव विनाशावस्थाने इति प्राप्तम्, एकस्मादभिन्नानां स्थित्यादीनां भेदविरोधात्। तथा च कथं त्रिलक्षणता स्यात् ? अथ भिन्नास्तर्हि प्रत्येकं स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वप्रसङ्गः [४५८८]सत्त्वात्, अन्यथा तदसत्त्वापत्तेः। [४५८९]तथा चानवस्थानान्न [४५९०]समीहितसिद्धिरिति कश्चित्; सोप्यनालोचितपदार्थस्वभावः, पक्षद्वयस्यापि कथञ्चिदिष्टत्वात्। तत्र [४५९१]तद्वतः [४५९२]कथञ्चिदभेदोपगमे स्थित्यादीनां **स्थितिरेवोत्पद्यते** [४५९३]सामर्थ्याद्विनश्यति च, **विनाश एव तिष्ठति** [४५९४]सामर्थ्यादुत्पद्यते च, **उत्पत्तिरेव नश्यति** सामर्थ्यात्तिष्ठतीति च ज्ञायते, त्रिलक्षणाज्जीवादिपदार्थादभिन्नानां स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वसिद्धेः।

३२८. [४५९५]एतेनैव ततस्तेषां [४५९६]भेदोपगमेपि प्रत्येकं त्रिलक्षणत्वसिद्धिरुक्ता। न [४५९७]चैवमनवस्था, सर्वथा भेदपक्षे [४५९८]तत्प्रसक्तेः, स्याद्वादपक्षे तु तदसंभवात्। येन हि [४५९९]स्वभावेन त्रिलक्षणात्तत्त्वादभिन्नाः स्थित्यादयस्तेन प्रत्येकं त्रिलक्षणाः, [४६००]पर्यायार्पणात्परस्परं [४६०१]तद्वतश्च भिन्ना अपीष्यन्ते, तथाप्रतीतेः बाधकासंभवात्। ततो निरवद्यमिदं प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं सर्वमिति।

३२९. [४६०२]एतेन कालत्रयापेक्षयापि त्रिलक्षणमुपदर्शितम्, [४६०३]तस्यान्वितेन [४६०४]रूपेण कालत्रयव्यापित्वात्, अन्यथा [४६०५]त्रुट्यत्तैकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात्, [४६०६]कूटस्थैकान्तवत्। ततो द्रव्यपर्यायात्मकं जीवादि वस्तु,

क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियान्यथानुपपत्तेः, इति प्रमाणोपपन्नम्। तथा च **स्थितिरेव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति** सामर्थ्यात्स्थितोत्पन्ना विनष्टेति गम्यते। **विनाश एव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति** स्थित उत्पन्नो विनष्ट इति च गम्यते। **उत्पत्तिरेवोत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थास्यतीति न कुतश्चिदुपरमति।** सोत्पन्ना विनष्टा स्थितेति च गम्यते। स्थित्याद्याश्रयस्य वस्तुनोऽनाद्यनन्तत्वादनुपरमसिद्धेः स्थित्यादिपर्यायाणां कालत्रयापेक्षिणामनुपरमसिद्धिः, अन्यथा[४६०७] तस्यातल्ल[४६०८]क्षणत्वप्रसङ्गात्सत्त्वविरोधात्।

३३०. एतेन[४६०९] जीवादि वस्तु तिष्ठति स्थितं स्थास्यति, विनश्यति विनष्टं विनङ्क्ष्यति, उत्पद्यते उत्पन्नमुत्पत्स्यते चेति प्रदर्शितम्[४६१०], कथञ्चित्तदभिन्नस्थित्यादीनामन्यथा[४६११]स्थास्यत्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः। तथा चैतेषां नवानामपि विकल्पानां प्रत्येकं नवविकल्पतोपपत्तेरेकाशीतिविकल्पं[४६१२] वस्तूह्यम् तद[४६१३]भिन्नस्थित्यादिपर्यायाणामपि तावद्धा[४६१४]विकल्पादनुपरमसिद्धेः। यथा च जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालविकल्पमशुद्धद्रव्य[४६१५]मनन्तपर्यायं[४६१६] सह क्रमाच्च चिन्तितं तथा सन्मात्रं शुद्धद्रव्य[४६१७]मपि प्रतिपत्तव्यम्, तस्यैव[४६१८] द्रव्यत्वविशेषणस्य[४६१९] द्रव्यव्यवहारविषयत्व[४६२०]सिद्धेः।

३३१. तथाहि[४६२१]—**भाव[४६२२] एव द्रवति[४६२३] द्रोष्यत्यदुद्रुवद्** इति द्रव्यम्[४६२४], तथा क्षीयन्ते[४६२५] क्षेष्यन्ते क्षिताश्चास्मिन् पदार्था[४६२६] इति क्षेत्रम्[४६२७], कल्यन्ते[४६२८] कलयिष्यन्ते कलिताश्चास्माद्[४६२९], इति कालः[४६३०], भवति भविष्यत्यभूद्, इति भावः[४६३१] पर्याय इति सत्तैव **विशेष्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना,** तस्या एव तथा व्यवहारविषयत्वघटनात्। **ततः[४६३२] परस्परव्यावृत्तस्वभावाननन्तगुणपर्यायान् प्रतिक्षणमासादयन्ती[४६३३] सत्तैव तिष्ठतीत्यादि[४६३४] योज्यम्,** तस्या अप्येकाशीतिविकल्पत्वोपपत्तेः। **तथा भेदानेव[४६३५] संद्रवन्तीत्यादि प्रतिपत्तव्यं[४६३६]** क्षितान् कुर्वन्ती कलयन्ती भवन्ती च सत्तैव तिष्ठतीत्यादियोजनायाः[४६३७] संभवात्। तथा चोक्तम्—

सत्ता सकलपदार्था[४६३८] सविश्वरूपा त्वनन्तपर्याया।
स्थितिभङ्गोत्पादार्था सप्रतिपक्षा[४६३९] भवत्येका[४६४०]।।

इति

३३२. तदेवं पर्यायार्थिकनयप्राधान्याद् द्रव्यार्थिकनयगुणा[४६४१]भावात्सर्वस्य स्वभावान्तरव्यावृत्तिः प्रसिद्धाऽन्यापोहव्यतिक्रममपाकरोतीति किं नः[४६४२] प्रयासेन।

३३३ तथा **केषाञ्चित्त[४६४३]त्त्वतोत्यन्ताभावापाकृतौ न क्वचित्[४६४४]किञ्चित्[४६४५]कथञ्चिन्न[४६४६,४६४७] वर्तेत।** वर्तता[४६४८]मिति चेत्, **तथा सर्वं सर्वथोपलभ्येत।** न च ज्ञानादिकं घटादावुपलभ्यते, नापि रूपादिकमात्मादौ। न च किञ्चित्स्वात्मनेव परात्मनाप्युपलभ्येत। ततः[४६४९] किञ्चित्स्वेष्टं तत्त्वं[४६५०] क्वचिदनिष्टेर्थे सत्यात्मना[४६५१]नुपलभमानः[४६५२] कालत्रयेपि तत्तत्र तथा नास्तीति प्रतिपद्यते एवेति सिद्धोत्यन्ताभावः। **कथं[४६५३] पुनरभावप्रतिपत्तिः? कथं च[४६५४] न स्यात्? सर्वथा[४६५५]** भावविलक्षणस्याभावस्य वास्तवस्य ग्राहकप्रमाणाभावात्[४६५६], **प्रत्यक्षस्य रूपादिस्वलक्षणविषयत्वाद**भावे प्रवृत्त्ययोगात्, तस्य[४६५७] तत्कारण[४६५८]त्वविरोधात्, तत्कारणत्वे[४६५९] स्वलक्षणतापत्तेः, अकारण[४६६०]स्याविषयत्वव्यवस्थितेः, **प्रमाणान्तर[४६६१]स्यापि स्वकारण[४६६२]विषयत्वात्।**

तस्य[४६६३] कार्यानुमानत्वे तावदभावस्य कारणत्वप्रसक्तिः । न चासौ युक्तिमती । स्वभावानुमानत्वेपि भावात्मकतापत्तिः[४६६४], अभावस्य स्वभावा[४६६५]संभवात्[४६६६] । असतोनुपलब्धेः[४६६७] पर्युदासवृत्त्या वस्तुनि[४६६८] नियमात् सर्वथाप्यभावाविषयत्वसिद्धिः । तद्विषयोपि[४६६९] भावस्वभाव एवाभावः । कस्यचिदेकस्य **कैवल्य[४६७०]मितरस्य[४६७१] वैकल्यमिति ब्रुवन्नपि देवानांप्रियो** दुर्विदग्धबौद्धो **नावधारयति, भावाभावप्रतिपत्तेर[४६७२]भावाभ्युपगमात् ।** सोयं स्वयमनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः[४६७३] शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रित इति परमार्थतो भावस्या-भावस्योभयस्य[४६७४] च प्रतिपत्तेरभावं[४६७५] प्रतिपद्यमानः कथमभावप्रतिपत्तौ प्रकृतपर्यनुयोगं[४६७६] कुर्यात् ? न[४६७७] चेदस्वस्थः, परमार्थतः **स्वपररूपादि[४६७८]भावाभावलक्षणत्वात्सर्वस्य निःश्रेणीपदबन्धा[४६७९]भ्यामिव भावाभावस्वभावाभ्यां प्रतिबन्धात्[४६८०],** स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपीष्टस्य संविदद्वयस्य भावे भेदरूपत्वप्रसङ्गात् । पररूपादिभिरिव स्वरूपादिभिरपि तस्याभावे स्वयं प्रकाशनविरोधात् । **न किञ्चित्प्रमाणं सर्वात्मना[४६८१] भावमभावं वा ग्रहीतुमर्हति, अनियमप्रसङ्गात्[४६८२] ।** ताथागतानां हि भाव एव प्रमाणविषय इति **भावप्रमेयैकान्तवादिनामभावप्रतिपत्तिरयुक्तिः[४६८३] । अतो न भावनियमप्रतिपत्तिः,** कस्यचित्क्वचित्कथञ्चिदसत्त्वासिद्धेः, स्वस्वभावव्यवस्थित्ययोगात्[४६८४] । तेषां[४६८५] **तत्प्रमेयतोपसंख्यानं प्रमाणद्वयनियमं[४६८६] विघटयति । भावनैरात्म्यस्य[४६८७] प्रमाणाकारणत्वात्[४६८८]प्रतिबन्धनियमोऽपि[४६८९] माभूत्[४६९०],** प्रमाणनैरात्म्ययोस्तादात्म्यानिष्टेस्तदुत्पत्तिप्रतिबन्धस्य[४६९१][४६९२] विरोधात् । नैरात्म्यात्प्रमाणस्योत्पत्तौ तस्य[४६९३] भावस्वभावत्वप्रसक्तेः, तयोः[४६९४] प्रतिबन्धान्तरोपगमे लिङ्गस्य त्रिविधत्वविरोधात्[४६९५] । तदप्रतिबन्धे[४६९६] प्रमाणान्तरसिद्धेः कथं प्रमाणद्वयनियमविघटनं न घटेत, तदुत्पत्त्यभावे[४६९७] प्रत्यक्षस्यानुमानस्य चानुदयात्—

अर्थस्यासंभवेऽभावात्[४६९८] प्रत्यक्षेपि[४६९९] प्रमाणता ।
प्रतिबद्धस्वभावस्य[४७००] तद्धेतुत्वे समं द्वयम् ।। इति वचनात् ।

३३४. मानसस्य तु नास्तिताज्ञानस्य स्वकारण[४७०१]सामग्रीवशादुत्पन्नस्याभावपरिच्छेदकत्वे तदेव[४७०२] प्रमाणान्तरम्[४७०३], प्रतिबन्धनियमाभावादिति यथोदितदोषं परिजिहीर्षुणा[४७०४] वस्तुधर्मस्यैवाभावस्य प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्या, तस्याः प्रतिक्षेपापायात् । ततो न भावैकान्ते समीहितसिद्धिः, इति निराकुर्वन्नाह सूरिः—

अभावैकान्तपक्षेपि भावापह्नववादिनाम्[४७०५] ।
बोधवाक्यं[४७०६] प्रमाणं न केन साधनदूषणम्[४७०७] ।।१२।।

३३५.

भावा येन[४७०८] निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः ।
यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां[४७०९] न विद्यते[४७१०] ।। इति ।

३३६. सर्वनैरात्म्यप्रतिज्ञानमभावैकान्तपक्षः । तस्मिन्नपि बोधस्य स्वार्थसाधनदूषणरूपस्य[४७११] वाक्यस्य च परार्थसाधनदूषणात्मनो[४७१२]ऽसंभवात्तन्न प्रमाणम् । ततः केन साधनं नैरात्म्यस्य[४७१३], स्वार्थे[४७१४] परार्थे[४७१५] वा ? केन दूषणं बहिरन्तश्च भावस्वभावानाम् ? इति सविस्मयं वचनम् । स्वपरपक्षसाधनदूषणोपगमे[४७१६] तु

सत्[४७१७]सिद्धिरविप्रतिषिद्धा । तथाहि—**बहिरन्तश्च परमार्थसत्, तदन्यतरा[४७१८]पायेपि साधनदूषणप्रयोगा[४७१९]नुपपत्तेः । इति[४७२०] प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ किं त्रिलक्षणपरिकल्पनया ?** सपक्ष[४७२१]सत्त्वाभावेपि साध्याभावा[४७२२]संभूष्णुता-नियमनिर्णयैकलक्षण[४७२३]मात्रादेव साधनस्य साध्यसिद्धौ समर्थनत्वोपपत्तेः, सपक्षसत्त्वस्याभावेपि सर्वानित्यत्वे साध्ये सत्त्वादेः साधनस्यो[४७२४]पगमात्, स्वय[४७२५]मसिद्ध[४७२६]धर्मि[४७२७]धर्मस्यापक्षधर्मत्वेपि प्रमाणास्तित्वे चेष्टसाधनस्य हेतोः समर्थनात्, क्व[४७२८]चित्त[४७२९]दभावेपि चान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयवैकल्ये हेतुत्वाघट[४७३०]नात् ।

३३७. स्यादाकूतं ते—'न परमार्थतः साधनदूषणप्रयोगो नैरा[४७३१]त्म्यवादिनः सिद्धो यतो बहिरन्तश्च परमार्थतः सद्वस्तु साध्यते । न चासिद्धाद्धेतोः साध्यसिद्धिः, अतिप्रसङ्गत्' इति, तदपि प्रलापमात्रम्, तत्त्वतो नैरात्म्यस्य साध्यत्वायोगादनैरात्म्यस्य दूष्यत्वायोगवत् । **न हि संवृत्या साध्यसाधनव्यवस्था युक्तिमती,** परमार्थतोपगमे नैरात्म्यस्य तत्सिद्धेर[४७३२]पि सांवृतत्वप्रसङ्गात्, सांवृतात्साधनाद्वास्तवसाध्यसिद्ध्य[४७३३]संभवात् । **शून्यसिद्धेरपरमार्थत्वे पुनरनिराकृतसद्भावस्य सर्वस्या[४७३४]शून्यतानुषङ्गात् ।** तत्[४७३५]साधनं विरुद्धमापद्येत । स्व[४७३६]रूपस्य वेद्यवेदकभावादिशून्यस्य स्वतो गतेः साधनोपन्यासेन तत्र **समारोपव्यवच्छेदेपि समा[४७३७]नं,** कुतश्चित्तत्त्वतः समारोपव्यवच्छेदे संवृत्या साध्यसाधनव्यवस्थितेरयोगात्, तत्समारो[४७३८]पव्यवच्छेदस्याप्यपरमार्थत्वे पुनरव्यवच्छिन्नसमारोपस्य बाध्यबाधकभावादिशून्यस्य संवि[४७३९]न्मात्रस्य स्वतोपि गत्यनुपपत्तेस्तद[४७४०]शून्यत्वप्रसङ्गात् । ततो **हेयोपादे[४७४१]योपायरहितमह्री[४७४२]कः केवलं विक्रो[४७४३]शति,** तत्त्वोपप्लववादिवत् ।

३३८. अथ संवृत्या हेयस्य सद्वादस्योपादेयस्य च शून्यस्य त[४७४४]न्निषेधविधानोपायस्य चाभ्युपगमान्न शून्यवादिनो निर्लज्जता, नापि विक्रोशमात्रमिति मतिस्तर्हि, यदि **संवृत्यास्तीति[४७४५] स्वरूपेणे[४७४६]त्ययमर्थस्तदा कृतमनुकूलम्[४७४७], केवलं[४७४८] वक्तात्मनो वैयात्यं[४७४९] सूचयति,** न्यायबलान्यक्कृ[४७५०]तस्यापि स्वार्थसिद्धिविकलं[४७५१] प्रलपतो धाष्टर्यमात्रप्रसिद्धेः, स्वरूपेणास्तित्वस्य संवेदनवत्सर्वभावानां स्याद्वादिभिरभीष्टत्वात्, तेन[४७५२] तदनुकलकरणात्सं[४७५३]प्रतिपत्तेः । **अथ पररूपेण नास्ति** इत्ययमर्थ[४७५४]स्तथैव[४७५५] स्याद्वादिनाम्, **ना[४७५६]म्नि विवादात् । एत[४७५७]दपि तादृगेव,** पररूपेण ग्राह्यग्राहकाभावादिविकलसंवेदनवत्सर्वपदार्थानां नास्तित्वे विवादाभावात् । **तदे[४७५८]तेनोभयानुभयविकल्पः प्रत्युक्तः** । यदि हि संवत्यास्तीति स्वपररूपाभ्यामस्ति नास्ति चेत्यय-मर्थस्त[४७५९]दा न कश्चिद्विवादः । अथानुभयरूपेणानुभय[४७६०]मित्यर्थ[४७६१]स्तदापि न कश्चिद्विवादः, तथाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात् । **अथ तद[४७६२]स्ति मृषात्मने[४७६३]ति समानश्चर्चः,** मृषात्मनास्तित्वस्य स्वपरोभयानुभयरूपास्तित्वविकल्पचतुष्टयेप्युक्त-दोषानुषङ्गात् । **संवृतिर्विचारानुपपत्तिरित्ययु[४७६४]क्तम्, तदभावात् ।** न हि विचारस्याभावे क[४७६५]स्यचिद् विचारेणानुपपत्तिः शक्या वक्तुम् । नापि शून्यवादिनः किञ्चिन्निर्णीतमस्ति, यदाश्रित्य क्वचिदन्यत्रानिर्णीतेर्थे विचारः प्रवर्तते, तस्य[४७६६] सर्वत्र विप्रतिपत्तेः । तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके—

> **किञ्चिन्नि[४७६७]र्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र[४७६८] वर्तते ।**
> **सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा ।।** इति ।

३३९. सोयं **सौगतस्तद[४७६९]भावात्तत्पर[४७७०]प्रतिपादनार्थं शास्त्रमुप[४७७१]देष्टारं[४७७२] वा वर्णयन्[४७७३] सर्वं प्रतिक्षिपतीति कथमनुन्मत्तः ?** स्वयमुपदिष्टं विचारप्रतिपादनार्थं शास्त्रादिकं प्रतिक्षिपन्नुन्मत्त एव स्यात्। अथ मायोपमाः स्वप्नोपमाश्च सर्वे भावा इति सुगतदेशनासद्भावान्न सर्वं प्रतिक्षिपन्नुन्मत्तः स्यादिति मतम्, **शौद्धोदनेरेव[४७७४] तावत्प्रज्ञापराधोयं लोकातिक्रान्तः कथं बभूवेत्यतिविस्मय[४७७५]मास्महे[४७७६]। तन्मन्ये पुनरद्यापि कीर्त्तयन्तीति[४७७७]** स्वप्नादिविभ्रमवत्सर्वस्य[४७८१] विभ्रमाददोष इति चेत्, तर्हि **किं बत[४७७८] परम[४७७९]न्यत्र[४७८०] मोहनीयप्रकृतेः ?** तत्रा[४७८२]विभ्रमे कथं सर्वविभ्रमः ? विभ्रमे[४७८३]पि कुतोसौ[४७८४] विभ्रमः ? विभ्रमेपि विभ्रमे विभ्रमे किमविभ्रमो विभ्रमो वा ? सर्वत्राविभ्रमप्रसङ्गात्। विभ्रमविभ्रमेपि विभ्रमोपगमे स एव पर्यनुयोगोनवस्था चेति दुरन्तं तमः। तदुक्तं न्यायविनिश्चये—

इन्द्रजालादिषु भ्रान्तमीरयन्ति न चापरम्।
अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः[४७८५]।।
तत्र[४७८६] शौदोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी।
बभूवेति वयं तावद्बहु विस्मयमास्महे।।
तत्राद्यापि जडाः सक्ता[४७८७]स्तमसो नापरं परम्[४७८८]।
विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोपि न सिद्ध्यति।। इति।

३४०. ततो नाभावैकान्तः श्रेयान्, स्वेष्टस्य दृष्टबाधना[४७८९]द्भवैकान्तवत्।

३४१. परस्परनिरपेक्षभावाभावैकान्तपक्षोपि न क्षेमङ्करः, तत एवेत्यावेदयन्ति स्वामिनः—

विरोधान्नो[४७९०]भयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।

३४२. **भावाभावयोरेकतरप्रतिक्षेपैकान्तपक्षोपक्षिप्तदोषपरिजिहीर्षया सदसदात्मकं सर्वमभ्यु-पगच्छतोपि[४७९१] वाणी विप्रतिषिध्येत, तयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात्। न हि सर्वात्मना[४७९२] कश्चिदर्थं सन्तं तथैवासन्तमाचक्षाणः[४७९३] स्वस्थः, स्वाभ्युपेते[४७९४]तरनिरासविधानकरणाच्छून्यावबोधवत्।** यथैव हि सर्वथाशून्यमवबुध्यमानः स्वसंवेदना[४७९५]दन्यतो वा[४७९६] स्वाभ्युपेतं शून्यतैकान्तं निरस्यति, अनभ्युपेतं प्रमाणादिसद्भावं विधत्ते, तथैव भावाभावयोस्तादात्म्यैकान्तं ब्रुवन् स्वाभ्युपेतं सदसदात्मकं निरस्यति, स्वयमनुभ्युपगतं तु भावैकान्तमभावैकान्तं वा विधत्ते, अभावस्य[४७९७] भावेनुप्रवेशाद् भावस्य वा सर्वथाऽभावे, अन्यथा[४७९८] भावाभावयोर्भेदप्रसङ्गात्। ततो नोभयोरैकात्म्यं श्रेयः स्याद्वाद[४७९९] विद्विषाम्, सदसतोः परस्परपरिहार-स्थितिलक्षणविरोधात्, जात्यन्तर[४८००]स्यैव दर्शनेन सर्वथोभयैकात्म्यस्य बाधना[४८०१]त्तद्वत्।

३४३. तथा[४८०२] सांख्यस्यैव[४८०३]मुभयैकात्म्यं **ब्रुवत[४८०४]स्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति[४८०५], नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेत[४८०६]मप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधादिति वा तदन्यथापेतमन्यथास्तीति स्याद्वादावलम्बनमन्धसर्पबिलप्रवेश[४८०७]न्यायमनुसरति,** त्रैलोक्यस्य व्यक्ता[४८०८]त्मनाऽपेतत्वसिद्धेः, अव्यक्ता[४८०९]त्मनास्तित्वव्यवस्थितेः—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं[४८१०] विपरीतमव्यक्तम्[४८११] ।। इति वचनात् ।

परमार्थतो व्यक्ताव्यक्तयोरेकत्वात्र स्याद्वादावलम्बनं कापिलस्येति चेत्, न, तथा विरोधस्य तदवस्थत्वात्[४८१२] । प्रधानाद्वैतोपगमे तु नोभयैकात्म्यम्[४८१३]अभ्युपगतं स्यात् । तथा स्वयमनभ्युपगच्छतोपि कथञ्चिदुभयात्मकतत्त्ववादप्रवेशे कथमन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायानुसरणं न स्यात् ? यदृच्छया तदवलम्बनात् । ततो नैवमप्युभयैकान्तः सिध्यति, विरोधात् ।

अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ।।१३।।

३४४. **योऽपि[४८१४] पक्षत्रयोपक्षिप्तदोषजिहासया[४८१५] सर्वथाऽवक्तव्यं तत्त्वमवलम्बेत, सोपि कथमवक्तव्यं ब्रूयात् ।** येनावाच्यतैकान्तेप्यवाच्यमित्युक्तिर्युज्यते । तदयुक्तौ कथं परमवबोधयेत् ? स्वसंविदा परावबोधनायोगात् । तदनवबोधने कथं परीक्षकतास्य[४८१६] स्यात् ? तस्यापरीक्षकत्वे च कुतोन्यस्माद्विशेषः[४८१७] सिध्येत् ? अपरीक्षिततत्त्वाभ्युपगमस्य सर्वेषां निरङ्कुशत्वात्[४८१८] । **नैष दोषः स्वलक्षणमनिर्देश्यं प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्, इत्यादिवत्सर्वम**वाच्यं तत्त्वमिति वचनेपि विरोधाभावात्, परप्रतिपादनस्यान्यथानुपपत्तेः[४८१९] । इति कस्यचिद्वचनम्, **तदप्यसत्,[४८२०] यदसतः समुदाहृतम् ।** सिद्धसाध्यव्यवस्था[४८२१] हि[४८२२] कथामार्गाः[४८२३] । न च स्वलक्षणस्य[४८२४] सर्वथाप्यनिर्देश्यत्वोपगमे 'स्वलक्षणमनिर्देश्यम्' इति वचनेन तस्य निर्देश्यत्वमविरुद्धम् । अथ स्वलक्षणं नैतद्वचनेनापि निर्देश्यम्, स्वलक्षणसामान्यस्यैव[४८२५] तेन निर्देश्यत्वात्, स्वलक्षणे निर्देशासंभवात्[४८२६], न ह्यर्थे शब्दाः[४८२७] सन्ति तदात्मानो वा, येन तस्मिन्[४८२८] प्रतिभासमाने तेपि[४८२९] प्रतिभासेरन्निति वचनात् । कल्पनारोपितं तु स्वलक्षणं[४८३०] तद्धर्मो[४८३१] वा निर्देश्यत्वशब्देन निर्दिश्यते, विरोधाभावात्, इति[४८३२] मतम्, तर्हि स्वलक्षणमज्ञेयमपि[४८३३] स्यात् ।

३४५. **यथैवाक्षविषये[४८३४]भिधानं[४८३५] नास्ति, तथाक्षज्ञाने विषयोपि[४८३६] नैवास्ति । ततस्तत्र प्रतिभासमानेपि[४८३७] न प्रतिभासेत[४८३८]।** शक्यं हि वक्तुम्[४८३९]—यो यत्राधेयतया नास्ति तदात्मा वा न भवति स तस्मिन् प्रतिभासमानेपि न प्रतिभासते, यथाक्षविषये स्वलक्षणे शब्दः, नास्ति चाक्षज्ञाने तथाक्षविषयस्तदात्मा[४८४०] वा न भवति, इति ।

३४६. यदि पुनर्विषयसामर्थ्याद[४८४१]क्षज्ञानस्योत्पादात्तत्र प्रतिभासमाने स[४८४२] प्रतिभासत एवेति मतम्, तदप्यसम्यक्, करणशक्तेरपि[४८४३] प्रतिभासप्रसङ्गात् । तथाहि—**न केवलं विषयबलाद् दृष्टेरुत्पत्तिः[४८४४], अपि तु-चक्षुरादिशक्तेश्च[४८४५] ।** विषयाकारानुकरणाद्दर्शनस्य तत्र विषयः प्रतिभासते, न पुनः करणम्, तदाकाराननुकरणात्, इति चेत्, तर्हि **तदर्थवत्करणमनुकर्त्तुमर्हति, न चार्थं विशेषाभावात् । दर्शनस्य कारणान्तरसद्भावेपि विषयाकारानुकारित्वमेव, सुतस्येव पित्राकारानुकरणमित्यपि वार्तम्, स्वोपादानमात्रानुकरणप्रसङ्गात् ।** विषयस्यालम्बन[४८४६]प्रत्ययतया स्वोपादानस्य[४८४७] च समनन्तरप्रत्ययतया प्रत्यासत्तिविशेषाद्दर्शनस्य **उभयाकारानुकरणेप्यनुज्ञायमाने[४८४८] रूपादिवदुपादानस्यापि[४८४९] विषयतापत्तेः, अतिशयाभावात्,[४८५०] वर्णादिर्वा[४८५१]**

[४८५२]**तद्वदविषयत्वप्रसङ्गात्**। [४८५३]दर्शनस्य [४८५४]**तज्जन्मरूपाविशेषेपि तदध्यवसायनियमाद्बहिरर्थविषयत्वम्**, [४८५५]**इत्यसारम्**, [४८५६]वर्णादाविवोपादानेप्यध्यवसायप्रसङ्गात्, अन्यथोभयत्राध्यवसायायोगात्। न हि रूपादाव[४८५७]ध्यवसायः संभवति, तस्य दर्शनविषयत्वोपगमात्, [४८५८]**दर्शनस्यानध्यवसायात्मकत्वात्**, तस्याध्यवसायात्म[४८५९]कत्वे [४८६०]स्वलक्षणविषयत्वविरोधात्। [४८६१]**अदोषोऽयम्**, [४८६२]**प्रत्यक्षस्याध्यवसाय[४८६३]हेतुत्वादित्यनिरूपिताभिधानं** सौगतस्य, [४८६४]**तत्राभिलापाभावात्**। यथैव हि वर्णादावभिलापाभावस्तथा प्रत्यक्षेपि, [४८६५]तस्याभिलापकल्पनातोऽपोढत्वादनभिलापात्मकार्थसामर्थ्येनोत्पत्तेः[४८६६]। प्रत्यक्षस्य [४८६७]**तदभावेप्यध्यवसायकल्पनायां [४८६८]प्रत्यक्षं किं नाध्यवस्येत्**? स्वलक्षणं स्वयमभिलापशून्यमपि प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुर्न पुना [४८६९]रूपादिरिति कथं सुनिरूपिताभिधानम्? यदि पुनरविकल्पकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोध्यवसायस्योत्पत्तिः, प्रदीपादेः कज्जलादिवद्विजातीयादपि कारणात्कार्यस्योत्पत्तिदर्शनात्, इति मतम्, तदा [४८७०]तादृशोर्थाद्विकल्पात्मनः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु, तत एव, तद्वत्। [४८७१]जातिद्रव्यगुणक्रिया[४८७२]परिभाषाकल्पनारहिता[४८७३]दर्थात्कथं जात्यादिकल्पनात्मकं प्रत्यक्षं स्यादिति चेत्, प्रत्यक्षात्तद्रहिताद्विकल्पः कथं जात्यादिकल्पनात्मकः स्यादिति समानः पर्यनुयोगः। [४८७४]विकल्पस्य जात्यादिविषयत्वाददोष इति चेत्, न, प्रत्यक्षवत्तस्य जात्यादिविषयत्वविरोधात्। **यथैव हि** [४८७५]**प्रत्यक्षस्याभिलापसंसर्गयोग्यता नास्ति, तथा तत्समनन्तरभाविनोपि विकल्पस्य**, तस्याप्यभिलपने [४८७६]तदभिलप्यमानेन च जात्यादिना संसर्गासंभवात्, [४८७७]स्वोपादानसजातीयत्वात्। कथमिदानीं विकल्पो जात्यादिव्यवसायीति चेत्, न कथमपि। **तथा हि [४८७८]कश्चित्[४८७९]केनचि[४८८०]द्विशिष्टं [४८८१]गृह्यमाणं क्वचिद्विशेष-[४८८२]विशेष्यतत्संबन्धव्यवस्थाग्रहणमपेक्षते, दण्डवत्,**

विशेषणं विशेष्यं च संबन्धं लौकिकीं स्थितिम्[४८८३]।

गृहीत्वा [४८८४]संकलय्यै[४८८५]तत्त[४८८६]था प्रत्येति नान्यथा।। ( ) इति वचनात्।

[४८८७]**न चायमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थः, प्रत्यक्ष[४८८८]बलोत्पत्तेरविचारकत्वात्, प्रत्यक्षवत्**। [४८८९]कश्चिदाह [४८९०]**नैतदे[४८९१]वं** दूषणम्, प्रत्यक्षादेवाध्ययवसायोत्पत्त्यनभ्युपगमात्, [४८९२]**शब्दार्थविकल्पवासनाप्रभवत्वान्मनोविकल्पस्य** तद्वासना-विकल्पस्यापि पूर्वतद्वासनाप्रभवत्वादित्यनादित्वाद्वासनाविकल्पसन्तानस्य प्रत्यक्षसंतानादन्यत्वात्, विजातीया-द्विजातीयस्योदयानिष्टेः, तदिष्टौ यथोदितदूषणप्रसङ्गादिति, तस्याप्येवंवादिनः शब्दार्थविकल्पवासना-[४८९३]प्रभवात्ततस्तर्हि **[४८९४]कथमक्षबुद्धेः [४८९५]रूपादिविषयत्वनियमः** सिद्ध्येत्? [४८९६]मनोराज्यादिविकल्पादपि तत्सिद्धिप्रसङ्गात्। अथाक्षबुद्धि[४८९७]सहकारिणो वासनाविशेषादुत्पन्नाद्रूपादिविकल्पादक्षबुद्धेः रूपादिविषयत्वनियमः कथ्यते। [४८९८]तत एवाक्षबुद्धिविषयत्व[४८९९]नियमोप्यभिधीयताम्[४९००]। अन्यथा रूपादिविषयत्वनियमो[४९०१]पि मा भूत्, अविशेषात्। [४९०२]रूपाद्युल्लेखित्वा[४९०३]द्विकल्पस्य तद्बलात्[४९०४] [४९०५]**तदभ्युपगमे वा** प्रत्यक्षबुद्धेर**भिलापसंसर्गोपि** [४९०६]**तद्वदनुमीयेत**, तद्विकल्पस्याभिला[४९०७]पेनाभिलप्यमानजात्याद्युल्लेखितयोत्पत्त्य[४९०८]न्यथानुपपत्तेः, [४९०९]तदनुमिताच्चाक्षबुद्ध्यभिलापसंसर्गाद्रूपाद्य-भिलापसंसर्गो[४९१०][४९११]नुमीयेत। इति शब्दाद्वैतवादिमतसिद्धिः। न च सौगतो दर्शनस्याभिलापसंसर्गमुपैति। **तस्मादयं [४९१२]किञ्चित्पश्यन् तत्सदृशं पूर्वं न [४९१३]स्मर्तुमर्हति तन्नामविशेषास्मरणात्। तदस्मरन्नैव तदभिधानं प्रतिपद्यते। तदप्रतिपत्तौ [४९१४]तेन तत्र योजयति। [४९१५]तदयोजयन्नाध्यवस्य[४९१६]तीति न [४९१७]क्वचिद्विकल्पः शब्दो वेत्यविकल्पा[४९१८]भिधानं जगत् स्यात्।**

३४७. [४९१९]ननु च [४९२०]नामसंश्रस्य विकल्पस्य प्रत्यात्मवेद्यत्वात् सर्वेषाम[४९२१]भिधानस्य च श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनात्कथमविकल्पाभिधानं जगदापद्येतेति चेन्न, [४९२२]तत्राप्यध्य[४९२३]वसायासंभवात्। न च स्वसंवेदनेनेन्द्रियप्रत्यक्षेण वा निर्विकल्पकेन विकल्पोभिधानं वा गृहीतं नाम, अतिप्र[४९२४]सङ्गात्। **तथाहि—बहिरन्तर्वा गृहीतमप्यगृहीत[४९२५]कल्प[४९२६] क्षणक्षयस्वलक्षणसंवेदना[४९२७]दिवत्**। **तथा चायातमचेतनत्वं जगतः**।

३४८. ननु च नास्मन्मते कश्चित्किञ्चिन्नीलादिकं सुखादिकं वा संविदन्[४९२८]पूर्वसंविदितं तत्सदृशं [४९२९]तन्नामविशेषं च क्रमशः स्मरति, पूर्वसंविदितसंवेद्यमाननामविशेषयोः सहैव स्मरणात्, [४९३०]तत्संस्कारयोर्दृश्यदर्शनादेव सह प्रबोधात्। ततोयं [४९३१]किञ्चित्पश्यन्नेव तत्सदृशं पूर्वदृष्टं स्मर्तुमर्हति, तदैव तन्नामविशेषस्मरणात्, ततस्तस्येदं नामेत्यभिधानप्रतिपत्तेः, ततस्तस्य दृश्यस्याभिधानेन योजनाद् व्यवसायघटनान्न [४९३२]किञ्चिद्दूषणमित्यपरः, तस्यापि दृश्यमाननाम्नः [४९३३]पूर्वदृष्टस्य च तत्सदृशस्य **सह स्मृतिरयुक्तैव**, स्वमतविरोधात्, [४९३४]सकृत्स्मृति[४९३५]द्वयानभ्युप[४९३६]गमात् कल्पनयो[४९३७]र्बाध्यबाधकभावात्। कथमन्यथाऽश्वं विकल्पयतोपि गोदर्शने कल्पनाविरहसिद्धिः ? [४९३८]नाममात्रेपि सह स्मृतिरयुक्तैव, **तन्नामाक्षरमात्राणापि [४९३९]क्रमशोध्यवसानात्**, [४९४०]अध्यवसानाभावे स्मृतेरयोगात् [४९४१]क्षणक्षयादिवत्। न च युगपत्तदध्यवसायः संभवति, विरोधात्। **अन्यथा संकुला प्रतिपत्तिः स्यात्**, नीलमिति नाम्नि नकारादीनां परस्परविक्तिनामप्रतिपत्तेः[४९४२]।

३४९. किञ्चाभिलापस्य पदलक्षणस्य तदंशानां च वर्णानां नामविशेषस्य [४९४३]स्मृतावसत्यां [४९४४]व्यवसायः स्यात् सत्यां वा ? **[४९४५]नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतौ [४९४६]केवलार्थव्यवसायः किं न स्यात् ?** [४९४७]स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था [४९४८]निश्चयैर्व्यवसीयन्ते [४९४९]इत्येकान्तस्य त्यागात्, [४९५०]नाम्नः स्वलक्षणस्यापि [४९५१]स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यैव [४९५२]व्यवसायवचनात्। [४९५३]तदवचने वा न क्वचिद्व्यवसायः स्यात्, [४९५४]नामतदंशानामव्यवसाये [४९५५]नामार्थव्यवसायायोगात्। [४९५६]दर्शनेनाव्यवसायात्मना दृष्टस्याप्यदृष्टकल्पत्वात् सकलप्रमाणाभावः; [४९५७]प्रत्यक्षस्याभावेऽनुमानोत्थानाभावात्। तत एव सकलप्रमेयापायः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः, इत्यप्रमाणप्रमेयत्वमशेषस्यावश्यमनुषज्येत। तदुक्तं न्यायविनिश्चये—

अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः।
अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्य[४९५८]मनुषयज्यते ।। इति (१.७)

अभिलापविवेकत इत्यभिलापरहितत्वादिति व्याख्यानात्।

३५०. [४९५९]प्रथमपक्षोपक्षिप्तदोषपरिजिहीर्षया **[४९६०]तन्नामान्तरकल्पनायामनवस्था**। नामतदंशानामपि नामान्तरस्मृतौ हि व्यवसाये नामान्तरतदंशानामपि व्यवसायः स्वनामान्तरस्मृतौ सत्यामित्यनवस्था स्यात्। तथा च तदेवाप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्येत। [४९६१]अत्रापीय[४९६२]मेव कारिका योज्या, 'अभिलापविवेकतः' इत्यभिलापनिश्चयत इति व्याख्यानात्। प्रतिपादितदोषभया[४९६३]त्त**दय[४९६४]मशब्द सामान्यं [४९६५]व्यवस्यन् स्वलक्षणम[४९६६]पि व्यवस्येत**, सामान्यलक्षणस्वलक्षणयोर्हि **भेदाभावात्**।

३५१. [४९६७]नन्वर्थक्रियाकारिणः परमार्थसतः स्वलक्षणत्वात्, ततोऽन्यस्यानर्थक्रियाकारिणः संवृतिसतः [४९६८]सामान्यलक्षणत्वात्तयोः कथमभेदः स्यात् ?—

यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्।
अन्यत्[४९६९] संवृतिसत् प्रोक्ते[४९७०] ते स्वसामान्यलक्षणे।। () इति वचनात्।

तयोरभेदे सांवृतेतरस्वभावविरोधात्; इति कश्चित्, सोपि स्वदर्शनानुरागी न परीक्षकः, स्वेनासाधारणेन रूपेण लक्ष्यमाणस्य सामान्यस्यापि स्वलक्षणत्वघटनाद्विशेषवत्। यथैव हि विशेषः स्वेनासाधारणेन रूपेण सामान्यासंभविना विसदृशपरिणामात्मना लक्ष्यते, तथा सामान्यमपि स्वेनासाधारणेन रूपेण सदृशपरिणामात्मना विशेषासंभविना लक्ष्यत इति कथं स्वलक्षणत्वेन विशेषाद्भिद्यते ? यथा[४९७१] च विशेषः स्वामर्थक्रियां कुर्वन् व्यावृत्तिज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारी तथा सामान्यमपि स्वामर्थक्रियामन्वयज्ञानलक्षणां कुर्वत् कथमर्थक्रियाकारि न स्यात् ? तद्वाह्यां पुन[४९७२]र्वाहदोहाद्यर्थक्रियां यथा न सामान्यं कर्तुमुत्सहते तथा विशेषोपि केवलः[४९७३], सामान्यविशेषात्मनो[४९७४] वस्तुनो गवादे[४९७५]स्तत्रो[४९७६]पयोगात्। इत्यर्थक्रियाकारित्वेनापि तयोरभेदः[४९७७] सिद्धः। एकस्माद् द्रव्यात्कथञ्चिदभिन्नत्व-साधनाच्च सामान्यविशेषपरिणामयोरभेदोऽभ्युपगन्तव्यः। तथा च सामान्यं व्यवस्यन्नपि कथञ्चित्तदभिन्नं स्वलक्षणं न व्यवस्यतीति कथमुपपत्तिमत् ?

३५२. अथ न द्रव्यं नापि तत्परिणामः सामान्यं विशेषो वा स्वलक्षणम्, किं तर्हि ततोन्यदेव किञ्चित् सर्वथा निर्देष्टु[४९७८]मशक्यं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानं तदनुमन्यते, एवमपि[४९७९] जात्यन्तरं सामान्यविशेषात्मकं वस्तु स्वलक्षणमित्यायातम्, तस्यैव[४९८०] परस्परनिरपेक्षसामान्यविशेषतद्वद्[४९८१]द्रव्येभ्योऽन्यस्य प्रत्यक्षसंविदि प्रतिभासनात्, निरन्वयक्षणक्षयिनिरंशपरमाणुलक्षणस्य स्वलक्षणस्य[४९८२] सुष्ठु प्रत्यक्षेणालक्षणत्वात्[४९८३]। तत्र[४९८४] च व्यवसायोक्षजन्मा स्वाभिधानविशेषनिरपेक्षः[४९८५] किन्न स्यात् ? यतोऽयं स्वलक्षणमशब्दं न व्यवस्येत्। ततः[४९८६] **सामान्यवत्स्वलक्षणमध्यवस्यन्नभिलापेन योजयेत्। ततो न किञ्चित्प्रमेयमनभिलाप्यं नाम** श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यम्, शब्दयोजितस्य[४९८७] [४९८८] श्रुतविषयत्वोपपत्तेः। **प्रत्यक्षस्या[४९८९]नभिलाप्यत्वे[४९९०] स्मार्त्तं[४९९१] शब्दानुयोजनं[४९९२] दृष्टसामान्यव्यवसायो[४९९३] यद्यपेक्षेत सोर्थो[४९९५] व्यवहितो भवेत्[४९९६], तदिन्द्रियज्ञानात्सामान्यव्यवसायो न स्यात्।** यथैव हि शब्दसंसृष्टार्थग्राहिसविकल्पकप्रत्यक्षवादिनाम[४९९७]र्थोपयोगे सत्यपि[४९९८] स्मार्त्तशब्दानुयोजनापेक्षेऽक्षज्ञाने तदर्थो[४९९९] व्यवहितः स्यात् स्मार्तेन शब्दानुयोजनेनेति तदर्थादक्षज्ञानं[५०००] सविकल्पकं न स्यात्, तदभावेपि[५००१] भावात्तद्भावेऽपि[५००२] चाभावादिति दूषणम्—

अर्थोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम्।
अक्षधीर्[५००३]यद्यपेक्षेत सोर्थो[५००४] व्यवहितो भवेत्।। ()

इति वचनात् समुद्भाव्यते, तथैव[५००५] शब्दानुयोजनासहितार्थग्राहिविकल्पवादिनामपि सौगतानामिन्द्रिय[५००६]ज्ञानमुपयोगे सत्यपि विकल्पोत्पत्तौ[५००७] स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं विकल्पो यद्यपेक्षेत, तदा तदिन्द्रियज्ञानं स्वविषयनामविशेषस्मरणेन तद्योजनेन च व्यवहितं स्यात्। तथा च नेन्द्रियज्ञानाद् व्यवसायः[५००८] स्यात्, तदभावेऽपि[५००९] भावात्तद्भावेपि चाभावादिति दूषणमुद्भावनीयम्,—

ज्ञानोपयोगेपि[५०१०] पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम्।
विकल्पो[५०११] यद्यपेक्षेताध्यक्षं व्यवहितं[५०१२] भवेत्।। ( )

इति वक्तुं शक्यत्वात्[५०१३], अर्थशब्देन[५०१४] प्रत्यक्षस्याभिधानाद्वा। कदाचिद्विषयेण[५०१५] विषयिणो वचनाद्धर्मकीर्तिकारिकायां[५०१६] एव तन्मतदूषणपरत्वेन व्याख्यातुं शक्यत्वात्।

३५३. यथा च प्रागजनको[५०१७] योर्थोभिलापसंसृष्टार्थेन्द्रियबुद्धेः[५०१८][५०१९] स पश्चादपि स्मार्तशब्दानुयोजनेऽपि तस्योपयोगाविशेषादजनक[५०२०][५०२१] एव, तेनार्थापायेपि नेत्रधीः[५०२२] शब्दाद्वैतवादिनः स्यादिति धर्मकीर्तिदूषणम्[५०२३]—

यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः।
स पश्चादपि तेन[५०२४] स्यादर्थापायेपि नेत्रधीः।। ( )

इति वचनात्। तथा[५०२५] यदिन्द्रियज्ञानं स्मार्त्तशब्दानुयोजनात्प्रागजनकं सामान्यव्यवसायस्य च तत् पश्चादप्युपयोगाविशेषात्[५०२६] तेनेन्द्रियज्ञानव्यपायेपि[५०२७] सामान्यव्यवसायः स्यात्, तस्य **प्रागिवाजनकत्वात्[५०२८], तदन्तरेणापि दर्शनमयं गौरिति निर्णयः स्यात्**–

यः[५०२९] प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः।
स पश्चादपि तेनाक्षबोधापायेपि[५०३०] कल्पना[५०३१]।। ( )

इति च[५०३२] प्रतिपादनात्।

३५४. तदेवं दर्शनादध्यवसायः न संभवति, येन दर्शनस्य स्वालम्बन[५०३३][५०३४]-समनन्तरप्रत्ययजन्मतत्सारूप्याविशेषेपि[५०३५][५०३६] स्वविषयप्रतिनियमः[५०३७] सिध्येत्।

३५५. किञ्च, सौगतानाम**नभिलाप्यस्य विशेषस्यानुभवे[५०३८] कथमभिलाप्यस्य स्मृतिः? अत्यन्तभेदात्** स्वलक्षणात्सामान्यस्य, सह्यविन्ध्यवत्। न हि सह्यस्यानुभवे विन्ध्यस्य स्मृतिर्युक्ता। विशेषसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायाद्विशेषस्यानुभवे सामान्यस्य[५०३९] स्मृतिर्युक्तैवेति चेत्, कुतस्तयोरेकत्वाध्यवसायः? न तावत्प्रत्यक्षात्[५०४०], तस्य सामान्याविषयत्वात्, नापि तत्पृष्ठभाविनो[५०४१] विकल्पादनुमानाद्वा, तस्य विशेषाविषयत्वात्, तदुभयविषयस्य च कस्यचित्प्रमाणस्यानभ्युपगमात्[५०४२]। तदन्यतरविषयेण तयोरेकत्वाध्यवसायेतिप्रसङ्गात्[५०४३], त्रिविप्रकृष्टेतरयोरप्येकत्वाध्यवसायोपक्षज्ञानात्प्रसज्येत[५०४४]।

३५६. किं च[५०४५] **शब्दार्थयोः संबन्धस्यास्वाभाविकत्वे[५०४६][५०४७] कथमर्थमात्रं पश्यन्[५०४८] शब्दमनुस्मरेत्** शब्दं शृण्वन् **तदर्थं वा? यतोयं व्यवसायः** सौगतस्य सिध्येत्। न हि सह्यमात्रं पश्यन् विन्ध्यस्य स्मरेत्।

३५७. स्यान्मतम्—शब्दस्य विकल्प्येन[५०४९] तदुत्पत्तिलक्षणसंबन्धोपगमात्, तस्य[५०५०] च दृश्येनैकत्वाध्यवसायाद्विशेषस्यानुभवेपि शब्दं तदर्थं वा विकल्प्यं स्मर्तुमीष्टे व्यवहारी, प्रवृत्तिदर्शनदिति, तदप्यसम्यक्, कुतश्चिदपि[५०५१] दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायासंभवस्योक्तत्वात्[५०५२]। ततः स्वत एव व्यवसायात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यं प्रत्यक्षस्य, न पुनरभिधानजात्यादियोजनापेक्षया[५०५३]। **चक्षुरादिज्ञानस्य[५०५४] कथञ्चिद्व्यवसायात्मकत्वाभावे[५०५५] दृष्टसजातीयस्मृतिर्न[५०५६] स्यात्, दानहिंसाविरतिचेतसः[५०५७] स्वर्गादिफलजनन-सामर्थ्यसंवेदनवत्[५०५८], क्षणक्षयानुभवनवद्वा**। व्यवसायात्मनो मानसप्रत्यक्षाद् दृष्टसजातीयस्मृतिरिति

चेत्, न, अव्यवसायात्मनोऽक्षज्ञानात् समनन्तरप्रत्ययाद्व्यवसायात्मनो मनोविज्ञानस्योत्पत्तिविरोधाद् विकल्पवत्,[५०५९] निर्विकल्पात्मकत्वान्[५०६०]मानसप्रत्यक्षस्याभिलापसंसर्गयोग्यताप्रतिभासाभावात्। अव्यवसायात्मनोप्यक्षज्ञानाददृष्टविशेषसहकारिणः[५०६१] स्यादुत्पत्तिरिति[५०६२] चेत्, किमेवमक्षज्ञानस्य स्वयं व्यवसायात्मन एवादृष्टविशेषादुत्पत्तिर्नेष्यते[५०६३]? तेन[५०६४] नीलादेर्व्यवसाये तत्क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपि[५०६५] व्यवसायप्रसङ्गान्नाक्षज्ञानं व्यवसायात्मकमिष्टमिति चेत्, तत[५०६६] एव मानसप्रत्यक्षमपि व्यवसायात्मकं मा भूत्। तस्य[५०६७] क्षणक्षयाद्यविषयत्वान्न[५०६८] तद्व्यवसायित्वमिति[५०६९] चेत्तत[५०७०] एवाक्षज्ञानस्यापि तन्माभूत्[५०७१]। तथा[५०७२] सति नीलादेः क्षणक्षयादिरन्यः स्यात्, तद्व्यवसायेप्यव्यवसायात्, कूटात्पिशाचादिवदिति[५०७३] चेत्तर्हि मानसप्रत्यक्षेणापि नीलादिव्यवसायेपि क्षणक्षयादेरव्यवसायात्ततो भेदोस्तु, तद्वदेव, सर्वथा विशेषाभावात्[५०७४]। कथञ्चिदक्षज्ञानस्य[५०७५] व्यवसायात्मकत्वे तु मानसप्रत्यक्षकल्पनरपि न स्यात्, प्रयोजनाभावात्, तत्प्रयोजनस्याक्षज्ञानादेव[५०७६] सिद्धेः।

३५८. एतेनाव्यवसायात्मकमपि मानसप्रत्यक्षं कल्पयन् प्रतिक्षिप्तः।

३५९. ननु निर्विकल्पकादप्यक्षज्ञानादभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थत्ववशद् दृष्टसजातीये स्मृतिर्युक्ता, सविकल्पकप्रत्यक्षादपि[५०७७] तदभावे तदनुपपत्तेः, प्रतिवाद्याद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादिवत्,[५०७८] स्वोच्छ्वासादिसंख्यावद्वा[५०७९]। न हि सविकल्पकप्रत्यक्षेण तद्व्यवसायेपि कस्यचिदभ्यासाद्यभावे पुनस्तत्स्मृतिर्नियमतः सिद्धा, यतः सविकल्पकत्वप्रकल्पनं प्रत्यक्षस्य फलवत्, इति कश्चित्, सोप्यप्रज्ञाकर[५०८०] एव, सर्वथैकस्वभावस्य[५०८१] प्रत्यक्षस्य क्वचिदभ्यासादीनामितरेषां[५०८२][५०८३] च सकृदयोगात्। तदन्यव्यावृत्त्या[५०८४] तत्र[५०८५] तद्योग[५०८६][५०८७] इति चेत्, न, स्वमततत्स्वभावस्य[५०८८] तदन्यव्यावृत्तिसंभवे पावकस्याशीतत्वादिव्यावृत्तिप्रसङ्गात्,[५०८९] तत्स्वभावस्य[५०९०] तदन्यव्यावृत्तिकल्पने फलाभावात्, प्रतिनियततत्स्वभावस्यैवान्यव्यावृत्तिरूपत्वात्। सविकल्पकप्रत्यक्षवादिनां[५०९१] त्वेषामवग्रहेहावायज्ञानादनभ्यासात्मकादन्यदेवाभ्यासात्मकं[५०९२] धारणाज्ञानं प्रत्यक्षम्। तेषां तदभावे परोपन्यस्तसकलवर्णपदादिष्ववग्रहादित्रयसद्भावेपि न स्मृतिः। तत्सद्भावे तु स्यादेव, सर्वत्र यथासंस्कारं स्मृत्यभ्युपगमात्, क्वचिदभिलाप[५०९३]संस्कारा[५०९४]दभिलापस्मृतिवत्[५०९५]। **प्रत्यक्षेभिलापसंस्कारविच्छेदे[५०९६] कुतस्तद्विकल्प्याभिलापसंयोजनं[५०९७][५०९८] यतः सामान्यमभिलाप्यं स्यात्[५०९९]।** प्रत्यक्षगृहीतमेव हि स्वलक्षणमन्यव्यावृत्तं[५१००][५१०१] साधारणाकारतया[५१०२] प्रतिभासमानं सामान्यं विकल्पाभिलापसुयोजनेनाभिलाप्यमिष्यते[५१०३][५१०४]।

३६०. **न च[५१०५] ग्राहकप्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदाद्विषयस्वभावाभेदाभावः[५१०६], सकृदेकार्थोपनिबद्धदर्शनप्रत्यासन्नेतरपुरुषज्ञानविषयवत्।** यथा हि सकृदेकस्मिन्नर्थे पादपादावुपनिबद्धदर्शनयोः प्रत्यासन्नविप्रकृष्टपुरुषयोर्ज्ञानाभ्यां विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदान्न स्वभावभेदः पादपस्य, तस्यैकत्वाव्यतिक्रमात्, तथैव ग्राहकयोः प्रत्यक्ष[५१०७]स्मृति[५१०८]प्रतिभासयोर्भेदेपि स्पष्टमन्दतया न तद्विषयस्य[५१०९] भेदः, स्वलक्षणस्यैकस्वभावत्वाभ्युपगमात्। **तथा च मन्दप्रतिभासिनि स्वलक्षणे घटादौ शब्दविकल्पविषये तत्संकेतव्यवहारनियमकल्पनायामपि कथञ्चिदभिधेयत्वं[५११०] वस्तुनः सिद्धम्। इत्यलं प्रसङ्गेन।**

३६१. रूपादिस्[५११२]स्वलक्षणे शब्दाभावादवाच्यमेव तदिति ब्रुवाणस्य[५११३] प्रत्यक्षेर्थस्याभावात्तस्याज्ञेयत्वप्रसक्तेः[५११४] समर्थनात् रूपाद्यर्थस्य[५११५] कथञ्चिज्ज्ञेयत्वेभिलाप्यत्वस्यापि साधनात्[५११६] प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ[५११७] प्रसङ्गस्य[५११८] निष्प्रयोजनत्वात् पर्याप्तं प्रसङ्गेन। **तस्मादवाच्यतैकान्ते यदवाच्यमित्यभिधानं तदसमञ्जसम्, स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत्स्व-वचन विरोधात्,** तदप्यसद्, यदसतः समुदाहृतमिति प्रतिपादनात्। यथैव हि स्वलाक्षणमनिर्देश्यमित्य-वाच्यतैकान्ते वक्तुमशक्यं तथा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्यपि, प्रत्यक्षेभिलापसंसर्गाभावे विकल्पानुत्पत्तिप्रसङ्गस्य निवेदितत्वात्, तत्सद्भावे[५११९] सविकल्पकत्वसिद्धेः।

३६२. तदेवं स्वामिसमन्तभद्रभानवः स्फुटतरविलसदकलङ्कन्यायगभस्तिभिरपहस्तितसमस्तभावैकान्तादिप-रमतध्वान्तसन्ततयोपि रात्मपक्षनिराकरणसमर्थनायत्तं जयमादिशता भगवाताप्तेन किं पुनर्मे शासनं प्रतिद्धेन न बाध्यते इति स्पष्टं पृष्टा इवाहुः—

कथञ्चित्ते[५१२०] सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा।।१४।।

३६३. चशब्दात्सदवाच्यमेव[५१२१] कथञ्चिदसदवाच्यमेव[५१२२] तदुभयावाच्यमेवेष्टं[५१२३] ते शासनमिति समुच्चीयते, प्रश्नवशादेकत्र[५१२४] वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना[५१२५] सप्तभङ्गी, इति[५१२६] वचनात्[५१२७]। नययोगादिति वचनान्नयवाक्यानि [५१२८]सप्तैवेति दर्शयन्ति, ततोऽन्यस्य भङ्गस्यासंभवात्। तत्संयोगजभङ्गस्यापि[५१२९] कस्यचित्तत्रैवान्तर्भावात्,[५१३०] कस्यचित्तु[५१३१] पुनरुक्तत्वात् विधिकल्पनाया एव सत्यत्वात्, [५१३२]तयैकमेव वाक्यमिति न मन्तव्यम्, प्रतिषेधकल्पनायाः सत्यत्वव्यवस्थापनात्[५१३३]। विध्येकान्तस्य निराकरणात्[५१३४] प्रतिषेधकल्पनैव सत्येत्यपि न सम्यक्[५१३५], अभावैकान्तस्य निराकरणात्।[५१३६] तदपेक्षयापि नैकमेव वाक्यं युक्तम्।[५१३७] "सदर्थप्रतिपादनाय विधिवाक्यमसदर्थकथनार्थं तु प्रतिषेधवाक्यमिति वाक्यद्वयमेव[५१३८], "[५१३९]सदसद्वर्गास्तत्त्वमिति" वचनात्, प्रमेयान्तरस्य[५१४०] शब्दविषयस्यासंभवात्, इति न चेतसि विधेयम्[५१४१], प्रधानभावार्पितसदसदात्मनो वस्तुनः प्रधानभूतैकैकधर्मात्मकादर्थादर्थान्तरत्वसिद्धेः[५१४२], सत्त्ववचनेनैवासत्त्ववचनेनैव वा सदसत्त्वयोः क्रमार्पितयोः प्रतिपादयितुमशक्तेः। सदसदुभयविषयं वाक्यत्रयमेवेति चायुक्तम्, सहोभयवाक्यस्यावक्तव्यत्वविषयस्य[५१४३] व्यवस्थितेः। तथापि वाक्यचतुष्टयमेवेति चायुक्तम्, सद-सदुभयावक्तव्यत्वविषयस्य वाक्यान्तरत्रयस्यापि[५१४४] भावात्—विधिकल्पना (१), प्रतिषेधकल्पना (२), क्रमतो विधिप्रतिषेधकल्पना (३) सहविधिप्रतिषेधकल्पना च (४) विधिकल्पनासहिविधिप्रतिषेधकल्पना[५१४५] च (५), प्रतिषेधकल्पनासहविधिप्रतिषेधकल्पना[५१४६] च (६), क्रमाक्रमाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पना[५१४७] (७) च सप्तभङ्गीति व्याख्यानात्। न चैवं प्रत्यक्षादिविरुद्धविधिप्रतिषेधकल्पनापि[५१४८] सप्तभङ्गी[५१४९] स्यादिति. शक्यं वक्तुम्, 'अविरोधेनेति'[५१५०] वचनात्। नानावस्त्वाश्रयविधिप्रतिषेधकल्पना[५१५१] सप्तभङ्ग्यपि प्रसज्यते, इति च न चिन्त्यम्, 'एकत्र वस्तुनि' इति वचनात्।

३६५. [५१५२]नन्वेकत्रापि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसद्भावात्तत्कल्पनानन्तभङ्गी[५१५३] स्यात्, इति चेत्, न, अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनाम्[५१५४]इष्टत्वात्, तत्रैकत्वानेकत्वादिकल्पनया[५१५५]पि सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, "प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गी" इति नियमवचनात्। सप्तविध एव तत्र प्रश्नः प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव संभवात्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः। सप्तधैव कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघटनात्। सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः। सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात्।

३६५. [५१५६]तत्र सत्त्वं वस्तुधर्मः, तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात्, खरविषाणादिवत्। तथा कथञ्चिद[५१५७]सत्त्वम्[५१५८] [५१५९]स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ[५१६०] प्रतिनियत[५१६१]स्वरूपाभावाद्वस्तुप्रतिनियमविरोधात्। एतेन[५१६२] क्रमार्पितोभयत्वा[५१६३]दीनां वस्तुधर्मत्वं प्रतिपादितम्, तदभावे क्रमेण सदसत्त्वविकल्पशब्द[५१६४]व्यवहारस्य विरोधात्, [५१६५]सहावक्तव्यतदुत्तरधर्मत्रयविकल्पशब्दव्यवहारस्य चासत्त्वप्रसङ्गात्। न चामी व्यवहारा निर्विषया एव, वस्तुप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिनिश्चयात्[५१६६], तथाविध[५१६७]रूपादिव्यवहारवत्। तस्यापि निर्विषयत्वे सकलप्रत्यक्षादिव्यवहारापह्नवात्र कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्था स्यात्। ननु च प्रथमद्वितीयधर्मवत्[५१६८] प्रथमतृतीयादिधर्माणां क्रमेतरार्पितानां धर्मान्तरत्वसिद्धेर्न सप्तविधधर्मनियमः सिध्येत्, इति चेत्, न, क्रमार्पितयोः; प्रथमतृतीयधर्मयोर्धर्मान्तरत्वेनाप्रतीतेः, सत्त्वद्वयस्यासंभवात्, विवक्षित[५१६९]स्वरूपादिना सत्त्वस्यैकत्वात्। [५१७०]तदन्यस्वरूपादिना सत्त्वस्य द्वितीयस्य संभवेपि विशेषादेशा[५१७१]त्तत्प्रतिपक्षभूतासत्त्वस्यापि परस्य भावादपरधर्मसप्तकसिद्धेः सप्तभङ्ग्यन्तरप्रसिद्धेः कथमुपालम्भः? एतेन[५१७२] द्वितीयतृतीयधर्मयोः क्रमार्पितयोर्धर्मान्तरत्वमप्रतीतिकं व्याख्यातम्। प्रथम[५१७३]चतुर्थयोर्द्वितीयचतुर्थयो[५१७४]स्तृतीयचतुर्थयोश्च[५१७५] सहितयोः कथं धर्मान्तरत्वमेवं[५१७६] स्यादिति चेच्चतुर्थेऽवक्तव्यत्वधर्मे सत्त्वासत्त्व[५१७७]योरपरामर्शात्। न हि [५१७८]सहार्पितयोस्तयोरवक्तव्य[५१७९]शब्देनाभिधानम्। किं तर्हि? तथार्पितयोस्तयोः सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन[५१८०] प्रतिपादनमिष्यते। न च तेन[५१८१] सहितस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्योभयस्य चाऽप्रतीतिर्धर्मान्तरत्वासिद्धिर्वा। प्रथम भङ्गे सत्त्वस्य प्रधानभावेन प्रतीतेः, द्वितीये पुनरसत्त्वस्य, तृतीये क्रमार्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोः, चतुर्थेऽवक्तव्यत्वस्य, पञ्चमे सत्त्वसहितस्य[५१८२], षष्ठे पुनरसत्त्वोपेतस्य[५१८३], सप्तमे क्रमवत्तदुभय[५१८४]युक्त[५१८५]स्य तत्र[५१८६] [५१८७]शेषधर्मगुणभावाध्यवसायात्।

३६६. स्यान्मतम्—अवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरत्वे वस्तुनि वक्तव्यत्वस्यापि धर्मान्तरस्य भावादष्टमस्य कथं सप्तविध एव धर्मः सप्तभङ्गीविषयः स्यात्, इति, तदयुक्तम्[५१८८], सत्त्वादिभिरभिधीयमानस्य वक्तव्यत्वस्य प्रसिद्धेः, सामान्येन[५१८९] वक्तव्यत्वस्यापि विशेषेण वक्तव्यतायामनवस्थानात्। भवतु वा वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोर्धर्मयोः सिद्धिः, तथापि ताभ्यां[५१९०] विधिप्रतिषेधकल्पनाविषयाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरस्य प्रवृत्तेर्न तद्विषयसप्तविधधर्मःनियमविघातोऽस्ति, यतस्तद्विषयसंशयः सप्तधैव न स्यात्तद्धेतु[५१९१]र्जिज्ञासा[५१९२] वा तन्निमित्तः प्रश्नो वा वस्तुन्येकत्र सप्तविधवाक्यनियमहेतुः। इति सूक्ता[५१९३] सत्त्वादिधर्मविषया गौः[५१९४] सप्तभङ्गी। सा च स्याद्वादामृतगर्भिणी, स्याद्वचनार्थस्य[५१९५] कथञ्चि[५१९६]च्छब्देन प्रतिपादनात्, तेनानेकान्तस्य[५१९७] द्योतकेन वाचकेन [५१९८]वा तस्याः प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयत्वात्। न चैवं[५१९९] स्याच्छब्दवत्कथञ्चिच्छब्देनैवानेकान्तस्य

प्रतिपादनात्सदादिवचनमनर्थकमाशङ्कनीयम्, ततः[५२००] सामान्यतोनेकान्तस्य प्रतिपत्तावपि विशेषार्थिना विशेषस्यानुप्रयोगात्, ''सामान्यतोपक्रमेपि[५२०१] विशेषार्थिना विशेषोनुप्रयोक्तव्यो वृक्षो[५२०२] न्यग्रोध इति यथा' इति वचनात्। द्योतकपक्षे तु न्यायप्राप्तं सदादिवचनम्[५२०३], तेनोक्तस्य[५२०४] कथञ्चिच्छब्देन द्योतनात्, तेनानुद्योतने[५२०५] सर्वथैकान्तशङ्काव्यवच्छेदेनाऽनेकान्तप्रतिपत्तेरयोगात्, एवकारावचने विवक्षितार्थाप्रतिपत्तिवत्।

३६७. नन्वनुक्तोपि कथञ्चिच्छब्दः सामर्थ्यात्प्रतीयते[५२०६], सर्वत्रैवाकारवत्, इति चेत्, न प्रयोजकस्य[५२०७] स्याद्वादन्यायाकौशले प्रतिपाद्यानां तदप्रतीतेस्तद्वचनस्य[५२०८] क्वचिदवश्यंभावात्। तत्कौशले वा तदप्रयोगोऽभीष्ट एव, सर्वस्यानेकान्तात्मनो वस्तुनः प्रमाणात् साधने[५२०९] ''सर्वं सत्'' इत्यादिवचनेपि[५२१०] स्यात्सर्वं सदेवेत्यादिसंप्रत्ययोत्पत्तेः। इति प्रपञ्चतोन्यत्र[५२११] प्ररूपितमवगन्तव्यम्।

३६८. ननु[५२१२] च जीवाद्रिद्रव्यं सदेव कथञ्चिदित्यसिद्धम्, दर्शनावग्रहादिविशेषव्यतिरेकेण[५२१३] तस्यानुपलम्भात्, अश्वविषाणवदिति चेत्, **न, अवग्रहेहादेरन्योन्यं स्वलक्षणविवेकैकान्ते[५२१४] जीवान्तरवत्[५२१५] स्वात्मन्यपि[५२१६] सन्तानभेदप्रसङ्गात्[५२१८]**। तथा च यदेव मया विषयविषयि[५२१९]सन्निपातदशायां[५२२०] किञ्चिदित्यालोकितं तदेव वर्णसंस्थानादिसामान्याकारेणावगृहीतं पुनः प्रतिनियतविशेषाकारेणेहितं[५२२१] तदेवाकाङ्क्षितविशेषाकारेण[५२२२] वित्तं पुनः कालान्तरस्मृतिहेतुतया[५२२३] चावधारितम्, तदेव कालान्तरे 'तत' इत्याकारेण स्मृतम्[५२२४], पुनस्तदेवेदमित्याकारेण प्रत्यभिज्ञातम्, ततो यदित्थम्[५२२५], कार्यकृत्तदित्थं सर्वत्र सर्वदेति· तर्कितम्, ततस्तत्कार्यावबोधनादि[५२२६]भिनिबुद्धम्[५२२७], तदेव च शब्दयोजनया विकल्पनिरूपणया वा परार्थं[५२२८] स्वार्थं वा श्रुतमित्य[५२२९]नुसन्धानप्रत्यय[५२३०]वदहमेक एव दृष्टाऽवगृहीतेहितेत्याद्यनुसन्धानबुद्धिरपि[५२३१] न क्वचिदास्पदं[५२३२] बध्नीयात्। तथाविधवासनाप्रबोधादनुसंधानावबोधप्रसिद्धिरिति चेत्साऽनुसंधानवासना यद्यनुसन्धीयमानदर्शनादिभ्यो[५२३४] भिन्ना तदा संतानान्तरे दर्शनावग्रहादिष्विव स्वसंतानेपि नानुसंधानुबोधमुपजनयेत्, अविशेषात्। तदभिन्ना[५२३५] चेत्तावद्धा[५२३६] भिद्येत। न हि भिन्नादभिन्नमभिन्नं[५२३७] नामेति[५२३८] स्वयमभिधानात्। तथा च तत्प्रबोधात्कथं[५२३९] दर्शनावग्रहादिष्वेकमनुसन्धानज्ञानमुत्पद्येत? यदि पुनस्तेभ्यः कथञ्चिदभिन्ना[५२४०] वासनानुमन्यते तद्धेतुस्तदा **अहमहमिकयात्मा विवर्तानिनुभवन्ननादिनिधनः[५२४१] स्वलक्षणप्रत्यक्षः[५२४२] सर्वलोकोनां क्वचिच्चित्रवित्तिक्षणे नीलादिविशेषनिर्भासवदात्मभूतान्[५२४३] परस्परतो विविक्तान् सहक्रमभाविनो[५२४४] गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वन् सन्नेव** सिद्धः, तस्यैव[५२४५] वासनेति नामान्तरकरणात्। **तदेकत्वाभावे[५२४६] नीलादिविशेषनियतदर्शननानासंतानसंवेदन-क्षणवच्चित्रसंवेदनं[५२४७] न स्यात्।** क्रमवृत्तिसुखादीनामिव दर्शनावग्रहादीनामेकसंतानिपतितत्वादनुसंधानम-[५२४८]ननिबन्धनत्वमनुमतम्, इति चेत्, तर्हि संततिरात्मैव। **तथा[५२४९] क्रमवृत्तीनां[५२५०] सुखादीनां मतिश्रुतादीनां वा तादात्म्यविगमैकान्ते[५२५१] संततिरनेकपुरुषवन्न** स्यात्। सुखादिमत्यादीनां[५२५२] नैरन्तर्यादव्यभिचारिकार्यकारणभावा[५२५३]-द्वास्यवासकभावाच्चापरामृष्ट[५२५४]भेदानामेका[५२५५] संततिः, न पुनरनेकपुरुषे, तदभावादिति[५२५६] चेत्, तर्हि **नैरन्तर्यादेरविशेषात्संतानव्यतिकरोपि[५२५७] किन्न स्यात्? न हि नियामकः कश्चिद्विशेषः, अन्यत्राभेद-परिणामात्।** संतानिनां[५२५८] भेदपरिणाम एव नाभेदपरिणामः, संकरप्रसङ्गात् इति चेन्न येनात्मना[५२५९] तेषामभेदस्तेन[५२६०][५२६१] सद्द्रव्यचेतनत्वादिना संकरस्येष्टत्वात्, तेनाप्यसंकरे **हर्षविषादादिचित्रप्रतिपत्तेरयोगात्।** अस्ति

च [५२६२]सैकत्रापि विषये यत्र मे हर्षः प्रागभूत्तत्रैव विषादो द्वेषो भयादिर्वा वर्तते, अहमेव च हर्षवानासं, संप्रति विषादादिमान् वर्ते नान्य इति क्रमतश्चित्रप्रतिपत्तिरबाधा। ततो जीवः सन्नेव।[५२६३] एवं च [५२६४]**यथैकत्र [५२६५]समनन्तरावग्रहादिसदादिस्वभावसंकरपरिणामस्तथैव सर्वत्र चेतनाचेतनेषु संप्रत्यतीतानागतेषु तत्स्वभावाविच्छित्तेः। अतः कथञ्चित्सदेवेष्टं** जीवादि तत्त्वम्, सकलबाधकाभावात्। [५२६६]तर्हि सदेव सर्वं जीवादिवस्तु, न पुनरसदिति चेत्, न, सर्वपदार्थानां परस्परमसंकरप्रतिपत्तेरसत्त्वस्यापि सिद्धेः, जीवाजीवप्रभेदानां स्वस्वभावव्यवस्थितेरन्य[५२६७]थानुपपत्तेः। **न केवलं जीवाजीवप्रभेदाः सजातीयविजातीयव्यावृत्तिलक्षणाः, किन्तु [५२६८]बुद्धिक्षणेपि, क्वचिद्ग्राह्यग्राहकयोः [५२६९]सितादिनिर्भासांशपरमाणुसंवित्त[५२७०]योपि, [५२७१]परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वा[५२७२]दन्यथा[५२७३]स्थूलशबलावलोकनाभावात्त[५२७४]देकांशवत्** सर्वथा परस्परमव्यावृत्तानां ग्राह्यग्राहकवितादिनिर्भासावयवपरमाणुसंवित्तीनामेकपरमाणुस्वरूपतापत्तेः। न चैकः परमाणुः स्थूलतया शबलतया वावलोकयितुं शक्यः,[५२७५] विभ्रमप्रसङ्गात्।[५२७६] **तथा च सकलचेतनेतर[५२७७]क्षणपरिणामलव[५२७८]विशेषाः परस्परविविक्तात्मानः सिद्धाः,** स्वस्वभावस्य स्वभावान्तरेण मिश्रणाभावात्। [५२७९]तदन्योन्याभावमात्रं **जगत्, अन्यथा सर्वथैकत्वप्रसङ्गात्।**

३६९. [५२८०]तत्रा[५२८१]न्वयस्य **विशेषापे[५२८२]क्षणादभावो** [५२८३]वा, स्वतन्त्र[५२८४]स्य तस्य जातुचिदप्रतिभासनात्। **तदिष्टमसदेव कथञ्चित्।**

३७०. सर्वथा भावाभावोभयात्मकमेव जगदस्तु, तत्र भावस्याभावस्य च प्रमाणसिद्धत्वात् प्रतिक्षेप्तुमशक्यत्वात्, [५२८५]इत्यपरः, सोपि न तत्त्ववित्, सुयुक्त्यतिलङ्घनात्। **न हि भावाभावैकान्तयोर्निष्पर्यायमङ्गीकरणं युक्तं, यथैवास्ति तथैव नास्तीति विप्रतिषेधात्।**[५२८६] ततः **कथञ्चित्सदसदात्मकं द्रव्यपर्यायनयापेक्षया।** द्रव्यनयापेक्षयैव सर्व सत् पर्याय[५२८७]नयापेक्षयैव च सर्वमसदात्मकम्, **विपर्यये तथैवासंभवात्।** न हि द्रव्यनयापेक्षया सर्वमसत् संभवति, नापि पर्यायनयापेक्षया सर्वं सत्, प्रतीतिविरोधात्। भावाभावस्वभावरहितं [५२८८]तद्विलक्षणमेव वस्तु युक्तमित्यपि न सारम्, **सर्वथा जात्यन्तरकल्पनायां वा [५२८९]तदंशनिबन्धनविशेषप्रतिपत्तेरत्यन्ताभावप्रसङ्गात्।** न [५२८८]चासावस्ति, सदसदुभयात्मके वस्तुनि स्वरूपादिभिः सत्त्वस्य पररूपादिभिरसत्त्वस्य च तदंशस्य विशेष[५२९१]प्रतिपत्तिनिबन्धनस्य सुनयप्रतीतिनिश्चितस्य प्रसिद्धेः, दधिगुडचातुर्जातकादिद्रव्यो[५२९२]द्भवे [५२९३]पानके तदंशदध्यादिविशेष[५२९४]प्रतिपत्तिवत्। न चैवं जात्यन्तरमेवोभयात्मकमिति युक्तं [५२९५]वक्तुम्, **सर्वथोभयरूपत्वे वा जात्यन्तरप्रतिपत्तेरयोगात्,** पान[५२९६]कवदेव। न हि तत्र दध्यादय एव न पुनर्जात्यन्तरं पानकमित्यभिधातु[५२९७]मुचितं, पानकमिदं सुस्वादु सुरभीति संप्रत्ययात्। [५२९८]तद्वद् वस्तुनि न सदाद्यंश एव प्रतीतिविषयः तदंशिनो[५२९९] जात्यन्तरस्य प्रतीत्यभावापत्तेः। **तथा[५३००] चानवस्थादिदोषानुषङ्गः।** येनात्[५३०१]मना सत्त्वं तेनासत्त्वस्याप्यभ्युपगमे येन[५३०२] चासत्त्वं तेन कथञ्चित्सत्त्वानुमनने पुनः प्रत्येक[५३०३]मुभयरूपोपगमादनवस्था स्यात्। [५३०४]तथानभ्युपगमे नोभयस्वभावमशेषमिति ते[५३०५] प्रतिज्ञाविरोधः। येनात्मना [५३०६]सत्त्वं **तेनैवासत्त्वे विरोधो वैयधिकरण्यं वा शीतोष्णस्पर्शविशेषवव[५३०७]त्।** संकरव्यतिकरौ च, युगपदेकत्र सत्त्वासत्त्वयोः प्रसक्तेः। परस्परविषयगमनाच्च। संशयश्च, कथं सत्त्वं कथं चासत्त्वं वस्तुनीति निश्चयानुत्पत्तेः। [५३०८]अत

एवाप्रतिपत्तिरभावाश्चानुषज्यते [५३०९]ततः प्रतिपादितदोषान् परिजिहीर्षुभिः सर्वं वस्तु **तदिष्टं [५३१०]स्यादुभयं**, न पुनः [५३११]सर्वथा, स्यात्कारेण जात्यन्तरत्वस्यापि स्वीकरणात्।

३७१. तर्ह्यस्तीति न भणामि, नास्तीति च न भणामि, यदपि च भणामि तदपि न भणामीति दर्शनमस्त्विति [५३१२]कश्चित्, सोपि पापीयान्। तथाहि—**[५३१३]सद्भवेतराभ्यामनभिलाप्ये वस्तुनः, केवलं मूकत्वं जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारा[५३१४]योगात्। [५३१५]न हि [५३१६]सर्वात्मनानभिलाप्यस्वभावं [५३१७]बुद्धिरध्यवस्यति। न चानध्यवसेयं [५३१८]प्रमितं नाम, गृहीतस्यापि [५३१९]तादृशस्यागृहीतकल्पत्वात्, मूर्च्छा[५३२०]चैतन्यवदिति।** न हि निर्विकल्पकदर्शनप्रतिभासि वस्तु व्यवतिष्ठेत, येनानभिलपन्नपि तत् [५३२१]पश्येत्।

[५३२२]न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
[५३२३]अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे [५३२४]प्रतिष्ठितम्।।१।।
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
[५३२५]न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि [५३२६]प्रत्यवमर्शिनी।।२।।

इति [५३२७]दर्शनान्तरमप्यनालोचिततत्त्वम्; **[५३२८]सर्वात्मनाभिधेयत्वेपि प्रत्यक्षेतराविशेष[५३२९]प्रसङ्गात्।** चक्षुरादिशब्दादिसामग्रीभेदात्प्रत्यक्षेतरयोर्विशेष इति चेन्न, प्रत्यक्षादिव शब्दादेरपि वस्तुविशेषप्रतिपत्तेरविशेषसिद्धेः, प्रत्यक्षगोचरविशेषस्य शब्दागोचरत्वेऽनभिधेयत्वापत्तेः। [५३३०]प्रत्यक्षात्मकशब्दगोचरत्वात्तस्या[५३३१]प्यभिधेयत्वमेवेति चेत्तथैवानुमानागमज्ञानात्मकशब्दविषयत्व[५३३२]मस्तु।[५३३३] ततश्च प्रत्यक्षेतरयोः स्पष्टं विशेषप्रतिभासित्वसिद्धेरविशेषप्रसङ्गः। [५३३४]तयोर्विशेषे [५३३५]तदात्मकशब्दयोर्भेदप्रसङ्गात्कुतः शब्दाद्वैतसिद्धि ?

३७२. स्यान्मतम्—"अद्वय एव शब्दः केवलं [५३३६]प्रत्यक्षोपाधिः स्पष्टविशेषप्रतिभासात्मकः, [५३३७]शब्दाद्युपाधिः पुनरस्पष्टसामान्यावभासात्मकः, [५३३८]पीतेतरोपाधेः स्फटिकस्य पीतेतरप्रतिभासित्ववत्" इति, तदसत्, [५३३९]प्रत्यक्षेतरोपाधीनामपि शब्दात्मकत्वे [५३४०]भेदासिद्धेः, [५३४१]तदनात्मकत्वे शब्दाद्वैतव्याघातात्, [५३४२]तेषामवस्तुत्वे स्पष्टेतरप्रतिभासभेदनिबन्धनत्वविरोधात्। [५३४३]तत्प्रतिभासस्या[५३४४]प्यभेदे, स एव प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गः। **[५३४५]तथानभिधेयत्वेपि सत्येतरयोरभेदः स्यात्।** यत्सत्तत्सर्वमक्षणिकम्, क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, इत्यादेरिव वाक्यस्य [५३४६]यत्सत्तत् सर्वं क्षणिकमेव, नित्येत् क्रमाकमाभ्यामर्थक्रिपानुपपत्तेरित्यादेरपि वाक्यस्यासत्यत्व[५३४७]प्रसङ्गा[५३४८]द्विपर्यायानुङ्गाद्वा, सर्वथार्थसंस्पर्शि[५३४९]त्वाविशे[५३५०]षात् , कस्यचिदनुमानवाक्यस्य कथञ्चिदर्थसंस्पर्शित्वे सर्वथानभिधेयत्वविरोधात्। सोयं सौगतः **स्वपक्षविपक्षयोस्तत्त्वातत्त्वप्रदर्शनाय यत्किञ्चित्प्रणयन्[५३५२]— वस्तु सर्वथानभिधेयं [५३५३]प्रतिजानातीति किमप्येतन्महाद्भुतम्,** सर्वथाभिधेयरहितेनानुमानवाक्येन सत्यत्वासत्यत्वप्रदर्शनस्य प्रणेतुमशक्तेः,

साध्याभिधानात्पक्षोक्तिः पारम्पर्येण [५३५४]नाप्यलम्।
[५३५५]शक्तस्य [५३५६]सूचकं हेतुवचोऽशक्त[५३५७]मपि स्वयम्।। ( ) इति वचनात्।

३७३. स्वयं [५३५८]**तत्कृतां वस्तुसिद्धिमुपजीवति, न** [५३५९]**तद्वाच्यतां चेति** [५३६०]**स्वदृष्टिरागमात्रमनवस्थानुषङ्गात्,** [५३६१]वस्तुनोऽनुमानवाक्यवाच्यतानुपजीवने तत्कृतायाः [५३६२]सिद्धेरुपजीवनासंभवात्, [५३६३]अनभिमतप्रतिवादिवचनादपि तत्सिद्धिप्रसङ्गात्, स्वाभिधेयरहितादपि स्ववचनात्तत्त्वसिद्धिरुपजीव्यते, न पुनः परवचनादिति कथमप्यवस्थानासंभवात्। मद्वचनं [५३६४]वस्तुदर्शन[५३६५]वंशप्रभवं, न पुनः परवचनमिति स्वदर्शनानुरागमात्रं, न तु परीक्षाप्रधानम्, सर्वस्य वचसो विवक्षाविषयत्वाविशेषात्। ततो न सर्वथाभिधेयं वस्तुतत्त्वम्, नाप्यनभिधेयम्, बाधकसद्भावात्। किं तर्हि ? [५३६६]कथञ्चिदवाच्यमेव [५३६७]तवेष्टं कथञ्चित्सदेव, कथञ्चिदसदेव, कथञ्चिदुभयमेवेति [५३६८]तथा चशब्दात् [५३६९]कथञ्चित्सदवाच्यमेव, [५३७०]सर्वथाप्यसतोनभिधेयत्वधर्माव्यवस्थितेः, [५३७१]कथञ्चिदसदवाच्यमेव, [५३७२]सर्वथापि सतोनभिलाप्यत्वस्वभावासंभवात् [५३७३]तदभिलाप्यत्वस्यापि सद्भावात्, कथञ्चित्सदसदवाच्यमेव, स्वरूपपररूपाभ्यां सदसदात्मन एवावाच्यत्वधर्म[५३७४]प्रसिद्धेरित्यपि भङ्गत्रयं समुच्चितमाचार्यैः, 'अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः' इत्यग्रे स्वयं समर्थनात्। [५३७५]इह तत्प्रतिज्ञातस्य सिद्धेरप्रतिज्ञातस्य समर्थनाघटनात् [५३७६]कस्यचित्प्रतिज्ञातस्य सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि प्रतिज्ञातत्वोपपत्तेः। इति साधीयसी सप्तभङ्गी प्रतिज्ञा, [५३७७]तथा नैगमादिनययोगात्।

३७४. तत्र प्रथमद्वितीयभङ्गयोस्तावन्नययोगमुपदर्शयन्ति स्वामिनः—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव [५३७८]विपर्यासा[५३७९]न्न चेन्न व्यवतिष्ठते ।।१५।।

३७५. सर्वं चेतनमचेतनं वा द्रव्यं पर्यायादिवा भ्रान्तमभ्रान्तं वा स्वयमिष्टमनिष्टं वा सदेव, स्वरूपादिचतुष्टयात् को नेच्छेत् ? असदेव, पररूपादिचतुष्टयात् तद्विपर्ययात्को नेच्छेत् ? अपितु लौकिकः परीक्षको वा स्याद्वादी सर्वथैकान्तवादी वा सचेतनस्तथेच्छेदेव, प्रतीतेरपह्नोतुमशक्तेः। अथ स्वयमेवं प्रतीयन्नपि कश्चित्कुनयविपर्यासित[५३८०]मतिर्नेच्छेत्, स न क्वचिदिष्टे तत्त्वे व्यवतिष्ठेत, स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य, स्वरूपादिव पररूपादपि सत्त्वे चेतनादेरचेतनादित्वप्रसङ्गात्, तत्स्वात्मवत्। पररूपादिव स्वरूपादप्यसत्त्वे सर्वथा शून्यतापत्तेः। [५३८१]स्वद्रव्यादिव परद्रव्यादपि सत्त्वे द्रव्यप्रतिनियमविरोधात्। [५३८२]संयोग[५३८३]विभागादेरनेकद्रव्याश्र[५३८४]यत्वेपि [५३८५]तद्द्रव्यप्रतिनियमो न विरुध्यत एवेति चेन्न, [५३८६]तस्यानेकद्रव्यगुणत्वेनानेकद्रव्यस्यैव स्वद्रव्यात्वात्। [५३८७]स्वानाश्रयद्रव्यान्तरस्य परद्रव्य[५३८८]त्वात्ततोपि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रति[५३८९]नियमव्याघातस्य तदवस्थत्वात्। [५३९०]तथा परद्रव्यादिव स्वद्रव्यादपि [५३९१]कस्यचिदसत्त्वे सकलद्रव्यानाश्रयत्वप्रसङ्गात्, इष्टद्रव्याश्रयत्ववि[५३९२]रोधात्। [५३९३]तथा स्वक्षेत्रादिव परक्षेत्रादपि सत्त्वे कस्यचित्प्रतिनियतक्षेत्रत्वाव्यवस्थितेः। परक्षेत्रादिव स्वक्षेत्रादपि चासत्त्वे निःक्षेत्र[५३९४]तापत्तेः। तथा स्वकालादिव परकालादपि सत्त्वे प्रतिनियतकालत्वाव्यवस्थानात्। परकालादिव स्वकालादप्यसत्त्वे सकलकालासंभवित्वप्रसङ्गात्, [५३९५]क्व [५३९६]किं व्यवतिष्ठेत ? यतः स्वेष्टमिष्टतत्त्वव्यवस्था।

३७६. नन्वेवं[५३९७] स्वरूपादीनां[५३९८] स्वरूपाद्यन्तरस्याभावात्कथं व्यवस्था स्यात्, भावे वानवस्थाप्रसङ्गात्[५३९९]। सूदूरमपि गत्वा स्वरूपाद्यन्तराभावेपि कस्यचिद्[५४००] व्यवस्थायां किमनया[५४०१] प्रक्रियया स्वगृहमान्यया, यथाप्रतीति[५४०२] वस्तुव्यवस्थोपपत्तेः, इति कश्चित्सोपि वस्तुस्वरूपपरीक्षानभिमुखः, वस्तुप्रतीतेरेव तथा[५४०३] प्ररूपयितुमुपक्रान्तत्वात्। अन्यथा[५४०४] नानानिरङ्कुशविप्रतिपत्तीनां निवारयितुमशक्यत्वात्। वस्तुनो[५४०५] हि यथैवाबाधिता प्रतीतिस्तथैव स्वरूपम्, न च तत्ततोन्यदेव[५४०६] प्रतीयते येन स्वरूपान्तरमपेक्षेत[५४०७]। तथा[५४०८] प्रतीतौ वा तदुपगमेपि[५४०९] नानवस्था। यत्राप्रतिपत्ति[५४१०]स्तत्राव्यवस्थोपपत्तेः[५४११][५४१२]। तत्र जीवस्य तावत्सामान्येनोपयोगः स्वरूपम्, तस्य तल्लक्षणत्वात, 'उपयोगो लक्षणम्'[५४१३] (त.सू. २.८) इति वचनात्। ततोऽन्योनुपयोगः पररूपम्। ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतीयेते। तदुपयोगस्यापि विशेषतो ज्ञानस्य स्वार्थाकारव्यवसायः[५४१४] स्वरूपम्। दर्शनस्यानाकारग्रहणं स्वरूपम् ज्ञानस्यापि परोक्षस्यावैशद्यं[५४१५] स्वरूपम्। प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपम्। दर्शनस्यापि चक्षुरचक्षुर्निमित्तस्य[५४१६] चक्षुराद्यालोचनं स्वरूपम्। अवधिदर्शनस्यावध्यालोचनं स्वरूपम्, परोक्षस्यापि[५४१७] मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं[५४१८] स्वार्थाकारणग्रहणं स्वरूपम्। अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य स्वरूपम्। प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधिमनः-पर्ययलक्षणस्य मनोक्षानानपेक्षं स्पष्टात्मार्थग्रहणं[५४१९] स्वरूपम्। सकलप्रत्यक्षस्य[५४२०] सर्वद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपम्। ततोऽन्यत् सर्वं तु पररूपम्[५४२१]। ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतिपत्तव्ये[५४२२]। एवमुत्तरोत्तरविशेषाणामपि स्वपररूपे, तद्विद्भिरभ्यूह्ये, तद्विशेषप्रतिविशेषाणामनन्तत्वात्। द्रव्यक्षेत्रकालाभावविशेषाणामनेनैव[५४२३] प्रतिद्रव्यपर्यायं स्वपररूपे प्रतिपादिते।

३७७. ननु च जीवादिद्रव्याणां षण्णामपि किं स्वद्रव्यं किं वा परद्रव्यम्? यतः सदसत्त्वे व्यवतिष्ठेते, द्रव्यान्तरस्यासंभवात्[५४२४], इति चेत्, न तेषामपि शुद्धं सद्द्रव्यमपेक्ष्य सत्त्वस्य तत्प्रतिपक्षमसद्द्रवमपेक्ष्यासत्त्वस्य च प्रतिष्ठोपपत्तेः। शुद्धद्रव्यस्य[५४२६] स्वपरद्रव्यव्यवस्था कथम्? तस्य[५४२७] सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकत्वात्, तद्व्यतिरेकणान्यद्रव्याद्यभावात्[५४२८], इति चेत्, न, सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्ष्य सत्त्वस्य, तदभावमपेक्ष्या[५४२९]-सत्त्वस्य च व्यवस्थितेः, 'सत्ता सप्रतिपक्षा' इति वचनात्[५४३०]।

३७८. एतेन[५४३१] सकलक्षेत्रस्य नभसोनाद्यनन्ताखिलकालस्य च सकलक्षेत्रकालात्मनः[५४३२] प्रतिनियतक्षेत्र-कालात्मनश्च स्वपररूपत्वं निश्चितम्। अतः सदसत्त्वव्यवस्था। स्वरूपादिचतुष्टयादिति 'प्यखे[५४३३] कर्मण्युपसंख्यानात् का'। स्वरूपादिचतुष्टयमपेक्ष्य को नेच्छेत्सदेव सर्वमित्यर्थः। एतेनैव विपर्यासादिति[५४३४] व्याख्यातम्।

३७९. ननु स्वसत्त्वस्यैव परासत्त्वस्य प्रतीतेर्न वस्तुनि स्वपररूपादिसत्त्वासत्त्वयोर्भेदो, यतः प्रथमद्वितीयभङ्गौ घटेते, तदन्यतेरण गतार्थत्वात्। तदघटने च तृतीयादिभङ्गाभावात्कुतः सप्तभङ्गी? इति चेत्, न, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षाया स्वरूपभेदात्सत्त्वासत्त्वयोरेकवस्तुनि भेदोपपत्तेः, तयोरभेदे स्वरूपादिचतुष्टया-पेक्षयेव पररूपादिचतुष्टयापेक्षयापि सत्त्वप्रसङ्गात्, तदपेक्षयेव स्वरूपाद्यपेक्षयापि वाऽसत्त्वप्रसक्तेः। न चापेक्षाभेदात् क्वचिद्धर्मभेदप्रतीतिर्बाध्यते, बदरापेक्षया बिल्वे स्थूलत्वस्य मातुलिङ्गापेक्षया सूक्ष्मत्वस्य

प्रतीतेर्बाधकाभावात्। सर्वस्यापेक्षिकस्यावास्तवत्वे नीलनीलतरादेः सुखसुखतरादेश्चावास्तवत्वापत्तेर्विशदविशदतरादिप्रत्यक्षस्यापि कुतस्तात्त्विकत्त्वम्, यतो न संविदद्वैतप्रवेशः ? स चायुक्त एव, [५४३५]तद्व्यवस्थापकाभावात्।

३८० [५४३६]ततः **स्यात्सदसदात्मकाः पदार्थाः [५४३७]सर्वस्य सर्वाकरणात्। न हि पटादयो घटादिवत्क्षीराद्याहरणलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति घटादिज्ञानं वा। [५४३८]तदुभयात्मनि दृष्टान्तः सुलभः,** सर्वप्रवादिनां स्वेष्टतत्त्वस्य स्वरूपेण सत्त्वेऽनिष्टरूपेणासत्त्वे च विवादाभावात् तस्यैव च दृष्टान्ततोपपत्तेः।

३८१. ननु चैकत्र वस्तुनि सत्त्वमसत्त्वं च युक्तिविरुद्धम्, परस्परविरुद्धयोर्धर्मयोरेकाधिकरणत्वायोगात्, शीतोष्णस्पर्शवद्भिन्नाधिकरणत्वप्रतीतेः, इति चेत्, न, तयोः [५४३९]कथञ्चिदर्पितयोर्विरुद्धत्वासिद्धेस्[५४४०]तथा प्रतिपत्तिसद्भावाच्च। **[५४४१]शाब्देतरप्रत्यययोरेकवस्तुविषययोरेकात्मसमवेतयोः [५४४२]कारणविशेषवशात्[५४४३]परिवृत्तात्मनोः स्वभावभेदेपि [५४४४]कथञ्चिदेकत्वमस्त्येव, [५४४५]विच्छेदानुपलब्धेः।** न हि शाब्दप्रत्यक्षवेदनयोरस्पष्टेतरप्रतिभासनस्वभावभेदोऽसिद्धः, [५४४६]प्रतीत्यपह्नवप्रसङ्गात्। नापि तयोरेकवस्तुविषयत्वमेक[५४४७]द्रव्याश्रयत्वं चासिद्धम्, [५४४८]तत्रानु[५४४९]संधानप्रत्ययसद्भावात्, यदेव मया श्रुतं तदेव [५४५०]दृश्यते, य एवाहमश्रौषं स एव [५४५१]पश्यामीति प्रतीतेर्बाधकाभावात्। तयोर्द्रव्यात्मनैकत्वमस्त्येव, [५४५२]विच्छेदस्यानुपलक्षणात्। ननूपादानोपादेयक्षणयोस्[५४५३]तद्भावादेवानु[५४५४]संधानसिद्धेर्विच्छेदानुपलम्भेपि नैकत्वसिद्धिः, एकसंतानत्वस्यैव सिद्धेः, आत्मद्रव्यस्याभावात्, इति चेत्, न, [५४५५]तदभावे तयोरुपादानोपादेयतानुपपत्तेः। **उपादानस्य [५४५६]कार्यकाल[५४५७]मात्मानं [५४५८]कथंचिदनयतश्चिरतरनिवृत्ताविवादविशेषात्कार्योत्पत्तावपि व्यपदेशानुप[५४५९]पत्तेस्तादृशा[५४६०]स्वरूपैकत्वमस्त्येव।** [५४६१]न च सव्येतरविषाणवत्सर्वथासमानकालतोपादानोपादेययोर्यतस्तद्भवो विरुद्ध्येत, द्रव्यसामान्यापेक्ष[५४६२]या तयोरेकत्वमिति मननात्। **विशेषापे[५४६३]क्षया तु नास्त्येव** [५४६४]तादृशामेकत्वम्। **न हि पौरस्त्यः पाश्चात्यः स्वभावः पाश्चात्यो वा पौरस्त्यः।** नन्वेवमेकत्वं मा भूत्, पूर्वापरपरिणामानां क्रमस्यैवावस्थानात्, अक्रमस्य [५४६५]तद्विरुद्धत्वादिति न मन्तव्यं **[५४६६]यस्मान्निरपेक्षस्तत्र क्रमोपि प्रतिभासविशेष[५४६७]वशात्प्रकल्प्येत, [५४६८]तदेकत्वादक्रमः किन्न स्यात् ?** प्रतिभासैकत्वेपि तदक्रमानुपगमे प्रतिभासविशेष[५४६९]वशात्क्रमः कथमभ्युपगमार्हः स्यात् ? सर्वस्य यथाप्रतिभासं वस्तुनः प्रतिष्ठानात् प्रतिभासमानयोः क्रमाक्रमयोर्विरोधानवतरणाद्विरोधस्यानुपलम्भलक्षणत्वात्। न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोस्ति, येन सहानवस्थानलक्षणो विरोधः शीतोष्णस्पर्शविशेषवत्स्यात्। [५४७०]परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोधः सहैकत्राम्रफलादौ रूपरसयोरिव [५४७१]संभवतोरेव सदसत्त्वयोः स्यात्, न पुनर[५४७२]संभवतोः [५४७३]संभवदसंभवतोर्वा।

३८२. एतेन वध्यघातकभावोपि विरोधः फणिनकुलयोरिव बलवदबलवतोः प्रतीतः सत्त्वासत्त्वयोराशङ्कनीयः कथितः, तयोः समानबलत्वात्, इत्येतदग्रे [५४७४]प्रपञ्चयिष्यते।

३८३. **तदेकानेकाकारमक्रमक्रमात्मकमन्वयव्यतिरेकरूपं सामान्यविशेषात्मकं [५४७५]सदसत्परिणामं स्थित्युत्पत्तिविनाशात्मकं [५४७६]स्वप्रदेशनियतं स्वशरीरव्यापिनं त्रिकालगोचरमात्मानं परं वा कथञ्चित्साक्षात्करोति[५४७७] [५४७८]परोक्षयति वा केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिवत्[५४७९] तादृशैकचैतन्यं सुखादिभेदं वस्तु स्वतोऽन्यतः**

सजातीयविजातीयाद्विविक्तलक्षणं बिभर्ति । अन्यथा[५४८१]**ऽनवस्थानात् क्वचित्कथंचिदनियमः स्यात् ।** सर्वो हि लौकिकः परीक्षकश्च तावदेकमक्रमात्मकमन्वयरूपं सामान्यात्मकं[५४८२] सत्परिणामं स्थित्यात्मकमात्मानं परं वा बहिरर्थसंतानान्तराख्यं[५४८३] द्रव्यापेक्षया साक्षात्करोति, लिङ्गशब्दादिना[५४८४] परोक्षयति वा, भावापेक्षया[५४८५] पुनरनेकाकारं क्रमात्मकं[५४८६] व्यतिरेकरूपं[५४८७] विशेषात्मकमसत्त्वपरिणाममुत्पत्तिविनाशात्मकं[५४८९] [५४९०], क्षेत्रापेक्षया स्वप्रदेशनियतं[५४९१] निश्चयनयतः, स्वशरीरव्यापिनं व्यवहारनयतः, कालापेक्षया त्रिकालगोचरम् । कथं पुनरीदृशमात्मानं परं वा साक्षात्करोति कथं वा परोक्षयति द्रव्याद्यपेक्षयेति चेत्, उच्यते—साक्षात्करणयोग्यद्रव्याद्यात्मना[५४९२] मुख्यतो[५४९३] व्यवहारतो वा विशदज्ञानेन साक्षात्करणयोग्यद्रव्याद्यात्मना मुख्यतो व्यवहारतो वा विशदज्ञानेन साक्षात्करोति[५४९४], परोक्षज्ञानयोग्यद्रव्याद्यात्मना[५४९५] अनुमानादिप्रमाणेनाविशदेन परोक्षयति—

> **प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः**[५४९६] **।**
> **परोक्षं शेषविज्ञानं**[५४९७] **प्रमाणे**[५४९८] **इति संग्रहः ।।** (लघीय०-३)

इति संक्षेपतः प्रत्यक्षपरोक्षयोरेव वस्तुपरिच्छित्तौ व्यापारवचनात् ।

३८४. कथं तर्हि[५४९९] केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिः[५५००] पुरुषो दृष्टान्तः समः स्यात्, इति चेत्, केशमशकमक्षिकादिप्रतिभासात्मना सत्त्वपरिणामं साक्षात्कुर्वन् विवेकाद्यात्मना च कुतश्चिदनुमिन्वन्नुपशृण्वन्वा[५५०१] परोक्षयन्, अविवेकादिव्यामोहप्रतिभासात्मना[५५०२] चासत्त्वपरिणामं कथञ्चित्तु[५५०३] साक्षात्कुर्वन् परोक्षयंश्च सम एव स दृष्टान्तः, तथा वैषम्याभावात् ।

३८५. ननु च तद्वस्तु[५५०४] चैतन्यमेवैकमक्रमादिरूपं[५५०५] बिभर्ति, न पुनः सुखादिभेदमनेकाकारं क्रमाद्यात्मकम्, सजातीयाच्चेतनवस्तुनो विजातीयाच्चाचेतनवस्तुनो विविक्तस्वरूपम् । तमेव[५५०६] वा बिभर्ति तादृशं[५५०७], न पुनश्चैतन्यम्[५५०८], तत्त्वत[५५०९] इत्यभ्युपगमयोरेकतरानवस्थाने[५५१०]ऽन्यतरस्याप्यनवस्थानादुभयानवस्थिति-प्रसङ्गात् । क्वचिदभ्युपगते[५५११] रूपे कथंचित्प्रत्यक्षादिप्रकारेण स्वाभ्युपगमादिप्रकारेण च नियमासंभवात्[५५१२] । सूक्तम्—"ईदृशं[५५१३] न चेन्न व्यवतिष्ठते' इति ।

तदेवं प्रथमद्वितीयभङ्गौ निर्दिश्य तृतीयादिभङ्गान्निर्दिशन्ति भगवन्तः—

> **क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं**[५५१४] **सहावाच्यमशक्तितः**[५५१५] **।**
> **अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो**[५५१६] **भङ्गाः स्वहेतुतः**[५५१७] **।।१६।।**

३८६. क्रमार्पितात्स्वपररूपादिचतुष्टयद्वयात्कथंचिदुभयमिति[५५१८] द्वैतं वस्तु, द्वाभ्यां सदसत्त्वाभ्यामितिरयैव[५५१९] द्वीतत्वात्[५५२०], स्वार्थिकस्याणो विधानाद् द्वैतशब्दस्य सिद्धेः । स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया सह[५५२१] वक्तुमशक्तेरवाच्यम्, तथाविधस्य[५५२२] पदस्य वाक्यस्य वा कस्यचिदभिधायकस्यासंभवात् । सदसदुभयभङ्गास्त्ववक्तव्योत्तराः[५५२३] शेषाः पञ्चमषष्ठसप्तमाः, चतुर्थ्यो ऽन्यत्वात् । ते च स्वहेतुवशान्निर्देष्टव्याः । तद्यथा—कथञ्चित्सदवक्तव्यमेव, स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः । कथंचिदसदवक्तव्यमेव, पररूपादिचतुष्टयोपेक्षत्वे संति

सह—वक्तुमशक्तेः। कथंचित्सदसदक्तव्यमेव, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः। सदसदुभयत्वधर्मेष्वन्यतमापाये वस्तुन्यवक्तव्यत्वधर्मानुपपत्तेः। तेषां[५५२५] तत्र सतामप्यविवक्षायां केवलस्यावक्तव्यत्वस्य भङ्गस्य वचनाद्विरोधानवकाशः।

३८७. ननु च क्रमार्पितद्वयात्तावद् द्वैतं वस्तु। तत्तु स्वरूपादित एव सत् पररूपादित एवासत्, न पुनस्तद्विपर्ययादिति[५५२६] कुतोऽवसितमति चेत्, उच्यते, **स्वपररूपाद्यपेक्षं सदसदात्मकं वस्तु, न विपर्यासेन, तथाऽदर्शनात्[५५२७]।** सकलजनसाक्षिकं हि स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सत्त्वस्य पररूपादिचतुष्टयापेक्षया चासत्त्वस्य दर्शनम्, तद्विपरीतप्रकारेण चादर्शनं वस्तुनीति तत्प्रमाणयता[५५२८] तथैव वस्तु प्रतिपत्तव्यम्[५५२९], अन्यथा प्रमाणप्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः।

३८८. **कल्पयित्वापि[५५३०] तज्जन्मरूपाध्यवसायान्[५५३१] स्वानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणं[५५३२] दर्शनं प्रमाणयितव्यम्[५५३३]। तथाहि[५५३४]—बुद्धिरियं[५५३५] यया प्रत्यासत्त्या[५५३६] कस्यचिदेवाकारमनुकरोति तया तमेवार्थं नियमेनोपलभेत नान्यथा, पारम्पर्यपरिश्रमं परिहरेत्।**

३८९. ननु[५५३७] तज्जन्म[५५३८]तद्रूप[५५३९]तदध्यवसायेषु सत्सु नीलादौ दर्शनं प्रमाणमुपलभते, तदन्यतमापाये तस्य प्रमाणत्वाप्रतीतेरिति चेत्, न, तदभावेपि स्वानुपलम्भव्यावृत्तिसद्भावादेव[५५४०] प्रमाणत्वप्रसिद्धिः, तज्जन्मनश्चक्षुरादिभिर्व्यभिचारात्[५५४१]तद्रूपस्य[५५४२] सन्तानान्तरसमानार्थविज्ञानेनानेकान्तात्[५५४३], तद्द्वयलक्षणस्य[५५४४] समानार्थसमनन्तरप्रत्ययेनानैकान्तिकत्वात्[५५४५], **त्रिलक्षणस्यापि[५५४६] विभ्रमहेतुफलविज्ञानैर्व्यभिचारात्[५५४७],** कमलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानादुत्पन्नस्य तद्रूपस्य[५५४८] तदाकाराध्यवसायिनोपि ज्ञानस्य स्वसमनन्तरप्रत्यये[५५४९] प्रमाणत्वाभावात्[५५५०]। **तदनभ्युपगमे[५५५१] स्वाभ्युपगमासिद्धेः[५५५२] किंसाधनः परमुपालभेत[५५५३],** यतोऽवश्यं दर्शनं नियतस्वविषयानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणं[५५५४] परं[५५५५] विषयानुपलम्भात्मकं न प्रमाणयेत्। न हि स्वयं[५५५६] प्रमाणानभ्युपगमे स्वार्थप्रतिपत्तिः[५५५७]। न चाप्रतिपन्नमर्थं[५५५८] परस्मै प्रतिपादयितुमीशः[५५५९] परमुपालब्धुं[५५६०] वा पराभ्युपगतस्यापि प्रमाणस्य प्रतिपत्तेरयोगात्[५५६१], पराभ्युपगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्[५५६२]। **तदेकोपलम्भनियमः[५५६३] स्वपरलक्षणाभ्यां[५५६४][५५६५] भावाभावात्मानं प्रसाधयति। तदभावे[५५६६] न प्रवर्तेत नापि निवर्तेत प्रमाणान्तरवत्[५५६७][५५६८]।** स्वस्यार्थस्य चैकस्यैवोपलम्भो[५५६९] हीतरस्यानुपलम्भः[५५७०], तस्य[५५७१] विधायक एवान्यस्य निषेधकः, तत्र[५५७२] प्रवर्तक एव वा परत्र निवर्तकः, इति तदेकोपलम्भनियमात्[५५७३]कस्यचित्[५५७४] प्रवृत्तिनिवृत्ती सिध्यतः। तदभावे[५५७५] सन्तानान्तरप्रमाणादिवत् प्रवर्तकात्र[५५७६] कश्चित्प्रवर्तेत निवर्तकाच्च न निवर्तेत, अप्रमाणात्प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा प्रमाणान्वेषणस्य वैयर्थ्यादतिप्रसङ्गाच्च[५५७७]। ततः प्रमाणं प्रत्यक्षमन्यद्वा स्वार्थोपलम्भात्मना परार्थनुपलम्भात्मना च क्रमार्पितेन सदसदात्मकं[५५७८] सिद्धम्। तद्वत्प्रमेयमपि। इति सर्वं वस्तु क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं को नेच्छेत? सर्वस्य विप्रतिपत्तुमशक्तेरनिच्छतोपि तथा संप्रत्ययात्।

३९०. कथमवक्तव्यं सर्वमिति[५५७९] चेत्, उच्यते, **निष्पर्यायं[५५८०] भावाभावावभिधानं[५५८१] नाञ्जसैव[५५८२] विषयीकरोति, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्[५५८३],** सर्वस्य पदस्यैकपदार्थविषयत्वप्रसिद्धेः[५५८४], सदिति पदस्यासदविषयत्वात्,

असदिति पदस्य च सदविषयत्वात्, अन्यथा[५५८५] तदन्यतर[५५८६]पदप्रयोगप्रसंगात्[५५८७], गौरिति पदस्यापि दिगाद्यनेकार्थविषयतया प्रसिद्धस्य तत्त्वतोनेकत्वात्[५५८८]सादृश्योपचारादेव तस्यैकत्वेन व्यवहरणात्, अन्यथा सर्वस्यैकशब्दवाच्यत्वापत्तेः, प्रत्येकम्[५५८९]प्यनेक[५५९०]शब्दप्रयोगवैफल्यात्। यथैव हि शब्दभेदाद्ध्रुवोऽर्थभेदस्तथार्थभेदादपि शब्दभेदः सिद्ध एव, अन्यथा वाच्यवाचकनियमव्यवहारविलोपात्। एतेनैकस्य वाक्यस्य युगपदनेकार्थविषयत्वं प्रत्याख्यातं, स्यात्सदसदेव सर्वं स्वपररूपादिचतुष्टयाभ्यामिति वाक्यस्या[५५९१]पि क्रमार्पितोभयधर्मविषयतयोररीकृतस्योपचारा[५५९२]देवैकत्वाभिधानात्। तत्रोभयप्रधानस्य क्रमशो विवक्षितस्य सदसच्छब्दाभ्यां द्वन्द्ववृत्तौ तद्वाक्ये वा स्वपदार्थप्रधानाभ्यामभिधानाद्वा न दोषः, सर्वस्य वाक्यस्यैकक्रिया[५५९३]प्रधानतयैकार्थविषयत्वप्रसिद्धेः। सिद्ध[५५९४]मेकार्थनिवेदनशक्तिस्वभावत्वं शब्दस्य, **वचनसूचनसामर्थ्यविशेषानतिलङ्घनात्**। सदिति शब्दस्य हि सत्त्वमात्रवचने सामर्थ्यविशेषो, नासत्वाद्यनेकधर्मवचने, स्यादिति शब्दस्य च [५५९५]वाचकस्यानेकान्तमात्रवचने सामर्थ्यविशेषो न पुनरेकान्तवचने, तस्यैव[५५९६] द्योतकस्या[५५९७]विवक्षिताशेषधर्मसूचने सामर्थ्यविशेषो न पुनर्विक्षितार्थवचने[५५९८], तद्वाचक[५५९९]शब्दप्रयोगवैयर्थ्यप्रसक्तेः। न चैवं विधिवचन[५६००]सूचनसामर्थ्यविशेषमतिक्रम्य प्रवर्तमानः शब्दः प्रसिद्धवृद्धव्यवहारेषूपलभ्यते, यतो निष्पर्यायं[५६०१] भावाभावावभिदधीत[५६०२]।

३९१. स्यान्मतम्—यथासङ्केतं शब्दस्य प्रवृत्तिदर्शनात् सह सदसत्त्वधर्मयोः संकेतितः शब्दस्तद्वाचको न विरुध्यते संज्ञा[५६०३]शब्दवत् इति, तदयुक्तम्, **सङ्केतानुविधाने[५६०४]पि कर्तृकर्मणोः[५६०५] शक्त्यशक्त्योरन्यतर[५६०६]-व्यपदेशार्हत्वादयो[५६०७] दारुवज्रलेखनवत्[५६०८]**। न हि यथाऽयसो दारुलेखने कर्तुः शक्तिस्तथा वज्रलेखनेस्तिं, यथा वा वज्रलेखने तस्या[५६०९]शक्तिस्तथा दारुलेखनेपीति शक्यं वक्तुम्। नापि यथा दारुणः कर्मणोऽयसालेख्यत्वे शक्तिस्तथा[५६१०] वज्रस्यास्ति[५६११], यथा वा वज्रस्य तत्राशक्तिस्तथा दारुणोपीति निश्चयः, क्वचित्कस्यचित्[५६१२]कर्तृकर्मणोः शक्त्यो[५६१३]रशक्त्योश्च[५६१४] प्रतिनियततया व्यवस्थितत्वात्। तथा शब्दस्यापि सकृदेकस्मिन्नेवार्थे प्रतिपादनशक्तिर्न पुनरनेकस्मिन् सङ्केतस्य[५६१५] तच्छक्ति[५६१६]व्यपेक्षया तत्र प्रवृत्तेः। सेनावनादिशब्दस्यापि नानेकत्रार्थे प्रवृत्तिः, करितुरगरथपदातिप्रत्यासत्तिविशेषस्यैकस्य सेनाशब्देनाभिधानात्। वनयूथपङ्क्तिमालापानकग्रामादिशब्दानामप्येतेनैवानेकार्थप्रतिपादनपरत्वं प्रत्याख्यातम्। कथमेवं वृक्षाविति पदं द्व्यर्थं[५६१७] वृक्षा इति च बह्वर्थमुपपद्यते इति चेत्, केषाञ्चिदे[५६१८]कशेषारम्भात्[५६१९] परेषां[५६२०] स्वाभाविकत्वाद[५६२१]भिधानस्येति संगिरामहे। तत्रैकशेषपक्षे द्वाभ्यामेव वृक्षशब्दाभ्यां वृक्षद्वयस्य, बहुभिरेव च वृक्षशब्दैर्बहूनां वृक्षाणामभिधानान्नैकस्य शब्दस्य सकृदनेकार्थविषयत्वं, शिष्टलुप्तशब्दयोः[५६२२] सारूप्यादभिधेयसाम्याच्चैकत्वोपचारादेकशब्दप्रयोगोपपत्तेः। स्वाभाविकत्त्वे[५६२३] त्वभिधानस्य[५६२४] वृक्षशब्दो द्विबहुवचनान्तः। स्वभावत[५६२५] एव स्वाभिधेयमर्थं द्वित्वबहुत्वविशिष्टमाचष्टे, तथा[५६२६] सामर्थ्यात्, अन्यथा शब्दव्यवहारानुपपत्तेः।

३९२. ननु च वृक्षा इति प्रत्ययवती प्रकृतिः पदम्। तस्य वाच्यमनेकमेकं च स्याद्वादिभिरिष्यते, न पुनरेकमेव। तथा चोक्तम्—

"अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा[५६२७] इति प्रत्ययवत् प्रकृत्या[५६२८]" इति कश्चित्; (स्वय०)

३९३. सोप्येवं प्रष्टव्यः, किमेकमनेकं च सकृत्प्रधानाभावेन पदस्य वाच्यमाहोस्विद्गुणप्रधानभावेन ? इति, न तावत्प्रथमः पक्षः, तथा प्रतीत्यभावात् । वृक्षद्रव्यं हि वृक्षत्वजातिद्वारो वृक्षशब्दः प्रकाशयति, ततो[५६२९] लिङ्गं[५६३०] संख्या[५६३१] चेति शाब्दी प्रतीतिः क्रमत एव । तदुक्तम्—

स्वार्थमभिधाय शब्दो[५६३२] निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।
समवेतस्य तु वचने[५६३३] लिङ्गं संख्यां विभक्तीश्च ।। (इति)

३९४. प्रधानभावेन च वृक्षार्थः प्रतीयते, बहुत्वसंख्या तु गुणभावेनेति न कस्यचिद्विरोधः, प्रधानगुणभावपक्षस्यैवाभिमतत्वात्[५६३४], स्यादिति निपातेनानेकस्य धर्मस्याकाङ्क्षणे[५६३५]नैकस्यैव प्रधानस्य गुणानपेक्ष[५६३६]स्यापवदनात्[५६३७], सर्वस्य वाचकतत्त्वस्य गुणप्रधानार्थत्वात्, वाच्यतत्त्वस्य च तथाभूतत्त्वात्[५६३८] । तदुक्तम्—

आकाङ्क्षिण[५६३९]: स्यादिति[५६४०] वै निपातो गुणानपेक्षे[५६४१] नियमे[५६४२]ऽपवादः[५६४३] ।
गुणप्रधानार्थमिदं[५६४४] हि वाक्यं जिनस्य ते तद्द्विषतामपथ्यम् ।। (स्वय)

३९५. नन्वेवं[५६४५] प्रधानभावेनाशेषधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रकाशकं प्रमाणवाक्यं कथमुपपद्येत, येन सकलादेशः प्रमाणाधीनः स्यात्, इति चेत्, कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च द्रव्यपर्याय[५६४६]नयार्पितेन सकलस्य[५६४७] वस्तुनः कथनात्, इति ब्रूमः[५६४८] । द्रव्यार्थिकनयात्[५६४९]तावदेकस्यैव द्रव्यस्यानन्तपर्यायात्मकस्यादेशः[५६५०] प्रमाणवाक्यं नानेकार्थम्[५६५१], पर्यायनयाच्च सकलपर्यायाणां कालादिभिरभिन्नानाम[५६५२]भेदोपचारादुपचरितमेकमेव वस्तु प्रमाणवाक्यस्य विषय इति न किंचिद्वाक्यं पदवदनेकार्थं सकृत् प्रधानभावेन विभाव्यते[५६५३], संकेतसहस्रेणापि[५६५४] वाचकवाच्ययोः कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरनतिलङ्घनार्हत्वात्[५६५५]कारणकार्यवत्, इत्यनवद्यम् । **अन्यथाऽचाक्षुषत्वादयः शब्दादिधर्मा न भवेयुः ।** शक्यं हि वक्तुम्, 'रूपवच्च[५६५६]क्षुर्ज्ञानजननशक्तियुक्तः शब्दश्चाक्षुष एव, रसवच्च रसनज्ञानजननसमर्थो रासनो[५६५७] गन्धादिवच्च घ्राणादिज्ञानजननपटुर्घ्राणीयादिः[५६५८], इति न तस्याचाक्षुषत्व[५६५९]रासनत्वाघ्राणीयत्वादयो धर्माः स्युः, अश्रावणत्वादय[५६६०]श्च रसादि[५६६१]धर्मा[५६६२] न भवेयुः । **अतो यावन्ति[५६६३] पररूपाणि[५६६४] तावन्त्येव प्रत्यात्मं[५६६५] स्वभावान्तराणि[५६६६], तथा परिणामात्,** शब्दादीनामन्यथास्वरूपायोगात् । यदि पुनश्चक्षुरादिविज्ञानोत्पादनाऽशक्त्यतिक्रमस्य सर्वदाप्यसंभवादचाक्षुषत्वादयः शब्दादिधर्मा एव श्रावणादिज्ञानजननशक्त्यनतिक्रमाच्छ्रावणत्वादिवत्, इति मतं तदा सदादिपदस्य सत्त्वाद्येकधर्मप्रतिपादनशक्त्यनतिक्रमात् प्रधानभावार्पिता[५६६७]नेकधर्माभिधानाशक्त्यनतिलङ्घनाच्च नानेकार्थः[५६६८] सकृत्संभवतीत्यनुमन्यताम् । स्यादवक्तव्यमेव[५६६९] सर्वम्, युगपद्वक्तुमशक्तेरिति भङ्गचतुष्टयमुपपन्नम् ।

३९६. **द्रव्यपर्यायौ[५६७०] व्यस्तसमस्तौ[५६७१] समाश्रित्य चरमभङ्गत्रयव्यवस्थानम् ।** व्यस्तं[५६७२] द्रव्यं[५६७३] द्रव्यपर्यायौ समस्तौ सहार्पितौ समाश्रित्य स्यात्सदवक्तव्यमेव[५६७४] सर्वमिति वाक्यस्य प्रवृत्तिः, द्रव्याश्रयणे सदंशस्य[५६७५] सह द्रव्यपर्यायाश्रयणे वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य विवक्षितत्वात् । तथा व्यस्तं पर्यायं[५६७६] समस्तौ (सहार्पितौ) द्रव्यपर्यायौ चाश्रित्य स्यादसदवक्तव्यमेव सर्वमिति वचनव्यवहारः । व्यस्तौ क्रमार्पितौ समस्तौ सहार्पितौ द्रव्यपर्यायौ समाश्रित्य स्यात्सदसदवक्तव्यमेव सर्वमिति शब्दप्रवृत्तिः स्याद्वादाश्रयणव्याख्यानात्[५६७७], एवमेव

चरमभङ्गत्रयस्य व्यवस्थानात्। परमतापेक्षया तु [५६७८]सत्सामान्यमन्वयि द्रव्यमाश्रित्य सदवक्तव्यमेव, [५६७९]स्वलक्षणलक्षणं [५६८०]विशेषं पर्यायमाश्रित्य[५६८१]ान्यापोह[५६८२]सासान्यम[५६८३]सदवक्तव्यमेव, [५६८४]सामान्यविशेषौ तु परस्परमत्यन्तं भिन्नौ द्रव्यपर्यायौ समुदितौ समाश्रित्य [५६८५]सदसदवक्तव्यमेवेति व्याख्यानमकलङ्कदेवैर्व्यधायि। [५६८६]तत्र [५६८७]वस्तु [५६८८]सत्सामान्यं कथं सदप्यवक्तव्यमिति चेत्तस्य [५६८९]पराभ्युपगमात्, सतोपि वचनानुपपत्तेः।

३९७. **न खलु [५६९०]सर्वात्मना सामान्यं [५६९१]वाच्यं, तत्प्रतिपत्तेरर्थक्रियां प्रत्युनपयोगात्। न हि [५६९२]गोत्वं वाहदोहादावुपयुज्यते,** स्वविषयज्ञानमात्रेऽपि [५६९३]तस्याऽसामर्थ्यात्। व्यक्तिसहितस्य सामान्यस्य [५६९४]तत्र सामर्थ्येपि न प्रतिपन्नसकलव्यक्तिसहितस्य सामर्थ्यम्, असर्वज्ञस्य सकलव्यक्तिप्रतिपत्तेः सकृदसंभवात्। अप्रतिपन्नाखिलव्यक्तिभिः [५६९५]सहितस्य [५६९६]सामर्थ्ये पुनरेकव्यक्तेरप्यग्रहणे सामान्यज्ञान[५६९७]प्रसङ्गः। कतिपयव्यक्तिसहितस्य [५६९८]सामर्थ्ये तस्य [५६९९]ताभिरुपकारानुपकारविकल्पद्वया[५७००]नतिक्रमः। [५७०१]प्रथमविकल्पे सामान्यस्य व्यक्तिकार्यत्व[५७०२]प्रसङ्गः [५७०३]तदभिन्नस्योपकारस्य करणात्। ततो [५७०४]भिन्नस्य करणे [५७०५]व्यपदेशासिद्धिः। तत्कृतोपकारेणापि [५७०६]तस्योपकारान्तर[५७०७]करणेऽनवस्थानम्। द्वितीयविकल्पे [५७०८]व्यक्तिसहभाववैयर्थ्यम्, [५७०९]अकिञ्चित्करसहकारिविरहात्। सामान्येन सहैकज्ञाने व्यापाराद्व्यक्तीनां तत्सहकारित्वेपि किमालम्बनभावेन [५७१०]तत्र [५७११]तासां [५७१२]व्यापारोऽधि[५७१३]पतित्वेन वा? प्राच्यकल्पनायामेकानेकाकारं सामान्यविशेषज्ञानं स्यान्न पुनरेकसामान्यज्ञानं, स्वालम्बनानुरूपत्वात्सकलविज्ञान[५७१४]स्य। द्वितीयकल्पनायां तु व्यक्तीनामनधिगमेऽपि सामान्यज्ञानप्रसङ्गः। न हि रूपज्ञाने चक्षुषोधिगतस्याधिपतित्वेन व्यापारोस्त्यपूर्व[५७१५]स्य वा। सर्वथा नित्यस्य सामान्यस्य क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च न तस्य [५७१६]कस्याञ्चिदर्थक्रियायामुपयोगो यतस्तत्प्रतिपादनाय शब्दप्रयोगः स्यात्। [५७१७]ततो [५७१८]नार्थे कस्यचित्[५७१९]प्रवृत्तिरुपपद्येत।

३९८. **[५७२०]लक्षितल[५७२१]क्षणया वृत्तिः कथंचिदतादात्म्ये न भवेत्, संबन्धान्तरा[५७२२]सिद्धेः कार्मुकादिवत्।** न हि यथा कार्मुकपुरुषयोः संयोगः संबन्धः सिद्धस्तथा सामान्यविशेषयोरपि। न च समवायः पदार्थान्तर[५७२३]भूतः, तत्प्रतीत्यभावात्। प्रतीयमानस्तु समवायः कथंचित्तादात्म्यमेव, अविष्वग्भावलक्षणत्वात्त[५७२४]स्य, [५७२५]इति शब्देन लक्षितं सामान्यं विशेषात् लक्षयति। [५७२६]ततस्तत्रा[५७२७]र्थे क्रियार्थिनः प्रवृत्तिरसंबधान्नोपपद्येत, संयोगसमवायव्यतिरिक्तस्य संबन्धान्तरस्यासिद्धेः। विशेषणविशेष्य[५७२८]भावः संबन्धान्तरमिति चेन्न, [५७२९]तस्यापि स्वसंबन्धिव्यतिरेकैकान्ते संबन्धान्तरापेक्षणस्यावश्यं भावादनवस्थाप्रसङ्गात्, तस्य कथंचित्स्वसंबन्धिता[५७३०]दात्म्ये [५७३१]स्वसिद्धान्तविरोधात्। एतेनाविनाभावः संबन्धस्त[५७३२]योः प्रत्युक्तः। सामान्यविशेषयोः सामान्यविशेषभाव एव संबन्ध इत्यपि मिथ्या, कथञ्चिदतादात्[५७३३]म्ये तदनुपपत्[५७३४]तेः, सह्यविन्ध्यवत्।

३९९. तत्र नित्यसर्वगतामूर्तैकरूपं सामान्यं सर्वथा व्यक्तिभ्यो भिन्नमन्यद्[५७३५]वा वाच्यम्, [५७३६]अर्थक्रियायां [५७३६]साक्षात्परम्परया चानुपयोगात्। **तादृशोनुपलम्भात्[५७३७]संकेतो[५७३८]पि न सिध्येत्।** न [५७३९]चासंकेतितमपि सामान्यं वाच्यं नाम, अतिप्रसङ्गात्। **सतापि [५७४०]तादृशान्य[५७४१]व्यावृत्यात्मना भवितव्यम्, अन्यथा [५७४२]विशेषवत्स्वभावहानिप्रसङ्गात्, विशेषाणां [५७४३]वा तद्व[५७४४]त्ततो व्यावृत्तेः।** परापरसामान्ययोः परस्परं [५७४५]स्वाश्रयाच्च

कथंचिदव्यावृत्तौ स्वरूपसंकरात्प्रतिनियतस्वभावहानेरवश्यंभावाद्विशेषवत्[५७४६], तद्वतोर्थस्याप्यभाव इति सर्वाभावः प्रसज्येत। सामान्य[५७४७]वादिनां तदभ्युपगममात्रात्सदप्यवक्तव्यमेव सामान्यम्।

४००. तथा स्वलक्षणैकान्तवादिनां न स्वलक्षणं वाच्यं, तस्यानन्त्यात्सं[५७४८]केताविषयत्वा[५७४९]दनन्वयाच्छब्दव्यवहारायोग्यत्वात्। **न चान्यापोहः[५७५०] सर्वथार्थः[५७५१] शब्दस्य विकल्पस्य[५७५२] वा,** [५७५३]स्वविषयविधिनिरपेक्षस्य गुणभावेनाप्यन्यापोहस्य शब्देन वक्तुमशक्तेर्विकल्पेन च निश्चयनायोगात्। [५७५४]साधनवचनमेव त्रिरूप[५७५५]लिङ्गप्रकाशकम्, न ततो[५७५६]ऽन्यद्वचनम्[५७५७], तस्य[५७५८] विवक्षामात्रेपि संभावनाया एवोपगमा[५७५९]दिति चेन्न[५७६०], तस्याप्यन्यापोहमात्रा[५७६१]र्थत्वात् 'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु[५७६२] विधिनोच्यते[५७६३]' इति वचनात्। सत्यपि च **साधनवचनेन नित्यत्वसमारोपव्यवच्छेदे स्वलक्षणस्यानित्यत्वा[५७६४]सिद्धौ साधनवचनानर्थक्यात्।** न शब्दस्य परार्थानुमानरूपस्य विकल्पस्य वा स्वार्थानुमानज्ञानरूपस्य सर्वथान्यापोहोऽर्थः[५७६५] श्रेयान्। [५७६६]यत्सत्तत्सर्वमनित्यं नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, इति साधनवचनेन नित्यत्वसमारोपव्यवच्छेद एव स्वलक्षणस्यानित्यत्वसिद्धिः, अतो न तस्यानर्थक्यम्[५७६७], इति चेत्, कथमित्थं[५७६८] सर्वथान्यापोहोऽर्थः समर्थ्यते, स्वलक्षण[५७६९]क्षणक्षयस्य विधानात्[५७७०]। दृश्यविकल्प्ययोः[५७७१] स्वलक्षणसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायात् [५७७२]तत्क्षणक्षयस्य विधिः[५७७३], न पुनर्वस्तुनः[५७७४] सर्वथा विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसंस्पर्शाभावात्, इति चेत्, न[५७७५], स्वलक्षणसामान्ययोरे[५७७६]कत्वाध्यवसायिना विकल्पेन स्वलक्षणस्याग्रहणात्, अगृहीतेन सह [५७७७]सामान्यस्यैकत्वाध्यवसायसंभवात्, अन्यथातिप्रसङ्गात्[५७७८]। प्रत्यक्षतः प्रमितेन स्वलक्षणेन तस्यैकत्वा[५७७९]ध्यवसानमिति चेत्, न, नन्वेवं **विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसंस्पर्शाभावे स्वलक्षणदर्शनस्याकृतनिर्णयस्य[५७८०] वस्तुसन्निधेरविशेषात् किं केन प्रमितं स्यात्? न हि मिथ्याध्यवसायेन तत्त्वव्यवस्था,** संशयविपर्यासकारिणापि दर्शनेन[५७८१] स्वलक्षणस्य प्रमितत्वप्रसङ्गात्। वस्तुसंस्पर्शाभावाविशेषेपि[५७८२] निर्णयस्य[५७८३] जनकं दर्शनं स्वलक्षणस्य प्रमाणं, न पुनः संशयादेरिति वदन्ना[५७३०]त्मनोऽनात्मज्ञतामावेदयति।

४०१. ननु च निर्णयेन दर्शनविषय[५७८५]समारोपस्य व्यवच्छेदात्तज्जनकं[५७८६] दर्शनं प्रमाणं, न तु संशयादेर्जनकं, तेन[५७८७] तदव्यवच्छेदात्, असमारोपितांशे[५७८८] दर्शनस्य प्रमाण्यात् 'क्वचिद्[५७८९] दृष्टेपि यज्ज्ञानं सामान्यार्थ[५७९०] विकल्पकम्। असमारोपितान्यांशे[५७९१] तन्मात्रापोहगोचरम्[५७९२]॥' इति वचनान्नोक्तोपालम्भ इति चेन्न, समारोपव्यवच्छेद[५७९३]विकल्पस्य स्वसंवेदनव्यवस्थानेपि विकल्पान्तरापेक्षत्वप्रसङ्गात्, नीलादिस्वलक्षणदर्शनवत्[५७९४], निर्विकल्पकत्वाविशेषात्[५७९५]।

४०२. **वस्तुदर्शन[५७९६]समारोपव्यवच्छेदयोरन्यतरस्यापि स्वतस्तत्त्वापरिनिष्ठितौ[५७९७]वितरेतराश्रयदोषः,** [५७९८]समारोपो हि येन व्यवच्छिद्यते स निश्चयः[५७९९]। स्वरूपमनिश्चिन्वन्न[५८००]पि यदि स्वतः परिनिष्ठापयेत्[५८०१]तदा वस्तुदर्शनमपि, विशेषाभावात्। तथा च किं निश्चयापेक्षया? वस्तुदर्शनस्य[५८०२] निश्चयापेक्षायां वा निश्चयस्वरूपसंवेदनस्यापि निश्चयान्तरापेक्षणादनवस्था स्यात्। निश्चयाद्वस्तुदर्शनस्य परिनिष्ठितौ वस्तुदर्शनाच्च निश्चय[५८०३]स्वरूपस्य परस्पराश्रयदोषः[५८०४] स्यात्। ततो न विकल्पवच्छब्दस्य सर्वथान्यापोहोर्थः।

४०३. एतेनातत्कार्यकारणव्यावृत्तिरेक[५८०५]प्रत्यवमर्शादिज्ञानादेकार्थसाधने हेतुरत्यन्तभेदेपीन्द्रियादिवत् समुदितेतर[५८०६]गुडूच्यादिवच्च ज्वरोपशमनादाविति वदन्निराकृतः[५८०७], सर्वथा[५८०८] ततो[५८०९] वस्तुनि प्रवृत्त्ययोगात्।

४०४. **समयादर्शिनोपि[५८१०] क्वचिदन्वयबुद्ध्यभिधान[५८११]व्यवहारोऽतत्कार्यकारण[५८१२]व्यतिरेकव्यवस्थायां[५८१३] गुडूच्याद्युदाहरणप्रक्लृप्तिं विपर्यासयति,** तस्य[५८१४] वस्तुभूतार्थसादृश्यपरिणामसाधनत्वात्। न हि गुडूच्यादयो ज्वरोपशमनशक्तिसमानपरिणामाभावे ज्वरोपशमहेतवो न पुनर्दधित्रपुषादयो[५८१५]पीति शक्यव्यवस्थं, चक्षुरादयो वा रूपज्ञानहेतवस्तज्जननशक्तिसमानपरिणामविरहिणोपि न पुना रसादय इति निर्निबन्धना व्यवस्थितिः। अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिनिबन्धना सा, इति चेत्, कथं तत्कारणकार्यजन्य[५८१६]जनकशक्ति-समानपरिणामाभावेपि केषांचिदतत्कारणकार्यव्यावृत्तिः सिध्येदिति[५८१७] प्रकृतमुदाहरणं कर्कादिव्यक्तीनामश्वादिप्रत्ययं तथा समानपरिणामहेतुकं साधयति ? इति विपर्याससाधनमन्यापोहवादिनाम्। ततोऽमीषामन्यापोहसामान्य-मसदवक्तव्यमेव।

४०५. एतेन स्वलक्षणान्यापोहद्वयं सदसदवक्तव्यमेव सौगतानामापादितमुन्नेयं, स्वलक्षणस्य सतोप्यन्यापोहस्य चासतोपि वक्तुमशक्यत्वात्। इति परमतापेक्षया चरमभङ्गत्रयमुदाहृतम्।

४०६. नन्वस्तित्वमेव वस्तुनः स्वरूपम्, न पुनर्नास्तित्वम्, तस्य पररूपाश्रयत्वात्, अन्यथा[५८१८]तिप्रसङ्गात्[५८१९] इति वदन्तं वादिनं प्रत्याहुराचार्याः—

अस्तित्वं[५८२१] प्रतिषेध्ये[५८२२]नाविनाभाव्येकधर्मिणि[५८२३]।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं[५८२४] यथा भेदविवक्षया ।।१७।।

४०७. एको धर्मी जीवादिः। तत्रास्तित्त्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि, न पुनर्भिन्नाधिकरणम्[५८२५], विशेषणत्वात्, यथा हेतौ साधर्म्यं वैधर्म्येण भेदविवक्षया सर्वेषां हेतुवादिनां क्वचिदनुमानप्रयोगे प्रसिद्धम्। सर्वस्य नित्यत्वानित्यत्वादिसाधने हेतौ साधर्म्यस्य व्यतिरेकाविनाभाविनोऽसंभवादयुक्तमुदाहरणम्[५८२६], इति चेत्, न, तत्रापि[५८२७] तदुभयसद्भावात्[५८२८]। तथा हि—**सर्वमित्थमनित्थं वेति प्रतिज्ञाया[५८२९]ऽभिप्रेत्य वा प्रमेयत्वादिहेतूपादानेपि व्यतिरेकोस्त्येव, प्रमेयत्वस्य वस्तुधर्मत्वात्।** परिणामी जीवः शब्दादिर्वा नापरिणामीति वा, सर्वं चेतनमचेतनं वा विवादापन्नमित्थमनित्थं वा प्रतिज्ञाप्रयोगवादी प्रतिपाद्यानुरोधतः प्रतिज्ञाय, सौगतप्रतिपाद्याशयतोभिप्रेत्य वा, प्रमेयत्वात्, सत्त्वात्, वस्तुत्वात्, अर्थक्रियाकारित्वात् इत्यादिहेतूनामुपादानेपि वादिप्रतिवादिप्रसिद्धेऽर्थे[५८३०]न्वयवत्, खपुष्पादौ साध्यधर्म[५८३१]निवृत्तौ साधनधर्म[५८३२]निवृत्तिलक्षणो व्यतिरेकोस्त्येव। **खपुष्पादयोपि तत्र[५८३३] व्यवहार[५८३४]मिच्छता प्रमेयाः प्रतिपत्तव्या इति[५८३५] न किञ्चित्प्रमाणं[५८३६] प्रमेयाभावस्यापि[५८३७] तथाभावानुषङ्गेणाव्यवस्थाप्रसङ्गात्[५८३८]। न चैतद्विरुद्धम् स्वलक्षणमनिर्देशम्, इत्यादिवत्।** न हि स्वलक्षणस्यानिर्देशस्या[५८३९]प्यनिर्देशशब्देन निर्देशे विरोधोऽस्ति। नापि प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि कल्पनापोढत्वेन कल्पयतः किञ्चिदिरुध्यते, सर्वथा[५८४०] तद्व्यवहारापह्नवप्रसङ्गात्। तथैव ख़पुष्पादयोऽप्रमेया इति व्यवहरतोपि[५८००] न तेषामप्रयमेयत्वं विरुध्यते, तत्प्रमितौ[५८४२] प्रमाणाभावात्,

प्रमेयाभाववत्। [५८४३]तदभावेपि खपुष्पादीनां प्रमेयत्वं प्रमेयाभावस्यापि प्रमेयत्वानुषङ्गः। तथा च प्रमेयतदभावव्यवस्था कथमास्थीयेत ? एतेन खपुष्पादयः प्रमेयाः शब्दविकल्पविषयत्वात्, घटादिवत्, इत्यनुमानं प्रत्युक्तम्, हेतोः प्रमेयाभावेन [५८४५]व्यभिचारात्। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमीयमाणत्वात्प्रमेयाः खपुष्पादय इति चेन्न, असिद्धत्वात्साधनस्य। तथा हि—न [५८४६]ते प्रत्यक्षेण प्रमीयमाणाः, [५८४७]तत्र [५८४८]स्वाकारानर्पकत्वात्। नाप्यनुमानेन, [५८४९]स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावात्। [५८५०]स्वभावेन केनचित्तेषां प्रतिबन्धे निस्स्वभावत्वविरोधात्। कार्येण च [५८५१]प्रतिबन्धेऽनर्थक्रियाकारित्वव्याघातात् सन्तः खपुष्पादयो [५८५२]व्यवह्रियेरन्। **[५८५३]दर्शने [५८५४]स्वाकारमनर्पयता स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावे प्रमेयत्वं [५८५५]प्रमाणान्तरमवश्यमाकर्षति। ततो विप्रतिषिद्धमेतत्,** खपुष्पादीनां प्रमेयत्वं प्रमाणद्वयनियमविरोधात्। न च प्रमाणान्तरेणापि प्रमीयमाणास्ते, प्रमाणविषयत्व[५८५६]धर्मस्यानाश्रयत्वात्। [५८५७]अन्यथा [५८५८]वस्तुत्वापत्तेः [५८५९]सदसद्व्यवस्थानुपपत्तेस्[५८६०]तद्व्यवहाराभावः। **[५८६१]न च स्वलक्षणमेवान्या[५८६२]पोहः सर्वथा [५८६३]विधिनियमयोरेकतानत्वा[५८६४]संभवात्।** [५८६५]पुष्परहितं खमेव खे पुष्पाभावः, शशादय एव च विषाणरहिताः शशादिषु विषाणाभाव इत्येकविषयौ [५८६६]खशशादितत्पुष्पविषाणविधि[५८६७]नियमौ संभवत एवेति [५८६८]चेन्न, [५८६९]गगनशशादीनां भावाभावस्वभावभेदाद्[५८७०]विधिननियमोपलब्धेश्च, अन्यथानुभवाभावात्। [५८७१]शब्दविकल्पविशेषात्[५८७२]संकेत[५८७३]विशेषापेक्षाद[५८७४]देकत्र विषये विधिनियमयोः संभव इति चेन्न, संकेतविशेषस्य [५८७५]वस्तुस्वभावविशेषनिबन्धनत्वात्। **तत्स्वभाव[५८७६]भेदाभावे च संकेतविशेषानुपपत्तेरभिधान[५८७७]प्रत्ययविशेषोपि मा [५८७८]भूत्, तदन्यतरवत्।**

४०८. नन्वनिन्द्र[५८७९]स्वभावेपि पदार्थे व्यवहर्तृसंकेतविशेषादिन्द्राभिधानप्रत्ययविशेषदर्शनात्, न वस्तुस्वभावभेदनिबन्धनः संकेतविशेषः सिद्धः, यतो वस्तुस्वभावभेदाभावे संकेतविशेषानुपपत्तिः, [५८८०]ततोभिधानप्रत्ययविशेषश्च न स्यात्। [५८८१]खमस्ति, तत्पुष्पं नास्तीति [५८८२]तस्यानादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितत्वात्, इति [५८८३]कश्चित्, सोप्यननुभूतवस्तुस्वभावः शब्दस्य सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिवैचित्र्यसिद्धेः पदार्थस्य च सर्वस्य [५८८४]सर्वशब्दवाच्यत्वशक्तिनानात्वात् [५८८५]प्रधानगुणभावादभिधानव्यवहारप्रसिद्धेः। क्वचित्पदार्थेऽनिन्द्रस्वभावेऽपीन्द्रशब्दवाच्यत्वशक्तिसद्भावाद्व्यवहर्तृसंकेतविशेषादिन्द्राभिधानप्रत्ययविशेषसिद्धेर्वस्तुस्वभावभेदनिबन्धन एव संकेतविशेष इति न [५८८६]तदभावे [५८८७]भवितुमुत्सहते, यतः प्रत्ययविशेषः [५८८८]स्यात्। कथमन्यथा[५८८९] खपुष्पवत्खेपि नास्तीति प्रत्ययो न भवेत् ? खवद्वा खपुष्पेप्यस्तीति प्रत्ययः कुतो न स्यात् ? [५८९०]तयोरन्यतरत्रोभावपि [५८९१]प्रत्ययौ कुतो न स्याताम् ? संकेतविशेषस्य सर्वथा वस्तुस्वभावभेदानपेक्षस्य [५८९२]संभवात्। [५८९४]प्रतिनियत[५८९५]श्च विधिनियमप्रत्ययविशेषः सकलबाधकविकलः संलक्ष्यते। **ततो यावन्ति पररूपाणि प्रत्येकं तावन्तस्[५८९९]ततः परावृत्तिलक्षणाः स्वभावभेदाः प्रतिक्षणं प्रत्येतव्याः,** स्वलक्षणमेवान्यापोह इति व्यवस्थापयितुमशक्तेः, [५८९६]तस्य संबन्ध्यन्तरा[५८९७]पेक्षत्वात्। न च संबन्ध्य[५८९८]न्तराणि स्वलक्षणस्य स्वरूपभूतान्येव, तेषां पररूपत्वात्, अन्यथा ततः [५९००]परावृत्तेरनुपपत्तेः। पररूपाण्यपि **यदि संबन्ध्यन्तराणि भावस्व[५९०१]भावभेदकानि न स्युस्तदा नित्यत्वेपि [५९०२]कस्यचित्[५९०३]संबन्ध्यन्तरेषु [५९०४]कादाचित्केषु क्रमशोर्थक्रिया न वै विप्रतिषिध्येत[५९०५]। शक्यं हि वक्तुम्, क्रमवर्तीनि [५९०६]कारणानि [५९०७]तत्तन्निर्वर्तनात्मकानीति [५९०८]नित्यं [५९०९]स्वभावं न वै जहाति,**

क्षणिकसामग्रीसन्निपतितैकतमवत्[५९१०]**। तदेतत्तदा तत्तत्कर्तुं समर्थमेकं स्वभावमविचलितं**[५९११] **बिभ्राणं सहकारिकारणानि स्वभावस्या**[५९१२]**भेदकानि नानाकार्यनिबन्धनानि कादाचित्कानि**[५९१३] **प्रतीक्षत इति।** न चैवं वचने विषममुदाहरणम्, क्षित्युदकबीजत्वादिसामग्र्यामन्त्यक्षण[५९१४]प्राप्तायां सन्निपतितस्यैकतमस्य[५९१५] कारणस्य शेषेषु कारणेषु यवाङ्कुरादिकार्यनिर्वर्तनात्मकेषु सत्स्वपि स्वभावाभेदस्य क्षणिकवादिनः सिद्धत्वात्।

४०९. **तदिमे**[५९१६]**र्था**[५९१७] **विधिप्रतिषेधाभ्यां संप्रतिबद्धा न प्रतिबन्धमतिवर्तन्ते वस्तुत**[५९१८] **एव। ततो न संवृतिस्तद्व्यवहाराय भेदमावृत्त्य**[५९१९] **तिष्ठतीति युक्तम्**[५९२०]**,** विधिप्रतिषेधसंबन्धशून्यस्य भेदस्य स्वलक्षणलक्षणस्य साक्षादध्यक्षतोनुपलक्षणात्। तथाऽनुमानादप्यप्रतिपत्तेर्विधेः प्रतिषेधस्य चापह्नवे व्यवहाराघटनात्, संवृतेस्तमावृत्य[५९२१] स्थितिविरोधात्, परमार्थत एव भावस्या[५९२२]नेकस्वभावस्य[५९२३] प्रतीतेः।

४१०. **तदनेक**[५९२४]**स्वभावाभावे विनिर्भासासंभवादात्मनि**[५९२५] **परत्र चासंभविनमाकार**[५९२६]**मादर्शयतीति**[५९२७] **मुग्धायते**[५९२८]**, सर्वत्रासहाय**[५९२९][५९३०]**रूपानुपलब्धेः।** जातुचिन्निरंशरूपोपलब्धौ हि नानारूपोपलब्धिः संवृतिरात्मनि परस्मिंश्चाविद्यमानमाकारं दर्शयतीति युक्तं वक्तुम्, नान्यथा[५९३१], अतिप्रसङ्गात्। यदि पुनरनाद्यविद्योदयादखिलजनस्यासहायरूपानुपलब्धिर्जाततैमिरिकस्यैकचन्द्रानुपलब्धिवत्, इति मतं, तदा—

गुणानां[५९३२] **सुमहद्रूपं**[५९३३] **न दृष्टिपथमृच्छति।**
यत्तु[५९३४] **दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव**[५९३५] **सुतुच्छकम्**[५९३६]**।।१।।**
सर्वं पुरुष एवेदं नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं[५९३७] **तस्य पश्यन्ति न तं कश्चन पश्यति।।२।।**

इत्यपि किन्न स्यात्, सर्वथाप्यविशेषात्।

४११. **तदियं संवृतिः सामान्य**[५९३८]**सामाना**[५९३९]**धिकरण्यविशेषणविशेष्यभावादिव्यवहारनिर्भासान्**[५९४०] **बिभ्रता स्वयमनेकरूपतां**[५९४१] **प्रतिक्षिपन्त**[५९४२] **व्यवस्थापयति**[५९४३]**,** तामन्तरेण[५९४४] सामान्यादिव्यवहारनिर्भाससंवृत्त्यनुपपत्तेः। **तद्भावान्तराणा**[५९४५]**मनेकान्तात्मकत्वे वास्तवी साधर्म्यवैधर्म्यादिस्थितिरविशेषेण विकल्पबुद्धेर्मिथ्यात्वं प्रतिजानन्तं**[५९४६] **प्रतिक्षिपत्येव,** संवृतेः स्वरूपेऽनेकान्तात्मकत्वं न तु ततोऽन्येषां[५९४७] भावानामिति विभावयितुमशक्तेः। ततो[५९४८] न स्वलक्षणमेवान्यापोहः[५९४९] संभवति, येन खपुष्पादयः प्रमेयाः स्युः। **यत्पुनरेतदन्यतो व्यावृत्ति**[५९५०]**रनात्मि**[५९५१]**कैवेति**[५९५२] **तन्न, चक्षुरादिज्ञानस्य निर्व्यवसायात्मकस्य स्वयमभूताविशेषात्**[५९५३]**, निर्णयस्य भावस्वभावासंस्पर्शिनः**[५९५४] **सर्वथा वस्तुतत्त्वापरिच्छेदादिदमित्थमेवेति**[५९५५] **स्वयमेकान्तानुपपत्तेः**[५९५६][५९५७]**।** सोयं चक्षुरादिज्ञानाद्वस्तुतत्त्वमध्यवस्यन् सकलविकल्पाध्यवसेयामन्यव्यावृतिं सर्वथानात्मिकामाचक्षाणः कथमिदमेव वस्तुतत्त्वमित्थमेवेति वा स्वयं प्रतिपद्येतान्यं[५९५८] वा प्रतिपादयेदिति सविस्मयं नश्चेतः[५९५९]।

४१२. **अतोयंभावः**[५९६०]**—स्वभावभेदान् विधिप्रतिषेधविषयान्बिभ्राणः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसमधिगतलक्षणः प्रतीयेत** प्रमेयः, खपुष्पादयस्त्वप्रमेया इति प्रमेयत्वादिहेतावपि[५९६१] व्यतिरेको विद्यते एव। सर्वस्य[५९६२] परिणामित्वादौ साध्ये सपक्षेन्वयो न संभवत्येवेति चेन्न[५९६३], अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य[५९६४]

सद्भावादन्य[५९६५]थानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्। न हि दृष्टान्तधर्मिण्येव साधर्म्यं वा हेतोः प्रतिपत्तव्यमिति नियमो युक्तः, सर्वस्य[५९६६] क्षणिकत्वादिसाधने[५९६७] सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात्। यतश्चैवं सर्वत्र हेतौ साधर्म्यं वैधर्म्येणाविनाभावि प्रसिद्धमुदाहरणम् **तस्माद्यद्विशेषणं तत्प्रतिषेध्याविनाभावि क्वचिद्धर्मिणि, यथा साधर्म्यं[५९६८] भेदविवक्षया[५९६९] कृतकत्वादौ, विशेषणं चास्तित्वं, ततः प्रतिषेध्यधर्मप्रतिबन्धि[५९७०]** इत्यनुमानमनवद्यमवतिष्ठते, हेतोरसिद्धताद्यनुपपत्तेः साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावाच्च निदर्शनस्य प्रत्यक्षादि-विरोधावाच्च[५९७१] पक्षस्येति प्रतिपत्तव्यम्।

४१३. भवतु तावदस्तित्वं जीवादौ नास्तित्वेनाविनाभावि। नास्तित्वं तु कथमस्तित्वाविनाभावि, खपुष्पादौ कथंचिदप्यस्तित्वासंभवात्, इति मन्यमानान्प्रत्याहुः—

नास्तित्वं[५९७२] प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वा[५९७३]द्वैधर्म्यं[५९७४] यथाऽभेदविवक्षया[५९७५] ।।१८।।

४१४. कृतकत्वादौ हेतो शब्दा[५९७६]नित्यत्वादिसाधने सधर्मणा[५९७७] साधर्म्येणाविनाभावि विशेषणं विपक्षे[५९७८] वैधर्म्य[५९७९]मुदाहरणं प्रसिद्धं तावत्तज्जीवादावेकधर्मिणि पररूपादिभिर्नास्तित्वं स्वरूपादिभिरस्तित्वेनाविनाभावि साधयत्येव, विशेषण[५९८०]त्वसाधनस्यानवद्यत्वात्, पक्षीकृते नास्तित्वे विशेषणत्वस्य भावादस्तित्ववत्[५९८१], विपक्षे[५९८२] च[५९८३] स्वप्रतिषेध्याविनाभावरहिते क्वचिदप्यभावात्[५९८४], तथा[५९८५] तस्य[५९८६] विशेषणत्वानुपपत्तेरित्यसिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकत्वदोषाभावात्, दृष्टान्तस्य[५९८७] च साध्यसाधनवैकल्या[५९८८]दिदोषासंभवात्, साधर्म्यस्यैव[५९८९] हेतौ भेदविवक्षया वैधर्म्यस्याभेद[५९९०]विवक्षयाऽविनाभावित्वनिश्चयात्, तत्र भेद[५९९१]विवक्षावदभेद[५९९२]विवक्षायाः परमार्थसद्वस्तु-निबन्धनत्वात्। **भेदाभेदविवक्षयोरवस्तुनिबन्धनत्वे[५९९४] विपर्यासोपि किं न स्यात्?** शब्दानित्यत्वसाधने कृतकत्वादिहेतौ घटादिभिर्भेद[५९९५]विवक्षा गगनादिभिरभेदविवक्षा हि विपर्यासः। स च[५९९७] परैर्नेष्यते एव। तदिष्टौ शब्दनित्यत्वसाधनाद्धेतोर्विपर्यासः स्यात्, विरुद्धत्वोपपत्तेः। सोयं कृतकत्वादेः साधनस्याविरुद्धत्वमुपयंस्तत्र भेदाभेद[५९९८]विवक्षयोर्विपक्षेतरा[५९९९]पेक्षयोर्वस्तुनिबन्धनत्वमुपगन्तुमर्हति। **ततः समञ्जसमेतत्, यत्किञ्चिद्विशेषणं तत्सर्वमेकत्र[६०००] प्रतिपक्षधर्माविनाभावि, यथा वैधर्म्यम-भेदविवक्षया हेतौ, तथा च नास्तित्वं विशेषण[६००१]म्**इत्यनुमानम्, साध्यसद्भावे[६००२] एव साधनस्य[६००३] सद्भावनिश्चात्, **अन्यथा[६००४] व्यवहारसंकरप्रसङ्गात्,[६००५]** करभत्वस्य[६००६] करभवद्[६००७]दधन्यपि सद्भावानुषङ्गात्, दधित्वस्य च दध्नीव करभेपि प्रसक्तेः। दधि खादेति चोदितः करभमभिधावेत करभवद्वा दध्न्यपि नाभिधावेत्, अदधित्वस्याकरभत्वस्य च क्वचि[६००८]दप्यभावात्, इति प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहारः संकीर्येत, सर्वस्य सर्वथा सद्भावात्। यदि पुनर्दध्नि स्वरूपेण दधित्वं न करभरूपेण करभे च स्वरूपेण करभत्वं न दधिरूपेण यतः प्रवृत्त्यादिव्यवहारसंकरः प्रसज्येतेति मतं तदा सिद्धं दधित्वमदधित्वेन[६००९] प्रतिषेध्येनाविनाभावि करभत्वं चाकरभत्वाविनाभावि, तद्वत्तत्सर्वं विशेषणं[६०१०] स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावि। इति सिद्धान्यथानुपपत्तिः[६०११], विपक्षे[६०१२] बाधकसद्भावात्। **न हि[६०१३] स्वेच्छाप्रक्लृप्तधर्मधर्मिव्यवस्थायां परमार्थावतारः स्यात्,** यतः सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो

बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते इति युक्तं भवेत्। **[६०१४]तदसमीक्षिततत्त्वार्थै[६०१५]र्लोकप्रतीतिवशाद्भेदाभेदव्यवस्थिति[६०१६]स्तत्त्वप्रतिपत्तये समाश्रीयते इति[६०१७] बालाभिलापकल्पं भावस्वभावोपरोधा[६०१८]त्सर्वत्र** भेदाभेदव्यवस्थितेः, [६०१९]अन्यथा तत[६०२०]स्तत्त्वप्रतिपत्तेरयोगात्।

४१५. ननु चास्तित्वं च विशेषणमेव, न तु विशेष्यम्। ततो न साध्यसाधनधर्मयोः[६०२१] परमार्थसतोरधिकरणं[६०२२] येन प्रकृतमनुमानद्वितयं[६०२३] वास्तवं धर्मधर्मिन्यायेन[६०२४] स्यात्, इत्येके[६०२५]। न तत्सर्वथाभिलाप्यं[६०२६], वस्त्वस्तित्वरूपस्यापनभिलाप्यत्वात्, इति चान्ये। जीवादेर्वस्तुनोऽत्यन्तमर्थान्तरमेव तत्[६०२७], प्रतिभासभेदाद् घटपटवत्। न पुनरस्तित्वनास्तित्वात्मकं वस्तु, धर्मधर्मिसंकरप्रसङ्गात्, इति चापरे। तान् प्रत्याचार्याः प्राहुः—

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया।।१९।।

४१६. विधेयमस्तित्वम्[६०२८]। प्रतिषेध्यं नास्तित्वम्। विधेयं च प्रतिषेध्यं च विधेयप्रतिषेध्ये, ते आत्मानौ स्वभावौ यस्य स विधेयप्रतिषेध्यात्मा[६०२९], अर्थः सर्वो जीवादिरिति पक्षः, विशेष्यत्वादिति हेतुः, विशेष्य इति हेतुनिर्देशात्[६०३०], गुरवो राजमाषा न भक्षणीया इति यथा। साध्यो धर्मो[६०३१], साध्यधर्माधारतया तस्य[६०३२] साध्यव्यपदेशात्[६०३३], यथोपचारस्य[६०३४] दृष्टान्तधर्मिव्यवच्छेदार्थत्वात्[६०३५]। तस्य[६०३६] धर्मो विवर्त उत्पत्तिमत्त्वादिः। स[६०३७] यथा हेतुरनित्यत्वसाध्यापेक्षया[६०३८], नित्यत्वसाध्यापेक्षयाऽहेतुश्च, गमकत्वागमकत्वयोगात्, तथा साध्याविनाभावेतरसद्भावात्[६०३९], इति दृष्टान्तः। इत्यनुमानात्सत्त्वेतरात्मकः[६०४०] कथंचिज्जीवाद्यर्थः[६०४१] सिद्ध्यत्येव। हेतोर्विशेष्यत्वस्यासिद्धिरिति चेन्न, विशेष्योऽसौ, शब्दगोचरत्वात् तद्वदि[६०४२]त्यनुमानात्तस्य विशेष्यत्वहेतोः साधनात्। शब्दगोचरत्वमसिद्धमर्थस्येति चेन्न, शब्दगोचरो जीवादिः, विशेष्यत्वात्, तद्वत्[६०४३], इत्यनुमानात्तस्य साधनात्। न चैवमितरेतराश्रयदोषः[६०४४], सर्वथानभिलाप्यवस्तुवादिनः[६०४५] प्रति शब्दगोचरत्वे साध्ये[६०४६] विशेष्यत्वस्य हेतुत्ववचनात्, सर्वथा वाऽविशेष्यत्ववादिनः[६०४७] प्रति शब्दागोचरत्वस्य साधनत्वाभिधानात्[६०४८], तदुभयासत्त्ववादिनस्तु प्रति वस्तुत्वस्योभयप्रसिद्धस्य[६०४९] हेतोः सामर्थ्यतः[६०५०] प्रयोगात्। विधेयप्रतिषेध्यात्मकत्वस्यापि तान्प्रति[६०५१] तत[६०५२] एव सिद्धिः। इति समासतः कारिकार्थः समवतिष्ठते।

४१७. ननु[६०५३] च प्रत्यक्षबुद्धौ वस्तु स्वलक्षणमेव प्रतिभाति, न पुनरस्तित्वादिविशेषणं, तस्य[६०५४] सकलविकल्पविकलत्वात्, विकल्पबुद्धौ[६०५५] तद्व्यवहारप्रसिद्धेः[६०५६], इति चेन्न, वस्तुनोस्तित्वाद्यनेकविकल्पात्मकस्य सांशस्यैव[६०५७] प्रतीतेः। **किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं[६०५८] गृह्यमाणं[६०५९] विशेषणविशेष्यतत्संबन्धलोकस्थितिसंकलनेन गृह्येत नान्यथेत्यभिनिवेशेऽपि[६०६०] वस्तुनो विधिप्रतिषेधस्वभावयोः प्रत्येकं दर्शनमवश्यंभावि**, वस्तुन एव दर्शनं न तद्विधिप्रतिषेधस्वभावयोर्विशेषणयोरिति वक्तुमशक्तेः[६०६१], सदसत्स्वभावशून्यस्य स्वलक्षणस्य दर्शने तत्पृष्ठभाविविकल्पेनापि सदसत्त्वयोरध्यवसायायोगात्[६०६२] पीतदर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन नीलत्वाध्यवसायायोगवत्। **ततो विधिप्रतिषेधावात्मनो[६०६३] विशेषस्य सविकल्पकत्वं[६०६४] साधयतः**, सर्वथा तस्य भेदाभावे[६०६५]

सदिदमसदिदमिति प्रत्येकं दर्शनाभावानुषङ्गात्, इदमुपलभे नेदमिति विकल्पोत्पत्तिविरोधात्। **ततः सामान्यविशेषात्मकं वस्तु स्वलक्षणम्,** न पुनः सकलविकल्पातीतं विशेषमात्रं[६०६६] सामान्यमात्रं[६०६७] वा पदस्परनिपेक्षं तदुभयं[६०६८] वा स्वलक्षणम्, तस्य तेन रूपेणाव्यवस्थिततत्वात्, सामान्यविशेषात्मन एव जात्यन्तरस्य वस्तुस्वरूपत्वात्, तेनैव[६०६९] लक्ष्यमाणस्य[६०७०] स्वलक्षणत्वप्रसिद्धेः सकलबाधकवैधुर्यात्। कः पुनर्विधेयप्रतिषेध्ययोर्धर्मी स्यादाश्रयभूतः, तयोस्तेन[६०७१] संबन्धो येन विशेषणविशेष्यभावः[६०७२] स्यादिति चेदुच्यते। **अस्तित्वनास्तित्वयोर्धर्मि सामान्यम्। तत्र[६०७३] तादात्म्यलक्षणः संबन्धः, संबन्धान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात्[६०७४], तन्नैतत्सारम्[६०७५], जात्यादिमतामेतन्न[६०७६] संभवत्येवेति, तदभावे[६०७७] एवासंभवात्[६०७८][६०७९],** विशेषणविशिष्टवस्तुग्रहणस्य[६०८०] विशेषणं सत्त्वादिसामान्यं पूर्वं गृहीत्वा तदनन्तरं विशेष्यं[६०८१] गृह्णाति[६०८२], ततस्तत्सम्बन्धं[६०८३][६०८४] समवायं लोकस्थितिं च विशेषणविशेष्यव्यवहारनिबन्धनां, ततस्तत्संकलनेन[६०८५] सदिदं वस्तु'' इति प्रतीतिक्रमस्यैव[६०८६] दुर्घटत्वात्, विशेषणविशेष्यात्मकस्य सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनो जात्यन्तरस्य यथाक्षयोपशमं प्रत्यक्षे परोक्षे च विज्ञाने निर्बाधमनुभवात्, तद्विपरीतस्य जातुचिदप्रतीतेः।

४१८. **तथा[६०८७] सति नैकान्ते दर्शनविकल्पाभिधानानां[६०८८] विषयभेदोस्ति कथंचित्प्रतिभासभेदेपि[६०८९]** विभिन्नविषयत्व-प्रत्यासन्नेतरपुरुषदर्शनवत्[६०९०], प्रतिभासभेदाद्विषयभेदे योगीतरप्रत्यक्षयोरेकविषययोरपि[६०९१] प्रसङ्गात्।

४१९. एतेन[६०९२] धूमादिकृतकत्वादिसाध्यधर्मिधर्मस्य[६०९३] साध्येतरापेक्षया हेतुत्वाहेतुत्वविशेषणात्मकस्य निदर्शनतयोपन्यस्तस्य प्रत्यक्षविषयत्वं निवेदितम्। **तथाहि[६०९४]—धूमादयः कृतकत्वादयो वा क्वचिदग्निसलिलयोर्विनाशेतरयोर्वा साधनेतरस्वभावाभ्यां साक्षात्क्रियेरन्[६०९५], इतरथा विशेष्य-प्रतिपत्तेरयोगात्।** न हि धूमादीनामग्न्यादौ साध्ये साधनत्वं सलिलादावसाधनत्वं च विशेषणमप्रतिपद्यमानो[६०९६] विशेष्यान् धूमादीन् प्रतिपद्यते नाम, नापि कृतकत्वादीनां विनश्वरत्वे साध्ये साधनत्वमविनश्वरतवे चासाधनत्वं विशेषणमप्रतियन् कृतकत्वादिहेतून्विशेष्यान्प्रत्येतुमीशोः, यतोऽग्न्यादिविनश्वरशब्दादीन् साध्यानपि विशेष्यान् प्रतिपद्येत। प्रत्येति च तान्। ततोऽवश्यं साक्षात्कुर्वीत तद्धेतून्, साध्येतरापेक्षायां सत्यां साधनेतरास्वभावाभ्यां तत्साक्षात्करणे[६०९७] विरोधाभावात्।

४२०. **अनपेक्षायां[६०९८] तु विरोधः,** क्वचिदेकत्र[६०९९] साध्ये हेतूनां साधनत्वेतरयोरनुपलम्भात्[६१००]। यतश्चैव[६१०१] प्रसिद्धमुदाहरणम्[६१०२], वादिप्रतिवादिनोर्बुद्धिसाम्यात्, **तस्माद्यदभिधेयं तद्विशेष्यम्[६१०३]।** यथोत्पत्त्यादिरपेक्षया हेतुरहेतुश्च साध्येतरयोः। तथा च, विमत्यधिकरणं[६१०४] सत्त्वाभिधेयत्वादि, तस्मात्[६१०५]साध्यसाधन[६१०६]धर्मविशेषणापेक्षया विशेष्यम्। इत्यनुमानादेकस्य[६१०८] विशेषणविशेष्यात्मकत्वविरोधनिरासः[६१०७]। **यद्वा विशेष्यं तदभिलाप्यम्,** यथोत्पत्त्यादि, विशेष्यं चास्तित्वादिवस्तुरूपम्, तस्मादभिलाप्यम्, इति वस्तुस्वरूपस्यानभिलाप्यत्वव्युदासः। **यद्वा वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिषेध्यात्मकम्, यथोत्पत्यादिरपेक्षया**

हेतुरहेतुश्च साध्येतरयोः, तथा च विमत्यधिकरणं सत्त्वाभिधेयत्वादि। इत्यन्[६११०]तदीपकं सर्वत्र[६१११] योज्यं साधनं वस्तु च जीवादि। तस्माद्विधेयप्रतिषेध्यात्मकम्। इति क्रमार्पितसदसत्त्वोभयात्मकत्वसाधनम्। शेषभङ्गाः कथं नेतव्याः सूरिभिरित्याहुः—

शेषभङ्गाश्च नेतव्या यथोक्त[६११२]नययोगतः।
न च कश्चिद्विरोधोस्ति मुनीन्द्र तव शासने।।२०।।

४२१. **स्यादस्ति स्यान्नास्तीति भङ्गद्वयमुपयुक्तम्, [६११३]तदपेक्षया शेषत्वं भङ्गत्रयापेक्षं वा।** विधेयप्रतिषेध्यात्मेत्यनेन[६११४] तृतीयभङ्गस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभाविनोऽसाधने साधने चापेक्ष्यमाणे इत्यर्थः। **यथोक्तनययोगत इति विशेषणत्वादीनाक्षिपति[६११५]। [६११६]तदनभिलाप्या[६१०९]दयोपि क्वचिद्धर्मिणि[६११८] [६११९]प्रत्यनीकस्वभावाविनाभाविनः प्रतीयन्ते,** विशेषणत्वादिभ्यः[६१२०]। **पूर्वोक्त[६१२१]मुदाहरणम्।** यथैव हि वस्तुनोस्तित्वं नास्तित्वं तदुभयं च प्रतिषेध्येन स्वप्रत्यनीकेनाविनाभावि, विशेषणत्वाद्विशेष्यत्वाच्छब्दगोचरत्वाद्वस्तुत्वाच्च साधर्म्यवद्वैधर्म्यवत्क्वचिद्धेतौ[६१२२] हेतुत्वेतरत्ववच्च। साध्यते चाऽवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन[६१२३] प्राच्यभङ्गत्रयरूपेण[६१२४], सदवक्तव्यत्वमसदवक्तव्यत्वेनासदवक्तव्यत्वमपि सदवक्तव्यत्वेन, सदसदवक्तव्यत्वमपि पञ्चमषष्ठभङ्गात्मनानुभयावक्तव्यत्वेनाविनाभावि साधनीयम्, यथोक्ता[६१०९]नां हेतूदाहरणरूपनयानां घटनात्। **न चैव[६१२७] सति किञ्चिद्विप्रतिषिद्धम्[६१२८], अन्यथैव विरोधात्।** अवक्तव्यत्वादेः[६१२९] स्वप्रत्यनीकस्वभावाविनाभावाभावप्रकारेणैव हि प्रत्यक्षादिविरोधः समनुभूयते, तथा सकृदप्यनुपलम्भात्[६१३०]।

४२२. [६१३१]तदनेन न च कश्चिद्विरोधोस्तीति मुनीन्द्र तव शासने, अन्यशासनेष्वेव विरोधसाधनादिति व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम्।

साम्प्रतमव्य[६१३२]वस्थितानेकान्तात्मकं वस्तु सप्तभङ्गीविधिभागाऽर्थक्रियाकारि, न पुनरन्यथा, इति स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनमुपसंहरन्तः प्राहुः—

एवं विधिनिषेधाभ्यामनव[६१३३]स्थितमर्थकृत्।
नेति चेन्न यथा[६१३४] कार्यं बहि[६१३५]रन्तरुपाधिभिः।।२१।।

४२३. एवं प्रतिपादितनीत्या सप्तभङ्गीविधौ विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितं जीवादिवस्तु सदेवासदेव वा, इति अव्यवस्थितमर्थकृत्[६१३६] कार्यकारि प्रतिपत्तव्यम्। नेति चेदेवं[६१३७] वस्तु परैरभ्युपगम्यते तर्हि यथाभ्युपगतं[६१३८] कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः सहकार्युपादानकारणैर्निवर्त्त्यं तथा न स्यात्, भावाद्येकान्ते सर्वथा कार्यप्रतिक्षेपात्। तत एवैवं[६१३९] व्याख्यानान्तरमुपलक्ष्यते[६१४०]। एवं प्रतिपक्षप्रतिक्षेपप्रकारेण विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितं कथंचिद्विधिप्रतिषेधावस्थितमेवार्थकृत्[६१४२] नेति चेन्न, यथा कार्यं (च) बहिरन्तः स्यादुपाधिभिरनन्तविशेषणैर्विशिष्टं, सर्वथा निरंशवस्तुनि[६१४३] सकलविशेषणाव्यवस्थितेः[६१४४]। सत्त्वाद्यन्यतममात्रे एव भङ्गे समवस्थितं कुतो नार्थकृदिति चेत्, उच्यते[६१४५]; **सप्तभङ्गीविधौ स्याद्वादे विधिप्रतिषेधाभ्यां समारूढं वस्तु**

सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि, कथंचित्सत एव सामग्रीसन्निपातिनः स्वभावातिशयोत्पत्तेः सुवर्णस्येव केयूरादिसंस्थानम्[६१४६]। सुवर्णं हि सुवर्णत्वादिद्रव्यार्थादेशात् सदेव केयूरादिसंस्थानपर्यायार्थादेशाच्चासदिति[६१४७] तथा[६१४८] परिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तः[६१४९] सामग्र्याः सुवर्णकारकव्यापारादि लक्षणायाश्च बहिः सामग्र्याः सन्निपाते केयूरादिसंस्थानात्मनोत्पद्यते[६१५०]। ततः सदसदात्मकमेवार्थकृत्। [६१५१]तद्वज्जीवादिवस्तु प्रत्येयम्। **नेति चेदित्यादि**[६१५२]**नैकान्तेऽर्थक्रियां प्रतिक्षिपति**[६१५३]। **न**[६१५४] **तावत्सतः पुनरुत्पत्तिरस्ति,** तत्कारणापेक्षानुपरमप्रसङ्गात्। **न चानुत्पन्नस्य स्थितिविपत्ती,** सर्वथाप्यसत्त्वात्[६१५५]खपुष्पवत्। **नाप्यसतः सर्वथोत्पत्त्यादयस्तद्वत्।** तस्मान्न सदेकान्तेऽसदेकान्ते चार्थक्रिया संभवति।

४२४. **यदि**[६१५६] **पुनः सामग्र्याः प्रागविद्यमानस्य**[६१५७] **जन्म स्यात्, को दोषः स्यात्?** [६१५८]तन्निरन्वयविनाशे[६१५९]तरपक्षयोस्तदैकान्ताभावः[६१६०] प्रसज्येत। **तस्या**[६१६१] **निरन्वयविनाशे**[६१६२] **निष्कारणस्य**[६१६३] **तथैवोत्पत्तिर्न स्यात्। न हि निराधारोत्पत्तिर्विपत्तिर्वा, क्रियारूपत्वात्स्थितिवत्। नैतन्मन्तव्यं नोत्पत्त्यादिः क्रिया क्षणिकस्य, तदसंभवात्**[६१६४]**। ततोऽसिद्धो हेतुः**[६१६५] **इति,**[६१६६] **प्रत्यक्षादिविरोधात्।** प्रत्यक्षादिविरोधस्तावत् **प्रादुर्भावादिमतश्चक्षुरादिबुद्धौ**[६१६७] **प्रतिभासनात्,**[६१६८] तद्बुद्ध्या प्रादुर्भावविनाशावस्थानक्रियारहितसत्तामात्रोपगमस्य बाधनात्। **अन्यथा**[६१६९] **तद्विशिष्टविकल्पोपि मा भूत्। न हि दण्डपुरुषसंबन्धादर्शने दण्डीति विकल्पः स्यात्।** तथाविधपूर्वतद्वासनावशात्प्रादुर्भावाद्यदर्शनेपि[६१७०] तद्विशिष्टविकल्प[६१७१] इति चेन्न, नीलसुखादेरदर्शनेपि तद्विकल्पप्रसक्तेः, [६१७२]ततस्[६१७३]तद्व्यवस्थापनविरोधात्। निरालम्बनविज्ञानमात्रोपगमेपि[६१७४] [६१७५]सन्तानान्तरस्वसंतानपूर्वापरक्षणाज्ञानेपि[६१७६] तद्विकल्पोत्पत्तौ कुतस्तद्व्यवस्था[६१७७]?

४२५. [६१७८]संवेदनाद्वैतोपगमेपि संविदद्वैताभावेऽपि तद्वासनाबलात्संवित्स्वरूपप्रतिभाससंभवात्कथं स्वरूपस्य स्वतो गतिः[६१७९] सिध्येत्[६१८०]? सत एव संवित्स्वरूपस्य तथा[६१८१] वासनामन्तरेण स्वतो गतौ स्वसंतानपूर्वापरक्षणसंतानान्तरबहिरर्थ[६१८२]जन्मादिक्रियाविशेषाणां सतामेव दर्शनाद्विकल्पोत्पत्तिर्युक्ता, इति नोत्पत्त्यादीनां क्रियात्वमसिद्धम्, [६१८३]यतस्तन्निराधारत्वप्रतिषेधो न सिद्ध्येत्। ततो न प्रागसतोऽप्युत्पत्तिः संभवति। निरन्वयमविनाशे[६१८४] प्रागसत उत्पत्तिरित्ययमपि पक्षो न क्षेमङ्करः, स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गात्, असत्कार्यवाद[६१८५]विरोधात्। **ततः सूक्तं 'यदेकान्तेन सदसद्वा तन्नोत्पत्तुमर्हति, व्योमवन्ध्यासुतवत्'** इति। न ह्येकान्तेन सद्व्योमोत्पद्यते [६१८६]नाम, नाप्येकान्तेनासन् वन्ध्यासुत इति न साध्यसाधनविकलमुदाहरणम्।

४२६. **कथमिदानीमनुत्पन्नस्य गगनादेः स्थितिरिति**[६१८८] **चेत्, न, अनभ्युपगमात्,**[६१८९] सर्वथा गगनाद्यनुत्पादस्य। केवलमिह व्योम्नो **द्रव्यनयापेक्षया परप्रसिद्ध्या चोदाहरणं** प्रतिपादितम्। ततो न पूर्वापरविरोधः, पूर्वं सर्वथानुत्पत्तिमत्तः स्थितिप्रतिषेधसाधनात्। [६१९०]द्रव्यतोनुत्पद्यमानस्यैव स्थितिघटनात्। ततो यदर्थक्रियाकारि तद्विधिप्रतिषेधकल्पनोपकल्पितसप्तभङ्गीविधौ समारूढं विध्येकान्तादौ वानवस्थितं, सदाद्येकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात्, इति सूरिमतम्[६१९१]।

४२७. [६१९२]नन्वेवं [६१९३]सुनयार्पितस्य विध्यंशस्य निषेधांशस्य चार्थक्रियाकारित्वे तेन[६१९४] व्यभिचारी

हेतुः[६१९५], तस्य[६१९६] सप्तभङ्गीविधावसमारूढत्वात्, अनस्थानवस्थानात्[६१९७] तस्यानर्थक्रियाकारित्वे सुनयस्यावस्तुविषयत्वप्रसक्तेः, वस्तुनोऽर्थक्रियाकारित्वात्, इति कश्चित्[६१९८], तदयुक्तं सुनयार्पितस्यापि[६१९९] विधेरनिराकृतप्रतिषेधस्यार्थक्रियाकारित्वात्, अन्यथा[६२००] दुर्णयार्पितत्वापत्तेः[६२०१]। न चासौ सप्तभङ्गीविधावसमारूढः, भङ्गान्तराप्रतिक्षेपात्[६२०२]। तथा[६२०३] च नानवस्था नाम, विधावपि विध्यन्तरादिविकल्पनाऽभावात्। केवलं[६२०४] विधिभङ्गे[६२०५] नास्तित्वादिभङ्गान्तरगुणीभावाद्विधिप्राधान्यम्, प्रतिषेधभङ्गे चास्तित्वादिभङ्गान्तरगुणीभावात् प्रतिषेधप्रधानतेति[६२०६] प्रमाणार्पितप्रधानरूपाशेषभङ्गात्मकवस्तुवाक्यान्नयवाक्यस्य विशेषः प्ररूपितप्राय एव।

४२८. यदप्याह[६२०७]—जीवादिवस्तुनि सत्त्वद्वारेण[६२०८] प्रथमभङ्गात्प्रतिपन्ने द्वितीयादिभङ्गानामानर्थक्यम्, असत्त्वादिधर्माणामपि तदात्मनां तत[६२०९] एव प्रतिपत्तेरन्यथा तेषां[६२१०] वस्तुनोऽन्यत्वापत्तेः, [६२११]विरुद्धधर्माध्यासात्[६२१२]पटपिशाचवत्। तथा च तस्येति[६२१३] व्यपेदशाभावः, संबन्धाभावात्। सत्त्वादिधर्माणां धर्मिणा सहोपकार्योपकारकभावे[६२१४] धर्मिणोपकारो धर्माणां धर्मैर्वा धर्मिणः स्यात्? प्रथमपक्षे किमेकया शक्त्या धर्मानुपकुरुतेऽनेकया वा? यद्येकया स्वात्मनोनन्यया धर्मी धर्मानुपकुरुते तदैकधर्मद्वारेण[६२१५] नानाधर्मोपकारनिमित्तभूतशक्त्यात्मनो धर्मिणः प्रतिपत्तौ तदुपकार्यस्य सकलधर्मकलापस्य प्रतिपत्तेः सकलग्रहः[६२१६] स्यात्, उपकार्याप्रतीतौ तदुपकारकप्रतीत्ययोगात्। एतेनानेकया स्वात्मनोनन्यया शक्त्या धर्मी धर्मानुपकरोतीति पक्षान्तरमपि प्रतिक्षिप्तम्[६२१७]। धर्मी धर्मैरुपक्रियते इत्यस्मिन्नपि पक्षे किमेकोपकार्यशक्त्यात्मा[६२१८]ऽनेकोपकार्यशक्त्यात्मा[६२१९] वेति पक्षद्वितयमप्यनेनैव निरस्तम्, सकलधर्मकलापस्योपकारकस्याप्रतिपत्तौ तदुपकार्यशक्त्यात्मनो धर्मिणः प्रतिपत्त्यघटनात्, सकलनिश्चयस्याविशेषात्[६२२०]। तदुक्तम्—

नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो[६२२१] ग्रहे।
सर्वात्मनोपकार्यस्य[६२२२] को भेदः स्यादनिश्चितः।।१।। ( )
एकोपकारके[६२२३] ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे।
दृष्टे तस्मिन्नदृष्टास्ते तद्ग्रहे सकलग्रहः।।२।। इति ( )

४२९. यदि[६२२४] पुनर्धर्माणामुपकारिकाः शक्तय उपकार्याश्च धर्मिणो भिन्ना एव, तदा ताभिस्तस्योपकारः कश्चित्तेन वा तासां क्रियते न वेति पक्षद्वयम्? तत्र न तावदुत्तरः पक्षः, तद्व्यपदेशविरोधात्[६२२५]। प्रथमपक्षे तु शक्तिभिः शक्तिमत उपकारेऽनर्थान्तरभूते स एव कृतः स्यात्। तथा च न शक्तिमानसौ, तत्कार्यत्वात्[६२२६]। ततोर्थान्तरभूतेऽनवस्थाप्रसङ्गः, तद्व्यपदेशसिद्ध्यर्थमुपकारान्तरपरिकल्पनात्[६२२७]। शक्तिमता शक्तीनामुपकारे शक्त्यन्तराणां कल्पनेऽनवस्थैव। तदकल्पने प्राच्यशक्तीनामप्यव्यवस्थितिः[६२२८]। इति न शक्तिशक्तिमद्व्यवहारः सिद्ध्येत्। तदप्युक्तम्—

[६२२९]धर्मोपकारशक्तीनां भेदे तास्तस्य किं [६२२९]यदि ?
नोपकारस्ततस्तासां तथा स्यादनवस्थितिः ।। (इति)

४३०. [६२३१]तदपि सर्वमपाकुर्वन्तः सूरयः प्राहुः—

धर्मे धर्मेऽन्य [६२३२]एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः ।
अङ्गित्वेन्यतमा[६२३३]न्तस्य शेषान्तानां [६२३४]तदङ्गता ।।२२।।

४३१. धर्मी तावदनन्तधर्मा जीवादिः, प्रमेयत्वान्यथानुपपत्तेः ।

४३२. [६२३५]ननु च धर्मेण व्यभिचारः, तस्यानन्तधर्मत्वाभावेपि प्रमेयत्वसिद्धेः । तस्याप्यनन्तधर्मत्वे धर्मित्वप्रसङ्गात्, न धर्मो नाम । [६२३६]तदभावे न धर्मीत्युभयापायः । प्रमेयत्वस्य च साधनधर्मस्यानन्तधर्मशून्यत्वे तेनैवाने[६२३७]कान्तः । तस्यानन्तधर्मत्वे धर्मित्वेन पक्षान्तःपातित्वान्न हेतुत्वम्, इत्युपाल[६२३८]म्भो न श्रेयान्, धर्मस्यैव सर्वथा [६२३९]कस्यचिदसंभवा[६२४०]त्तेन व्यभिचाराभावात् साधनस्य । न हि स्वधर्म्यपेक्षया यो धर्मः सत्त्वादिः, स एव स्वधर्मान्तरापेक्षो धर्मी न स्याद्यतो[६२४१]नन्तधर्मा न भवेत् । न [६२४२]चैवमनवस्थानम्, अनाद्यनन्तत्वाद् धर्मधर्मिस्वभावभेदव्यवहारस्य [६२४३]वलयवदभव्यसंसारवद्वा । न च धर्मिणो जीवादेरपोद्ध्रि[६२४४]यमाणो धर्मः प्रमेयः, [६२४५]तस्य नयवि[६२४६]शेषविषयतया प्रमाणाविषयत्वात्, इति न [६२४७]तेनानेकान्तः । [६२४८]एतेन प्रमेयत्वस्य [६२४९]धर्मस्य [६२५०]नयविषयस्य नेयत्वेनाप्रमे[६२५१]यत्वात्तेन व्यभिचारो निरस्तः । प्रमाणविषयस्य तु प्रमेयत्वस्य हेतोः स्वधर्मापेक्षयानन्तधर्मत्वेन धर्मित्वात्पक्षत्वेपि न हेतुत्वव्याघातः, [६२५२]स्वपरान[६२५३]न्तधर्मत्वे साध्येऽन्यथानुप[६२५४]पत्तिसद्भावात् । ततोनन्तधर्मा धर्मी सिद्ध्यत्येव । तस्य धर्मे धर्मेऽस्तित्वादौ भिन्न एवार्थः प्रयोजनं [६२५५]विधानादिः । प्रवृत्त्यादिर्वा तदज्ञानविच्छित्तिर्वा, न पुनरे[६२५६]क एव, येन प्रथमभङ्गादेवानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपत्तेः [६२५७]शेषभङ्गानामानर्थक्यं प्रसज्येत । न च धर्मा धर्मिणोनर्थान्तरभूता एव, नाप्यर्थान्तरमेव येन तत्पक्षभाविदूषणप्रसङ्गः, कथंचिद् भेदाभेदात्मकत्वाद्धर्मिधर्माणां त[६२५८]दात्मकवस्तुनो जात्यन्तरत्वाच्चित्रा[६२५९]कारैकसंवेदनवत्, [६२६०]तत्र विरोधादेरप्यनवकाशात् । केवलमङ्गित्वे प्रधानत्वेषुस्तित्वादिशु धर्मेष्वन्यतमस्यान्तस्य धर्मस्य, शेषान्तानां स्याच्छब्दसूचितान्यधर्माणां [६२६१]तदङ्गता तद्गुणभावः, [६२६२]तथा प्रतिपत्तुर्विवक्षाप्रवृत्तेरर्थित्वा[६२६३]विशेषात् । [६२६४]ततो भङ्गान्तरप्रयोगो युक्त एव, प्रतिधर्मं धर्मिणः [६२६५]कथंचित्स्वभावभेदोपपत्तेः ।

४३३. **यदि पुनः प्रत्युपाधि परमार्थतः स्वभावभेदो न स्यात्तदा [६२६६]दृष्टेऽभिहिते वा [६२६७]प्रमाणान्तर[६२६८]मुक्त्यन्तरं वा निरर्थकं स्यात्, गृहीतग्रहणात् पुनरुक्तेश्च ।** तथाहि—[६२६९]साक्षादुपलब्धे शब्दादौ क्षणिकतवाद्यनुमानं स्वार्थं न स्यात् धर्मिप्रतिपत्तौ कस्यचिदप्रतिपन्नस्वभावस्य [६२७०]साधनस्याभावात्, सर्वथा **स्वभावातिशयाभावात् ।** परार्थं चानुमानं वचनात्मकं न युज्येत, धर्मिवचनमात्रादेव साध्यनिर्देशसिद्धेः, साधनधर्मोक्तिसिद्धेश्च । [६२७१]तद्वचने पुनरुक्तताप्रसङ्गः, [६२७२]तस्य स्वभावातिशयाभावादेव—

[६२७३]तस्मादष्टस्य[६२७४] भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः[६२७५]।
[६२७६]भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति[६२७७] साधनं संप्रवर्तते ।।

४३४. इत्येतदप्यनालोचितवचनमेव[६२७८], दृष्टस्य भावस्य[६२७९] स्वभावातिशयाभावेऽखिलगुणदर्शनस्य विरोधात्, [६२८०]धर्मिमात्रेप्यभ्रान्तौ साध्ये स्वभावे भ्रान्त्ययोगात्, तदभ्रान्तौ[६२८१] वा शब्दसत्त्वादावपि[६२८२] भ्रान्तिप्रसक्तेः कुतः साधनं संप्रवर्तेत, यतोऽर्थनिश्चयः[६२८३] स्यात्[६२८४] ? शब्दसत्त्वादौ निश्चये च कथमनित्यत्वादावनिश्चयः[६२८५] ? स्वभावातिशयप्रसङ्गात्, निश्चितानिश्चितयोरेकस्वभावत्वे[६२८६] सर्वथातिप्रसङ्गात्[६२८७]।

४३५. **सदुत्पत्तिकृतकत्वादेः[६२८८] प्रत्यनीकस्वभावविशेषाभावाद्[६२८९] यावन्ति पररूपाणि तावन्त्यस्ततस्ततो व्यावृत्तयः प्रत्येकमित्येषापि कल्पना[६२९०] मा भूत्।** न हि किञ्चिदसदनुत्पत्तिमदकृतकत्वादि वा वस्तुभूतमस्ति सौगतप्रसिद्धं पररूपं यतो व्यावृत्तं परमार्थतोऽस्वभावभेदमपि शब्दादिस्वलक्षणं सदुत्पत्ति-कृतकत्वादिस्वभावभेदवत्[६२९१]परिकल्प्यते[६२९२]। पराभ्युपगमात्सिद्धमस्तीति चेत्, न, तस्याप्रमाणसिद्धत्वात्। कल्पनारोपितं तदस्तीति चेत् कुतस्तत्कल्पनाप्रसूतिः ? अनाद्यविद्योदयादिति चेत्तत एव सत्त्वादिधर्मकल्पनास्तु, किमसत्त्वादिव्यावृत्त्या ? सदेव[६२९३] किञ्चिद्गुणीभूतविधिस्वभावं निषेधप्राधान्यादसदुच्यते, [६२९४]सदन्तरविविक्तस्य सत एवासत्त्वव्यपदेशात्। तथोत्पत्तिमदन्तरविविक्तमुत्पत्तिमदेव किञ्चिदनुत्पत्तिमत्, कृतकान्तरविविक्तं कृतकमेवाकृतकं, वस्त्वन्तरविविक्तं वस्त्वेवावस्तुव्यवहृतिपथमुन्नीयते, इति चेन्न[६२९५], परमार्थतः सत्त्वादिवस्तुस्वभाव-भेदप्रसिद्धेः, निस्स्वभावभेदवस्तुरूपाभ्युपगमविरोधात्। **सतां हि स्वभावानां गुणप्रधानभावः स्यात्,** पादोत्तमाङ्गादिवत्[६२९६], न पुनरसतां शशाश्वविषाणादीनामविशेषात्। **ततः परिकल्पितव्यावृत्त्या [६२९७]धर्मान्तरव्यवस्थापनं परिफल्गुप्रायं, वस्तुस्वभावाभावप्रसङ्गात्।** शक्यं हि वक्तुम्, न हि किञ्चिदस्तु नामास्ति, तस्यावस्तुव्यावृत्त्या व्यवहरणात्, [६२९८]परिकल्पितवस्तुव्यावृत्त्या चावस्तुव्यवहारसिद्धेः। परस्पराश्रयणान्नैवमिति चेत्तर्हि कल्पितासत्त्वादिव्यावृत्त्या सत्त्वादयस्तद्व्यावृत्त्या चासत्त्वादिधर्मपरिकल्पनमित्यपि मा भूत्, परस्पराश्रयणाविशेषात्। [६२९९]स्ववासनासामर्थ्यात्सत्त्वेतरादिकल्पनयोरुत्पत्तेस्तद्व्यवहारस्यैव[६३००] परस्परापेक्षत्वान्न परस्पराश्रयणम्, सकल[६३०१]धर्म[६३०२]धर्मिविकल्पशब्दानां स्वलक्षणाविषयत्वात्, परिकल्पिततदन्यव्यावृत्तिविषयत्त्वसिद्धेरिति[६३०३] चेन्न[६३०४], **तथेन्द्रियबुद्धयोपि स्वलक्षणविषया मा भूवन्। केवलं व्यावृत्तिं पश्येयुः, अदृष्टे[६३०५] विकल्पायोगादतिप्रसङ्गाच्च[६३०६]।** यथैव हि नीले पीतादीनामदृष्टत्वान्न तद्विकल्पोत्पत्तिर्नीलस्य, दृष्टत्वान्नीलविकल्पस्यैवोत्पत्तिस्तथैवासत्त्वादिव्यावृत्तिमपश्यतस्तद्विकल्पोत्पत्तिर्मा[६३०७][६३०८] भूत्, स्वलक्षणदर्शनात्स्वलक्षणविकल्पोत्पत्तिरेवास्तु, न चैवं, तदन्यव्यावृत्तावेव[६३०९] विकल्पोत्पत्तेः। यदि पुनरसत्त्वादिव्यावृत्तीनामदर्शनेपि तदनादिवासनावशादेव तद्विकल्पोत्पत्तिरुररीक्रियते[६३१०], तदा नीलादिरूपादर्शनेपि तद्वासनासामर्थ्यादिव नीलादिविकल्पोत्पत्तेस्ततो नीलादिरूपव्यवस्था मा भूत्। [६३११]तद्वत्सुखादिव्यवस्थितिरपि कुतः संभाव्येत ? [६३१२]स्वसंवेदनव्यवस्था च तन्निश्चयोत्पत्तेर्दुर्घटैव[६३१३]। तदनुत्पत्तौ[६३१४] सुतरां तद्व्यवस्था[६३१५], स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवद्वेद्याकारविवेकवद्वा। स्वरूपस्य स्वतो गतिरित्यपि तथा निश्चयानुत्पत्तौ न सिद्ध्येत् ब्रह्माद्वैतादिवत्। ततः[६३१७] [६३१८]कुतश्चिन्निश्चयाद्वस्तुस्वभावभेदव्यवस्थायां सत्त्वादिनिश्चयाद्वस्तुनि

परमार्थतः सत्त्वादिधर्मभेदव्यवस्थितिरभ्युपगन्तव्या, अन्यथा क्वचिदपि व्यवस्थानासिद्धेः। परमार्थतः सत्त्वादिधर्मव्यवस्थितौ च सत्यां साधीयसी सत्त्वादिसप्तभङ्गी, सुनयार्पितत्वात्।

सम्प्रत्येकानेकत्वादिसप्तभङ्ग्यामपि [६३१९]तामेव प्रक्रियामतिदिशन्तः सूरयः प्राहुः—

एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्।
प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारदः ।। २३ ।।

४३६. स्यादेकमेव स्यादनेकमेवेति विकल्प आदिर्यस्य स एकानेकविकल्पादिः, तस्मिन्नुत्तरत्रापि [६३२०]स्याद्वादविशेषविचारेपि प्रक्रियामेनामन्वा[६३२१]दिष्टां भङ्गिनीं सप्तभङ्गाश्रयां नयैर्यथोचितस्वरू[६३२२]पैर्योजयेद् युक्तां प्रतिपादयेन्नयविशारदः स्याद्वादी, ततोऽन्यस्य तद्योजनेऽनधिकारात्। तद्यथा—

४३७. **स्यादे[६३२३]कं सद्द्रव्यनयापेक्षया**। न हि सत्पर्यायनयापेक्ष[६३२४]या सर्व[६३२५]था वा सर्वमेकमेवेति युक्तं, प्रमाणविरोधात्।

४३८. ननु च सद्द्रव्यनयार्पणादपि जीवादिद्रव्यमेकैकश एवैकं सिध्येत्, न तु नाना[६३२६]द्रव्यं, प्रतीतिविरोधात्[६३२७], तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानाभावात्, [६३२८]सर्वत्रैकत्वस्य [६३२९]तन्मात्रसाध्यत्वादन्यथातिप्र[६३३०]सङ्गादिति क[६३३१]श्चित्; तं प्रत्येके[६३३२] समादधते 'सदेव द्रव्यं सद्द्रव्यम्, तद्विषयो नयः संग्रहः [६३३३]परमः, तदपेक्षया [६३३४]सर्वस्यैकत्ववचनाददोषः' इति। [६३३५]अपरे तु 'सद्द्रव्यमेव नयः, [६३३६]नीयमानत्वाद्धेतोः, तदपेक्षया सर्वमेकं, जीवादीनां षण्णां तद्भेदप्रभेदानां चानन्ता[६३३७]नन्तानां तत्पर्यायत्वात्, 'एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्' इति संक्षेप[६३३८]तस्तथोप[६३३९]देशात्, [६३४०]तस्य सर्वत्र सर्वदा विच्छेदानुपलक्षणात् प्रतीतिविरोधाभावादेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापि सदेवेमित्यबाधितस्य सर्वत्र भावात्, [६३४१]अभावस्यापि तत्पर्यायत्वान्न किञ्चिद्दूषणम्' इति समाचक्षते।

४३९. ननु[६३४२] च जीवादयो विशेषाः परस्परं व्यावृत्तविव[६३४३]र्त्ताः, कथमेकं द्रव्यं, विरोधादिति चेन्न, कथंचिदेकत्वेन विरोधाभावात् कथंचिद्विशिष्टप्रतिभासात्। **यद्यपि ते वि[६३४४]शेषाः परस्परव्यावृत्तपरिणामाः कालादिभेदेपि सद्रूपाविशिष्टाश्चित्र[६३४६]ज्ञाननीलादिनिर्भासवत्**। यथा हि चित्रप्रति[६३४७]भासाप्येकैव बुद्धिः, बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्। [६३४८]शक्यविवेचनं हि बाह्यचित्रमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलाद्याकारा इति चित्रज्ञानशक्यविवेचनं नीलादिनिर्भासभेदेऽप्येकमिष्यते तथा जीवादिविशेषभेदेप्येकं सद्द्रव्यं, कालभेदेपि सद्रूपादशक्यविवेचनत्वात्, देशभेदेपि वा [६३४९]ततस्तेषां विवेचयितुमशक्तेराकारभेदवत्, [६३५०]ततस्तेषां कदाचित्क्वचित्कथंचिदपि विवेचने स्वरूपाभावप्रसङ्गात्। [६३५१]सामान्यविशेषसमवाय[६३५२]वत्प्राग[६३५३]भावादिवद्वा सद्रूपाद्वि[६३५४]वेचनेपि जीवा[६३५५]दीनां नाभाव इति चे[६३५६]न्न, [६३५७]तेषामपि सद्विवर्तत्वात्, [६३५८]सद्रूपविवेचनासिद्धेरन्यथा प्रमेयत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः, सर्वथा सत्त्वाद्भिन्नस्यासत्त्वनिर्णयात्। ततो जीवादिविशेषाः कालादिभेदेपि स्यादेकं द्रव्यं, सद्रूपाविशिष्टत्वान्नीलादिनिर्भासभेदेपि ज्ञानरू[६३५९]पाविशिष्टत्वादेकचित्रज्ञानवत्। इति प्रथमो भङ्गः (१)।

४४०. तथा जीवादिविशेषाः [६३६०]**स्यादनेकत्वामास्कन्दति,** [६३६१]भेदेन दर्शनात्, [६३६२]संख्यासंख्यावदर्थवत्। **न हि संख्यासंख्यावतोर्भेदेनादृष्टौ विशेषणविशेष्यविकल्पः, [६३६३]कुण्डलिवत् [६३६४]क्षीरोदकवदतद्वेदिनि,** यतः [६३६५]सौगतस्तयोरभेदं मन्येत। [६३६०]**न च भेदैकान्ते [६३६७]तद्वृत्तास्ति, व्यपदेशनिमित्ताभावात्।** [६३६८]सख्यावानर्थ इति व्यपदेशनिमित्तं समवाय इति [६३६९]चेन्न, तस्य कथंचित्तादात्म्यरूपत्वे भेदैकान्तासिद्धेर्वैशेषिकमतविरोधात्। पदार्थान्तरत्वे संख्यासंख्यावतोः समवाय इति [६३७०]व्यपदेशनिमित्ताभावः। [६३७१]विशेषणविशेष्यभावो व्यपदेशनिमित्तमिति चेत्, न, तस्यापि ततो भेदे व्यपदेशनिमित्तान्तरापेक्षणात्पर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्थाप्रसङ्गाच्च। [६३७२]**तस्यादयं कथंचिदेव संख्यासंख्यावतोः स्वभावभेदं पश्यति, [६३७३]तद्विशिष्टविकल्पनात्[६३७४]क्वचिन्निर्णयेप्य[६३७५]न्यत्र [६३७६]संशयाद्वर्णरसादिवदिति[६३७७]**। तदेवं सर्वं स्यादनेकम्। इति द्वितीयो भङ्गः (२)

४४१. क्रमार्पितद्वयात्स्यादुभयम् (३)। सहावक्तव्यं, वक्तुमशक्तेः। सहस्यादवक्तव्यं [६३७८]वक्तुमशक्तेः, (४)। स्यादेकावक्तव्यम्, [६३७९]स्वलक्षणस्यैकस्य वक्तुमशक्यत्वात् (५)। स्यादनेकावक्तव्यं, [६३८०]तस्यानेकस्यापि वक्तुमशक्तेः (६)। [६३८१]तत एव स्यादुभयावक्तव्यम् (७)। इति सप्तभङ्गीप्रक्रियायोजनमतिदेश[६३८२]वचनसामर्थ्यादवसीयते। तत एव चैकत्वमेकधर्मिणि स्वप्रतिषेध्येनानेकत्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वाद्वैधर्म्यविनाभाविसाधर्म्यवद्धेतौ। अनेकत्वं स्वप्रतिषेध्येनैकत्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वात् साधर्म्याविनाभाविवैधर्म्यवद्धेतौ। एवं तदुभयादयोपि स्वप्रतिषेध्येनाविनाभाविनो विशेषणत्वात् विशेष्यत्वात्, शब्दगोचरत्वात्, वस्तुत्वाद्वा स्वसाध्येतरापेक्षया हेत्वहेत्वात्मकसाधनधर्मवत्, इत्यपि [६३८३]नययोजनमविरुद्धमवबोद्धव्यम्। [६३८४]विशेषणतवादेः साधनधर्मस्यापि स्वविशेष्यापेक्षया विशेषणस्य [६३८५]स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वसिद्धेर्न तेन [६३८६]विशेषणत्वादिहेतोर्व्यभिचारः। नापि [६३८७]विशेष्यत्वस्य, स्वविशेषणापेक्षया विशेष्यस्यापि [६३८८]स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वात्। [६३८९]शब्दगोचरत्वस्य च शब्दान्तरागोचरस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वात्, [६३९०]वस्तुत्वंधर्मस्य च वस्त्वंशत्वेन वस्तुत्वरूपस्य [६३९१]तत एव व्यभिचारित्वाशङ्कापि न कर्त्तव्या, अनेकान्तवादिनां तथा प्रतीतेर्विरोधाभावात्।

४४२. [६३९२]एवमेकत्वानेकत्वाभ्यामनवस्थितं सप्तभङ्ग्यामारूढं जीवादिवस्तु, [६३९३]कार्यकारित्वान्यथानुपपत्तेः। [६३९४]सर्वथैकान्ते क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, इत्याद्यपि योजनीयम्।

प्रज्ञाधीशप्र[६३९५]पूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्पद्
[६३९६]विद्यानन्दोदयायाऽनवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय।
[६३९७]स्ताद् गौः [६३९८]सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभङ्गी[६३९९]विधीद्धा
भावाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलङ्क[६४००]प्रकाशा॥ १॥

इत्याप्तमी[६४०१]मांसालङ्कृतौ प्रथमः [६४०२]परिच्छेदः।

●

प्रथमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. ॐ नमः। इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरपत्येकबुद्धश्रुतकेवलिदशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नन्तः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र मङ्गलपुरस्सरस्तवविषय-परमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे।

तदनु सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवस्तदेतस्याष्टशत्याख्येन भाष्येणोन्मेषमकार्षीत्।

तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसामलंचिकीर्षवः स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यसगं गिरां चातुर्रीमाविर्भावयन्तः प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः—"श्रीवर्धमानमित्यादि"। अस्यार्थः—अलङ्क्रियते विभूष्यते। केन? मया विद्यानन्दसूरिणा। अनेनालङ्कारस्य महत्त्वमुद्द्योतितम्। का? कृतिः सन्दर्भः। किंरूपा? शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसिताम्। विशेष्यविशेषणयोराविष्टलिङ्गत्वादयं निर्देशः। यथा—रमणीरत्नमुर्वशीति। कस्य? अस्य स्वामिसमन्तभद्राचार्यस्य। माहात्म्यमावेदितम्। श्रीवर्द्धमानः समन्तभद्रः सूरिरनिन्द्यवागित्येतत्त्रितयस्यानन्तरोक्तस्यास्येत्यनेन परिग्रहप्राप्तावपि सूरेरेव परिगृहीतिः, कृतेरनेनैव प्रत्यासत्तिप्रकर्षयोगात्। किं कृत्वा? प्रागभिवन्द्य अभितः समन्तान्मनसा वचसा वपुषा च वंदित्वा। अनेन नमस्कृतावास्तिक्यस्यास्तित्वमादर्शितम्। कम्? श्रीवर्द्धमानम्।

अव समन्तादृद्धं प्रवृद्ध मानं केवलज्ञानं यस्यासौ तथोक्तः। श्रिया समवसरणादिलक्षणया परमार्हन्त्यलक्ष्म्या लक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानः परमजिनेश्वरसमुदयस्तम्। अर्थसमुदयस्यार्थः कथम्? अव समन्तादृद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्द्धमानः। अवाप्योरल्लोप इत्यवशब्दस्याकारलोपः। श्रिया बहिरङ्गया चान्तरङ्गया समवसरणानन्तचतुष्टयलक्षणया चोपलक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानोऽर्हत्समुदय इति व्युत्पत्तेः। अनेन परमार्हतां समुदयमिति वृत्तिकारोक्तप्रतिज्ञाश्लोकेन नमस्कृतौ विशेष्यमुपात्तम्। कथम्भूतं? समन्तभद्रम्। समन्ताद्भद्राणि शतमखशताभिवन्दितानि गर्भावतरणमहिमादिकल्याणानि यस्य तम्। अनेनाखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितमिति विशेषणमुपगृहीतम्। भूयः कथम्भूतम्? उद्भूतः प्रसिद्धो बोधस्य महिमा वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणो यस्य तम्। अनेनाचलज्योतिर्ज्वलत्केवलालोकालोकितलोकालोकमिति विशेषणं स्वीकृतम्। अचलैर्निर्बाधैर्ज्योतिर्भिर्निर्भासैर्ज्वलता दीप्यमानेन केवलालोकेन केवलदर्शनेनालोकितौ लोकालोकौ येन तमिति प्रतिपादनात्।

भूयोपि कथम्भूतम्? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्यानेकान्तनीतिगङ्गाप्रवाहावगाहिनी वाग् वाणी यस्य तम्। अनेनोद्दीपीकृतधर्मतीर्थमिति विशेषणमात्मीकृतम्। उद्दीपीकृतं धर्मप्रतिपादकं तीर्थं शास्त्रं येनेति व्युत्पादनात्। भगवान् श्रीवर्द्धमानः कल्याणसम्पदाशंसिनामभिवन्द्यः सकलकल्याणसम्पदभिरामत्वात्। यथा सकललक्ष्मीसम्पदभिरामः सार्वभौमो लक्ष्मीसम्पदाशंसिनामिति स्वभावलिङ्गजनितमनुमानम्। सकलकल्याणसम्पदभिरामोऽयमुद्भूतबोधमहिमत्वादिति कारणसहचरलिङ्गजनितं केवलज्ञानोदयसहभाविनस्तीर्थकरपुण्योदयात् सकलकल्याणाभिरामपरमार्हन्त्यलक्ष्मीसम्पत्संयुतः सर्वत्रोद्भूतमाहिमायं तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्। यथैवागदङ्कारकर्मणि युक्तिशास्त्राविरोधिवाग्भिषग्वरस्तत्रोद्भूतमहिमेति कार्यलिङ्गजनितम्, महीयसां वचनातिशयस्य प्रज्ञातिशयनिबन्धनत्वादिति। एवमुत्तरत्र व्याख्याद्वयेपि यथासम्भवं हेतूपन्यासः प्रतिपत्तव्यः।

अथवा अभिवन्द्य। कम्? समन्तभद्रं समन्तभद्राचार्यम्। कीदृशम्? श्रीवर्धमानं श्रिया निखिलविद्यालङ्कार-निरवद्यस्याद्वादविद्याविभवाधिपत्यलक्षणया लक्ष्म्या वर्द्धमानमेधमानम्। साक्षात्कृतसकलवाङ्मयत्वेन समस्तविद्याविदां परमैश्वर्यमातिष्ठमानस्य स्याद्वादविद्याग्रगुरोर्महामुनेः श्रीवर्द्धमानतायां विवादाभावात्। भूयः कीदृशम्? उद्भूतबोधमहिमानम्। उद्भूतो बोधस्य महिमा भव्यानां कलिकालेप्यकलङ्कभावाविर्भावाय स्याद्वादतत्त्वसमर्थने पटिमा यस्य तम्। भूयोपि कीदृशम्?

अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्या सप्तभङ्गीसमालिङ्गिता वागाप्तमीमांसास्तुतिर्यस्य तम्। अनेन स्याद्वादविद्याधिपत्यं भव्याकलङ्कभावाविर्भावनावैदग्ध्यं तीर्थप्रभावनाप्रगल्भ्यमिति विशेषणत्रयेण तीर्थमित्येतदादौ कृत्वेत्येतदन्ते वृत्तांशे वाक्यत्रयोपदर्शितं सूरेर्विशेषणत्रयं संबोधितम्। तत्राद्येन विशेषणेन सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेरुद्धृत्यैतद्वाक्यमाश्लिष्टं। भगवानयमाचार्यः स्याद्वादविद्याविभवाधिपतिस्तद्विद्यामहोदधेरुद्धृत्य प्रकरणमारचयितृत्वात्। यथा सकलश्रुतविद्यामहोदधेरुद्धृत्योत्तराध्ययनप्रकरण-मारचयन् भद्रबाहुस्तद्विद्याविभवाधिपतिरित्युपपादनात्। द्वितीयेन भव्यानामकलङ्कभावकृतये काले कलावित्येतदिष्टं स्पृष्टम्। तृतीयेन तीर्थं प्राभावीत्येतदुपक्षिप्तमिति। विशेष्यं तु प्रसिद्धमेव।

अथवाभिवन्द्य। कम्? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्या प्रमाणाबाधापूर्वापरविरोधविधुरा वाग्व्याहृतिर्यस्मिन्नसावनिन्द्यवाक् प्रस्तुतत्वात्, समन्तभद्राचार्यकृतिराप्तमीमांसास्तवस्तम्। अनेन गामिति विशेष्यमालिङ्गितम्। कीदृशम्? श्रीवर्द्धमानम्। श्रिया नानाभङ्गीभावसुव्यक्तमूर्त्या स्यात्कारलक्ष्म्या वर्द्धमानमभ्युदयमानम्। अनेन सप्तभङ्गीविधिमिति विशेषणमुपगूढम्। भूयः कीदृशम्? समन्तभद्रं समन्तात्सर्वतो भद्रं सहृदयहृदयाह्लादितत्त्वागमसुधासारनिष्यन्दिसूक्तिरमणीयमिति यावत्। अनेन स्याद्वादामृतगर्भिणीमिति विशेषणं परिरब्धम्। अनेकान्ततत्त्वकलनात्मना पीयूषेण सान्तस्सारमिति गोशब्दस्य धेन्वर्थवृत्तितामभिसमीक्ष्य प्रतिपादनात्। भूयोपि कीदृशम्? उद्भूतबोधमहिमानम्। उद्भूतो बोधस्यानेकान्ततत्त्वप्रकाशस्य महिमा दुरितैकान्तवादतमस्काण्डखण्डने प्रचण्डिमा यस्माद्विनेयानां तम्। अनेन प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयामिति विशेषणं परिष्वक्तम्, गोशब्दस्य दीप्त्यर्थविषयतामाकलय्य निवेदनात्। **शास्त्रं तत्त्वार्थसूत्रं** तस्यावतारः प्रारम्भस्तस्मिन् रचिता यासौ स्तुतिः—**''मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्''**—इत्यादिस्तस्या गोचरो विषयोसावाप्तस्तस्य मीमांसितं या। अस्मिन् श्लोके पूर्वार्द्धेन भाष्यादिपद्यद्वयार्थः, उत्तरार्द्धेन प्रथमभाष्यार्थश्च सङ्गृहीतः समस्तः। भाष्यलक्षणं यथा—

> सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुगामिभिः।
> स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

२. सन्दर्भः। ३. विद्यानन्दसूरिणा। ४. समन्तभद्राचार्यस्य। ५. ननु चेष्टदेवतामभिष्टुत्यैव सर्वेपि शास्त्रकृतः शास्त्रमुपक्रमन्ते न पुनः स्तुत्यस्तोतृस्तुतोस्तत्त्रयस्तोत्रमिदं भगवता सूचितं कथं सौन्दर्यमास्कन्दतीत्याशङ्कायामाह–श्रेय इत्यादि। ६. इदं साध्यम्। अनेन श्लोकवर्त्त्यभिवन्द्यशब्दः संस्तवनार्थ एव न तु प्रणमनार्थ इति प्रकाशितः (तम्)। अनेनोपकारकरणार्थं स्तुत्यादित्रयसंस्तवनं कृतमिति प्रकाशितं, श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिरित्यादौ तथैव श्रवणात्। अत एव तदाश्रयत्वात्तदन्यतमासम्भवे तदघटनात्। अनेन सम्मतिर्दर्शिता भाष्यादिपद्यद्वस्याभिप्रायश्च सूचितः, भाष्यानुसारेणैवालङ्कारः क्रियते इति च प्रकाशितः (तम्)। ७. पक्षः। ८. ननु चास्यालङ्करणस्य स्तुत्यस्तोतृस्तुतिनिमित्तकत्वेपि तत्र तत्त्रयस्तोत्रेण श्रेयसा भाव्यमिति कोयं नियम इत्याशङ्कायामाह तद्वृत्तिकारैरपीत्यादि। भट्टाकलङ्कदेवैः। वृत्तिकारैः अकलङ्कदेवैः। ९.०००० दिना काव्येन इति टिप्यंतरम्। १०. नन्वस्य भगवतः समन्तभद्रस्य समन्तभद्रा-(देवागमा)दयस्तिस्र एव कृतयः श्रूयन्ते, न तु शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं नाम कृतिस्तस्मात्कथमियं प्रतिज्ञा सुघटनामटतीत्युक्ते वक्ति—देवागमेत्यादि। मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि। ११. स्वीकुर्वता समन्तभद्रस्वामिना। १२. स्वस्य समन्तभद्रस्य। १३. प्रेरकत्वं वाऽऽराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिस्तत्रात्यन्तमनुरागः श्रद्धा। १४. कटाक्षिसंसूचितमित्यर्थः। प्रतिज्ञातम्। स्वीकृतम्। सामर्थ्येनोपपन्नम्। संगृहीतम्। १५. (यतः) प्रयोजनाभावे शास्त्रकरणं न स्यात्। १६. तयोः श्रद्धागुणज्ञतयोर्मध्ये एकस्याभावे। १७. परीक्षालक्षणस्य देवागमस्तवस्य। १८. प्रयोजनानुसारेण शास्त्रकरणं घटते। १९. अनुपपत्तिः कुत इत्याह–पूर्वशास्त्रानुसारितया। २०. ग्रन्थकारस्य तत्त्वार्थशास्त्रप्रसिद्धानुसारित्वेन स्वोपक्रान्तत्वस्वरुचिविरचि-तत्वपरिहारलक्षणप्रयोजनेन मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयेत्यादिप्रकारेणैवोपन्यासात्। अन्यथानुपपत्तिप्रकारेण परीक्षात्वेन वा। २१. वृत्तिग्रन्थेन। २२. स्वामिनः समन्तभद्रस्य "पक्षभूतस्य"। २३. प्रेरकत्वे। २४. मोक्षमार्गस्येत्यादि। २५. मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि। २६. विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्य-(घटमानयोश्च) दौर्बल्यावधारणाय प्रवर्त्तमानो विचारः परीक्षा। सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं न स्यादित्येवं प्रवर्त्तते। २७. स्वीकारस्य। २८. श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनं (साध्यं) पक्षः धर्मित्वं समन्तभद्राचार्यस्यास्ति, आप्तगुणातिशय-

परीक्षोपक्षेपान्यथानुपपत्तेः। २९. अर्थस्यानुभवगम्यस्य परीक्षाविशेषस्य गुणातिशयपरीक्षोपक्षिप्तस्यैव तावद्देवागमाभिधानमिति निर्णयः। कथमिति चेदुच्यते। अस्य देवागमत्वान्निर्णये ग्रन्थकारस्य श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे प्रयोजने साध्ये साधनमिदं न भवत्येव स्वरूपासिद्धत्वात्। कथमिति चेद्देवागममन्तरेणान्यस्य मोक्षशास्त्रारम्भरचित—"मोक्षमार्गस्य नेतार"–मित्यादिस्तवनविषयाप्त-गुणातिशयपरीक्षारूपायाः समन्तभद्राचार्यकृतेः सर्वथाप्यसम्भवात्। निश्श्रेयसपूर्वोक्तशास्त्रशब्दस्यार्थोयम्। ३०. एतच्च विभावयति। ३१. नन्वेवमपि शास्त्रारम्भस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षैव देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति देवागमेत्यादिमङ्गल-पुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामित्यनेन तयोरेकत्वेनाभिधानात्, न पुनः शास्त्रावतारचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति। ततः कथमिदमुक्तम्—शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रम्। देवागमाभिधानमित्युक्ते तद्गुणातिशयपरीक्षातदाप्तमीमांसितयोरेकत्वे साधिते तदाप्तमीमांसितमपि देवागमाभिधानं भविष्यत्येवेति स्वीकृत्य तयोरेकत्वसमर्थनार्थमाह—मङ्गलपुरस्सरेत्यादि।

३२. मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि। ३३. ननु च मीमांसितं, परीक्षा, विचार इत्यनर्थान्तरं तच्च वादिप्रतिवादिभ्यां भवितव्यम्। तथा च सति समन्तभद्राचार्यस्य महावादिनः प्रतिवादी न कश्चिन्मनुष्यमात्रः सम्भवत्येव (अवटुतटमटति झटिति स्फुटतटवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा। वादिनि समन्तभद्रे कान्येषां संकथा तत्र॥)। ततः कथमाप्तमीमांसाविधानमुपपद्यते इति पृष्टः सन्नाचष्टे तदेवमित्यादि। तदेवमुक्तन्यायेनेत्यर्थः। ३४. तत्त्वार्थसूत्रस्य। ३५. मोक्षनिमित्तं मङ्गलनिमित्तमाचार्याः शास्त्रं कुर्वन्ति। ३६. उमास्वामिपादैः गृद्धपिच्छाचार्यापरनामधेयैः—"आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः। एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दी वितन्यते"॥१॥ तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वात्प्रकटीकृतसन्मतः। उमास्वामिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान्॥२॥ (टिप्पण्यन्तरम्) ३७. विनेयानाम्। ३८. यसः (द्वन्द्वसमासः)। ३९. अर्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासादिति पूर्वोक्तभाष्यांशविवरणमिदम्। एवं यथायोग्यं ज्ञातव्यम्। ४०. कुर्वाणाः समन्तभद्राचार्याः। ४१. जिनः, परमेष्ठी। ४२. तत्त्वार्थसूत्रकारैः। ४३. मोक्षमार्गस्य नेता कर्मभूभृतां भेत्ता विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति विशेषणत्रयेणाहं स्तुतः सूत्रकृता, भो समन्तभद्राचार्या देवागमादिविभूत्या त्वं महानिति कुतोहं नाभिष्टुत इति पृष्टा इव। ४४. इति हेतोः। अथवा देवागमादिविभूतितः ४५. वर्द्धमानः। ४६. अस्माकं परीक्षाप्रधानानां समन्तभद्रादीनाम्। ४७. चक्रवर्त्यागमादि। ४८. चतुरास्यत्वादि। ४९. सुरपुष्पवृष्ट्यादि। ५०. परीक्षाप्रधानानां स्तुत्यो नासीदित्यादि भावयति। ५१. आज्ञावशवर्तिनः। ५२. देवागमादिचिह्नस्य। ५३. इति हेतोः। ५४. देवागमादिविभूतितस्त्वं महानित्ययम्। ५५. देवागमादि। ५६. महत्त्वाभावे। ५७. मीमांसकस्य। ५८. देवागमादिप्रतिपादिकागमः। ५९. जैनागमसत्यवादिनां स्याद्वादिनामपि विपक्षेषु मष्करिप्रभृतिषु प्रवर्त्तमानत्वाद्धेतोः साधकत्वासम्भवात्। ६०. माययोपदर्शिताश्च तास्तद्विभूतयो देवागमादिविभूतयस्तास्सन्ति येषां मायाविनां ते मायोपदर्शिततद्विभूतिमन्तस्तैः। ६१. अत्राह कश्चित्स्वमतवर्ती 'हे समन्तभद्राचार्या मायाविभिः कृत्त्वास्य हेतोर्व्यभिचारो नास्ति तदेव सत्यघूमवत्त्वादेरित्यादिना दर्शयति। ६२. देवागमादिमत्त्वस्य। ६३. विनाशः। ६४ मायाविषु तादृश्यो विभूतयो न दृश्यन्ते। ६५. इति हेतोः। ६६. देवागमादिश्लोकस्यैवं व्याख्यानादित्यर्थः। ६७. व्याख्यानाद् इति टिप्पण्यंतरम्। ६८. व्यभिचाराभावे देवागमेत्यादिग्रन्थविरोध इत्यत आह—ग्रन्थविरोधाभावात्। ६९. तटस्थः स्वमतवर्ती पृच्छति। ७०. देवागमादिहेतुम्। ७१. मष्करिष्वसम्भविनम्। ७२. निश्चीयात्। ७३. विभूतिमत्त्वादिहेतोः। ७४. तयोः प्रत्यक्षानुमानयोरगोचरत्वात्। प्रत्यक्षाच्चामरादिविभूतिर्न दृश्यते नाप्यनुमानेन हेतोरसिद्धेरिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यां हेतुरयं गोचरो न। ७५. असिद्धप्रमाणत्वादागमात्तस्य हेतोः परिज्ञानं चेत्तदातिप्रसङ्ग५। ७६. अयमागमो धर्मी प्रमाणं भवितुमर्हति पूर्वापरविरोधरहितत्वादित्यनुमानात् प्रमाणात्। ७७. महानिति। ७८. आगमाद्धेतुप्रतिपत्तितः साध्यसिद्धिरिति परम्परापरिश्रमस्तस्य परिहारः। ७९. आगमात्साध्यप्रतिपत्तिप्रकारेण।

८०. निर्विशेषे विशेषव्याख्यानद्वयस्यागमाश्रित्वं यतः। ८१. मष्करिपूरणाद्यन्यजनेभ्योतिशयवता। ८२. परमार्थभूतेन। ८३. अहं पक्षः, महान् भवामीति साध्यो धर्मः, अन्तरङ्गबहिरङ्गविग्रहादिमहोदयसद्भावान्यथानुपपत्तेः। ८४. प्रश्ने। ८५. अक्षीणकषायेषु देवेषु। ८६. वर्त्तते यस्मात्तस्मात्त्वं महात्र। अथवा किमस्तीति काकुः नास्तीत्यर्थः। अतस्त्वं महानस्माकमसीत्यभिप्रायो भगवतः। ८७. आदिशब्दान्मोहद्वेषमदाहङ्काराणां ग्रहणम्। ८८. मन्त्राद्यनपेक्षत्वात्।

८९. चक्रवर्त्यादीनाम्। ९०. हेतोर्व्यभिचारित्वात्। ९१. यदि। आह स्वमतवर्ती। ९२. विग्रहादिमहोदयः। ९३. न केनापि। ९४. किमस्तीति काकुः, नास्तीत्यर्थः। ९५. सोपि प्रकृतहेतुं विपक्षासम्भविनं कुतः प्रतीयादित्यादिसम्बन्धनीयम्। ९६. बहूनां प्रमाणानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः प्रमाणसम्प्लवः। जैनानाम्। ९७. महत्ता। ९८. परिच्छिति। ९९. कालस्वरूपम्। १००. निर्णयात्। १०१. पुनः स प्रतिपत्ता तं हिरण्यरेतसं साक्षाद्बोद्धुमिच्छति। कस्मात्? अग्निनेन्द्रियसंयोगात्साध्यविशेषप्रतिभासः सिद्ध्यति यतः १०२. इन्द्रियेण। १०३. पिङ्गभासुराकार। १०४. विशेषप्रतिभाससिद्धेरिति वा पाठः। १०५. अग्निप्रकारेण। १०६. मात्रगम्ये इति पाठन्तरम्। १०७. प्रमाणसंप्लवेन तस्य साध्यस्य परिज्ञानविशेषो नास्ति। १०८. किमिति किमर्थम्। १०९. कारणं विना। ११०. साध्ये। १११. अग्नौ धूमे च प्रत्यक्षनिश्चिते सति तस्य प्रमाणसंप्लवस्याङ्गीकारप्रसङ्गो घटते। ११२. दिवौकस्स्वप्यसम्भाविना आगमेन। ११३. प्रश्नप्रवृत्तौ सत्याम्।

११४. स्वकीयस्वकीयभिन्नाभिप्रायेण। ११५. मीमासक-सांख्य-सौगत-नैयायिक-चार्वाक-तत्त्वोपप्लववादि-योग-ब्रह्माद्वैत-वादि-पुरुषाद्वैतवादि-चित्राद्वैतवादि-शब्दाद्वैतवादि-ज्ञानाद्वैतवादिप्रमुखाणां वादिनामेकान्तमताश्रयिणाम्। ११६. तीर्थं परमागमलक्षणं कुर्वन्ति ये ते तीर्थकृतो जैनव्यतिरिक्तवादिनः कपिलादयस्तेषां समया आगमास्तेषाम्। ११७. यथाभूतार्थोपदेष्टृत्वम्। ११८. परमतापेक्षया काक्वा व्याख्यानं,'कश्चित्किं गुरुर्भवेदपि तु न कश्चितद्गुरुर्भवेदिति। जैनमतापेक्षयायमर्थो ग्राह्योऽस्याः कारिकायाः, कः परमात्मा चिदेवार्हन् केवल्येवाप्तो भवेन्नान्यः। भवं यन्ति ये ते भवेतः संसारिणस्तेषां गुरुर्भवेद्गुरुरित्येकपदं ज्ञेयम्। चार्वाकमते बृहस्पतेग्रहणम् ज्ञेयम्। ११९. प्रत्यक्षागोचरत्वात्। १२०. भगवान् धर्मो महान् भवतीति साध्यस्तीर्थकरत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। यो महान्न भवति स तीर्थकरो न भवति यथा रथ्यापुरुषः तीर्थकरश्चासौ तस्माद् महान् भवतीति। १२१. आगमात्। १२२. व्यभिचारमेव भावयति। १२३. एतन्नास्तीत्युक्ते आह। १२४. आशङ्क्य। १२५. कुमारिलेन। १२६. सर्वथा क्षणिकं, सर्वथा नित्यमित्यादि। १२७. पुंसः। १२८. यत एवं ततस्तीर्थकरत्वनामा हेतुर्व्यभिचारी सन् कस्यचित् सुगतादेर्महत्त्वं न साधयति। १२९. सर्वेषां तीर्थकरत्वप्रतिपादकत्वमस्ति यतः। १३०. श्रेयोर्थिनां कथं श्रेय इत्युक्ते आह 'वेदात्'। १३१. मीमांसकः। १३२. सर्वज्ञप्रतिपादकः। १३३. उपदेशाः। १३४. आदिशब्देन विधिनियोगौ। १३५. संवादकता प्रेरणालक्षणभावनाज्ञानम्। १३६. संवादकता नास्ति यतः। १३७. भावनारूपे। १३८. नियुक्तोहमित्याकूतं यस्माद्भवति स एव नियोग इत्यर्थः। १३९. सर्वं वै खाल्विदं ब्रह्मेत्यादिविधिस्वरूपप्रतिपादने वेदवाक्यं कथं न प्रमाणम्। १४०. कार्यस्वरूपयोः। १४१. अत्राह भावनावादी भट्टः। अग्निष्टोमं स्वर्गकामो यजेतानेन वादिनो मते लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययस्वरूपः। १४२. अप्रेरकत्वस्य असंघटमानस्य चिद्भावनारूपस्य कार्यस्य। १४३. अभिप्रायः। १४४. अनेन लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययार्थः सूच्यते न तु लडादिप्रत्ययार्थः। १४५. "जातिर्व्यक्तिश्च लिङ्गं च प्रकृत्यर्थोभिधीयते। संख्या च कारकं चेति प्रत्ययार्थः प्रतीयते"॥ १४५. अग्निहोत्रादिविशेषणरहितः। १४६. धात्वर्थनिरपेक्षः। १४७. अवश्यं करणीयः। १४८. कुत एतदित्याशङ्क्य पुरातनश्लोकत्रयमाह।

१४९. एव। १५०. वेदवाक्ये। १५१. कार्यरूपस्य नियोगस्य। १५२. अग्निहोत्रादिकम्। १५३. यजनमात्रः। १५४. कार्यस्य स्वनिष्पत्त्यर्थं यत्प्रेरकत्वं प्रवर्त्तकत्वम्। १५५. कार्यरूपस्य नियोगस्य। १५६. योगकर्मणि। १५७. नियोगवादिनाम्। १५८. वाक्यान्तर्गतकर्माद्यवयवापेक्षारहिता। १५९. प्रेरकत्वम्। १६०. सिद्धान्तः। १६१. नियोगरहिता। १६२. वाक्यस्य। स्वसिद्धौ इति पाठांतरम्। १६३. पुरुषस्य यागकर्मणि। १६४. ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञानाभावे तत्स्वसिद्धौ प्रेरकं न सिद्ध्यति। १६५. मुख्यं वेदवाक्यस्य यत्प्रेरकत्वं तद्यागलक्षणकार्ये उपचर्यते इत्युपचारः। १६६. वेदवाक्यव्यापारः। यागः। १६७. प्रवर्त्तकत्त्वम्। १६८. वेदवाक्यस्य। १६९. यागादौ कार्ये। १७०. यागवेदवाक्ययोः सम्बन्धः। १७१. प्रेरणां विना कार्यं कस्यचित्प्रेरकं नैव तेन कारणेन प्रेरणाकार्ययोः सम्बन्धो नियोगः प्रतिपादितः। १७२. तयोः प्रेरणाकार्ययोस्तादात्म्यम्। १७३. तादात्म्यम्। १७४. यतः कारणात्। १७५. कार्यरूपमेव हि यत्किञ्चन स्वनिष्पत्त्यै प्रेरकं स्यादस्य तु ब्रह्मणो नित्यत्वेन कार्यरूपत्वाभावात् प्रेरकत्वं न भवतीत्यर्थः। १७६. अग्निष्टोमादिवाक्ये कार्यप्रेरणानिरपेक्षतयावभासः परमात्मस्वभावो वा। १७७. निरंशम्। १७८. वेदात्। १७९. कुतः? यतः। १८०. यागकर्म। १८१ पुरुषः। १८२. स्वर्गकामी। १८३. यागकर्मणि।

१८४. प्रवर्तकवाक्ये सति। १८५. यागलक्षण। स्वर्ग। १८६. भविष्यद्रूपमेव भोग्यं नियोग इत्याह। १८७. अभिप्राय:।

१८८. स्वकीयम्। १८९. स्वर्गादिकं साध्यम्। १९०. पुंसा। १९१. वेदवाक्ये। १९२. यत:। १९३. यागादिलक्षणसम्पृक्तत्वम्। यज्ञकर्ता। भोग्यतामात्रेण। १९४. नियोग: स्यादबाधित इति वा पाठ:। १९५. यदि पुरुष एव नियोगस्तदा तस्य नित्यत्वात्कथं साध्यरूपो भवतीत्याशङ्कायामाह। १९६. साध्यकार्यविशिष्ट:। १९७. अथ विधिवादमाश्रित्य भट्ट: प्राभाकरमतसम्बन्धिनं नियोगवादं दूषयति। १९८. रविगुप्तेन। १९९. भाट्ट: प्राभाकरं प्रतिपृच्छति। २००. वाङ्मयमात्रकथनो व्यापार:। २०१. अष्टप्रकारविकल्पमध्ये। २०२. प्रथम: प्रमाणस्वरूपो विकल्प:। २०३ कर्त्तव्यार्थोपदेशो विधि:। ब्रह्म। २०४. नियोगवादिन:। २०५. अत्र प्रमाणस्याचिदात्मकत्वशङ्कायां तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारादित्यग्रे वक्ष्यमाणमुत्तरं द्रष्टव्यम्। २०६. प्रतिभासमात्रस्य। २०७. प्रतिभासश्चान्यो विधिश्चान्य इत्युक्ते आह। २०८. कर्त्तव्य। २०९. व्यतिरेकदृष्टान्त:। यथा घट: प्रतिभासमात्रात् कार्यरूपतया पृथक् प्रतीयते न तथा विधि: प्रतिभासमात्रात् स्वरूपात् पृथक् प्रतीयते नानुमीयते खपाठ:। २१०. व्यतिरेकदृष्टांत:। आदिशब्देन अङ्गुलिसंज्ञा ग्राह्या। यथा वचनादि: प्रेरकतया प्रतिभासमात्रात् पृथगनुभूयें तथा विधिर्नानुभूयते। २११. उभयरूपतया विधिर्नानुभूयते इत्युक्ते आह। क्रियते निष्पाद्यते इति कर्म घटादि। प्रेर्यते नियुज्यते पुरुष: स्वकृतयेऽनेनेति प्रेरकं वचनं करणम्। २१२. विधिप्रतीतौ। २१३. कर्मकरणसाधनत्वाभावेन विधिप्रतीतौ कार्यताप्रेरकताज्ञानं युक्तं न स्यात्। २१४. तर्हि किं स्वरूपं विधेरित्युक्ते आह— द्रष्टव्येत्यादि। २१५. "श्रोतव्य: श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तित:। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतव:"। २१६. परब्रह्म-स्वरूपेण ध्यातव्य:। २१७. अवस्था दर्शनादि, अवस्थान्तरमदर्शनादि, तेन विलक्षणो दर्शनादिस्तेन। २१८. अप्रेरितावस्था-विलक्षणेनाकारेण प्रेरितोहमित्यभिमानरूपेण दर्शनादिना। २१९. प्रमेयरूपस्य नियोगस्य ग्राहकं प्रमाणम्। २२०. प्रभाकरेण। २२१. श्रुतिवाक्यं प्रमाणं, नियोग: प्रमेयमिति चेत्। २२२. अत्राह भवानावादी भट्ट:—भो नियोगवादिन् प्रभाकर, तावकं श्रुतिवाक्यं चिदात्मकमचिदात्मकं वेति। तत्र विकल्पद्वयं खण्डयति। २२३. चन्द्रवन्मुखमित्यादिरुपचार:। २२४. ज्ञानात्मकत्वे सति। २२५. परब्रह्म पश्चात् कार्यं कुर्यात्।

२२६. पर्याय:। विवर्त्तस्तु इति पाठांतरम्। २२७. विशेषणमिदं नियोगस्य संवेदनविवर्त्तत्वसमर्थनार्थम्। २२८. ज्ञानपर्यायप्राप्तत्वान्नियोगस्य सामान्येन नियुक्तोहमित्याभिमानरूपत्वाभ्युपगमादन्यथा ज्ञानपर्यायप्राप्तभावे प्रमाणरूपत्वं नोपपद्यते, अप्रकाशमानत्वेन प्रमेयरूपत्वं च न घटते इति भाव:। २२९. स्वरूपम्। २३०. प्रकाशयन्। २३१. प्रमाणप्रमेयरूपत्यागे। २३२. संवेदनमात्रादन्यस्य कस्यचिदनुभयस्वभावत्वाघटनात्। २३३. पारमार्थिकत्वं कुत:? २३४. संवेदनमात्रस्य। २३५. कुत:। २३६. अनुभयस्वभावत्वं कुत:। २३७. सत्स्वरूपतया। २३८. संवेदनमात्रस्य। २३९. अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादिशब्दव्यापार:। २४०. प्रभाकरस्य वेदान्तवादिमतप्रवेश: स्यात्। २४१. शब्दरूपार्थरूपा चेति भावना द्वेधा। २४२. तदेव (पूर्वोक्तमेव) इति खपुस्तकपाठ:। २४३. अर्थभावना। २४४. शब्दभावना (आत्म) अर्थभावना च। २४५. शब्दव्यापारेण पुरुषव्यापारेण च। २४६. चेत्तर्हि मुद्रितप्रतौ पाठ:। २४७. तर्हि। भट्टमतानुसरणलक्षण: पूर्वोक्त:। २४८. प्रेरणाया अतीतकालत्वं क्रियाया भविष्यत्कालत्वं यत: पूर्वं प्रेरित:। २४९. यथा तेजस्तमसोरैक्यमेकत्र स्थातुं न शक्यम्। २५०. विषयो यागादिकर्म। २५१. पर्युदासवृत्त्या द्वौ विकल्पौ प्रसज्यवृत्त्या त्वेक: (नि:स्वभाव:) २५२ विषय:। २५३. वेदवाक्यकाले। २५४. विषयस्वभाव:। २५५. नियोग:। २५६. बुद्धिपरिणतस्य वर्तमानकाले कल्पितविषयस्य। २५७. विषयस्वभावनियोगस्य। २५८. प्रमाणप्रमेयव्यवहारस्य काल्पनिकत्वात्सौगतमते। वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्वितीदं हि सौगतमतम्। २५९. वेद। २६०. यागादिविषयो नियोगो यागमुत्पादयति। २६१. आकाशादि। २६२. यागादिनिष्पादनं वाक्यकाले जातमेव। २६३. पुरुषादिविषयस्य। २६४. यागादे:। २६५. यागादिविषयस्वभाव:। २६६. भाविनो विषयस्य। २६७. पूर्वोक्त:। २६८. फलस्वभावस्य। २६९. अन्यथा। २७०. प्रसङ्गादिति खपुस्तकपाठ:। २७१. स्वर्गादे:। २७२. अग्निष्टोमेन यजेतेति

वाक्यकाले। २७३. फलस्वभावः। २७४. असन्निहितस्य फलरूपनियोगस्य। २७५. शब्दस्यान्यापोहाभिधायित्वेनार्थशून्यवादः। सौगतमतं शब्दस्त्वन्यापोहवाचकरूपो न त्वर्थाभिधायी।

२७६. निःस्वभावस्यान्यापोहत्वानतिक्रमात्। २७७. अन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेन। २७८. तदुक्तम्—'प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न स' इति वचनात्। २७९. विरोधः। २८०. कथम्? २८१. यथा सदित्युक्तेऽसत्स्वयमेवायाति, असदित्युक्ते सत्स्वयमेवायाति। २८२. सत्त्वासत्त्वयोः। २८३. सदसत्त्वविधानाददोष इति खपाठः। स एव अत्र गृहीतः। मुद्रितप्रतौ तु सदसत्त्वाविरोधाद्दोष इति पाठः। २८४. भाट्टः। २८५ एकादशप्रकारोपि। २८६. सर्वपुरुषापेक्षाप्रकारेण। २८७. सौगतादीनाम्। २८८. अप्रवर्त्तकस्वभावे नियोगे प्रवर्त्तकतया मननं विपर्यासः। २८९. युष्माकं प्राभाकराणां विपरीतत्वादप्रवर्त्तकोस्तु। २९०. प्रवर्त्तकस्वभावे नियोगेऽप्रवर्त्तकतया मननं विपर्यासः। २९१. प्रवर्त्तकोस्त्विति खपाठः, अत एव खपुस्तके चतुर्दशाङ्कटिप्पण्यादौ अप्रवर्त्तकस्वभावे इति लेखः, त्रयोदशाङ्कटिप्पण्यादौ तु प्रवर्त्तकस्वभावे इति पाठः। २९२. अप्रवर्त्तकत्वात् (खपुस्तके)। २९३. शब्दाधिकारात्। २९४. ताथागतादयः। २९५. अत्राह नियोगवादी प्रभाकरः। २९६. अत्राह भावनावादी भट्टः—भो प्रभाकर इति ते वचनं स्वमतपक्षपातमात्रम्। कस्मात्? प्रभाकरमतस्यापि प्रमाणबाधितत्वेन विशेषो नास्ति यतः। २९७. नियोगकृद् यज्ञकृद् यज्ञकर्त्ता। अयं यज्ञकर्त्तायं नियोग इदं फलमिति भेदापादनं प्रत्यक्षादिप्रमाणाद्विरुद्धं मतभेदं साधयितु न शक्यते। २९८. वेदवाक्य। २९९. आदिशब्दात्पुरुषफले। ३००. विधिमध्यपतितत्वव्यवस्थापनेन। ३०१. प्रत्यक्षादिविरुद्धमिति सम्बन्धः। ३०२. तस्य नियोगस्य बाधकमुपपद्यते यतः। ३०३. शब्दनियोगस्य। ३०४. शब्दनियोगः सिद्धः सन्। ३०५. फलरहितान्नियोगाद्विचारचतुराणां प्रवृत्तिर्न घटते। घटते चेत्तदा तेषामप्रेक्षावत्त्वं सज्जतीति। ३०६. प्रसिद्ध इत्ययं शब्दः खपुस्तके नास्ति। ३०७. चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः। ३०८. चण्डनरपतिवचनादेशात्। ३०९. जनानाम्। ३१०. वित्तापहारादिः। ३११. अवश्यं सम्भवींति पाठो मुद्रितप्रतौ। ३१२. प्रभाकरः। ३१३. पापपरिहारफलाय। अवश्यं विघ्न आयाति धर्मे कार्ये, तन्निवारणाय। ३१४. त्रिकालं सन्ध्योपासनजपदेवर्षिपितृतर्पणादिकमित्याद्यनुष्ठानम्। ३१५. दर्शपौर्णमासीग्रहग्रहणादिषु क्रियमाणं नैमित्तिकमनुष्ठानम्। ३१६. "अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते" इति श्रुतेः। ३१७. भावनावादी। ३१८. प्रत्यवायपरिहारस्य फलत्वप्रतिपादनकाले। ३१९. यदि विघ्नविनाशनाय यज्ञः क्रियते तर्हि स्वर्गकाम इत्यनेन किं प्रयोजनम्? ३२०. इहलोकप्रत्यवायपरिहारार्थी पुमान् जुहुयादिति प्रवर्त्ततां, न तु स्वर्गकाम इति। ३२१. प्रत्ययस्वरूप एव नियोगः। ३२२. ततः स्वर्गकामनिरपेक्षतया यागे प्रवर्त्ततां नाम।

३२३. नियोगं विनापि। ३२४. अत्राह नियोगवादी। ३२५. पूर्वोक्तः सर्वः। ३२६ दूषणम्। ३२७. अग्निष्टोमं स्वर्गकामो यजेतेत्याद्यपौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यान्नियोगे दूषणं न तस्य वाक्यस्यादूष्यत्वात्। ३२८. नेह नानास्ति किञ्चन। आरामं (विस्तारं) तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यति कश्चन। ३२९. अदूष्यत्वस्याविशिष्टत्वात्। ३३०. पुरुषस्य। ३३१. परब्रह्म यथा। ३३२. एकादशभेदनियोगेषु। ३३३. यजेतेति। प्रवर्त्तकत्वं। ३३४. स्वर्गकाम। ३३५. कुदाली। ३३६. स्वर्गः स्वर्गो नियोगपक्षे कूदालिकापक्षे खननादि। ३३७. अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादि। ३३८. पूर्वोक्तेन वक्ष्यमाणेन च। ३३९. नियोज्यः पुमान्। ३४०. स्वर्गः। ३४१. प्रेरकत्वस्य। ३४२. निरर्थकत्वात्। ३४३. निरर्थकत्वादिति भावः। ३४४. नियोज्यनिरपेक्षस्य कार्यस्य। ३४५. प्रवर्त्तकत्वप्रकारेण। ३४६. यागादि। ३४७. वेदवाक्य। ३४८. इति च न सङ्गतमिति खपुस्तकपाठः। "इति वचनमसङ्गतम्" मुद्रितप्रतौ पाठः। ३४९. कार्यप्रेरणारूपेभ्यः सम्बन्धिभ्यः। ३५०. सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नोऽभिन्नो वेति विकल्पद्वयवर्तीति क्रमेण निराकुर्वन्नाह। ३५१. नियोगत्वेनाघटनादिति खपुस्तकपाठः। ३५२. सम्बन्धिनावात्मानौ स्वरूपे यस्य। ३५३. यसः (कर्मधारयः)। ३५४. तादात्म्यम्। ३५५. ततो भिन्नस्येत्यादिना। ३५६. नातिशयं प्राप्नोति। नातिक्रामति। किन्तु विधिवाद एवायातः। ३५७. विधिवादः। ३५८. अभिप्रायः। ३५९. पुरुषस्याभिमानाभावादित्युक्ते आह—पुरुषाभिमानमात्रस्य। ३६०. वेदवाक्य। ३६१. प्रवर्त्तकलक्षणो वाक्यधर्मः। ३६२. स्वर्गस्य। ३६३. पुरुषस्वभावो हि इति मुद्रितप्रतौ पाठः। ३६४. अन्यथा। तस्य पुरुषस्वभावस्य। ३६५. नित्यत्वेन। ३६६. अस्तित्वस्य। ३६७. नियोग इति। ३६८. प्राप्तेः। ३६९. अथ नियोगवादिनं निराकृत्य भट्टो विधिवादिनं दूषयति। ३७०. वाक्यार्थनिवेदनादिति खपाठः। ३७१. त्वया विधिवादिनेति शेषः।

३७२. यदि शब्दः सद्भावस्वरूपं नाभिदधाति निषेधस्वरूपमभिदधाति चेत्तदभावे क्वचिद्वस्तुति प्रवृत्तिर्न स्यात्। ३७३ ब्रह्माद्वैतवादिनाम्। ३७४. विधिस्वरूपमेव। ३७५. ननु स एव चिदात्मोभयस्वभावतया स्वात्मानं प्रकाशयन्नित्युक्तं तावत् निरंशतैवोच्यतेऽतः पूर्वापरविरोध इति चेन्न, प्रमेयस्वभावः काल्पनिकः प्रतिपाद्यार्थमुच्यते न तु वास्तवस्तद्विवर्तत्वात्तस्य। ३७६. प्रमाणप्रमेयरूपद्वयस्य कल्पितत्वाभिधानकाले। ३७७. विधौ कल्पितत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं घटते चेत्कल्पितं किमन्यापोहः ? स एव शब्दार्थस्तत्रापि वाक्यार्थत्वघटनात्। ३७८. अत्राह सौगतमतमवलम्ब्य भावनावादी विधिवादनं प्रति—हे विधिवादिन् कल्पनारूपत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं विधौ न विरुध्यते इति त्वया प्रतिपाद्यते चेत् तर्हि कल्पनारूपत्वादगोर्व्यावृत्तिर्गौः, अघटव्यावृर्त्तिर्घट इत्यादिलक्षणः सौगताभ्युपगतशब्दार्थः अन्यापोहः अभावात्मकस्त्वया विधिवादिना कथं निराक्रियते ? प्रमाणान्यापोहयोः कल्पितत्वाविशेषात्। ३७९. शून्यः। ३८० सौगतैः संविन्मात्रपक्षग्राहकैः। ३८१. विधिवादी। ३८२. तदा शब्दो वस्तुस्वरूपमभिदधाति अन्यापोहस्वरूपं नाभिदधाति चेदन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न स्यात्, स्वपररूपयोः सङ्करो भवेदित्यर्थः। ३८३. विधौ। ३८४. विधेयत्वात्प्राप्यत्वात्। ३८५. अन्यद् ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्तु नास्ति विधिवादिनो मते। ३८६. विधिवादी। ३८७. प्राप्यत्वात्। ३८८. परमपुरुषात्किञ्चिद्भिन्नं वस्तु नास्ति यतः। ३८९. विधौ। ३९०. अन्यपरिहारेण प्रवृत्त्यभावप्रतिपादनकाले। ३९१. द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रुतिः। ३९२. सौगत. आह—हे विधिवादिन् अन्यथा नैरात्म्यादिपरिहाराभावे पुरुषे शब्दस्य प्रवृत्तिर्घटते चेत्तदा नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रवृत्तिर्घटताम्। ३९३. अन्यथा। ३९४. विधिवाद्याहानात्मवादिनम्। अनाद्यज्ञानोपरूढ़ं यतस्तस्मान्नैरात्म्यादिर्शनश्रवणादौ प्रवृत्तिर्न घटते। ३९५. नैरात्म्य। ३९६. भाट्टः। ३९७. विधिवादी (पब्रह्मणः)। ३९८. विधानम्। ३९९. अन्यापोहस्य। ४००. निषेधः। ४०१. सौंगतः। भाट्टः। ४०२. शून्यवादिनः। ४०३. अपि तु भवेदेव। (विधिवादे दूषणं दत्तम्) ४०४. विधिवाद्याह। तस्य विधेरन्यापोहवादेन विरोधाद्धे सौंगत यदुक्तं त्वया अन्यापोहनमेव विधिस्तदेवं न स्यात्। ४०५. सौगतः। भाट्टः। ४०५. (क) अन्यापोहस्य विधिकथनप्रकारेण। ४०६. विधिवादी। ४०७. विधिः प्रतिभासतेऽपोहः प्रतिभासते इत्यन्यापोहस्य प्रतिभाससामानाधिकरण्यम्। विधिवादिनोऽनुमानम्। अन्यापोहः पक्षः प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेन कृत्त्वा प्रतिभासान्तःप्रविष्टो भवतीति साध्यो धर्मः- प्रतिभासमानत्वात्। यत्प्रतिभासमानं तत्प्रतिभासन्तःप्रविष्टम्। प्रतिभासते चायं तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टः। विधिवाद्याह अन्यापोहः प्रतिभासते न प्रतिभासते वा ? प्रतिभासते चेत्तदा विधौ प्रविष्टः। न प्रतिभासते चेत्तदा तस्य व्यवस्थितिरपि नास्ति। ४०८. अप्रतिभासमानत्वेऽप्यन्यापोहस्य स्थितिरुपपद्यते चेत्तदातिप्रसङ्गः स्यात्। अंसतः स्थितिश्चेत्तदा खरविषाणादेरपि सास्तु। ४०९. अन्यापोह इति। ४१०. अन्यापोहोऽस्ति, अमुक्त्वात्। ४११. अभेदतया। ४१२. प्रतिभासादन्यापोहस्यान्यत्वं न। ४१३. प्रतिभासात्। विधेः। ४१४. प्रतिभाससामानाधिकरण्यात्प्रतिभासादन्यापोहादीनामभेदप्रतिपादनकाले। ४१५. सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि। ४१६. ब्रह्मणः। ४१७. प्रतिभासमानत्वम्। ४१८. परमब्रह्मपरिज्ञानं विचारकस्य कुतः स्यात् ? न कुतोऽपि। ४१९. विधिवादी प्राह-लिङ्गस्य। ४२०. "पूर्वाकारापरित्यागादपरः प्रतिभाति चेत्। विवर्त्तः स परिज्ञेयो दर्पणे प्रतिबिम्बवत्"। (पूर्वाकारपरित्यागादिति कपाठः)। ४२१. ब्रह्मणः। ४२२. भाट्टः। सौंगतः। ४२३. विधिवाद्याह। ४२४. भाट्टः। सौंगतो वदति। यथा तथेदं वाक्यं लिङ्गं वा सत्यभूतं तथा सत्यभूपब्रह्मसमानमनुमानं च कर्तृपुरुषाद्वैतं कथं व्यवस्थापयेद् ? अपि तु न। ४२५. कल्पितत्वप्रकारेण। ४२६. कल्पितत्वप्रकारेण। ४२७. येन प्रकारेणोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च प्रतिपादकादिजनस्य प्रसिद्धं तेन प्रकारेण प्रसिद्धं पारमार्थिकं न परमार्थिकम्। भवति चेत् तदा द्वैतं प्रसज्यते, इति कुतः पारमार्थिकसिद्धिः ? न कुतोपि, उपनिषद्वाक्यस्येति शेषः। ४२८. कोऽर्थः परमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं चेति त्वयोक्तं तथा चेत्साध्यसमं यथाप्रसिद्धं तथोपनिषद्वाक्यमप्यसिद्धम्। असिद्धं साध्यमिति वचनात्। विरुद्धयोरधिकरणात्। ४२९. अन्यथा। ४३० पारमार्थिकत्वं प्रतिपाद्यस्य प्रसिद्धं किल तर्हि कुतः चित्स्वभावस्य प्रतिपाद्यादीनां प्रसिद्धेरभावात्, प्रतिपादकसुखादिवत्। ४३१. तत उपनिषद्वाक्याल्लिङ्गाच्च परमार्थसिद्धिमङ्गीकुर्वता विधिवादिना उपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमार्थभूतं ज्ञातव्यम्। ४३२. च अङ्गीकर्त्तव्यं प्रतिपत्तत्त्व्यम्, कपुस्तकपाठः।

४३३. विकल्पचतुष्टयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयन्नाह। ४३४. सौगतो वदति—हे विधिवादिन् तत् (उपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च) अचित्स्वभावं चित्स्वभावं वेति प्रश्नविकल्पः। अचित्स्वभावं चेत्तदा परब्रह्मणो द्वैतं व्यवस्थापयति। चित्स्वभावं चेत्तदा चेत्तदा प्रतिपादकाद्यनुमानद्वारेण दूषयति। प्रतिपादकवाक्यं पक्षः प्रतिपाद्यसंवेद्यं न भवतीति साध्यो धर्मः प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात्। यत्प्रतिपादकचित्स्वभावं तत्प्रतिपाद्यसंवेद्यं न, यथा प्रतिपादकसुखादिकम्। प्रतिपादकचित्स्वभावं चेदं तस्मात्प्रतिपाद्यं न भवति। एवमग्रेपि। ४३५. उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य च चित्स्वभावत्वे सति परेषां ग्राह्यत्वं विरुध्यते। उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य गुरोश्च चित्स्वभावत्वमस्तीत्युक्ते तथा सति गुरुसुखदुःखादिवत्तस्यापि परेषां प्रतिपाद्यादीनां संवेद्यत्वं विरुध्यते। तस्य शिष्यस्य चित्स्वभावत्वे सति वा शिष्यसुखादेर्यथा तथा तस्यापि गुरोः संवेद्यत्वं विरुध्यते। तस्य गुरुशिष्योभयचित्स्वभावत्वे सति तत्सुखादेर्यथा तथोपनिषद्वाक्यस्यापि प्राश्निकानां संवेद्यत्वं ज्ञानग्राह्यत्वं विरुध्यते। ४३६. प्रतिपाद्यादि। ४३७. सर्वजनचित्स्वभावत्वे सति तस्यायं गुरुः, अयं शिष्यः, अमी प्राश्निका इत्यादिभावो नोपपद्यते, सर्वेषां चित्स्वभावत्वेन विशेषाभावात्। ४३८. या अविद्या गुरोर्गुरुत्वव्यवस्थापिका सैव शिष्यादेः सकाशादभिन्ना सती शिष्यादेरपि गुरुत्वं व्यवस्थापयेत्। ४३९. सकलजनचित्स्वभावस्याविशेषात्। ४४०. प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्गः। प्रसङ्ग इति कपाठः। ४४१. अविद्याभेदकृतः प्रतिपादकादीनां भेद इति। ४४२. अभेदसाधने प्रवृत्तत्वे भेदः साधित इति विरुद्धधर्माध्यासः (अध्यासः साहित्यम्)। ४४३. एव प्रतिपादकः स एव प्रतिपाद्य इति। ४४४. न केवलं प्रतिपादकादय एवाविद्योपकल्पिताः। ४४५. तस्या अविद्याया नीरूपत्वाद् अविद्यमानत्वादित्यर्थः। ४४६. प्रतिपादकाद्यविद्यानामनाद्यविद्योपकल्पितत्वे प्रतिपादकादीनां विद्यासद्भावोऽव्ययमेव सम्भवति। ४४७. उपनिषद्वाक्यं प्रतिपादकादिभ्यो भिन्नं न भवतीति चेत्तदा प्रतिपादकादीनां युगपदेव सर्वेषां सवेद्यत्वं न भवेत्। ४४८. तेषां प्रतिपादकादीनाम्। ४४९. उपनिषद्वाक्यमचित्स्वभावं सद्बहिर्वस्तु सिद्धं यथा तद्वत् (उपनिषद्वाक्यवत्) घटादिवस्तुनोपि बहिर्वस्तुत्वं सिद्ध्यति। ४५०. उपनिषद्वाक्यं घटादिवस्तुरूपं प्रतिभास्यं प्रमेयमपि सुप्रसिद्धम्। (प्रतिभासस्यापीति खपाठः)। ४५१. घटः प्रतिभासते, ज्ञानं प्रतिभासते इति प्रतिभाससमानाधिकरणता। ४५२. यदि घटादयो ज्ञानादर्थान्तरभूतास्तदा कथं ज्ञानसामानाधिकरण्यं घटादेर्घटेतेत्युक्ते आह—प्रतिभाससमानेति। ४५३. प्रतिभास्येति खपाठः। ४५४. ज्ञानाद् ज्ञेयमुपचारादभिन्नं परमार्थतो भिन्नमिति प्रतिभासात्प्रतिभास्यस्यान्यापोहलक्षणस्य कथञ्चिद्भेदेपि प्रतिभाससमानाधिकरणता न विरुद्ध्यते। प्रतिभासः समानमधिकरणं यस्य स प्रतिभाससमानाधिकरणस्तस्य भावः प्रतिभाससमानाधिकरणता। ४५५. घटः प्रतिभासत इत्युपचरितं सामानाधिकरण्यं, संवेदनं प्रतिभासते इति मुख्यं सामानाधिकरण्यं, संवेदनस्य प्रतिभासनमिति उपचरितं वैयधिकरण्यं, पटस्य प्रतिभासनमिति मुख्यं वैयधिकरण्यम्। ४५६. यदि घटप्रतिभासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथं घटः प्रतिभासत इत्यत्यत्राभेद उपचर्यते तत्र घटस्याप्रतिभासत्वं मुख्यबाधाप्रतिभास्यत्वं निमित्तं तद्व्यवहारः प्रयोजनमिति। ४५७. घटः प्रतिभासत इत्यत्र घटे ज्ञानस्योपचारो विषयिभावो निमित्तम्। ४५८. "तत्" पाटनप्रतौ पाठः। मूले निक्षिप्तः। ४५९. मुद्रितप्रतौ "ततो वैयधिकरण्य" पाठः। भिन्नाधिकरण्यव्यवहारः। ४५९ (क) मुख्ये सामानाधिकरण्ये। ४६०. वैयधिकरण्यव्यवहारस्य। ४६१. सामानाधिकरण्यादेव। ४६२. सर्वथा भेदे वा किं दूषणमित्युक्ते आह। ४६३. भेदं मुद्रितप्रतौ पाठः।

४६४. पटप्रकारेण। ४६५. समानाधिकरणता इति सम्बन्धः। ४६६. कथञ्चिद्भेदे सामानाधिकरण्यव्यवस्थापनद्वारेण प्रतिभासमानोऽन्यापोहः समानाधिकरणत्वे सत्यपि प्रतिभासाद्भिन्नो व्यवतिष्ठते, यतस्तस्मादन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषय एव कथं समवतिष्ठते ? न कथमपि। ४६७. अन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषयो भवतीत्यङ्गीकारे कृते सति नैरात्म्यादिपरिहारेणाविवक्षितवस्तुपरिहारेण वा कथञ्चिद् ब्रह्मणि विवक्षितवस्तुनि वा शब्दः कथं प्रवर्त्तको यतः कुतो विधिविषयः स्यात्र कुतोऽपि। एवं शब्दः परार्थं परिहृत्य स्वार्थे प्रवर्त्तमानो भावाभावात्मको ज्ञेय इति स्याद्वादप्रक्रिया।

४६८. अन्यापोहवादी आह—अप्रमाणत्वव्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या प्रमेयत्वमित्यन्यापोहावतारः। ४६९. अन्यापोहस्य प्रमेयत्वकल्पनाभावे। ४७०. अन्यापोहवादानुप्रवेशेन। ४७१. तस्यैवोभयस्वभावत्वविरोधादित्यादिना

द्वितीयविकल्पनिराकरणेन। ४७२. स्वभावान्तरेण व्यवस्थानाभावः कुतो यावता प्रमात्रादिरूपेण विधेर्व्यवस्थितिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह। ४७३. प्रमिति। ४७४. विधिवाद्याह। विधिः प्रमाणं प्रमेयं च मा भवतु किन्तु प्रमातृप्रमितिरूपोस्तीति चेदाहान्यापोहवादी। प्रमात्रादेरपि प्रमाणविषयत्वं घटते, अन्यथा प्रमेयत्वं न घटते चेत्तदा प्रमाणव्यापारस्याभावात् प्रमात्रादिरूपेणाभ्युपगतस्य विधेर्वस्तुत्वं हीयते। ४७५. प्रमातरि प्रमितौ वा। ४७६. शब्दव्यापाररूप इति मुद्रितप्रतौ पाठः। ४७७. पुरुषभावना। ४७८. प्रत्येकपक्षद्वयनिराकरणेन। ४७९. पर्यायेण युगपद्वेत्यादिना नियोगनिराकरणे प्रोक्तं दूषणमत्रापि ज्ञातव्यं द्रष्टव्येत्यादिना। ४८०. तदुभयव्यापाररूप इति वा पाठः। ४८१. ब्रह्मदर्शनादि। ४८२. शब्दात्मव्यापाररहितो विधिरिति चेत् सोपि विषयस्वभावो वा स्यान्निःस्वभावो वा फलस्वभावो वेति क्रमेण दूषयति। ४८३ विषयस्वभास्य विधेः। ४८४. सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्यकाले। ४८५. सौगतमते निरालम्बनशब्दवादोभिप्रेतः। ४८६ अर्थरहितः। ४८७. फलस्वभावस्य विधेः स एव निरालम्बनशब्दवादप्रवेशः। कस्मात्? तदा वाक्यकाले विधेरसामीप्यात्। ४८८. विधिः सन्नेव वाऽसन्नेव वा उभयरूपो वानुभयरूपो वेति विकल्पक्रमेण दूषयति। ४८९. विधिः पक्षः कस्यचिन्नुर्विधेयो न भवतीति साध्यो धर्मः, सत्त्वात्। यः सन् स न कस्यचिद्विधेयो यथा पुरुषः। संश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः (कर्त्तव्यः)। ४९०. द्वितीयविकल्पानुमानम्—विधिः पक्षः कस्यचिद्विधेयो न भवतीति साध्यः। असत्त्वात्। यदसत्तन्न कस्यचिद्विधेयं यथा खरविषाणम्। असंश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः। ४९१. द्रष्टव्योरेयमात्मेत्यादि दृश्यत्वकर्त्तव्यत्वादिना। ४९२. विधिरिति शेषः। ४९३. ततश्च स्वसिद्धान्तव्याघातः—विधेः सर्वथासत्त्वाभ्युपगमात्, असद्रूपस्य कस्यापि वेदान्तिनानभ्युपगमात्। ४९४. द्वैतापत्तिः। ४९५. विरुद्धम्। ४९६. सर्वथा असत्त्वनिषेधे। ४९७. जैनमता(स्याद्वादा)श्रयणात्। ४९८. तस्य सर्वथा प्रवर्त्तकत्वात्। ४९९. ताथागतादीनाम्। ५००. विधावप्रवर्त्तकतया गमनं विपर्यासः। ५०१. विपर्यासादेव। ५०२. वक्तुमिति शेषः।

५०३. इति स्याद्वादी वदति। उभयेषां सौगतादीनां चेष्टं प्रतिपादितं प्रमाणविरुद्धं भवति। कस्मात् सदृशप्रत्यवस्थानव्यवस्थानात्। ५०४. विधिः पक्षः वाक्यार्थो न भवतीति साध्यो धर्मः, अप्रवर्त्तकत्वान्नियोगवत्। ५०५. अत्राह विधिवादी—कश्चिद्विधिः कुतश्चित्प्रमाणात्प्रमाणाद्वैते प्रवर्त्तको न स्यात्। ५०६. अन्यथा। ५०७. अप्रवर्त्तकत्वेन। ५०८. ब्रह्मणि। ५०९. किम्प्रयोजनकः। ५१०. द्रष्टव्येत्यादि। विधिः प्रवर्त्तक इति प्रतिपादनम्। ५११. अप्रवर्त्तकत्वेपि। यद्यपि प्रमाणप्रमेयद्यनेकधाविकल्पखण्डनद्वारेण विधिर्वाक्यार्थो नास्ति तथापि विधिवादिनो बलात्कारेण विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कथं न भवेत्? इत्याशयः। ५१२. व्यतिरेकदृष्टान्तः। विधिवाद्याह—यथा पुरुषात्पटादिकार्यरूपं भिन्नं प्रतिभासते तथा न नियोगप्रेर्यमाणपुरुषविषयप्रेरकधर्मरूपेण घटादिः प्रतिभासते न तथा नियोग इति हेतुद्वयान्नियोगस्यानवताराान्न नियोगो वाक्यार्थो भवति। ५१३. भिन्नत्वेन। ५१४. पुरुष। ५१५. यागादि। ५१६. अग्निष्टोमेत्यादि। ५१७. विधिपक्षे। ५१८. विधिर्न वाक्यार्थः इत्यादि। ५१९. अवश्यकरणीयतयाभिमन्यमानः। सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्याद्विधाप्यमान। ५२०. यागादिरूप। ५२१. आत्मा। ५२२. एतदेव क्रमेण विव्रियते। ५२३. अतो नियोगखण्डनद्वारेण विधिखण्डनार्थं भावनावादी वदति। ५२४. अकर्त्तव्यता। ५२५. सिद्धरूपस्य नियोगस्य यद्यनुष्ठेयता तदा तस्य नियोगस्य करणीयानवस्थाप्रसङ्गः, यतस्तत्र नियोगे कश्चिद्भागोऽसिद्धो नास्ति। ५२६. पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्वं कथमित्याशङ्कायामाह—कस्यचिदिति। ५२७. असिद्धरूपोपि नियोगो नियोज्यो भवतीति चेत्तदा वन्ध्यास्तनन्धयादेरपि नियोज्यत्वप्रसङ्गः। तथा नास्ति लोके विरोधदर्शनात्। ५२८. नियोगस्यैकं रूपं सिद्धमन्यदसिद्धं सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे सति तस्यैव नियोगस्यासिद्धरूपेण कृत्वा अनियोज्यातायां सत्यामित्येकपुरुषस्य सिद्धासिद्धरूपमिश्रणादयं नियोज्योयमनियोज्य इति भेदो न सिद्ध्यति। अथवा तद्रूपयोरमिश्रणे सति भेदघटनादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोश्च परस्परसम्बन्धो नास्ति। कस्मात्? उपकाराकरणात्। ५२९. तद्रूपासङ्करे एव भेदप्रसङ्गादिति वा पाठः। ५३० आत्मनः सकाशात् सिद्धासिद्धपर्याययोर्भेदप्रसङ्गात्। ५३१. ताभ्यां सिद्धासिद्धाभ्यामुपकार्यत्वे किं दूषणं स्यात्? आत्मनो नित्यत्वहानिः। ५३२. प्रारब्धनियोगप्रश्नस्य निवृत्तिर्न भवतीति तदा किमायातम्? अनवस्थानामदूषणं स्यात्? ५३३. अतः प्रभृति

नियोगखण्डनवद्विधेः खण्डनं करोति भावनावादी। ५३४. यथैव हीत्यादिनियोगपक्षे। ५३५. अवश्यकरणीयदर्शनश्रवणमननादिरूपे। ५३६. तस्य सिद्धस्य पुरुषस्य करणे वा। ५३७. अविश्रान्तिरनवस्था वा। ५३८. विधेः। ५३९. यागलक्षणस्य विषयधर्मस्य नियोगस्य। ५४०. सकाशात्।

५४१. अनुषङ्गस्य। ५४२. हे विधिवादिन्। ५४३. प्रत्येतुमशक्यत्वं कुत इत्युक्ते तत्र समर्थनपरं प्रथमं साधनम्। ५४४. दूषणस्य। ५४५. अवश्यकरणीयदर्शनादौ। ५४६. दर्शनादि। ५४७. आत्मनो धर्मः ५४८. विधिवादी। ५४९. पुरुषस्य। ५५०. अवश्यकरणीयदर्शनादेः। ५५१. नियोगमतमवलम्ब्य भावनावादी वदति। ५५२. द्रव्यादेः। ५५३. तस्य नियोगस्य करणाभावे सति विधेरप्यनुष्ठानं मा भूत् ? ५५४. अत्र विधिवादी वदति। ५५५. विधिर्नास्ति। ५५६. विधेः करणं घटते। ५५७. अनुष्ठानम्। ५५८. विधिवादी। ५५९. उत्तरम्। अप्रतीयमानत्वादेव। ५६०. विधिवादी। ५६१. दर्शनश्रवणादिरूपतया। ५६२. विधिप्रकारेण प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयो भवतु। ५६३. विधिवादी भावनावादिनं प्रति। ५६४. कर्त्तव्यतया। ५६५. अयं नियोगो नान्य इति व्यवस्थितिर्भवति। ५६६. जुहुयादित्यादिषु। ५६७. अनुष्ठेयता प्रतिभाता अप्रतिभाता वा ? यदि प्रतिभाता तदा प्रतिभासान्तःप्रविष्टैव। अप्रतिभाता चेत्तदा तस्यावस्थितिरपि नास्ति। ५६८. तस्याः सकलवस्तुसाधारणत्वादिति सम्बन्धः। ५६९. द्रष्टव्योऽरेयमात्मेत्यादिकर्त्तव्यतया। ५७०. वेदान्तवादिना। मुद्रितप्रतौ अनुकर्ण्यते पाठः। ५७१. विधिवादी। ५७२. अवश्यङ्करणीयम्। ५७३. प्रभाकरेण। ५७४. विधेः प्रतीतिकाले। ५७५. विधिप्रतीतिनियोगप्रतीत्योर्द्वयोरपि पुरुषदोषरहितवेदवचनजनितत्वेन कृत्वा सर्वथापि विशेषाभावात्। ५७६. विधिलक्षणार्थप्रतिपादकस्य। ५७७. विधिवाद्याह। विदधातीति विधायको द्रष्टव्योऽरेयमात्मेत्यादिवाक्यरूपः शब्दस्तस्य धर्मे विधिरपि विधायक इति। ५७८. अन्यथा। ५७९. शब्दस्त्वग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिः सिद्धरूपः शब्दधर्म एव नियोगः कथमसिद्धो यतो यागादिः कर्त्तव्यः स्यात्। ५८०. वेदवाक्येनानुष्ठेयो भवतीति प्रतिपाद्यते। ५८१. विधिसम्पादनस्य। ५८२. ज्ञातस्यापि।

५८३. वेदस्य उप समीपे निषदनमुपनिषत् तस्य वाक्यमुपनिषद्वाक्यं पक्षः प्रमाणं न भवतीति साध्यो धर्मः, तस्यापूर्वार्थताविरहात्। यथा स्मृतिः। यथा स्मृतेरपूर्वार्थताप्रतिपादनं नास्ति श्रुत्यनुसारित्वात् तथेत्यर्थः। ५८४. नियोगभावनास्तित्वम्। ५८४. (क) नियोगस्योपचारेण विधिविषयत्वघटनात्। ५८५. विधौ। ५८६. 'प्रधानत्वां' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५८७. असतौ च तौ विषयौ च। ५८८. सर्वथाप्यविद्यमानस्य शशकशृङ्गगगनकुसुमवन्ध्यास्तनन्धयादेरपि तयोः प्रतीतिप्रवृत्तिकयोरनुषङ्गात्। ५८९. भावनानियोगयोर्नान्तरीयकत्वं (न विच्छेदकत्वमविनाभावित्वं वा) तस्य सिद्धेर्घटनात्। ५९०. वेदवाक्यं मुख्यं विधिरपि मुख्य इति चेन्न, तथा सति द्वैताभावात्। ५१९. उपचरितत्वाभावे। ५९२. श्रोतव्यश्रोतृत्वादिभेदेन विधायकतया विधेयकतया विधेयतया च। ५९३. अत्र विधिविषयं वाक्यं प्रधानभावेन विधौ प्रमाणमस्तीति यदुक्तं तत्खण्डनार्थं भावनावादी नियोगमतमवलम्ब्याह, "विधिः प्रधानभावं नानुभवति, असत्यत्वात्, यो योऽसत्य इत्यादि"। ५९४. प्रभाकरेण। ५९५. (वेदान्त्याह) नियोगमतावलम्बिना भट्टेन त्वया। ५९६. विधेः। ५९७. यथा घटादिः कार्यतया पृथङ् न प्रतीयते तथा विधिः प्रतिभासमात्रात् पृथङ् न प्रतीयते। ५९८. यथा प्रेरकतया वचनमध्यवसीयते तथा विधिर्न। ५९९. विधि। ६००. कार्यताप्रेरकता (विधेः) न युक्तेत्येव खपाठः। "कार्यताप्रेरकता प्रत्ययो" मुद्रितप्रतौ पाठः। ६०१. कर्मकरणसाधनाभावे विधिपरिज्ञाने कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो न। ६०२. अप्रेरितावस्थाविलक्षणेन। अद्रष्टव्यादिविलक्षणेन। ६०३. विधेः। ६०४. दर्शनादिकं विधीयमानतया विधेः सम्बन्धमधितिष्ठतीति यावत्। वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठीविधिना एकत्वमेवेत्यर्थः। ६०५. विधेर्मुख्यत्वनिश्चयो न विरुद्ध्यते। ६०६. वेदवाक्यादात्मान्य एव न तद्दर्शयति। वेदवाक्यं ज्ञानमेव तच्चात्मनो धर्मोऽतः कारणाद्वेदवाक्यात्मनोरभेद एवेति। ६०७. विधायकविधीयमानयोरभेदे। ६०८. ध्यातुं वा मुद्रितप्रतौ पाठः ६०९. प्रमितिः।

६१०. विधेरभावात्। ६११. विधायकतया विधेयतया च। ६१२. भाट्टः। ६१३. आदिशब्देन भावना। ६१४ दर्शनश्रवणादावात्मसम्बन्धः। ६१५. नुः। ६१६. अन्यथा। कर्तव्यतासम्प्रत्ययाभावेपि तद्वाक्यश्रवणात्प्रवृत्तिरुपपद्यते चेत्। ६१७. का (पञ्चमी)। ६१८. अश्रोतव्यतादिं। ६१९. वेदान्तिना त्वया। ६२०. आत्मद्रष्टव्यतादौ। ६२१. अप्रतिनियतविषय। ६२२. पटकर्तव्यतादिपरिहारं विना। अकटकर्तव्यतानिराकरणं विना। ६२३. विधिवादी वदति। ६२४. भाट्टः। ६२५. अस्तित्व। ६२६. यथा सर्वथा प्रतिषेधैकान्त(अन्यापोह)वादस्य प्रतिष्ठा नास्ति। ६२७. विधिवादी। ६२८. अन्यापोहस्य। ६२९. हेतुत्वेन। ६३०. भाट्टः। ६३१. प्राधान्यमाश्रित्य विधेः शब्दार्थनिरूपणावसरे। ६३२. शुद्धकार्याद्येकादशप्रकार। ६३३. पुरुषादेः। ६३४. शुद्धकार्यरूपे नियोगे वाक्ये। ६३५. विधिवादी। ६३६. प्राभाकराभिप्रायात्।

६३७. अत्र विधिवादी वदति—तयोः प्रधानत्वाप्रधानत्वयोरन्यतरस्यापि शुद्धकार्यादिनियोगस्य। ६३८. प्रेरणादिनियोगस्य प्रधानस्याप्रधानस्य वा। ६३९. भावनावादी सौगतमतमवलम्ब्य विधिवादिनमाह। ६४०. विधिवादिसौगतयोर्विवादसद्भावेन विशेषाभावात्। ६४१. विधिवादिनः। ६४२ वाक्ये। ६४३. सर्वथा प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेरिति वा पाठः। मुद्रितप्रतौ "सर्वथा" पाठो नास्ति। ६४४. कारणता। ६४५. जलादौ। ६४६. जलाद्यस्तित्वम्। ६४७. जलादौ। ६४८. सति। ६४९. परिसमाप्ति। ६५०. परिनिष्ठानुपपत्तिः कुतः ? ६५१. अग्निरूपाणाम्। ६५२. जलादौ। ६५३. तत्र विवक्षिते वस्तुनि पररूपाभावविचारणे परिसमाप्तिर्न सम्भवति। कस्मात् ? पररूपाण्यनन्तानि यतः क्वचिद्वस्तुनि प्रतिषेधः कर्तुं न शक्यते च यत इति हेतुद्वयम्। ६५४. विधिवादी पृच्छति—हे सौगतमतावलम्बिन् भावनावादिन् त्वया यत्पररूपं प्रतिषिध्यते तत्क्रमशो युगपद्वा ? क्रमतश्चेत्तदा तत्रापि पररूपं तदनिश्चित्य निश्चित्य वा प्रतिषिध्यते ? इति विकल्पद्वयमेव विधिवादी खण्डयति। ६५५. पररूपं ज्ञात्वा स्वयं क्रमेण निवारयितुं न शक्यते। कस्मात् ? तस्य पररूपस्य निश्चितेरप्यन्यपररूपप्रतिषेधाश्रयत्वात्। ६५६. पररूपस्यापि। ६५७. प्रतिषेधेनानवस्थाप्रसङ्गादिति पाठान्तरम्। ६५८. सद्भाव। ६५९. प्रतिपित्सितविधिसिद्धौ। ६६०. प्रतिपित्सितवस्तुनिराकरणेन तत्परिज्ञानपूर्वकसर्वान्यरूपनिषेधसिद्धिः। ६६१. भावनावादी भाट्टः। ६६२. विधिवादिनः। ६६३. इष्टे। ६६४. प्रत्यक्षादेरिव। ६६५. जलादिकम्। ६६६. सहितम्। ६६७. किञ्चित्केवलभूतलादिकं जानन् पश्यन् वायं प्रमाता पुमान् पररूपैर्घटादिकैः सङ्कुलं न पश्यति यतः कुतोन्यस्मात्प्रमाणात्पररूपप्रतिषेधः साध्यते ? अपि तु न कुतोपि। ६६८. पर आह—तर्हि हे स्याद्वादिन्, शुद्धभूतलघटादिपररूपैः सर्वथाऽसङ्कीर्णमेवेति पृष्टे स्याद्वादी वदति—नैवम्। कस्मात् ? सत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वादिना कृत्वा भूतलस्य पररूपैः सहाऽमेलने सति भूतलस्याप्यसत्त्वमायाति यतः। ६६९. अन्यथा। ६७०. ६७१. व्यावृत्त्याव्यावृत्त्यात्मकं मुद्रितप्रतौ पाठः। ६७२. प्रत्यक्षात्। ६७३. सहाद्यात्मना। ६७४. प्रतिषेधस्यापि। ६७५. (प्रथमान्तम्) "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते।" इति विधिवादिप्रतिपादितवाक्यस्यार्थस्य नियमस्यासम्भवात्। ६७६. अन्यथा नियमः सम्भवति चेत्तदा ततो विधातुः सकाशादविद्याविधानमनुषजति। ६७७. प्रत्यक्षादुपनिषद्वाक्याद्वा। ६७८. स्याद्वाद्याह—सोयं विधिवादी अविद्यापृथग्भूतं सन्मात्रं कुतश्चित्प्रमाणाज्जानन्नेव निषेद्धृ प्रत्यक्षं नान्यत् (विधात्रेव प्रत्यक्षं न) इति जल्पन् कथं स्वस्थः स्यात् ? अपि तु न। अविद्याया विवेकः पृथग्भावः, अविवेकः सोस्यास्तीत्यविद्याविवेकि तच्च तत्सन्मात्रं चाविद्याविवेकिसन्मात्रम्। अविद्यायाः सन्मात्रे प्रतिषेधः प्रतीयते। ६७९. "अविद्याविवेकिसन्मात्रं" मुद्रितप्रतौ पाठः। ६८०. प्रमाणात्। ६८१. उपनिषद्वाक्यं। अन्यद्वेति खपाठः। "मन्येदेवेति" मुद्रितप्रतौ पाठः। ६८२. ततश्च न निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति वचो विरुध्येत। ६८३. यस्मात् प्रमाणाद्विधिप्रतिपत्तिस्तस्मादेव प्रतिषेधप्रतिपत्तिः सिद्ध्यति।

६८४. विधिवादी। ६८५. प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य। ६८६. नियोगः। प्राभाकरः। ६८७. अतः। ६८८. अत्र भावनावादी वदति। इति नियोगवादिवचोऽयुक्तम्—विधिवादवत्परोदितनियोगस्याप्यप्रमाणत्वात्। ६८९. सन्मात्रं धात्वर्थोऽत्र विधिः। ६९०. प्रभाकरः। ६९१. नियोगविध्यादिस्वरूपप्रतिपादके वैदिके लौकिके च वाक्ये। ६९२. तेन। ६९३. अर्थभावनातो भिन्नाम्। ६९४. लिङ्लोट्तव्याः कर्त्तारः। ६९५. अर्थभावना। करोति धात्वर्थलक्षणा

वक्ष्यमाणेयं सर्वार्थप्रतिपादिनी भावना अन्या पूर्वोक्तायाः शब्दभावनातो भिन्ना। कुतः ? सर्वाख्यातेषु विद्यमानत्वात्। ६९६. सर्वोर्थो यजनादिर्यस्याः सा। ६९७. अग्निष्टोमेत्यादिना। ६९८. उत्पाद्यते। ६९९. यथा शब्दव्यापारः। ७००. धात्वर्थस्य। ७०१. धात्वर्थस्य फलजनकत्वप्रकारेण। ७०२. कपुस्तके पुरुषव्यापार इति प्रथमान्तेन पाठः। ७०३. यथा शब्दव्यापारः। ७०४. पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा धात्वर्थे पुरुषव्यापारो भावना तथा फले धात्वर्थो भावना न। ७०५. धात्वर्थस्य। ७०६. स हि धात्वर्थः सन्मात्ररूपो वा यजनादिरूपो वा क्रियारूपो वेति विकल्पत्रयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयति भाट्टः। ७०७. भाव इति निश्चेयम्। ७०८. अर्थान्तररहितः। ७०९. स्वान्तर्गतविशेषरहितः। ७१०. सत्ताम्। ७११. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपादिकमिति पाणिनिकृता शब्दानां संज्ञा। ७१२. परब्रह्म। ७१३. एवं नियोगवादिनां धात्वर्थभावनावादः प्रतिक्षिप्तः, तथा विधिवादः प्रतिक्षिप्तः। ७१४. भावनावादिनां विधिवादनिराकरणे। ७१५. द्वितीयविकल्पः (भाट्टः) ७१६. भावनावाद्याह—हे विधिवादिन् एवं किं तवाभिप्रायः। ७१७. ततः सन्मात्रादन्य एव धात्वर्थ इति तदा—सोपि धात्वर्थः प्रत्ययर्थरहितो न दृश्यते। यजनादिः। ७१८. लिङाद्यर्थः करोत्यर्थव्याप्तः। ७१९. अग्निहोत्रादेः। ७२०. प्रत्ययसहितस्यैव तस्य धात्वर्थः ततो वाक्यात्प्रत्ययो भवति। ७२१. स प्रत्ययार्थ उपाधिर्विशेषणं यस्य स तथोक्तस्तस्य तदुपाधेः प्रत्ययार्थविशेषणभूतस्य सम्प्रत्ययात्। ७२२. "सम्प्रत्ययात्" इति मुद्रितप्रतौ पाठः। ७२३. प्रभाकरः। विधिवाद्याह। ७२४. धात्वर्थे। ७२५. कर्मकरणादेर्यथान्यत्र भावो विद्यते। ७२६. धात्वन्तरे। ७२७. "भावादिति" मुद्रितप्रतौ पाठः। ७२८. भाट्टः। ७२९. "धात्वर्थो" मुदितप्रतौ पाठः। ७३०. धात्वर्थान्तरे। ७३१. लिङ्लोट्तव्य। ७३२. वयं भावनावादिनः, हे विधिवादिन् तव मम च तुल्यं दूषणं पश्यामः। ७३३. (तृतीयो विकल्पः) भावनावादी प्राह—हे विधिवादिन्, भवदभ्युपगतः सन्मात्रस्तावद्धात्वर्थो न। यदि पुनः सकलव्यापिनी करोत्यर्थलक्षणा क्रिया सर्वधातुषु सम्भवाद्धात्वर्थस्त्वयाभ्युपगम्यते तदास्माभिः सैव सर्वव्यापिनी क्रिया भावना किं नेष्यते। अपि त्वभ्युपगम्यते। कुतः ? सर्वार्थेषु सर्वाख्यातेषु च तस्याः सम्भवात्। ७३४. यजनपचनादिक्रिया। ७३५. "सकलव्यापिनीः" मुद्रितप्रतौ पाठः। ७३६. पुरुषभावना। ७३७. यजनादिलक्षणेषु लडादिषु च।

७३८. हवनविशिष्टाम्। ७३९. लडादयः। ७४०. केन प्रकारेण प्रतिपत्तिरित्युक्ते आह। ७४१. क्रियाया एव भावनात्वे च। ७४२. आत्मा। ७४३. शुद्धभावना। ७४४. त्रिविधोपि धात्वर्थः। ७४५. भाट्टः। ७४६. वाक्यार्थतया न प्रतीयते। ७४७. प्रभाकरः। ७४८. अग्निहोत्रादि। ७४९. वाक्यार्थतया। ७५०. कृतिरूपव्यापारं प्रति साधकतमलक्षणस्येति। ७५१. ज्ञापकः। एवं कुर्विति। ७५२. शब्देन। ७५३. अन्यथा शब्दोच्चारणाभावे नियुक्तोहमनेनेति प्रतिपत्तॄणां प्रतिपत्तिर्नोपपद्यते। ७५४. भाट्टः। ७५५. शब्दभावना। ७५६. स्वरूपम्। ७५७. शब्दभावनातः। ७५७. (क) न कोपीत्यर्थः। ७५७ (ख) सुगतस्य। ७५८. प्रेरणा। ७५९. "नैव गच्छति" मुद्रितप्रतौ पाठः। ७६०. शब्दस्य यतः स्वभावेन नियोजकत्वम्। ७६१. कार्यस्येत्यध्याहारः। ७६२. सौगतमाशङ्क्य भट्टः प्राह। ७६३. अस्य शब्दस्यामर्थ इति सङ्केतः। ७६४. सङ्केतग्रहणे शब्दस्यायोग्यत्वात् सङ्केतग्राहकं ज्ञानं न तु शब्दः। ७६५. कार्यस्य। ७६६. बौद्धः। ७६७. सङ्केतलक्षणा सामग्री। "सङ्केतसामग्री यदि तत्र न व्याप्रियते तर्हि पुरुषस्यार्थे कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह" इति पाठांतरम्। ७६८. प्रेरणायामिति वा पाठः। नियोगे। ७६९. उभयरूपायाम्। ७७०. यदि सङ्केतसामग्री न तत्र व्याप्रियते तदा पुरुषस्य कथमर्थे प्रवृत्तिरित्युक्ते—आह। ७७१. सत्याम्। ७७२. नियोगभावनानिरपेक्षतया। ७७३. अर्थे। ७७४. सङ्केतसामग्र्या अर्थपरिज्ञाने सति प्रवृत्तिघटनात्। ७७५. किञ्च भावना हि प्रेषणाध्येषणरूपा। सा च प्रयोज्यप्रयोजकद्वयीं विना तयोश्च बाध्यमानप्रतीतिकत्वेनाऽसत्त्वात्कुतः सा भावना ? यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकामः। किञ्च प्रेषणाध्येषणयोरपि बहिरर्थरूपतया न शाब्दी प्रतीतिरस्ति बुद्ध्यारूढस्यैवार्थस्य शब्दवाच्यत्वादतः कथं तद्रूपा भावना शब्दाभिधेयो यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकाम इदं कुर्वित्याद्यारभ्य प्रज्ञाकर इति पर्यन्तमाह। ७७६. लिङर्थयोः। ७७७. नियोज्यस्य। ७७८. व्यापृततामवस्थामिति खपाठः। ७७९. आत्मना स्वीकृत्य। ७८०. शब्दव्यापारापरपर्यायप्रेरणादिरूपः शब्दः। ७८१. नियोजकस्य। ७८२. अग्निष्टोमेन यागादिकरणं स्वर्गप्रापणनिमित्तपुण्योपार्जनं च सर्वं निष्पन्नमेव तस्मिन्नेव काले। ७८३. पुरुषः। ७८४.

काल्पनिक:। ७८५. किञ्च शब्दात् प्रेषणादिप्रतीतिरपि न युक्ता। कुत इत्याह। ७८६. बुद्धिपरिकल्पितो यत:। ७८७. प्रेरकस्य।

७८८. यागविषय। स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतीयतेति पाठान्तरं। ७८९. सती। ७९०. बाध्यमाना सती निरालम्बनेति शेष:। ७९१. पुंसा। ७९२. प्रयोज्येन। ७९३. प्रेरणाप्रेषणयो: सम्बन्धिनी। ७९४. इतो वदति बौद्ध:—सा भाविनी प्रतीति: शब्दाज्जायते इति हे भट्ट यदुक्तं त्वया तद्वक्तुं युक्तं न। ७९५. शब्दस्य। ७९६. गुरुणा। ७९७. शिष्येण। ७९८. गुरो:। ७९९. बुद्ध्यारूढ:। ८००. श्रोता। ८०१. वेदवाक्यात्। ८०२. अपौरुषेयस्य। ८०३. प्रतिपत्ताध्यवस्यतीति सम्बन्ध:। ८०४. प्रतिपन्नार्थाव्यभिचारी। वक्तृव्यापारो विवक्षा। ८०५. बुद्धार्थे। ८०६. बाह्यपदार्थस्वरूपकारणकम्। ८०७. श्रोतुर्बुद्धौ। ८०८, उपाध्यायव्यापारगम्यार्थशिष्यबुद्धिप्रकाशमानार्थे शब्दस्य प्रामाण्यम्। ८०९. बुद्ध्यारूढेऽर्थे। ८१०. बाह्यतत्त्व। ८११. बौद्ध:। ८१२. इतो भाट्टो वदति। ८१३. प्रत्यक्षप्रमाणात्। ८१४. प्रत्यक्षार्थ: पुरो दृश्यमानार्थ:। ८१५. शब्दाद् घटादिबाह्यपदार्थप्रतिपत्तिर्न भवति चेत्तदा तत: शब्दाद्बहिरर्थे जलादौ पिपासितादे: पुंसो जलादिपरिज्ञानं, तत्समीपे गमनं, स्नानपानानयनादिरूपा तत्प्राप्तिश्च न घटते। ८१६. सापेक्षादेव मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८१७. शब्दविषयार्थ:। ८१८. अन्यथा। ८१९. प्रत्यक्षार्थे। ८२०. नु:। ८२१. शब्दात्। अभिलाषादिति च क्वचित्पाठ:। ८२२. प्रत्यक्षादर्थप्रतिपत्तिस्ततोभिलाषस्तत: प्रवृत्तिरिति। ८२३. भाट्ट:। ८२४. भावनाप्रेरणारूपस्यार्थस्य। ८२५. भावनाप्रेरणयो:। ८२६. सौगत:। ८२७. यागलक्षणे। ८२८. भावनाप्रेरणालक्षणार्थस्य।

८२९. व्यापृतत्व। ८३०. भट्ट:। ८३१. प्रत्यक्षादावपि बाध्यमानप्रतीतित्वस्य समानत्वात्। ८३२. स्नानपानादि। ८३३. सलिलादे:। ८३४. प्रत्यक्षेण। ८३५. भाविन्यर्थक्रियाकारिताया: प्रत्यक्षीकरणे सति। ८३६. "वैफल्यात्" मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८३७. कथमेवेति न शक्यं मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८३८. कुत: ? यतो बाध्यमानप्रतीतिकमेवेति। ८३९. हे सौगत, त्वमेवं वदसि। ८४०. प्रत्यक्षे। ८४१. भाविन्यर्थक्रियाकारिताप्रत्यक्षयोरैक्याधारत्वात्। ८४२. अनागतता। ८४३. पुरुषव्यापृततावस्थयोरेकत्वाध्यवसायादेव। ८४४. "प्रतिभातैवेति" मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८४५. भवद्भि: सौगतै:। ८४६. बौद्ध:। ८४७. भाट्ट:। "तथापि" मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८४८. "भवति। ततो" मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८४९. कुतो न स्यात् ? अपि तु स्यादेव। ८५०. बौद्ध:। ८५१. ज्ञानस्य स्वस्मादेव प्रवृत्तिर्न तु बहिरर्थात्। ८५२. "संवेदनाद्वैतस्य वा" मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८५३. 'सिद्धि:' मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८५४. भाट्ट:। ८५५. प्रतीति:। ८५६. 'सिद्धिरेव स्यात्', मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८५७. दृश्यप्राप्ययोरर्थयो: सर्वथा भेदे। ८५८. हे सौगत, पूर्वजलज्ञानोत्तरस्नानपानप्रवृत्तिज्ञानयो: सर्वथा भेदप्रतिपादने तावत्प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकं न स्याद्यत:। ८५९. भवद्भि: सौगतै:। ८६०. विरोधादेर्दोषस्य चित्रज्ञानदृष्टान्तेन निराकृतत्वात्। ८६१. क्षणिकस्य मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८६२. नित्यस्य मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८६३. काल्पनिकत्वे सति (असत्यत्वे) द्रव्यवादी सांख्यो भेदं सङ्कल्पितं मनुते। पर्यायवादी बौद्धोऽभेदं सङ्कल्पितं मनुते। एवमुभयो: कल्पितत्वे वस्तुन: सर्वथापि नार्थक्रिया घटते। ८६४. 'स्वत:' इति पाठान्तरम्। ८६५. स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयादित्याऽवाक्योच्चारणकाले। ८६६. यथा प्रत्यक्षाज्जलादौ प्रवृत्तिर्निष्फला न स्यात्तथा शब्दान्नियोगो निष्फलो न स्यात्। ८६७. प्रत्यक्षे। ८६८. सामर्थ्य। ८६९. प्रवर्तनमन्तरेणार्थक्रियानुभवो न स्यात्। व्यक्तार्थक्रियानुभवे सति जलक्रियार्थं प्रवर्तनं पुरुषस्य सफलतां न प्राप्नोति। ८७०. प्रत्यक्षप्रकारेण (भाट्ट:)। ८७१. "शब्दात्मन:" मुद्रितप्रतौ पाठ:। पुरुषस्य। ८७२. यागलक्षण:। ८७३. यागलक्षण:। ८७४. कर्तृभूत:। ८७५. 'सफलतामियात्' मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८७६. "समानन्यायात्" इति पाठो मुद्रितप्रतौ नास्ति। ८७७. "तथा प्रतीतेरेव चाध्यक्षत्वसिद्धेरिति" मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८७८. प्रत्यक्षादिव शब्दाद्बहिरर्थप्रतिपत्तिसिद्धिर्यत: प्रयोज्यप्रयोजकप्रतीतिश्च सत्या प्रतिपादिता यत:।

८७९. भाट्टो वदति। (प्रज्ञाकरेण स्वग्रन्थे)। ८८०. अप्रधानयो:। ८८१. विभक्ति:। ८८२. "कर्त्तुरभिधाने" मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८८३. कर्त्तु:। ८८४. तृतीया। ८८५. भाट्ट:। ८८५ (क) अर्थभावना। ८८६. भावनाया: किं लक्षणमित्युक्ते आह। ८८७. करोत्यर्थ:। ८८८. 'करणक्रियाया' मुद्रितप्रतौ पाठ:। ८८९. यदि भावनाविशेषणत्वेन

कर्त्ता तथापि तयोः क्रमप्रतीतिसम्भवेन पूर्वं कर्तुः प्रतिभासाभावात्तृतीया प्राप्नोतीत्याशङ्कायामाह। ८९०. भट्टो वदति—यत एवं तत इदमग्रेतनकारिकादौ वक्ष्यमाणं सौगतवचनं मनोज्ञं न स्यात्। ८९१. क्रमप्रतीतिरेवं स्यादिति खपुस्तकपाठः। ८९२. कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रकारेण। स्युरेवं तु पुनरेवेत्यवधारणपाचका इति वचनात्। ८९३. 'यदभ्यधायि' मुद्रितप्रतौ पाठः। ८९४. भट्टो वदति—यदवादि सौगतेन तदप्यसत्यमिति पर्यन्तं सम्बन्धः। ८९५. क्रियालक्षणाया भावनायाः। ८९६. च प्राप्नुतः। मुद्रितप्रतौ पाठः। ८९७. 'स्वव्यापार' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९८९. तर्हि। ८९९. उदाहरणम्। ९००. कटलक्षणस्य। ९०१. भेदात्। ९०२. तथा भिदा, कर्तृभेद इतीत्थं चेति पाठान्तरम्। कर्त्रपेक्षया क्रियाया द्वैविध्यं जातम्। ९०३. क्रियाया एकत्त्वानेकत्वप्रकारेण। ९०४. न किमपि (काकुः)। ९०५. भट्टः (सौगतोक्तमसत्यम्)। ९०६. प्रत्यक्ष। ९०७. भेदादेकवचनं मुद्रितप्रतौ पाठः। ९०८. भावे। ९०९. प्रत्ययार्थो धात्वर्थाद्भिन्नः। ९१०. पुरुषव्यापारः ९११. क्रियातः। ९१२. प्रत्ययार्थस्य। ९१३. कर्तृसाध्यप्रत्ययत्वात् (भाट्टः)। ९१४. देवदत्तयज्ञदत्तौ। ९१५. भावरूपो धात्वर्थः। ९१६. योगाचारस्य। ९१७. तस्य प्रत्ययरूपनियोगस्य। ९१८. कर्तृसम्बन्धात्कारकभेदाद्यदिप्रत्ययभेदस्तदा। ९१९. सत्तारूपस्य आस्यते इत्यस्य। ९२०. प्रत्ययभेदः। ९२१. पुरुषेण निष्पाद्यः। ९२२. हेतोः। ९२३. कारकः। कर्तृ। प्रत्ययः। ९२४. योगाचाराणाम् (सौगतादीनाम्)। ९२५. कल्पना। ९२६. व्यापारस्य कारकस्य। ९२७. दशलकारेण। ९२८. प्रत्ययरूपनियोगस्य भेदाभेदौ भवतः। ९२९. एकवचनादिकम्।

९३०. भावे समुत्पन्ना लकाराभिधेया। ९३१. टि. मुद्रितप्रतौ नास्ति। ९३२. का (पञ्चमी)। ९३३. भेदेन 'हि मुद्रितप्रतौ पाठः। ९३४. क्रिया। ९३५. त्यादिप्रत्ययेन। ९३६. अप्रधाने। ९३७. भावे क्रियायाः कर्तृ सकाशादत्र भेदः ९३८. भाट्टः। ९३९. देवदत्तकर्तृकः करोत्यर्थो भवति यतः। ९४०. आख्यातेन। ९४१. कर्तृव्यापारः। ९४२. अर्थभावना। ९४३. कर्तृव्यापारस्य भावनात्वेन। ९४४. भाव एव अर्थो येषां ते। ९४५. कर्मशब्दाः (क्रियावाचकाः) इत्यत्र कर्मशब्दां एव भावार्था इत्येवकारो द्रष्टव्यः। ९४६. ण्यन्तस्य घञिति पाठान्तरम्। ९४७. स पुरुषोऽग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवेदवाक्येन प्रेरितः सन्। ९४८. यागे। ९४९. पुरुषः। ९५०. नियोगस्येति पाठान्तरम्। नियोगशब्देन शब्दभावना। (शब्दव्यापाररूपप्रेरणस्य)। ९५१. अर्थभावनाया विशेषणत्वात्। 'तच्छेषत्वादिति' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९५२. मुख्यत्वेनेति शेषः। गुणवृत्त्या चेदस्ति तर्हि कथम् ? ९५३. इदं कुर्विति नियोगनिष्ठत्वेन। ९५४. विशेषणविशेष्यनान्तरीयकत्वादिति भावः। ९५५. प्रेर्यमाणोपि न प्रवर्त्तते चेत्। ९५६. स्वव्यापाराप्रतीयमानत्वे। ९५७. पुरुषः। ९५८. सौगतस्य। ९५९. वेदेनोक्तो यागादिलक्षणो व्यापारोऽवश्यं ममेदं स्वर्गादिफलं विना पुरुषो वेति न वा। ९६०. वाक्योच्चारणकाले फलाभावश्चेन्ममैष व्यापारः कथं मन्यते। ९६१. फलं विनापि मन्यते चेत्। ९६२. प्राप्तिरवगतिश्च। ९६३. भाट्टः। ९६४. वाक्योच्चारणकाले। ९६५. सौगतः। ९६६. भट्टो वदति सौगतं, फलं विना प्रत्यक्षप्रमाणादिदं जलमिति कथं जानाति स्नानादिफलमपश्यन् भवान् कथं प्रत्येति। ९६७. सौगतः। (स्नानपानादि)। ९६८. फलयोग्यतायाः प्रतीतेरेव। ९६९. फलस्य स्वर्गादेः। ९७०. यज्ञकर्त्रा। ९७१. ''प्रत्यक्षविषयस्य कथम्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९७२. जलादौ। 'प्रत्यक्षस्य विषये' मुद्रितप्रतौ पाठः।

९७३. शान्तिकपौष्टिकाचरणफलाभ्यासात्। (ऐहिकामुत्रिकेपि) ९७४. यज्ञकर्तुः। ९७५. यागलक्षणे। ९७६. फलयोग्यतानिश्चयः। ९७७. भट्ट आह—यदपि वक्ष्यमाणमवादि प्रज्ञाकरेण। (तदपि न परीक्षाक्षममिति सम्बन्धः)। ९७८. अतिरेको नामाऽऽधिक्यम्। ९७९. कथमनवस्थेत्याशङ्क्याह। ९८०. शब्दाः। ९८१. प्रकृतिप्रत्ययादिभेदमन्तरेणापि। ९८२. वर्त्तन्ते इति शेषः। ९८३. व्यपदेशेभ्यः। ९८४. यदि यागं करोतीत्यत्र भावनाख्यपदार्थतत्त्वव्यवस्था तदा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यत्रापि भावनान्तराणां व्यवस्था भविष्यतीति भावः। (यजते यागं करोतीति भेदव्यवहारे सत्यपि तदभिधेयतत्त्व(भावनाख्य)स्य कथं भेदेऽनवस्था न स्यादित्याशङ्कायामाह) ९८५. यजते यागं करोतित्यत्राभेदेऽपि भेदस्त्वया दर्शितो यजनार्थस्त्वेक एवेत्यभेदं दर्शयन्नाह। ९८६. केतोः। ९८७. 'व्यवहारो' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९८८. 'दृश्यते' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९८९. 'तथा' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९९०. 'इत्यभिधीयते' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९११. यागात्। यागस्य व्यापाररूपत्वात्ततो भिन्ना करोतीति क्रिया न दृश्यते इति

भाव:। ९९२. 'यदि क्रिया' मुद्रितप्रतौ पाठ:। ९९३. पुरुषस्य। ९९४. विशेषणात्। ९९५. देवदत्तत्वेन प्रापणात्। ९९६. केन कृत्वा प्रापणमित्याह—सामानधिकरण्येति। ९९७. व्यपदेशानाम्। ९९८. 'प्रतिपत्ति:' मुद्रितप्रतौ पाठ:। ९९९. एकार्थता यत:। १०००. अर्थं विना। १००१. यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयति यागं निर्वर्त्तयतीत्येतेभ्यो वाग्व्यवहारेभ्य: (भट्ट: संविदद्वैतवादिनं प्रत्याह) १००२. एते व्यपदेशभेदा: सर्वेऽपि करोतिक्रियारूपार्थभावनामेव व्यवस्थापयन्ति, अर्थभेदेनाऽनवस्थाभावादिति भाव:।

१००३. प्रज्ञाकर:। १००४. यदि त्वया सौगतेनेति शेष:। १००५. भट्ट:। १००६. कर्तृ। १००७. सौगतस्येति शेष:। १००८. भट्ट:। १००९. परिहार्य:। १०१०. भट्ट:। १०११. कथञ्चिद्भेदमन्तरेणापि भेदव्यवहारा: प्रवर्त्तन्ते चेत्तदा भेदव्यवहाराणां गौणत्वं स्यात्। १०१२. औपचारिकं चैतन्नेष्टम्—तात्त्विकभेदस्यानन्तरं निरूपितत्वात्। १०१३. 'किमिह' मुद्रितप्रतौ पाठ:। १०१४. अन्ययोगव्यवच्छेदाभावे सन्देहविच्छित्तिर्न स्यात्। १०१५. शरीरे शिरसि चोच्यमाने सति। १०१६. शरीरशरीरवतो:। १०१७. अवस्थापेक्षया। १०१८. सर्वावयवसम्पूर्णता। १०१९. ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि। १०२०. स्थितिमान्। ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि। १०२२. 'ख्यात:' मुद्रितप्रतौ पाठ: १०२३. (बौद्ध:) कल्पित:। १०२४. अवस्थावस्थावतो:। १०२५. खपुष्पस्यासत्त्वे सांवृतत्वे च सौरभस्य सत्त्वमसांवृतत्वं च विरुद्ध्यते यथा। १०२६. शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादिव्यवहार: कथञ्चिद् भेदमन्तरेण न घटते यत:। १०२७. 'स्वभावाश्रय' मुद्रितपत्तौ पाठ:। यागकृतिलक्षण: पदार्थ आत्मस्वरूपाश्रय एव। १०२८. भावनालक्षणं यद्वस्तु तत्स्वभावाश्रय इत्युक्तेऽर्थशून्यत्वं नेत्यर्थ:। १०२९. किञ्च। १०३०. 'यदि' मुद्रितप्रतौ पाठ:। १०३१. द्विजलक्षणस्य द्रव्यस्य। १०३२. अभेदात्। १०३३. यदि क्रिया च द्रव्यस्य विशेषादपरा नहीति च पाठ:। १०३४. सहार्थे तृतीया।

१०३५. प्रत्यभिज्ञान। १०३६. 'परमार्थात्सन्नेक:' मुद्रितप्रतौ पाठ:। १०३७. नश्यन्। १०३८. द्विजात्तद्व्यापारो यागरूपो भिन्न एव। १०३९. उत्पादविनाशापेक्षया। १०४०. द्विजात्। १०४१. अनित्यत्वलक्षण। १०४२. द्विजाद्यागलक्षणक्रिया भिन्ना यथा। १०४३. पचन। १०४४. यजनपचनादौ करोत्यर्थसद्भावेनानुगतप्रत्ययवेद्या। १०४५. करोत्यर्थविपरीतात्मकाद्यजनात् करोतीति क्रियार्थान्तरभूतास्ति। १०४६. अनिराकरणीया। १०४७. यागस्तु तद्व्यापारस्ततो देवदत्तादपर एवेति करोतीति क्रिया यागादर्थान्तरभूतेत्यनन्तरोक्तसाध्यद्वये यथाक्रमं यजते यागं करोति देवदत्तो यजति पचतीत्यादिना च साधनद्वयमुपदर्शयन् यजते इत्याह। १०४८. देवदत्तस्य करोतेश्च समानाधिकरणता। १०४९. यागस्य। १०५०. भो बौद्ध, तयो: करोतीतिक्रियायागयो: देवदत्तेन सह सर्वथैकत्वे तत्सामानधिकरण्यं विरुद्ध्येत यथा पटपटस्वरूपयो: सर्वथैक्ये सामानधिकरण्यं विरुद्ध्यते (न तु कथञ्चिदैक्ये)। १०५१. यागादन्या क्रियेति साधनद्रव्येण स्थापयति। १०५२. समानाधिकरणताविरोध:। १०५३. यज्यादि: करोत्यर्थाद्भिन्न:। तस्मिन्निश्चीयमानेपि तस्याऽनिश्चीयमानत्वात्। १०५४. बौद्ध आह—करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ सामान्यविशेषौ तत्त्वस्वरूपेण यदि भिन्नौ तदान्यो यज्याद्यर्थ: सन्दिग्ध: करोत्यर्थस्य कथने प्रश्नोत्तरे तदायं क्रमो दुर्घट:। १०५५. 'यज्याद्यर्थौ' मुद्रितप्रतौ पाठ:। १०५६. यज्यादिक्रियात:। १०५७. सामान्यापेक्षयाऽनिश्चितेऽर्थे। १०५८. आह भट्ट:— सामान्यविशेषयोर्वस्तुस्वरूपयो: सर्वथैक्यमित्येतद्वचो बौद्धस्य प्रमाणविरुद्धम्। १०५९. यज्याद्यर्थस्य। १०६०. प्रश्नात्। १०६१. सामान्यविशेषयो: कथञ्चित्सामान्यापेक्षया अभेदोपगमादेकतरस्य सन्दिग्धस्य कथनात् प्रश्नोत्तरक्रमो घटते। १०६२. तयो: सामान्यविशेषयो: सर्वथाऽभेदे सत्येव तस्य प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वं स्यात्। १०६३. प्रज्ञाकरस्य।

१०६४. भट्टेन यदि सामान्यविशेषयो: कथञ्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते तदा न सामान्यमित्यादि। 'न सामान्यं' मुद्रितप्रतौ पाठ:। १०६५. विशेषयुक्तमेव प्रतीयते इत्यर्थ:।

१०६६. सामान्येन स्वीक्रियमाणस्य (ज्ञाप्यमानस्य)। १०६७. निश्चयेन। १०६८. कारिकाया: पूर्वांशस्य सुगमत्वादुत्तरार्धं व्याचष्टे। १०६९. भट्टवचनम्। १०६९. (क) विशेषस्य। १०७०. भट्ट:। १०७१. करोत्यर्थेन। १०७२. यज्याद्यर्थ:। १०७३. (बौद्ध:) सामान्ये प्रतीते सति। १०७४. स्वीकार:। १०७५. करोत्यर्थेन।

१०७६. यज्याद्यर्थेन। १०७७. परिज्ञानात्। १०७८. बौद्धः। १०७९. ज्ञापकम्। १०८०. अपरिस्मिन् सामान्ये सति। १०८१. भाट्टः। १०८२. दृश्यमानानुपलम्भाऽदृश्यमानानुपलम्भविकल्पद्वयं परिहृत्य सामान्यमेवानुपलम्भप्रमाणं यो वदति तस्यानुपलम्भादभाव एव घटते, न तु संशयः। १०८३. भाट्टस्य। १०८४. भाट्टः प्राह। १०८५. उत्तरमाह प्रज्ञाकरः। १०८६. अनुपलब्धिमात्रादेव। १०८७. यतस्ततः १०८८. यज्यादि। १०८९. किन्त्वनुपलब्धिमात्रं स्यात्। १०९०. तर्हि। १०९१. नास्ति च तथा ततश्च भाव एवेति भावः। १०९२. तथाऽनुपलब्धिलक्षणरूपायाः पिशाचादीनामनुपलब्धेः संशयो युक्तः। १०९३. भाट्टः। १०९४. तर्हि वैयर्थ्यं भवतु का नो हानिरित्युक्ते आह। १०९५. यजति पचति १०९६. 'नगरेषु कान्यकुब्जादिषु' इति ख पाठः। १०९७. सामान्ये संशयस्यान्वयव्यतिरेकौ न स्तः। अनुपलब्धिमात्रे स्तः। ततश्च सामान्यप्रत्याक्षादिति विशेषणं व्यर्थम्। १०९८. संशयो न घटते यतः। १०९९. उल्लेखनम्। ११००. विशेरूपं न तु करोतीति क्रियारूपम्। ११०१. एकत्वेन। ११०२. दृष्ट इति भावप्रधानोयं निर्देशः। ततश्च सामान्यतो दृष्टात् सामान्यरूपेण दृश्यमानत्वाल्लिङ्गाज्जातमनुमानं तस्माद्यज्यादिकं सामान्यं, तथैव दृश्यमानत्वात्। यद्यथा दृश्यते तत्तथैव भवति यथां नीलं नीलतया। इत्यनुमानम्। (भट्टः) यज्यादिकं सामान्यत भवति, तद्व्यतिरिक्तं करोति सामान्यासम्भवात्। सत्त्वसामान्यासंभवे घटादिवत्। इत्युक्ते सौगतः प्राह—यज्यादिकं स्वव्यतिरिक्तकरोतिसामान्यसम्भवेऽपि सामान्यं भवति—परापरसामान्येषु सामान्यान्तराऽभावेपि सामान्यं सामान्यमिति प्रतीतिलक्षणानुमानसद्भावादिति भावः। ११०३. निश्चये। ११०४. विशेषे संशयो घटते। ११०५. 'सामान्येध्यवसिते' मुद्रितप्रतौ पाठः। ११०६. 'विशेषेऽनध्यवसिते' मुद्रितप्रतौ पाठः। ११०७. क्रियान्वयलक्षणसामान्यरूपेण। ११०८. घटे। ११०९. हिमवदादौ।

१११०. अपि तु न। ११११. विवक्षितवस्तुसामान्याविनाभाविविशेषेषु बहुषु सत्स्वेकस्मिन् स्मरणगोचरे विशेषे संशयो घटते। अनभिमतस्याविवक्षितस्य वस्तुनस्तेषु विशेषेषु संशयो नास्ति। १११२. सामान्य। १११३. विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावप्रसङ्गात्। १११४. 'हिं' मुद्रितप्रतौ पाठः। १११५. 'विशेषस्य' मुद्रितप्रतौ पाठेः। १११६. (भट्टः) विशेषाणामनुपलम्भादभावासिद्धिप्रकारेण। १११७. एवं विशेषे सामान्याविनाभाविनि सति अदृश्यानुपलब्धेः सकाशात्संशयो न भवति, किन्तु दृश्यानुपलब्धेरेव संशयः। अदृश्यानुपलब्धौ स्मृतेर्निरपेक्षत्वं भवति, किन्तु दृश्यानुपलब्धौ सापेक्षा स्मृतिः। १११८. संशयिता संशयप्राप्ता साध्ये व्याप्तिर्येषां तानि संशयितसाध्यव्याप्तिकानि तेषां भाव इत्यादि। १११९. अनिश्चिता। ११२०. 'प्रतीतिः' मुद्रितप्रतौ पाठः। ११२१. संशयस्य। ११२२. संशय इति शेषः। ११२३. बौद्धोक्तम्। ११२४. साध्यसाधनेत्युभयांशाविचलनेपि (निश्चलभूतेपि) ११२५. बौद्धः। ११२६. रचनाविशेष। ११२७. पूर्वक एव। ११२८. सामान्यरूपेणापि विशेष्यस्यानुपलम्भे। ११२९. सामान्यस्य भावो विशेषस्याभावस्तयोर्विषयः संशयः। ११३०. 'नगरतत्वं', मुद्रितप्रतौ पाठः। ११३१. नगरं नगरमिति। ११३२. प्रासादादौ। ११३३. यजति पचतीत्यादि। ११३४. नगरेऽनुगतज्ञानकारणात्। ११३५. तस्मादित्युपसंहारग्रन्थं निराकुर्वन्नाह भाट्टः। ११३६. अभेदेन सामर्थ्येन। ११३७. करोत्यर्थेन। ११३८. सौगतः। ११३९. ननु परापरेषु सामान्येषु परं सामान्यं महासत्ता अपरं करोति पचति यजतीत्यादि तद्विशेषस्वभाव एव तदभावेपि (सामान्यभावे) इदं सामान्यमिदं सामान्यमिति सामान्यमन्तरेणापि सामान्यमुपलब्धुं शक्यत एवेत्युक्ते आह। ११४०. परापरसामान्येषु सामान्योपलम्भस्य गौणत्वप्रकारेण। ११४१. वस्तुषु। ११४२. सामान्यप्रत्ययः। ११४३. हे सौगत। ११४४. मुख्यसामान्यस्य। ११४५. सौगतः। ११४६. अन्यापोहो बहिरर्थः (सत्याकार इति पाठान्तरम्।)। ११४७. अणुक्षणिकेषु।

११४८. भाट्टः। ११४९. स्वलक्षणस्य। ११५०. अणुक्षणिकेषु। ११५१. निर्विकल्पज्ञाने। ११५२. निर्विकल्पज्ञानस्यैव विशेषाकारो न तु बहिरर्थस्य। ११५३. (सौत्रान्तिकः) सामान्यविशेषयोर्बहिरसत्त्वप्रकारेण। ११५४. परमार्थसन्त इति पाठान्तरम्। ११५५. 'सन्तः सिद्धाः' मुद्रितप्रतौ पाठः। ११५६. योगाचारमतम्। ११५७. भाट्टः। ११५८. ज्ञाने पूर्वं सामान्यस्य स्वयमभ्युपगतत्वाद् विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः सामान्यकारो मुख्य इति परमार्थसदायातम्, विकल्पज्ञाने सामान्याकारस्याभ्युपगमात्, निर्विकल्पके तदनभ्युपगमाददोष इति न मन्तव्यम्,

विकल्पज्ञानस्य स्वरूपे निर्विकल्पकत्वेन बहिः सामान्याकारस्यापि मुख्यत्वाभ्युमगमेन परमार्थतः सामान्यविशेषात्मनो ज्ञानस्य समायातत्वात्। ११५९. सौत्रान्तिकस्य। ११६०. सौत्रान्तिकवादिमतम्। ११६१. सौगतः प्राह। ११६२. घटपटाद्याकारः। ११६३. भाट्टः। ११६४. निर्विकल्पज्ञानं। ११६५. भाट्टस्य। ११६६. सौगतेनेति शेषः ११६७. सौगतः ११६८. एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्यादिकारिकाव्याख्याने चतुर्थपरिच्छेदे निरूपितत्वात्। ११६९. भाट्टः। ११७०. 'परमार्थः सन्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ११७१. यद्यसत्सर्वथाकार्यमित्यादिकारिकाव्याख्याने तृतीयपरिच्छेदे विचार्यमाणस्यायोगात्। ११७२. संवित्सामान्यवादी भाट्टः। ११७३. संवित्सामान्यं प्रमाणसिद्धमसिद्धं वा ? प्रमाणसिद्धं चेन्न वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषङ्गात्। अप्रमाणसिद्धं चेत्तर्हि आश्रयासिद्धो हेतुः। एवं संविद्विशेषः प्रमाणासिद्धोऽप्रमाणसिद्धो वेत्यत्रापि योज्यम्। ११७४. संवित्सामान्यसंविद्विशेषयोः। ११७५. सौगत आह—हे भट्ट, बहिरर्थविशेषवदिति त्वयोक्तो दृष्टान्तः साध्यसाधनविकल इति। भट्टो वदति—इत्यपि सौगतेन न चोद्यम्, तवापि बहिरर्थसामान्यवदिति दृष्टान्ते तुल्यदूषणत्वात्। ११७६. सौगतः। ११७७. विशेष। ११७८. मध्यक्षणैकाभ्युपगमात् (मध्यमक्षणिकाभ्युपगमात्)। ११७९. माध्यमिकं प्रति। ११८०. भाट्टः। ११८१. विधिवादिनो भट्टस्य। ११८२. सौगतः। ११८३. भाट्टः। ११८४. सर्वथा। ११८५. भाट्टः (सामान्याभावे विशेषस्याप्यभावो यतः)। ११८६. विशेषावस्थायाम्। ११८७. 'सामान्यव्यवस्था तु' इति पाठान्तरम्। ११८८. प्रतिभासते विशेषो भेदव्यवस्थायां यथा तथान्तः-संवेदनेषु सामान्यमाभासते। ११८९. 'अत' इति पाठान्तरम्। ११९०. सौगतैः। ११९१. अन्यरूपेण। ११९२. अन्यापोह। ११९३. लिङ्गजनितत्वाल्लिङ्गमनुमानम्। ११९४. भेदस्याग्रिस्वलक्षणस्यानुमानेनाग्रहणात्। ११९५. नन्वभेद एव नास्ति ततो भेदाभेदात्मकं कुत इत्याशङ्कायां स्याद्वादमाश्रित्य भट्टो वदति। ११९६. युक्तस्य। ११९७. सामान्यविशेषरूपस्य विषयस्य। ११९८. सामान्यनिरपेक्षस्य विशेषस्य। ११९९. बहिर्घटादिरन्तर्वस्तुज्ञानम्। १२००. सामान्यविशेषात्मकस्य। १२०१. सौगत आह—अभेदवद्भेदोपि विवक्षवशात्त्र्येव, सर्वविकल्पातीत्वादस्येति। १२०२. भा (तृतीया)। १२०३. कथम् ? तथाहि।

१२०४. सौगतः। १२०५. भाट्टः। १२०७. प्रकटनिर्विकल्पकज्ञान। १२०८. प्रबोधकप्रत्यये पूर्ववासनाया अनियमं प्रबोधकप्रत्ययस्यानियमत्वप्रसङ्गात्। १२०९. निर्विकल्पज्ञानेन सह तस्या वासनाया व्यभिचारोऽव्यभिचारो वेति विकल्पद्वयं करोति भाट्टः। १२१०. यद्यस्मादभिन्नं तत्तदात्मकम्। वस्तुस्वरूपा वासना यदि तर्हि बौद्धमतव्याघातः। वस्तुस्वभावतापत्तेर्वासनायाः। १२११. भिन्नत्वे। १२१२. पञ्चम्येकवचनम्। १२१३. विशेषसामान्ये। १२२४. सौगतेन। १२१५. बाह्यवस्तुस्वभावालम्बनादेव सङ्करपरिहारो यतः। १२१६. सकलपदार्थेषु साधारणम्। १२१७. 'वस्तुस्वरूपम्' मुद्रितप्रतौ पाठः। १२१८. अवस्तुमात्रम्। १२१९. सामान्यम्, नेति विकल्पबुद्धिपरिगृहीतम्। १२२०. वक्रोक्त्या वाच्यम्। १२२१. सौगतः। १२२२. विशेषौ। १२२३. भिन्नम्। १२२४. करोतिः सामान्यग्राहिका यञ्यादिर्विशेषग्राहिकेति प्रकारेण बुद्ध्यभावात्। १२२५. 'व्यवस्थितिः अतिप्रसङ्गात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। १२२६. एकेन घटज्ञानेनान्येषां ज्ञानं स्यात्। अथवा एकेन घटज्ञानेन सर्वेषां घटानां प्रतीतिप्रसङ्गात्। १२२७. इयं सामान्यग्राहिकेयं विशेषग्राहिकेत्यनेन प्रकारेण बुद्धेर्भेदाभावात्। १२२८. भाट्टः। १२२९. सामान्यविशेषयोः (ईप्) (सप्तमी)। १२३०. इदं सदिदं सदिति। १२३१. नेदं नेदमिति। १२३२. दूरादूर्ध्वता सामान्यस्यैव प्रतिभासनं भवतु। एतावता तस्यास्ततो (विशेषात्) व्यतिरेकावभासनं कुत इत्याह। १२३३. व्यतिरेकस्य। १२३४. सामान्यात्। १२३५. धर्मकीर्त्तिना।१२३६. स्थाणुपुरुषाभ्याम्। १२३७. भेदः। १२३८. सामान्यस्य। १२३९. विशेषतया प्रतिभासनम्। १२४०. भाट्टः। १२४१. ऊर्ध्वतालक्षणात्। १२४२. सामान्ये। १२४३. सौगतः। १२४४. भाट्टः। १२४५. 'प्रतिभासनं' मुद्रितप्रतौ पाठः। १२४६. ऊर्ध्वतालक्षण।

१२४७. उर्ध्वताकारस्य। १२४८. किन्तु स्पष्ट एव। १२४९: स्वस्याऽस्पष्टप्रतिभासनस्य। १२५०. सामान्यवद्विशेषेष्वस्पष्टप्रतिभासनमेव को दोष इत्युक्ते आह। १२५१. सामान्यविशेषयोर्दूरादस्पष्टतया प्रतिभासनादेव। १२५२. सर्वथा। १२५३. सर्वदा। १२५४. सामान्यज्ञाने विशेषज्ञाने वा। १२५५. सामान्यविशेषयोर्मध्ये एकस्य।

१२५६. सामान्यस्य विशषयस्य वा। १२५७. अस्पष्टस्पष्टप्रतिभासिताभेदेपि ज्ञानाश्रिते स्तो न तु वस्त्वाश्रिते। १२५८. दृष्टकारणं देशकालादि अदृष्टकारणं मतिज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। १२५९. भवति। १२६०. अस्पष्टतायाः। १२६१. अन्धकारावस्थायामपि। १२६२. उद्द्योतावस्थायामिव। १२६३. वस्तुनः स्पष्टताधर्मस्य सर्वदा प्रतिभासस्याङ्गीकारे दूषणमाह। १२६४. बौद्धाभिप्रायमनूद्य वक्ति। १२६५. (भाट्टः) सविकल्पकम्। १२६६. सत्यत्वात्। १२६७. निर्विकल्पकवत्। १२६८. अस्पष्टज्ञाने। १२६९. अस्पष्टसंवेदनं सविषयं यतः। १२७०. वक्ष्यमाणम्। १२७१. अस्वलक्षणाकारा, अविशेषाकारा, बहिःस्वलक्षणाकारा। १२७२. स्वलक्षणलक्षणादर्थात्। १२७३. यदा तु प्रतिभासते तदेत्यादि पाठान्तरम्। १२७४. जाततैमिरिकस्य। १२७५. तर्हि भवतां मीमांसकानां भेदाभेदे सतीदं दूषणं समानं तत्र किम्? इति प्रश्ने आह। १२७६. स्थाणुपुरुषादिभ्यः। १२७७. अत एवास्पष्टतालक्षणं निर्विषयलक्षणं दूषणं न। १२७८. विशेषाकाराद्व्यावृत्ताऽविशेषाकारा। १२७९. सौगताभ्युपगताद्रूप्यसहिता न भवतीत्यर्थः। १२८०. विषये। बुद्धेर्निराकारत्वं तर्हि आकारः कथं प्रतिभासते इत्युक्ते आह। १२८१. हे सौगत। १२८२. भाट्टः। १२८३. ग्राहकतया। १२८४. सौत्रान्तिकानाम्। १२८५. प्रतिनियतसामग्रीवशात्प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकस्य ज्ञानस्याङ्गीकारस्य। १२८६. प्रतिनियमसामग्रीवशात् प्रतिनियतव्यवच्छेदकत्वाभावे सकलनीलपीतादिनिर्भासानां तुल्याकारत्वमापद्यते संवेदनस्य (विवक्षितनीलाकारग्रहणप्रसक्तेः)। १२८७. 'व्यवस्थापकत्वानापत्तेः' मुद्रितप्रतौ पाठः। १२८८. प्रतिकर्मव्यवस्थापनस्य सिद्धिर्न स्यात्। १२८९. योग्यतावशात्प्रतिनियतार्थव्यवस्था यतः। १२९०. दृष्टादृष्टकारणकलापात्। १२९१. सामान्याकारा। १२९२. कोपि विशेषो दूरे न प्रतिभासते इत्युक्ते आह। १२९३. सौगताभिप्रायमनूद्याह। १२९४. स्थाणुपुरुषोचितदेशः। आदिशब्दात्प्रकाशान्धकारकलुषवेलाश्च गृह्यन्ते। १२९५. देशनैकट्यम्।

१२९६. सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च सन्देहो युक्त इत्युक्तवत्। १२९७. विशेषालिङ्गितस्य। आदिशब्देनातिप्रकाशान्धकारः। १२९८. किं करोतीति। १२९९. पृष्ट एव पुमानुत्तरं प्रतिपादयतीत्यर्थः। १३००. 'एवं' मुद्रितप्रतौ पाठः। १३०१. शक्यविवेचनत्वेन। १३०२. यजनादिक्रियाविशेषेभ्यो भिन्नत्वेन। १३०३. करोत्यर्थलक्षणा। १३०४. स्फोटादि। १३०५. सत्यरूप। १३०६. भावनालक्षणे। १३०७. विधौ। १३०८. भट्टमतानुसारी। १३०९. जैनेन। १३१०. हे भट्ट, त्वया १३११. व्यापारः शब्दस्यार्थो न भवति, ततोनर्थान्तरत्वात् तत्स्वात्मवत्। अत्राशङ्का—ननु शब्दस्य स्वात्मा शब्दाभिधेयो भवतु। को दोषः? तथा सति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं हेतोरित्युक्ते आह—नहीति। १३१२. 'स्यैवा' मुद्रितप्रतौ पाठः। शब्दस्य ज्ञानापेक्षया निरंशस्य। १३१३. एकानंशस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वं चेत्। १३१४. भट्टस्य स्वेष्टं शब्दस्य प्रतिपादकत्वं स्वरूपस्य प्रतिपाद्यत्वमिति। तद्वैपरीत्येन शब्दस्य प्रतिपाद्यत्वेन। १३१५. कुतः। १३१६. शब्दः प्रतिपादकः स्वरूपं प्रतिपाद्यमिति प्रतिनियममहेतोरभावात्। १३१६. (क) शब्दस्य सांशत्वपरिकल्पनया। १३१६. (ख) शब्दस्य। १३१६. (ग) कल्पितत्व। १३१७. भाट्टः। १३१८. यथा शब्दः स्वव्यापारेण बहिरर्थं गमयति। १३१९. शब्दः श्रोत्रेण स्वरूपं गमयति यतः। १३२०. स्वरूपस्य। १३२१. जैनः। १३२२. ततो रूपादिर्भावना स्यात्। १३२३. रूपादयः। १३२४. पुरुषस्य। १३२५. एतदेव भावयति। १३२६. रूपाद्यवगमे। १३२७. ते रूपादयः प्रयोज्याश्चक्षुरादयः प्रयोजकाः। निमित्तमात्रकृतं तत्प्रयोज्यत्वं, न तु मुख्यवृत्त्या। १३२८. स्वस्वरूपवेदनं प्रति। १३२९. 'मधीयानानां' मुद्रितप्रतौ पाठः। १३३०. भाट्टः। १३३१. जैनः। १३३२. भाट्टः। १३३३. श्रोत्रेन्द्रियस्य। १३३४. जैनः। १३३५. 'च' मुद्रितप्रतौ पाठो नास्ति। १३३६. अनंशरूपे शब्दे। १३३७. द्वितीयपक्षे। १३३८. (जैनः) यथा च छेदकस्य कुठारस्य छेद्यस्य वृक्षस्य तयोरन्तरालेऽवान्तरव्यापारेणोत्पननिपतनेन भाव्यम्। १३३९. कारणभूतेन। १३४०. जैनः। १३४१. शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते इत्युक्तं पूर्वं तथा तद्वदित्यर्थः। १३४२. व्यापारान्तरम्। १३४३. भाट्टः। १३४४. शब्दात्। १३४५. पृथग्भावेन।

१३४६. व्यतिरेकदृष्टान्तः। यत्र कथञ्चिदनर्थान्तरत्वं न भवति तत्र विष्वग्भावेनोपलभ्यमानत्वं भवति। यथा कुण्डादेर्बदरादिः। १३४७. शब्दः। १३४८. पृथक्। १३४९. शब्दव्यापारस्य। १३५०. जैनः। १३५१.

अनर्थान्तरार्थान्तरोक्तदोषः स्यात्। १३५२. भट्टस्य। १३५३. गृह्यमाणम्। १३५४. 'साधकमिति' मुद्रितप्रतौ पाठः। १३५५ प्राप्नोति। १३५६. भावनाया वाक्यविषयत्वाभावे। १३५७. ज्ञानार्थयोः। १३५८. यथास्माकं (भट्टानां) विकल्पेन पृष्टं तथास्माभिरपि पृच्छते जैनः। १३५९. जैनानाम्। १३६०. स्वार्थग्रहणलक्षणम्। १३६१. स्वार्थग्रहणलक्षणम्। १३६२. ज्ञेयवस्तुग्रहणलक्षणो व्यापारः। १३६३. यदि पुनरर्थान्तरभूत एव संवेदनात्संवेदनव्यापार इति मतं तदा स संवेदनव्यापारः संवेदनेन संवेद्यमानो व्यापारान्तरेण संवेद्यते चेत्तर्हि व्यापारान्तरभाव्यः स्यात्। व्यापारान्तरं तु यदि संवेदनादर्थान्तरं तदा तद्व्यापारान्तरं व्यापारान्तरेण भाव्यमति सत्यनवस्था। १३६४. 'प्रसक्तेः' मुद्रितप्रतौ पाठः। १३६५. 'अथ' मुद्रितप्रतौ अतिरिक्त पाठः। भट्टो वदति। १३६६. 'स्वार्थसंवदेनव्यापार' मुद्रितप्रतौ पाठः। १३६७. जैनः। १३६८. भाट्टस्य। १३६९. यागलक्षणम्। १३७०. (प्रेरयति) स्वपरग्राहिकातीन्द्रियशक्तिः करणारूपा। १३७१. शब्दः पुरुषव्यापारं भावयतीत्यादि वचनम्। १३७२. जैनः। १३७३. दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः। १३७४. वैषम्यं भावयति। १३७५. स्वात्मा तु न संवेदकः किन्तु संवेद्य एव। १३७६. स्वपरग्राहिकातीन्द्रियशक्तिः करणरूपा स्वात्मा। १३७७. तस्य वाक्यस्य। १३७८. स्वात्मनः। १३७९. करणरूपस्य। १३८०. विषयरूपतया ग्राह्यत्वे। १३८१. स्वरूपस्य। १३८२. अवान्तरव्यापारस्याकाङ्क्षा नास्ति ततो नानवस्था। १३८३. अन्यत्संवेदनं ह्यात्मानं स्वरूपं परिच्छिनत्ति। अतोन्यत्संवेदनं संवेदकं स्वात्मा तु संवेद्य इत्यायातम्। १३८४. उत्पाद्यमान। १३८५. तर्हि भाट्टाभिहितविषयः क इत्युक्ते आह। १३८६. उत्पादकत्वलक्षणः। १३८७. तस्य वाक्यस्य। १३८८. अग्निष्टोमेन यजेतेत्यादि। १३८९. पुरुषव्यापारः। १३९०, आदिशब्दाद् गुणद्रव्ये। १३९१. यजेत आलंभेतेत्यादि। १३९२. अनेन वाक्येन। १३९३. गुणः। १३९४. द्रव्यम्। १३९५. भाट्टः। १३९६. जैनः। १३९७. लिङ्गादीनां शब्दव्यापारविषयत्वाभावे सति। १३९८. अर्थभावनातः। १३९९. इदानीमर्थभावनां निराकर्तुमुपक्रमते। १४००. देवदत्तः करोतीत्यादिलक्षणा। १४०१. भाट्ट आह—"भो जैन"।

१४०२. शब्दव्यापार इत्युक्ते शब्दभावनैवेति भावनास्वभावः। १४०३. जैनः। १४०४. विवक्षितस्य। १४०५. वसः। १४०६. भट्टो वदति। १४०७. "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः। सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः"। १४०८. वाक्यार्थता। १४०९. 'अवेदनात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। १४१०. जैनः। १४११. करोत्यर्थविशेषस्य। १४१२. 'विरोधात्' मुद्रिप्रतौ पाठः। १४१३. भाट्टः। १४१४. जैनः। १४१५. भवनक्रिया। १४१६. वाक्यार्थः। १४१७. महाक्रिया सत्तालक्षणा सैव सामान्यं तदेवं रूपं यस्याः करोतिक्रियायाः। १४१८. 'व्यवस्थितिरूपत्वात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। १४१९. सत्ता-सामान्यस्य। १४२०. इतरः पचनादिः। १४२१. न पुनः करोत्यर्थस्य। १४२२. वाक्यार्थत्वम्। १४२३. वयं जैनाः। १४२४. निष्क्रिये। १४२५. अन्यथा। १४२६. सत्त्वस्य विनाशाद्गुणादीनामभाव आयातः। १४२७. (परः प्राह) क्रिया द्विविधा परिस्पन्दात्मिका (चलनात्मिका) भाववती च। १४२८. किञ्च। १४२९. पर एव। १४३०. विद्यमाने वस्तुनि। १४३१. असति सर्वत्र भावे। १४३२. महासत्ता। १४३३. हेत्वन्तरमिदम्। १४३४. जैन आह। १४३५. करोतिसामान्यस्य। १४३६. (भाट्ट आह) घटादौ व्यभिचारश्चेत्तर्हि "सर्वथा" पदं हातव्यम्। १४३७. जैनः। १४३८. भाट्टमते करोत्यर्थस्य सामान्यं सर्वथा नित्यमिति। १४३९. वस्तुनि। १४४०. ज्ञानमेव पूर्वापरीभूतं नार्थ इत्याशङ्कायामाह। १४४१. प्रत्ययो ज्ञानम्। १४४२. भाट्टः। १४४३. जैनः। १४४४. यदेव मया यजनादावुपलब्धं तदेव पचनादौ करोत्यर्थस्य सामान्यम्। १४४५. ततो नाभेदप्रतीतिः। १४४६. भाट्टः। १४४७. जैनः। १४४८. अव्यतिरेकः। अभेदः। १४४९. सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह जैनः।

१४५०. पर्यायार्थिकनयाद् भेदकथनात्। १४५१. घटं करोति पटं करोतीत्यादौ। १४५२. हेतोः। १४५३. पर्यायार्थिकनयेन भेदस्यापि कथनात्। १४५४. करोत्यर्थस्य व्यक्तिं प्रतीति प्रतिकरोत्यर्थव्यक्ति। १४५५. घटकरणपटकरणादिप्रत्ययस्य। १४५६. भेदात्। १४५७. घटकरणं पटकरणमिति। १४५८. जैनः। १४५९. घटपटादिरूपाः १४६०. करोतिसामान्यात्। १४६१. भाट्टः। १४६२. सामान्यात्। १४६३. यावन्तो

विशेषास्तावन्ति सामान्यानि न त्वेकमित्यर्थः। १४६४. करोतिसामान्यम्। १४६५. सावयवेभ्यो घटपटादिभ्यः। १४६६. भेदलक्षणेभ्यः। १४६७. सामान्यस्य। १४६८. जैनः। १४७०. जैनः। १४७१. ततश्च व्यक्तीनामपि सर्वगतत्वं समायातम्। न च तथा स्वीक्रियते। १४७२. व्यक्त्यन्तराले सत्त्वरूपेण। १४७३. भाट्टः। १४७४. सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेऽस्ति एकत्वादित्येवास्तु, इत्युक्ते देवदत्तेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं स्वाधारवृत्तित्वविशेषणम्। तथाप्येकविष्टरोपविष्टेन तेनैव व्यभिचारो मा भूदिति भिन्नदेशविशेषणम्। तथापि क्रमेणानेकासनासीनेन तेन व्यभिचारः स्यात् तत्परिहारार्थं युगपद्विशेषणं कृतमनुमानेऽस्मिन्। १४७५. भिन्नदेशश्चासौ स्वाधारश्च। १४७६. स्थूणादिषु वंशादिवदित्यर्थः। १४७७. जैनः १४७८. सामान्यस्यैकत्वं नाङ्गीक्रियते जैनैः। १४७९. प्रतीयते यथा। १४८०. हेतुः। १४८१. सामान्यस्य। १४८२. एतदेव भावयति। १४८३. घटपटादिलक्षणा। १४८४. मुकुटादिलक्षणात्। १४८५. भिन्ना। १४८६. वस्तु। १४८७. निश्चीयते। १४८८. भाट्टः। १४८९. पुंसः १४९० एकव्यक्तिदर्शने।

१४९१. "वैसादृश्यस्य" मुद्रितप्रतौ पाठः। विशिष्टप्रतीतौ विशेषे। १४९२. भाट्टः। १४९३. एकव्यक्तिदर्शने। १४९४. अनेन देवदत्तेन समानोऽयं जिनदत्तो समानो देवदत्तो वेत्यत्रापि परापेक्षत्वं यतः। १४९५. द्वित्वादिप्रत्यया एकत्वादिनिष्टां (निष्ठां) परापेक्षां विना नोपपद्यन्ते। १४९६. श्वेतपीतादिवत्। १४९७. भाट्टः। १४९८. सास्नादिमत्त्वे गोत्वे। १४९९. शबलं गां दृष्ट्वा धवलं गां पश्यतः पुंसः स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं घटते? १५००. शबलेन सदृशो धवल इत्येकत्वोपचारात्। १५०१. जैनाः। १५०२. मुख्ये गोत्वलक्षणे इत्यर्थः। तत्र शबलधवलयोः। १५०३. गवा। १५०४. परः (शबलधवलयोः) १५०५. एकं गोत्वमित्यर्थः। १५०६. जैन आह। १५०७. न तु तेन समानोऽयमिति प्रत्ययः स्यात्। १५०८. (जैनः प्राह) अङ्गीक्रियमाणे। १५०९. न यष्ट्या समान इति प्रत्ययो भवति। १५१०. १५११. परः। १५१२. जैनः। १५१३. चैतन्यदोहनादेः १५१४. मृन्मये। १५१५. भावः सत्यः। १५१६. "साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम्। सोऽयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते॥" १५१७. लाङ्गूलककुदविषाणादिरूपेण। १५१८. तेन भावगवादिनैका जातिर्यस्य स्थापनागवादेस्तस्य भावस्तदेकजातित्वम्। तस्य निबन्धनम्। १५१९. (जैनैरनुगृह्यते) भावगव्यपि मृन्मयेन सह सत्त्वसादृश्यं यथास्ति। १५२०. नित्यनिरंशैकसर्वगतस्वभावम् १५२१. यदिति काकुः। १५२२. वेदवाक्येन। १५२३. करोतिक्रियाविशेषगतस्य स्वव्यक्तिसर्वगतस्येत्यर्थः १५२४. देवयजनगुरुयजनादियजनसामान्यस्य। १५२५. शब्दविषयत्वं (वाक्यार्थत्वमित्यर्थः)। १५२६. यजनसामान्यम्। १५२७. इतः कारिकार्थमाहुराचार्याः। १५२८. मीमांसकेनोक्तम्। १५२९. परस्परविरुद्धार्थाभिधायित्वेन। १५३०. सूक्तं भावयति। १५३१. स्वरूपो नियोगः। १५३२. आदिना विध्यादिग्रहः। १५३३. हेतोः। १५३४. अपौरुषेयवाक्यैः। १५३५. ब्रह्मस्वरूपे। १५३६. तदेव दर्शयति। १५३७. श्रुतेः। १५३८. वचसि (कार्येऽर्थे स्वरूपे वा)। १५३९. वाक्यस्य। १५४०. (जैनो नैकत्रापि बाधवर्जितत्वं प्रदर्शयितुं हेत्वन्तरमाह)।

१५४१. साङ्ख्यमते सर्वं प्रधानमेव। १५४२. अपूर्वार्थग्राहित्वम्। १५४३. पराभिप्रायं निराकरोति जैनः। १५४४. विधिग्राहिणी नियोगग्राहिणी वा। १५४५. श्रुतिः। १५४६. मीमांसकः। १५४७. वेदगतपदानाम्। १५४८. आदिना प्रकरणादिग्रहः १५४९. गण्डवाश्चतुरो गुञ्जा इत्यादिगणितपरिभाषावद्व्यवहारकालात्पूर्वमस्य शब्दास्यायमर्थ इति सङ्केतस्योत्तरकालं व्यवहारनिमित्तस्य कारणं परिभाषणं तस्याविषयत्वाच्चेत्यर्थः। १५५०. येष्वर्थेषु लौकिकपदानां सम्भवस्तेष्वेवार्थेषु वैदिकपदानां सम्भवे सति। १५५१. लौकिककाव्यादिवाक्यार्थमिव। १५५२. 'स्वयमेव' मुद्रितप्रतौ पाठः। १५५३. मीमांसकः। १५५४. लौकिकवाक्यार्थानुसारेणार्थस्य प्रतिपादकत्वभावाविशेषात्। १५५५. एतदेव भावयति जैनः। १५५६. सर्वश्रुतिषु। १५५७. 'सुगतादिवत्' मुद्रितप्रतौ पाठः। १५५८. इतश्चार्वाकमतप्रसङ्गः। १५५९. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिच्छन्ति एके चार्वाकास्तेषाम्। १५६०. प्रमाणरहिता। १५६१. तर्कोऽनुमानम्। १५६२. सर्वथा नित्यत्वानित्यत्वादि-समर्थनार्थं सौगतकापिलादिप्रयुक्तानुमानानां परस्पराविरोधात्तर्कस्य परस्परविरोधः। १५६३. अव्यवस्थितः १५६४. नानार्थप्रति-पादकत्वेन। १५६५. "नैको" मुद्रितप्रतौ पाठः। १५६६. सुगतः कपिलो जिनो वा। १५६७. ततश्च। १५६८. पथा। १५६९.

''प्रत्यक्षमेकमिच्छन्ति'' मुद्रितप्रतौ पाठः। १५७२. सर्वज्ञादिपरोक्षार्थाभावस्य प्रमाणभूतः। १५७०. इतो जैन आह। १५७१. ''प्रत्यक्षमेकमिच्छन्ति'' मुद्रितप्रतौ पाठः। १५७२. सर्वज्ञादिपरोक्षार्थाभावस्य प्रमाणस्य। १५७३. ताद्विः (सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभावः) १५७४. अतिप्रसङ्गमेव विवृणोति। १५७५. चार्वाकाभिमतम्। १५७६. 'प्रत्यक्षं' मुद्रितप्रतौ नास्ति। १५७७. प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभावं व्यवस्थापयति, तत्राप्रवर्त्तमानत्वात्। यद्यत्राप्रवर्त्तमानं तत्तस्याभावं व्यवस्थापयति खरविषाणादिवत्। १५७८. देशान्तरकालान्तरवर्ती पुरुषोत्र ग्राह्यः। १५७९. बृहस्पतिप्रत्यक्षान्तरगोचराणाम्। १५८०. 'विषयस्य' मुद्रितप्रतौ पाठः। १५८१. चार्वाकः। १५८२. स्वयं स्वस्वरूपम्।

१५८३. जैनः। १५८४. अपूर्वं धर्माधर्मादि। १५८५. तस्य सर्वज्ञस्य। १५८६. तर्करूपस्य। १५८७. हेतुवादरूपस्यानुमानस्येत्यर्थः। अहेतुवादरूपस्य आगमस्येत्यर्थः। १५८८. प्रमाणान्तराभावसिद्धिः। १५८९. चार्वाकः १५९०. जैनः। १५९१. चार्वाकस्य। १५९२. बृहस्पतिप्रत्यक्षम्। १५९३. चार्वाको वदति—बृहस्पतिप्रत्यक्षं स्वपरग्राहकमित्यस्माकं गुरुपरम्परया प्रख्यादिरस्तीति चेत्तदन्यत्रापि सर्वज्ञप्रत्यक्षेप्येवं भवतु। १५९४. अन्यथा। १५९५. चार्वाक आह—अहमनुमानेन सर्वज्ञाभावं साधये। पर आह—भवन्मतेनुमानं नास्ति सिद्धेरघटनात्। १५९६. चार्वाकः। १५९७. ''प्रमाणं तर्हि गौणत्वात्'' इत्यादि पाठान्तरम्। १५९८. अमुख्यात् (अनुमानतः) मुख्यप्रत्यक्षप्रमाणस्यार्थनिश्चयो दुर्लभः। १५९९. प्रत्यक्षस्य। १६००. हे चार्वाक, अनुमाननिराकरणार्थं त्वमेवं वदसि। एवं किम्? अनुमानं सामान्यं साधयति विशेषं वा? सामान्यं चेत् सामान्ये सिद्धसाधनादित्यादि। १६०१. व्याप्तिनिश्चयकाले एव सामान्यस्य सिद्धत्वात्। विशेषे पर्वतादौ साध्ये यत्र धूमस्तत्र पर्वताग्निरित्यनुगमाभावः १६०२. अनुमाने। १६०३. विरुद्धस्येत्यर्थः। १६०४. चार्वाकस्य। १६०५. खरविषाणादिकं व्यवस्थापयेदप्रसिद्धानुमानमित्यर्थः। १६०६. चार्वाक आह—जैनादिप्रसिद्धम्। १६०७. जैनादेः। १६०८. चार्वाकस्यापि। १६०९. कुतः यतः। १६१०. यथा प्रत्यक्षम्। १६११. अतिप्रसङ्गं विवृणोति। १६१२. आत्मसिद्धस्य चार्वाकस्वीकृतस्य प्रत्यक्षस्याप्यसिद्धत्वं घटेतेत्यर्थः। १६१३. जैनादेः। १६१४. ''अथ प्रमाणमन्तरेण सिद्धम्, एवं तवापि तत्सिद्धिप्रसङ्गोऽविशेषात्'' मुद्रितप्रतौ नास्ति। १६१५. प्रमाणमन्तरेण। १६१६. जैनस्य। १६१७. अन्यथा। १६१८. चार्वाकेणानभिमतं तत्त्वमनुमानं परलोकादिश्च तस्य सिद्धिप्रसङ्गात्। १६१९. चार्वाकाः। १६२०. इन्द्रियप्रत्यक्षेण। १६२१. इन्द्रियप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिस्वरूपम्। १६२२. स्वयमस्वीकृतमनभिप्रेतं वा। १६२३. चार्वाकाणाम्। १६२४. अन्यथा। १६२५. संवेदनं ज्ञानम्। १६२६. अनीन्द्रियप्रत्यक्षेण विना इन्द्रियप्रत्यक्षेणैव प्रमाणान्तराभावस्य संवेदनानुपपत्तिर्यथा। १६२७. ताद्विः। १६२८. वाञ्छनम्। १६२९. जैनादेः। १६३०. चार्वाकस्यापि। १६३१. (प्रमाणमन्तरेण प्रसिद्धेऽनुमाने सति जैनादेरपि तत्प्रसिद्धिर्न स्यात् ततः)। १६३२. एकं शून्यमिच्छन्तीत्येकशस्तेषामेकेषाम् (सांख्याभिप्रायेण जैनो ब्रूते)।

१६३३. इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्र विशिष्यते। यथा हि तत्त्वोपप्लववादिनां सर्वमुपप्लुतमेवेति वचनमात्रात्सिद्धं तथान्येषामतत्त्वोपप्लववादिनां सर्वमनुमप्लुतमेवेत्यपि वचनमात्रात् सिद्धं भवतु—अप्रामाण्यस्योभयत्र समानत्वात्। १६३४. सर्वज्ञानि च तानि प्रमाणान्तराणि तेषामभावः। १६३५. प्रत्यक्षविषयम्। १६३६. (स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वेति कर्तृपदम्)। १६३७. (अतिप्रसङ्गादिति भाष्यपदं व्याख्याति) तदभावविषयत्वे सति। १६३८. जैनादेः। १६३९. स्वकीयस्वकीयमतानुसारितत्त्वग्राहकम्। १६४०. आह तत्त्वोपप्लववादी। १६४१. जैनः। १६४२. जैनस्य। १६४३. प्रमाणं प्रमाणमन्तरेण सिद्धं चेत्। १६४४. जैनस्य। १६४५. पुरुषसमूहः सकलतत्त्वविरहित इत्येवं येनावबुद्धं तदेव प्रमाणम्, अत एवात्मानं निरस्यन्तीति। १६४६. प्रमाणाङ्गीकारे। १६४७. तत्त्वोपप्लववादी प्राह। १६४८. जैनादेः। १६४९. ''प्रमाणत्वं प्रमेयत्वम्'' इति पाठान्तरम्। १६५०. (जैनपक्षमुपपाद्य तत्त्वोपप्लववादी इति चेन्नेत्यनेन खण्डयति) १६५१. प्रथमं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते। १६५२. जैनादेः। १६५३. प्रमाणेन प्रमाणमन्तरेण वा। १६५४. जैनादिकृतः। १६५५. अन्यथा। १६५६. तत्त्वोपप्लववादी। १६५७. प्रमेयतत्त्वं च तिष्ठतु। १६५८. अदोषः चक्षुरादिनैर्मल्यम्। १६५९. एतत्पर्यन्तं विकल्पद्वयमिदं मीमांसकापेक्षया। १६६०. अयं तृतीयविकल्पो नैयायिकमतापेक्षया। १६६१. अन्यथा अविसंवादकत्वेनेत्ययं चतुर्थो विकल्पः सौगतमतापेक्षया। १६६२. तत्त्वोपप्लववादिमत-

मालम्ब्य जैनः प्राह। १६६३. कौशल्यं नैर्मल्यम्। १६६४. मीमांसकः। १६६५. तत्त्वोपप्लववादिमतमालम्ब्य जैनः प्राह। १६६६. शुक्तिकायां रजतज्ञानं कार्यलिङ्गं कारणदुष्टतां साधयतीति व्यभिचारो, यतो विज्ञानसामान्यं दुष्टतायामपि वर्त्तते। १६६७. मीमांसकः। १६६८. तत्त्वोपप्लववादी। १६६९. दूषणान्तरं तत्त्वोपप्लववादी (शून्यवादी) प्राह। १६७०. अङ्गीकृते। १६७१. भो मीमांसक चक्षुरादीनां गुणाश्रयतयैव। १६७२. मीमांसकस्य। १६७३. मीमांसकः। १६७४. दुरधिगमत्वात्। १६७५. कुतः ? यतः। १६७६. तत्त्वोपप्लववादी। १६७७. चक्षुरादीनाम्। १६७८. अपौरुषेयत्वाददुष्टकारणं वेदवाक्यम्। ततस्तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयो भविष्यतीत्यारेकायामाह। १६७९. मरीचिकायां जलज्ञाने। १६८०. तद्देशोपसर्पणं स्वकारणं बाधककारणमित्यर्थः। १६८१. 'बाधकस्य' मुद्रितप्रतौ पाठः। नेदं जलमिति। १६८२. मीमांसकः। १६८३. तत्त्वोपप्लववादी। १६८४. तर्हीति शेषः। १६८५. मीमांसकः। १६८६. तत्त्वोपप्लववादी। १६८७. प्रमाणान्तरात्। १६८८. मीमांसकाभिप्रायं निराकुर्वन्नाह तत्त्वोपप्लववादी। १६८९. अन्यथा। १६९०. नः अस्माकं। १६९१. तद्देशोपसर्पणरूपबाधककारणस्य।

१६९२. समीपे। १६९३. तत्त्वोपप्लववादी। १६९४. तत्त्वोपप्लववादी। १६९५. बाधानुत्पत्तेः। १६९६. भेदेन। १६९७. बाधानुत्पत्तिः। १६९८. तत्त्वोपप्लववादी मीमांसकं प्रत्याह—हे मीमांसक त्वया कुतः प्रमाणान्निश्चयनीयो द्वितीयोपि विकल्पः ? १६९९. हेतुः बाधककारणम् १७००. सर्वदा बाधानुत्पत्त्या। १७०१. अर्थवेदनस्य। १७०२. दूरे समीपे च स्थितस्य प्रतिपत्तुर्बाधानुत्पत्तिः। १७०३. पुंसः। १७०४. बाधककारणवैकल्यात्। १७०५. संभावनात् च मुद्रितप्रतौ पाठः। १७०६. द्वितीयविकल्पः। १७०७. सर्वे सर्वज्ञा भवेयुरिति। १५०८. प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति नैयायिको ब्रूते। तं प्रत्याह तत्त्वोपप्लववादी। १७०९. चक्रकदूषणप्रसङ्गः, तदप्यनवस्था। १७१०. तत्त्वोपप्लववादी काणादं प्रति पृच्छति। १७११. सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्ध इति पक्षिलभाष्यात्। १७१२. स्नानपानादिना। १७१३. पुंसः। १७१४. तत्त्वोपप्लववादी। १७१५. पर्वतादौ धूमापरिज्ञानेप्यग्निनिश्चयप्रसङ्गात्। १७१६. विज्ञानस्य। १७१७. विज्ञानेन। १७१८. फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमात्। १७१९. प्राप्नोति। १७२०. चक्रकं विवृणोति। तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदा सोवगतोनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत् ? यद्यनवगतस्तदातिप्रसङ्गः। सोवगतश्चेत्तत एव प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्तत एव परस्पराश्रयानुषङ्गात्। अन्यतः प्रमाणात्सोवगत इति चेत्तदन्यत्प्रमाणं कुतः प्राणाण्यव्यवस्थामास्तिघ्नुते ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत्तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोनवगतो वेत्यादिप्रकारेण वारत्रयमावर्त्तने चक्रकं दूषणं भवति। १७२१. प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य फलेनाभिसम्बन्धस्य निराकरणद्वारेण। १७२२. तत्र सजातीयज्ञाने।

१७२३. तत्त्वोपप्लववादी इतः परं प्रवृत्तिं विचारयति। १७२४. प्रमेये। १७२५. 'प्रतिपत्तौ' मुद्रितप्रतौ पाठः। नैयायिकः। १७२६. तत्त्वोपप्लववादी। १७२७. भो नैयायिक। १७२८. प्रमाणान्तरस्यापि प्रामाण्यं प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुरित्यादिग्रन्थावतारः। १७२९. अनिश्चितप्रामाण्यादिति। १७३०. नैयायिकः। १७३१. तत्त्वोपप्लववादी। १७३२. नैयायिकः। १७३३. सार्थकम्। १७३४. तत्त्वोपप्लववादी। १७३५. प्रमाणप्रमेयरूपो व्यवहारो लोकवृत्तम्। १७३६. स्वतो वा— परतो वा। १७३७. स्वरूपतः। १७३८. तत्त्वोपप्लववादी। १७३९. परतः प्रामाण्यानुवादविरोधं विवृणोति तत्त्वोपप्लववादी। १७४०. भवदीये प्रमाणशास्त्रे। १७४१. परतः प्रकारेण। [१७४२. नैयायिकः। १७४३. परतः प्रकारेण। १७४४. "न स्वतः" इति भाति]। १७४५. मीमांसकैः। १७४६. सर्वप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यमिति प्रसिद्धिप्रसङ्गात्। १७४७. स्वतोनुवादः। १७४८. नैयायिकस्य। १७४९. नैयायिकः। १७५०. परतः प्रामाण्यप्रकारेण मीमांसकः। १७५१. नैयायिकमीमांसकयोः। १७५२. परतः प्रामाण्यप्रकारेण। (द्वितीयविकल्पः)। १७५३. अन्यस्माल्लोकवृत्तान्तस्य प्रकृतलोकवृत्तस्य। १७५४. अनुवादस्य। १७५५. अनुकथनम्। १७५६. मीमांसकनैयायिकयोर्मतस्य प्रमाणतत्त्वं विचार्येदानीं सौगतप्रमाणतत्त्वं विचारयन्ति ग्रन्थकृतः। १७५७. यसः (कर्मधारयः) १७५८. अर्थक्रियासद्भावलक्षणस्य। १७५९. बौद्धः। १७६०.

तत्त्वोपप्लववादी। १७६१. सत्यरूपे सामान्यरूपे। १७६२. विशेषरूपे। १७६३. संवेदने। १७६४. स्वलक्षणे। १७६५. उत्पन्नविनष्टत्वात्। १७६६. बौद्धः। १७६७. हे बौद्ध। १७६८. बौद्धः। संवेदने १७६९. सत्यरूपस्य संवादस्य।

१७७०. तत्त्वोपप्लववादी। १७७१. सामान्यनिराकरणवादिनः। १७७२. अन्वयरूपद्रव्यनिषेधवादिनस्तव सौगतस्य क्वचिद्वस्तुनि अन्वयरूपता नोपपद्यते। १७७३. घटत्वपटत्वादिरूपेण। १७७४. बौद्धः। १७७५. स्थिरस्थूलवस्तुनि। १७७६. तत्त्वोपप्लववादी। १७७७. (जातिविरोधादिति पाठान्तरम्)। १७७८. 'असाधारणस्य' मुद्रितप्रतौ पाठः। विशेषस्य। १७७९. तव सौगतस्य मते। १७८०. पूर्वोक्तविकल्पचतुष्टयप्रकारेण। १७८१. विशेषेणापि मुद्रितप्रतौ पाठः। १७८२. जैनो वक्ति। १७८३. वक्ष्यमाणप्रकारेण। १७८४. उपप्लुतो बाधितः। १७८५. तत्त्वोपप्लववादिनः। १७८६. परः। १७८७. शून्यवादः। १७८८. अभावरूपत्वादेव। १७८९. भो जैन। १७९०. तवापि विचारासहत्वे तत्त्वोपप्लवसिद्धिः कथमिति जैनेनोक्ते स आह। १७९१. आह जैनः १७९२. तत्त्वमनतिक्रम्येत्युक्ते किं तत्त्वमुल्लङ्घ्य विचारितमित्यर्थः। १७९३. अविचारितत्वमग्रे दर्शयति। १७९४. अविसंवादित्वादिनां। १७९५. प्रमाणस्य प्रामाण्यं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते इति शेषः। १७९६. जैनः पराभिप्रायं निराकरोति। १७९७. किन्तु सुघटमेवेत्यर्थः। १७९८. व्यवसायात्मकत्वपदेन संशयविपर्ययानध्यवसायव्यवच्छेदः। १७९९. अन्यप्रमाणात्। १८००. प्रामाण्यसिद्धेः। १८०१. विषये। १८०२. ज्ञाने भूयः संवादानुभवनमभ्यासस्तदभावोनभ्यासः। दृष्टादृष्टनिमित्तानां वैचित्र्यादिह देहिनाम्। जायते क्वचिदभ्यासोनभ्यासो वा कथञ्चन। १८०३. अदृष्टः पुण्यादिर्ज्ञानावरणादिश्च। १८०४. बहुधानुभवविषयत्वं नीतावित्यर्थः। १८०५. क्रियाविशेषणम्। १८०६. पूर्वस्यैव हेत्वन्तरम्। १८०७. व्यवसायो ज्ञानं, तस्य। १८०८. 'वाऽसंवेदने' मुद्रितप्रतौ पाठः। १८०९. ननु भो जैन नित्यस्यात्मनोऽभ्यासानभ्यासौ कथं स्यातामित्युक्ते जैनः प्राह। १८१०. नित्यानित्यरूपस्य। १८११. आत्मनः। १८१२. जैनस्य (अनभ्यासात्मकज्ञानपरिहारेणाभ्यासात्मकज्ञानप्राप्तिविरोधात् क्षणिकस्य नित्यस्य वा)।

१८१३. तत्त्वोपप्लववादी। १८१४. जैनः। १८१५. (तत्त्वोपप्लववादी) उभयपक्षासिद्धेः। १८१६. जैन आह। १८१७. तत्त्वोपप्लववाद्यादिः। १८१८. सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धत्वप्रकारेण। १८१९. जैनः प्राह। १८२०. जैनः। १८२१. संवेदनसाधनं सिद्धमसिद्धं वा ? यदि सिद्धं तदा तेनैव सन्दिग्धं न साध्यते अतः साधनस्य व्यभिचारः। अथ न सिद्धं तदा स्वयमसिद्धं साधनं कारणम्। यद्यसिद्धमपि साधनं साध्यं साधयति तदातिप्रसङ्ग इति भावः। १८२२. असुनिश्चितासम्भवद्बाधकं चेदित्यर्थः। १८२३. तर्हीति शेषः। १८२४. संवेदनम्। १८२५. असुनिश्चितासम्भवद्बाधकम्। १८२६. क्वचिद्वस्तुनि। अज्ञातस्थाणुपुरुषत्वादेः। १८२७. तत्सामान्यादर्शिन इव इति पाठान्तरम्। सामान्यादर्शिनो विशेषोपलम्भे सति सन्देहस्यानुपपत्तिर्यथा तथा प्रकृतेपि। अथात्र दृष्टान्तोऽप्रसिद्ध इति न मन्तव्यं, भूभवनेत्यादिलौकिकोदाहरणप्रदर्शनात्। १८२८. तादृशो नरस्य यथा तत्र सन्देहो नोदेति। १८२९. तत्त्वोपप्लववादी। १८३०. स्थाणुपुरुषत्वे। १८३१. जैनः। १८३२. कथञ्चिद् विवक्षितप्रकारेणाभ्यासदशापेक्षयेत्यर्थः। १८३३. केवलं स्वत एव परत एव वेति स्वीकारे। १८३४. अनधिगतवस्तुविकल्पस्य पुरुषस्य क्वचित्प्रदेशे वस्तुविचारे संशयो न घटते इति। १८३५. तत्त्वोपप्लववादिनः। १८३६. तत्त्वोपप्लववादी प्राह। १८३७. जैनः। १८३८. तत्त्वोपप्लववादिनां। १८३९. अप्रतिपत्तिविषयीकुर्वन्। १८४०. पराभ्युपगमात्। १८४१. वस्तुमात्रम्। १८४२. तत्त्वोपप्लववादी। १८४३. शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्र विचारः सन्देहश्च न प्राप्नोतीत्यर्थः। १८४४. अनिर्णीतेर्थे।

१८४५. व्याहतिः मुद्रितप्रतौ पाठः। १८४६. वक्ष्यमाणप्रकारेण। १८४७. सर्वज्ञसामान्ये विप्रतिपत्तिमतां मीमांसकचार्वाकतत्त्वोपप्लववादिनामात्मसद्भावं प्रसाध्येदानीं तद्विशेषविप्रतिपत्तिमतां सौगतादीनां निर्वचनं साधयति तीर्थेत्यादिना। १८४८. समयः सम्प्रदायः। १८४९. तथापि तत्त्वोपप्लववादिनामनेकप्रमाणत्वं कथमित्यत आह नैकेति। प्रसज्यप्रतिषेधोत्र। १८५०. समूहम्। १८५१. अभ्युपगतम्। स्वीकृतमित्यर्थः। १८५२. सत्यता

संवादकता। १८५३. तथा सति। १८५४. स्वपक्षसाधने परपक्षदूषणे वा सति द्वैतप्रसङ्गं निराकुर्वन् यदि कल्पनया द्वैतमङ्गीकुर्यात्तदा संविदद्वैतसिद्धिरपि कल्पनयैव सिद्ध्येन्न निश्चयेनेत्यर्थः। १८५५. चार्वाकाणाम् १८५६. इतरत् असत्यम्। १८५७. इतरः विसंवादः। १८५८. तथा सति। १८५९. "प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः। प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्" इति विचनात्। १८६०. अन्यथा। १८६१. अनुमानसद्भावेप्येकप्रमाणवादिता चार्वाकस्य यदि स्यात्तदानेकप्रमाणवादिनां वैशेषिकादीनामप्येकप्रमाणवादिताप्रसङ्गात्। १८६२. कपिलः साङ्ख्यः। १८६३. कणभक्षो वैशेषिकः। १८६४. अक्षपादो नैयायिकः। १८६५. जैमिनिः प्रभाकरभट्टः। १८६६. ऊहाख्यस्य। १८६७. प्रत्यक्षस्य। १८६८. ऊहपरिज्ञाने सामर्थ्यम्। १८६९. अनिष्टम्। १८७०. वैशेषिकस्य प्रमाणान्तरप्रतिपादनेन। १८७१. सौगतेनापि प्रत्यक्षानुमानाख्यप्रमाणद्वयस्याभ्युपगमात्। १८७२. ऊहग्रहणे। १८७३. प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः। जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः। साङ्ख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः॥ श्लोकानुक्तान्यपि प्रभाकरस्य पञ्च प्रमाणानीति ज्ञेयम्।

१८७४. यतस्तत्त्वोपप्लवग्राहि प्रमाणं सत्यभूतमायातं तत्त्वोपप्लवरूपः प्रमेयश्च ततः सकलतत्त्वोपप्लवकथनस्य विरोधः। १८७५. कुतः। १८७६. संवदेनाद्वैतादयो वदन्ति स्याद्वादिनं प्रति। —हे स्याद्वादिन्, यत्त्वयास्माकं परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिपादितं स्वस्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमविरोधश्च प्रतिपादितस्तदद्वयमपि नास्त्यस्माकमिति। अस्योत्तरमाह स्याद्वादी 'तथापि तेषामाप्तता नास्ति, स्वप्रमाणफलज्ञानलक्षणायाः प्रमाया अभावात्' इति। १८७७. चतुर्णामद्वैतवादिनाम्। १८७८.. आत्मनः संवेदनात् स्वस्मात्प्रमितिः प्रमाणस्य साध्यं फलं सिद्ध्यतीत्यर्थः। १८७९. 'प्रमितासिद्धेः' मुद्रितप्रतौ पाठः। १८८०. परस्परविरुद्धाभिधानमिति सम्बन्धो योजनीयः। १८८१. तथापीत्यर्थः १८८२. अन्यथा प्रमाऽभावाभावे अनैकान्तिकत्वमायाति १८८३. अद्वैतान्तरे। १८८४. अनेकधर्मरहितत्वात् (बौद्धमतापेक्षया)। १८८५. तस्याः प्रमायामभावे सति। १८८६. स्याद्वादसिद्धरित्यर्थः। १८८७. कुतः ? यतः। १८८८. चार्वाकैः। १८८९. प्रत्यक्षे। १८९०. बौद्धापेक्षया निरंशत्वात् प्रमात्रादिव्यावृत्तौ प्रमाया व्यावृत्तेरित्याद्युक्तप्रकारेण। अन्येषामपेक्षया अस्वसंविदिततत्त्वोपगमादित्याद्युक्तप्रकारेण च। १८९१. एताः शक्तयः कारणरूपाः। १८९२. एतत्कार्यरूपम्। १८९३. स्वप्रमायाः सद्भावे स्वप्रमाया एव प्रमाणप्रमेयरूपत्वात्। १८९४. पूर्वं तु परस्य प्रमाणमभ्युपगम्य दूषणमुक्तमिदानीं तदपि निराकरोति। १८९५. सूत्रे परस्परविरोधत इत्येतदुपलक्षणम्। तेन सर्वप्रमाणाविनिवृत्तेरित्यादेरपि ग्रहणम्। १८९६. कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन। १८९७. नित्यवादिनः सांख्याः ब्रह्माद्वैतवादिनश्च। १८९८. ब्रह्मादेरुपादानकारणस्य नित्यत्वे एकत्वे चोपादेयस्यापि नित्यत्वमेकत्वं चेति भावः। १८९९. युगपत्क्रमेण वा।

१९००. अनित्यवादिनः सौगताः। १९०१. सर्वप्रमाणविनिवृत्तिरिति सम्बन्धः। १९०२. नित्यैकान्ताद् मुद्रितप्रतौ पाठः। १९०३. सकाशात्। १९०४. चकारेणानित्यैकान्तग्रहणम्। १९०५. कथञ्चित्प्रकारेण। १९०६. मीमांसकेनाभिधीयमानस्य न क्वचिदनाविलज्ञानमिति दूषणस्य परिहारद्वारेणैव परेषां सुगतादीनामाप्तता नास्ति परं त्वस्माकं त्वस्तीति वक्तुकामा वागक्षेत्याद्याहुराचार्याः। १९०७. कर्तृपदम्। १९०८. सुगतकपिलादावेकान्तवादिषु। १९०९. जैनेषु। १९१०. दुरवबोधम्। १९११. निरावरणज्ञानाः। १९१२. अविशिष्टवागादि प्रतिषेधवादिनाम्। १९१३. नातः मुद्रितप्रतौ पाठः। १९१४. अविशिष्टवाक्त्वं निराकृतमनेन। १९१५. अक्षबुद्धिनिराकरणमनेन। १९१६. आदिना देशकालद्रव्यादिव्यवधानग्रहः। १९१७. 'व्यवधानाद्यति' मुद्रितप्रतौ पाठः १९१८. इच्छावत्त्वं निराकृतमनेन। १९१९. अविशिष्टपुरुषत्वमनेन निराकृतम्। १९२०. सुगतादिषु। १९२१. युक्तिर्न्यायः। शास्त्रमागमः। १९२२. निष्कलङ्कबुद्धिः, पक्षेऽकलङ्कदेवानां बुद्धिः। १९२३. 'इत्थं' मुद्रितप्रतौ पाठः। १९२४. येन कारणेन तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति तेन कारणेन। १९२५. इन्द्रियानिन्द्रियान्यत-मावरणक्षयोपशमो लब्धिः। अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः। तयोः संस्कारास्तेषाम्। १९२६. आवरणं निबन्धनं येषां ते तेषाम्। १९२७. भवं यन्तीति क्विपि भवेतो भवभृतस्तेषां गुरुः प्रभुर्भवेद्गुरुरिति कारिकापदस्य व्युत्पादनम्। १९२८. सुगतादीनाम्।

१९२९. 'आप्तप्रतिक्षेप' मुद्रितप्रतौ पाठः। १९३०. 'सुनिश्चिता' मुद्रितप्रतौ पाठः। १९३१. चेतयते इति चेत्। १९३२. सर्वज्ञः। १९३३. प्रतिबिम्बवादौ। १९३४. मीमांसकः। १९३५. अन्यथावेदनस्य। १९३६. स्याद्वाद्याह।

१९३७. तत्त्वार्थाधिगमवचनात्। १९३८. लब्ध्युपयोगयोः प्रकर्षाः (संस्काराः) स्वग्राह्यार्थग्राहकाः परिमितरूपा भवन्ति। १९३९. धारणाज्ञानरूपा न तु स्वरूपार्थग्राहणोन्मुखा संस्कारे, उपयोगसंस्कारयोरेकत्वप्रसङ्गात्। १९४०. न तु द्रव्येन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वं तेषामङ्गोपाङ्गनामककर्मबिन्धनत्वात्। १९४१. एवार्थे। न तु तत्राष्टकर्मविनाशः कारणम्, आवरणापायस्यैव कारणत्वोपगमात्। १९४२. ज्ञानावरणे संक्षये भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाग्भवत्येतावता भावेन्द्रियाणामभावादेवेति कथमित्याशङ्कायामाह। १९४३. कारणानामावरणभावरूपाणाम्। १९४४. कार्यस्य भावेन्द्रियरूपस्य। १९४५. आह कश्चित्स्वमतवर्त्ती। १९४६. णाणावरणचउक्कं तिदंसण सम्मगं च संजलणं। णवणोकसायविग्घं छव्वीसा देसघादीओ॥ (ज्ञानावरणचतुष्कं त्रिदर्शनं सम्यक्त्वं चतुः संज्वलनम्। नवनोकषायाः विघ्नः षड्विंशतिर्देशघातीयाः)। देशं (आत्मगुणस्यैकदेशं) घ्नन्तीति देशघातिन इति व्युत्पत्तिः। देशघातिनश्च ते ज्ञानावरणाश्च ते स्पर्द्धकाश्चेति देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकास्तेषामुदये। १९४७. वर्गः शक्तिसमूहोणोरणूनां (शक्तिसमूहः) वर्गणोदिता। वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकापहैः॥ इत्युक्तलक्षणो बहूनां कर्मत्वमापन्नानां पौद्गलिकवर्गाणां समूहः स्पर्द्धको ज्ञेयः। १९४८. सर्वमात्मगुणं घ्नन्तीति सर्वघातिनः। केवलणाणावरणं केवलदंसं कसायवारसयं। मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अवंधंहिं (अबंधह्न॥ (केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं कषायद्वादशकम् (अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानानां प्रत्येकं चतुष्कमिति द्वादश)। मिथ्यात्वं च सर्वघानिनः सर्म्यग्मिथ्यात्वमवन्धैः (जिनैः) इत्युक्तलक्षणः सर्वघाती, आत्मगुणानां सामस्त्येन घातनात्। १९४९. वर्तमानकाले उदययोग्यानामित्यर्थः। १९५०. उदयाभावरूपे क्षये फलमदत्वैव तेषां निर्जरणे इत्यर्थः। १९५१. सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकानामे वोदेष्यमाणानां सदवस्थायाम्। आत्मनि कर्मत्वरूपेण सम्बन्धे विद्यमाने सतीत्यर्थः। १९५२. मीमांसकशङ्का। १९५३. 'साम्ये' मुद्रितप्रतौ पाठः। १९५४. सकलभवभृत्प्रभोः। १९५५. पुनश्च मीमांसकः। १९५६. हेतुः। १९५७. सर्वज्ञसाधकम्। १९५८. लिङ्गं भून्वा य एकदेशः सर्वज्ञमनुमापयेदित्यर्थः। १९५९. योगे। १९६०. अलावूनि निमज्जन्ति ग्रावाणः प्लवन्त इत्यत्रापि वेदे स्वरूपनिरूपकस्य आपः पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। १९६१. यो योगं करोति। १९६२. कर्मार्थवादो यागप्रशंसावादः तत्स्तुतिकथनं वा। १९६३. सर्वज्ञरूपेर्थे। १९६४. स्तुत्यर्थकथनपरैः। १९६५. आगमेन सर्वज्ञस्यानुवादो भवतीत्युक्ते आह। १९६६. प्रमाणात् १९६७. आदिमत्सर्वज्ञं प्रतिपादयति यदा तदा सर्वज्ञोऽभूद्भविष्यति भवतीति त्रिरूपेणापि प्रतिपादने विरोधः। १९६८. मूलं प्रामाण्यम्। १९६९. स्तुत्यादि(चोदनादि)वादानां सत्यत्वं नावगम्यते। विशेषण स्पष्टीकरणं त्वस्य भावनाविवेकनाम्नि ग्रन्थे कृतम्। १९७०. न वाक्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तीति वा पाठः।

१९७१. प्रमाणैः। १९७२. कृत्रिमत्वादेवासत्यत्वम्। १९७३. सर्वज्ञवचनेन। १९७४. अन्योन्याश्रयं भावयति। १९७५. वाक्येन १९७६. सिद्धं च तन्मूलान्तरं (प्रमाणान्तरं) च तत्तस्मात् १९७७. सर्वज्ञसदृशस्य। १९७८. अर्थापत्युत्थापकस्य। १९७९. सर्वज्ञाभावेपि धर्माद्युपदेशः संभवति बहुजनपरिगृहीतत्वात्। ततो धर्माद्युपदेशो नान्यथानुपपद्यमानो यतः सर्वज्ञं साधयेत्। १९८०. सर्वज्ञाभावे १९८१. अन्यथा नोपपद्येत इति पाठान्तरम्। यद्येवं पाठस्तदा काकुरूपेण ध्येयः। १९८२. मध्ये। १९८३. स्त्रियामृक्सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी इत्यमरः। १९८४. त्रयीविद्भिराश्रिताः (व्याख्याताः) स्मृतिरूपा ग्रन्था ये स्मृतिग्रन्थास्ते त्रयीविदाश्रितग्रन्थाः। त्रयीवित्प्रधानमन्वादिकृताः स्मृतिसाधारणास्त्रयीविद आश्रयन्तीति भावः १९८५. सन्वं सर्वज्ञास्तित्वम्। १९८६. दूरादिनियतार्थगोचरैः। १९८७. सिद्धान्त(जैन)पक्षमादाय वादी शङ्कते। १९८८. अतीन्द्रियजातं प्रत्यक्षम्। १९८९. तथाभूतस्यैव तथासाधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह।

१९९०. एतदनुमानस्य खण्डनमत एवाक्षापेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकानपेक्षा इति भव्यव्याख्यानावसरे प्रोक्तं द्रष्टव्यम्। १९९०. गृद्धस्य चाक्षुषं वराहस्य श्रौत्रं पिपीलिकायास्तु घ्राणजम्। बिडालघूकमूषकादयो नक्तञ्चराः। १९९३. कात्यायनो वररुचिः। १९९५. व्याप्तिस्मरणमन्तरेणोत्पन्नत्वलक्षणेन। १९९५. सङ्केतस्मरणमन्तरेण।

१९९६. एकाग्रता। १९९७. स्वार्थो नियतविषयः। १९९८. अतीन्द्रियं च तदननुमेयं चेति द्वन्द्वः। १९९९. इन्द्रिये। २०००. क्रियमाणायाम् २००१. ननु च प्रज्ञास्मृत्यादिशक्तीनां प्रतिपुरुषमतिशयदर्शनात्सिद्धं कस्यचित्काष्ठामापद्यमानं धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिप्रत्यक्षमित्यारेकायामाह। २००२. तत्तद्विषयाणाम्। २००३. एकशास्त्रज्ञानमात्रेण। २००४. पुरातननृपादिचरित्रग्रन्थसन्दर्भ इतिहासः। २००५. अपूर्वे पुण्यपापे। २००६. द्वन्द्वः। २००७. संभाव्येनातीन्द्रिया(निन्द्रिये) प्रत्यक्षादिना व्यभिचारः। २००८. प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादिति साधनस्य। २००९. तस्य अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य। २०१०. पुरुषविशेषस्य। २०११. अत्राह स्याद्वादी। २०१२. परो मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठेत (प्रतिकूलतामवलम्बेत) अपि तु नेत्यर्थः। २०१३. अन्यत् संवादकत्वादिकम्। २०१४. बाधकासम्भवत्वम्। २०१५. सर्वज्ञे। २०१६. सिद्धं सत्। २०१७. तर्हीति शेषः। २०१८. दर्शने दर्शनाभावे वा (सर्वज्ञस्य) सत्यदर्शने असत्यदर्शने च वा। २०१९. अविशेषात्सर्वत्रापि सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणस्याभावे इत्यर्थः। २०२०. प्रत्यक्षम्। २०२१. मीमांसकस्य। २०२२. सर्वज्ञसाधकस्य। २०२३. अन्तरितदूरमिति। क्रियाविशेषणमेतत्।

२०२४. सर्वज्ञः। २०२५. स सर्वज्ञः। २०२६. सिद्धान्ती। २०२७. सदुपलम्भकं सद ग्राहकम्। २०२८. विद्यमानदर्शकप्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाभावस्वरूपमभावप्रमाणम्। २०२९. सिद्धान्ती तदनुपलम्भनं स्वसम्बन्धि परसम्बन्धि वेति विकल्प्य क्रमण दूषयति स्वस्याभावप्रमाणवादिनः सम्बन्धि स्वसम्बन्धि। २०३०. परचित्तव्यापारविशेषादिना व्यभिचारसम्भवात्। २०३१. तदेति शेषः। २०३२. विद्यमानैः। २०३३. किञ्चिज्ज्ञेन। २०३४. अतीन्द्रियत्वात्। २०३५. अत्यन्तपरोक्षत्वेन सर्वज्ञस्य ज्ञापकलिङ्गाभावः। २०३६. सर्वस्यानन्यथाभावसादृश्यानुपपत्तित इति पाठः। २०३७. सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम्। २०३८. मीमांसकस्य। २०३९. स्वरूपशब्देन सर्वज्ञः। २०४०. सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम्। २०४१. आपः पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। २०४२. प्रभाकरं निराकृत्य भट्टं निराकुर्वन्नाह तज्ज्ञापकेति। २०४३. सर्वपुरुषसम्बन्धिनि ज्ञापकानुपलम्भने। २०४४. मति। २०४५. सर्वज्ञज्ञापके काले। २०४६. घटते। २०४७. अन्यपुरुषमनोव्यापारादिप्रत्यक्षत्वानिष्टेः २०४८. नरे। २०४९. सर्वज्ञनास्तितानिश्चितिः। २०५०. नरे। २०५१. नास्तितागतिः। २०५२. अनुमानादिना। २०५३. मीमांसकानाम्। २०५४. अनुमाने लिङ्गस्य, उपमाने सादृश्यस्य, अर्थापत्तौ त्वन्यथाभावस्य चाभावादित्यर्थः। २०५५. सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं किञ्चिद्बोधैर्न शक्यते इत्यादिना पूर्वमेव नास्तितासिद्धौ प्रयुक्ते तत्र तत्र प्रत्येकप्रमाणे दूषणस्योक्तत्वात्। २०५६. तज्ज्ञापकोपलम्भस्य स्मृतौ सत्याम्। २०५७. जैनाद्युपगमतः। २०५८. सर्वज्ञः। २०५९. कथं व्याघातस्तथाहि। तस्य परोपगमस्य प्रमाणत्वेन्योन्यं परस्परं (वादिप्रतिवादिनोः) स सिद्धः। अन्यथा (तदप्रमाणत्वे) अन्योन्यं परस्परमुभयोरेव न सिद्ध इति।

२०६०. सुयुक्तिभिः। २०६१. गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रकिया जैनेषु नास्ति ततश्चास्माकं न किञ्चिद्दूषणमित्याहानेकान्ते इति। २०६२. गृहीत्वा वस्तु सद्भावमित्यादिप्रकारेण। २०६३. अनेकान्ते हीत्यादिप्रकारेणैव अनुपलम्भनं स्यादित्युक्ते सिद्धान्त्याह नैवमिति। २०६४. भ्रान्तिः। २०६५. सर्वज्ञस्य। २०६६. विश्वासस्य प्रतीतेः। २०६७. संवादकत्वात्। २०६८. सुनिश्चितासम्भवद्बाधके। २०६९. मेरुमूर्द्धनि मोदकादिसत्ताऽसत्तयोः साध्ययोरुभयत्रापि सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य हेतोः संभवात्। २०७०. प्रत्यक्षम्। २०७१. प्रत्यक्षस्य २०७२. मीमांसकाशङ्का। २०७३. सर्वज्ञस्य। २०७४. वस्तुनि। २०७५. विरोधात्। २०७६. यत्र साधकाभावस्तत्र बाधकसद्भावः। यत्र च बाधकाभावस्तत्र साधकसद्भावः। न त्वेकत्र साधकबाधकाभावो यथा तथा तदुभयनिर्णयोपि न। २०७७. सर्वत्र। २०७८. सुनिश्चितासंभवत्। मुद्रितप्रतौ पाठः २०७९. सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं यत्र तत्र सुनिश्चितासंभवत्साधकत्वं न घटते, अन्योन्यविरोधात्। २०८०. सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वात्। २०८१. सर्वज्ञे। २०८२. निर्दोषत्वाद्धेतोः। २०८३. तत्स्वभावान्तरम् अज्ञत्वलक्षणम्। २०८४. सर्वज्ञस्य। २०८५. जानीयात्। २०८६. जैनः। २०८७. भविष्यद्वर्तमानावादिपदेन ज्ञेयौ। २०८८. ज्ञस्वभावत्वाभावे। २०८९. आत्मा ज्ञस्वभाव एव साध्यः। २०९०. मीमांसकः।

२०९१. चोदना सकलं जानाति, आत्मा तु न जानातीति वदन्। २०९२. मीमांसकस्यापि। २०९३. सर्वथाभेदे। २०९४. मतान्तरं यौगम्। २०९५. भूताद्यशेषार्थे। २०९६. विकल्पज्ञानं यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमिति व्याप्तिज्ञानम्। २०९७. व्याप्तिज्ञानानुपपत्तौ। २०९८. मीमांसकशङ्का। २०९९. जैनैः। २१००. ज्ञानावरणादीनां मध्ये अन्तरमन्यतमं = ज्ञानावरणमित्यर्थः। २१०१. कारणकं मुद्रितप्रतौ पाठः। २१०२. मीमांसकः पृच्छति। तद्ज्ञानावरणं कर्म कुतः सिद्ध्यति। २१०३. इति चेदाहुराचार्याः—विवादेति। २१०४. अज्ञानाद्युदयः। २१०५. सर्वमतीतानागतवर्तमानं पश्यति मुद्रितप्रतौ पाठः। २१०६. व्यामोहः—मुद्रितप्रतौ पाठः। २१०७. पर्यायो द्विधार्थव्यञ्जनभेदात्। व्यञ्जनः स्थूल-पर्यायः। सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थपर्यायः। २१०८. प्रत्यक्षीभूता वयं जैनाः। २१०९. अज्ञानम्। २११० मीमांसकशङ्का। २१११. समीपतामापन्नम्। २११२. दूरम्। २११३. जैनः। २११४. तयोः प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोः। २११५. नयनतारकाया अञ्जनेन सह प्रत्यासत्तावपि न ज्ञानोदयोऽञ्जनस्य। चन्द्रार्कादींस्तु विप्रकृष्टानपि जानाति नयनतारका यथा। २११६. 'ज्ञानाज्ञानयोः' मुद्रितप्रतौ नास्ति। २११७. ज्ञानावरणविशेषाभावरूपा। २११८. प्रत्यासत्त्यभावे विप्रकर्षसद्भावेपि ज्ञानोत्पादात्। २११९. ता। २१२०. सर्वज्ञः। २१२१. प्रतिबन्धने मुद्रितप्रतौ पाठः। २१२२. कथं न स्यादपि तु स्यादेव। २१२३. प्रतिबन्धने मुद्रितप्रतौ पाठः। मणिमन्त्रादौ। प्रतिबन्धने इत्यपि पाठः। २१२४. अर्हत्प्रत्यक्षस्य। २१२५. अन्यथा (अक्षापेक्षत्वे) २१२६. परः। २१२७. सिद्धान्ती।

२१२८. साकल्येन विरतव्यामोहत्वसर्वदर्शनाभ्यां विनापि अवधिमनःपर्यययोरक्षानपेक्षत्वप्रकारेण। २१२९. तस्य = विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः। २१३०. अवधिमनःपर्यययोरपि पक्षान्तर्भावं ज्ञात्वा साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः पक्षाव्यापकत्वं दोषं समर्थयति परः। २१३१. परेण। २१३२. ईक्षणिका द्व्यक्षरा शाकिनीग्राह्या (?)। २१३३. भवेतामिति पाठान्तरम्। २१३४. प्रमाणभूतः। २१३५. सर्वे आप्ता इति वादो यस्य स सर्वाप्तवादो वैनयिकः। २१३६. वर्धमानः २१३७. अन्तमतिक्रान्तः कालोऽत्यन्तः, तस्मै प्रभवतीति आत्यन्तिकी, यस्या हानेः पुनर्नाशो न विद्यते तथेत्यर्थः। २१३८. अर्हति। २१३९. तरतमभावेन हीयमानत्वात्। २१४०. क्वचिच्छब्दः पूर्वार्द्धेपि सम्बन्धनीयः। क्वचिच्छब्देन कनकोपलो दृष्टान्ते अर्हंश्च दार्ष्टान्ते ग्राह्यः। २१४१. दोषसामान्यमावरणसामान्यं च तयोः। २१४२. प्रसिद्धो धर्मीति वचनात्। २१४३. दोषावरणयोर्हानेरभावे निर्दोषत्वं ज्ञानादि कार्यं च नोपपद्यते। २१४४. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यमिति वचनात्। २१४५. निःशेषहानौ। २१४६. प्रसिद्धो दृष्टान्त इति वचनात्। २१४७. द्वित्रादिवर्णिकामारभ्य षोडशवर्णिकापर्यन्तं हीयमानम्। २१४८. जैनैः। २१४९. दोषावरणयोरिति द्विवचनसामर्थ्यात्।

२१५०. स्वपरौ जीवकर्मणी। २१५१. कारिकाया मुद्रितप्रतौ पाठः। २१५२. सदर्थम्। २१५३. रागाद्वेषादिः। २१५४. सौगतमतम्। २१५५. स्वपरिणामस्तु नित्यः परिणामस्य गुणरूपस्य यावद्द्रव्यभावित्वे सति सकलपर्यायानुवर्तित्वं गुणत्वमिति लक्षणेन नित्यत्वप्रतिपादनात्। अज्ञानादिस्त्वनित्य इत्यतो विरोधः। २१५६. जीवत्वादिगुणस्य यथा कादाचित्कत्वविरोधोस्य नित्यत्वात्। २१५७. साङ्ख्यः। २१५८. जैनः। २१५९. अज्ञानादिकमरेणूनां मुक्तात्मनापि सम्बन्धप्रसङ्गात्। २१६०. जैनमते एवमभिमतम्। २१६१. दोषस्यावरणकार्यत्वप्रतिपादनप्रकारेण। २१६२. कारणनाशे कार्यनाशनियमात्। २१६३. अत्रापि कारणनाशे कार्यनाशनियमो हेतुः। २१६४. अन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थं ह्युभयहानिनिश्शेषत्वसाधनम्। २१६५. दोषं प्रत्यावरणस्य कारणत्वं प्रतिपाद्येदानीमावरणं प्रति दोषस्य कारणत्वमावेदयन्ति। २१६६. तत्प्रदोषो ज्ञानदर्शनप्रद्वेषः। २१६७. निह्नवमाच्छादनम्। २१६८. मात्सर्यं निन्दा तिरस्कारश्च। २१६९. विघ्नकरणमन्तरायः। २१७०. आसादनं शास्त्रादेर्विराधनम्। २१७१. अध्येतॄणां पीडाकरणमुपघातः। २१७२. एभ्यः कारणेभ्यो ज्ञानदर्शनावरणद्वयं जीवेन सह बन्धं याति। २१७३. हेतुतः। २१७४. आस्रवतीत्यध्याहार्यं पदम्। २१७५. सौगताशङ्का। २१७६. अविद्या मिथ्याज्ञानम्। २१७७. भोगाभिलाषस्तृष्णा। २१७८. चित्तक्षणस्य आत्मन इत्यर्थः। २१७९. तेन मदिरादिना। २१८०. अभ्युपगते। २१८१. श्लोकवार्त्तिके। २१८२. अतिशायनादेव।

२१८३. बौद्धस्य। २१८४. अनिष्टस्य साध्यत्वाभावत्। २१८५. कुतः ? यतः। २१८६. आत्मा दोषावरणं न तच्चात्मा नेति इतरेतराभावः। २१८७. इतरेतराभावस्यात्मनि कर्माद्यपेक्षया प्रसिद्धत्वात्। २१८८. प्रसिद्धत्वादेव। २१८९. प्रसिद्धत्वे हेतुमाह।

२१९०. घटो भूत्वा कपालभवनमेव प्रध्वंसाभावः। २१९१. लोष्टादावत्यन्ताभावेन वर्तनात्। २१९२. दोषावरणबुद्धीनामतिशायनगुणेन कृत्वा विशेषो यतो नास्ति। २१९३. यतो न हि बुद्धिपरिक्षयः।२१९४. प्रध्वंसाभावस्य। २१९५. आदिपदेन शरीरं गृह्यते, उत्तरत्र व्यापारव्याहारव्यावृत्तेरपि वक्ष्यमाणत्वात्। २१९६. रप्यभिमतत्वादिति पाठान्तग्म्। २१९७. पृथिव्यां चेतनगुणव्यावृत्तिर्वर्तते एवातो नानेकान्तः। २१९८. सामस्त्येन। २१९९. चेतनादिगुणस्य तत्रात्यन्ताभावात्। २२००. बुद्धिहानेरतिशायित्वेपि सर्वात्मना पृथिव्यादौ चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावो नास्ति, अतोनेकान्तः। २२०१. अन्यथा चेतनादिगुणसद्भावे तदभावोपलम्भाभावप्रसक्तेः। २२०२. अदृश्यश्चेतनगुणः। २२०३. चेतनादिगुणस्य। २२०४. अदृश्यानुपलम्भस्याभावासाधकत्वे सति परशरीरगतचैतन्यस्य निवृत्तावप्यारेका स्यात्। २२०५. खपुस्तके ते इति पदं नास्ति। २२०६. व्यापारविशेषश्चलनादिः। व्याहारविशेषो वचनविशेषः, आकारविशेषश्च। २२०७. समयः सङ्केतः। २२०८. चैतन्याभावविशिष्टम्। २२०९. कारणं = चैतन्यम्। २२१०. नास्ति। २२११. पूर्वोक्तं मतम्। २२१२. मीमांसकस्य। २२१३. तत् = व्यापारव्याहारादि। २२१४. मुक्तात्मवत्। २२१५. कार्यं = व्यापारादि। २२१६. अदृश्यानुपलम्भात् सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिर्न सिध्यत्येवेति। २२१७. रामरावणवेदकर्त्रादीनाम्। २२१८. किन्तु भावसिद्धेरेव मीमांसकस्य स्यात्। २२१९. जैनः २२२०. यद्विनाशि न भवति तत्कृतकं न भवति, यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्तीति च व्यतिरेकव्याप्तेरसिद्धेः। २२११. बौद्धमतेऽदृश्यानुपलम्भादभावसिद्धिर्नास्ति ततः परस्परमसंस्पृष्टानां परमाणूनां विकल्पबुद्धावप्रतिभासनात्तेषामभावासिद्धिः। २२२२. (जैमिनीयानाम्) मीमांसकानाम्। २२२३. अन्यथा।

२२२४. भावसिद्धिमित्यर्थः। २२२५. ततो वेदस्य सकर्तृकत्वं स्यात्। २२२६. प्रतिपादनम्। २२२७. स्वकीयम्। २२२८. अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वम्। २२२९. पाषाणात्। २२३०. आत्मनः। २२३१. द्रव्यभावरूपम्। २२३२. अकलङ्कस्य = परमसर्वज्ञस्याकलङ्कदेववचसो वा। २२३३. तटस्थो जैनः। २२३४. भूत्त्वाभवनलक्षणः। २२३५. द्रव्यत्वेन। २२३६. कारणात्। २२३७. तत्पर्यायस्य। २२३८. सकाशात्। २२३९. एकस्माद्द्वितीयस्य व्यावृत्तिरेव क्षय इष्यते सैद्धान्तिकानाम्। २२४०. यथा व्यावृत्तिरिति शेषः। २२४१. ध्रौव्यमन्तरेण। २२४२. शब्दो नश्वरः सत्त्वादिरित्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। किं तात्पर्यम् ? सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूपो हेतुः शब्दस्य नश्वरत्वमेव साधयति, न तु ध्रौव्यमित्यर्थः। २२४३. विद्युदादीनां सत्त्वेपि द्रव्यार्थतया ध्रौव्याभावादनेकान्त इत्यर्थः। २२४४. पुद्गलद्रव्यत्वतः। २२४५. कर्मद्रव्यस्य। २२४६. पुद्गलद्रव्यस्यात्मनि पारतन्त्र्यकरणे कर्मत्वपग्णिामस्तदकरणेऽकर्मत्वपरिणाम इति सिद्धान्तः। २२४७. यथा घटपटादिः।

२२४८. कारिकायाम्। २२४९. निःशेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापीत्यादिनोक्तप्रकारेण। यथा घटपटादिः कर्मवैकल्येप्यात्मकैवल्यं तथा बुद्धिवैकल्यमस्त्विति वाऽतिप्रसङ्गो नेति भावः। २२५०. सौगतः। २२५१. जैनः। २२५२. दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः। २२५३. आदिपदेन रसगन्धवर्णाः। २२५४. लक्षणस्य। २२५५. तत् = लक्ष्यम्। २२५६. अपि तु न स्यात्। २२५७. सतोऽत्यन्तविनाशानुत्पत्तिप्रकारेण। २२५८. मीमांसकः। २२५९. अज्ञानादिदोंषः। २२६०. पृथक्करणमेव क्षयः। २२६१. निर्ह्रासो विनाशः। २२६२. मलनिर्ह्रासस्य निमित्तं सम्यग्दर्शनादिगुणस्तस्य विवर्द्धनवशाद्धेतोः। २२६३. कर्म ज्ञानावरणादि। २२६४. अज्ञानादिर्मल आत्मनि स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी, आगन्तुकत्वादित्यध्याहार्यम्। २२६५. स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी प्रसिद्धः। २२६६. आत्मन्यज्ञानादिर्मल आगन्तुकः कादाचित्कत्वादित्यध्याहार्यम्। २२६७. दोषस्वभावत्वं जीवानामिच्छन् मीमांसकः प्राह। २२६८. गुणाविर्भूतेः प्राक्। २२६९. स दोषः। २२७०. ब्रह्मादिज्ञानस्य। २२७१.

दोषप्रकारेण। २२७२. गुणसद्भावकालेपि तिरोहितदोषसद्भावेङ्गीक्रियमाणे। २२७३. 'सत्तामात्रसिद्धिः' मुद्रितप्रतौ पाठः। २२७४. आत्मनः।

२२७५. आत्मनो गुणस्वभावत्वसिद्धिः। २२७६. आत्मनः। २२७७. आत्मनो दोषस्वभावत्वमन्तरा संसारित्वं न स्यात्ततो दोषस्वभावत्वसिद्धिरिति मीमांसकः। २२७८. जैनः। २२७९. मुक्तिसिद्धिः कुतः २२८०. वयं जैनाः। २२८१. तत्कारणं = मिथ्यादर्शनादि। २२८२. मिथ्याज्ञानवशात् सम्यग्ज्ञानाभाव इति प्रतिवादिनोपि सिद्धम्। २२८३. यसः। २२८४. 'निर्विवादकत्वात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। २२८५. तस्य सम्यग्दर्शनादेः। २२८६. तस्य मिथ्यादर्शनस्य। २२८७. तरतमभावेन वर्द्धमानत्वात्। २२८८. प्रकृष्यमाणेपि परत्वापरत्वे न परमप्रकर्षभाजीत्याभ्यां हेतोर्व्यभिचारः। २२८९. पर्यन्तेन (परिमाणेन) सह वर्त्तमानं सपर्यन्तं तच्च जगत्। २२९०. श्लोकवार्त्तिकादौ। २२९१. संसारस्य परमप्रकर्षसद्भावाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वरूपहेतोर्दर्शनात्। २२९२. मिथ्यादर्शनादीनां परमप्रकर्षाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वहेतोर्दर्शनादनेकान्तः प्रत्याख्यातः। २२९३. परमप्रकर्षरहितात्। २२९४. प्रकृष्यमाणत्वमिति कर्तृपदमध्याहार्यम्। २२९५. स्वकार्यं संसारस्तस्य। २२९६. ज्ञानादिगुणस्वभावत्वाभावे। २२९७. उभयमेकत्रैकदा विरुध्यते यतः। २२९८. चेतनागुणस्वभावतायाम्। २२९९. ज्ञानगुणस्वभावत्वनिर्णयोस्ति। २३००. गुणस्वभावत्वमन्तरा। २३०१. साधनम्। २३०२. आगन्तुको मलः।

२३०३. 'वर्द्धन' मुद्रितप्रतौ पाठः। २३०४. ज्ञानावरणस्य। २३०५. अज्ञानादेः। २३०६. मीमांसकः। २३०७. विप्रकर्षशब्दो देशकालस्वभावशब्दैः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। २३०८. देशकालाद्यविप्रकृष्टस्य। २३०९. धर्मादिस्थापने। २३१०. चोदनायाः। २३११. नन्वानन्दादिस्वभावोपि नास्तीत्यत्राह। आनन्दादिस्वभावस्याप्रतिषेधादिति। २३१२. मुक्तात्मनि। २३१३. सूत्रकारस्य। २३१४. प्रतिज्ञातिशयेति पाठान्तरम्। २३१५. समन्तभद्राचार्याः। २३१६. अनुमातुं योग्यत्वात्। २३१७. मीमांसकस्य। २३१८. नियतदेशाद्याकाराः। २३१९. कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रकारेण। २३२०. अनियतदेशाद्याकाराः। २३२१. आधुनिकस्य। २३२२. क्ष्माधरादयो बुद्धिमत्कारणकाः, सन्निवेशविशिष्टत्वादित्यत्रायं हेतुरप्रयोजको, बुद्धिमत्कारणत्वमन्तरेणापि सन्निवेशविशिष्टत्वसिद्धेः।

२३२३. 'धर्मादयो हि' मुद्रितप्रतौ पाठः। २३२४. 'ते' मुद्रितप्रतौ पाठः। २३२५. स्वर्गादयः। २३२६. विवादापन्नानां साध्यत्वप्रकारेण। २३२७. भाट्टस्य। २३२८. स्वभावभेदं दर्शयति। २३२९. स्वभावभेदाभावं दर्शयति। २३३०. ज्ञानम् = अनुमानज्ञानम्। २३३१. पुण्यपापादौ। २३३२. अग्न्यादीनामनुमेयत्वम्। २३३३. धर्मादीनामनुमेयत्वम्। २३३४. इति वदन् मीमांसको बौद्धश्च स्वानुमानमुत्सारयति (निवारयति)—इत्यर्थः। २३३५. स्वभावदेशकालविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यङ्गीकारे यावान्कश्चिद्भाव इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ भावश्चायं तस्मात् क्षणिक इति प्रकृतोपसंहारायोगः। २३३६. अस्मदादिप्रत्यक्षगोचराणाम्। २३३७. हेतोः। २३३८. क्षणिकत्वादिना सह। २३३९. बौद्धानाम्। २३४०. सामस्त्येन। २३४१. विरुद्धम्। २३४२. सौगतमीमांसकादीनाम्। २३४३. प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नं ज्ञातमविनाभावि लिङ्गं येषां ते। २३४४. यथाग्न्यादयः। २३४५. प्राप्स्यते। २३४६. मीमांसकः। २३४७. अग्न्यादौ। २३४८. पर्यायापेक्षया। २३४९. पर्यायत्वादिति हेतुरध्येयः। २३५०. प्रमाणात्। २३५१. मीमांसकः। २३५२. मानसप्रत्यक्षत्वात्। २३५३. शश्वदित्यादिप्रकारेण परिहराम्यहं मीमांसकः।

२३५४. विप्रकर्षिणामनुमेयत्वाभावादविप्रकर्षिणामनुमेयत्वानिष्टेरित्यर्थः। २३५५. प्रत्यक्षगोचराणाम्। २३५६. पावकादीनाम्। २३५७. वक्ष्यमाणम्। २३५८. मीमांसकः। २३५९. मयि बुद्धिरस्ति, घटादिबहिरर्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः। २३६०. धर्माधर्मौ स्तः, श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्तेः। श्रेयः सुखम्। प्रत्यवायो दुःखम्। २३६१. धर्माधर्मयोरभावेपि स्त्र्यादिदर्शनात्। २३६२. स्त्र्यादिभिः सौख्यमेवेति न, असुखस्यापि ततः सम्भवादिति व्यभिचारः। २३६३. मयि विशिष्टेन्द्रियशक्तिरस्ति, विशिष्टरूपादिज्ञानान्यथानुपपत्तेः। २३६४. किञ्च। २३६५. परोक्षस्य। २३६६. अनुमेयत्वसिद्धिः। २३६७. आदिशब्देन नैयायिकादयः। २३६८. यत्सत्तत् क्षणिकमिति बौद्धाः। यत्कृतकं तदनित्यमिति नैयायिकाः। २३६९. जैनानाम्। २३७०. सर्वमनेकान्तात्मकं, सत्त्वात्।

२३७१. प्रकारान्तरेणानुमेयत्वं व्याख्याति। २३७२. श्रुतज्ञानं मतिपूर्वकमेव भवति। २३७३. श्रुतज्ञानविषया:। २३७४. मीमांसकस्य। २३७५. सूक्ष्माद्यर्थस्य। २३७६. श्रुतं वेदः। २३७७. वेदवाक्यम्। २३७८. सर्वज्ञस्य। २३७९. सूक्ष्माद्यर्थस्य। २३८०. नित्यत्वेनानित्यत्वेनैव वा एकान्तरूपेण स्वीकृतैरर्थैः। २३८१. अनैकान्तिकत्वं दोषः। २३८२. श्रुतं श्रुतज्ञानाभासः। २३८३. सर्वथैकान्तानामर्थानाम्। २३८४. प्रत्यक्षानुमानबाधनात्। २३८५. सर्वत्र वस्तुनि श्रुतज्ञानादिगम्यत्वभावाद्भागासिद्धोयमित्याशङ्कायामाह स्थानेति। २३८६. स्वभावान्तरितं, देशान्तरितं, कालान्तरितं चेति स्थानत्रयम् २३८७. ततश्च। २३८८. मीमांसकः शङ्कते। अनुमेया अपि ते न कस्यचित्प्रत्यक्षाः संभवन्ति।

२३८९. शङ्कां परिहरन्नाहुः स्याद्वादिनः। इति (पूर्वोक्तम्) अग्न्यादयो धूमत्त्वादिनानुमेयाः सन्तु, न च प्रत्यक्षाः कस्यचिदिति समानमुभयत्र। न च तथेष्टं मीमांसकस्य ततो नोक्तशङ्कावकाश इत्यर्थः। २३९०. सन्दिग्धानैकान्तिकत्वस्य। २३९१. अनुमानोच्छेदाङ्गीकारे (चार्वाकमाहुः) २३९२. विज्ञानमस्वसंवेद्यं भूतपरिणामत्वात् पित्रादिवत्। २३९३. कर्मतापन्नम्। २३९४. (मीमांसकः) नैव लक्षयेत्। २३९५. अनुमानम्। २३९६. चार्वाको लोकान् प्रति अध्यक्षं किं दर्शयेत् (कथं प्रतीतिं कारयेत्) ?। २३९७. अप्रमाणतया। २३९८. अनुमानम्। २३९९. चार्वाकः। २४००. चार्वाकस्य। २४०१. चार्वाकेन। २४०२. मीमांसकस्य। २४०३. प्रागुक्तम्। २४०४. यतो न साधयति सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणां प्रत्यक्षम्। २४०५. सर्वज्ञस्य। २४०६. सर्वज्ञसद्भावम्। २४०७. प्रमेयत्वादितः। २४०८. अनुमानमात्रगम्येन। २४०९. आगमगम्येन। २४१०. अनुमेयस्यात्यन्तपरोक्षस्य च। २४११. सर्वज्ञे साध्ये। २४१२. सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वस्य लक्षणं स्वरूपम्। अथवानुमेयत्वस्य लक्षणमबाधितविषयत्वम्। २४१३. सर्वज्ञम्। २४१४. मतिमान्। २४१५. पुरुषस्य प्रतिषेधकस्य संशयितस्य वा। २४१६. परेण मीमांसकेनाभ्युपगतः प्रमेयत्वादिहेतुः सर्वज्ञास्तित्वेऽबाधितविषयः सन् सुनिश्चितासंभवदित्यादिप्रकृतहेतुं पुष्णाति। २४१७. मीमांसकः। २४१८. सर्वज्ञवत्। २४१९. सर्वज्ञाभावधर्मात्।

२४२०. सर्वज्ञे। २४२१. मीमांसकः (मूर्खः)। २४२२. सर्वज्ञलक्षणम्। २४२३. मीमांसकः। २४२४. (पुनस्तच्छब्दानित्यत्वादिकथनं सौगतापेक्षयेत्यर्थः)। २४२५. जैनेन। २४२६. तद्भावधर्मस्तदभावधर्मस्तद्भावाभावधर्मो वेति। २४२७. शब्दस्यानित्यत्वं साध्यं तद्धर्मः कृतकत्वं हेतुः साध्येऽसिद्धे हेतुरप्यसिद्धः, अनित्यशब्दस्याप्रसिद्धत्वे तद्धर्मरूपकृतकत्वस्याप्यप्रसिद्धेः। २४२८. अनित्यत्वविरुद्धं नित्यत्वम्। २४२९. 'वर्तमानत्वात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। २४३०. पर्वतादौ। २४३१. अग्निमत्पर्वतधर्मो वाऽनग्निमत्पर्वतधर्मो वोभयधर्मो वेत्यस्य। २४३२. विमतिः = विवादः। २४३३. विनाशधर्मोऽस्यास्तीति विनाशधर्मी शब्दः। २४३४. सन्दिग्धश्चासौ सद्भावश्चास्तिलक्षणः स एव धर्मो यस्यार्हत इति विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मी। २४३५. यतः। २४३६. अत्रेदं मीमांसकस्य तात्पर्यं, भो जैन शब्दस्तु सिद्ध एव। शब्दस्य यदनित्यत्वं साध्यं सन्दिग्धमस्ति तदेव कृतकत्वादिना साध्यते इति। २४३७. असंभवद्बाधकत्वलक्षणम्। २४३८. मीमांसकः। २४३९. जैनेन। २४४०. जैनस्य। २४४१. मीमांसकः। २४४२. परोपगमात्सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीति यदि मीमांसकेन भवताभ्युपगम्यते तर्हि स्वेषां जैनानामभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी भवेदिति किं नेष्यते ? परोपगमस्योभयत्राप्यविशेषात्। २४४३. हेतुश्चासौ धर्मश्चेति। २४४४. मीमांसकम्। २४४५. साध्यस्य साधकः। २४४६. शब्दोपि। २४४७. जैनं प्रति। २४४८. समर्थितहेतुः एवास्तु इति पाठान्तरम्। २४४९. विकल्पान्तरेण जैनो धर्मिणं विचारयति। २४५०. अप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिः (विशेषणं) सत्ता यस्य शब्दस्य सः, तत्त्वात्। २४५१. यथा शब्दानित्यत्वस्य सत्ता अप्रसिद्धा वर्तते। २४५२. अयं सर्वज्ञ इति विशेषणलक्षण उपाधिः। २४५३. सर्वज्ञस्य। २४५४. एवं चेत् न हि सर्वज्ञनिराकृतेः प्रागित्यादिभाष्यविवरणावसरे अस्ति सर्वज्ञः, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्युक्तः प्रयोगः शोभेतेति चेन्न, तत्राप्यभिप्रेतस्यात्मशब्दस्याध्याहार्यमाणत्वात्। अनुमेयत्वहेतोरबाधितविषयत्वसमर्थनप्रसङ्गायाते अस्ति सर्वज्ञः, सुनिश्चितेत्याद्यनुमाने परोक्तं दोषं परिहृत्य प्रकृतानुमाने स दोषो न संभवतीति प्रकृतानुमाने इत्याहुः। २४५५. मीमांसकः सौगतो वा। २४५६. दोषमुद्भावयन्। २४५७. जानाति। २४५८. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वादित्यनुमाने। २४५९. 'प्रसिद्धा युक्ता' मुद्रितप्रतौ पाठः।

२४६०. बुद्धिशब्दप्रमाणत्वमिति कारिकाव्याख्याने। २४६१. मीमांसको नैयायिकं प्रत्याह। २४६२. अनिन्द्रियं = मनः। २४६३. कालात्ययापदिष्टः। प्रमाणबाधिते पक्षे हेतोर्वर्तमानत्वं कालात्ययापदिष्टत्वम्। २४६४. अनुमानविरुद्धत्वं दर्शयति। २४६५. साक्षात् परम्परया वा। २४६६. सूक्ष्माद्यर्थानाम्। २४६७. व्यतिरेकव्याप्तिः। २४६८. साधनम्। २४६९. परमाणवश्च धर्मादयश्चेति तेषाम्। २४७०. नैयायिकः। २४७१. ध्यानोद्भूतधर्मेण। २४७२. मीमांसकः पृच्छति। २४७३. इन्द्रियस्य। २४७४. स्पष्टतापादनम्। २४७५. परस्पराश्रयं दर्शयति। २४७६. अङ्गीक्रियमाणे। २४७७. रूपादिविषयोल्लङ्घनेन। २४७८. स्पर्शनादेः। २४७९. योगजधर्मानुग्रहप्रसङ्गात्। २४८०. नैयायिकः। प्रत्यक्षविरोधात्। २४८१. मीमांसकः। २४८२. परमाण्वादौ प्रत्यक्षविरोधस्तुल्यः। २४८३. सकलपदेन परमाणुरूपं गृह्यते। २४८४. आदिपदेन रसादिग्रहः। २४८५. 'अथ' मुद्रितप्रतौ नास्ति। २४८६. योगजधर्मानुग्रहोत्थधर्मातिशयात् प्रत्यक्षोल्लङ्घनेन। २४८७. चक्षुरिन्द्रियपरमाण्वोः संयोगासन्निकर्षाभावे। २४८८. संयोगलक्षणसाक्षात्सम्बन्धनिराकरणेन। २४८९. आदिशब्देन रसरसत्वादयो ग्राह्याः। २४९०. आदिपदेन संयुक्तसमवेतसमवायादिर्ग्राह्यः। २४९१. भो नैयायिक। २४९२. तव नैयायिकस्य। २४९३. प्रत्यक्षोल्लङ्घनमेव।

२४९४. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति वचनात्। २४९५. प्रत्यक्षविरोधाङ्गीकारे। २४९६. सूक्ष्माद्यर्थाः। २४९७. मीमांसकः। २४९८. सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियप्रत्यक्षेणेति अप्रसिद्धं विशेषणं यस्य सः। अतीन्द्रियप्रत्यक्षेपीदं विशेषणमप्रसिद्धमित्यर्थः। २४९९. दृष्टान्ते। २५००. सांख्यमते आविर्भावतिरोभावौ स्तो न तु किञ्चिद्विनाशि। २५०१. स्याद्वादिनः प्राहुः 'इति केचिन्मीमांसकास्तेपि न सम्यग्वादिनः' इति। २५०२. जैनानाम्। २५०३. नैयायिकानाम्। २५०४. सिद्धान्ती। २५०५. तर्हि सूक्ष्माद्यर्थानां कथं प्रत्यक्षत्वं स्थाप्यते जैनैर्भवद्भिरिति मीमांसकाशङ्कायामाह प्रत्यक्षसामान्येनेत्यादि २५०६. योगी = सर्वज्ञः। २५०७. व्यतिरेकव्याप्तिः। २५०८. 'योगिनः प्रत्यक्षं' मुद्रितप्रतौ पाठः। २५०९. मीमांसकः। २५१०. बुद्धादेः। २५११. तर्हीत्यध्याहार्यम्। २५१२. यत्र यत्रानुमेयत्वं तत्र तत्र कस्यचिदर्हतः प्रत्यक्षत्वमिति व्याप्तिर्नास्त्यतः पक्षदोषः। २५१३. अपिशब्दात्पक्षदोषोपि। २५१४. सूक्ष्माद्यर्थानाम्। २५१५. जैन आह। २५१६. मीमांसकस्येष्टे। २५१७. ततस्मादयं मीमांसकः। २५१८. मीमांसकः सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्करणप्रतिषेधसंशययोः क्रमेणानुमाने द्वे रचयति (वक्ष्यमाणप्रकारेण)। २५१९. विवादापन्नस्य सर्वज्ञस्य। २५२०. पूर्वोक्तप्रकारेण। २५२१. तव मीमांसकस्य।

२५२२. मीमांसकः। २५२३. रथ्यापुरुषस्य। २५२४. मीमांसकस्य। २५२५. सूक्ष्माद्यर्थानाम्। २५२६. मीमांसकाभीष्टे शब्दनित्यत्वे एतद्विकल्पजालं समानं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशये चापीति। अयं मीमांसको वक्ष्यमाणरीत्यानुमानद्वयं करोति यत्तत्र सम्यगित्यर्थः। २५२७. मीमांसकः। २५२८. अप्रसिद्धं सर्वगतत्वविशेषणं यस्य सः। २५२९. शब्दः। २५३०. असर्वगतानां नित्यत्वं साधयति चेत्। २५३१. अनिष्टानुषङ्गत्वरूपोऽप्रसिद्धविशेषणत्वरूपश्चेत्युभयदोषौ। २५३२. एकान्तवाद्यभिमतसर्वथासर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः। २५३३. सर्वगतत्वम्। २५३४. अमूर्तः शब्दः सर्वगतः, अकृतकत्वादिति। २५३५. मीमांसकमते शब्दानाममूर्तत्वात्। २५३६. पक्षदोषोनिष्टानुषङ्गश्चेति। २५३७. यतो मीमांसकस्य स्वपक्षेपि समानं ततस्मादयं मीमांसकः। २५३८. स्वपक्षेपि परपक्षवत्। २५३९. अविवक्षितः सर्वगतत्वादिर्विशेषो यस्य स तस्य। २५४०. हे मीमांसक। २५४१. अर्हतोऽनर्हतो वेत्यादिरूपैः। २५४२. सर्वत्रोपलभ्यमानमाकाशम्। २५४३. नित्यः शब्दः सर्वगतो भवति, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाशवदित्यादिना च। २५४४. विना। २५४५. प्रकृतं साधनमनुमेयत्वम्। २५४६. विकल्पौघानाम्। २५४७. अप्रतिष्ठितत्वे हेतुरयम्। २५४८. मिथ्याविकल्पौघाविषये। २५४९. प्रमाणं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वलक्षणम्। २५५०. व्यवस्थेति पाठान्तरम्। २५५१. व्यवसितं निश्चितमभ्यनुज्ञानमभ्युपगमस्तत्पुरस्सरमिति क्रियाविशेषणम्। २५५२. प्रश्ने २५५३. युक्तिस्तर्कः। शास्त्रमागमः। हेतुगर्भितं विशेषणमिदम्। २५५४. यद्यस्मात्ते इष्टं प्रसिद्धेन न बाध्यते तत एवाविरोध इत्यर्थः।

२५५५. अनन्तरोक्तकारिकाद्वयोक्तानुमानद्वयबलात्। २५५६. तत्त्वे। २५५७. वैद्यशास्त्रयुक्त्यविरोधिवाग् निर्दोषः। २५५८. मुक्तिश्च संसारश्च तत्कारणे च तेषु। २५५९. मम वर्द्धमानस्य। २५६०. सामस्त्येन। २५६१. यस्य पुरुषस्य स इति सम्बन्धः। २५६२. रोगश्च स्वास्थ्यं च तत्कारणानि च तान्येव तत्त्वं तस्मिन्। २५६३. भगवान्। २५६४. सिद्धमस्ति, विषयविषयिणोरभेदोपचारात्। २५६५. तटस्थः शङ्कते। २५६६. समन्तभद्राचार्येण। २५६७. स्वयंभूस्तोत्रे तृतीयतीर्थंकरस्तवने। २५६८. संभवः संसारः। २५६९. प्रत्युपकारनिरपेक्षः। २५७०. कारिकायाम्। २५७१. पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूपं विनापि अन्यथानुपपन्नत्वनियमलक्षणाद्धेतोः साध्यसिद्धेः कारिकायामदृष्टान्तवचनम्। २५७२. मोक्षसंसारतत्कारणेषु चतुर्षु मध्ये। २५७३. तेषां मोक्षतत्त्वादीनाम्। २५७४. स्वमतेनुमानस्याभावेपि चार्वाकः परमतापेक्षयानुमानं दर्शयति। २५७५. अग्रे। २५७६. दोषावरणयोर्हानिरित्याद्युक्तानुमानादिना २५७७. एवं मोक्षस्य युक्त्यविरोधं प्रतिपाद्य शास्त्राविरोधं प्रतिपादयति तत एवेति। २५७८. आगमस्य। २५७९. सम्यग्दर्शनादि। २५८०. प्रत्यक्षेण। २५८१. अनुमानात्। २५८२. सम्यग्दर्शनादिकारणकः। २५८३. द्रव्यक्षेत्रकालतीर्थादिसामग्रीं विना मोक्षो न भवतीत्यतः सकारणको मोक्षः।

२५८४. मोक्षकारणमित्यर्थः। २५८५. प्रत्यक्षस्य। २५८६. चार्वाकः। २५८७. संसाराभावेन सह प्रतिबद्धस्य लिङ्गस्याभावात्। २५८८. चार्वाकः। २५८९. चैतन्यविशिष्टः काय एवात्मा, तस्य। २५९०. गर्भावस्थाप्राप्तम्। २५९१. आद्युत्पन्नचैतन्यात्पूर्वं चैतन्यमुपादानं यस्य तत्। २५९२. मध्यो युवादेः। २५९३. मरणावस्थालक्षणः। २५९४. उत्पत्स्यमानचैतन्यं कार्यं यस्य सः। एत एतन्मरणावस्थालक्षणं चैतन्यमुपादानकारणत्वादग्रेपि चैतन्यमुत्पादयिष्यत्येव अन्यथा निरन्वयविनाशः स्याद्। न च निरन्वयविनाशः सम्भवति, सर्वलोपप्रसङ्गात्। २५९५. वृश्चिकादेश्चैतन्योपादनकारणाभावेपि चिद्विवर्तत्वहेतोः दर्शनात्। २५९६. वृश्चिकादिचैतन्यस्यापि आद्यचैतन्येन पक्षीकरणात्। २५९७. गर्भोपपादरूपद्विप्रकारकजन्मवर्जितं जन्म (शरीरपरिकल्पनम्) सम्मूर्छनम्। २५९८. खड्ग इव खड्गो ध्यानम्, सोस्यास्तीति खड्गी, खड्गिचरमचित्तस्य पूर्वचिद्विवर्तत्वेपि उत्तरचैतन्योपादानकारणत्वाभावात्, उत्तरचित्कार्यकत्वाभावेपि चिद्विवर्तदर्शनाद्वा हेतोः। २५९९. चित्तसंततिक्षयो मोक्ष इति बौद्धाः। २६००. मनोरथमात्रं मुद्रितप्रतौ पाठः। २६०१. खड्गिचरमचित्तस्योत्तरचैतन्योपादानत्वभावरूपहेतोः। २६०२. अग्रे। २६०३. अरणिः काष्ठविशेषः। २६०४. युववृद्धादिचैतन्यम्। २६०५. मिथ्योत्तरं जातिः। २६०६. चैतन्योपादानकारणकत्वरूपेण साध्येन सह। २६०७. एककारणजन्यत्वात्। यदेककारणजन्यं तन्न तत्त्वान्तरम्। यथा मृदुत्पन्नो घटो न मृदोतिरिच्यते। २६०८. पृथिव्यप्तेजोवायुरूपम्। २६०९. स्थासकोशकुशूलशिवकादीनाम्। २६१०. जैनः।

२६११. अरणिमथनकाले। २६१२. चार्वाकस्य २६१३. अरणिमथनमात्रादेव। २६१४. प्रच्छन्नरूपारणिस्थिताग्न्यन्तरकारणकत्वम्। २६१५. जैनः। २६१६. अदृश्यमुपादानं पुद्गलरूपं यस्य तस्य। २६१७. चार्वाकः। २६१८. कार्यस्य। २६१९. भूताच्चैतन्योत्पत्तिर्यतस्ततो भूतचैतन्ययोः सजातीयत्वम्। २६२०. भिन्नलक्षणत्वात्। २६२१. चार्वाकैः। २६२२. रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः पुद्गलाः। २६२३. अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षं न प्रतीतम्। २६२४. अस्मदाद्यऽप्रत्यक्षम् २६२५. अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षाणि सन्ति। २६२६. सुखादिसंवेदनस्यास्वसंवेदनलक्षणत्वेप्यनेकयोगिप्रत्यक्षत्वात् २६२७. अस्मदादिभिरपि प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः २६२८. ज्ञानं स्वसंवेदनलक्षणं बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्तेः। २६२९. स हि बहिरर्थप्रकाशकश्चास्वसंविदितश्च। २६३०. अज्ञानरूपत्वेन। २६३१. अग्निर्दहनशक्तियुक्तो, अग्नित्वात् व्यतिरेके जलादि। अत्रोपचरितेन माणवकाग्निना व्यभिचारप्रसङ्गात्। २६३२. सुखादिज्ञानस्यापि स्वस्माद् ज्ञानाद्बहिर्भूतं सुखादि तस्य संवेदकत्वमिति बहिरर्थपरिच्छेदकत्वं सिद्धम्। २६३३. यथा कुम्भादिवेदनं बहिरर्थपरिच्छेदकं न तथा सुखादिसंवेदनमित्याशङ्कायामाह जैनः—कुम्भादीति। २६३४. घटः सन् ज्ञानं सदिति सदात्मना। २६३५. कुम्भादिर्यथा सन् तथा ज्ञानमपि सत्। अतो न संवेदनाज्ज्ञानं सर्वथा भिन्नम्। २६३६. तस्य कुम्भादेः।

२६३७. सद्वेद्योदयो हि सुखकारणं ज्ञानस्य तु ज्ञानावरणापगमादि इति कारणभेदः। २६३८. स्वस्य विज्ञानस्यासम्भवात्। २६३९. भवतः। २६४०. उत्क्षेपणापक्षेपणादिरूपा। २६४१. स्वरूपस्यापि विरोधकत्वे। २६४२. क्रियास्यास्तीति क्रियावान्। स चासौ आत्मा च क्रियावदात्मा। २६४३. द्रव्ये। २६४४. जैनैः। २६४५. अपि तु न। २६४६. आवरणक्षयोपशमादिविशेषात्। २६४७. तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात्। २६४८. स्वपररूपयोः। २६४९. स्वपररूपपरिच्छेदकत्वाभावे। २६५०. चेतनस्य। २६५१. भूतचैतन्ययोः। २६५२. तत्त्वान्तरत्वं च भूतचैतन्ययोरसजातीयत्वं साधयति। २६५३. असजातीयत्वमपि। २६५४. साधयतीति सम्बन्धः। २६५५. भूतचैतन्ययोरुपादानोपादेययोर्वा। २६५६. तत् सजातीयत्वं प्रयोजकं ययोरिति बसः। २६५७. उपादानोपादेयभावस्य व्याप्यस्य व्यापकं यत्सजातीयत्वं ततो विरुद्धं तत्त्वान्तरत्वं तेन व्याप्तं विभिन्नलक्षणत्वं तस्योपलब्धिः। २६५८. विभिन्नलक्षणत्वादित्ययं हेतुर्व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धिः कथ्यते। तदेवाग्रे दर्शयति। २६५९. व्याप्ता इति पाठान्तरम्। २६६०. प्रतिषेध्यस्य चेतनस्याभावसाधनात्। २६६१. नन्वेवं तन्वादेर्घटाद्याकारस्य चोपादानोपादेयभावः स्यात्, पार्थिवत्वादिविशिष्टसामान्यसद्भावाविशेषादिति न शङ्कनीयं, व्यापकस्य सजातीयत्वस्योपादानोदेयाख्यव्याप्याभावेपि व्यवस्थानाविरोधात् "व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च" इत्यादि वचनादित्यशायगर्भमाह—नहीति। 'भिन्नलक्षणत्व' हेतौ। २६६२. सजातीयत्वस्य उपादानोपादेयभावव्यापकत्वानुपगमात्। २६६३. मृत्त्वघटत्वप्रकारेण।

२६६४. द्रव्यपर्याययोः। २६६५. चार्वाकः। २६६६. तर्हि कुत्र सजातीयत्वं वर्तते इत्याशङ्क्य अन्तर्गूढसजातीयत्वनिमित्तकमुपादानोपादेयभावमाह आचार्यः। २६६७. जैनः। २६६८. परित्यागो व्ययः पूर्वाकारापरि—इति मुद्रितप्रतौ पाठान्तरम्। २६६९. उत्पादरूपेण। २६७०. अन्वयः अनुवर्तनम्। २६७१. प्रत्ययो ज्ञानम्। २६७२. पयःपावकयोरप्युपादानोपादेयभावो मास्तु ततः। २६७३. उक्तप्रकारस्योपादानोपादेयत्वप्रतीत्यभावे। २६७४. मेचकादिषु चित्रज्ञानाभावप्रसङ्गात्। २६७५. तत्त्वान्तरभावाभावे। २६७६. भिन्नलक्षणत्वस्य। २६७७. चार्वाकः किण्वादि, कारणरूपपिष्टगुडधातक्यादि। २६७८. मदशक्त्यजनकत्वस्य मदशक्तिजनकत्वस्य च। २६७९. भिन्नलक्षणत्वस्य तत्त्वान्तरभावेन सह। २६८०. "तेनाव्याप्तिरिति" मुद्रितप्रतौ पाठः। २६८१. किण्वादिमदिरादिपरिणामयोः। २६८२. किण्वादेर्मदजननशक्तिसद्भावप्रकारेण। २६८३. अन्तस्तत्त्वं हि चित्। २६८४. उभयत्रापि। २६८५. पूर्वचैतन्यमुपादानम्। २६८६. अन्त्यचैतन्यस्योपादेयो भविष्यज्जन्माद्यचैतन्यपरिणामः। २६८७. प्रत्यक्षेण। २६८८. अनुपलब्धेरिति पूर्वोक्तचार्वाकानुमानेन। २६८९. उपायः कारणम्। २६९०. पर्यायार्थिकनयापेक्षया। २६९१. संसारस्य। २६९२. नित्यत्वेन।

२६९३. भावः परिणामः। २६९४. परिवर्तनं मुद्रितप्रतौ पाठः। २६९५. सुखदुःखादय एव भावाः परिणामास्तेषां विवर्तनं तदेव लक्षणं यस्य। २६९६. द्रव्यक्षेत्रकालभावभवभेदात्पञ्चधा संसारः २६९७. युक्तिशास्त्राविरोधित्वम्। २६९८. साधयतीत्यध्याहार्यं पदम्। २६९९. बुद्धादिः। २७००. भगवानिति पाठान्तरम्। २७०१. घटादेः। २७०२. आदिशब्देन पिशाचादि। २७०३. शङ्खः, शङ्खचक्रवर्ती। २७०४. विप्रकर्षि। २७०५. दूरतामापन्नमपि। २७०६. प्रकृतिपुरुषयोर्भेदविज्ञानात् प्रकृतिनिवृत्तौ पुरुषस्य सुषुप्तपुरुषवदव्यक्तचैतन्योपयोगेन स्वरूपमात्रावस्थानलक्षणो मोक्ष इति सांख्याभिमतम्। २७०७. जैनैः।

२७०८. सांख्यः। २७०९. सिद्धान्ती पृच्छति। २७१०. पुरुषस्य प्रतिबिम्बितार्थदर्शनमनुभवः। २७११. जैनः। २७१२. साक्षात्करणलक्षणोऽनुभवः। २७१३. प्रतिबिम्बितं निश्चितं वार्थम्। २७१४. जानाति। २७१५. 'सर्वस्य' मूलप्रतौ नास्ति। २७१६. तस्य सर्वदर्शित्वस्योपायानां कारणानां ध्यानमौनादीनामनुष्ठानस्य वैयर्थ्यम्। २७१७. सांख्यस्य। २७१८. उत्पत्तिमत्त्वादिति। २७१९. (अनुभवस्योत्पत्तिमत्त्वेपि चेतनत्वादनैकान्तिकत्वं हेतोः, विपक्षेपि हेतुदर्शनात्)। २७२०. निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवदिति वचनात्। २७२१. (आत्मनः सकलविशेषरहित्वेपि वस्तुत्वादनेकान्त इति चेन्न) २७२२. उत्पत्तिमत्त्वादिति। २७२३. साङ्ख्यः। २७२४. आत्मसंसर्गात्। २७२५. साङ्ख्यग्रन्थे। २७२६. आत्मनश्चेतनत्वं सिद्धं यस्मात्तस्मात्। २७२७. आत्मसंसर्गात्।

२७२८. बुद्धिसंसर्गादिति टिप्पणान्तरम्। २७२९. लिङ्ग्यते इति लिङ्गं ज्ञेयमित्यर्थः। २७२९. स्याद्वादी। २७३०. शरीरे ज्ञाने वा। २७३१. तस्यात्मनोऽदृष्टं पुण्यादि तेन कृतकत्वादिर्विशेषः (आदिशब्दाद् भोग्यभोक्तृत्वादिः) तस्य शरीरादौ सम्बन्धो नास्तीत्युच्यते साङ्ख्येन चेत्तन्न, तस्यापि शरीरादौ भावात्। २७३२. साधनस्यास्वसंविदितत्वं परिहरति। २७३३. स्वसंविदितत्वेपि ज्ञानादीनां प्रधानजत्वमित्युक्ते सत्याह।

२७३४. वैशेषिकनैयायिकमतम्। २७३५. वैशेषिकनैयायिकयोः। २७३६. पुंसः। २७३७. ततः पुंसः। २७३८. स्याद्वादी। २७३९. मेचकज्ञानतदाकारयोरिव। २७४०. ते मेचकवर्णाः। २७४१. अन्यथा। २७४२. आत्मबुद्ध्यादीनाम्। २७४३. तव यौगस्य। २७४४. यद्यनेकया शक्त्यानेकार्थं युगपद् गृह्णाति तदा एकमेव चित्रज्ञानमनेकशक्त्यात्मकं सिद्धमिति स एव विरुद्धधर्माध्यासः। २७४५. मेचकज्ञाना(चित्रज्ञाना)द्घटाद्यर्थान्तरवदनेकशक्तेर्भेदे सति तस्य चित्रज्ञानस्यानेकशक्तिरिति कथं व्यपदिश्यते ? २७४६. शक्त्या सह मेचकज्ञानस्य समवायसम्बन्धात्तस्येत्युच्यते इति चेत्। २७४७. जैन आह तर्हीति। २७४८. मेचकज्ञानम्। २७४९. चित्रज्ञानसम्बन्धिनोनेकरूपस्य। २७५०. चित्रज्ञानात्। २७५१. चित्रज्ञानम्। २७५२. अनेकरूपं चित्रज्ञानस्येति। २७५३. तदनेकया शक्त्या सम्बध्यमानमनेकेन रूपेणैकेन रूपेण वेति विकल्पद्वयं कृत्वा आपृच्छ्य अनेकेन रूपेणेत्यत्र तु दूषणमुक्तमधुना एकेन रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यमित्यत्र द्वितीयपक्षे दोषमाह। २७५४. अनेकाः शक्तय इति विशेषणत्वविरोधः। २७५५. मेचकज्ञानम्।

२७५६. मेचकज्ञानम्। २७५७. मेचकज्ञानं नीलपीताद्येव केवलं न गृह्णाति किन्तु सर्वार्थग्राहकं स्यात्। २७५८. सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गं विवृणोति। २७५९. यौगः। २७६०. यौगेन। २७६१. एवम्भूतया एकया शक्त्या नीलपीताद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते इति मतम्। २७६२. जैनः प्राह। २७६३. घटपटादिकार्यभेदः। २७६४. कार्यभेदात्कारणशक्तिभेदो न स्यात्। २७६५. यावन्ति कार्याणि तावन्ति कारणानीति यौगमतं विरुध्यते। २७६६. मेचकज्ञानेन। २७६७. विरुद्धधर्माधिकरणत्वादित्यस्य। २७६८. मेचकज्ञानस्य तदाकारादभेदेपि विरुद्धधर्माधिकरणत्वसिद्धेः। २७६९. एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्यादिकारिकाव्याख्यानावसरे चतुर्थपरिच्छेदे। २७७०. भेदैकान्तस्य। २७७१. यौगाः। २७७२. तस्याः मुक्तेः। २७७३. धर्माधर्मकारणकं बुद्ध्यादि। २७७४. "निवृत्तिरवश्यं भाविनी" मुद्रितप्रतौ पाठः। २७७५. अन्तःकरणसंयोगकार्यस्य। २७७६. यौगाः। २७७७. अस्माभिर्जैनैः। २७७८. मुक्तात्मा गुणवानात्मत्वादमुक्तात्मवदित्यनुमानेन विरोधात्। २७७९. अदृष्टजानाम् (कर्मप्रभवानाम्) २७८०. कर्मक्षयहेतुजानाम्। २७८१. अस्य प्रकरणे इत्यर्थः। २७८२. विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यर्थः। २७८३. विना। २७८४. औपशमिकादिषु।

२७८५. (क्रमशः—औपशमिकं सम्यग्दर्शन्, क्षायोपशमिको ज्ञानोपयोगः, औदयिकी गतिर्भवान्तरगमनरूपा) आदिपदं प्रत्येकमभिसंबध्यते। तेन सम्यक्त्वचारित्रे इत्यादिसूत्रोक्तानां सर्वेषां ग्रहणम्। भव्यत्वं पारिणामिकम्। अनाविर्भूतरत्नत्रयाविर्भावयोग्यताफलकं भव्यत्वम्। (रत्नत्रयाविर्भावे तद्भव्यत्वं क्षीयते विपच्यते इत्यर्थः, न तु नश्यतीति, तस्य शक्तिरूपत्वेनाविनाशात्। २७८६. विशेषा अदृष्टजबुद्ध्यादयः। २७८७. यौगः। २७८८. जैनः। २७८९. अतः परं वेदान्तवादी प्राह। २७९०. ज्ञेयस्वभावम्। स्वसंवेद्यस्वभावमिति पाठान्तरम्। २७९१. (विषयरूपस्य सुखस्यानन्त्ये विषयिणस्तद्वेदनस्याप्यानन्त्यम्, अन्यथा तत्संवेदनानुपपत्तेः)। २७९२. आत्मना। २७९३. वेदान्तवादिनः २७९४. अभ्युपगम्यते। २७९५. परमात्मनः। २७९६. (जैनः) विचार्यम् (वक्ष्यमाणप्रकारेण)। २७९७. भाट्टानाम्। २७९८. इन्द्रियापायादेव। २७९९. परः। २८००. सुखसंवेदनबाह्यार्थसंवेदनयोः। २८०१. सौगताः। २८०२. वीतरागद्वेषान्मसन्तानोत्पत्तिः। २८०३. आगमेन।

२८०४. प्रदीपस्य निर्वाणोपमं तच्च तच्छान्तनिर्वाणं च। यथा प्रदीपनिर्वाणं युक्त्यागमेन च बाध्यते। २८०५. ज्ञानानां सान्वयत्वेन साधनात्। २८०६. द्वितीयपरिच्छेदे 'सन्तानः समुदायश्चेति' कारिकायां वक्ष्यमाणत्वात् २८०७. मानसानां परमार्थतोनुगतत्वं साध्यते, मानसानां सन्तानोच्छेदश्च न संभवतीति हेतुद्वयात्। २८०८. यथा मोक्षतत्त्वम्।

२८०९. मात्रशब्देन दर्शनचारित्रयोर्निरासः २८१०. सकलार्थसाक्षात्कारितावस्थायाम्। २८११. विज्ञानमात्रस्य प्रवर्तमानत्वात्। २८१२. कापिलादिभिः। २८१३. 'प्रवर्तते' मुद्रितप्रतौ पाठः। २८१४. सांख्यः प्राह। आप्तस्य। २८१५. जैन आह। अनुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्य पुंस उपदेशस्यासत्यत्वसंभवात्। २८१६. शरीरान्तरानुत्पत्तिलक्षणस्य निःश्रेयसस्य। २८१७. (गृहीतशरीरनिवृत्तौ न सकलतत्त्वज्ञानं कारणं, गृहीतशरीरनिवृत्तौ फलोपभोगस्य कारणत्वात्) २८१८. (गृहीतशरीरनिवृत्तिः फलोपगमादेव भवतीत्युपगमात्सांख्यैः। २८१९. सांख्यस्य। २८२०. अस्माभिः स्याद्वादिभिरङ्गीकृतः प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानादित्ययं हेतुः। २८२१. परनिःश्रेयसत्वस्य। २८२२. तत्त्वज्ञानभावेपि। २८२३. (सांख्यः) फलानां शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवनं तेन कृतो योसावुपात्तकर्मणां क्षयस्तस्य अपेक्षा यस्य तत्तथोक्तम्। २८२४. जैनः प्राह। २८२५. फलोपभोगस्य। २८२६. विना। २८२७. (तपोतिशयस्याकामनिर्जराकारणत्वमुक्तम्)। २८२८. न तु तत्त्वज्ञानमात्रहेतुकम्। २८२९. तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकत्वाभावेपि मोक्षस्य स्थिरीभूततत्त्वज्ञानमेव हेतुरित्यदोष इति सांख्यः। २८३०. स्याद्वादी। २८३१. सांख्यः। २८३२. चलावस्थायाम्। २८३३. जैनः। २८३४. अस्थैर्यविरोधं दर्शयति। २८३५. चलनानुपपत्तिः। कुतः। २८३६. अक्रमः कुतः। २८३७. विषयान्तरसञ्चरणे सति। २८३८. सांख्यः।

२८३९. जैनः। २८४०. अर्थोऽभिप्रायस्तु न भिद्यते। २८४१. भिन्नस्य। २८४२. नष्टव्यापाराविनाशीति स्वरूपं तत् शुक्लध्यानस्य। २८४३. कपिलादीनां सम्मुखम्। २८४४. बाह्यचारित्ररूपस्य २८४५. आभ्यन्तरचारित्ररूपस्य। २८४६. (येषां मते नित्य एवात्मा तेषां मते आत्मनो भवान्तरावाप्तिरूपः संसारो न संभवति आत्मनो नित्यत्वेन विकारानुपपत्तेः)। २८४७. (अग्रेऽस्माभिः) २८४८. न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यादि च विद्भिः। २८४९. सत्त्वरजस्तमसाम्। प्रकृतिविकृत्यहङ्कारादीनाम्। २८५०. सांख्यानाम्। सौगतानामिति टिप्पणान्तरम्। २८५१. कल्पनया। २८५२. संसारकारणतत्त्वम्। २८५३. मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ। २८५४. तन्निवृत्तावपि संसारानिवृत्तेरिति। २८५५. दोषाः रागद्वेषाः। २८५६. सांख्यैः। २८५७ सकलं तत्त्वार्थादि। २८५८. सौगताः। २८५९. अयमेवेति प्रकारेण।

२८६०. अवीतरागेपि दर्शनादेव व्यभिचारः। २८६१. विचित्राभिसन्धितया इति पाठान्तरम्। २८६२. अभिप्रायतया। हेतुरयं, तृतीयान्तस्यापि हेतुत्वात्। २८६३. कपिलादाविव सुगतेपि। २८६४. सरागाणां वीतरागवच्चेष्टमानानां मायाविनामपि नानापरिणामत्वेन गमनवचनादिसङ्करत्वेन क्वचिदपि पुरुषे माहात्म्यनिश्चये सति विशेषाभिमत(सुगत)स्यानर्थक्यं घटते। एवं सति ज्ञानिनोपि असत्यत्वं घटते। २८६५. सुगतस्य। २८६६. विश्वासम्। २८६७. विषये। २८६८. अन्यथा (ज्ञानवतोऽपि विसंवादः संभवति चेत्)। २८६९. सुगतस्य। २८७०. ज्ञानवति। २८७१. सरागो वीतरागवद्वीतरागश्च सरागवच्चेष्टते इति साङ्कर्यम्। २८७२. (विचित्राभिसन्धितायाः)। २८७३. (विचित्राभिसन्धितायाः)। २८७४. सौगतः। २८७५. सर्वज्ञस्यासर्वज्ञस्य वा। २८७६. सौगतः प्राह। सर्वज्ञे वीतरोगे विचित्राभिप्रायोस्ति, शरीरत्वादस्मदादिवत्। २८७७. स्याद्वादी। २८७८. सुगते। २८७९. शरीरित्वादोरित्यस्य। २८८०. शरीरी चास्तु सर्वज्ञश्चेति सन्दिग्धा विपक्षाद्व्यावृत्तिर्यस्य हेतोः सः। तत्त्वात्। २८८१. विरोधाभावे हेतुमाह। २८८२. जैनः। २८८३. सौगतः। २८८४. बुद्धिमान्। २८८५. किं लिङ्गमाश्रित्येत्यर्थः। २८८६. सौगतस्य। २८८७. सन्तानातरो देवदत्तयज्ञदत्तसन्तानः। स्वस्य आत्मनः सन्तानश्च। तयोः क्षणक्षयिणी या शक्तिः स्वर्गप्रापणस्य च या शक्तिस्तदादेर्विशेषस्येष्टिर्निश्चितिर्निरर्थिका भवति। कुतः? दूरतरस्वभावत्वात्, उभयत्र सर्वज्ञत्वाद्यतिशये उक्तविशेषस्येष्टौ च विशेषाभावात्। २८८८. ज्ञानाद्वैतवादिनं प्रति जैनस्योक्तिः। २८८९. कैमर्थक्यादिष्टिरिति पूर्वेणान्वयः। २८९०. 'प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने, (इत्युक्तं बौद्धैः) २८९१. 'पुनरनावृत्तस्य' पाठांतरम्। २८९२. 'तस्य' मुद्रितप्रतौ नास्ति। २८९३. सुगतकपिलार्हतां मध्ये। २८९४. सर्वज्ञत्वाद्यतिशये संवेदनाद्वैतगुणे सुगतगुणे चानिर्णयतया विशेषाभावात्। २८९५. अनुमानात्तद्विशेषेष्टिः स्यादित्युक्ते आह—न चैवमिति। २८९६. एवंवादिनः सौगस्य किञ्चिदनुमानं न सम्भवति, निरभिप्रायाणामनुमानानुमेयानां बाहुल्येन कार्यस्वभावरूपयोर्हेत्वोरनिश्चयदर्शनात्।

२८९७. अभिप्रायरहितानामचेतनादीनामग्न्यादीनामित्यर्थः। २८९८. कारणभूते। २८९९. अग्नेः। २९००. मणिः सूर्यकान्तः। २९०१. इत्यनुमानं च भवेद्यतः। २९०२. न केवलं वृक्षचूतादेः। २९०३. वृक्षो भवितुमर्हति, आम्रत्वात्तथा लतारूपचूतत्वात् (उभयथापि वक्तुं शक्यते)।

२९०४. परः। २९०५. स्वभावहेतुं मण्डयति सौगतः। २९०६. अपि तु न स्यादेव। २९०७. सौगतः। २९०८. प्रत्यक्षस्य। २९०९. वह्नेः। २९१०. काष्ठादिसामग्रीजन्यतया। २९११. कारणविशेषः काष्ठादिस्तस्यातिवृत्तिरुल्लङ्घनं तस्या दर्शनात्। २९१२. मण्यादेर्वह्निदर्शनात्। २९१३. सौगतः। २९१४. जैनः प्राह— त्वया सौगतेन अस्माकमिष्टं कथितम् (समर्थितम्) २९१५. प्रकृतम्। २९१६. (व्याहारादीति पाठान्तरम्) २९१७. अनुल्लङ्घनात्। २९१८. सौगतेन। २९१९. यथा यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते तथा पुरुषविशेषत्वादिस्वभावो व्याप्यः सर्वज्ञत्वादिरूपव्यापकस्वभावं नातिवर्तते, उभयत्र व्याप्यव्यापकभावयोर्विशेषाभावात्। २९२०. साध्यव्यभिचारलक्षणः। २९२१. बौद्धः। २९२२. धूमादिकात्। २९२३. युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वाद्यनेकप्रकारेण। २९२४. पूर्वोक्तम्। २९२५. स त्वमेवेति कारिकोक्तेन। २९२६. समन्तभद्राचार्यः। २९२७. भगवति। २९२८. भगवानागमं कथयति परन्तु इच्छामन्तरेण कथयति। इष्टमिच्छाविषयीकृतमिति भगवत्युपचर्यते। अत्राह नैयायिकः। भो स्याद्वादिन्, इच्छां विना वचनप्रवृत्तिर्न भवेत्। तदुपरि जैनः प्राह। भो नैयायिक, निराकृतवाचोपि (निरभिप्रायाया वाचोपि) क्वचिदविप्रतिषेधात् (इच्छां विनापि वचनस्योत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्)। २९२९. आगमः। २९३०. 'निराकृत' मुद्रितप्रतौ पाठः। २९३१. सुषुप्तपुरुषादौ २९३२. शासनप्रकाशनेच्छायाः २९३३. दोषावरणयोर्हानिरित्यादिना।

२९३४. (निरभिप्रायवचनम्)। २९३५. नैयायिकः प्राह। २९३६. जैन आह। २९३७. पर आह। वाच इच्छापूर्वकत्वाभ्युपगमे। २९३८. गोत्रं नाम। २९३९. प्रतिवचननियतत्वेन (जाग्रद्दशायां) संविदित आकारो यस्याः सा। २९४०. किन्तु सम्यग्ज्ञानाकारा एवेच्छा संभवतीति नान्या। २९४१. परः। २९४२. पूर्वकालो जाग्रदवस्था। २९४३. (परः प्राह) स्वप्नसामयिकी। २९४४. (जैनोऽप्रयोजकत्वं दर्शयति)। २९४५. गोपालघटिकादिधूमस्याप्यग्निगमकत्वं स्यादित्यनिप्रसङ्गः, विषाणिनी वाग्, गोशब्दावाच्यत्वादित्यतिप्रसङ्गे टिप्पणान्तरमिदम्। २९४६. (इच्छापूर्वकत्वेन सह व्याप्तत्वावगतिः)। २९४७. सुषुप्तसन्ताने। २९४८. विरोधमेवाह। २९४९. व्याहतमेव। २९५०. (व्याहतिं दर्शयति) २९५१. नैयायिकः। २९५२. आद्रियते। २९५३. अनवस्थां दर्शयति। २९५४. स्वसन्ताने व्याप्त्यभावसमर्थनेन। २९५५. साध्यसाधनव्याप्तेः। २९५६. इच्छाया अननुमेयत्वप्रकारेण।

२९५७. 'वक्तृत्वादेः' पाटनप्रतौ पाठः। २९५८. नैयायिकोक्तस्य। २९५९. वक्तृत्वेच्छापूर्वकत्वयोः (स्वभावकार्यस्वरूपान्यतरनियमाभावः)। २९६० चैतन्यं ज्ञानम्। २९६१. करणं ताल्वादिप्रयत्न इन्द्रियाणि वा। २९६२. वाक्यप्रवृत्तिं प्रति साधकतमत्वं, सुषुप्त्यादाविच्छापूर्वकत्वाभावेपि वक्तृत्वदर्शनात्। २९६३. परः। २९६४. नियमेन। २९६५. अज्ञानादिना। २९६६. विवक्षाभावेपि वक्तृत्वसद्भावप्रकारेण। २९६७. 'वाग्वृत्तेः' मुद्रितप्रतौ पाठः। २९६८. (न हीति पूर्वेणान्वयः)। २९६९. द्वेषादिसमूहः। २९७०. किन्तु अतिक्रमेतैव। २९७१. तस्या दोषजातेः। २९७२. व्यतिरेकी दृष्टान्तः। २९७३. करणपाटवस्य। २९७४. (तथा दोषजातेरपि प्रकर्षापकर्षयोर्वाक्यप्रकर्षापकर्षौ। न हीत्यत्र हेतुमाह)। २९७५. तस्या दोषजातेः। २९७६. तस्या वाचः। २९७७. कुतः ? अपि तु न कुतोपि। २९७८. आदिशब्देन समारोपव्यवच्छेदादिग्रहणम्। २९७९. वक्तृत्वम्। २९८०. प्रागुपादिष्टम्। २९८१. भगवति। २९८२. प्रसिद्धमिति। २९८३. तवेष्टस्य मतस्य। २९८४. परैः। २९८५. बौद्धं प्रत्याह स्याद्वादी।

२९८६. यथा सर्वथा नित्यत्वादिधर्मो नानेकान्तस्य बाधकस्तथा। २९८७. तर्काख्यप्रमाणमन्तरा प्रतिबन्धसिद्धे(व्याप्तिसिद्धे)रनभ्युपगमाद् व्याप्तिसिध्यभावेनुमानायोगात्। २९८८. (तर्काख्यप्रमाणादृतेपि प्रत्यक्षेणैव व्याप्तिसिद्धिः स्यादित्युक्ते आह, नेति)। २९८९. सौगतानाम्। २९९०. क्षणिकत्वसत्त्वयोः साध्यसाधनयोः। २९९१.

निर्विकल्पकत्वेन। २९९२. (ननु योगिप्रत्यक्षं न सन्निहितविषयमित्युक्ते बौद्धेन स्याद्वादी प्राह)। २९९३. संशयादे:। २९९४. अस्मदादिप्रत्यक्षम्। २९९५. व्याप्तिग्राहकम्। २९९६. (अविचारकत्वादिति भाष्योक्तहेतुमन्यप्रकारेण कथयति) सर्वत्रेदमस्माज्जातमिदं न सर्वत्रानेन क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति परामर्शशून्यत्वान्निर्विल्पकस्य सविकल्पकस्य वा प्रत्यक्षस्य। २९९७. निर्विकल्पकादुत्पन्नत्वात्सविकल्पकस्य शब्दसंसर्गसहितं व्याप्तिग्राहीति हि परेषां मतम्। विरोधान्नोभयेतिकारिकाव्याख्यानावसरे अभिलापसंसर्गरहितत्वं बलादापद्यतेऽस्येति वक्ष्यते। २९९८. अविचारकं सन्निहितविषयं च यत:। २९९९. निर्विकल्पकं सविकल्पकं वा। ३०००. साकल्येन व्याप्तिग्राहकम्। ३००१. तर्हि स्याद्वादिनां कथं व्याप्तिग्रह इत्युक्ते आह। ३००२. अस्माकम्। ३००३. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहस्तर्क:। ३००४. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निर्यथा मठ:, यत्र यत्राग्निर्नास्ति तत्र तत्र धूमोपि नास्ति यथा महाह्रद:। इत्युक्तप्रकारौ प्रत्यक्षानुपलम्भौ सहकारिणी यस्य तस्य। ३००५. मतिज्ञानविशेष एव परोक्षतर्कज्ञानं तदावरणम्। ३००६. तर्कस्य। ३००७. 'त्रिलोक' मुद्रितप्रतौ नास्ति। ३००८. तर्कस्य। ३००९. तर्कस्य। ३०१०. तर्कस्य। ३०११. तर्कस्य। ३०१२. प्रत्यक्षवदिति पूर्वोक्तमुदाहरणम्। ३०१३. तर्कानुमानयो:। ३०१४. तर्कादिव निर्विकल्पकादपि निर्णये जाते समारोपो विहन्यतामित्युक्ते आह। ३०१५. (समारोपविरोधस्तु दूर एवास्ताम्)। ३०१६. व्याप्तिज्ञानमधिगमोत्र। सोपि सविकल्पात्मैव। ३०१७. सविकल्पकज्ञानमेवात्र साधनान्तरम्। ३०१८. सतोपि दर्शनस्य न समारोपव्यवच्छेदकत्वं स्वं यत: साधनान्तरं सविकल्पकमपेक्षते। तथा सन्निकर्षोपि न समारोपव्यवच्छेदक: स्वयं किन्तु साधनान्तरमपेक्षते। इति सन्निकर्षान्न विशेष:। ३०१९. यथा सुषुप्तचैतन्यस्य न स्वयं प्रामाण्यं साधनान्तरापेक्षित्वात्।

३०२०. (जैन:) तर्हि तत एव साधनान्तरापेक्षित्वादेव हे सौगत। ३०२१. दर्शनस्य। ३०२२. सविकल्पज्ञानस्य। ३०२३. प्रमितिं प्रति। ३०२४. (जैन आह) यच्चेतनं तत्साधकतममेवेति न नियमोस्ति। ३०२५. (सन्निकर्षस्य भावाभावयो: सतोरर्थपरिच्छित्तेर्भावाभाववत्तास्तीति सैव साधकतमत्वम्। ३०२६. तथापि कथमर्थ: परिच्छिन्नो व्यवह्रियते इत्याशङ्कायामाह जैन: ३०२७. यदर्थपरिच्छित्त्युत्पत्तिमन्तरा अन्यदर्थपरिच्छिन्नत्वं नास्तीत्यर्थ:। ३०२८. तत्परिच्छित्तेरन्यत् 'परिच्छित्तिरुत्पन्ना' इत्यर्थपरिच्छिन्नत्वमस्ति चेदित्यर्थो बौद्धशङ्काया:। ३०२९. (जैन आह)। ३०३०. बौद्धस्य। ३०३१. मनोव्यापारात्। ३०३२. तर्कसिद्धाया व्याप्तिरभावे एकान्तवादिनामनुमानं प्रमाणं न।

३०३३. नर: पक्ष: सर्वज्ञ इति च इति पक्षद्वयसाधनमित्यर्थ:। ३०३४. सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वादिति। ३०३५. प्रतिज्ञामात्रमेव कथमित्याह। ३०३६. अर्हदादि:। ३०३७. भवद्भिर्जैनै:। ३०३८. अनिर्द्धारित: प्रतिज्ञया। ३०३९. (बौद्धादिभि: प्रवर्तमानागमसत्यता)। ३०४०. य: सर्वज्ञ: स एवागमस्य प्रणेतेति। ३०४१. सर्वज्ञतद्वचनयो:। ३०४२. कार्यकारणता। ३०४३. नित्यत्वाद्येकान्ततत्त्वम्। ३०४४. प्रत्यक्षेण। ३०४५. आग्रहिण:। ३०४६. आप्तस्वरूपात्। ३०४७. उपचारिवचनत्वात्। ३०४८. बहिस्तत्त्वमन्तस्तत्त्वं च। ३०४९. प्रत्यक्षविरोधो लक्षणं यस्येति बस: (बहिरन्तश्चेति विशेष्यमत्र)। ३०५०. स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते इत्यनेन। ३०५१. समर्थयति। ३०५२. बाधनस्य। ३०५३. अनेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणस्य। ३०५४. सद्रूपं रूपान्तरेणासत्त्वेन रहितम्।

३०५५. अन्तस्तत्त्वम्। ३०५६. बाह्यतत्त्वम्। ३०५७. एकान्तत्वेन। ३०५८. परैर्बौद्धादिभि:। ३०५९. तथा च दर्श्यते। ३०६०. सुखादिपर्यायापेक्षया। आत्मशब्दोऽयमुभयत्र सम्बद्ध्यते। तेन विशेषात्मन एकात्मनश्चेति योज्यम् इत्युक्ते. किं तात्पर्यम् ? द्रव्यपर्यायापेक्षया अन्तर्वस्तु बहिर्वस्तु चैकानेकात्मकं नामेत्यर्थ:। ३०६१. एकत्वं द्रव्यापेक्षया ३०६२. सुखादिनानाधर्मसहितचैतन्यस्य। ३०६३. स्कन्ध: संस्थानमाकृति:। पुद्गल:। ३०६४. चित्राद्वैतवादिन: ३०६५. प्रतिनियतानेकस्वरूपम्। ३०६६. विरुद्धधर्मत्वेप्यभिन्नत्वे सति। ३०६७. जैनैरुच्यते। ३०६८ चित्राद्वैतवादिनश्चित्रज्ञानमेकमेव वदन्ति। ३०६९. (सुखज्ञानमेयज्ञानवत्)। ३०७०. पीताद्याकाराणां चित्रज्ञाने ३०७१. देवदत्तसुखाद्याकाराणां यज्ञदत्तसन्तानं प्रति पृथक्कर्तुमशक्यत्वात् (द्वितीयैकवचनम्)। ३०७ निरंशैकज्ञानवादी माध्यमिक: प्राह। ३०७३. चित्रज्ञानस्यैकत्वे। ३०७४. घटाद्येकपदार्थज्ञाने यथा चित्रव्यवहारो न। ३०७

उभयत्र विरोधाविशेषात्। ३०७६. लोके। ३०७७. एकस्मिन्। ३०७८. अनेकाकारस्य। ३०७९. एकाकारे। ३०८०. पीताद्याकार: संवेनादभिन्नो भिन्नो वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति माध्यमिक:। ३०८१. इदं संवेदनमिमे पीतादय इति। ३०८२. तर्हि तच्चित्रज्ञानं न भवति किन्तु तत्र ज्ञानान्तरमेव स्यात्। ३०८३. चित्रज्ञाने। ३०८४. संवेदनान्तरत्वापत्ते:। ३०८५. अभेदे। ३०८६. पीताद्याकारप्रतिभासेभ्यश्चित्रज्ञानस्य भेदे। ३०८७. अर्थान्तरत्वे सति पीताद्यशेषाकारशून्यस्य चित्रज्ञानस्याप्रतीयमानत्वाद्धेतो:। ३०८८. अर्थान्तरत्वेपि। ३०८९. उपसंहरति जैन:।

३०९०. अनेकता। ३०९१. चित्रज्ञाने। ३०९२. चित्रज्ञानस्यैकत्वम्। ३०९३. ज्ञानलक्षणेभ्य:। ३०९४. प्रतिभासते। ३०९५. वयं माध्यमिका निवारका: कथं भवाम: ?। ३०९६. शोभेतेति पूर्वेणान्वय:। किं तत् ? तदाह—एकं चेच्चित्रता न स्याच्चित्रं चेदेकता कुत: ? एकं च तच्च तच्चित्रमेतच्चित्रतरं महदिति। अन्यच्च स्वयमाह। ३०९७. पीताद्याकाराणाम्। स्याद्वाद्यभिमतानाम्। ३०९८. चित्रत्वम्। ३०९९. पीताद्यशेषाकारशून्यस्येदन्तयावगन्तुमशक्यत्वात्कथमेकत्वस्य वास्तवत्वमिति प्रत्यवस्थितान् चित्रज्ञानवादिन: प्रत्याचक्षाणो निरंशैकज्ञानवादी प्राह। ३१००. चित्रज्ञाने। ३१०१. पीताद्याकाराणाम्। ३१०२. एकस्य। ३१०३. चित्रज्ञाने संवेदनमात्रस्वरूपस्य। ३१०४. चित्रज्ञानात्। ३१०५. जैन:। ३१०६. एकस्य चित्रज्ञानस्य संवेदनमात्रस्याप्यभावे। ३१०७. अतश्चित्रज्ञानस्यैकत्वविरोध:। ३१०८. निरंशैकवादी माध्यमिक: प्राह। ३१०९. भो जैन त्वदुक्तप्रकारेण। एकस्यानेकत्वाङ्गीकारप्रकारेण। ३११०. तेषु मध्ये। ३१११. नानाप्रतिभाससद्भावत्वेन। ३११२. भवितव्यमित्यन्वय:। ३११३. जैनादीनाम्। ३११४. ज्ञाने बहिरर्थे वा। ३११५. तव जैनस्य। ३११६. चित्रज्ञाने। ३११७. ज्ञाने बहिरर्थे वा। ३११८. चित्रमतावैक्योपगमस्य। ३११९. इत: स्याद्वादी प्राह। ३१२०. चित्राकारस्यापायेपि तस्य चित्रज्ञानस्य सम्भवादिति पूर्वोक्ते सति। ३१२१. संविदाकारस्येवैकस्येति खपुस्तकपाठ:। एकस्य संविदाकारस्य यथा परस्परापेक्षयानेकत्वम्। ३१२२. स्वरूपापेक्षया। २१२३. अनेकचैतन्यं नीलपीतादिप्रतिभास:। तत्र व्याप्तस्य। ३१२४. विशेष्यस्य। व्यापकस्य। ३१२५. अन्तस्तत्त्वस्य ज्ञानादे:। ३१२६. अन्तस्तत्त्वमेकात्मकमस्ति, चित्रज्ञानवदिति। ३१२७. सुखादीनां प्रधानपरिणामत्वेनाचेतनत्वमभ्युपगम्य तेषां चैतन्यव्याप्तत्वाभावं मन्वान: साङ्ख्य: प्राह। ३१२८. व्याप्यानाम्। ३१२९. भो जैन।

३१३०. इतो जैनो ब्रूते। ३१३१. पीताद्याकाराणां चित्रज्ञानं व्यापकं भवत्किमेकेन स्वभावेनानेकेन वेत्यादिप्रकारेण। ३१३२. व्यापकस्य चित्रज्ञानस्य। ३१३३. एकानेकस्वभावमन्तरेणैव। ३१३४. सुखादिव्यापिनि चैतन्येऽनुभूते। ३१३५. न ह्यनुपपन्नं किन्तूपपन्नमेवेत्यत्र उपपत्तिं दर्शयति। ३१३६. सत्प्रतिपक्ष: प्रकरणसम इत्यर्थ:। ३१३७. सुखादीनाम्। ३१३८. तत एवेति शेष:। तथा पुरुषसंसर्गादित्यादिप्रकारेण। ३१३९. जैनस्य। ३१४०. उत्पत्तिमत्त्वेऽपि चैतन्यविशेषोऽचेतनत्वाभाववान्यत:। ३१४१. उत्पत्तिमत्त्वादिति हेतो:। ३१४२. द्रव्यार्थिकनयापेक्षया। ३१४३. एवं ज्ञानसुखादीनामभेद: स्यादित्युक्ते आह। ३१४४. उपयोगस्वभावाभ्याम्। ३१४५. ज्ञानदर्शनाभ्यामन्यत्वेप्यभिन्नत्वमत्याशङ्क्य प्राह। ३१४६. (न सर्वथा विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं किं तु कथंचिदिति बौद्धेनोक्ते आह) ३१४७. विज्ञानसाधनेन। बौद्धमते पूर्वरूपलक्षणस्योत्तररूपलक्षणं प्रत्युपादानत्वेन उत्तरज्ञानलक्षणं ति (प्रति) सहकारित्वेनाभिन्नहेतुत्वेपि कार्यभेदाभ्युपगमाद् व्यभिचारात्। ३१४८. सौगतै:। ३१४९. सुखादीनां ज्ञानरूपत्वाभावप्रकारेण। ३१५०. सौगतेन। ३१५१. तद्रूपा नीलचेतनादय:। अतद्रूपा अनीलचेतनादय:। ३१५२. अपि तु नैवेत्यर्थ:।

३१५३. सुखादीनां विज्ञानरूपत्वं कथमसिद्धमित्युक्ते आह। ३१५४. अज्ञानरूपा:। ३१५५. सुखादीनां विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वमुपादानापेक्षया सहकार्यपेक्षया वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयन्नाह जैन:। ३१५६. श्लोकवार्त्तिके। ३१५७. इति चेत् (सौगतेनोच्यते चेत्)। ३१५८. तत् तस्मात्, रूपादि नैवाज्ञानं किन्तु ज्ञानमेव स्यादित्यर्थ:। ३१५९. पूर्वेन्द्रियानिन्द्रियमुत्तरद्रव्येन्द्रियानिन्द्रियं प्रति कारणम्। तदा उत्तरद्रव्येन्द्रियानिन्द्रिययोर्ज्ञानेन सहाभिन्नहेतुजत्वात्। ३१६०. द्रव्यार्थिकनयेन। ३१६१. सुखादीनाम्। ३१६२. नैयायिका:। ३१६३. प्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात् मुद्रितप्रतौ पाठ:। प्रत्यक्षेणात्र

स्वसंवेदनं गृह्यते। ३१६४. स्वरूपेण। ३१६५. आत्मनः। ३१६६. परेष्ट आत्मा चेतनाविशेषप्रमितिसमवायभाग् न भवति, सामान्यतः स्वतोचेतनत्वात् पटादिवत्। ३१६७. परो जैनाभिमतं चेतनमप्यात्मानं स्वीकृत्य दोषमाह। ३१६८. जैनाः प्राहुः। ३१६९. सुखादौ।

३१७०. सुखादिस्वरूपस्य। ३१७१. यथा चित्रज्ञानस्य कथञ्चिदेकानेकात्मकस्य प्रेक्षणं सिद्धम्। ३१७२. कथञ्चिदेकानेकात्मकत्वेन सुखदुःखहर्षविषादादिरूपस्य चैतन्यस्य। ३१७३. असङ्कीर्णविशेषैकात्मनः प्रेक्षणमित्यनेनान्वयः। ३१७४. (स्कन्धस्य कथञ्चिदेकानेकात्मकत्वं साधयति)। ३१७५. केवलम्। ३१७६. परमाणूनां स्थूलपरिणतिः स्कन्धः। सुगतमते तु परमाणुप्रचयरूपः स्कन्धः। ३१७७. सर्वेषां वर्णसंस्थानादीनाम्। ३१७८. वर्णादिव्यतिरेकेण स्कन्धस्यानुपलम्भो यथा। ३१७९. असम्बद्धाः। ३१८०. तर्हि परमाणुत्वाविशेषात्सर्वे (अप्रत्यासन्नाः) परमाणवः प्रत्यक्षाः स्युरित्याशङ्कायामाह। ३१८१. रूपः चक्षुःप्रकाशादिसमाग्रीवशतः। ३१८२. स्वकारणसामग्रीवशादेव। ३१८३. नैयायिकानां स्याद्वादिनां च। ३१८४. अतो वर्णादीनां नानुपलम्भः। ३१८५. स्वकारणवशादेव स्कन्धस्य प्रत्यक्षसंविज्जननसमर्थस्वभावत्वाभावे सति। ३१८६. पिशाचादिशरीरादीनाम्। ३१८७. (पराभिमते सति। बौद्ध आह) ३१८८. प्रत्यक्षात्वाप्रत्यक्षत्वस्वभावेन। ३१८९. स्वकारणं परमाणुः ३१९०. पुञ्जीभूतानाम्। ३१९१. अपुञ्जीभूतानाम्। ३१९२. प्रत्यक्षाप्रत्यक्षस्वभावत्वात्। ३१९३. अवयविनः। ३१९४. मूल्यार्पणमन्तरेण ग्राह्यत्वात्। ३१९५. निर्विकल्पके। ३१९६. अवयविनः प्रत्यक्षत्वे स्वात्मसमर्पणं मूल्यदानं, तददत्त्वा प्रत्यक्षत्वग्राही। ३१९७. अन्यापोहलक्षणायाम्। ३१९८. (स्कन्धस्य)। ३१९९. अवयवी अवयवेषु सर्वथैकेन स्वभावेन किं सर्वात्मना वर्तते इत्यादिप्रकारेण। ३२००. (सौगतस्य)। ३२०१. जैनाः प्राहुः। ३२०२. भिन्नत्वेन। ३२०३. पुंसः। ३२०४. अस्तु नाम स्कन्धानां विषमपरिमाणत्वात्। तेषां विकल्पेवभासनादवस्तुत्वं स्यादित्यत आह। ३२०५. स्कन्धः। ३२०६. तथा सति सर्वेषां स्कन्धानां प्रत्यक्षता स्यादित्युक्ते आह। ३२०७. आदिशब्देन पिशाचेतरशरीरादिवर्तिसूक्ष्मस्थूलादिकं ग्राह्यम्। ३२०८. विषयभाव एव स्वसमर्पणमिति। ३२०९. द्वितीयपरिच्छेदे सन्तानः समुदायश्चेति कारिकायाम्। ३२१०. साङ्ख्यः।

३२११. मनाक्। ३२१२. एकः स्कन्ध एव वर्तते न तु वर्णादय इत्युक्ते। ३२१३. गुणादयश्च। ३२१४. एषा सत्ता इमे द्रव्यादय इति। ३२१४. तर्हि सत्ताद्वैतमेवास्त्वित्युक्ते आह। ३२१५. भट्टाकलङ्कदेवैः। ३२१६. (ब्रह्माद्वैतवादम्)। ३२१७. सौगतमतम्। ३२१८. एकान्तत्वेन। ३२१९. सामान्यविशेषौ एकः आत्मा यस्य तत्सामान्यविशेषैकात्मकम्। तस्यानेकान्तरूपस्य वस्तुनः। सामान्यविशेषाभ्यामुपलक्षितमेकं स्वरूपं यस्य तत्तथोच्यते इति वा। ३२२०. सम्यक् परिच्छित्तिः। ३२२१. स्पष्टेन्द्रियबोधानाम्। ३२२२. (अनार्हतानामार्हतमतविरुद्धानां कल्पनाम्)। ३२२३. जैनानाम्। ३४२४. अनुमानादिना। ३२२५. सत्ताद्वैतवाद्यभ्युपगतस्य। ३२२६. बौद्धमतापेक्षया। ३२२७. यौगमतापेक्षया। ३२२८. पृथग्भूतयोः (जटिलाभ्युपगतयोः)। ३२९९. तदात्मकस्य। भट्टमते भेदासहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम्। (सामान्यविशेषयोरर्धार्धभागेन कृत्त्वेत्यर्थः)। ३२३०. नरसिंहवत्। ३२३१. जात्यन्तरस्य संवित्तिः। कथमित्युक्ते आह। ३२३२. भेदनयविवक्षायाम्। ३२३३. सा अनार्हतकल्पना। ३२३४. सर्वथैकान्तस्योपलब्धौ वा प्रतिषेधः साध्यते इत्युक्ते सर्वथैकान्तः कदाचिदुपलब्धावनुपलब्धौ वा प्रतिषेधः साध्यत इत्युक्ते सर्वथैकान्तः कदाचिदुपलब्धावनुपलब्धौ वा प्रतिषिध्यत इति प्रश्नः फलति। तथा च विकल्प्य परो वक्ति।

३२३५. (सत एव कथंचित्केनचित्प्रतिषेधात्। यतो विधिपूर्वक एव निषेधो भवति। एतेन स्वभावानुपलब्धिर्निरस्ता)। ३२३६. मिथ्या अध्यारोप्यमाणस्य। ३२३७. अध्यारोप्यमाणस्य प्रतिषेधसिद्धिर्न भवेद्यदि। ३२३८. अनेकान्तात्मनो वस्तुनः संवित्तिरिव। ३२३९. विषयीकुर्वत्। ३२४०. सामान्यात्मिकामेव विशेषात्मिकामेव वेत्त्येवम्। ३२४१. एवंभूतेन प्रमाणान्तरेण। ३२४२. प्रत्यक्षात्। ३२४३. अनुमानादि। ३२४४. प्रत्यक्षाभावेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न घटते यतः। ३२४५. प्रत्यक्षं विना समारोपविच्छेदविशेषोपि न स्यादित्यर्थः ३२४६. आदिपदेन तर्कप्रत्यभिज्ञानोपमानादि। ३२४७. (अनुमानादेः)। ३२४८. तस्मात् प्रत्यक्षात्। ३२४९. जैनः प्रत्युत्तरयति। ३२५०. (गरिष्ठत्वे हेतुः) ३२५१. समारोपविच्छेदविशेषरूपं गरिष्ठत्वहेतुं

भावयति। ३२५२. वर्णसंस्थानादिना। ३२५३. प्रतिनिवृत्ता आकाङ्क्षा (प्रमाणान्तरस्य) यस्य (प्रत्यक्षस्य) सः। ३२५४. (अनुमानादेः) सकाशात्र तादृशः)। ३२५५. अनुमानादिना। ३२५६. अनेकान्तात्मकस्यास्तित्वविधिरन्वयः। ३२५७. दृष्टं प्रत्यक्षमन्वयव्यतिरेकयोः स्वभावभेदं दर्शयति ततः प्रत्यक्षस्य गरिष्ठत्वसिद्धिः। ३२५८. (स्वभावभेदप्रदर्शनार्थत्वादिति हेतुं भावयति)। ३२५९. सामान्यविशेषात्मकत्वात्स्वस्येति पाठान्तरम्। ३२६०. बसः (बहुव्रीहिः)। ३२६१. तच्छब्देनान्वयव्यतिरेकौ। ३२६२. अतो दृष्टमेव गरिष्ठं सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्राहकमेकान्तं निषेधयतीति समर्थितमेतत् 'स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यत' इत्यत्र। ३२६३. स त्वमेवासि निर्दोष इत्यादिना पूर्वमेवार्हच्छासनस्याबाधनमर्हतः परमात्मत्वं च सिद्धम्। पुनस्त्वन्मतामृतबाह्यानामित्यादिना सर्वथैकान्तस्य मतस्य दृष्टेन बाधनं कपिलादेः परमात्मत्वनिराकरणं च किमर्थमिति बौद्धाशङ्का। ३२६४. अनेकान्तस्य।

३२६५. स्वामिसमन्तभद्राचार्यः (किमर्थमित्यन्वयः) ३२६६. (अन्वयव्यतिरेकौ)। ३२६७. सौगताचार्यः। ३२६८. अन्वयव्यतिरेकयोः। ३२६९. आदिना प्रतिज्ञानिगमनादिग्रहः। ३२७०. निग्रहस्थानं पक्षं प्रसाधयतोऽप्रसाधयतो वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति सिद्धान्ती। तत्र प्रथमपक्षमाह तावत्। ३२७१. वादिनः। ३२७२. स्वेन (वादिना)। ३२७३. निराकृतः पक्षोऽस्य प्रतिवादिनः) असौ निराकृतपक्षस्तेन लक्षयितुं युज्यते स्वपक्षसिद्धिनिबन्धनैव जयाधिकरणप्राप्तिर्न तु वचनाधिक्यनिबन्धनेति भावः। ३२७४. लक्षणीयापि तु न लक्षणीयेति वक्रोक्तिः। ३२७५. धर्मकीर्तिनोक्तत्वात्। ३२७६. न तु निग्रहस्थानम्। ३२७७. निग्रहस्थानप्राप्तिः। ३२७८. सद्वादिनः। ३२७९. वादिना। ३२८०. द्वितीयविकल्पं दूषयति। ३२८१. द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोः। ३२८२. सौगतस्य। ३२८३. साध्यस्य। ३२८४. साधर्म्यवैधर्म्येत्युभय-वचनात्। ३२८५. वचनाधिक्यम्। तत् साधनवचनसामर्थ्याज्ञानं प्रकटयतस्तज्ज्ञानं (साधनवचनसामर्थ्यज्ञानमिति (टिप्पण्यन्तरम्)।

३२८६. नित्येऽनित्ये वा भेदेऽभेदे वा एकस्मिन्क्वचित्पक्षे। ३२८७. वैयर्थ्यप्रसङ्गे हेतुः। ३२८८. वादिनः। ३२८९. प्रतिवादिनः। ३२९०. भो सौगत, यदि साधनसामर्थ्यज्ञानं जयस्य हेतुस्तदज्ञानं तु पराजयस्य तदा। ३२९१. साधनसामर्थ्यज्ञानाविशेषात्। ३२९२. जैनस्य। ३२९३. साधनगुणे ज्ञानाभावो दूषणं चेति भावः। ३२९४. सौगतस्य। ३२९५. स्वसाधनवादिनेति वा पाठः। ३२९६. एवं च व्यवस्थायां सत्याम्। ३२९७. साधर्म्यवचने प्रयुक्ते वैधर्म्यवचनं प्रयुज्यमानमसाधनाङ्गं वैपरीत्यं वा। ३२९८. वादिन इत्युपरिष्टादन्वयः। ३२९९. वक्ष्यमाणाभ्यां विकल्पाभ्यां मतस्यानुपपत्तेः। ३३००. उदाहरणोपनयनिगमनादिवचनाधिक्यम्। ३३०१. साधनाभासविज्ञानासिद्धेः। ३३०२. (तेन हि प्रतिवादिना वचनाधिक्यरूपो दोष एवोद्भावितो न तु साधनाभासरूप इति साधनाभासज्ञानासिद्धिस्तस्य)। ३३०३. साधनाभासे अदोषोद्भावनमेव लक्षणं यस्य तस्य। ३३०४. (प्रत्युत)। ३३०५. प्रतिवादिनः। ३३०६. द्वेषविषयभूतं कामयते इत्येवंशीलः। तस्य भावो द्विष्टकामिता।

३३०७. द्वेषविषयं कृत्वा। ३३०८. वादिनः। ३३०९. न्यक्कारः पराजयः। ३३१०. साधर्म्यवचनादेवार्थगतौ अर्थादापन्नं (स्वयमेव लब्धम्) वैधर्म्यवचनं, तस्य। ३३११. (पुनस्तस्याभिधानं द्विष्टम्। तत्त्वात्)। ३३१२. ज्ञातस्यार्थादापन्नस्य वा। ३३१३. निगमनवचनस्य पुनरपि दोषोद्भावनं कथम् ? (सौगतेन प्रतिज्ञावयवस्येव निगमनावयवस्यापि नियमेन निवारणात्)। ३३१४. पुनरुद्भावनम्। ३३१५. निगमनं न दूषितं तर्हि अदोषं भविष्यतीति भयात्पुनर्दूषितम्। ३३१६. सौगतः। ३३१७. (अर्थादायातस्य)। ३३१८. वैधर्म्यवचनं न दूषितं तर्हि साधनाङ्गं भविष्यतीति भयात्पुनर्वैधर्म्यवचनं प्रोक्तम्। ३३१९. निगमनवैधर्म्यवचनयोः। ३३२०. पक्षधर्मत्वशब्देनात्र सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिश्चेत्यपि ग्राह्यम्। ३३२१. साधर्म्यवैधर्म्येत्येतदुभयस्य। ३३२२. पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यादिर्यथोदितः। ३३२३. वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये। ३३२४. सौगताशङ्कां निराकरोति जैनः। ३३२५. जैनापेक्षयोदाहरणमनर्थकम्। ३३२६. पराजयाय। ३३२७. स्वपक्षसिद्धौ जातायाम्। ३३२८. वादिनोक्तस्य। ३३२९. बौद्धमतापेक्षया प्रतिज्ञोदहरणादि दोषान्तरम्। ३३३०. प्रतिवादिनः। ३३३१. प्रतिज्ञोदाहरणादिवचनस्य स्वपक्षसिद्धिविघाताहेतुत्वात्। ३३३२. (परपक्षनिराकरणे)।

३३३३. न तद्युक्तमिति भाष्योक्तं सुव्यवस्थितम्। ३३३४. वादशास्त्रयोः। ३३३५. (शास्त्रे प्रतिज्ञाभिधीयते इत्यत्रायं हेतुः)। ३३३६. अनियतकथायां च प्रतिज्ञाभिधीयते इत्यत्रायं हेतुः)। ३३३७. परानुग्रहप्रवृत्तत्वात्। ३३३८. तादृशत्वमेव दर्शयते। ३३३९. (परः प्राह) जल्पवितण्डारूपायाम्। ३३४०. जैनः। ३३४१. प्रतिज्ञाप्रयोगो न युक्त इति। ३३४२. शास्त्रादौ। ३३४३. सौगतः प्राह। ३३४४. अर्थाद्गम्यमानस्य प्रतिज्ञादिविषयस्य। ३३४५. तेषां मन्दधियाम्। ३३४६. (जैनः) वादे। ३३४७. यथा शास्त्रादौ मन्दबुद्धिप्रतिपत्त्यर्थं प्रतिज्ञादिप्रयोगः। ३३४८. आदिशब्देन दृष्टान्तग्रहः। ३३४९. बौद्धः। ३३५०. हेतुसमर्थनान्तरं यदि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिं समर्थयते तदा। ३३५१. प्रतिज्ञाम्। ३३५२. (न स्वीकरोतीत्यर्थः)। प्रतिज्ञावद्धेतुरपि व्यर्थो भवतीत्यर्थः। ३३५३. तस्य हेतोः। ३३५४. (भो सौगत) साधनमात्रात्। ३३५५. कर्तृ। ३३५६. (वाशब्दोत्र निगमनस्य समुच्चये) न केवलं हेतुरेवेत्यर्थः। ३३५७. निगमनादेः समर्थनं कथमतिशयवदित्यर्थः। ३३५८. कर्म। ३३५९. समर्थननिगमनयोः।

३३६०. भो जैन, त्वया हेतुं कथयित्वा यदि समर्थयते तदा दूषणं, परन्तु हेत्वाद्यनभिधाने। ३३६१. इतो जैनः। ३३६२. अर्थाद्गम्यमाने। प्रकरणादिवशेनैवेत्यर्थः। ३३६३. मतिशब्दो मुद्रितप्रतौ नास्ति। ३३६४. सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा इत्यमरः। ३३६५. सौगतस्य (समर्थनं निग्रहाय न भवतीति प्राह)। ३३६६. समर्थनं नामं वचनाधिक्यं नाम दूषणं न भवति यतः समर्थनं पक्षधर्मत्वादावन्तर्भवति। ३३६७. शब्दादौ। ३३६८. अस्तित्वसाधनम्। ३३६९. इष्टः क्षणिकत्वम्। ३३७०. उदाहरणद्वयनिरूपणप्रकारद्वये। ३३७१. उभयथासमर्थनेपि भाष्यकथनं संघटते इति शेषः। ३३७२. हेतुसमर्थनं प्रतिपाद्य पुनर्व्याप्तेः साधनम्। ३३७३. विपक्षे (यथा बौद्धस्य क्षणिकत्वसाधने नित्यम्)। ३३७४. सत्त्वस्य। ३३७५. व्यापकानुपलब्धेरिति। ३३७६. एतदेव समर्थयति। ३३७७. तदेति शेषः। ३३७८. (अनित्यत्वेनाभिमतात्सर्वस्मात्)। ३३७९. (सर्वम्)। ३३८०. सजातीयविजातीयकार्यकारणसामर्थ्यमुपाख्या स्वभाव इति यावत्। ३३८१. सत्त्वस्य। ३३८२. नित्ये। ३३८३. सति। ३३८४. विपक्षेण सह साधनस्य। ३३८५. सत्त्वादिति हेतोः। ३३८६. घटादिपदार्थः। ३३८७. नित्यात्। ३३८८. सत्त्वलक्षणसाधनव्यावृत्तेः। ३३८९. सन्दिग्धानैकान्तिकः। सत्त्वादित्ययं हेतुः। ३३९०. नित्ये सत्त्वकृतकत्वयोरदर्शनमात्रात्। ३३९१. नित्यात्सत्त्वादेः साधनस्य। ३३९२. किञ्चिज्ज्ञस्यादर्शनं नित्ये सत्त्वाभावं न साधयति यतः। ३३९३. पूर्वभागदर्शिना नरेण। ३३९४. विप्रकृष्टानाम्। ३३९५. बाधकप्रमाणेन शङ्काया निवृत्तिः कुत इत्याशङ्कायामाह। ३३९६. नित्यवस्तुनः। ३३९७. साध्यधर्मे कार्ये। ३३९८. क्रमयौगपद्यायोगः। ३३९९. अर्थक्रियाकरणासामर्थ्यम्। ३४००. नित्ये। ३४०१. विपक्षे बाधकप्रमाणमात्रेणैव। ३४०२. मात्रशब्दः कार्त्स्न्ये। यावन्तः साधन(सत्त्व)धर्मास्तावत्सु साध्यधर्मस्यान्वय इत्यर्थः। ३४०३. क्षणिकत्वस्य। ३४०४. सत्त्वादिति। ३४०५. बाधकप्रमाणेपि। ३४०६. सत्त्वकृतकत्वादेः। ३४०७. साधनस्यानुपलब्धिसाधनं सौगतस्याप्रमाणम्। ३४०८. बाधनोपगमे इति वा पाठः। ३४०९. सौगतो वक्ति इति न चोद्यमित्यादि। ३४१०. दृश्यानुपलब्धिलक्षणस्य।

३४११. प्रमाणत्वप्रतिषेधमेव दर्शयति। ३४१२. नित्ये क्रमयौगपद्ययोगस्यादर्शनम्। ३४१३. दृश्यविषयत्वम् (क्षणिकम्)। ३४१४. क्रमयौगपद्यायोगलक्षणस्य। ३४१५. साध्यस्य असामर्थ्यस्य विपर्यये सामर्थ्ये सल्लक्षणे। ३४१६. क्रमयौगपद्याऽयोगेन विरुद्धः क्रमयौगपद्ययोगः। ३४१७. अदर्शनस्य विपक्षे बाधकप्रमाणत्वप्रतिपादनप्रकारेण। ३४१८. नित्यमर्थक्रियाकारि न भवति, क्रमयौगपद्यायोगादित्ययं हेतुः साध्यस्य (असामर्थ्यस्य अभावे) (क्षणिकस्वलक्षणे)। ३४१९. क्षणिके। ३४२०. क्रमयौगपद्ययोगेन। ३४२१. क्षणिके। ३४२२. सत्त्वस्य। ३४२३. दृश्यानुपलब्धेरेव तद्बाधकत्वे सति। ३४२४. अर्थक्रियाकारित्वलक्षणम्। ३४२५. अक्रमो यौगपद्यम्। ३४२६. सत्त्वादित्यादेः। ३४२७. इदं वक्ष्यमाणं समर्थनम्। ३४२८. अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। ३४२९. अग्न्यन्येषु पवनेन्धनादिषु। ३४३०. धूमहेतुषु। ३४३१ वह्न्यभावे। ३४३२. वह्निकार्यत्वम्। ३४३३. अन्वयाभावे। ३४३४. मूलकारणा(वह्नि)भावे। ३४३५. सहकारिकारणस्य पवनेन्धनादेः। ३४३६. कार्योत्पत्तौ।

३४३७. विवक्षितकारणस्य वह्नेः। ३४३८. पवनादिकारणम्। ३४३९. धूमरूपकार्योत्पत्तौ। ३४४०. पवनाद्यभावे। ३४४१. धूमलक्षणं कार्यम्। ३४४२. अग्न्यभावे धूमनिवृत्तेः प्रतीयमानत्वादग्रेरेव तत्र धूमकार्यजनने सामर्थ्यं न त्वन्यस्येत्याशङ्कायामाह। ३४४३. कार्यस्य। ३४४४. मातृविवाह उचितो यत्र। ३४४५. इति यदृच्छासंवादः। ३४४६. अन्वयव्यतिरेकरूपेण। ३४४७. अग्रेः कारणस्य। ३४८८. अव्यभिचारोपि सर्वत्र कार्यकरणे कथमित्युक्ते आह। ३४४९. अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवेत्यर्थः। ३४५०. इति कार्यहेतुसमर्थनम्। ३४५१. हेतोः। ३४५२. परमाण्वादेरदृश्यस्य। ३४५३. प्रतिपत्तुः मुद्रितप्रतौ पाठः। ३४५४. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य वस्तुनः स्वरूपम्। ३४५५. कारणान्तरं चक्षुरादि। ३४५६. देशकालस्वभावभेदात्। ३४५७. एतदर्थः क इत्युक्ते आह। ३४५८. अनात्मा अन्यपदार्थः। ३४५९. अघटव्यावृत्तिर्घट इति। ३४६०. राहित्येन। ३४६१. (उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरूपः स्वभावविशेषः कारणान्तरसाकल्यं च स्वभावविशेष इत्यर्थः)।

३४६२. चक्षुरादिषु। ३४६३. (त्रिविधेन विप्रकर्षेण विप्रकृष्टत्वप्रकारेण, अनात्मरूपप्रतिभासविवेकेन प्रतिपत्तृप्रत्यक्षप्रतिभसित्वप्रकारेण चानुपलब्धः। ३४६४. अनुपलब्धिविषयः। ३४६५. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः सकाशात्। ३४६६. अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भप्रकारेण। ३४६७. अनुपलब्धिलक्षणे। ३४६८. न केवलं सत्त्वादिलक्षणं। ३४६९. वस्तु। ३४७०. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भरूपम्। ३४७१. द्रष्टव्या। ३४७२. ननु अनुपलब्धस्यैवासद्व्यवहारहेतुत्वात् कथमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्सङ्गतमित्याशङ्क्य व्याप्तिं समर्थयति। ३४७३. शशविषाणादेः। ३४७४. सर्वदा। ३४७५. घटादेः। ३४७६. उपलब्धिलक्षणप्राप्तियोग्यः शशो विषाणं च। ३४७७. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य। ३४७८. असद्व्यवहारस्य। ३४७९. शशविषाणे। ३४८०. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य शशविषाणादेः। ३४८१. किन्तूपलब्धिरेव। ३४८२. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिमात्रनिमित्तः। ३४८३., अदृश्यानुपलब्धिलक्षणस्य। ३४८४. विपक्षव्यावृत्तिरूपस्य। ३४८५. असपक्षो विपक्षः। ३४८६. पूर्वोक्तसमर्थनप्रकारेण। ३४८७. तृतीयरूपसमर्थनस्यावचने। ३४८८. सिध्यङ्गस्य। ३४८९. निगमनादिभ्योऽतिशयवद्भवति। ३४९०. (यौग आह)। ३४९१. नैयायिकैः। ३४९२. प्रतिज्ञायाः। ३४९३. यथा संगरस्यावचने न्यूनाख्यं तथा। ३४९४. पञ्चानामप्यवयवानां मध्ये। ३४९५. न्यूनं नाम निग्रहस्थानम्। ३४९६. हे सौगत। ३४९७. इतो जैनः प्राह। ३४९८. विपक्षाव्यावृत्तिलक्षणस्य। ३४९९. अपि तु नातिशयीत। ३५००. सौगतः प्राह। ३५०१. पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वयोः सत्त्वेपि।

३५०२. जैनः प्राह। ३५०३. जैनोक्तस्य। ३५०४. विपक्षव्यावृत्तिलक्षणसमर्थनस्य गमकत्वप्रकारेण। अन्यथानुपपन्नत्वलक्षणस्य सद्भावे। तदभावे हेतोः प्रयोजकत्वादर्शनादिति पाठान्तरम्। ३५०५. तदभावे तु हेतोरप्रयोजकत्वमेवेत्यर्थः)। ३५०६. सौगतस्य। ३५०७. विपक्षाव्यावृत्तिलक्षणहेतोरेकस्यैव साधनाङ्गत्वात् पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वरूपस्यासाधनाङ्गत्वम्। ३५०८. सौगत आह। ३५०९. जैनः प्राह। ३५१०. निग्रहप्राप्तिः। ३५११. अतिशयो विशेषः। ३५१२ हे सौगत। ३५१३. आग्रहः। ३५१४. निगमनादिकम्। ३५१५. शब्दो नश्वरः, सत्त्वादिति रीत्या। ३५१६. अतिरेक आधिक्यम्। ३५१७. अनुमाने ३५१८. संश्च शब्द इत्युपनयेनैवाविप्रतिपत्तेः (अविगानतः) पक्षधर्मस्य प्रदर्शनमतोधिकम्। तत एव पराजयाय। ३५१९. प्रागुक्तं सर्वं परिहरन् सौगतो वक्ति, यस्य अद्वैतवादिनो योगाचारस्येत्यर्थः। ३५२०. उत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिविशेषणरहितम्। ३५२१. गम्यत्वादित्यधिकः पाठः खपुस्तके। ३५२२. सांख्यस्य जैनस्य वा। ३५२३. अनर्थान्तरभूतं विशेषणं (उत्पत्तिमत्त्वम्) यस्य तत्। ३५२४. नातिरिक्तम्। ३५२५. नैयायिकस्य। ३५२६. (कृतकत्वम्)। ३५२७. तादृशः कप्रत्ययान्त इत्यर्थः। ३५२८. वादिनम्। ३५२९. नातिरिक्तमिति वाक्यं पूर्वमपि योज्यम्। ३५३०. तत्तद्वादिसाध्यप्रसिद्ध्यभावप्रकारेण। कस्यचित्सत्त्वादित्यनेन साध्यसिद्धिरस्ति कस्यचित्तु उत्पत्तिमत्त्वादित्यनेन साध्यसिद्धिरिति। ३५३१. तत्तद्वादिनः। ३५३२. प्रयोगेण। ३५३३. तदन्तरेणापि। ३५३४. संश्च शब्द इति पक्षधर्माऽवचनात्। ३५३५. तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः। ख्याप्येते विदुषामित्यादि।

३५३६. प्रतिपाद्यानुरोधतः साधर्म्यवचनेपि वैधर्म्यवचनं तद्वचनेपि च साधर्म्यवचनं पक्षादिवचनं वेत्यादौ सत्याम्। ३५३७. इति वचः। ३५३८. शब्दे धर्मिणि। ३५३९. इति व्याहतमित्यग्रेणान्वयः। ३५४०. सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्येतावता शब्दे सत्त्वप्रतीतेः संश्च शब्द इति पक्षधर्मस्याविगानमित्यर्थः। ३५४१. इत्यपि व्याहतम्। कया? असाधनाङ्गवचनादपजयप्राप्त्येत्यर्थः। ३५४२. इति हेतोः। ३५४३. (संश्च शब्द इति पक्षधर्मस्य)। ३५४४. सौगतमतापेक्षया। ३५४५. (व्याहतमेवेति पूर्वोक्तेनान्वयः)। ३५४६. समर्थनसहितत्वेन। ३५४७. त्रिलक्षणवचनसमर्थनस्य। ३५४८. प्रतिज्ञादिवचनसमर्थनवदित्यर्थः। ३५४९. समर्थनपक्षधर्मत्वप्रदर्शनयोर्व्याहतिम्। ३५५०. बौद्धेन। ३५५१. प्रतिज्ञादेः। ३५५२. "असाधानङ्गवचनं" मुद्रितप्रतौ पाठः। ३५५३. बौद्धः। ३५५४. पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्। धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि वै॥ ३५५५. जैनोक्तिः। ३५५६. प्रतिज्ञावचनप्रकारेण। ३५५७. वादिन उक्तावितरस्येति वात्र पाठः। इतरस्य प्रतिवादिन इत्यर्थः। ३५५८. वादिनः। ३५५९. प्रतिवादिनः। ३५६०. स्वपक्षसिद्ध्या। ३५६१. साधनस्य स्वेष्टसिद्धेरङ्गानि कारणानि प्रतिज्ञादीनि। तेष्वन्यतमस्य। ३५६२. प्रतिज्ञादिकम्। ३५६३. प्रतिज्ञाय। ३५६४. बुद्धिराहित्येन। ३५६५. बौद्धाभिमतम्। ३५६६. उक्तन्यायेन। ३५६७. वादिना निर्दोषसाधने प्रयुक्ते सति। ३५६८. प्रतिवादिनो निग्रहाधिकरणम्। अनुद्भासनमिति मुद्रितप्रतौ पाठः। ३५६९. पूर्वोक्तस्यैव। ३५७०. बौद्धः पृच्छति। ३५७१. प्रतिज्ञादिवचनस्यानिग्रहस्थानत्वे सति। ३५७२. वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये। ३५७३. जल्पो वादः।

३५७४. वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये एकस्य। यदा वादी निराकृतविपक्षस्तदा वादिनो जयः प्रतिवादिनः पराजयः। यदा प्रतिवादी अवस्थापितस्वपक्षस्तदा तस्य जयो वादिनस्तु पराजय इत्यर्थः। ३५७५. निग्रहस्थानम्। ३५७६. 'च' इत्यध्याहार्यम्। ३५७७. वादिप्रतिवादिनोः। ३५७८. धनप्राप्तिपर्यन्तम्। ३५७९. स्वपरपक्षसाधनदूषणं कर्त्तव्यं विजिगीषुणेत्येतत्। ३५८०. इति स्वपक्षसाधनम्। ३५८१. इति परपक्षदूषणम्। ३५८२. समन्तभद्रस्वामिनः। ३५८३. एकान्तग्रहरक्तेषु मध्ये कस्मिंश्चित्। ३५८४. (कायवाङ्मनसामालम्बनेनात्मप्रदेशपरिस्पंदलक्षणा)। ३५८५. काययोगो वाग्योगो मनोयोगश्चेति त्रिविधः। ३५८६. आस्रवति कर्म येन योगेन स आस्रवः कर्मागमकारणमित्यर्थः। ३५८७. पुण्यपापभेदात्सुखदुःखभेदाद्वा। ३५८८. योग एव। ३५८९. तत्त्वार्थसूत्रकारवचनात्। ३५९०. प्रेत्य मृत्वा भावो गत्यन्तरप्राप्तिः प्रेत्यभावः। ३५९१. परलोकहेतुः। ३५९२. (परलोकः)। ३५९३. आदिना मोक्षादिग्रहश्च। ३५९४. वादिषु। ३५९५. स्वयमङ्गीकृतस्य परलोकादेः। ३५९६. तेषां स्ववैरित्वमसिद्धमिति चेदाह। ३५९७. अनेकान्तमतवैरित्वात्। ३५९८. पुण्यपापरूपकर्मफलम्। ३५९९. सुःखं दुःखं च। ३६००. तंन पुण्यपापरूपेण धर्माधर्मेण संबन्धः कार्यकारणलक्षणो यस्य सः परलोकादिः। ३६०१. स्वमिति सम्बन्धः। ३६०२. कुशलाकुशलादिपूर्वोक्तस्य। ३६०३. परवैरित्वमनेकान्तवैरित्वं वा। ३६०४. स अनेकान्तः। ३६०५. तत् परवैरित्वं, स्वस्य स्वकीयस्य वैरित्वम्। ३६०६. यसः (कर्मधारयः)। ३६०७. कर्मफलादिकमनन्तरोक्तम्।

३६०८. यस्मादेतत्पराभिमतं कर्मफलादिकमनेकान्तनिषेधेन बाध्यते तस्मात्परवैरित्वं, स्ववैरित्वं साधयति (यतस्ते बाधितमपि स्वपक्षं स्वीकुर्वन्ति)। ३६०९. तटस्थः। ३६१०. तत्त्वोपप्लववादिभिः। ३६११. कर्मफलपरलोकादेरनिष्टत्वेनाङ्गीकारात् यतः शून्यवादिनां परलोकाद्यङ्गीकारे शून्याभावः, अद्वैतवादिनां च परलोकाङ्गीकारे द्वैतापत्तिरतस्तेषामनिष्टत्वम्। ३६१२. मायया मिथ्यारूपेण वा। ३६१३. नित्यैकान्तेऽनित्यैकान्ते वा। ३६१४. स्याद्वादिभिर्युक्त्याऽसंभवत्वप्रदर्शनात्। ३६१५. क्रमाक्रमयोः। ३६१६. व्यापकेन। ३६१७. तस्य अनेकान्तस्य। ३६१८. तयोः क्रमाक्रमयोः। ३६१९. व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तेः सुसिद्धत्वात्। ३६२०. कार्यकरणमर्थक्रिया। ३६२१. प्रकारान्तरेणाहुः स्याद्वादिनः। ३६२२. (इष्टः इति शेषः)। ३६२२. (क) (क्षणिकाद्येकान्तस्य)। ३६२३. क्षणिकादिरूपेण। ३६२४. ततः क्षणिकैकान्तस्याप्यनेकान्तत्वमायातम्। ३६२५. (एकान्तस्यानेकान्तेविनाभावित्वम्)। ३६२६. (सा अर्थक्रिया)। ३६२७. परवैरित्वे। ३६२८. कर्मादेराश्रयो ह्यनेकान्तः। तद्वैरित्वे कर्मादिकमनाश्रयमेव। ३६२९. कर्मादिकं विरुध्यते यतः। ३६३०. तपोजपाद्याचरणम्। ३६३१. अभिमतं

स्वकर्मक्षयादि। ३६३२. कर्मादिः। ३६३३. अनुष्ठानात्। ३६३४. संसारिदशायाम्। ३६३५. आत्मनि। ३६३६. कर्मादिः। ३६३७. योगाचारो माध्यमिको वा। ३६३८. कायादिव्यापारो लक्षणं यस्य। ३६३९. पुण्यपापाख्यस्य। ३६४०. जन्म मा भूदिति संबन्धः। ३६४१. कर्मादिकं तु द्रव्यत्वेन जैनैर्नित्यमङ्गीक्रियते। ३६४२. सर्वथा सतस्तदघटनात्। अथवा आवरणविशेषात्। ३६४३. आदिपदेनानुष्ठानादेः। ३६४४. जन्म मा भूदित्येव संबन्धः। यतः सर्वथा सत्त्वेनाविशेषात्। ३६४५. परलोकादेः। बौद्धमते सर्वथाऽभाव इष्टः। अत एवं (वक्ष्यमाणं) प्राह माध्यमिकः। ३६४६. कुतश्चित्कारणात्। ३६४७. सर्वथा सदसतोः पक्षयोः। ३६४८. परलोकादिजन्मविरोधाविशेषात्। ३६३९. सत्त्वे। ३६५०. बौद्धाभिमते (जन्म न घटते इत्यन्वयः)। ३६५१. व्यलीको मिथ्या। ३६५२. माध्यमिकस्य। ३६५३. जाग्रद्दशायाम्। ३६५४. कर्मादयो व्यलीकप्रतीभासाः कदाचिदुपरमन्ते, तेषां संवृत्या जनितत्वात् स्वप्नादिप्रतिभासवदितीदमुदाहरणं साध्यसममसिद्धमिति यावत्। कथम्? स्वप्नादिप्रतिभासाः कदाचिदुपरमन्ते इति साध्यमेव न सिद्धं यतः।

३६५५. (साध्यसमत्वमेव दर्शयन्ति यथेति)। ३६५६. (अहेतुकत्वाविशेषात्)। ३६५७. (अविद्याया संवृत्या, मायया अयथार्थत्वेनेत्यर्थः) सत्त्वात् शून्यवादः स्यादिति)। ३६५८. सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। ३६५९. अपिना सत्यानपि। ३६६०. सदेव तिमिरादिकं वितथप्रतिभासान् जनयति। ३६६१. शून्यैकान्तवादे। ३६६२. कर्मणः। ३६६३. यथा भावैकान्ते कस्यचित्कुतश्चित्कदाचित्क्वचिज्जन्म न संभवति, सदसदनेकान्तप्रतिषेधात्। ३६६४. शून्यवादे। ३६६५. जन्मविरोधलक्षणः। ३६६६. ज्ञाने निरन्वयसत्त्वे। ३६६७. ज्ञानबाह्यार्थयोर्निरन्वयसत्त्वे वा। ३६६८. निरन्वयक्षणक्षये। ३६६९. ज्ञानाद्वैतलक्षणोत्तरक्षणकार्यस्य बहिरर्थोत्तरक्षणकार्यस्य। ३६७०. कार्यस्य। ३६७१. निरन्वयसत्त्वेपि उत्तरक्षणलक्षणकार्यजन्मनि। ३६७२. पूर्वक्षणलक्षणं कारणं कार्यकालमप्राप्य प्राप्य वा कार्यं करोतीति द्विधा विकल्प्य क्रमेण दूषयन्नाह। ३६७३. द्वितीयविकल्पः। ३६७४. सव्येतरगोविषाणवत्। ३६७५. कार्यकालं प्राप्नुवतः सर्वस्यानियमेन कारणत्वे। ३६७६. कार्येण सह। ३६७७. सौगतस्य। ३६७८. कारणत्वेनाभिमते पूर्वक्षणे। ३६७९. उत्तरक्षणलक्षणस्य कार्यस्य। ३६८०. पूर्वक्षणरूपकारणमन्तरेण। ३६८१. पूर्वक्षणकार्यत्वम्। ३६८२. उत्तरक्षणलक्षणे कार्ये। ३६८३: पूर्वक्षणमुत्तरक्षणस्य कारणं न भवति, तदभावेपि तस्योत्पादादित्यनुमानात्। ३६८४. विवक्षितकार्यस्य। ३६८५. तत्, तस्य पूर्वक्षणनिमित्तकं कार्यरूपत्वमुत्तरक्षणस्य कथं न? तस्मिन् सत्यभावात्, स्वयमेव च पश्चाद्भावात्। ३६८६. अन्यकार्यवत्। ३६८७. 'तत्' मुद्रितप्रतौ नास्ति। ३६८८. (सौगत आह) पूर्वक्षणक्षयानन्तरम्। ३६८९. तस्य पूर्वक्षणस्य। ३६९०. उन्मत्तः श्वा अलर्क्षः। अलर्क इति पुस्तकान्तरे। ३६९१. अत्रोदाहरणे पूर्वस्मिंश्च जैनैर्दृष्टकारणस्याविनाभावः स्वीक्रियते। ३६९२. कारणे (जैनः प्राह)।

३६९३. (अक्षणिके नित्यत्वात्कार्योत्पादकत्वं न घटते, नित्ये क्रियाविरोधात्, क्षणिके तु असत्त्वादेवेत्यविशेषः)। ३६९४. (कार्यं प्रत्यकारणत्वेन)। ३६९५. क्षणिककारणस्य सत्ता। ३६९६. किन्तु स्वकीयवर्तमानकाले सति। ३६९७. स्वकालो वर्तमानः। ३६९८. नित्ये कारणे। ३६९९. सौगतमते। ३७००. नित्यपक्षे। ३७०१. भवन्मते। ३७०२. कर्तृभूतं क्षणिकं कारणमिति पूर्वेणान्वयः। ३७०३. क्षणिकरूपस्य कारणस्य। ३७०४. इति सौगतेन कालनियमः कल्प्यते यथा तथा जैनैर्नित्यमित्यादि। ३७०५. नित्यस्य कारणस्य। ३७०६. कारणस्य। ३७०७. उपादानत्वे सहकारित्वमिति द्वयरूपेण। ३७०८. (हे सौगत) क्षणिकात्। ३७०९. कारणात्। ३७१०. कारणभेदमकुर्वताम्। ३७११. अनेककार्याणाम्। ३७१२. कूटस्थादपि कारणादेकस्मात्कारणस्वभावमभेदयतामित्यादि योज्यम्। ३७१३. नित्यस्यापि क्रमभाव्यनेककार्योत्पादनस्वभावत्वात्। यथा क्षणिकस्य। ३७१४. बौद्धः शङ्कते, हे स्याद्वादिन्, अत्र नित्ये कथमुत्पत्तिर्नामेति। ३७१५. स्याद्वादी उत्तरयति—तत्र क्षणिके कथमुत्पत्तिः स्यादिति सम आवयोः पर्यनुयोगः (प्रश्नः)। ३७१६. सर्वथा सतोऽसत एव वा। ३७१७. क्रमेण सर्वथा सतोऽनुत्पत्तौ निष्पन्न(आत्मादि)वदिति दृष्टान्तः, सर्वथाऽसतोऽनुत्पत्तौ खपुष्पं दृष्टान्तो ज्ञेयः। ३७१८. सौगतेन। ३७१९. इति पर्यनुयोगार्हं नेति सौगतेनोक्ते स्याद्वादी आह—इति सौगतोक्तं पक्षपातमात्रमित्यादि। ३७२०. नित्यस्य। ३७२१.

गुणान्तरं सुखदुःखादि। ३७२२. प्राप्नुवतः सतः। ३७२३. अपि तु न किमपि। ३७२४. नित्यस्य। ३७२५. नित्य आत्मादिपदार्थः। ३७२६. ज्ञानाज्ज्ञानान्तरभावरूपम्। ३७२७. स नित्यो गुणान्तराधानमेकेनानेकेन वा स्वभावेनानुभवेदिति विकल्प्य क्रमेण दूषयति। ३७२८. गुणान्तरस्य पूर्वेण सह। ३७२९. नित्यस्य। ३७३०. नित्यानुभवनस्ये। ३७३१. एकेन स्वभावेन संभवतो गुणान्तराधानस्यानेकत्वमस्ति चेति नियामकस्याभावात्। ३७३२. नित्यस्यात्मादेः। ३७३३. नित्यात्। ३७३४. नित्यस्य। ३७३५. नित्यस्य। ३७३६ अनेकस्वभावः। ३७३७. जैनस्य। ३७३८. नित्यस्वभावैः। ३७३९. सौगतः (इतो जैनो ब्रूते)। ३७४०. परपक्षे प्रयुक्तस्य दूषणस्य स्वपक्षेपि समानत्वात्। ३७४१. सौगतेन। ३७४२. वैश्वरूप्यं नानारूपत्वम्। ३७४३. स हि गुणान्तराधानमित्यादिपर्यनुयोगस्य। यतोत्रापि स सर्वोपि पर्यनुयोगः संघटते। ३७४४. संवेदनस्य। ३७४५. एवमनभ्युपगमेपि यदि विरोधो जैनैर्दीयते तर्हि केन वार्यते परं त्वस्माकं मते ज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारौ नेष्टौ स्तः। ३७४६. प्रत्यक्षज्ञानस्य।

३७४७. पृथग्भावम्। ३७४८. विशेषणम्। ३७४९. (परोक्षतां बिभ्राणस्यैव ज्ञानस्य (परोक्षस्य) ग्राह्यग्राहकाकाररूपेण भेदः सामर्थ्यप्राप्तोस्ति, न प्रत्यक्षस्य) ३७५०. निर्विकल्पकस्य। ३७५१. पृथक्त्या। ३७५२. संविदद्वैतमेकेन स्वभावेनानेकेन वा ग्राह्यग्राहकाकारं स्वीकरोतीति। ३७५३. (इतो जैनः प्राह, ग्राह्यग्राहकाकारतयापि प्रत्यक्षत्वे)। ३७५४. निर्विशेषत्वेन यथा ब्रह्माद्वैतं न प्रतिभासते। ३७५५. ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततया संवेदनस्य प्रत्यक्षता न संभवति यतः। ३७५६. ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि प्रत्यक्षमेवाकारं बिभृयाद्याद। ३७५७. एवं प्रत्यक्षपरोक्षाकारौ बिभ्राणं सदनेकं ज्ञानं सामर्थ्यप्राप्तमपि यदि नेष्यते तदा शून्यतावादप्रसङ्गः। स च संविन्मात्राभ्युपगमेन विरुध्यते। ३७५८. संवेदनस्यासत्त्वं शून्यं, संवेदनस्यानुभवः संवित्। तयोः परस्परं विरोधात्। (संविद्रूपं मन्यते सौगतैः शून्यवादश्चोपपाद्यते इति परस्परविरोधः)। ३७५९. संवेदनमेव नास्ति कथं संवेदनानुभव इति विरोधः। ३७६०. (परस्परविरोधमेव दर्शयति)। ३७६१. अभ्युपगच्छतः। उपवर्णयतः इति पाठान्तरम्। ३७६२. (संवेदनमात्रम्) ३७६३. स्वाभिमतं संविन्मात्रमुपयतस्तु तत्संविन्मात्रं संविदुपपद्यते सिध्यति। परन्तु तत्संविन्मात्रमपि यदि न स्वीकुर्यात् किन्तु असदित्युपवर्णयेत्तदा तस्य संविन्न सिध्येत्, यतः परस्परं संविदसतोर्विप्रतिषेधः। तत एव च स्वेष्टासिद्धिर्बौद्धस्य। ३७६४. असदित्युपवर्णनं बलादायातं यतो ग्राह्यग्राहकाकारं नास्ति। ३७६५. ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि प्रत्यक्षस्य संवेदनमात्रस्यानुभवःस्वेष्टः (तस्यासिद्धिर्यतो विप्रतिषेधः परस्परम्) ३७६६. सर्वथा शून्यवादे संविदद्वैते वा प्रत्यक्षपरोक्षाकारो वैश्वरूप्यसद्भावश्च प्रकृतपर्यनुयोगस्यानिवृत्तिहेतुः समर्थितो यतः। ३७६७. आवृणोति। ३७६८. अन्यथा। ३७६९. सौगतानाम्। ३७७०. क्षणभङ्गस्वभावभङ्गानुषङ्गादित्यर्थः। ३७७१. ततश्च नित्यत्वं स्यात्। ३७७२. कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणस्य कार्यकृतौ। ३७७३. अनुष्ठानमित्यादिभाष्योक्ताऽऽदिशब्दगृहीतस्य परस्परनिरपेक्षसदसदाद्येकान्तवादिनोपि कुशलाद्यसंभूतिं प्रकटयति। ३७७४. उभयैकान्तं यौगमते। ३७७५. यथाऽद्वैतादिवादिषु कुशलाद्यसंभवः।

३७७६. प्रश्नोनुयोगः पृच्छा चेत्यमरः। ३७७७. प्रागभावः, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभावोत्यन्ताभावश्चेति चत्वारोऽभावाः। ३७७८. सर्वेषां पदार्थानां सर्वात्मकत्वमनादित्वमनन्तत्वमस्वरूपत्वं (अस्वभावत्वं) चेति चत्वारो दोषाः क्रमेण प्रत्येकाभावापह्नवे। ३७७९. तावकीनभिन्नमतावकम्। परमतमित्यर्थः। ३७८०. मूलप्रकृतिः प्रधानम्। ३७८१. अकार्यम्। ३७८२. महानहङ्कारश्च पञ्चतन्मात्राणि (गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः) चेति सप्त। ३७८३. कारणकार्यरूपाः। ३७८४. पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि मनश्चेति षोडशको विकारः कार्यरूप एव। ३७८५. आदिपदेन अनादित्वानन्तत्वास्वभावकत्वानि दूषणानि ग्राह्याणि। ३७८६. महदादि घटादि च कार्यं व्यक्तम्। प्रधानमव्यक्तम्। ३७८७. प्रधानाश्रितम्। ३७८८. प्रकृत्यनुमापकम्। ३७८९. प्रधानाधीनम्। ३७९०. एवंभूतं व्यक्तम्। ३७९१. प्रधानम्। ३७९२. सर्वस्य सर्वात्मकत्वात्। ३७९३. सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्तम्। ३७९४. भेदरहितम्। ३७९५. आत्मनो भोग्यरूपम्। ३७९६. प्रसूते इति प्रसूतिर्वा प्रसवः। प्रधानं कारणं

प्रसवधर्मीति महदादिकार्योत्पादकम्। व्यक्तं प्रसवधर्मीति कार्यरूपम्। अथवा कारणरूपं कथम्? महतोहङ्कारस्ततः पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्युत्पद्यन्ते इति कारणत्वं तस्य। ३७९७. व्यक्तप्रधानाभ्यां विपरीतः। ३७९८. व्यक्ताव्यक्तयोरेवंलक्षणत्वे सति। ३७९९. व्यक्ताव्यक्तपुरुषाणाम्। ३८००. **आसर्गप्रलयस्थायिनी बुद्धिर्महान्।** ३८०१. पञ्चतन्मात्रेभ्यः। ३८०२. विरुध्यते। ३८०३. वस्तुस्वरूपनियामकानां चतुर्णामभावानामभावात्। ३८०४. अभावापह्नववादिनां मतम्। ३८०५. (अतावकं मतं दूषणास्पदमित्यस्य हेतुरयम्)। ३८०६. सर्वस्य तत्त्वस्य व्यक्ताव्यक्तोभय-सदसदुभय-द्रव्यपर्यायोभय-भावाभावोभयादिरूपत्वे तयोर्विशेषस्यान्यतरस्य निराकरणात्। किन्त्वेकरूपत्वे यथा दधि स्वरूपेण सत्तथा पररूपेणापि सत्। (तथा च दधि खाद इति चोदितः प्रेरितः पुमान् उष्ट्रं प्रति भक्षितुं किं न धावति—दध्युष्ट्रयोरेकरूपत्वादिति भावः)। ३८०७. अभावस्यापि वस्तुधर्मत्वेन स्याद्वादिभिः स्वीकारात्। ३८०८. व्यक्ताव्यक्तस्वभावस्य। ३८०९. महदहङ्कारकारणस्वभावस्य। ३८१०. (स्वस्य महाभूतस्यान्तर्भावः स्वान्तर्भावः। तस्याश्रयः) यत्र महाभूतानि लीयन्ते स महाभूतकारणद्रव्यमित्यर्थः। (स स्वरूपं यस्य स तस्य प्रध्वंसाभावस्य)। ३८११. तथा सति। ३८१२. जैनाः। ३८१३. अन्यथा अभावस्य निस्स्वभावत्वप्रसङ्गात्। ३८१४. नास्तीति प्रतीत्यभिधानयोर्जनकस्येत्यर्थो वा। ३८१५. अभावादिपदार्थस्य। ३८१६. धर्मः। ३८१७. (पर्यायो विवर्तः)। ३८१८. सांख्यः। ३८१९. प्रधानव्यतिरेकेण। ३८२०. महदादीनाम्। ३८२१. सिद्धस्यैव सर्वात्मकत्वादिदोषस्य साधनम्। ३८२२. जैनः। ३८२३. सांख्यस्य ब्रह्माद्वैतवादप्रसङ्गात्। ३८२४. सताद्वैतमेवास्त्विति ब्रह्माद्वैतवादी प्रत्यवतिष्ठते। ३८२५. चेतनादितरे येऽचेतनाविशेषास्तेषाम्। ३८२६. (जैनः प्राह) कुतः प्रमाणात्। ३८२७. ब्रह्माद्वैती। ३८२८. आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते। ३८२९. किन्तु विधायकत्वनियमात्। ३८३०. प्रत्यक्षमूलत्वादनुमानागमयोः।

३८३१. ब्रह्माद्वैती। ३८३२. तत्साधनं विशेषसाधनम्। ३८३३. (तत्साधनव्यभिचारमेव दर्शयति ब्रह्माद्वैती। तत्र कारणभेदस्तत्साधनं विरुद्धधर्माध्यासो वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति)। ३८३४. सौगतेन। ३८३५. भेदसाधनम्। ३८३६. ब्रह्माद्वैते एकमखण्डं ज्ञानं सौगतमते तु ज्ञानभेदोस्तीत्यनयोर्भेदं मनसि निधाय ब्रह्माद्वैती ब्रूते ज्ञानप्रतिभासेत्यादि। चेतनेतरभेदविज्ञानाकारः संविन्निर्भासः। ३८३७. भावो, वस्तु। ३८३८. संविन्नभसि भेदः। इति चित्राद्वैतवादिनं प्रत्यवादीद् ब्रह्मवादी। ३८३९. इति चित्राद्वैतवादिनं प्रत्यवादीद् ब्रह्मवादी। ३८४०. चित्राद्वैतवादी प्राह। ३८४१. ज्ञानस्वरूपस्य। ३८४२. एकः। ३८४३. मिथ्यादर्शनैः पुरुषैः। ३८४४. इतो ब्रह्मवादी। ३८४५. चित्रज्ञानस्वरूपादन्यत्र ब्रह्माद्वैते। ३८४६. दिव्यपानम्। ३८४७. सौगतेन। ३८४८. अविद्यारूपकारणात्। ३८४९. रेखाभिः। ३८५०. उत्पादादिरहितम्। ३८५१. घटपटादिभेदस्वरूपरहितम्। ३८५२. संविन्निर्भासभेदादिति। ३८५३. ब्रह्म। ३८५४. प्रतिभासभेदवशादेकं चित्रज्ञानं ग्राह्यादिव्यपदेशभाग् यथा तथा ब्रह्म नाना व्यपदेशभाक्। ३८५५. आह सौगतः। ३८५६. ब्रह्मवादिनः। ३८५७. सौगतस्य। ३८५८. अपि तु नैव सिद्धः। ३८५९. सौगतब्रह्मवादिनोरुभयोरेव संवृत्या भेदस्याङ्गीकाराविशेषात्। ३८६०. ब्रह्मवादी यौगाशङ्कां निराकुर्वन्नाह योपीति (यौगः)। ३८६१. विकल्पो ज्ञानम्। ३८६२. असिद्धः। ३८६३. यथा वर्णादिज्ञानम् ३८६४. यौगः प्राह। ३८६५. ब्रह्मवादी प्राह, इति यौगस्य कथनमशक्यव्यवस्थमिति। ३८६६. इतरेतराभावस्य। ३८६७. शुद्धभूतलत्वं भावो, घटनास्तित्वमभावः, तयोः। ३८६८. भावाभावयोरभेदेपीतरेतराभावप्रत्यय उत्पद्यते। तेन व्यभिचारः। ३८६९. भावाभावयोरभेदं साधयति ब्रह्मवादी। ३८७०. आह यौगः। ३८७१. सन्मात्रविषयत्वात् प्रत्यक्षस्येति हेत्वन्तरम्। ३८७२. अभावस्य। ३८७३. इन्द्रियैः संयुक्ते भूतले, भूतले घटाभावोस्तीति विशेषणसंबन्धसद्भावात्। ३८७४. ब्रह्माद्वैती ब्रूते, अभावदृष्टौ प्रत्यक्षेणाङ्गीक्रियमाणायाम्।

३८७५. आह यौगः। ३८७६. देशे। ३८७७. तस्मात् घटादिभूतलादेः। ३८७८. प्रत्यक्षमात्रस्येत्यर्थः। ३९७९. यौगः प्राह, पदार्थप्रत्यक्षं द्विधा। अभावप्रत्यक्षमपि द्विधा। ३८८०. भावप्रत्यक्षम्। ३८८१. सुखादिसाधनं वस्तु दृष्ट्वा पूर्वानुभूतसुखसाधनत्वं स्मृत्वा इदं वनितादिकं सुखसाधनमिति प्रत्ययः प्रत्यक्षज्ञानं यथा भवति। ३८८२.

भूतलादौ। ३८८३. ब्रह्माद्वैती। ३८८४. इदं भवति इदं न भवतीति। ३८८५. अनवस्थामेव दर्शयति। ३८८६. यौगमतापेक्षया पूर्वानुभवः प्रत्यक्षरूपोस्ति यतः। ३८८७. अन्त्यस्य। ३८८८. घटाद्यभावग्राहकस्य। ३८८९. यौगः। ३८९०. अभावे। ३८९१. इति चेन्नेत्यध्याहार्यमत्र। ३८९२. तत् तस्मिन्नपूवार्थे। ३८९३. न तु प्रत्यक्षजनकत्वसिद्धिस्ततः। ३८९४. पूर्वव्यक्त्यनुभवसमये तद्गतं सादृश्यमप्यनुभूयते एव। तत एव पूर्वार्थत्वमिति भावः। ३८९५. घटरहिते भूतले। ३८९६. विजातीयेर्थान्तरे। ३८९७. (घटाभावप्रत्यक्षम्) ३८९८. यौगात्। ३८९९. प्रत्यक्षस्य स्मृतिसापेक्षत्वेऽपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वं विरुद्धं यतः। ३९००. मास्तु प्रत्यक्षादभावप्रतिपत्तिः। अनुमानात्तु संभवतीत्युक्ते आह। ३९०१. निःस्वभावस्याभावस्य। ३९०२. स्वभावलिङ्गस्य कार्यरूपलिङ्गस्य च। ३९०३. लिङ्गरूपम्। ३९०४. भावस्वभावत्वप्रसङ्गात् ३९०५. अभावप्रमितिर्लिङ्गजा। ३९०६. अभावज्ञानेनुपलब्धिर्हेतुः। ३९०७. अभावस्य। ३९०८. तुच्छाभावो नास्तीति।

३९०९. भावत्वे सत्यनुपलब्धेरिति हेतोः। ३९१०. भूतललक्षणादेः। ३९११. अभावप्रमितिजनकस्याभावप्रमाणस्य लक्षणं सामान्यतो विशेषतश्च, प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते। सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि। इति यदुक्तं भट्टेन तत्सर्वं क्रमेण दूषयन्नाह द्वैती। ३९१२. अभावविरोधी भावो यतः। ३९१३. अस्त्यत्र घटाभावः शुद्धभूतलोपलम्भादिति। नास्त्यत्र शीतस्पर्शः, अग्नेरिति च। ३९१४. निःस्वभावत्वे। ३९१५. अभावे। ३९१६. पुरुषस्य। ३९१७. अभावस्य। ३९१८. द्वौ नञौ तु समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ। पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्। यथा अब्राह्मणमानयेत्यस्य ब्राह्मणसदृशमानयेत्यर्थः पर्युदासे। प्रसज्ये तु सर्वथा निषेध एव भवति। ३९१९. आत्मनोऽपरिणामः केन प्रमाणेन गृह्यते? न केनापि। लोके परिणाम एव दृश्यते, यथा मृत्पिण्डस्याभावो घटोत्पादः, तथा परिणमनस्वभावत्वात्। ३९२०. यथा घटादन्यद् तद्भूतलम्। ३९२१. घटनिवृत्तिः। ३९२२. भूतललक्षणान्यवस्तुविज्ञानात्। ३९२३. जैनादिः। ३९२४. बुद्ध्यादयश्च ताः कार्यरूपास्तेषाम्। ३९२५. बुद्ध्यादिकार्यनानात्ममन्तरेणापि वस्तुनानात्वसिद्धौ लोके एकमेव किञ्चित्र स्यात्। ३९२६. समर्थनम् ३९२७. एकत्वे। ३९२८. नानाकार्यता। ३९२९. युगपदेकार्ये नर्तक्यादावुपनिबद्धदृष्टीनां पुरुषाणां सम्बन्धी विषयक्षण (बौद्धं प्रति) एक एव नानाकार्यकारी यथा। ३९३०. नर्तक्यादिक्षणस्य। ३९३१. ननु नर्तक्यादिक्षणस्य स्वभावाभेदोऽसिद्धः शक्तिनानात्वस्य सद्भावात्। अतः कार्यनानात्वसाधनं कथं व्यभिचारीत्युक्ते आह सत्ताद्वैती। ३९३२. नर्तक्यादावेकार्थे। तथा 'नानात्वं' मुद्रितप्रतौ पाठः। ३९३३. प्रसवः कार्यम्। ३९३४. (प्रसवविशेषः)। ३९३५. व्यभिचारित्वे प्रसवविशेषस्य कुतस्तस्य शक्तिनानात्वस्य गतिः सिद्धा? ३९३६. जैनः (नर्तकीक्षणस्य)। ३९३७. नर्तक्यादिक्षणेन। ३९३८. सत्ताद्वैती। ३९३९. नर्तक्यादिक्षणस्य नानाशक्तयः सन्ति। तासां मध्ये एकशक्तौ। ३९४०. एकशक्तावागतनानाशक्तिषु मध्ये विवक्षितैकशक्तौ ताः शक्तयः। तासु प्रत्येकमपीत्यर्थः। ३९४१. (अनवस्थाप्रकारेण)। ३९४२. प्रसवविशेषः। ३९४३. वस्तुनानात्वाभावे देशकालावस्थाभेदाः कथं घटन्ते इत्याशङ्कायामाह। ३९४४. विद्यमानान् पदार्थान्। ३९४५. अविद्या। ३९४६. (बसः) ३९४७. विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव चेति पञ्च स्कन्धा बौद्धाभिमताः। ३९४८. (बौद्धाभिमताः)। ३९४९. यौगाद्यभिमता अक्षणिका नित्या एकसंततयश्च (तेपि मिथ्यैवेत्यर्थः)। ३९५०. सौगतोक्तानाम्। ३९५१. नैयायिकोक्तानाम्। ३९५२. यथा निरूपाख्याभावानां (नैयायिकाद्यभिमतानां) विशेषसाधनव्यभिचारः। ३९५३. तदुभयं नैयायिकाभिमतम्। ३९५४. तदनुभयं शून्यवाद्यभिमतम्। ३९५५. ते च ते विशेषाश्च तेषां साधनेपि। ३९५६. सत्ताद्वैतवादीत्यतः प्रभृत्याह जैनः। सोऽपि सत्ताद्वैतवादी।

३९५७. (सत्ताद्वैतवाद्युक्तं परमतनिराकरणं स्वयमपि स्वीकृत्य जैनोधुना सत्ताद्वैतमतं दूषयति)। प्रतिभासश्च तत्कार्यादि च तयोरभेदे। ३९५८. ब्रह्मणः। ३९५९. साधितम्। ३९६०. सत्ताद्वैतवादिमते। ३९६१. ब्रह्मवादी। ३९६२. घटादयोऽभिन्नाः प्रतिभासकार्यत्वात्। ३९६३. कारणभेदाभावादित्यादिहेतोर्वा। ३९६४. सिद्धे सति। ३९६५. अपि तु न स्यात्। ३९६६. सत्ताद्वैते। ३९६७. धर्मिभ्यः। ३९६८. पक्षः। ३९६९. पक्षविरुद्धः। विरुद्धधर्माध्यासाद्धेतोः। ३९७०. उक्तलक्षणात्पक्षात्। ३९७१. अद्वैतवादिमते सपक्षोपि पक्षादन्यो न

सिद्ध्येदित्यर्थः। ३९७२. भिन्नत्वसाधकः। ३९७३. भिन्नत्वसिद्धौ। ३९७४. पक्षसपक्षविपक्षाभावकथनेन। ३९७५. प्रतिभासो ब्रह्म। तत्समानमेकधिकरणं येषां ते तेषां भावस्तया। ३९७६. वेदात्। ३९७७. ब्रह्मणः। ३९७८. पक्षसपक्षविपक्षा अनुमानप्रमाणे कारणम्। आम्नायः आगमकारणम्। इन्द्रियादि तु प्रत्यक्षे कारणम्। ३९७९. तद् ब्रह्म। कृतं साधितम्। अथवा तैः प्रमाणैः कृतं साधितं तत्कृतम्। ३९८०. संवित्स्वयमेव प्रकाशते इति मतम्। ३९८१. (व्यवतिष्ठेतेत्यादिः पूर्वोक्त एवातिप्रसङ्गः) ३९८२. (प्रमाणाभावस्योभयत्र समानत्वात्)। ३९८३. पर्यायो भेदः। ३९८४. स्वमतोक्तदोषपरिजिहीर्षया सांख्यैः सत्ताद्वैतेऽङ्गीकृते तस्याप्यशक्यव्यवस्थत्वमापादितं यतः। ३९८५. (सांख्यैः। न सत्ताद्वैतम्) ३९८६. भावैकान्ते।

३९८७. विद्यानन्दिसूरिवर्याभिप्रायेण चार्वाकं प्रति भट्टाकलङ्कदेवाभिप्रायेण तु सांख्यं मीमांसकं च प्रति। ३९८८. निह्नवे। ३९८९. इतश्चार्वाकः प्रत्यवतिष्ठते। ३९९०. प्राक्परिणाम इत्युक्तेत्यन्तव्यवहितपूर्वपरिणामस्यापि प्रागभावत्वं स्यादित्यनन्तरेत्युक्तम्। ३९९१. जैनाः। ३९९२. जैनानाम्। ३९९३. तस्मात् प्रागनन्तरपरिणामात्पूर्वा अनादिपरिणामास्तेषां सन्ततिस्तस्याम्। ३९९४. प्रागनन्तरपरिणामलक्षणस्य प्रागभावस्य तत्राभावात्। प्रसङ्गादिति पाठान्तरम्। ३९९५. कार्योत्पत्तिशङ्कामनन्तरोक्तां निराकुर्वन्नाह जैनस्तत्रेत्यादि। तत्र अनादिपरिणामसन्ततौ। ३९९६. (अनादिपूर्वपरिणामसन्ततेः कार्यस्य च परस्परमितरेतराभावः स एव तदभावो विवक्षितकार्याभावस्तस्य)। ३९९७. (कार्यस्यानादित्वलक्षणः)। ३९९८. इतरेतराभावात्। ३९९९. जैनैः। ४०००. घटलक्षणस्य। ४००१. प्रागभावो मृत्पिण्डलक्षणः। ४००२. चार्वाकः। ४००३. अनन्तरेण मृत्पिण्डलक्षणेन। ४००४. पूर्वोत्तरपर्यायाणां प्रागभावाभावत्वाविशेषात्। ४००५. पृथुबुध्नोदराकाररूपः। ४००६. घ। ४००७. जैनस्य। ४००८. जैनस्य। ४००९. कार्यस्य। ४०१०. प्रागभावस्य। ४०११. कार्यम्। ४०१२. तत्पूर्वोत्तरपर्यायाणां। ४०१३. तेषां पूर्वोत्तरपर्यायाणाम्। ४०१४. इत्याकूतमिति सम्बन्धः ४०१५. पूर्वक्षणविनाश एवोत्तरक्षणस्योत्पत्तिरिति सुगतमतम्। ४०१६. जैनमतम्। ४०१७. प्रागभावस्यानादित्वस्वीकारः। ४०१८. जैनः। ४०१९. चार्वाकः। ४०२०. द्रव्यस्यानाद्यनन्तत्वात्। ४०२१. यतः प्रागभावस्य नित्यत्वमायातम्। ४०२२. घटात्। ४०२३. जैनस्य। ४०२४. तत्तस्मात् विवक्षितपर्यायेणाव्यवहितपूर्वपूर्वो यो (व्यवहितः) द्रव्यपर्यायस्तस्य निवृत्तौ।

४०२५. घटस्य प्रागभावः। ४०२६. घटस्य प्रागभावः। ४०२७. द्रव्यपर्यायौ आत्मा स्वरूपं यस्यार्थस्य सः। कथञ्चिद् द्रव्यात्मा कथञ्चित्पर्यायात्मा। ४०२८. द्रव्यापेक्षया। ४०२९. पर्यायापेक्षया। ४०३०. द्रव्यपर्यायापेक्षयानादिसादीति पक्षद्वयम्। ४०३१. विनाशरहितत्वप्रसक्तेः। ४०३२. प्रागनन्तरपर्यायरूपात्। ४०३३. अनन्तकार्यसन्ततौ। ४०३४. घटस्य। ४०३५. अभावस्य भावस्वभावत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽनेकदूषणप्रसङ्गो यतः। ४०३६. प्रागभावो न भावस्वभावो भावविलक्षणत्वात्। व्यतिरेके बुद्ध्यादिवत्। ४०३७. अभावस्य। ४०३८. नैयायिकाः ४०३९. भावविलक्षणस्याभावस्य ग्राहकप्रमाणं दर्शयति यौगः। ४०४०. चार्वाकः। ४०४१. प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिरिति प्रत्ययस्य प्रध्वंसाभावाभावरूपतया सद्विषयत्वे सत्प्रत्ययविलक्षणत्वादित्ययं हेतुरत्र वर्तते यतः। ४०४२. सत्प्रत्ययविलक्षणत्वेपि प्रागभावादावसद्विषयत्वं नास्ति यतः। ४०४३. प्रागभावादौ नास्ति अभावग्राहकत्वात्। ४०४४. पञ्चमस्याभावस्याभावचतुष्टयाद्व्यावृत्ताऽभावान्तरपरिकल्पनानुषङ्गात्। प्रध्वंसादिरिति प्रत्ययस्याभावविषयत्वे सोप्यभावः प्रकृते (प्रागभावे) नास्तीति प्रत्ययेनासद्विषयेण व्यावर्तयितव्य इत्यनवस्था। ४०४५. यौगस्य। ४०४६. इति प्रत्ययः। ४०४७. प्रागभावादौ प्रध्वंसाभावादिरुपचरितः। ४०४८. चतुर्णाम्। ४०४९. अन्यथा। ४०५०. घटादावभावेषु वा। ४०५१. मुख्योऽभावोऽत्रेतरेतराभावः। ४०५२. तथा सति घटपटादीनामैक्यं स्यात्। ४०५३. यौगेन। ४०५४. घटस्य प्रागभाव इत्येवंप्रकारेण। ४०५५. पक्षाव्यापकत्वं दर्शयति। ४०५६. घटस्य रूपमित्येवम्। ४०५७. गुणादेः। ४०५८. घटादिविशेष्योच्चारणरहितत्वेन। ४०५९. अभावस्तत्त्वम्। कस्य ? द्रव्यस्येति सामर्थ्यात्। ४०६०. चार्वाकः।

४०६१. गुणादिविशेष्यस्य। कस्य गुणादिरिति प्रश्ने द्रव्यस्येति सामर्थ्याद्गम्यत्वात्। ४०६२. दूषणान्तरम्।

४०६३. पश्चादिव। ४०६४. घटविरोधिनः। ४०६५. (प्रागभावात्पूर्वं प्रागभावाभावोस्ति, प्रागभावस्य सादित्वात्)। ४०६६ प्रागभावस्य उत्पत्त्यनन्तरमविनाशित्वात्। ४०६७. घटस्य। ४०६८. यौगः। ४०६९. चार्वाकः। ४०७०. अनाश्रिताः। ४०७१. तव मते सर्वदा भावविशेषणानामेवाभावत्वस्वीकारात्। ४०७२. (स्वयमात्मलाभं प्राप्त एव पदार्थः कस्यचिदाश्रयत्वादिधर्मविशिष्टः स्यात्, सति कुड्ये चित्रमिति न्यायात्)। ४०७३. (स्वयमसतोपि तदाश्रयत्वं चेत्)। ४०७४. नन्वेवमिष्टापादनमेवेत्युक्ते आह। ४०७५. समुच्चयेत्र वाशब्दः। ४०७६. खरविषाणादेरपि प्रागभावप्रध्वंसाभावाश्रयत्वानुषङ्गात्, उत्पन्नप्रध्वस्तयोरसत्त्वेन खरविषाणरूपस्याभावस्य समानत्वात्। किञ्चैवमनुत्पन्नः प्रध्वस्तो वा स्तम्भः प्रासादादेराश्रयः स्यात्। ४०७७. चार्वाक आह—हे यौग। ४०७८. (तथा चेत्यर्थः) ४०७९. (प्रागभावादेरेकत्वेपि विशेषणभेदाद्भेदोपचारप्रकारेण) ४०८०. सर्वथा भिन्नस्वभावः अत्यन्तनानास्वभावो भावो गन्धात्मादिः। ४०८१. प्राग्नासीद्घटः प्रध्वस्तो वेत्यादेः। ४०८२. विशेषणभेदप्रकारेण। ४०८३. 'सत्तायाम्' मुद्रितप्रतौ पाठः।

४०८४. (यौगमते द्रव्यादित्रिकवृत्तित्वादेव सत्तायाः सामान्यादिषु नोक्तम्) ४०८५. प्रागासीदित्यादयः। ४०८६. प्रत्ययविशेषस्य विशेषणनिमित्तकत्वात्। ४०८७. अभावप्रत्ययविशेषस्य विशेषणभेदहेतुकत्वात्। ४०८८. घटाभावादिशब्द एव श्रूयते न त्वभावः पृथग्भावेन प्रतीयते। ४०८९. गतानामनुगतिर्यस्य सः, तस्य भावस्तत्ता, तया। ४०९०. विकल्पो ज्ञानम्। ४०९१. आदिपदेन गुणकर्मादयः। ४०९२. (वैशेषिकमते)। ४०९३. नैयायिकापेक्षया। ४०९४. सांख्यापेक्षया। ४०९५. बौद्धमतापेक्षया। ४०९६. (क्रमेण नैयायिकसांख्यबौद्धाभिमत प्रमाणादि-प्रकृत्यादि-रूपस्कन्धादि निर्दशनं ज्ञेयम्) ४०९७. प्रध्वंसस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। ४०९८. इतो जैन आह—इतीत्यादि। ४०९९. कार्यद्रव्यमनादि स्यादित्यादिकारिकया। ४१००. अन्यः सत्ताद्वैतवादी। ४१०१. लोकव्यवहारमयतेऽभ्युपगच्छतीति लौकायतिकः ४१०२. शङ्कते चार्वाकः। (लौकायतिकः) ४१०३. प्रत्यक्षतो न प्रतिभासते इत्येवम्। ४१०४. अभावो न भावरूपस्तस्य भावविशेषणत्वादिति भावविशेषरूपस्य। ४१०५. स्याद्वादिभिः। ४१०६. प्रागन्तरपरिणामादिरूपेण चतुर्धा विकल्पे यदुक्तं दूषणं चार्वाकेण तत्सर्वं तद्विकल्पाभ्युपगमपुरस्सरं परिहरन्नाह जैनः। ४१०७. अर्पणा विवक्षा। ४१०८. घटस्य। ४१०९. मृत्पिण्डरूपः। ४११०. तथा सतीत्यर्थः। ४१११. मृत्पिण्डप्रध्वंसस्य। ४११२. द्वितीयपरिच्छेदे। ४११३. अथ पूर्वानादिपरिणामस्य स्वस्वपूर्वस्वरूपप्रागभावाभावरूपत्वात् कार्यरूपत्वमस्त्येव ततः कथं न तत्र कार्यसद्भाव इति चेदाह जैनः। ४११४. घटस्य प्रागभावो मृत्पिण्डः। मृत्पिण्डलक्षणप्रागभावस्य मृच्छकलम्। तस्यान्यदिन्येवम्। ४११५. विवक्षितकार्यं प्रागनन्तरपरिणामनाशस्वरूपघटलक्षणम्। ४११६. (प्रागभावतत्प्रागभावादौ)। ४११७. (विवक्षितकार्यस्य)। ४११८. प्रागभावविनाशरूपताया एव व्यावर्तकत्वात् (प्रागभावविनाशरूपतैवेतरेतराभावं व्यावर्तयति)। ४११९. इतरेतराभावपक्षोपक्षिप्तप्रागभाववैयर्थ्यलक्षणदूषणावतारः। ४१२०. प्रागनन्तरपरिणामस्य प्रागभावत्वप्रकारेण। ४१२१. द्रव्यस्य। ४१२२. एवं सति।

४१२३. एवं सति। ४१२४. पर्यायेभ्यः। ४१२५. तत्त्वमभेदः, अन्यत्वं तु भेदः। (कथञ्चिदभेदभेदपक्षयोरित्यर्थः) ४१२६. द्रव्यम्। ४१२७. अभेदे सन्तानिन एव, न सन्तानः। भेदे संबन्धासिद्धिर्द्वयोः ? ४१२८. अविवक्षितभेदानाम्। ४१२९. अनादित्वाभाव एवेष्टः। पर्यायापेक्षया सादित्वं वर्तते इति भावः। ४१३०. क्षणध्वंसिपर्यायार्थग्राहिणः। ४१३१. पूर्वं चार्वाकोक्ततृतीयविकल्पाभ्युपगमेपीत्यर्थः। ४१३२. अनन्तरपूर्वपर्यायात्पूर्वपर्यायास्ततपूर्वपर्यायाः। ४१३३. घटस्य। ४१३४ (प्रागनन्तरपर्यायेणापि सहितानामित्यर्थः)। ४१३५. पूर्वप्रागभावानां मध्ये। ४१३६. तत्, घटादि। ४१३७. व्यवहारो द्रव्यार्थिकनयः। ४१३८. प्रागुक्तद्वितीयविकल्पे। ४१३९. (किन्तु सुघटैव)। ४१४०. (मृदादिद्रव्यशब्देन)। ४१४१. (घटमपेक्ष्य)। ४१४२. (कार्यरहितस्य पूर्वकालविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य)। ४१४३. 'कार्योत्पत्तेरेव' इति प्रागुक्त एवकारोऽत्रैव ज्ञेयः। ४१४४. (सकलादेशः प्रमाणाधीन इत्युक्तत्वात्प्रमाणं हि पर्यायं द्रव्यं चापेक्षते। उभय—(पर्यायद्रव्य)-मुख्यविवक्षयेत्यर्थः) ४१४५. चतुर्थविकल्पोयम्। ४१४६. पर्यायसन्तत्यपेक्षया। ४१४७. प्रागभावस्यानादित्वेऽनन्तत्वं

स्यादाकाशवत्। ततश्च कार्यानुत्पत्तिरेवेति दूषणे उक्ते सत्याह जैनः। ४१४८. प्रागभावस्यानादित्वं सान्तत्वं च यतः। ४१४९. नयप्रमाणवशतः। ४१५०. (द्रव्यापेक्षया एकस्वभावः शक्त्यपेक्षया चानेकस्वभावः)। ४१५१. घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिरित्यादिलक्षणः पूर्वोक्तः। ४१५२. कार्याभावस्य। ४१५३. भावान्तररूपे प्रागनन्तरपर्याये। ४१५४. नयप्रमाणार्पणाद्द्रव्यपर्यायौ व्यस्तौ समस्तौ वा प्रागभावो यतः। ४१५५. चार्वाकः पृच्छति, परस्येति चार्वाकस्य। जैनस्येति सम्यक्। ४१५६. जैनाः। ४१५७. कार्यरूपा कपालमाला।

४१५८. घटस्य। ४१५९. उपादेयक्षणस्यैवोपादानप्रध्वंसरूपत्वे सति। ४१६०. तस्मादुपादेयक्षणादुत्तरक्षणास्तदुत्तरक्षणास्तेषु। ४१६१. कपालमालाखण्डेषु। ४१६२. उपादानकारणनाशे उत्तरपर्यायरूपं कार्यमुत्पद्यते, न तु कार्यनाशे कारणोत्पत्तिनियम इति भावः। ४१६३. निःस्वभावयोः नैयायिकाभिमतयोः। ४१६४. व्यवहारो द्रव्यार्थिकः। ४१६५. सादिरनन्तः। ४१६६. घटाकारविकलस्य घटोत्तरकालवर्तिनोनन्तस्य घटप्रध्वंसत्वप्रतिपादनप्रकारेण। ४१६७. मृदादिद्रव्यम्। ४१६८. घटस्य। ४१६९. घटपरिणामपरिणतादन्यन्मृदादिद्रव्यं घटाकारविकलशब्देन गृह्यते। ४१७०. (यद्घटाकाररूपं न परिणतम्) स चासौ घटश्च तद्घटः। ४१७१. स विवक्षितो घटादिः। ४१७२. वक्ष्यमाणप्रकारेण। ४१७३. घटाद्युत्पत्तौ। ४१७४. सांख्यं प्रति तत्कार्यद्रव्यमापादनीयं युत्त्या समर्थनीयमिति भावः। ४१७५. कार्यद्रव्यम्। ४१७६. चार्वाकापेक्षावत्। ४१७७ व्यापारस्ताल्वादीनाम्। ४१७८. सांख्यस्य। ४१७९. प्रकटीकरणे। ४१८०. पुरुषव्यापारात्।

४१८१. तद्भावावेदकस्य दर्शनप्रत्यक्षादेः प्रमाणस्याभावात्। ४१८२. प्रत्यभिज्ञानादेः। ४१८३. पुद्गलद्रव्यापेक्षया सत्त्वं शब्दस्य पर्यायापेक्षया चासत्त्वमिति। ४१८४. शब्दस्य। ४१८५. सर्वथा सत्त्वं चेत्। ४१८६. दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदमित्युक्तत्वात्। ४१८७. अभिव्यञ्जकव्यापारात्पूर्वं शब्दसद्भावावेदकप्रमाणाभावेन। ४१८८. सर्वथा विद्यमानस्य प्रमाणग्राह्यत्वाभावात्। ४१८९. शब्दो नित्यः, अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेरित्यर्थापत्तिविषयत्वेन। ४१९०. किन्तु सत्त्वं तु नित्यमेव तस्येति कल्पना युक्ता)। ४१९१. (किन्तु सत्त्वं तु व्यापारात्पूर्वमपीत्यर्थः)। ४१९२. अभिव्यक्तेः। ४१९३. अन्यथा सर्वदा शब्दश्रवणप्रसङ्गः, श्रावणत्वरूपाया अभिव्यक्तेर्नित्यत्वात्। ४१९४. तथा च सति को दोष इति दर्शयति। ४१९५. अभिव्यक्त्यात्मकः शब्दो मीमांसकमते धर्मधर्मिणोरभेदात्। ४१९६. शब्दः। ४१९७. अभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनः शब्द एवेति प्रकारेण। ४१९८. पौरुषेयत्वात्। ४१९९. (पौरुषेयतया अनित्यत्वेन)। ४२००. श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूपा। ४२०१. तर्हीति शेषः। ४२०२. श्रवणज्ञानोत्पत्तिः शब्दे प्राक् सती असती वेति क्रमेण दूषयति जैनः। ४२०३. (पूर्वमश्रावणत्वे पश्चाच्छ्रावणत्वे च श्रावणत्वधर्मस्योत्पादः, अश्रावणत्वस्य तु नाश इत्यनित्यत्वम्)। ४२०४. (तर्हीत्यध्याह्रियते) ४२०५. (श्रावणज्ञानोत्पत्तिरूपया)। ४२०६. मीमांसकस्य। ४२०७. श्रवणज्ञानोत्पत्तेः। ४२०८. शब्दं शृणोमीत्यादौ शब्दः कर्मतापन्नः। ४२०९. श्रोतृजनाश्रितत्वात्। ४२१०. आत्मवत् तस्याः कर्तृस्थक्रियायाः।

४२११. समानं चर्चं विवृणोति। ४२१२. यदि। ४२१३. योग्यतायाः शब्दश्रोत्रधर्मत्वनिराकरणेन। ४२१४. योग्यतायाः। ४२१५. यदि। ४२१६. इत्यभिव्यक्तिद्वयमस्ति। ४२१७. (श्रवणज्ञानोत्पत्तिपक्षे तद्योग्यतापक्षे च)। ४२१८. शब्दाद्भेदाभेदप्रकारेण। ४२१९. द्विधाभिव्यक्तेः। ४२२०. प्रागभावयोगे। ४२२१. शब्दश्रोत्रप्रमातॄणां नित्यानां धर्मोभिव्यक्तिः। सा नित्यानित्यत्वात्प्रागभावायोगात्। तस्याः प्रागभावयोगे शब्दश्रोत्रप्रमातॄणामपि प्रागसतां प्रयत्नेन करणप्रसङ्गात्। ४२२२. शब्दश्रोत्रप्रमातॄणां प्रागसत्त्वेपि अभिव्यक्तिरेव यत्नेन क्रियते, न तु त्रितयमिति चेत्तर्हि। ४२२३. शब्दस्य। ४२२४. स चासावावरणविगमश्च। ४२२५. ताल्वादिव्यञ्जकव्यापारात्प्राक्। ४२२६. अभूदेव। ४२२७. आवरणविगमस्य। ४२२८. कर्म (शब्द)-करण (श्रोत्र)-प्रमातॄणां (पुरुषाणां) प्रागभावाभावाद् भूतिसिद्धौ किं पुरुषयत्नेन। ४२२९. श्रूयमाणत्वरूपस्य। ४२३०. किमभूत्? भूतो वेत्यादि। ४२३१. भाष्ये स्थानद्वयस्थितं (प्राक्किमभूदित्यत्रं तादृगेवेत्यत्र च) मूलं भावयति। ४२३२. न केवलं सांख्यैरेव। ४२३३. शब्दस्य। "अभिव्यक्तिवत्" इति पाठो नास्ति खपुस्तके। ४२३४. शब्दाभिव्यक्तिप्रकारेण। ४२३५.

सांख्यानाम्। ४२३६. घटादिर्यत: प्रागपि सन्। ४२३७. वक्ष्यमाणेऽर्थे। ४२३८. भेदकारणम्। ४२३९. शब्दस्य। ४२४०. न घटस्य व्यञ्जका:, किन्तु कारका एवेति। ४२४१. चक्रादय:। ४२४२. किन्तु व्यञ्जका एवेति। ४२४३. न प्रकाशयति। किन्तु कारणं भवति। ४२४४. शब्द:। ४२४५. व्यङ्ग्यत्वाभावलक्षण:। ४२४६. वर्णानां सर्वगतत्वस्य। ४२४७. घटादौ। ४२४८. सतो घटस्य।

४२४९. सांख्यमतमाश्रित्य मीमांसकोक्तिरियम्। ४२५०. न केवलं कारणकार्येष्वेव। ४२५१. चोद्य: प्रश्न:। ४२५२. भ्रमणादीनाम्। ४२५३. अनिष्टापत्त्या कारणव्यापारकारणनिराकरणेन। ४२५४. भ्रमणादीनामुत्पादने। ४२५५. उत्पादनपक्षे एव। ४२५६. अभिव्यक्तिपक्षे नानवस्थेत्यर्थ:। ४२५७. तस्य कारणस्य। ४२५८. व्यापाराभिव्यक्तिसिद्धे:। ४२५९. कारणेभ्यो भेदैकान्ते। ४२६०. व्यापारवत: कारणस्य। ४२६१. व्यापारमात्रेण। ४२६२. कारणानाम्। ४२६३. स्थिति:। ४२६४. कारणात्। भिन्नेभ्य इत्यनेनान्वय:। ४२६५. व्यापारवत: कारणस्य। ४२६६. अभिव्यक्तिवांश्चासौ प्रसङ्गश्चेति तथोक्त:। ४२६७. सांख्योऽतिप्रसङ्गं निराकुर्वन्निवार्यते जैनेन। ४२६८. व्यापाराभिन्नानि कारणानि। ४२६९. एतेन कारणव्यापारनिराकरणेन। ४२७०. तर्ह्यनवस्था स्यादित्यर्थ:। ४२७१. कारणव्यापाराणां भेदैकान्ते। ४२७२. व्यापारेभ्य एवम्। ४२७३. अभिव्यक्तिवान् प्रसङ्ग इत्यर्थ:। ४२७४. बहुधानकस्य (प्रधानस्य) परिणामा: पर्याया:। ४२७५. प्रधानादभिन्नानाम्। ४२७६. (सर्वदा सत्त्वात्)। ४२७७. वक्ष्यमाणप्रकारेण। ४२७८. प्रधानस्य। ४२७९. ते परिणामा: कार्यं यस्य प्रधानस्य तत्। ४२८०. प्राक्तनं विकल्पजालम्। ४२८१. अनवस्थां विवृणोति। ४२८२. प्रधानस्य। ४२८३. प्रधानकृता:। ४२८४. उपकारवत: प्रधानस्य। ४२८५. परिणामकृतै:। ४२८६. परस्परमुपकारेपीत्यर्थ:। ४२८७. यावत्प्रकारा: परिणामास्तावत्प्रकारान्। ४२८८. अनवस्थाया:। ४२८९. भोग्यस्य प्रकृते:। ४२९०. पुरुषाभाव:।

४२९१. पुरुषस्य। ४२९२. भोक्तृत्वलक्षणत्वात्। ४२९३. पृथिव्यादिवत्। ४२९४. द्रव्यस्यापाद्यते इति तथेत्यादि पाठान्तरम्। ४२९५. घटस्य। ४२९६. व्यञ्जकं, चक्रदण्डादि। ४२९७. (आविर्भाव:)। ४२९८. चक्रादिभि:। ४२९९. आविर्भावादभिन्न:। ४३००. आविर्भावस्य। ४३०१. तद्रूपमुपलम्भरूपम्। ४३०२. आविर्भावस्य। ४३०३. सांख्यै:। ४३०४. न तु व्यङ्ग्यम्। ४३०५. कार्यमेव, न तु व्यङ्ग्यम्। ४३०६. नन्वात्मलाभ एव घटादेर्नास्तीत्युक्ते आह जैन:। ४३०७. शशविषाणस्योपलम्भप्रसङ्गात्। ४३०८. घटादिकम्। ४३०९. तिरोभाव:। ४३१०. द्रव्यरूपेणेव पर्यायरूपेणापि। मीमांसकमते शब्दो द्रव्यम्।

८३११. प्रागभावानभ्युपगमप्रकारेण। ४३१२. शब्दस्य। ४३१३. केन कृतम्। ४३१४. आवरणस्वरूपं (कर्तृ) श्रवणस्वरूपं खण्डयदखण्डयद्वेति विकल्प्य दूषयति जैन:। ४३१५. यथा वायो:। ४३१६. आवारकस्य। ४३१७. श्रावणत्वाश्रावणत्वरूपेण। ४३१८. सर्वथा तयोरभेदात्। ४३१९. मीमांसकस्य। ४३२०. न केवलं शब्दस्यैव वायुना। ४३२१. घटे। ४३२२. ननु तमो यदि घटादेर्दृश्यस्वभावं खण्डयति तर्हि पश्चात्कथं दीपेन दृश्यते इति शङ्कां निराचष्टे भावान्तरस्वभावत्वादभावस्येति। ४३२३. श्रावणत्वरूपेण। ४३२४. सहकारि, ताल्वादि। ४३२५. सहकारिवैकल्ये। ४३२६. स्व: शब्दो विषयो यस्या: संवित्ते:। ४३२७. समर्थपक्षे। ४३२८. कारणान्तरं ताल्वादि। ४३२९. शब्दस्य। ४३३०. अपितु न स्यादेव। ४३३१. शब्दस्य तत्सामर्थ्येन सह भेदे सति शब्दस्येदमसामर्थ्यमिति व्यपदेशो न स्यात्। ४३३२. प्रधानतत्परिणामव्यतिरेकपक्षवत्। ४३३३. प्रधानतत्परिणामाभ्याम्। ४३३४. तस्य उपकारस्य। ४३३५. नित्या: सर्वगता:। ४३३६. मीमांसकेन।

४३३७. पूर्वं गकार:, गकारानन्तरमेव चौकार इति नियमो, न तु हेलया। ४३३८. श्रोत्रेणैव शब्दो गृह्यते इति समानं कारणं श्रोत्ररूपं येषां ते, तेषाम्। ४३३९. नित्यसर्वगतानाम्। ४३४०. शब्दानाम्। ४३३१. संकीर्णा। ४३४२. संकीर्णं श्रवणमेव दर्शयति। ४३४३. एकवर्णाभिव्यक्तौ। ४३४४. शब्दानाम्। ४३४५. हे मीमांसक यथा चित्ररूपग्रहणे नीलादिवर्णान् युगपद् गृह्णाति जनस्तद्वत्। ४३४६. हेत्वन्तरमिदम्। ४३४७. वर्णत्वेनैकात्मकत्वं व्यक्ताव्यक्तरूपेणानेकात्मकत्वम्। ४३४८. खण्डशो नाभिव्यक्ति: किन्तु सर्वात्मनेत्युक्तावाह जैन:। ४३४९. सर्वदेशवर्तिन: प्रति सर्वदेशव्यापकत्वेन हेतुना, सर्वकालवर्तिनस्तु प्रति नित्यत्वहेतुनाभिव्यक्ति: स्यात्। ४३५०.

समानोपादानकारणत्वादेव। ४३५१. जैनानामुत्पत्तिपक्षेपि। ४३५२. इति मीमांसकेन दत्तं दूषणं जैना: परिहरन्ति। ४३५३. शब्दकारणकार्ययोः (बसः)। ४३५४. शब्दलक्षणपर्यायवतां पुद्गलानाम्। ४३५५. सप्तमी। ४३५६. जैनाः। ४३५७. तौ विवक्षितौ देशकालौ। ४३५८. इन्द्रियाणि सहकारीणि। ४३५९. शब्दोत्पत्तौ वक्तृविज्ञानं सहकारिकारणम्। ४३६०. ननु कारणस्य क्रम एव नास्तीति कार्यं कथमनुकुर्यादित्युक्ते प्राह जैनः। ४३६१. क्रमोत्पत्तिप्रकारेण। ४३६२. प्रमाणरूपस्य। ४३६३. तासः (षष्ठीतत्पुरुषः)। ४३६४. प्रमाणं श्रोतृविज्ञानं तत्फलं च शब्दस्य प्रमितिः। ४३६५. ननु प्रमाणस्य क्रम एव नास्ति तत्कथं तं प्रमितिरनुविधत्ते इत्याह। ४३६६. आत्मानमिति कपाठः, खपाठस्तु आत्मनामिति। ४३६७. वर्णानामुत्पत्तिप्रतिपत्त्योः सम्बन्धी क्रमः।

४३६८. अङ्गहारोङ्गविक्षेपः। ४३६९. अङ्गहारादिषु विरुद्धत्वप्रकारेण। ४३७०. प्रत्यभिज्ञानादिति ४३७१. हेतोः। ४३७२. जैनग्रन्थे। ४३७३. सैवेयं क्रिया तत्क्रिया तस्य एकत्वं नित्यता तस्मिन्। ४३७४. अनित्यम्। ४३७५. (कर्मणो नित्यत्वे दोषमापाद्य बुद्ध्येकत्वे दोषमुद्दीपयति)। ४३७६. न किञ्चिदनेकमिति प्रतिपन्नत्वे सति। ४३७७. नानात्वम्। ४३७८. पयोभृतकुण्डादिव्यञ्जकभेदाच्चन्द्रस्य नानात्वं यथा। ४३७९. वर्णैकत्वे। ४३८०. क्रियैकत्वे। ४३८१. हेतोः। ४३८२. मीमांसकस्य। ४३८३. प्रत्यक्षविरोधात्। ४३८४. तत् तस्मात्। प्रत्यभिज्ञानरूपो हेतुर्व्यभिचारी यत इत्यर्थः। ४३८५. अकारादिवर्णः। ४३८६. अश्रावणत्वस्वभावम्। ४३८७. नित्यत्वनिराकरणात्। ४३८८. एकघटेन व्यभिचारपरिहारार्थं युगपत्पदोपादानम्। ४३८९. उदात्तादिः स्वभावः। ४३९०. यथा घटो नैको, युगपद्भिन्नदेशस्वभावोपलब्धेः। ४३९१. अनेकपुरुषापेक्षया। ४३९२. गोपालघटिकादौ धूमवत्त्वस्य भ्रान्तत्वेन व्यभिचारदर्शनात् पर्वतधूमस्यापि व्यभिचारदर्शनप्रसङ्गात्। ४३९३. सर्वदा बाधकाभावश्च स्याद् भ्रान्तत्वं च स्यादिति संदिग्धतां परिहृन्नाह। ४३९४. मन्द्रा (उदात्ता) तारा (अनुदात्ता) च श्रुतिर्यस्य स तस्य, शब्दस्य। ४३९५. नित्यत्वे। ४३९६. प्रत्यभिज्ञानात्। ४३९७. एकत्वमस्तु ४३९८. सद्रूपापेक्षया। ४३९९. घटादौ।

४४००. युगपत्प्रतिनियतदेशमन्द्रतारश्रुतेरभिव्यञ्जकहेतुत्वान्न ततः शब्दस्यानेकत्वसिद्धिरित्याशङ्कायामाहुस्तच्छेषेति। तस्माद्वर्णत्वाच्छेषोऽन्यो भिन्नदेशस्वभावलक्षणः। स चासौ विशेषश्च। तद्ग्रहादिका बुद्धिः। ४४०१. समर्थनायाम्। ४४०२. शब्दवदङ्गहारादि। ४४०३. जैनाः। ४४०४. एकनित्याङ्गहारादेरपि हस्तपादादयोभिव्यञ्जका इति। ४४०५. नियमस्य। ४४०६. वर्णानामनेकत्वं सिद्धं यतः। ४४०७. शब्दरूपतया परिणमनयोग्यानाम्। ४४०८. श्रोत्रग्रहणयोग्यपर्यायः। ४४०९. प्रयत्नान्तरे भवः। ४४१० नैयायिकः। ४४११. शब्दस्य स्पर्शादिमत्त्वाभावे। ४४१२. हेतोः। ४४१३. हेतुद्वयात्। ४४१४. वचन मुद्रितप्रतौ पाठः। ४४१५. स्वविसर्पणमर्यादामुल्लङ्घ्याग्रेपि। ४४१६. पवनप्रेरितानाम्। ४४१७. गन्धद्रव्यं कस्तूरिकादि। ४४१८. शब्दपरमाणूनां शब्दस्कन्धपरिणतत्वादेव। ४४१९. (विकीर्णता)। ४४२०. शब्दपरमाणूनां स्कन्धपरिणामत्वमसिद्धमित्युक्ते आह जैनः। ४४२१. बन्धगुणत्वात्। ४४२२. भित्त्यादिना।

४४२३. "परि" शब्दः मुद्रितप्रतौ नास्ति। ४४२४. पूर्वोक्तप्रकारेण। ४४२५. (प्रत्युत्तरतया)। ४४२६. गृहे वातायनजालिकादिरहितत्वं प्रतिघातहेतुः। ४४२७. भवनादिनोपघातो यस्य। ४४२८. एकस्मिन्पुरुषे सोल्लुण्ठनं पठ्यमानेन्यस्य शनैः पठ्यमानस्य। ४४२९. अभ्यन्तरे। ४४३०. 'वेदना' मुद्रितप्रतौ। ४४३१. तस्य, निश्छिद्रभवनान्निर्गमनस्य तत्र प्रवेशस्य च। ४४३२. बहिर्निगमने स्नेहादिर्दृष्टान्तः स्पर्शादिस्तु अन्तःप्रवेशे ज्ञेयः। ४४३३. पुद्गलस्वभावो यदि बहिर्निर्गमनमन्तःप्रवेशं च न कुर्यात्तदा। ४४३४. शब्दस्य। ४४३५. विरोधात्। पौद्गलिकः शब्दः कियत्कालं तिष्ठतीति प्रश्ने प्राहेदं जैनः। ४४३६. यत्नस्ताल्वादिः। ४४३७. श्रावणवर्तमानस्वभाव इत्यर्थः। ४४३८. यावच्छ्रवणस्वभावः। ४४३९. कालकला समयः। ४४४०. ताल्वादिजनितवर्णादयः स्वरूपं यस्य। ४४४१. तस्य शब्दस्य।

४४४२. स्वाकारः शब्दाकारः। ४४४३. कौटस्थ्यस्य। ४४४४. (कौटस्थ्यस्य च क्रमयौगपद्याभावेन व्याप्तत्वात्, यतस्तत्र कौटस्थ्ये तस्य क्रमयौगपद्यस्य विरोधोस्ति, कथञ्चिदनित्यस्यैव क्रमयौगपद्येन व्याप्तत्वात्)

४४४५. क्रमयौगपद्याभावस्य। ४४४६. व्याप्तत्वात्। ४४४७. स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियाव्यावर्तनस्य। ४४४८. व्याप्तत्वात्। ४४४९. मीमांसकस्य। ४४५०. शब्दनित्यत्वनिराकरणप्रबन्धेन। ४४५१. बौद्धसांख्यादीनाम्। ४४५२. इष्टं तत्त्वम्। ४४५३. अन्यापोह इतरेतराभावः। ४४५४. निह्नवे। ४४५५. अन्यत्र समवाये इति कोर्थः ? अत्यन्ताभावनिह्नवे। अन्यत्र प्रधाने चैतन्यस्य समवायेङ्गीक्रियमाणे चेतनोयमचेतनोयमिति तदेकमिष्टं तत्त्वं सर्वथा भेदेन न व्यपदिश्येत। ४४५६. स्वस्य चैतन्यस्य समवायोस्तीति समवाय्यात्मा। तस्मात्। ४४५७. प्रधानादौ। ४४५८. अनिष्टात्मना। ४४५९. स्वरूपेण। ४४६०. यत एकत्रापरस्यात्यन्ताभावो व्यतिक्रान्तः। ४४६१. यथा वर्तमाने घटस्वभावात्पटस्वभावस्य व्यावृत्तिः। ४४६२. स्वस्वभावव्यावृत्तेः। ४४६३. स्वस्वभावस्य व्यावृत्तौ घटादेर्निरुपाख्यत्वं स्याद्यतः। ४४६४. तथापीति खपुस्तकपाठः। ४४६५. प्रागभावप्रध्वंसाभावरूपयोः। ४४६६. कार्यद्रव्यस्य। ४४६७. पूर्वोत्तरपरिणामव्यावृत्तेः (न चेतरेतराभावे व्यावृत्तिवैशिष्ट्यं संभवति)।

४४६८. पूर्वोक्तं व्यावृत्तिवैशिष्ट्यं विवृणोति। ४४६९. (इतरेतराभावरूपयोर्जलानलयोर्मध्ये)। ४४७०. जलसत्त्वे। ४४७१. अनलस्य। ४४७२. इति प्राक्प्रध्वंसाभावलक्षणाभावाज्जलानलयोरितरेतराभावरूपतैव, न प्राक्प्रध्वंसाभावरूपता)। ४४७३. अन्धकारसद्भावे। ४४७४. तस्य रूपज्ञानस्य। ४४७५. एतल्लक्षणस्य। ४४७६. तस्मिन्, पटस्य घटत्वपरिणामे विरोधाभावात्। ४४७७. इन्दुकान्तात्मकपृथिव्याः सकाशादपामुत्पत्तिदर्शनात्, अद्भ्यो मुक्ताफलादिरूपपृथिव्या उत्पत्तिदर्शनात्, सूर्यकान्ताख्यपृथिव्या अग्नेरुत्पत्तिदर्शनात्, अग्नितो वाऽञ्जनादिपृथिव्युत्पत्तिदर्शनात्। ४४७८. तत्त्वान्तरत्वविरोधादित्यर्थः। ४४७९. सौगतः शङ्कते। ४४८०. किं वस्तु किमात्मकं किंस्वरूपं स्यात्)। ४४८१. ता। ४४८२. नीलाद्याकारात्। ४४८३. नीलादिविशेषाकारतया। ४४८४. द्वैतापत्तिः। ४४८५. सर्वथा भेदे। ४४८६. उपकार्योपकारकभावसम्बन्धमन्तरा समवायादिसम्बन्धान्तरस्याभावात्। ४४८७. वृत्तिं विवृण्वन्नभेदपक्षं दूषयति)। ग्राह्याकारविषये। ४४८८. ग्राहकाकारस्याभावे। ४४८९. ग्राह्याकारस्य। ४४९०. (ग्राह्याकाराभावे संविदोप्यभाव इत्युपरिष्टाज्ज्ञेयमत्र। अत्रैव हेतुमाह कस्यचिदित्यादि)। ४४९१. ग्राह्यः। ४४९२. फलरूपाया बुद्धेः। ४४९३. ग्राहकः। ४४९४. तस्या बुद्धेर्ग्राहकोऽपरोनुभवो नास्ति। एतेन बुद्धेर्ग्राह्याकारो निरस्तः। ४४९५. निर्विकल्पसंवित्। ४४९६. यसः।

४४९७. (संविद्याकारः संवित्, न संवेद्याकारः संविदिति संवेद्याकारात्स्वभावान्तरात्स्वभावरूपस्य संविद्याकारस्य व्यावृत्तिः सिद्धा)। ४४९८. तत् स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरिति लक्षणं यस्य। ४४९९. यौगाचारस्य। ४४५०. विषयस्य निर्भासो विषयनिर्भासः। शबलो विषयनिर्भासो यस्मिन्। चित्रज्ञाने इत्यर्थः। ४५०१. ज्ञानाकाराणाम्। ४५०२. लोहितादीनां मध्ये एकस्य चित्रज्ञानव्यपदेशो नास्ति यथा। विषयिणमपेक्ष्यायं दृष्टान्तः। ४५०३. चित्रज्ञानालम्बनस्य। ४५०४. विषयापेक्षोयं दृष्टान्तः। ४५०५. प्रतिभासासंभवादिति हेतोः सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं परिहरति। ४५०६. प्रत्यक्षस्य। ४५०७. ज्ञानगतानां पदार्थानां परस्परं भेदप्रकारेण। ४५०८. ज्ञानाकारेभ्यः। ४५०९. चित्रघटादिविषयवत् चित्रज्ञानस्य। ४५१०. लोहितादिभ्यः। ४५११. अस्त्यर्थे वत्प्रत्ययः। नीलादिवतश्चित्रपटादेरेकस्य वेदनमित्यर्थः) ४५१२. एकानेकस्वभावत्वादिति। ४५१३. न केवलं भिन्नप्रतिभासाना किन्तु तस्य तद्वद्वेदनस्य बहिर्द्रव्यस्यापि च। ४५१४. अबाधितप्रतीतिसिद्धत्वेपि न तद्वद्वेदनं बहिर्द्रव्यं वेति वक्तुं शक्यं यदि ४५१५. अनेकस्वभावं घटादिद्रव्यमेव नेतरे रूपादयस्तद्व्यतिरिक्ता इति दृष्टान्तेन। ४५१६. द्रव्यचित्रज्ञानयोः। ४५१७ दूरासन्नानां नराणाम्। ४५१८. चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। ४५१९. नाना पुरुषापेक्षया। ४५२०. वा, अथवा प्रतिपुरु विषयस्वभावभेदः संपद्यते। ४५२१. इत्युक्ते च जैनाभिमतमेवायातम्। ४५२२. प्रदेशे। ४५२३. वृक्षादौ। ४५२४ विशदाविशदत्वलक्षणः। ४५२५. निर्भासस्वभावयोः। ४५२६. एकान्तो नियमः। ४५२७. चित्रज्ञानस्य चित्रपटादेर्वा। ४५२८ आत्मादेः। ४५२९. सम्बन्ध्यन्तरं स्रग्वनितादि।

४५३०. भिन्नकारणानि सुखादीनि। ४५३१. हेतोः। ४५३२. वृक्षादौ। ४५३३. 'समान' मुद्रितप्रतौ पाठः। ४५३ समाना करणसामग्री। ४५३४. यतः कार्यभेदात्कारणभेद इत्युक्तं, प्रतिभासभेदात्स्वभावभेद इति च। ४५३ सहाकारिकारणानि। ४५३६. युगपद्यथा दीपादौ तैलशोषणवर्तिकादाहकज्जलमोचनान्धकारनाशनार्थप्रकाशनाद

स्वभावभेदा: परस्परव्यावृत्ता: । क्रमेण यथा घटादौ रूपादय: स्वभावभेदा: । एवं सत्यन्यापोह: समायात: । ४५३७. अन्यथेति शेष: । ४५३८. द्रव्यप्रत्यासत्तिलक्षणसम्बन्धं दर्शयति । ४५३९. अविष्वग्भाव:. कथञ्चित्तादात्म्यलक्षण: । ४५४०. गुणपर्याययो: । ४५४१. असत्त्वापत्तिप्रकारेण । ४५४२. तस्य चक्षुष: । ४५४३. मयि चक्षुरस्ति, रूपज्ञानसद्भावादिति । ४५४४. चक्षुष: । ४५४५. चक्षूरूपयो: । ४५४६. वेद्याद्याकारेण "मुद्रितप्रतौ" पाठ: । ४५४७. वेद्यवेदनयो: । ४५४८. तयोर्वेद्यवेदनयो: । ४५४९. संवेदनतद्वेद्याकारयो: । ४५५०. ग्राह्याद्याकारस्य ।

४५५१. संविदाकारस्य । ४५५२. वेद्याकारेण सह संबन्धानङ्गीकारे । ४५५३. संविदो निराकारतोपगमेपि वेद्याकारभावसंबन्धानभ्युपगमे वेद्याकारात्मता स्यात् तच्च परस्परं विरुद्धम् । तथाहि—वेद्याकारपरतन्त्रता स्याद्वेद्याकाराभावपरतन्त्रता वा । उभयपारतन्त्र्याभावस्तु विरुद्ध एव । एवमग्रेपि परस्परविरोधो दर्शित:) । ४५५४. वस्त्वाश्रयरहितस्य संबन्धाभावस्य । ४५५५. तस्य संबन्धाभावस्य । ४५५६. सौत्रान्तिको वैभाषिको वा । ४५५७. गुणगुण्यादिषु । ४५५८. अपि तु भवत्येव परतन्त्र:, अज्ञानाधीन इत्यर्थ: । ४५५९. ननु च कार्यकारणभाव एव नेष्यते तर्हि कार्यात्मन: कारणपरतन्त्रता कुत इत्युक्ते आह कुतश्चिदित्यादि । ४५६०. संबन्धो नास्ति तत्त्वत इति वचनात्संवृत्या संबन्धोभ्युपगम्यते एवेति वदन्तं सौगतं प्रत्याहु: । संवृत्या कल्पनया । ४५६१. कारणस्य कार्यात्मनि । ४५६२. सहकारिकारणापेक्षया । ४५६३. संवित्सन्तानादन्यत्संतानं संतानान्तरम् । ४५६४. चित्रपटादिरूपा: । ४५६५. 'भवेयु:'' मुद्रितप्रतौ पाठ: । ४५६६. सार्था: समूहा: । ४५६७. कार्यकालमप्राप्नुवत: कारणद्रव्यस्य । ४५६८. आत्मलाभ: । ४५६९. कार्यस्वरूपेण । ४५७०. प्रतिक्षेप: कालविलम्ब: । ४५७१. कारणान्तरस्य प्रतिक्षेपकारकस्य । ४५७२. येन कारणेन यत्कार्यं जायते तेनैव तत्कार्यं, न तु कारणान्तरेण । ४५७३. अर्थपर्यायतया । ४५७४. तस्य स्वभावान्तरस्य । ४५७५. स्वयमुत्पित्सोर्विनश्वरस्य च स्वभावान्तरानपेक्षणकथनेन । ४५७६. स्वभावेन । ४५७७. उत्पत्तिविनाशस्थितिरूपेण परिणमत: । ४५७८. व्यञ्जनपर्याये । स्थूलो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वर: स्थिर: । सूक्ष्म: प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञक: । ४५७९. कारणान्तरानपेक्षत्वप्रकारेण । ४५८०. अर्थ: । ४५८१. उत्पित्सुश्चेदुत्पद्यताम् । विनाश: कुत इत्याशङ्कायामाहु:—पूर्वेति । ४५८२. पर्यायापेक्षयैव । ४५८३. द्रव्यापेक्षया । ४५८४. अश्वविषाणवत् । ४५८५. उत्पादादिधर्मसमन्वितस्यैव विनाशादिधर्मसमन्वितत्वं यत: । ४५८६. मोक्षशास्त्रस्य ।

४५८७. सौगत: । ४५८८. यत्सत्तदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं भवतीति वचनात् । ४५८९. असत्त्वापत्तौ सत्यामित्यर्थ: । ४५९०. सर्वस्य त्रैलक्षण्यसिद्धि: । ४५९१. स्थित्यादिमत: । ४५९२. अन्वयरूपद्रव्यापेक्षया । ४५९३. नाशसामर्थ्यात् । ४५९४. उत्पत्तिसामर्थ्यात् । ४५९५. अभेदपक्षेपि स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वनिश्चयेन । ४५९६. पर्यायापेक्षया । ४५९७. भेदपक्षे प्रत्येकं त्रिलक्षणत्वप्रकारेण । ४५९८. तस्या अनवस्थाया: । ४५९९. द्रव्यस्वभावेन । ४६००. स्थित्यादिधर्मापेक्षणात् । ४६०१. स्थित्यादिमतो जीवादे: । ४६०२ एकैकक्षणे चरमचरं च वस्तु स्थितिजनननिरोधलक्षणं भवति, पूर्वोत्तरपर्यायेष्वविच्छिन्नान्वयसन्ततिसमन्वितत्वादिति समर्थनेन । ४६०३. जीवादे: । ४६०४. द्रव्यरूपेण । ४६०५. निरन्वये क्षणिकैकान्ते । ४६०६. नित्यैकान्तवत् । ४६०७. उपरमसिद्धिश्चेत् । ४६०८. वस्तुन: ।

४६०९. स्थित्यादीनां कालत्रयेपि स्थित्यादित्रयात्मकत्वप्ररूपणेन । ४६१०. भट्टाकलङ्कदेवै: । ४६११. जीवादे: कालत्रयेपि स्थित्यादित्रयात्मकत्वाभावे । ४६१२. नवसु विकल्पेषु तावत्तिष्ठतीत्येतत् स्वकीयकालापेक्षया तिष्ठत्युत्पद्यते विनश्यति, स्वोत्तरकालापेक्षया तु स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति, स्वपूर्वकालापेक्षया तु स्थितमुत्पन्नं विनष्टं चेति नव भेदा: । अवशिष्टेषु स्थित्यादिष्वष्टसु धर्मेषु चैवमेव द्रष्टव्यम् । ४६१३. ननु च धर्मिण एवं व्यवस्था स्याद्धर्माणां तु कथमित्याशङ्कायामाह । ४६१४. प्रकारे धा प्रत्यय: । ४६१५. अशुद्धं व्यवहारनयापेक्षया विद्यमानभेदमशुद्धमिति भाव: । ४६१६. प्रत्येकम् । ४६१७. शुद्धं संग्रहनयापेक्षया । अविद्यमानभेदं शुद्धमिति भाव: । ४६१८. अविवक्षितभेदस्य शुद्धस्य सन्मात्रस्य द्रव्यत्वमेव नास्तीत्युक्ते आह जैन: । ४६१९. बस: । ४६२०. (द्रव्यं सल्लाक्षणिकमिति वचनात्) ४६२१. सत्त्वस्यैव द्रव्यत्वं प्रतिपादयति । ४६२२. सत्ता । ४६२३. पर्यायान्प्रति

गच्छति। ४६२४. सत्। ४६२५. निवासगत्यर्थकात्क्षिरित्यस्माद्धातोः। भावा एव निवासं गच्छन्ति। ४६२६. भावे सत्तालक्षणे। ४६२७. सत्तैव। ४६२८. कल्यन्ते, पूर्वोत्तरपर्यायतया प्रवर्तन्ते, परिणामं गच्छन्तीति। ४६२९. भावात्। ४६३०. सन्नेव। ४६३१. सन्नेव। ४६३२. द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना सत्तैव विशेष्यते यतः, अथवा सन्मात्रमनन्तपर्यायं सिद्धं यतः। ४६३३. स्वींकुर्वन्ती। ४६३४. आदिपदेन स्थास्यत्यादीनां ग्रहणम्। ४६३५. जीवादीन्। ४६३६. निवांसितान्कुर्वन्ती क्षेत्रं सतीत्यर्थः। कलयन्ती कालः सतीत्यर्थः। भवन्ती भावः सतीत्यर्थः। अत्राभेदविवक्षयेदं प्ररूपणं, सत्तैव विशिष्यते इत्यत्र तु भेदपरतया। उभयप्ररूपणं हि भेदः। ४६३७. (समयसारनाम्न्यध्यात्मग्रन्थे)। ४६३८. सकलपदार्थसंस्था। ४६३९. (न केवलं सत्ता तिष्ठति, किन्तु प्रतिपक्षेण असत्तया, अभावेन सहिता)। ४६४०. एका विशेषरहितस्वरूपापेक्षया। ४६४१. (द्रव्यार्थिकनयोपेक्षणात्)। ४६४२. जैनानाम्।

४६४३. सांख्यानाम्। ४६४४. जीवे। ४६४५. रूपादि। ४६४६. सत्यरूपेण। ४६४७. द्वौ नञौ प्रकृतार्थं सूचयतः। ततो वर्तते एवेत्यर्थः। ४६४८. सर्वं सर्वत्र विद्यते इति सांख्यसिद्धान्तात्। ४६४९. सर्वस्य स्वरूपस्य स्वरूपिणश्च स्वाश्रयमन्तरेणानुपलब्धिर्यतः। ४६५०. प्रधानम्। ४६५१. सत्यस्वरूपेण। ४६५२. स एव। ४६५३. आह बौद्धः। ४६५४. (बौद्धेन पृष्टे सति जैनः पृच्छति कथं च न स्यादिति)। ४६५५. (जैनेन पृष्टस्योत्तरं ददाति सौगतः)। ४६५६. यतोऽभावग्रहणं न भवतीत्यर्थः। ४६५७. प्रत्यक्षस्य। ४६५८. तत्कारणत्वमभावकारणत्वम्। ४६५९. तस्य अभावस्य प्रत्यक्षं प्रति कारणत्वे। ४६६०. अभावस्य। ४६६१. अनुमानं तद्ग्राहकं भविष्यतीत्युक्ते आह बौद्धः। ४६६२. अग्निस्वलक्षणाद्धूमस्वलक्षणमुत्पद्यते। ततो धूमदर्शनम्। तस्माद्धूमविकल्पः। ततोऽग्न्यनुमानम्। इति परम्परया स्वकारणविषयत्वम्। ४६६३. तस्य अनुमानस्य कार्यानुमानत्वं कथं संभाव्यते इत्याह। अभावकारणं प्राप्यानुमानमुत्पद्यते तदा तदनुमानं कार्यानुमानम्। ४६६४. अभावस्य। काकाक्षगोलकन्यायेन अभावस्येति पदमुभयत्र संबध्यते। ४६६५. अनुपलब्धिलिङ्गोत्थानुमानमभावग्राहकमस्त्वित्याशङ्कायामाह। ४६६६. अभावरूपलिङ्गाभावादित्यर्थः। ततश्चानुमानानुदय एव। ४६६७. नास्त्यत्र घटोऽनुपलब्धेरित्यनेनापि नाभावग्रहणम्। कुतः? पर्युदासत्वतः। ४६६८. भूतले। ४६६९. अनुपलब्धिविषयः। ४६७०. भूतलस्य। ४६७१. घटादेः। ४६७२. यथेह भूतले घटो नास्ति, अनुपलब्धेरित्येवं भावस्य भूतलस्याभावस्य च घटाभावस्य प्रतिपत्तिर्भवति। ४६७३. बौद्धस्य। ४६७४. 'भावाभावस्या' मुद्रितप्रतौ पाठः। ४६७५. पञ्चमी। ४६७६. पूर्वोक्तप्रश्नम्। ४६७७. (प्रकृतपर्यनुयोगं कुर्याच्चेत्)। ४६७८. सर्वं स्वरूपेण भावस्वरूपं, पररूपेण त्वभावस्वरूपम्। ४६७९. निःश्रेणी पदानां बन्धाभ्यां दीर्घकाष्ठाभ्यामुभाभ्यां यथा। ४६८०. संबन्धात्। ४६८१. स्वरूपेणेव पररूपेणापि। ४६८२. अयं घट एवेति नियमायोगात्। ४६८३. नयप्रमाणरहिता।

४६८४. यथा घटस्य पृथुबुध्नोदराकारस्वभावे व्यवस्था। ४६८५. तेषां ताथागतानाम्। अभावस्यापि प्रमेयतां प्रतिगच्छन्तं बौद्धं प्रत्याह जैनः। ४६८६. प्रत्यक्षानुमानयोर्भावग्राहकत्वं यतस्ततोऽभावग्राहकं प्रमाणमन्यद्विलोक्यते। ४६८७. अभावस्य तुच्छरूपस्य, न तु भावान्तरस्वभावस्य। ४६८८. प्रमाणं प्रत्यकारणत्वात्। ४६८९. अभावग्राहकत्वं प्रत्यक्षानुमानलक्षणस्य ज्ञानस्य। ४६९०. "अपि" मुद्रितप्रतौ नास्ति पाठः। ४६९१. प्रमाणद्वयनियमविघटनं कुत इत्युक्ते आह। ४६९२. तस्मान्नैरात्म्यादुत्पत्तिः प्रमाणोत्पत्तिः। ४६९३. नैरात्म्यस्य। ४६९४. प्रमाणनैरात्म्ययोः। ४६९५. तयोः प्रतिबन्धान्तरं चतुर्थं लिङ्गं यतः। लिङ्गत्रयं सर्वैरनुमतं, कारण-स्वभाव-अनुपलब्धिभेदात्। ४६९६. प्रमाणनैरात्म्ययोस्त्रितयसंबन्धाभावे। ४६९७. तस्मात् अभावात्। उत्पत्तिर्ज्ञानस्य। ४६९८. अर्थस्य संभवे एव प्रत्यक्षं भवति। ४६९९. भावरूपादर्थादुत्पन्ने प्रत्यक्षेऽनुमाने वा। ४७००. साध्येन सह। ४७०१. गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्। मानसं नास्तिताज्ञानमिति तत्सामग्री। ४७०२. 'तदेवं' मुद्रितप्रतौ पाठः। ४७०३. प्रतिबन्धनियमं विघटयति। ४७०४. बौद्धेन ४७०५. माध्यमिकानाम्। ४७०६. बोधश्च वाक्यं च। ४७०७. स्वमतसाधनम्। परमतदूषणम्। ४७०८ एकत्वानेकत्वेन स्वभावेन। ४७०९. भावानाम्। ४७१०. तत्त्वं नैकं, घटपटादिरूपतया विचित्रप्रतिभासात्। न चानेकं

तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्। ४७११. स्वार्थानुमानस्य। ४७१२. परार्थानुमानस्य। ४७१३. बौद्धेष्टस्य। ४७१४. स्वनिमित्तम्। ४७१५. शिष्यप्रतिबोधार्थम्। ४७१६. बोधवाक्यरूपयोः। ४७१७. अन्तर्बहिस्तत्त्वस्य। ४७१८. ज्ञानज्ञेययोर्मध्ये। ४७१९. प्रयोगः, अनुमानरूपोत्र। ४७२०. नन्वनेनानुमानेन न साध्यसिद्धिः, पक्षधर्मत्वादित्रयाभावादित्युक्ते बौद्धेनाह जैनः। ४७२१. रूपत्रयमन्तरेण साध्यसिद्धिं क्रमेण दर्शयति। ४७२२. साध्याभावे सतीति सप्तमी। ४७२३. अन्यथानुपपत्तिलक्षणादित्यर्थः।

४७२४. बौद्धेन। ४७२५. शून्यवादिना। ४७२६: हे सौगत, तव मते प्रमाणत्वमस्ति न वेति पृष्टः केनापि सौगतः प्राह, प्रमाणास्तित्वमस्ति, इष्टसाधनादिति। तत्राह स्याद्वादी। अत्र स्वरूपेणासिद्धधर्मिधर्मस्येष्टसाधनस्य हेतोः पक्षधर्मत्वरहिते प्रमाणास्तित्वे साध्ये समर्थनत्वमभ्युपगम्यते भवतेति पक्षधर्मत्वभावः। ४७२७. धर्मिणो धर्मो धर्मिधर्मः। असिद्धश्चासौ धर्मिधर्मश्च तस्य। प्रमाणं धर्मि। तस्य धर्म इष्टसाधनं न भवति, संविदद्वैतापेक्षया प्रमाणस्यैवाभावात्। ४७२८. मैत्रीतनयत्वादौ। ४७२९. त्रिलक्षणाभावाभावेपि। ४७३०. सौगतस्य। ४७३१. माध्यमिकस्य। ४७३२. न केवलं साधनसिद्धेः। ४७३३. वास्तवसिद्ध्यसंभवात् मुद्रितप्रतौ पाठः। ४७३४. अन्तर्बहिस्तत्त्वस्य। ४७३५. शून्यसाधनम्। ४७३६. ज्ञानस्य। ४७३७. कथं न संवृत्या साध्यसाधनव्यवस्थेत्यादिप्रकारेण समानं दूषणम्। ४७३८. तस्य नैरात्म्यज्ञानस्य। ४७३९. नैरात्म्यज्ञानस्य। ४७४०. तस्य बहिरन्तस्तत्त्वस्य। ४७४१. हेयमन्तर्बहिस्तत्त्वम्। उपादेयं नैरात्म्यम्। क्रियाविशेषणमिदम्। ४७४२. शून्यवादी। ४७४३. फूत्कारं करोति। ४७४४. हेयस्य निषेधः। उपादेयस्य च विधानम्। तयोरुपायस्य। ४७४५. संवृत्यास्तीति पदस्य। ४७४६. संवृतिरिति कोर्थः ? स्वरूपं, पररूपम्, उभयम्, अनुभयं वा ? इति विकल्पचतुष्टयं कृत्वा क्रमेण खण्डयति। ४७४७. जैनस्य। ४७४८. माध्यमिकः। ४७४९. धार्ष्ट्यम्। ४७५०. तिरस्कृतस्य। ४७५१. नैरात्म्यम्। ४७५२. सौगतेन। ४७५३. निश्चयप्रतिपत्तेः। ४७५४. संवृत्यास्तीत्यस्य।

४७५५. स्वरूपेणास्तित्ववदेव। ४७५६. नत्वर्थे। ४७५७. एतदपि पररूपेण नास्तित्वमपि तादृगेवानुकूलमेव। ४७५८. तत्तस्मात्। एतेन स्वरूपपररूपाभ्यां सत्त्वासत्त्वप्रतिपादनेन। ४७५९. तृतीयो भङ्गः। ४७६०. अवक्तव्यम्। ४७६१. संवृत्यास्तीति पदस्य। ४७६२. हेयोपादेयज्ञानम्। ४७६३. संवृत्यात्मना। ४७६४. शून्यवादिमतम्। ४७६५. पुरुषस्य। ४७६६. शून्यवादिनः। ४७६७. प्रमाणादि तत्त्वम्। ४७६८. अनिर्णीते। ४७६९. विचाराभावात्। ४७७०. तेन विचारेण परप्रतिपादनं तत्परप्रतिपादनम्। ४७७१. शास्त्रमुपदिशन्नुपदेष्टारं वा वर्णयन्निति खपाठः। ४७७२. दिग्नागाचार्यम्। ४७७३. गुरुशास्त्रादिकम्। ४७७४. सुगतस्य। ४७७५. क्रियाविशेषणमिदम्। ४७७६. वयमकलङ्कदेवास्तिष्ठामः। ४७७७. दिग्नागादयः। ४७७८. (बत खेदे)। ४७७९. कारणम्। ४७८०. विना। ४७८१. सुगतादेः। ४७८२. विभ्रमे। ४७८३. विभ्रमे विभ्रमे इति द्वितीयविकल्पे। ४७८४. विभ्रमः। (अपितु नैव)।

४७८५. अयं श्लोको मुद्रितप्रतौ नोपलभ्यते। ४७८६. जलानलादौ सर्वभावे। ४७८७. आराधकत्वेन संसक्ताः। ४७८८. कारणम्। ४७८९. नैरात्म्यस्य। ४७९०. निरपेक्षभावाभावात्मकत्वम्। ४७९१. भाट्टस्य। ४७९२. स्वरूपेणेव पररूपेणापि। ४७९३. भाट्टः। ४७९४. (स्वाभ्युपेतं निरपेक्षभावाभावात्मकत्वं, तदितरं भावोऽभावो वा केवलम्। स्वाभ्युपेतस्य निरासः। इतरस्य विधानम्)। ४७९५. आत्मीयज्ञानात्। ४७९६. अनुमानात्परोपदेशरूपात्। ४७९७. कुतस्तथाहि। ४७९८. अभिन्नत्वेपि अननुप्रवेशाङ्गीकरणे। ४७९९. प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धानेकात्मकवस्तुप्रतिपादकः श्रुतस्कन्धात्मकः स्याद्वादः। ४८००. कथञ्चिद्भावाभावात्मकस्यैव। ४८०१. सर्वथा भावैकान्ताऽभावैकान्तवत्।

४८०२. भट्टनिराकरणप्रकारेण। ४८०३. प्रकृतिमहदाद्योः। ४८०४. विरोध इति पूर्वेणान्वयः। ४८०५. महदादीनामभिव्यक्तेः सकाशात् त्रैलोक्यमपैति तिरोभवतीत्यर्थः। ४८०६. नष्टमपि कथञ्चिन्नित्यम्। ४८०७. ब्रुवतः सांख्यस्येति पूर्वेण सम्बन्धः। ४८०८. महदादिना। ४८०९. प्रधानात्मना। ४८१०. महदादि। ४८११. प्रधानम्। ४८१२.

"तदवस्थानात्" मुद्रितप्रतौ पाठः। ४८१३. प्रधानात्मना नित्यत्वं, महदादिरूपेणानित्यत्वमिति। ४८१४. सौगतः। ४८१५. भावैकान्त-अभावैकान्त-उभयैकान्तेति। ४८१६. सौगतस्य। ४८१७. किञ्चिज्ज्ञात्। ४८१८. अनिराकरणात्। ४८१९. अवाच्यमिति वचनमन्तरेण। ४८२०. प्रत्यक्षस्य कल्पनापोढस्य। अविद्यमानस्य यदुदाहरणीकृतं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादि (ततो न भवदुक्तं समीचीनमित्यर्थः)। ४८२१. (असतः (असिद्धस्य) समुदाहरणं न युक्तं, किन्तु प्रसिद्धस्यैवेति दर्शयति)। ४८२२. सिद्धा साध्यस्य व्यवस्था यत्र। ४८२३. दृष्टान्तक्रमाः। ४८२४. नीलादिलक्षणस्य। ४८२५. अन्यापोहस्य। ४८२६. निर्दिश्यतेनेति निर्देशः शब्दः। ४८२७. आधेयतया। ४८२८. अर्थे। ४८२९. शब्दाः। ४८३०. अन्यापोहलक्षणम्। ४८३१. निर्देश्यत्वधर्मः। ४८३२. अथेत्यतः। ४८३३. शून्यं संविन्मात्रं न ज्ञेयं भवति।

४८३४. स्वलक्षणे। ४८३५. शब्दः। ४८३६. स्वलक्षणोर्थः। ४८३७. अक्षज्ञाने। ४८३८. (विषयः, ततोऽज्ञेय इत्यर्थः)। ४८३९. ज्ञाने प्रतिभासमानेपि अर्थो धर्मी स्वयं न प्रकाशते अतदाधेयत्वादतदात्मधर्मत्वाद्वा, इत्यध्याहार्यम्। ४८४०. आधेयतया। ४८४१. कारणं समर्थं नाकारणं विषय इति वचनात्। ४८४२. स्वलक्षणोर्थः। ४८४३. करणमिन्द्रियम्। ४८४४. दर्शनस्य। ४८४५. चक्षुरादिशक्तेश्च सकाशाद्दृष्टेरुत्पत्तिः। ततश्च विषयवच्चक्षुरादिशक्तेरपि प्रतिभासः स्यात्। इति विषयज्ञानस्योत्पादादित्यस्य हेतोरनैकान्तिकतेति भावः। ४८४६. विषयश्चाधारो, ज्ञानमाधेयम्। ४८४७. करणस्य। ४८४८. अभ्युपगम्यमाने (सौगतेन) ४८४९. निर्विकल्पकस्य। ४८५०. विशेषाभावादित्यर्थः। ४८५१. अन्यथेति अध्याहार्यम्। ४८५२. (उपादानवत्)। ४८५३. आह सौगतः। ४८५४. तदुत्पत्तिताद्रूप्याविशेषेपीत्यर्थः। ४८५५. जैनः। ४८५६. पूर्वज्ञाने। न केवलमालम्बने एव। ४८५७. विकल्परूपनिश्चयः ४८५८. दर्शनं निर्विकल्पकज्ञानम्। ४८५९. विकल्पात्मकत्वे। ४८६०. निर्विकल्परूपं स्वलक्षणं नीलादि। ४८६१. सौगतः। ४८६२. निर्विकल्पकस्य। ४८६३. सविकल्पकस्य हेतुत्वात्। ४८६४. शब्दसंसर्गाभावात्। ४८६५. निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य। ४८६६. प्रत्यक्षस्य। ४८६७. नीलादिस्वलक्षणस्य। ४८६८. अध्यवसायस्य हेतुत्वकल्पनायामित्यर्थः। ४८६९. अध्यवसायं प्रति हेतुः।

४८७०. स्वलक्षणात्। ४८७१. सौगतः। ४८७२. जातिक्रियागुणद्रव्यसंज्ञाः पञ्चैव कल्पनाः। ४८७३. स्वलक्षणात्। ४८७४. जात्यादिविषयत्वादेव विकल्पात्मकत्वं, न तु प्रत्यक्षादुत्पन्नत्वादित्यदोषः। ४८७५. निर्विकल्पकस्य। ४८७६. शब्देन। ४८७७. सविकल्पकस्य। ४८७८. वस्तु। ४८७९. जात्यादिना। ४८८०. सत्। ४८८१. विकल्पेन। ४८८२. तच्छब्देन विशेषणविशेष्यग्रहः। ४८८३. का नाम लौकिकी स्थितिः ? विशेषणं च तयोः सम्बन्ध इति लोकस्थितिः। ४८८४. संयोज्य। ४८८५. विकल्पज्ञानम्। ४८८६. विशेषणविशेष्यादिप्रकारेण। ४८८७. विकल्पः। ४८८८. प्रत्यक्षबलादुत्पन्नस्य विकल्पस्य। प्रत्यक्षस्य क्षणिकत्वात् सविकल्पमपि क्षणिकं तस्मादविचारकम्। ४८८९. वैभाषिकः सौत्रान्तिको वा। ४८९०. तदभावेप्यध्यवसायकल्पनायामित्यादि। ४८९१. भवदुक्तप्रकारेण। ४८९२. शब्दस्यार्थो जात्यादिविशिष्टस्तत्र विकल्पः। ४८९३. विकल्पात्। ४८९४. निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य। ४८९५. रूपादिरेव विषयो न तूपादानमिति। ४८९६. वासनाप्रभवाद्विकल्पान्निर्विकल्पकस्य विषयत्वनियमः सिध्यति चेत्। ४८९७. बसः। ४८९८. तर्हीति शेषः। इतो जैनो ब्रूते। ४८९९. उत्तराक्षबुद्धेर्निर्विकल्पकोपादानरूपपूर्वाक्षबुद्धि(निर्विकल्पकज्ञान)विषयत्वानयमः। ४९००. (बौद्धेन) ४९०१. निर्विकल्पकस्य। ४९०२. सौगतः। ४९०३. निर्विकल्पकस्य रूपादिनियमविषयत्वाभ्युपगमे। ४९०४. (विकल्पबलात्, तद्वासनाबलाद्वा)। ४९०५. उत्तराक्षबुद्धेरुपादानरूपपूर्वाक्षबुद्धिविषयत्वनियमाभ्युपगमे। ४९०६. तदभ्युपगमवत्।

४९०७. शब्देन। ४९०८. प्रत्यक्षबुद्धेरभिलापसंसर्गं विना। ४९०९. तेन उक्तानुमानेन। ४९१०. रूपादावभिलापसंसर्गोस्ति, रूपाद्युत्पन्नदर्शनेभिलापसंसर्गान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानेन। ४९११. क्षणिकतया ज्ञानकालेऽर्थस्याभावेपि ज्ञाने नीलाकारदर्शनादेव तद्विषयभूतं च नीलमेवेत्यनुमीयते यथा, तथा ज्ञाने शब्दाकारदर्शनादर्थोऽप्यनुमीयतामिति

भावः। ४९१२. नीलादिकम्। ४९१३. अभिलापसंसर्गमन्तरेण। ४९१४. तदभिधानेन। ४९१५. पूर्वदृष्टानामाऽयोजयन्। ४९१६. दृश्यमानम्। ४९१७. दृश्यमाननीलादौ। ४९१८. विकल्पश्चाभिधानं च। ते न विद्येते यत्र तत्। ४९१९. सौगतः। ४९२०. नाम संश्रयः कारणं यस्य स तस्य। ४९२१. नृणाम्। ४९२२. विकल्पाभिधानयोः। ४९२३. अध्यवसायो निश्चयः। ४९२४. निर्विकल्पकेन सविकल्पकग्रहणं चेत्तेनैव स्थिरस्थूलसाधारणाकारग्रहणं पूर्वमेव भवतु। ४९२५. निर्विकल्पकेन विषयीकृतम्। ४९२६. नामजात्यादियोजनासहितं न गृह्णाति यतः। ४९२७. विकल्पाभिधानसंभवे गृहीतस्याप्यगृहीतकल्पत्वे। ४९२८. दृश्यमानेन। ४९२९. तत्, पूर्वसंविदितं च संवेद्यमाननामविशेषश्चेति द्वन्द्वः। ४९३०. तयोः पूर्वसंविदितसंवेद्यमाननामविशेषयोः संस्कारौ, तयोः। ४९३१. नीलादि। ४९३२. अविकल्पाभिधानं जगदिति। ४९३३. दृश्यमानसदृशस्य। ४९३४. स्वमतविरोधं दर्शयति। ४९३५. स्मृतिरूपयोर्वर्तमानातीतयोर्विकल्पयोः। ४९३६. सह स्मृतिद्वयानभ्युपगमे हेतुमाह। ४९३७. दृश्यमाननामपूर्वदृष्टयोः। ४९३८. नीलमिति। न केवलं पूर्वदृष्टदृश्यमाननामविशेषयोरेव। ४९३९. स्वराणाम्। ४९४०. (युगपत्)। ४९४१. क्षणक्षयादावध्यवसायाभावे यथा स्मृतिर्न भवेत्, तदैव तस्य नाशात्। ४९४२. परस्परं भिन्नत्वेनाप्रतिपत्तेर्युगपदध्यवसायी यतः।

४९४३. स्वलक्षणरूपस्य शब्दस्य अपरतद्वाचकशब्दविशेषस्य स्मृतांविति भावः। ४९४४. अभिलापस्य। ४९४५. अभिलापस्य पदलक्षणस्य। ४९४६. शब्दरहितत्वेन। ४९४७. भवतु नाम केवलार्थव्यवसाय इति सौगतेनोक्ते जैनः प्राह। ४९४८. विकल्पैः। ४९४९. सौगतवचनस्य। ४९५०. त्यागे हेतुमाह। ४९५१. शब्दरहितार्थस्य। ४९५२. भवन्मते स्वलक्षणानाम्नोऽभावे व्यवसायोऽस्तीति कृत्वा त्यागो मतस्य। ४९५३. प्रतिपादितदोषभयान्नाम्नो व्यवसायावचने। ४९५४. नाम शब्दः, तदंशाः स्वरव्यञ्जनानि। ४९५५. नाम्नो योर्थस्तस्य। ४९५६. निर्विकल्पकज्ञानेन। ४९५७. निर्विकल्पकस्य सकलस्याभावेपि सविकल्पकमनुमानमस्तीत्याशङ्कायामाह। ४९५८. जगतः। ४९५९. स्मृतावसत्यामिति प्रथमपक्षः। ४९६०. नामतदंशानां वर्णानां नामविशेषस्य स्मृतौ सत्यां व्यवसाय इति विकल्पः कक्षीक्रियते चेत्। ४९६१. तन्नामान्तरपरिकल्पनायामित्यत्र। ४९६२. अभिलापतदंशानामित्यादिः। ४९६३. सौगतः। ४९६४. शब्देन विना। ४९६५. विकल्पग्राह्यम्। ४९६६. अशब्दम्। ४९६७. सौगतः। ४९६८. सामान्यलक्षणस्वलक्षणयोः। ४९६९. अनर्थक्रियाकारि। ४९७०. प्रथमाद्विवचनम्।

४९७१. विशेषोर्थक्रियाकारी, सामान्यमनर्थक्रियाकारीति तयोर्भेदे सति कथमभेदः प्रतिपाद्यते जैनैरिति सौगतेनोक्ते सत्याह जैनः। ४९७२. पुरुषलिङ्गगोर्वाहः, स्त्रीरूपगोर्दोहादिः क्रिया। ४९७३. सामान्यरहितः। ४९७४. मिलित्वा उभयस्वरूपस्य। ४९७५. वाहदोहाद्यर्थक्रियायाम्। ४९७६. व्यापारात्। ४९७७. सामान्यस्वलक्षणयोः। ४९७८. शब्देन। ४९७९. जैनः। ४९८०. सामान्यविशेषात्मकस्य। ४९८१. तद्वत् सामान्यविशेषवत्। ४९८२. मुद्रितप्रतौ नास्ति। ४९८३. अलक्षणात्। मुद्रितप्रतौ पाठः। ४९८४. सामान्यविशेषात्मके जात्यन्तरे। ४९८५. उल्लेखेन विना घटमहमात्मना वेद्मीति प्रत्ययात्। ४९८६. सामान्यविशेषयोरभेदो यतः। ४९८७. प्रमेयस्य श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यत्वं कथमित्युक्ते आह। ४९८८. वस्तुनः। ४९८९. किञ्च। ४९९०. शब्दसंसर्गरहितत्वे। ४९९१. स्मृतेरागतम्। ४९९२. पूर्वमर्थदर्शनं पश्चाच्छब्दयोजनम्। ४९९३. स्वोत्पत्तौ दृष्टसामान्यस्य व्यवसायः। अर्थादुत्पन्नं प्रत्यक्षं तमेवार्थं गृह्णातीति बौद्धमतम्। तत्र यदा स्मार्त्तं शब्दव्यवसाय इत्यादि। ४९९४. प्रत्यक्षग्राह्योर्थः। ४९९५. शब्दयोजनेन। ४९९६. तत् (तस्मात्) नीलत्वम्। ४९९७. नैयायिकानाम्। ४९९८. अर्थग्रहणव्यापारे ज्ञानोत्पादनलक्षणे। ४९९९. अर्थादुत्पन्नं प्रत्यक्षं तमेवार्थं गृह्णातीति बौद्धमतम्। तत्र यदा स्मार्त्तं शब्दव्यवसाय इत्यादि। ५०००. तन्नीलादि। ५००१. तदर्थाभावेऽपि। ५००२. सविकल्पकस्याक्षज्ञानस्य। ५००३. सन्निकल्पकज्ञानम्। ५००४. सविकल्पकप्रत्यक्षेण गृहीतोर्थः।

५००५. यथैव इत्यनेनान्वयः। सौगतेन। ५००६. निर्विकल्पकम् (क्रर्तृपदम्)। ५००७. सविकल्पकोत्पत्तौ। ५००८. सविकल्पकः। ५००९. इन्द्रियज्ञानाभावे। ५०१०. निर्विकल्पके ज्ञाने सत्यपि।

५०११. निर्विकल्पकप्रत्यक्षादुत्पन्नः। ५०१२. निर्विकल्पकम्। ५०१३. जैनैः। ५०१४. अर्थोपयोगेपीत्यादिकारिकायामुक्तेन। ५०१५. अर्थोपयोगेपीति श्लोके। ५०१६. धर्मकीर्तिरेको बौद्धगुरुः। ५०१७. स्मार्तशब्दानुयोजनात्पूर्वम्। ५०१८. अर्थशब्देन निर्विकल्पकम्। ५०१९. सविकल्पकस्य। ५०२०. निर्विकल्पकस्य। ५०२१. उपयोग इन्द्रियज्ञानव्यापारः। ५०२२. अक्षज्ञानम्। ५०२३. न पुनर्ज्ञानोपयोगेपीति कारिकाया जैनोक्तायाः। ५०२४. कारणेन। ५०२५. हे सौगत ! यथा शब्दाद्वैतवादिनो भवता दूषणं दत्तं तथा तवापीत्याह। ५०२६. उपयोगः सामान्यव्यवसायः। ५०२७. "व्यपायेपि" मुद्रितप्रतौ पाठः। ५०२८. उत्तरकालेऽपि। ५०२९. निर्विकल्पकबोधः। ५०३०. निर्विकल्पकज्ञानाभावेपि। ५०३१. विकल्पः। ५०३२. मुद्रितप्रतौ 'च' नास्ति। ५०३३. स्वो नीलस्वलक्षणोर्थः। ५०३४. द्वन्द्वः। ५०३५. उपादानभूतपूर्वक्षणज्ञानजन्म। ५०२६. सारूप्यं च निर्विकल्पकज्ञानात्। ५०३७. स्वविषयस्याध्यवसायो निश्चयः। ५०३८. स्वलक्षणस्य।

५०३९. 'सामान्ये' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५०४०. निर्विकल्पकप्रत्यक्षात्। ५०४१. तस्य निर्विकल्पकस्य पश्चाद्भाविनः। ५०४२.. प्रत्यभिज्ञानस्य। ५०४३. अतिप्रसङ्गं वक्ति। ५०४४. देशकालस्वभावभेदात्त्रयो विप्रकर्षाः। ५०४५. सामान्यस्मृतिनिमित्तं शब्दस्मृतिरपि नोपपद्यते इत्याह। ५०४६. वाच्यवाचकलक्षणस्य। ५०४७. स्याद्वादिभिस्तु स्वाभाविकोभ्युपगम्यते। ५०४८. सौगतः। ५०४९. सामान्यार्थेन नीलादिना सह। ५०५०. शब्दस्य, चकाराद्विकल्पस्य दृश्येन (अर्थेन) स्वलक्षणेनैकत्वाध्यवसायोस्ति। ५०५१. प्रमाणात्। ५०५२. यतो दृश्यं (स्वलक्षणरूपं) क्षणिकं, सामान्यं कियत्कालस्थायि। ५०५३. स्मृतिभावताध्यवसायस्यातनिरस्यति। ५०५४. निर्विकल्पज्ञानस्य। ५०५५. नीलादिग्राहकत्वप्रकारेण, न तु स्वलक्षणग्राहकत्वप्रकारेण। ५०५६. वर्तमानकालदृष्टेन सजातीयं पूर्वदृष्टम्। तत्र स्मृतिर्न स्यात्। ५०५७. दानं च हिंसाविरतिश्चेति द्वन्द्वः। ५०५८. व्यवसायात्मकत्वाभावे स्वर्गादिफलजननसामर्थ्ये क्षणक्षयादौ वा स्मृतिर्न यथा। ५०५९. यथाऽव्यवसायात्मनोक्षज्ञानात्समनन्तरप्रत्ययाद् व्यवसायात्मनो विकल्पस्योत्पत्तिर्न। ५०६०. न व्यवसायात्मकं मानसप्रत्यक्षं तथापि जात्यादिविषयकमिति सौगतेनोक्ते जैनः प्राह। ५०६१. पञ्चमी। ५०६२. व्यवसायात्मनो मानसप्रत्यक्षस्य। ५०६३. सौगतेन। ५०६४. तेन स्वयं व्यवसायात्मलक्षणेनाक्षज्ञानेन नीलादेरर्थगतक्षणक्षयलक्षणार्थस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपि व्यवसाय इन्द्रियज्ञानस्य, तथा नास्ति लोके। ५०६५. निरंशत्वेनाभेदात्। ५०६६. तेन मानसप्रत्यक्षेण स्वयं व्यवसायात्मना नीलादेर्व्यवसाये तत्क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपीत्यादिहेतोः। ५०६७. मानसप्रत्यक्षस्य। ५०६८. (आदिपदेन स्वर्गप्रापणशक्त्यादिर्ग्राह्यः)। ५०६९. (क्षणक्षयस्वर्ग)। ५०७०. क्षणक्षयाद्यविषयत्वात्। ५०७१. (तद्व्यवसायित्वम्)। ५०७२. अक्षज्ञानस्यापि नीलादिविषयत्वे क्षणक्षयाद्यविषयत्वे सति। तन्मते नीलादेः सकाशात्क्षणक्षयो भिन्नो न भवति, तस्य तत्स्वभावत्वात्। ५०७३. कूटे प्रतीयमानेप्यप्रतीयमानः पिशाचस्ततोन्यो यथा।

५०७४. इन्द्रियमानसप्रत्यक्षयोः। ५०७५. नीलादिग्राहकत्वप्रकारेण, न स्वलक्षणग्राहकत्वप्रकारेण। इति सति कथञ्चिदक्षज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वम्। ५०७६. मानसप्रत्यक्षप्रयोजनस्य। ५०७७. सविकल्पकप्रत्यक्षज्ञानवादिनाम्। ५०७८. प्रतिवाद्याद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादीनामभ्यासादिकमन्तरेण यथा स्मृतेरनुपपत्तिः। ५०७९. अभ्यासाद्यभावे एव। ५०८०. प्रज्ञाकरः। ५०८१. निरंशस्य। ५०८२. नीलादौ। ५०८३. क्षणक्षयेऽनभ्यासादीनाम्। ५०८४. सौगतः (प्रज्ञाकरः)। ५०८५. प्रत्यक्षेऽभ्यासादयः सन्ति, अनभ्यासादीनां व्यावृत्तेः। ततोन्योनभ्यासादिः। ५०८६. प्रत्यक्षे। ५०८७. अभ्यासादियोगः। ५०८८. प्रत्यक्षस्य। ५०८९. न शीतस्वभावो यस्य सोतत्स्वभाव, शीतादन्यदशीतत्वं तस्य तदन्यस्य व्यावृत्तेः। ५०९०. प्रत्यक्षस्य। ५०९१. "प्रत्यक्षज्ञानवादिनां" मुद्रितप्रतौ पाठः। ५०९२. जैनानाम्। ५०९३. नीलादौ। ५०९४. धारणारूपवासनातः। ५०९५. नीलमिति शब्दस्मृतिवत्। ५०९६. निर्विकल्पके विषये वा। ५०९७. तृतीयाद्विवचनमत्र। ५०९८. सामान्यम्। ५०९९. शब्देन प्रतिपाद्यम्। अपि त्वनभिलाप्यमेव। तच्च न सम्यक्। ५१००. परस्परासंश्लिष्टपरमाणुलक्षणम्। ५१०१. सामान्यव्यावृत्तम्। ५१०२. गोत्वं गोत्वमिति। ५१०३. वाच्यम्। ५१०४. इति

सामान्यद्वारेण स्वलक्षणमपि अभिलाप्यमिष्यते, सामान्यस्वलक्षणयोर्भेदाभावात्। ५१०५. ग्राहकभेदात्सामान्यस्वलक्षणयोर्भेदः, इत्युक्ते आह जैनः। ५१०६. विषयस्वभावभेद इति पाठान्तरम्।

५१०७. प्रत्यक्षं निर्विकल्पम्। ५१०८. स्मृतिः सविकल्पा। ५१०९. नीलक्षणक्षयस्वलक्षणस्य सामान्यस्य च। ५११०. सामान्यापेक्षयाभिलाप्यत्वमर्थपर्यायापेक्षयानभिलाप्यत्वं च। ५१११. अवाच्यतैकान्तदूषणेन। ५११२. प्रकृतमुपसंहरति। ५११३. सौगतस्य। ५११४. स्वलक्षणरूपस्य प्रत्यक्षाधारतया प्रत्यक्षरूपतया चानुपलभ्यमानत्वात्। ५११५. नीलादिप्रकारेण। ५११६. ततश्च। ५११७. अवाच्यतानिषेधः प्रकृतार्थः। ५११८. दूषणस्य। ५११९. अभिलापसंसर्गस्य सद्भावे। ५१२०. सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं। दव्वं खु सप्तभंगं आदेसवसेण संभवादि॥ छाया स्यादस्ति नास्ति उभयवक्तव्यं पुनश्च तत् त्रितयम्। द्रव्यं खलु सप्तभङ्गमादेशवशेन संभवति। अत्र द्रव्यस्यादेशवशेनोक्ता सप्तभङ्गी, स्यादस्ति द्रव्यं (१), स्यान्नास्ति द्रव्यं (२), स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यं (३), स्यादवक्तव्यं (४), स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (५), स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (६), स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (७), इति। अत्र सर्वथास्तित्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथञ्चिदित्यपरनामकः स्याच्छब्दो निपातः। तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं (विवक्षितम्) अस्ति द्रव्यम्। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यम्। क्रमेण स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमस्ति चावक्तव्यम्। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चायुगपदादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चायुगपदादिष्टमस्ति नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्। न चैतदनुपपन्नं, सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपेणाशून्यत्वात्, पररूपेण शून्यत्वात्, उभयाभ्यामशून्यशून्यत्वात्, सहावाच्यत्वात्, भङ्गसंयोगार्पणायामशून्यावाच्यत्वत्, सहावाच्यत्वात्, भङ्गसंयोगार्पणायामशून्यावाच्यत्वात् (अस्त्यक्तव्ये), शून्यावाच्यत्वात् (नास्त्यवक्तव्ये), अशून्यशून्याऽवाच्यत्वात् (स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्ये)। ५१२१. स्यादस्ति चावक्तव्यं च। ५१२२. स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च। ५१२३. स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यमेव च। ५१२४. च शब्दादेतेषां त्रयाणामेव समुच्चयः। कुत इत्युक्ते आह प्रश्नवशादिति। ५१२५. भेदः। ५१२६. (तत्त्वार्थवार्तिकालङ्कारे) ५१२७. वार्तिककारैरकलङ्कदेवैः। ५१२८. सप्तभङ्गी इति वचनेन। ५१२९. स्यात्सदवक्तव्यरूपस्य। ५१३०. कस्यचित् प्रथमद्वितीयचतुर्थभङ्गानां मध्ये परस्परं द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणां च संयोगाज्जातस्य। ५१३१. कस्यचित्तु तृतीयपञ्चमषष्ठसप्तमभङ्गानां परस्परं द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वा संयोगे अन्यैस्त्रिभिर्वा यथायथं संयोगे यो भङ्गो भवति तस्य। ५१३२. विधिः कल्पना।

५१३३. भावैकान्ते इति कारिकाव्याख्याने। ५१३४. प्रपञ्चतो द्वितीयपरिच्छेदे निराकरिष्यमाणत्वात्। ५१३५. सौगतस्य पक्षः। ५१३६. विधिकल्पनापेक्षया प्रतिषेधकल्पनापेक्षया च। ५१३७. यौगमतमालम्ब्य शङ्केयम्। ५१३८. निरपेक्षम्। ५१३९. (सद्वर्गस्तु द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायरूपः, असद्वर्गश्च निरपेक्षाभावपदार्थस्येति मतं यौगानाम्)। ५१४०. सदसदात्मकं विहायापरस्य प्रमेयस्यासंभवात्। ५१४१. जैनः प्रतिवदति "निषेयं" पाठान्तरम्। ५१४२. एकैकं सत्त्वासत्त्वादि। ५१४३. (युगपत्सदसदुभयवाक्यं वक्तुमशक्यमिति अवक्तव्यत्वविषयश्चतुर्थभङ्गोपि संभवति)। ५१४४. (सदवक्तव्यत्वविषयस्य, असदवक्तव्यत्वविषयस्य, सदसदुभयावक्तव्यत्वविषयस्य च)। ५१४५. पूर्वं द्वन्द्वः पश्चाद्वसः? (अस्त्यवक्तव्यम्) ५१४६. नास्त्यवक्तव्यम्। ५१४७. अस्ति नास्ति चावक्तव्यं च। ५१४८. एकत्र वस्तुनि ५१४९. यथा सर्वथा सत्त्वादिकल्पना। ५१५०. पूर्वमेवोक्तम्। ५१५१. नाना वस्तून्याश्रयो यस्याः सा चासौ विधिप्रतिषेधकल्पना। ५१५२. तटस्थो जैनः। ५१५३. न सप्तभङ्ग्येव। ५१५४. वस्तुधर्मा अनन्ताः। धर्मं धर्मं प्रति सप्तभङ्ग्यस्ति, एवमनन्ताः सप्तभङ्ग्यः। न त्वनन्तभङ्गी। ५१५५. स्यादेकं द्रव्यापेक्षया, स्यादनेकं पर्यायापेक्षया, स्यादेकानेकं क्रमेणोभयापेक्षया, स्यादवक्तव्यमित्यादिरीत्या। ५१५६. संशयविषयवस्तुधर्माणां मध्ये। ५१५७. (सत्त्वस्य वस्तुधर्मत्वप्रकारेण)। ५१५८. वस्तुधर्मः। ५१५९. स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः। ५१६०. असत्त्वानिष्टौ सत्त्वाङ्गीकारे इत्यर्थः। ५१६१. अयं घट एव न तु पट इत्येवम्।

५०११. निर्विकल्पकप्रत्यक्षादुत्पन्नः। ५०१२. निर्विकल्पकम्। ५०१३. जैनैः। ५०१४. अर्थोपयोगेपीत्यादिकारिकायामुक्तेन। ५०१५. अर्थोपयोगेपीति श्लोके। ५०१६. धर्मकीर्तिरेको बौद्धगुरुः। ५०१७. स्मार्तशब्दानुयोजनात्पूर्वम्। ५०१८. अर्थशब्देन निर्विकल्पकम्। ५०१९. सविकल्पकस्य। ५०२०. निर्विकल्पकस्य। ५०२१. उपयोग इन्द्रियज्ञानव्यापारः। ५०२२. अक्षज्ञानम्। ५०२३. न पुनर्ज्ञानोंपयोगेपीति कारिकाया जैनोक्तायाः। ५०२४. कारणेन। ५०२५. हे सौगत ! यथा शब्दाद्वैतवादिनो भवता दूषणं दत्तं तथा तवापीत्याह। ५०२६. उपयोगः सामान्यव्यवसायः। ५०२७. "व्यपायेपि" मुद्रितप्रतौ पाठः। ५०२८. उत्तरकालेऽपि। ५०२९. निर्विकल्पकबोधः। ५०३०. निर्विकल्पकज्ञानाभावेपि। ५०३१. विकल्पः। ५०३२. मुद्रितप्रतौ 'च' नास्ति। ५०३३. स्वो नीलस्वलक्षणोर्थः। ५०३४. द्वन्द्वः। ५०३५. उपादानभूतपूर्वक्षणज्ञानजन्म। ५०३६. सारूप्यं च निर्विकल्पकज्ञानात्। ५०३७. स्वविषयस्याध्यवसायो निश्चयः। ५०३८. स्वलक्षणस्य।

५०३९. 'सामान्ये' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५०४०. निर्विकल्पकप्रत्यक्षात्। ५०४१. तस्य निर्विकल्पकस्य पश्चाद्भाविनः। ५०४२.. प्रत्यभिज्ञानस्य। ५०४३. अतिप्रसङ्गं वक्ति। ५०४४. देशकालस्वभावभेदात्त्रयो विप्रकर्षाः। ५०४५. सामान्यस्मृतिनिमित्तं शब्दस्मृतिरपि नोपपद्यते इत्याह। ५०४६. वाच्यवाचकलक्षणस्य। ५०४७. स्याद्वादिभिस्तु स्वाभाविकोभ्युपगम्यते। ५०४८. सौगतः। ५०४९. सामान्यार्थेन नीलादिना सह। ५०५०. शब्दस्य, चकाराद्विकल्प्यस्य दृश्येन (अर्थेन) स्वलक्षणेनैकत्वाध्यवसायोस्ति। ५०५१. प्रमाणात्। ५०५२. यतो दृश्यं (स्वलक्षणरूपं) क्षणिकं, सामान्यं कियत्कालस्थायि। ५०५३. स्मृतिभावताध्यवसायस्यातनिरस्यति। ५०५४. निर्विकल्पज्ञानस्य। ५०५५. नीलादिग्राहकत्वप्रकारेण, न तु स्वलक्षणग्राहकत्वप्रकारेण। ५०५६. वर्तमानकालदृष्टेन सजातीयं पूर्वदृष्टम्। तत्र स्मृतिर्न स्यात्। ५०५७. दानं च हिंसाविरतिश्चेति द्वन्द्वः। ५०५८. व्यवसायात्मकत्वाभावे स्वर्गादिफलजननसामर्थ्ये क्षणक्षयादौ वा स्मृतिर्न यथा। ५०५९. यथाऽव्यवसायात्मनोक्षज्ञानात्समनन्तरप्रत्ययाद् व्यवसायात्मनो विकल्पस्योत्पत्तिर्न। ५०६०. न व्यवसायात्मकं मानसप्रत्यक्षं तथापि जात्यादिविषयकमिति सौगतेनोक्ते जैनः प्राह। ५०६१. पञ्चमी। ५०६२. व्यवसायात्मनो मानसप्रत्यक्षस्य। ५०६३. सौगतेन। ५०६४. तेन स्वयं व्यवसायात्मलक्षणेनाक्षज्ञानेन नीलादेरर्थगतक्षणक्षयलक्षणार्थस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपि व्यवसाय इन्द्रियज्ञानस्य, तथा नास्ति लोके। ५०६५. निरंशत्वेनाभेदात्। ५०६६. तेन मानसप्रत्यक्षेण स्वयं व्यवसायात्मना नीलादेर्व्यवसाये तत्क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपीत्यादिहेतोः। ५०६७. मानसप्रत्यक्षस्य। ५०६८. (आदिपदेन स्वर्गप्रापणशक्त्यादिर्ग्राह्यः)। ५०६९. (क्षणक्षयस्वर्ग)। ५०७०. क्षणक्षयाद्यविषयत्वात्। ५०७१. (तद्व्यवसायित्वम्)। ५०७२. अक्षज्ञानस्यापि नीलादिविषयत्वे क्षणक्षयाद्यविषयत्वे सति। तन्मते नीलादेः सकाशात्क्षणक्षयो भिन्नो न भवति, तस्य तत्स्वभावत्वात्। ५०७३. कूटे प्रतीयमानेप्यप्रतीयमानः पिशाचस्ततोन्यो यथा।

५०७४. इन्द्रियमानसप्रत्यक्षयोः। ५०७५. नीलादिग्राहकत्वप्रकारेण, न स्वलक्षणग्राहकत्वप्रकारेण। इति सति कथञ्चिदक्षज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वम्। ५०७६. मानसप्रत्यक्षप्रयोजनस्य। ५०७७. सविकल्पकप्रत्यक्षज्ञानवादिनाम्। ५०७८. प्रतिवाद्याद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादीनामभ्यासादिकमन्तरेण यथा स्मृतेरनुपपत्तिः। ५०७९. अभ्यासाद्यभावे एव। ५०८०. प्रज्ञाकरः। ५०८१. निरंशस्य। ५०८२. नीलादौ। ५०८३. क्षणक्षयेऽनभ्यासादीनाम्। ५०८४. सौगतः (प्रज्ञाकरः)। ५०८५. प्रत्यक्षेऽभ्यासादयः सन्ति, अनभ्यासादीनां व्यावृत्तेः। ततोन्योनभ्यासादिः। ५०८६. प्रत्यक्षे। ५०८७. अभ्यासादियोगः। ५०८८. प्रत्यक्षस्य। ५०८९. न शीतस्वभावो यस्य सोतत्स्वभाव, शीतादन्यदशीतत्वं तस्य तदन्यस्य व्यावृत्तेः। ५०९०. प्रत्यक्षस्य। ५०९१. "प्रत्यक्षज्ञानवादिनां" मुद्रितप्रतौ पाठः। ५०९२. जैनानाम्। ५०९३. नीलादौ। ५०९४. धारणारूपवासनातः। ५०९५. नीलमिति शब्दस्मृतिवत्। ५०९६. निर्विकल्पके विषये वा। ५०९७. तृतीयाद्विवचनमत्र। ५०९८. सामान्यम्। ५०९९. शब्देन प्रतिपाद्यम्। अपि त्वनभिलाप्यमेव। तच्च न सम्यक्। ५१००. परस्परासंश्लिष्टपरमाणुलक्षणम्। ५१०१. सामान्यव्यावृत्तम्। ५१०२. गोत्वं गोत्वमिति। ५१०३. वाच्यम्। ५१०४. इति

सामान्यद्वारेण स्वलक्षणमपि अभिलाप्यमिष्यते, सामान्यस्वलक्षणयोर्भेदाभावात्। ५१०५. ग्राहकभेदात्सामान्यस्वलक्षणयोर्भेदः, इत्युक्ते आह जैनः। ५१०६. विषयस्वभावभेद इति पाठान्तरम्।

५१०७. प्रत्यक्षं निर्विकल्पम्। ५१०८. स्मृतिः सविकल्पा। ५१०९. नीलक्षणक्षयस्वलक्षणस्य सामान्यस्य च। ५११०. सामान्यापेक्षयाभिलाप्यत्वमर्थपर्यायापेक्षयानभिलाप्यत्वं च। ५१११. अवाच्यतैकान्तदूषणेन। ५११२. प्रकृतमुपसंहरति। ५११३. सौगतस्य। ५११४. स्वलक्षणरूपस्य प्रत्यक्षाधारतया प्रत्यक्षरूपतया चानुपलभ्यमानत्वात्। ५११५. नीलादिप्रकारेण। ५११६. ततश्च। ५११७. अवाच्यतानिषेधः प्रकृतार्थः। ५११८. दूषणस्य। ५११९. अभिलापसंसर्गस्य सद्भावे। ५१२०. सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं। दव्वं खु सप्तभंगं आदेसवसेण संभवादि॥ छाया स्यादस्ति नास्ति उभयवक्तव्यं पुनश्च तत् त्रितयम्। द्रव्यं खलु सप्तभङ्गमादेशवशेन संभवति। अत्र द्रव्यस्यादेशवशेनोक्ता सप्तभङ्गी, स्यादस्ति द्रव्यं (१), स्यान्नास्ति द्रव्यं (२), स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यं (३), स्यादवक्तव्यं (४), स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (५), स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (६), स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (७), इति। अत्र सर्वथास्तित्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथञ्चिदित्यपरनामकः स्याच्छब्दो निपातः। तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं (विवक्षितम्) अस्ति द्रव्यम्। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यम्। क्रमेण स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमस्ति चावक्तव्यम्। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चायुगपदादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चायुगपदादिष्टमस्ति नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्। न चैतदनुपपन्नं, सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपेणाशून्यत्वात्, पररूपेण शून्यत्वात्, उभयाभ्यामशून्यशून्यत्वात्, सहावाच्यत्वात्, भङ्गसंयोगार्पणायामशून्यावाच्यत्वत्, सहावाच्यत्वात्, भङ्गसंयोगार्पणणायामशून्यावाच्यत्वात् (अस्त्यंक्तव्ये), शून्यावाच्यत्वात् (नास्त्यवक्तव्ये), अशून्यशून्याऽवाच्यत्वात् (स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्ये)। ५१२१. स्यादस्ति चावक्तव्यं च। ५१२२. स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च। ५१२३. स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यमेव च। ५१२४. च शब्दादेतेषां त्रयाणामेव समुच्चयः। कुत इत्युक्ते आह प्रश्नवशादिति। ५१२५. भेदः। ५१२६. (तत्त्वार्थवार्त्तिकालङ्कारे) ५१२७. वार्त्तिककारैरकलङ्कदेवैः। ५१२८. सप्तभङ्गी इति वचनेन। ५१२९. स्यात्सदवक्तव्यरूपस्य। ५१३०. कस्यचित् प्रथमद्वितीयचतुर्थभङ्गानां मध्ये परस्परं द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणां च संयोगाज्जातस्य। ५१३१. कस्यचित्तु तृतीयपञ्चमषष्ठसप्तमभङ्गानां परस्परं द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वा संयोगे अन्यैस्त्रिभिर्वा यथायथं संयोगे यो भङ्गो भवति तस्य। ५१३२. विधिः कल्पना।

५१३३. भावैकान्ते इति कारिकाव्याख्याने। ५१३४. प्रपञ्चतो द्वितीयपरिच्छेदे निराकरिष्यमाणत्वात्। ५१३५. सौगतस्य पक्षः। ५१३६. विधिकल्पनापेक्षया प्रतिषेधकल्पनापेक्षया च। ५१३७. यौगमतमालम्ब्य शङ्केयम्। ५१३८. निरपेक्षम्। ५१३९. (सद्वर्गस्तु द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायरूपः, असद्वर्गश्च निरपेक्षाभावपदार्थस्येति मतं यौगानाम्)। ५१४०. सदसदात्मकं विहायापरस्य प्रमेयस्यासंभवात्। ५१४१. जैनः प्रतिवदति "निधेयं" पाठान्तरम्। ५१४२. एकैकं सत्त्वासत्त्वादि। ५१४३. (युगपत्सदसदुभयवाक्यं वक्तुमशक्यमिति अवक्तव्यत्वविषयश्चतुर्थभङ्गोपि संभवति)। ५१४४. (सदवक्तव्यत्वविषयस्य, असदवक्तव्यत्वविषयस्य, सदसदुभयावक्तव्यत्वविषयस्य च)। ५१४५. पूर्वं द्वन्द्वः पश्चाद्वसः ? (अस्त्यवक्तव्यम्) ५१४६. नास्त्यवक्तव्यम्। ५१४७. अस्ति नास्ति चावक्तव्यं च। ५१४८. एकत्र वस्तुनि ५१४९. यथा सर्वथा सत्त्वादिकल्पना। ५१५०. पूर्वमेवोक्तम्। ५१५१. नाना वस्तून्याश्रयो यस्याः सा चासौ विधिप्रतिषेधकल्पना। ५१५२. तटस्थो जैनः। ५१५३. न सप्तभङ्ग्येव। ५१५४. वस्तुधर्मा अनन्ताः। धर्मं धर्मं प्रति सप्तभङ्ग्यस्ति, एवमनन्ताः सप्तभङ्ग्यः। न त्वनन्तभङ्गी। ५१५५. स्यादेकं द्रव्यापेक्षया, स्यादनेकं पर्यायापेक्षया, स्यादेकानेकं क्रमेणोभयापेक्षया, स्यादवक्तव्यमित्यादिरीत्या। ५१५६. संशयविषयवस्तुधर्माणां मध्ये। ५१५७. (सत्त्वस्य वस्तुधर्मत्वप्रकारेण)। ५१५८. वस्तुधर्मः। ५१५९. स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः। ५१६०. असत्त्वानिष्टौ सत्त्वाङ्गीकारे इत्यर्थः। ५१६१. अयं घट एव न तु पट इत्येवम्।

५१६२. सत्त्वासत्त्वयोर्वस्तुधर्मत्वनिरूपणेन। ५१६३. स्यादस्तिनास्तीत्यादिपश्नानाम्। ५१६४. सदसत्त्वविकल्पश्चासौ शब्दव्यवहारश्चेति कर्मधारयः (द्वन्द्वो वा)। ५१६५. अवक्तव्येन सह वर्तमानं तदुत्तरधर्मत्रयं चेति कर्मधारयः। अस्त्यवक्तव्यं, नास्त्यवक्तव्यमस्तिनास्ति चावक्तव्यं चेति धर्मत्रयम्। ५१६६. एभ्यो व्यवहारेभ्यः। ५१६७. तथाविधं रूपमादि यस्य स तथोक्तः। स चासौ व्यवहारश्च। अथवा तथाविधश्चासौ रूपादिव्यवहारश्च। ५१६८. (यथास्तित्वधर्मान्नास्तित्वधर्मो धर्मान्तरम्)। ५१६९. (अनन्तधर्माणां मध्ये विवक्षितेन स्वरूपादिना स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरित्यर्थः)। ५१७०. (विवक्षितादन्यत्तदन्यत्)। (तत्, तदन्यसत्त्वम्)। ५१७१. प्रथमतृतीयधर्मयोर्धर्मान्तरत्वनिराकरणेन। ५१७२. (स्यादस्ति चावक्तव्यमिति)। ५१७४. (स्यान्नास्ति चावक्तव्यमिति)। ५१७५. (स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यमिति)। ५१७६. स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति चेति त्रिषु भङ्गेषु मध्येऽन्तर्भूतत्वप्रकारेण। ५१७७. (अवक्तव्यत्वधर्मे सत्त्वस्यापरामर्शे पञ्चमो भङ्गो, नास्तित्वस्य च तत्रापरामर्शे षष्ठो भङ्गो, अस्तित्वनास्तित्वोभययोस्तत्रापरामर्शे सप्तमो भङ्ग इति)। ५१७८. अवक्तव्यत्वेन सहार्पितयोरित्यर्थः। ५१७९. 'वक्तव्य' इति पाठान्तरम्। ५१८०. (अवक्तव्यत्वेन)। ५१८१. तेन अवक्तव्यत्वेन सह सत्त्वस्यासत्त्वस्योभयस्य वाऽप्रतीतिरपि धर्मान्तरत्वासिद्धिर्वापि न, किन्तु प्रतीतिरेव धर्मान्तरत्वसिद्धिर्वास्त्येव ततो धर्मान्तरत्वमस्त्येव। ५१८२-८३-८४. अवक्तव्यत्वस्य। ५१८५. प्रधानभावेन प्रतीतेरित्यन्वयः। ५१८६. प्रथमादौ। ५१८७. शेषाः असत्त्वादि षट्। ५१८८. 'तदप्य' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५१८९. सामान्याकारेण (स्यादस्तीत्यादौ अस्तित्ववचनं सिद्धमेवेत्येवम्) वक्तव्यत्वसिद्धावपि विशेषेण (स्यादस्ति वक्तव्यमिति वक्तव्यत्वशब्दोच्चारणपूर्वकत्वेनैव) वक्तव्यतायां स्वीकृतायां सत्याम्। ५१९०. वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वाभ्याम्। ५१९१. संशयहेतुः। ५१९२. सप्तधैव। ५१९३. भट्टाकलङ्कदेवैः। ५१९४. वाणी।

५१९५. अत्र पूर्वोक्तकारिकायां स्याच्छब्दो नास्त्येव। ततः कथं गौः स्याद्वादामृतगर्भिणी स्यादित्याशङ्कायामाह। ५१९६. कारिकायां कथञ्चिच्छब्दोस्ति। ५१९७. कथञ्चिच्छब्देन। ५१९८. कपुस्तकेऽयं 'वा' शब्दो नास्त्येव। ५१९९. कथञ्चिच्छब्दादेवानेकान्तस्य कथनप्रकारेण। ५२००. कथञ्चिच्छब्दात्। ५२०१. प्रतिपादने। ५२०२. यथा वृक्ष इति सामान्येनोक्तेऽपि तदनु विशेषार्थिना न्यग्रोध इत्युच्यते। ५२०३. सदादिवचनेन। ५२०४. अनेकान्तस्य। ५२०५. अनेकान्तस्य। ५२०६. वस्तुनोनेकरूपत्वसाधनसामर्थ्यात्। ५२०७. प्रतिपादकस्य (शिष्यान्प्रति) ५२०८. स्याद्वादन्यायाप्रतीतेः। ५२०९. सिद्धे सति। ५२१०. (इत्येतावद्वचनेपि) ५२११. श्लोकवार्त्तिके। ५२१२. सौगत आह। ५२१३. किञ्चिदिदमिति निर्विकल्पकज्ञानमन्तरेणान्यत्किमपि नास्तीति तात्पर्यम्। ५२१४. विवेको भेदः। ५२१५. यथा जीवान्तरे संतानभेदः। ५२१६. स्वाधारजीवे। ५२१७. अन्वयविच्छेदप्रसङ्गात्। ५२१८. सन्तानभेदे सति दूषणमादर्शयन्ति जैनाः। ५२१९. इन्द्रियं विषयि। ५२२०. प्रथमाक्षसंनिपातसमये एव (योग्यक्षेत्रावस्थानं सन्निपातः)। ५२२१. यदेवेहितम्। ५२२२. अवायज्ञानविषयीकृतम्। ५२२३. कालान्तरेऽप्यविस्मृतिकारणं धारणाज्ञानविशेषः)। ५२२४. (धारणाहेतुका स्मृतिः)। ५२२५. यद्वस्तु ईदृग्धूम्रादिकार्यकृत् तदित्थमग्निरूपम्। ५२२६. हेतोः। ५२२७. अनुमितम्। ५२२८. शब्दयोजनया परार्थं विकल्पयोजनया स्वार्थम्। ५२२९. श्रुतज्ञानविषयीकृतम्। (मनोवलम्बने मतिज्ञानरूपादर्थादर्थान्तरज्ञानं श्रुतम्। यथा स्पर्शनेन्द्रियेण वायोर्मतिज्ञानविशेषे जाते वायुरयमिति, तदवलम्ब्य शीतवातेनैवं रोगाः प्रजायन्ते उष्णवातेन त्वेवमित्याद्यर्थान्तरज्ञानं श्रुतम्)। ५२३०. प्रत्यभिज्ञानप्रतीतिवत्। ५२३१. प्रत्यभिज्ञानबुद्धिः। ५२३२. दर्शनावग्रहादौ। ५२३३. प्राकट्यात्। ५२३४. अनुसंधीयमानः, प्रत्यभिज्ञानेन विषयीक्रियमाणः। ५२३५. दर्शनादिभ्योऽभिन्ना। ५२३६. यावद्धा दर्शनादयः। ५२३७. दर्शनावग्रहादेः। ५२३८. (अर्थात् अनेकभेदरूपादर्थादभिन्नं किञ्चित्स्वयमभिन्नं (अभेदरूपं) न भवति किन्तु स्वयमपि तावद्धा भिद्येतैव यावद्धा तदभिन्नपदार्थ इति स्वयं बौद्धैरभिहितम्)। ५२३९. वासनाप्रबोधात्।

५२४०. अशक्यविवेचनतया। ५२४१. दर्शनादीन्। ५२४२. स्वलक्षणेन स्वसंवेदनेन। ५२४३. यथा चित्रवित्तिक्षणो नीलादिविशेषनिर्भासनादनुभवन्स्वलक्षणप्रत्यक्षः। आकारानात्मभूतान् परस्परतो विविक्तानात्मसात्कुर्वन्

चित्रवित्तिक्षण: सर्वलोकानां यथा प्रसिद्ध:। ५२४४. सहभाविनो गुणान्, क्रमभाविन: पर्यायान्। ५२४५. जीवस्य। ५२४६. दर्शनावग्रहादीनामात्मना सहैकत्वाभावे। ५२४७. नीलादिविशेषेषु नियतदर्शनं ग्रहणं येषां ते तथोक्तास्ते च ते नानासंतानसंवेदनक्षणाश्च तेषु यथा संवेदनं न तथात्मदर्शनादीनामेकत्वाभावे आत्मापि न स्यात् ते दर्शनादयोपि च न स्युः। ५२४८. अनुसंधानमेव मननं ज्ञानं, यः सुखी स एवाहं दुःखीति। ५२४९. वासनावत्। ५२५०. य एव सुख्यासं स एवाहं दुःखी संप्रतीतिक्रम:। ५२५१. आत्मना सह। ५२५२. सौगत:। ५२५३. कालादिव्यवधानाभावात्। ५२५४. वास्यवासक:, समर्प्यसमर्पक:। ५२५५. अज्ञातभेदानाम्। ५२५६. कार्यकारणभाववास्यवासकभावयोरभावात्। ५२५७. सुगतेतरचित्तक्षणानाम्। ५२५८. चित्तक्षणानाम्। ५२५९. स्वरूपेण। ५२६०. संततीनाम्। ५२६१. आत्मना सह। ५२६२. वाताातपादौ। ५२६३. जीवस्य सत्त्वे। ५२६४. जीवे। ५२६५. समनन्तर: अव्यवहित:। ५२६६. सांख्य:। ५२६७. असत्त्वं विना परस्परं भेदानुपपत्तेः। ५२६८. बौद्धाभिमते चित्रज्ञानक्षणे। ५२६९. आदिना चित्रादिग्रहः। ५२७०. सितादिनिर्भासाश्च परमाणुसंवित्तयश्चेति द्वन्द्व:। ५२७१. संवित्तीनां तथा सितादिनिर्भासानामपि। जीवपरिहारोऽजीवस्थितिं, घटपरिहार: पटस्थितिं, नीलपरिहारोऽनीलस्थितिं करोति। ५२७२. अवयवबहुत्वाभावे। ५२७३. शबलं चित्रम्। ५२७४. यथा तदेकांशस्य परस्परपरिहारस्थित्यभाव:। ५२७५. अणो: सूक्ष्मत्वात्। ५२७६. अणुसंवित्तीनां सजातीयविजातीयव्यावृत्तौ। ५२७७. इतरो नीलादिप्रतिभासक्षण:। ५२७८. लवोंऽश:। ५२७९. तस्मात्कारणात्।

५२८०. (व्यावृत्तिमात्रे जगति)। ५२८१. सद्द्रव्यादिरूपस्य सामान्यस्य। ५२८२. व्यावृत्त्यपेक्षणात्। ५२८३. न केवलं सर्वथैकत्वप्रसङ्ग:, किन्त्वभावोपि। ५२८४. असद्रूपनिरपेक्षस्यान्वयस्य। ५२८५. मीमांसक:। ५२८६. निरपेक्षत्वे परस्परं विरोधात्। ५२८७. व्यतिरेकविशेषापेक्षया। ५२८८. जात्यन्तरम्। ५२८९. (तस्यांशौ भावाभावलक्षणौ निबन्धनं यस्य स चासौ विशेषश्चेति समास:)। ५२९०. अत्यन्ताभाव:। ५२९१. सदेवासदेव वेति। ५२९२. लवङ्गतमालपत्रनागकेसर-एला इति चातुर्जातकादि। ५२९३. एकरूपतां प्राप्तेपि। ५२९४. भिन्नप्रतिपत्तिवत्। ५२९५. भाट्टस्य। ५२९६. पानके यथा सर्वथोभयरूपत्वे जात्यन्तरप्रतीतिर्न प्राप्नुयात्। ५२९७. 'युक्तम्' पाठान्तरम्। ५२९८. पानके यथा दध्यादिभेदस्य जात्यन्तरस्यापि च प्रतीति:। ५२९९. सदाद्यंशिन:। ५३००. जात्यन्तरप्रतीत्यभावापत्तौ। ५३०१. स्वरूपादिना। ५३०२. पर रूपादिना। ५३०३. सत्त्वे असत्त्वे च। ५३०४. सत्त्वस्यासत्त्वप्रकारेण, असत्त्वस्य सत्त्वप्रकारेण उभयरूपोपगमाभावे। ५३०५. भाट्टस्य। ५३०६. स्वरूपादिनैव। ५३०७. यथा शीतोष्णयोर्वैयधिकरण्यं विरोधो वा (युगपदनेकत्रावस्थितिर्वैयधिकरण्यम्)। ५३०८. एकत्रैव कथं सत्त्वं कथं चासत्त्वमिति निश्चयानुत्पत्तेरेव। ५३०९. अष्टदोषप्रसङ्गो यत:। ५३१०. कथञ्चिदेव। ५३११. भवतु वस्तुन: कथञ्चिदुभयत्वं, न तु जात्यन्तरत्वमित्याशङ्क्याह।

५३१२. सौगत:। ५३१३. अस्तित्वनास्तित्वाभ्याम्। ५३१४. शब्देन। ५३१५. निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण विधिप्रतिषेधव्यवहारो भविष्यतीत्युक्ते आह। ५३१६. विशेषेणेव सामान्यरूपेणापि। ५३१७. निर्विकल्पकज्ञानम्। ४३१८. वस्तु। ५३१९. अनिश्चितस्य। ५३२०. यथा मूर्च्छापन्नचैतन्येन गृहीतमप्यगृहीतकल्पम्। ५३२१. अनेन जगतोन्धत्वं प्रतिपादितम्। ५३२२. शब्दाद्वैती वक्ति। ५३२३. इवशब्दोत्र एवार्थे। ५३२४. सत्। ५३२५. बोध:। ५३२६. प्रकाशहेतुभूता। ५३२७. शब्दाद्वैतिन:। ५३२८. सामान्यरूपेणेव विशेषरूपेणापि। ५३२९. वाच्यविषयत्वेनोभयोरभेदप्रसङ्गात्। ५३३०. (पर:) प्रत्यक्ष इति य: शब्द: स आत्मा यस्य। ५३३१. प्रत्यक्षगोचरविशेषस्य। ५३३२. (अनुमानागमज्ञानात्मा यस्य। स चासौ शब्दश्च। स विषयो यस्येति। तत्त्वम्)। ५३३३. प्रत्यक्षेतरयोरभिधेयत्वाविशेषात्। ५३३४. प्रत्यक्षेतरयो:। ५३३५. तदात्मकत्वं प्रत्यक्षेतरात्मकत्वम्। ५३३६. प्रत्यक्ष उपाधिर्यस्य। ५३३७. अयमागमज्ञानात्मक:, अनुमानज्ञानात्मक: शब्द:। ५३३८. बस:। ५३३९. द्वन्द्व:। ५३४०. भेदासिद्धौ प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्ग:। ५३४१. शब्दानात्मकत्वे। ५३४२. प्रत्यक्षेतरोपाधीनाम्। ५३४३. स्पष्टेतरप्रतिभासस्य। ५३४४. प्रत्यक्षेतराभ्यां सह। ५३४५. अवाच्यत्वेऽङ्गीक्रियमाणे। ५३४६. तदेव दर्शयति।

५३४७. अनभिधेयत्वात्। ५३४८. अक्षणिके क्षणिकत्वप्रसङ्गः, क्षणिकेऽक्षणिकत्वप्रसङ्ग इति विपर्ययः। ५३४९. सत्येतरवाक्ययोः। ५३५०. अनभिधेयत्वे। ५३५१. सामान्यार्थप्रतिपादकत्वप्रकारेण। ५३५२. वाक्यम्। ५३५३. प्रतिज्ञां करोति। ५३५४. साध्यं ज्ञापयितुम्। ५३५५. साध्यस्य। ५३५६. पारम्पर्येण। ५३५७. हेतुवचः। पूर्वं हेतुं समर्थयति। स हेतुः शक्तस्य सूचकः। ५३५८. हेतुवचः कृंताम्। ५३५९. हेतुवचनस्य वाच्यताम्। ५३६०. स्ववचनात्तत्त्वस्य सिद्धिरुपजीव्यते, न पुनः परवचनादिति व्यवस्थाभावानुषङ्गात्। ५३६१. अनभ्युपगमे। ५३६२. अन्यथेत्यध्याहार्यम्। ५२६३. अनभिमतं च तत्प्रतिवादिवचनं चेति यसः। ५३६४. वस्तु क्षणिकम्। ५३६५. वंशः परम्परा। ५३६६. युगपत्स्वपरद्रव्यचतुष्टयापेक्षया। ५३६७. भगवतः। ५३६८. (यथेति पाठः क्वचित्। तथा 'च' इति कारिकोक्तशब्दादित्यपि भङ्गत्रयं समुच्चितमित्यग्रेणान्वयः)। ५३६९. स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सह युगपत् स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया। ५३७०. स्वरूपादिचतुष्टापेक्षयेव पररूपादिचतुष्टयापेक्षयापि। ५३७१. पररूपादिचतुष्टयापेक्षया सहयुगपत्स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया। ५३७२. (स्वरूपेणेव पररूपेणापि)। ५३७३. तस्य सतः। ५३७४. क्रमेण सत्यपि सदसदात्मकत्वे युगपद्वक्तुमशक्तेः। ५३७५. कथञ्चित्ते सदेवेष्टमिति पूर्वकारिकायाम्। ५३७६. भङ्गचतुष्टयसामर्थ्याद् भंगत्रयस्यापि सामर्थ्यसिद्धत्वम्)। ५३७७. सप्तसंख्याप्रकारेण। ५३७८. पररूपादिचतुष्टयादित्यर्थः। ५३७९. (न चेदेवमिति ब्रुवाणः स्वेष्टतत्त्वे स्थितिं न लभेत)।

५३८०. सांख्यादिः। ५३८१. (स्वं विवक्षितम्)। ५३८२. सांख्यादिः। ५३८३. कुण्डबदरादौ। ५३८४. अनेकद्रव्याण्याश्रयो येषां ते। ५३८५. (तैः संयोगविभागैः)। ५३८६. (संयोगविभागादेः) ५३८७. (स्वस्य संयोगविभागादेः)। ५३८८. परद्रव्यात्। ५३८९. अयं संयोगोनयोरेव द्रव्ययोर्नान्येषां द्रव्याणामिति। ५३९०. (सांख्यं निरस्य प्रकृतं निरूपयन्त्याचार्याः)। ५३९१. सत्त्वादेः। ५३९२. सत्त्वस्य। ५३९३. द्रव्यप्रकारेण। ५३९४. वस्तुनः। ५३९५. स्वरूपादौ। ५३९६. वंस्तु। ५३९७. नैयायिकः। ५३९८. स्वरूपादिना सत्त्वविधानप्रकारेण। स्वरूपादीनां दर्शने स्वरूपान्तरमपेक्ष्यते चेत्। ५३९९. (कथं व्यवस्थेति संबन्ध)। ५४००. स्वरूपादेः ५४०१. स्वपररूपापेक्षया सत्त्वासत्त्वसमर्थनया। ५४०२. यथा नैयायिकोक्तमित्यर्थः। ५४०३. स्वरूपादिना सत्त्वप्रकारेण। ५४०४. प्रतीतिबलाभावे। ५४०५. एवमप्यनवस्थादूषणं कथं नेति प्रश्ने सत्याह।

५४०६. स्वरूपम्। ५४०७. नैयायिकोक्तम्। ५४०८. स्वरूपादीनां स्वरूपान्तरप्रतीतौ। ५४०९. स्वरूपादीनां स्वरूपान्तरोपगमेपि। ५४१०. यदैव स्वरूपान्तरे (अपरस्वरूपे) अप्रतिपत्तिस्तदैव स्वरूपे (तत्प्रथमे) व्यवस्थोपपत्तेः। यत्रैव यस्याप्रतिपत्तिस्तत्र तस्यानवस्था। 'यत्राप्रतीतिः' इति पाठान्तरम्। ५४११. अप्रतिपत्तिः तृतीयस्वरूपस्य। ५४१२. यथा आत्मनः स्वरूपं ज्ञानम्। तस्य स्वरूपं स्वार्थाकारव्यवसायः, तृतीयस्य स्वरूपस्याप्रतीतेः। ५४१३. जीवस्य। उपयोगो ज्ञानदर्शने। ५४१४. स्वस्य आत्मनः। अर्थस्य आत्मातिरिक्तस्य सर्ववस्तुनः। ५४१५. मतिश्रुताख्यस्य। (प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विधा ज्ञानम्। मतिश्रुते परोक्षम्। अवधिमनःपर्यये देशप्रत्यक्षे। केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षम्)। ५४१६. चक्षुरादिना आलोचनं ग्रहणम्। ५४१७. (ज्ञानोत्तरभेदानां स्वरूपमाह)। ५४१८. अनिन्द्रियं मनः। ५४१९. आत्मग्रहणं स्वरूपव्यवसायः। ५४२०. केवलज्ञानस्य। ५४२१. स्वार्थाकारव्यवसायादिभ्यः। ५४२२. (अन्येषामपि पदार्थानाम्)। ५४२३. स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयास्तित्वनास्तित्त्वनिरूपणेन। ५४२४. षड्भ्यो द्रव्येभ्यः। ५४२५. शुद्धव्यवहाभेदाद् द्वेधा द्रव्यम्। सत्सदिति शुद्धम्। भेदपुरस्सरत्वेनाभिमतं व्यवहारद्रव्यम्। ५४२६. (पुनरपि कश्चिन्निकटवर्ती पृच्छति)। ५४२७. शुद्धद्रव्यस्य। ५४२८. सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकत्वव्यतिरेकेण। ५४२९. कतिचिद्भावानपेक्ष्येत्यर्थः। ५४३०. कुन्दकुन्दकृते पञ्चास्तिकाये। ५४३१. सत्तासामान्यस्य स्वपररूपप्रतिपादनेन। ५४३२. सकलक्षेत्रं सकलकालश्चात्मा स्वरूपं यस्य तस्य। उभयस्य।

५४३३. (ल्यपः प्यसंज्ञा, खं तु लोपस्य जैनेन्द्रव्याकरणे। तेन ल्यब्लोपे इत्यर्थः। पञ्चम्याः 'का' संज्ञा। ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी भवतीत्यर्थः। यथा हर्म्यात्प्रेक्षते। हर्म्यमारुह्येत्यर्थः। तथैव स्वरूपादिचतुष्टयादित्यस्य

स्वरूपादिचतुष्टयमपेक्ष्येत्यर्थः। अत्र इयं (द्वितीयां संबाध्य पञ्चमी जाता)। ५४३४. पररूपादिचतुष्टयमपेक्ष्येत्यर्थः। ५४३५. तत् संविद् द्वैतम्। ५४३६. सत्त्वासत्त्वयोरेकवस्तुनि भेदोपपत्तिर्यतः। ५४३७. पदार्थानां सदसदात्मकत्वाभावे सर्वं वस्तु प्रत्येकमपि सर्वं कार्यं कुर्यात्। ५४३८. सर्वस्योभयात्मकत्वे दृष्टान्तः कथमित्याशङ्कायामाह। ५४३९. स्वपररूपाभ्यां विवक्षितयोः। ५४४०. एकत्र सत्त्वासत्त्वरूपतया।

५४४१. आगमप्रत्यक्षज्ञानयोः। ५४४२. शाब्दे शब्दः कारणं, प्रत्यक्षे तु इन्द्रियम्। ५४४३. निष्पन्नात्मनोः। ५४४४. आत्मद्रव्यापेक्षया। ५५४५. विच्छेदो भेदः। ५४४६. (अन्यथेत्यध्याहारः)। ५४४७. एकद्रव्यं जीवः। ५४४८. विषये विषयिणि च। ५४४९. अनुसंधानं प्रत्यभिज्ञा। ५४५०. इत्येकविषयत्वमुभयोः सिद्धम्। ५४५१. इत्येकद्रव्या(जीवः)श्रयत्वं तयोः। ५४५२. आत्मनः सकाशाच्छुतप्रत्यक्षज्ञानयोः। ५४५३. उपादानोपादेयभावात्। ५४५४. प्रत्यक्षागमज्ञानयोः। ५४५५. स्वरूपैकत्वाभावे। ५४५६. कार्यकालं प्रति। ५४५७. उपादानस्वरूपम्। ५४५८. अप्राप्नुवतः। ५४५९. उपादानोपादेयभूतानाम्। ५४६०. द्रव्यापेक्षया। ५४६१. उपादानोपादेययोः स्वरूपैकत्वे समानकालता स्यादित्युक्ते जैनः प्राह। ५४६२. यथा घटकपालादौ मृत्त्वम्। ५४६३. घटकपालादिपर्यायापेक्षया। ५४६४. उपादानोपादेयभूतानाम्। ५४६५. पूर्वापरपरिणामविरुद्धत्वात्। ५४६६. (यदीत्यर्थः स्यात्)। ५४६७. ('प्रतिभासातिशयवशात्' इति पाठान्तरम्)। ५४६८. तत् तर्हीत्यर्थः। एकत्वं द्रव्यप्रतिभासापेक्षया)। ५४६९. (पर्यायापेक्षया)। ५४७०. यथा सत्त्वपरिहारेणासत्त्वम्, असत्त्वपरिहारेण च सत्त्वम्। ५४७१. एकत्र वस्तुनि।

५४७२. यथा पुद्गले ज्ञानदर्शनयोः। ५४७३. यथा पुद्गले रूपज्ञानयोः। ५४७४. अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभावीत्यादिकारिकायाम्। ५४७५. नित्यानित्यात्मकमित्यर्थः। ५४७६. आत्मद्रव्यापेक्षया विशेषणमिदम्। यदि च पुद्गलादिकमप्यपेक्ष्य विशेषणं स्यादिदं तर्हि शरीरशब्दस्यात्रावयववाचकत्वं मान्यम्। ५४७७. लौकिकः परीक्षको वा। ५४७८. परोक्षज्ञानेन विषयीकरोति। ५४७९. यथा केशमशकादौ विवेकी व्यामुग्धबुद्धिश्च पुमान् केशमशकादिकं परोक्षयति साक्षात्करोति वा। ५४८०. एकाक्रमात्मकान्वयरूपसामान्यात्मसतपरिणामस्थित्यात्मकम्। ५४८१. आत्मा एकैकमेव बिभर्तीति चेत्। ५४८२. चित्स्वरूपादिना। ५४८३. द्वन्द्वः। ५४८४. अनुमानाज्ञानशब्दज्ञानादिना। ५४८५. पर्यायापेक्षया। ५४८६. प्रतिक्षणध्वंसिनम्। ५४८७. (न त्वन्वयरूपम्)। ५४८८. (न तु सामान्यात्मकम्)। ५४८९. (न तु पूर्ववत्सतपरिणामम्)। ५४९०. (न तु द्रव्यापेक्षयेव स्थित्यात्मकम्। एवमिदं सर्वं विशेषणजातं द्रव्यापेक्षया यदुक्तं ततो विरुद्धम्)। ५४९१. (आत्मानं परं वा साक्षात्करोति परोक्षयतीत्यनेनान्वयनीम्)। ५४९२. आदिपदेन क्षेत्रकालभावाः। ५४९३. (मुख्यतः प्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानानि, व्यवहारतस्तु प्रत्यक्षं चक्षुरादिजम्)। ५४९४. (स्वयं व्यवहितं लिङ्गशब्दादिना च ज्ञातुं योग्यं परोक्षद्रव्यादि)। ५४९५. (मुख्यत्वेन प्रत्यक्षमेकमपरं तु व्यवहारतः प्रत्यक्षम्)। ५४९६. मुख्यप्रत्यक्षादवधिमनःपर्ययकेवलरूपात्। ५४९७. व्यवहारप्रत्यक्षाच्चाक्षुषादिरूपाच्चावशिष्टं ज्ञानमनुमानादि परोक्षम्। ५४९८. प्रत्यक्षपरोक्षे द्वे।

५४९९. यद्येकः पुरुषः साक्षात्करोति परोक्षयति च। ५५००. साक्षात्करणे परोक्षीकरणे चायं दृष्टान्तः। ५५०१. लिङ्गाच्छब्दाद्वा। ५५०२. अविवेकोऽभेदः। आदिपदेन एकादि। व्यामोहो विपर्ययः। ५५०३. योग्यदेशादिप्रकारेण। ५५०४. आत्मरूपं कर्तृ। ५५०५. कर्मपदम्। ५५०६. सुखादिभेदम्। ५५०७. अनेकाकारम्। ५५०८. (अक्रमादिरूपम्)। ५५०९. इत आह—जैनः। ५५१०. एकानेकाकारयोर्मध्ये द्रव्यस्य पर्यायस्य वा। ५५११. भेदरूपे अभेदरूपे वा। ५५१२. सुखादौ भेद एवाभेद एवेति। ५५१३. सदसदात्मकम्। ५५१४. स्यादस्ति नास्तीति। ५५१५. (सह द्वौ धर्मौ वक्तुमशक्यत्वादवाच्यं तत्त्वमिति चतुर्थो भङ्गः)। ५५१६. (अवक्तव्यमुत्तरं येषु ते। यथा स्यादस्त्यवक्तव्यम्। स्यान्नास्त्यवक्तव्यम्। स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम्। ५५१७. सिध्यन्ति। ५५१८. (स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावाः परद्रव्यक्षेत्रकालभावा इति स्वपररूपादिचतुष्टद्वयम्। तस्मात्। क्रमेण स्वपररूपादिचतुष्टयद्वयमपेक्ष्य यदि वस्तु परीक्ष्येत तदोभयात्मकं (अस्तिनास्तिस्वरूपमेव)। ५५१९. प्राप्तस्य। ५५२०. द्वैतत्वादिति वा पाठः। ५५२१. (सहशब्दस्य 'वक्तुं' शब्देनान्वयः)। ५५२२. (अस्तित्वनास्तित्वधर्मयोः

सहवाचकस्य)। ५५२३. स्यादस्त्यवक्तव्यं, स्यान्नास्त्यवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमिति। ५५२४. (यद्यपि स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया स्यादस्ति, तथापि युगपत् स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया वक्तुमशक्यत्वादवक्तव्यमपीति हेतोः स्यादस्त्यवक्तव्यमित्यर्थः। एवं स्यान्नास्त्यवक्तव्ये स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्ये च भङ्गद्वये ज्ञेयम्)।

५५२५. तर्हि केवलोऽवक्तव्यत्वधर्मश्चतुर्थभङ्गः कथमुत्पद्यते इत्युक्ते सत्याह। तेषां सदसदुभयत्वधर्माणाम्। ५५२६. पररूपादिना सत् स्वरूपादिनाऽसदिति। ५५२७. विपर्यासेनादर्शनात्। ५५२८. दर्शनम्। ५५२९. स्वविषयोपलम्भात्मना परविषयानुपलम्भात्मना सदसदात्मकस्यैव प्रमाणत्वसिद्धेः, तथा सदसदात्मकस्यैव प्रमेयत्वव्यवस्थितेः। ५५३०. तज्जन्मादिप्रकारेण प्रमाणव्यवस्था घटते। अन्यथापि प्रमाणव्यवस्थोपपद्यते एवेति सौगताशङ्कायामाह। ५५३१. स अर्थः। ५५३२. स्वविषयस्यानुपलम्भव्यावृत्तिरिति उपलम्भ एव लक्षणं यस्य। स्वविषये घटे अनुपलम्भव्यावृत्तिरित्यस्य कोर्थः ? स्वविषयोपलम्भ इत्यर्थः। ५५३३. सौगतेन। ५५३४. स च स्वविषयोपलम्भनियमस्तज्जन्मादौ सत्येव नान्यथा इत्याशङ्कायामाह। ५५३५. निर्विकल्पकज्ञानम्। ५५३६. योग्यतया। ५५३७. सौगतः। ५५३८. तदुत्पत्तिकल्पनं, तदनु योग्यता, तत् आकारनुकरणं, ततो विषयनिश्चय इति। ५५३९. प्रमाणत्वस्य तज्जन्मादिभिरन्वयव्यतिरेकौ दर्शयति सौगतः। ५५४०. स्वानुपलम्भव्यावृत्तिरिति स्वविषयोपलम्भ एव। ५५४१. अर्थचक्षुरादिभ्यो दर्शनस्य जन्मनि सत्यपि। दर्शनमर्थं गृह्णाति न चक्षुरादीनिति। ५५४२. नीलाकारस्य दर्शनस्य। ५५४३. स्वसंतानसंतानान्तरयोरेकार्थाकारधारित्वेपि दर्शनं स्वसंतानं विषयीकरोति, न संतानान्तरम्। ५५४४. दर्शनस्य। ५५४५. प्राक्तनानन्तरप्रत्ययेन। ५५४६. दर्शनस्य। ५५४७. विभ्रमो हेतुर्येषां फलज्ञानानां तैः।

५५४८. पीताकाररूपस्य। ५५४९. प्राक्तने पीताकारज्ञाने। ५५५०. तस्य दर्शनस्य यत्प्रामाण्यं तस्य। ५५५१. स्वस्य शून्यस्य। ५५५२. सौगतः। ५५५३. प्रतिवादिनम्। ५५५४. नियतस्वविषयोपलम्भलक्षणमित्यर्थः। स्वविषये पटादेर्व्यावृत्तिर्लक्षणं यस्य। ५५५५. नियतस्वविषयम्। ५५५६. सौगतस्य। ५५५७. स्वार्थः शून्यता। ५५५८. अज्ञातं शून्यं वा। ५५५९. सौगतः। ५५६०. जैनम्। ५५६१. (सौगतः स्वयमेवाप्रतिपन्नं शून्यमर्थं परं प्रति प्रतिपादयितुं नालम्, उपालब्धुं वा परं नालं यतः पराभ्युपगतं प्रमाणं स्वयं जानात्येव न, तन्मते सर्वस्य शून्यत्वादित्यर्थः)। ५५६२. प्रमाणप्रतिपत्तौ। ५५६३. (सौगतमतं निरस्य स्वसिद्धान्तं निरूपयति जैनः)। उपलम्भो विषयः। ५५६४. दर्शनस्य। ५५६५. स्वपररूपाभ्यां। ५५६६ तदेकोपलम्भनियमाभावे। ५५६७. (दर्शनमात्रात्) पुमान्। ५५६८. सन्तानान्तरज्ञानादेकोपलम्भाभावे न प्रवर्तते नापि निवर्तते नरो यथा। ५५६९. (एकस्योपलम्भ एव)। ५५७०. उपलम्भविषयभूतादन्यस्य। ५५७१. उपलम्भविषयभूतस्य। ५५७२. उपलम्भविषये। ५५७३. तथाविधात्। ५५७४. पुंसः। ५५७५. एकोपलम्भनियमाभावे। ५५७६. दर्शनात्। ५५७७. भ्रान्तज्ञानादपि प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गात्। ५५७८. प्रमाणम्। ५५७९. वस्तु। ५५८०. क्रमरहितामित्यर्थः। ५५८१. वचनम्। कर्तृपदम्। ५५८२. एकदैव। ५५८३. (शब्दस्यैतादृश्येव शक्तिर्यदेकस्मिन्समये एकः शब्द एकमेव धर्ममभिधत्ते)। ५५८४. सर्वेषां पदानां प्रत्येकं कस्यचिदेकस्यैवार्थस्य विषयित्वप्रसिद्धेरित्यर्थः। ५५८५. (एकस्य पदस्यानेकार्थविषयत्वे)। ५५८६. (तयोः सदसतोर्मध्ये)। ५५८७. सच्छब्दस्यास्य सदर्थो वाच्योसदर्थो वा श्रुतस्यासच्छब्दस्य चासदर्थः सदर्थो वा वाच्य इति। न च तथा संशयो दृश्यते (सदसच्छब्दवाच्यज्ञाने) 'संशयात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५५८८. (सर्वे हि दिगाद्यर्थवाचका गोशब्दा भिन्ना इत्यर्थः)। ५५८९. (घटपटाद्यनेकार्थान्प्रति)। ५५९०. घटपटादिरूपेण।

५५९१. (इति जैनोक्तवाक्यस्य सप्तभङ्ग्यां तृतीयभङ्गरूपस्यैकत्वेप्यनेकार्थविषयत्वं, सदसतोरुभयधर्मयोरनेनोक्तत्वादिति परेणाशङ्किते जैनः प्राह)। ५५९२. अत्र कालप्रत्यासत्तिरुपचारस्य निमित्तम्। ५५९३. क्रिया तिङ्रूपा। एकतिङ्वाक्यमिति वचनात्। ५५९४. ततश्चेत्यध्याहार्यम्। ५५९५. द्योतकवाचकभेदात्पक्षद्वयं तत्र वाचकपक्षे। ५५९६. (स्यादिति शब्दस्य)। ५५९७. द्योतकपक्षे। ५५९८. अन्यथेत्यध्याहार्यम्। ५५९९. (तस्य विवक्षितधर्मस्य)। ५६००. विधिवचनं नियतार्थवचनं। ५६०१. युगपत्। ५६०२. शब्दः। ५६०३. जैनेन्द्रे

शतृशानप्रत्यययोः । सदिति संज्ञा यथा यथासंकेतं शतृशानवभिदधाति । ५६०४. शब्दस्य । ५६०५. वाचकवाच्ययोः । ५६०६. कर्तुः शक्त्यशक्तौ कर्मणो वा शक्त्यशक्ती । तयोर्मध्येन्यतरस्याः । ५६०७. विवक्षावशात् । ५६०८. लेखनं भेदनं । अयो यथा दारु छिनत्ति न तथा वज्रम् । ५६०९. अयसः । ५६१०. आच्छेद्यत्वे । ५६११. कर्मणः । ५६१२. तयोर्मध्ये । ५६१३. लेख्यलेखनयोः । ५६१४. अलेख्यालेखनयोः । (अलेख्यत्वं कर्मणः । अलेखनत्वं कर्त्रपेक्षया) । ५६१५. अनेकार्थप्रतिपादने शक्त्यभावेपि संकेतवशादनेकार्थप्रतिपादनं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह । ५६१६. सा प्रतिपादनशक्तिः ।

५६१७. द्वावर्थौ विषयौ यस्य तत् । ५६१८. पाणिन्यादीनाम् । ५६१९. "स्वरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इति पाणिनिसूत्रेण । ५६२०. जैनेन्द्रकर्तृणाम् । ५६२१. "स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः" इति सूत्रं जैनेन्द्रे । ५६२२. वृक्षश्च वृक्षश्चवृक्षावित्येकशेषे एकोऽवशिष्टो वृक्षशब्द, एकश्च लुप्तस्तयोः । ५६२३. (जैनेन्द्रमतानुसारेण) । ५६२४. शब्दस्य । ५६२५. द्रव्यापेक्षया । ५६२६. एकत्वद्वित्वबहुत्वविशिष्टकथनस्य सामर्थ्यात् । ५६२७. अनेन प्रकारेण । ५६२८. पदस्य विशेषणम् । ५६२९. द्रव्यप्रकाशनानन्तरम् । ५६३०. नपुंसकत्वादि । ५६३१. एकत्वादिकान् । ५६३२. विभक्त्यपेक्षारहितः । ५६३३. समवेतद्रव्यकथनानन्तरमित्यर्थः ।

५६३४. द्वितीयस्य । ५६३५. कर्तरि युडत्र । आकाङ्क्षकेणेत्यर्थः । ५६३६. (गुणभूतो धर्मोऽनेकत्वम् । तं नापेक्षते इति गुणानपेक्षस्तस्य प्रधानस्य) । ५६३७. निराकरणात् । ५६३८. गुणप्रधानार्थत्वात् । ५६३९. आकाङ्क्षति वाञ्छति अनेकान्धर्मानिति आकाङ्क्षी, तस्य पुंसः । ५६४०. (स्यादिति निपातः । अनेकेषां धर्माणामाकाङ्क्षकः, गुणभावेन इत्यर्थः ।) ५६४१. गुणोऽमुख्यः । ५६४२. द्रव्यमेवार्थ इति । ५६४३. निराकरोति । ५६४४. गुणः प्रधानश्चार्थो विषयो यस्य एवंभूतं वाक्यम् । ५६४५. सर्वस्य वाक्यस्य गुणप्रधानाभ्यामर्थवाचकत्वप्रकारेण । ५६४६. (कालादिभिरभेदेन द्रव्यार्थिकनयार्पितेन, अभेदोपचारेण पर्यायार्थिकनयार्पितेन चेत्यर्थः) । ५६४७. सपर्ययस्य । ५६४८. वयं जैनाः । ५६४९. एतदेव भावयति । ५६५०. कथनम् । ५६५१. अनेकेऽर्था यस्य प्रमाणवाक्यस्य तत् । ५६५२. रभेदे पाठान्तरं । ५६५३. पुरुषेण स्मर्यते, संकल्प्यते । ५६५४. (वाचकवाच्ययोः कर्तृकर्मणोः शक्त्योर्नातिलङ्घनं संकेतसहस्रेणापि यत इत्यर्थः) । ५६५५. प्रमाणवाक्यस्य । ५६५६. यथा रूपं चक्षुर्ज्ञानजननशक्तियुक्तं तथा शब्दोपि चक्षुर्ज्ञानजननशक्तियुक्तोस्तीति वक्तुं शक्यं, शक्त्यशक्त्योरनतिलङ्घनात् । ५६५७. शब्द एव । ५६५८. शब्द एव । ५६५९. शब्दस्य । ५६६०. अन्यथेति पूर्वोक्तं पदमत्रोत्तरत्रापि च संबन्धनीयम् । ५६६१. आदिपदेन अघ्राणत्वादयः) । ५६६२. (आदिपदेन रूपादिधर्मा ग्राह्याः ।) । ५६६३. स्वशक्त्यतिक्रमे चाक्षुषत्वादयः शब्दादिधर्मा भवेयुर्यतः । ५६६४. (अन्यशब्दस्य वाच्यानि) । ५६६५. प्रतिशब्दादिकम् । ५६६६. वाच्यवाचकत्वलक्षणानि ।

५६६७. द्रव्यापेक्षया । ५६६८. शब्दस्य विषयः । ५६६९. ततश्चेत्यध्याहार्यम् । ५६७०. सत् द्रव्यम्, असत् पर्यायः । ५६७१. व्यस्तं क्रमप्राप्तं । युगपत्सह अक्रम इति यावत् । ५६७२. (भङ्गत्रयमेव दर्शयति ग्रन्थकारः) । ५६७३. सदित्यागतरूपम् । ५६७४. सदित्यागतरूपस्य व्यत्स्य द्रव्यस्याश्रयणात्त्वत्र सदिति कथनं, द्रव्यपर्याययोः सहार्पितयोस्तदैवाश्रयणादवक्तव्यं चेति स्यात्सदवक्तव्यरूपः पञ्चमभङ्गः संघटते । (एवमुत्तरत्रापि षष्ठसप्तमभङ्गयोर्ज्ञेयम्) । ५६७५. द्रव्याश्रयणे सदंशो विवक्षित इत्यर्थः । ५६७६. असदिति । ५६७७. इति स्वामिसमन्तभद्राणामभिप्रायः । ५६७८. अद्वैतापेक्षया । ५६७९. बौद्धमतापेक्षया । (स्वलक्षणं क्षणिकत्वं लक्षणं यस्य तत्) ५६८०. सत्सामान्यरहितम् । ५६८१. पराभ्युपगममात्रान्न तु परमार्थतः । ५६८२. अन्यापोहसामान्यस्याऽसत्त्वरूपरूपत्वेन पर्यायत्वं न विहन्यते इति भावः । ५६८३. अन्यापोहसामान्यं यथा अगोव्यावृत्तिर्गौः । ५६८४. यौगमतापेक्षया । ५६८५. (सामान्यरूपेण सदवक्तव्यमेव विशेषापेक्षयाऽसदवक्तव्यमेवेत्यर्थः । कुतः ? यतो यौगमते सामान्यं नित्यमेकं सर्वगतं सर्वथाऽभिन्नमस्ति । तदपेक्षया सदवक्तव्यमेव । घटपटादींस्तु यौगोऽनित्यानेव मन्यते । तदाद्यपेक्षया असदवक्तव्यमेव वस्तु सर्वथा) । ५६८६. सदवक्तव्ये एवासदवक्तव्ये एव सदसदवक्तव्ये एव च क्रमेण । ५६८७. अद्वैतपक्षे । ५६८८. विशेषरहितम् । ५६८९. परेण अद्वैतवादिना । ५६९०. व्यक्त्यपेक्षयापि सामान्यापेक्षयेव । ५६९१.

(सर्वात्मना सामान्यमेव यदि तदा शब्देन नैव वाच्यं स्यात्)। ५६९२. (पुंस्त्वस्त्रीत्वानपेक्षम्)। ५६९३. सामान्यस्य। ५६९४. स्वविषयज्ञानमात्रे। ५६९५. सामान्यस्य। ५६९६. स्वविषयज्ञानजनने। ५६९७. अप्रतिपन्नत्वाविशेषात्। ५६९८. सामान्यस्य। ५६९९. व्यक्तिभिः।

५७००. तस्य ताभिरुपकारः क्रियते न वेति। ५७०१. उपकारः सामान्यादभिन्नो भिन्नो वेति विकल्पद्वयमत्रापि। ५७०२. व्यक्त्याः कार्यत्वप्रसङ्गः। सामान्यमपि कृतं स्यादित्यर्थः। ५७०३. सामान्यादभिन्नस्य। ५७०४. उपकारस्य। ५७०५. अस्यायमुपकार इति। ५७०६. सामान्यस्य। ५७०७. संबन्धसिद्ध्यर्थम्। ५७०८. तस्य ताभिरनुपकारकरणे। ५७०९. अकिञ्चित्करस्य सहकारित्वाभावादित्यर्थः। ५७१०. आलम्बनो विषयः। ५७११. एकज्ञाने। ५७१२. (व्यक्तीनाम्)। ५७१३. अनधिगमत्वेन व्यापारोधिपतित्वम्। ५७१४. (तत्र ज्ञाने आलम्बनभावेन व्यक्तीनामपि व्यापृतत्वात्)। ५७१५. अथवा अदृष्टस्य शुभाशुभलक्षणस्याधिगतस्य रूपज्ञानेधिपतित्वेन व्यापारोस्ति नैव। ५७१६. वाहादिरूपायां ज्ञानादिरूपायां वा। ५७१७. नित्यात्सामान्यात्। ५७१८. खण्डमुण्डादौ। ५७१९. सामान्यविशेषयोरसंबन्धात्। ५७२०. सामान्यस्य साक्षादर्थक्रियायामुपयोगं परिहृत्य परम्परयापि तं परिहरति। ५७२१. परम्परया। ५७२२. (संयोगसमवायाभ्यां व्यतिरिक्तस्य संबन्धान्तरस्य वादिमते असिद्धेः)। ५७२३. सामान्यविशेषव्यतिरिक्तः। ५७२४. तादात्म्यस्य। ५७२५. उक्तप्रकारेण। ५७२६. इति विशेषज्ञानात्। ५७२७. सामान्ये। ५७२८. सामान्यवान्विशेष इति। ५७२९. विशेषणविशेष्यभावः सामान्याविशेषाभ्यां भिन्नोऽभिन्नो वेति विकल्पद्वयं कृत्वा क्रमेण दूषयन्ति जैनाः। ५७३०. अभेदेङ्गीक्रियमाणे। ५७३१. स्वसिद्धान्तो भेदपक्षः। ५७३२. सामान्यविशेषयोः। ५७३३. भेदे। ५७३४. संबन्धानुपपत्तेः।

५७३५. अभिन्नमेव वा सर्वथा। ५७३६. शब्देन जातिराक्षिप्यते ज़ात्या व्यक्तिस्ततः प्रवृत्तिरिति। ५७३७. अमूर्तैकरूपस्य सामान्यस्य। ५७३८. सामान्यमिति नामापि। ५७३९. शब्देनागृहीतम्। ५७४०. विद्यमानेनापि सामान्येन। ५७४१. अन्यशब्देन सामान्यान्तरं ग्राह्यम्। ५७४२. विशेषस्य विशेषान्तराद्व्यावृत्त्यभावे स्वभावहानिप्रसङ्गो यथा। ५७४३. सामान्यस्य सामान्यान्तरादव्यावृत्तौ स्वभावहानिप्रसङ्गो यथा ततो विशेषात्। ५७४४. भाष्यं भावयन्नाह। ५७४५. विशेषरूपाश्रयात्। ५७४६. विशेषस्य यथा विशेषादव्यावृत्तौ प्रतिनियतस्वभावहानिः। ५७४७. नैयायिकवैशेषिकसांख्यभाट्टप्रभाकराणाम्। ५७४८. आनन्त्यादिति साधनं कथं सिद्धम्? संकेताविषयत्वात्। तदपि कथम्? अनन्वयात्। तदपि कथम्? शब्दव्यवहारविषयत्वात्। (इति पूर्वपूर्वहेतुत्वमुत्तरोत्तरस्य) ५७४९. संकेतितस्य स्वलक्षणस्य व्यवहारकालेऽनुगमभावात्। ५७५०. स्वलक्षणस्य मा भूत्, सामान्यस्य वाच्यत्वं स्यादिति बौद्धेनोक्ते आह जैनः। ५७५१. अन्यापोहः सामान्यं बौद्धाभिमतम्। ५७५२. ज्ञानस्य। ५७५३. अन्यापोहस्य विषयो गोत्वादिः। ५७५४. आह सौगतः। ५७५५. त्रिरूपलिङ्गस्यान्यस्मात्पञ्चरूपलिङ्गादितो व्यावृत्त्या अन्यापोहलक्षणस्य प्रकाशकम्। ५७५६. साधनवचनात्। ५७५७. यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं, घटमानयेत्यादि। ५७५८. अन्यद्वचनस्य। ५७५९. ततश्च नान्यापोहः सर्वस्य शब्दस्यार्थ इत्येतत्सिद्धसाधनम्। कुतः? साधनवचनस्यान्यापोहविषयत्वोपगमात्। ५७६०. जैनः प्राह। ५७६१. अर्थो विषयः। ५७६२. लिङ्गशब्देनात्र लिङ्गवाचकं वचनं (यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति) ग्राह्यम्। ५७६३. वस्तुस्वलक्षणम्। ५७६४. केनापि प्रमाणेन। ५७६५. विषयः। ५७६६. आह सौगतः। ५७६७. साधनवचनस्य। ५७६८. इतो जैनो ब्रूते। ५७६९. स्वलक्षणक्षणक्षयस्यापि शब्दार्थत्वादित्यर्थः। ५७७०. अस्तित्वसाधनात्। ५७७१. सौगतः। ५७७२. नीलक्षणक्षयस्य। ५७७३. अन्यापोहार्थः समर्थ्यते। ५७७४. स्वलक्षणरूपस्य।

५७७५. जैनः। ५७७६. दृश्यविकल्प्ययोः। ५७७७. सामान्यस्य विकल्प्यस्यान्यापोहलक्षणस्य। ५७७८. त्रिविप्रकृष्टेतरयोरप्येकत्वाध्यवसायप्रसङ्गात्। ५७७९. सामान्यस्य विकल्प्यस्य। ५७८०. स्वलक्षणग्राहकप्रत्यक्षस्य, ५७८१. निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण। ५७८२. स्वलक्षणदर्शनमिथ्याध्यवसाययोः। ५७८३. विकल्पस्य। ५७८४.

सौगतः। ५७८५. एष विषयो नीलस्वलक्षणः। ५७८६. निर्णयजनकम्। ५७८७. संशयादिना दर्शनविषयसमारोपस्य व्यवच्छेदनाभावात्। ५७८८. १४-१५। ५७८९. नीलस्वलक्षणे। ५७९०. बसः, (बहुव्रीहिः); ५७९१. विवक्षितांशेऽक्षणिके। समारोपव्यवच्छेदकनिर्णयजनकदर्शनविषये। ५७९२. तन्मात्रस्या- (क्षणिकस्य)न्यस्मा (अक्षणिकात्)-दपोहो व्यावृत्तिर्गोचरो यस्य तत्, अक्षणिकाव्यावृत्तं क्षणिकमिति तात्पर्यम्। ५७९३. समारोपं व्यवच्छिनत्तीति समारोपव्यवच्छेदो विकल्पस्तस्य। ५७९४. यथा नीलादिस्वलक्षणदर्शनस्य स्वस्वरूपव्यवस्थापनार्थं विकल्पान्तरेण भाव्यं तथा समारोपव्यवच्छेदविकल्पस्यापि स्वस्वरूपव्यवस्थापनार्थं विकल्पान्तरेण भाव्यमित्यनवस्था। ५७९५. विकल्पः स्वसंवेदनं नीलादिस्वलक्षणदर्शनयोः। ५७९६. वस्तु नीलादिक्षणः। तस्य दर्शनं प्रत्यक्षम्। समारोपः अक्षणिकः। ५७९७. तत्त्वपरिसमाप्तौ। ५७९८. क्षणिके अक्षणिकस्य समारोपः। ५७९९. विकल्पः। ५८००. निश्चयः। ५८०१. स्वस्वरूपम्। ५८०२. वस्तुदर्शनस्येति पदं देहलीदीपकन्यायात् निश्चयापेक्षया इति पूर्वोक्तेपि वाक्ये सम्बध्यते। ५८०३. परिनिष्ठिताविकल्पनेनान्वयः। ५८०४. वस्तुदर्शनस्य स्वतः स्वरूपपरिनिष्ठांपन्ने।

५८०५. खण्डादयो हि विशेषसमानपरिणामरहिता एव एकप्रत्यवमर्शादिकार्थहेतवो भवन्ति, अतत्कार्यकारणव्यावृत्तत्वादिन्द्रियादिवत्समुदितेतरगुडूच्यादिवच्चेत्यादि वदन्निति संबन्धः। अतत्कार्यकारणो हि गौः। ५८०६. समुदिता इतरे शुण्ठ्यादयो यत्र ते तथोक्ताः। ते च ते गुडूच्यादयश्च। तद्वत्। ५८०७. बौद्धः। ५८०८. अतत्कार्यकारण-व्यावृत्तेः। ५८०९. कर्कादिविशेषे श्वेतघोटकादौ। ५८१०. अतत्कार्यकारणव्यावृत्तौ संकेतदर्शिनोपि। ५८११. (घोटकादौ)। ५८१२. द्वन्द्वः। ५८१३. व्यतिरेको व्यावृत्तिः। ५८१४. गुडूच्याद्युदाहरणस्य। ५८१५. कर्कटिकादिविशेषस्त्रपुषः। ५८१६. कारणस्य जननशक्तेः कार्यं जन्यशक्तिः। ५८१७. (इति शब्दोत्र 'यतः' इत्यर्थे)। ५८१८. नास्तित्वस्य पररूपाश्रयत्वेपि वस्तुरूपत्वं यदि। ५८१९. पररूपाश्रितं नास्तित्वं विवक्षितवस्तुस्वरूपं स्यादित्यतिप्रसङ्गः। ५८२०. अद्वैतवादिनम्। ५८२१. वस्तुनो धर्मः। ५८२२. नास्तित्वेन। ५८२३. जीवादौ। ५८२४. हेतौ यथा साधर्म्यं वैधर्म्येण सहाविनाभावि।

५८२५. (भिन्नाधिकरणमस्तित्वं नास्तित्वेन सहाविनाभावि नेत्यर्थः)। ५८२६. (अयुक्तमुदाहरणं दृष्टान्तस्य हेतुदेशेषु सर्वत्राघटनात्)। ५८२७. (केवलान्वयिनि हेतौ)। ५८२८. साधर्म्यवैधर्म्येति)। ५८२९. स्वमतापेक्षया प्रतिज्ञाय (उक्त्वा) बौद्धमतापेक्षयाभिप्रेत्य (उपरिष्टात्प्रकरणादिवशेन ज्ञात्वा, बौद्धमते पक्षवचनस्यानभिप्रेतत्वात्)। ५८३०. जीवादितत्त्वे यथान्वयोस्ति। ५८३१. जीवः परिणामी, प्रमेयत्वात्, यो यः प्रमेयः स स परिणामी यथा घटः, यो न परिणामी स न प्रमेयो यथा खपुष्पमिति। ५८३२. साधनधर्मः प्रमेयत्वम्। ५८३३. खपुष्पादौ। ५८३४. खपुष्पमिति। ५८३५. (इति सौगतेनाशङ्क्येत चेत्तर्हि न किञ्चिदित्याह जैनः)। ५८३६. खपुष्पप्रमितौ। ५८३७. अन्यथेत्यध्याहार्यम्। खपुष्पप्रमितौ प्रमाणं चेदित्यर्थः। ५८३८. अयं प्रमेयः, असौ प्रमेयाभाव इति व्यवस्था न स्यात्। ५८३९. अवाच्यस्य। ५८४०. अनिर्देश्यत्वकल्पनापोढत्वव्यवहारस्य। ५८४१. जैनस्य। ५८४२. खपुष्पपरिच्छित्तौ। ५८४३. प्रमाणाभावेपि। ५८४४. सौगतीयम्। ५८४५. प्रमेयाभावस्य शब्दविकल्पविषयत्वेपि प्रमेयत्वाभावो यतः। ५८४६. खपुष्पादयः। ५८४७. प्रत्यक्षे। ५८४८. खपुष्पादीनाम्।

५८४९. (स्वभावहेतुना कार्यहेतुना वाविनाभावसंबन्धाभावात्)। ५८५०. लिङ्गरूपेण। ५८५१. (अर्थक्रियाकारित्वाभावाभावादित्यर्थः)। ५८५२. (सतोऽर्थक्रियाकारित्वाभावाभावलक्षणत्वात्)। ५८५३. प्रतिबन्धाभावेपि खपुष्पादीनां प्रमेयत्वं स्यादित्युक्ते आह। ५८५४. (खपुष्पादीनाम्)। ५८५५. प्रत्यक्षानुमानाभ्यां व्यतिरिक्तं तृतीयम्। (न च बौद्धेन तृतीयं प्रमाणं स्वीकृतमतो दोषः)। ५८५६. प्रमेयत्वस्य धर्मस्य।५८५७. (नो चेत्प्रमाणविषयत्वरूपस्य धर्मस्य अनाश्रयत्वं तर्हि)। ५८५८. ततश्चेत्यध्याहार्य (खपुष्पादीनां वस्तुत्वापत्तावित्यर्थः)। ५८५९. स्वलक्षणं सत्, अन्यापोहस्त्वसदिति। ५८६०. असद्व्यवहाराभावः। ५८६१. आकाशाद्यात्मकस्वलक्षणं मुक्त्वा खपुष्पाद्यभावो न दृश्यते। खपुष्पादीनामभावाभावे च तेषां प्रमेयत्वमेवेति बौद्धेनाशङ्किते प्राहुर्जैनाः। ५८६२. खपुष्पाभावः। ५८६३. नियमो निषेधः। ५८६४. एकतानत्वमेकविषयत्वम्। ५८६५. एकतानत्वाभावोऽसिद्ध इति सौगतोग्रे वदति। ५८६६. (तयोः खशशाद्योः)। ५८६७. खशशादेर्विधिः, पुष्पविषाणयोर्नियमः (प्रतिषेधः)।

५८६८. जैनः। ५८६९. गगनापेक्षया भावः पुष्पाद्यपेक्षया चाभावः। ५८७०. (विधिश्च नियमश्चेति तयोः)। ५८७१. सौगतः। ५८७२. विशेषो भेदः। ५८७३. केवलविधिमात्रे स्वस्वरूपे पुष्पाभावः, तत्स्वभावाभावे संकेतः खशब्देनेदं वाच्यं पुष्पशब्देन चेदमिति संकेतः। ५८७४. खादौ। ५८७५. विधिनियमरूपवस्तुस्वभावावेकत्र। ५८७६. तत् वस्तु। ५८७७. अभिधानः शब्दः। प्रत्ययः विकल्पः (बौद्धाभिमतः)। ५८७८. तयोः खपुष्पयोर्मध्ये एकस्मिन् यथा विधिनियमौ न स्तः। ५८७९. (भाष्यं भावयन् सौगतमुखेन शङ्कामाह)। स्थापनारूपे इन्द्रे। ५८८०. संकेतविशेषानुपपत्तेः। ५८८१. कथमभिधानप्रत्ययविशेष उत्पद्यते इत्युक्ते च सौगतः प्राह। ५८८२. अभिधानप्रत्ययविशेषस्य। ५८८३. सौगतः। ५८८४. सर्वस्य। ५८८५. इन्द्रशब्दस्य भावरूपे इन्द्रे प्रधानभावेन वृत्तिरनिन्द्रे (स्थापनारूपे) च गुणभावेनेति।

५८८६. वस्तुस्वभावभेदाभावे। ५८८७. संकेतविशेषः। ५८८८. वस्तुस्वभावभेदमन्तरेण। ५८८९. वस्तुस्वभावभेदनिबन्धसंकेतविशेषं विना प्रत्ययविशेषो यदि स्यात्। ५८९०. खपुष्पयोः। ५८९१. विधिप्रतिषेधभूतौ (खपुष्पयोः)। ५८९२. भवतो (सौगतस्य) मते। ५८९३. प्रत्यय एकत्र भवतु। को दोषः ? इत्युक्ते आह। ५८९४. अर्थमर्थं प्रति। ५८९५. पररूपेभ्यः। ५८९६. अन्यापोहस्य। ५८९७. संबन्धि खं, संबन्ध्यन्तरं पुष्पादि। ५८९८. पुष्पविषाणादीनि। ५८९९. आकाशादेः। ५९००. व्यावृत्तेः (पुष्पस्य)। ५९०१. आकाशादेः। ५९०२. आत्मनः। ५९०३. पुत्रमित्रकलत्रादिषु। ५९०४. सत्सु। ५९०५. एतत्समर्थयन्नाह। ५९०६. सहकारीणि। ५९०७. तस्य तस्य कार्यस्य। ५९०८. आत्मादि वस्तु। ५९०९. कार्यकारणैकस्वभावम्। ५९१०. नानाकारणानां मध्ये एककारणं यथा कार्यकारणस्वभावं न जहति। ५९११. नित्यम्। ५९१२. नित्यस्य। ५९१३. अन्वेषते। ५९१४. क्षणिकरूपायाम्। ५९१५. बीजलक्षणस्य। ५९१६. संबन्ध्यन्तराणि वस्तुस्वभावभेदकानि यस्मात्तस्मात्। ५९१७. खादयः। ५९१८. परमार्थतः। ५९१९. भेदं स्वलक्षणनिरंशम्। ५९२०. इति सौगतोक्तं न युक्तमिति संबन्धः।

५९२१. स्वलक्षणं भेदम्। ५९२२. वस्तुनः। ५९२३. (विधिप्रतिषेध-सत्त्वासत्त्व-क्षणिकत्वाक्षणिकत्वाद्यनेकस्वभावस्य)। ५९२४. तत्तस्मात्। ५९२५. विनिर्भासो भेदः। ५९२६. विधिप्रतिषेधरूपम्। ५९२७. संवृतिः। ५९२८. सौगतादिः। ५९२९. वस्तुनि। ५९३०. असहायो निरंशः। ५९३१. अन्यथा (निरंशरूपोपलब्ध्यभावे नानारूपोपलब्धिः संवृतिरित्युच्यते) चेत् तर्हि। ५९३२. सत्त्वरजस्तमसां सांख्योक्तानाम्। ५९३३. प्रधानम्। ५९३४. बुद्ध्यादिकम्। ५९३५. इवशब्दोत्र वाक्यालङ्कारे। ५९३६. निस्स्वभावम्। ५९३७. प्रपञ्चम्। ५९३८. इदमनेन समानमिति। ५९३९. नीलोत्पलादौ। ५९४०. इत्यादिभिन्नाकारान्। ५९४१. स्वस्याम् (संवृतौ)। ५९४२. सौगतम्। ५९४३. निवारयति। ५९४४. अनेकरूपताम्। ५९४५. संवृतिवत्। ५९४६. सौगतम्। ५९४७. हेत्वादीनाम् ५९४८. वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वं सिद्धं यतः। ५९४९. यथा खपुष्पाभावः। ५९५०. सौगतोक्तम्। ५९५१. अगोर्व्यावृत्तिर्गौर्यथा। ५९५२. निःस्वभावाः (असत्याः)। ५९५३. अनुत्पन्नेन ज्ञानेनाविशेषात्।

५९५४. स्वलक्षणासंस्पर्शिनः। ५९५५. क्षणिकमेव। ५९५६. सौगतस्य। ५९५७. नियमानुपपत्तेः। ५९५८. शिष्यम्। ५९५९. विद्यानन्दानाम्। ५९६०. पदार्थः। ५९६१. न केवलं विशेषणं हेतौ धूमादौ। ५९६२. सौगतः। ५९६३. जैनः। ५९६४. साध्ये सत्येव साधनमस्तीति। ५९६५. (अन्यथा साध्याभावे अनुपपत्तिरूपं साधनम्। तच्च स व्यतिरेकश्चेति तद्वत्) ५९६६. (अन्यथेति शेषः)। ५९६७. सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्। यत्सत्तत्क्षणिकं यथाऽमुकमित्यत्र सौगताभिमते। ५९६८. वैधर्म्येणाविनाभावि। ५९६९. व्यतिरेको भेदो वैधर्म्यमित्यर्थः (वैधर्म्यापेक्षयैव साधर्म्यं भवतीत्यर्थः)। ५९७०. (साधर्म्यम्)। ५९७१. इति कालात्ययापदिष्टत्वनिराकरणम्। ५९७२. अस्तित्वेन। ५९७३. भेदकत्वात्। ५९७४. वैधर्म्यं साधर्म्येण सहाविनाभावि क्वचिदनुमाने। ५९७५. अन्वयापेक्षया। ५९७६. शब्दोऽनित्यः, कृतकत्वात्, यो यः कृतकः स सोऽनित्यो यथा घटः। यत्रानित्यं तत्र कृतकं यथा गगनमिति।

५९७७. सपक्षेण सह। ५९७८. नित्ये। ५९७९. कर्तृपदम्। ५९८०. (विशेषणं च वैधर्म्यम्)। ५९८१. यथास्तित्वे पक्षीकृते विशेषणत्वस्य भावः। ५९८२. खपुष्पे। ५९८३. स्वेन नास्तित्वेन प्रतिषेध्यमस्तित्वम्। तदविनाभावरहिते। ५९८४. विशेषणहेत्वोः। ५९८५. स्वप्रतिषेध्याविनाभावरहितत्वप्रकारेण। ५९८६. नास्तित्वस्य (खपुष्पे)। ५९८७. दृष्टान्तो निरन्वय इत्युक्ते आह। व्यतिरेकलक्षणस्य। ५९८८. आदिना उभयवैकल्यसंग्रहः। ५९८९. अन्वयदृष्टान्तस्य। ५९९०. व्यतिरेकविवक्षया। ५९९१. व्यतिरेकदृष्टान्तवत्। ५९९२. अभेदोऽन्वयः। ५९९३. साधर्म्यं तदेव वस्तु सद्वस्तु। ५९९४. (सौगतापेक्षया)। ५९९५. व्यतिरेकविवक्षा। ५९९६. (अनित्यत्वे साध्ये गगनादीनां व्यतिरेकोस्ति तथाप्यभेदोऽन्वयोस्त्विति), अनित्यघटयोरभेदाविवक्षास्ति तथापि भेदविवक्षा भवत्विति च। ५९९७. सौगतैः। ५९९८. व्यतिरेकान्वयविवक्षयोः। ५९९९. भेदस्य विपक्षोऽभेदः। अभेदस्य विपक्षो भेदः। इतरः सपक्षः। ६०००. जीवादौ। ६००१. अस्तित्वेनाविनाभावि। ६००२. अस्तित्वसद्भावे। ६००३. नास्तित्वविशेषणस्य हेतोः। ६००४. साध्याभावेपि साधनस्य सद्भावो यदि, अस्तित्वाभावेपि विशेषणं वा यदि। ६००५. कथमित्युक्ते समर्थयन्ति पूर्वोक्तम्। ६००६. विशेषणस्य। ६००७. करभे इव। ६००८. करभे दध्नि वा। ६००९. करभत्वादिना। ६०१०. नास्तित्वादि। ६०११. नास्तित्वमस्तित्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतोः। ६०१२. साध्यरहिते खपुष्पे। ६०१३. ननु हेतोरन्यथानुपपत्तिसिद्धावपि धर्मधर्मिव्यवस्थायाः कल्पितत्वादनुमानस्यापि कल्पितत्वे कथं समञ्जसत्वं स्यादित्युक्ते प्राह जैनः।

६०१४. बुद्ध्यारूढाद्धर्मधर्मिन्यायात्तत्वप्रतिपत्तिर्नोपपद्यते यतस्तस्मात्। ६०१५. असमीक्षितस्तत्त्वार्थः क्षणिकरूपो यैस्ते तैर्जैनैः। ६०१६. तत्त्वं साध्यम्। ६०१७. बौद्धोक्तम्। ६०१८. भावानां पदार्थानां स्वभावो भेदाभेदलक्षणः। तस्योपरोधात् स्वीकारात्। ६०१९. भावस्वभावोपरोधात्र चेद् भेदाभेदव्यवस्थितिस्तदा। ६०२०. भेदाभेदव्यवस्थितेः। ६०२१. प्रतिषेध्याविनाभावित्वविशेषणत्वयोः। ६०२२. अस्तित्वं नास्तित्वं च। ६०२३ पूर्वकारिकाद्वयप्रोक्तम्। ६०२४. अस्तित्वं नास्तित्वं च धर्मो, जीवादिर्धर्मी। ६०२५. सौगताः। ६०२६. (अस्तित्वं नास्तित्वं च)। ६०२७. अस्तित्वं च। ६०२८. कारिकार्थं विवृणोति। ६०२९. साध्यधर्मः। ६०३०. अत्र प्रथमान्तत्वेप्यस्य हेतुत्वं यथा गुरुत्वादित्यर्थः। ६०३१. क्वचिद्धर्मी साध्यो भवति। ६०३२. धर्मिणः। ६०३३. साध्यलक्षणो धर्मो धर्मिण्युपचर्यते इत्यर्थः। ६०३४. धर्मिणः साध्यत्वेनोपचारस्य। ६०३५. एकः पक्षधर्मी एकश्च दृष्टान्तधर्मी। उपचारप्रयोजनमत्र दृष्टान्तार्थव्यवच्छेद इत्यर्थः। ६०३६. धर्मिणः। ६०३७. उत्पत्तिमत्त्वादिः। ६०३८. अनित्यत्वस्योत्पत्तिमत्त्वादिर्गमको, नित्यत्वस्य त्वगमको यतः। ६०३९. इतरः साध्याविनाभावः। ६०४०. विधेयप्रतिषेध्यात्मा। ६०४१. कथंचित्सर्वोपि जीवादिपदार्थो विधेयप्रतिषेध्यात्मा, विशेष्यत्वात्। यथा कृतकत्वादिहेतुरनित्यव्यसाध्यापेक्षया हेतुः, नित्यत्वसाध्यापेक्षयाऽहेतुश्चेति। ६०४२. हेतुवत्।

६०४३. हेतुवत्। ६०४४. शब्दगोचरत्वे विशेष्यत्वं विशेष्यत्वे च शब्दगोचरत्वमिति। ६०४५. बौद्धान्। ६०४६. जीवादिः शब्दगोचरो विशेष्यत्वादिति। ६०४७. शब्दाद्वैतवादिनः। ६०४८. जीवादिः विशेष्यः, शब्दगोचरत्वादिति। ६०४९. जीवादिः शब्दगोचरो विशेष्यश्च, वस्तुत्वादिति। ६०५०. पक्षदृष्टांतकथनसामर्थ्यतः। ६०५१. तदुभयासत्त्ववादिनः। ६०५२. वस्तुत्वादेव। ६०५३. बौद्ध आह। ६०५४. स्वलक्षणस्य। ६०५५. सविकल्पकज्ञाने एव। ६०५६. तत् अस्तित्वादि। ६०५७. विधिनिषेधादिभेदेन। ६०५८. अस्तित्वादिना। ६०५९. सत्। ६०६०. बौद्धस्य। ६०६१. सौगतेन। ६०६२. यस्य वस्तुनो दर्शनं तस्यैव ग्राहको विकल्पस्तत्पृष्ठभावी, न त्वन्यस्य यतः। ६०६३. स्वलक्षणस्य। ६०६४. सांशत्वम्। ६०६५. विधिनिषेधरूपभेदयोरभावे। ६०६६. बौद्धं प्रति। ६०६७. अद्वैतिनं प्रति। ६०६८. यौगं प्रति। ६०६९. जात्यन्तरेण। ६०७०. वस्तुनः। ६०७१. धर्मिणा। ६०७२. जीवादिर्विधेयप्रतिषेध्यात्मेति।

६०७३. धर्मिणि विधिप्रतिषेधयोः। ६०७४. समवायादिः संबन्धान्तरम्। ६०७५. यत एवं सिद्धं तत एतन्मतं भावत्कं न सारम्। ६०७६. सामान्यादिमतां द्रव्याणामेतत् प्रत्यक्षग्रहणं न संभवतीत्यर्थः। ६०७७. जात्यादिमतामभावे।

६०७८. तव बौद्धस्य। ६०७९. प्रत्यक्षग्रहणासंभवात्। ६०८०. विशेषणं सदसत्त्वे। ६०८१. जीवादि। ६०८२. प्रत्यक्षं कर्तृ। ६०८३. विशेषणविशेष्यग्रहणानन्तरम्। ६०८४. (विशेषणविशेष्ययो: संबन्धम्)। ६०८५. लोकस्थितिग्रहणानन्तरम्। ६०८६. (बौद्धाभिमतस्य)। ६०८७. प्रत्यक्षे परोक्षे च जात्यन्तरस्य निर्बाधमनुभवे सति। ६०८८. प्रत्यक्षानुमानागमानाम्। ६०८९. स्पष्टास्पष्टतया। ६०९०. प्रत्यासन्नेतरयो: पुंसोर्ये दर्शने एकपादपविषये तयोर्विषयभेदो नास्ति यथा। ६०९१. एक: पादपो विषयो ययो:। ६०९२. सामान्यविशेषात्मकवस्तुन: प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनेन। ६०९३. साध्यमेव धर्मी तस्य धर्म:, साध्यधर्मिधर्म:। धूमादिश्च कृतकत्वादिश्च धूमादिकृतकत्वादि:। स च स साध्यधर्मिधर्मश्चेति तस्य। ६०९४. भाष्येण तथैव दर्शयन्त्यकलङ्कदेवा:। ६०९५. वादिप्रतिवादिभि:। ६०९६. सौगत:।

६०९७. तद्धेतुसाक्षात्करणे। ६०९८. साध्येतरानपेक्षायाम्। ६०९९. अग्निमत्त्वादौ। ६१००. विरोधानुपलम्भात्। ६१०१. हेतोर्हेतुत्वाहेतुत्वधर्मसाक्षात्करणप्रकारेण। ६१०२. हेतुरूपम्। ६१०३. यदभिधेयं तद्विशेष्यमित्यनया व्याप्त्या यथा जीवादेर्धर्मित्वं तथास्तित्वादिविशेषणस्यापि धर्मित्वमापादितं बोद्धव्यम्। ६१०४. विवादग्रहाधिकरणम्। ६१०५. विधेयप्रतिषेध्यात्मेति साध्यम्। ६१०६. विशेष्यत्वात् शब्दगोचरत्वादिति साधनम्। ६१०७. शब्दगोचरत्वं विशेषणम्। ६१०८. सत्त्वादिधर्मस्य। ६१०९. अपेक्षया। ६११०. तस्माद्यदभिधेयं तद्विशेष्यमित्यत्र, यद्वा विशेष्यं तदभिलाप्यमित्यत्र चानुमानद्वये यथोत्पत्त्यादिरित्यादेरसंभवात्कथं तद्वचनमित्याशङ्कायामाह। तस्माद्यदभिधेयं तद्विशेष्यमित्यत्रानुमाने यद्वा विशेष्यं तदभिलाप्यमित्यत्र, यद्वा वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिषेध्याप्रतिषेध्यात्मकमित्यनुमाने च विमत्यधिकरणसत्त्वाभिधेयत्वादिशब्देन लब्धं जीवादिकं धर्मि (साधनं च) एकत्रोक्तं सर्वत्र योज्यम्। ६१११. त्रिष्वप्यनुमानेषु। ६११२. नीयते प्राप्यतेऽनेनेति नयो हेत्वादि:, नापर:। ६११३. असाधनेऽपेक्ष्यमाणे तृतीयादिभङ्गस्य शेषत्वं, साधने त्वपेक्ष्यमाणे चतुर्थादिभङ्गस्य शेषत्वमिति भाव:। ६११४. तृतीयभङ्गस्य सिद्धिर्जातेत्यभिप्रायश्चेत्तदा चतुर्थादय: शेषा ज्ञेया:। ६११५. यथोक्तेति शब्देन विशेषणत्वाद्विशेष्यत्वादभिलाप्यत्वाद्वस्तुत्वादित्यादिहेतूनाचार्यो गृह्णाति। ६११६. तस्मात्। ६११७. चतुर्थभङ्गादय:। ६११८. जीवादौ। ६११९. प्रत्यनीको विरुद्ध:। ६१२०. हेतुरयम्। ६१२१. साधर्म्यं यथा वैधर्म्येणाविनाभावि वैधर्म्यं च साधर्म्येणाविनाभावीति।

६१२२. उत्पत्तिमत्त्वादौ। ६१२३. (अव्यक्तव्यत्वप्रत्यनीकेन। एवं सर्वत्र तत्तत्प्रत्यनीकं ज्ञेयम्)। ६१२४. स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्तिनास्ति, इति भङ्गत्रयम्। तेनाविनाभावि अवक्तव्यत्वं चतुर्थभङ्गरूपम्। ६१२५. केवलं स्यादस्त्यवक्तव्येन स्यान्नास्त्यवक्तव्येन इत्यनुभयरूपेण। ६१२६. पूर्वोक्तानां हेतुरूपोदाहरणरूपनयानामत्रापि संभवात्। ६१२७. धर्माणां स्वप्रत्यनीकधर्माविनाभावित्वे साधिते सति। ६१२८. विरुद्धम्। ६१२९. 'अन्यथा' शब्दस्यार्थं करोति। ६१३०. वस्तुन:। ६१३१. न्यायेन। ६१३२. अस्त्येव नास्त्येव वेत्यव्यवस्थितं तच्च तदनेकान्तात्मकं च सर्वथा विधिरूपेण प्रतिषेधरूपेण वानवस्थितम्। ६१३३. जीवादि वस्तु। ६१३४. उदाहरणमिदम्। ६१३५. बहिरन्तरुपाधि: यथासंख्यं सहकार्युपादानकारणैरनवस्थितं रहितं कार्यं यथार्थकृन्न तथा सर्वं जीवादिवस्तु विधिप्रतिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृन्नेत्युक्ते कथंचिद् विधिप्रतिषेधावस्थितमेव कार्यकृत्। तथा कार्यमपि कारणै: सहितमेवार्थकृत्। प्रथमव्याख्यानं निषेधरूपतया द्वितीयं तु विधिरूपतयेति तात्पर्यार्थ:। ६१३६. 'व्यवस्थितमिति' ल, स, प प्रतिषु। ६१३७. पूर्वोक्तप्रकारेण। ६१३८. सदेवासदेव वेत्यनेन प्रकारेण परैरभ्युपगतम्। ६१३९. वक्ष्यमाणप्रकारेण। ६१४०. उपदर्श्यते। 'उपलभ्यते' पाठान्तरम्। ६१४१. प्रतिपक्ष: प्रतिषेध्य: सदाद्येकान्त:। ६१४२. यथाभ्युपगतं परैस्तथा न व्यवतिष्ठते। ६१४३. उत्पत्तिविनाशादिपर्यायरहिते। ६१४४. यत: सकलविशेषणैर्विशिष्टं चेत्तदा सांशत्वापत्ति:। ६१४५. इति सौगतेनाशङ्किते जैनैरुच्यते।

६१४६. (सुवर्णस्य कथंचित्सत एव केयूरादिसंस्थानरूपेणातिशयोत्पत्तिर्यथा)। ६१४७. हेतो:। ६१४८. केयूरादिसंस्थानप्रकारेण। ६१४९. प्रतिविशिष्टो नियत:। ६१५०. इति सुवर्णं सदसदात्मकम्। ६१५१. सुवर्णवत्। ६१५२. कारिकोक्तवाक्येन। ६१५३. श्रीसमन्तभद्राचार्य:। ६१५४. (एकान्तेर्थक्रिया प्रतिक्षेपमेव दर्शयति नेत्यादिना)। ६१५५. अनुत्पन्नत्वेन। ६१५६. बौद्ध:। ६१५७. स्वोत्पत्ते: प्रागविद्यमानस्य कार्यस्य। ६१५८. उत्तरं

कथयति जैनः। ६१५९. सतोः। ६१६०. सदेकान्तस्य असदेकान्तस्य चाभावो भवेत्। ६१६१. एतदेव भावयति। ६१६२. अङ्गीक्रियमाणे। ६१६३. पूर्वाकारप्रकारेण। ६१६४. उत्पत्त्याद्यसंभवात्। ६१६५. क्रियारूपत्वादिति। ६१६६. नैतन्मन्तव्यमित्यनेनान्वयः। ६१६७. निर्विकल्पकप्रत्यक्षो। ६१६८. निर्विकल्पकज्ञानेन। ६१६९. तेन उत्पत्त्यादिना। ६१७०. वस्तुनि। ६१७१. तस्य नीलसुखादेः। ६१७२. निराधारमपि तद्विकल्पप्रसक्तेः। ६१७३. तस्य नीलसुखादेः, व्यवस्थापनं सत्तासिद्धिः। ६१७४. भवतु नीलविकल्पः। विरोधोप्यस्त्विति चेत्। ६१७५. सन्तानान्तरं नीलादि। ६१७६. स्वसन्तानः सुखादिः। ६१७७. तद्विकल्पव्यवस्था।

६१७८. मा भूदव्यवस्था किंतु आद्यन्तक्षणरहितमध्यक्षणमात्रे ज्ञानेऽङ्गीक्रियमाणे। ६१७९. विकल्पः। ६१८०. किन्तु वासनाबलादेव सिध्येदित्यर्थः। ६१८१. अद्वैतवासनाम्। ६१८२. आदिपदेन स्थितिविनाशौ। ६१८३. सा क्रिया। ६१८४. सान्वयविनाशे इत्यर्थः। ६१८५. कथंचित्प्राक्सत एवोत्पत्तिर्जाता यतः। कथम्? तथा हि। ६१८६. 'नाम' मुद्रितप्रतौ नास्ति। ६१८७. सर्वथा नित्यं नोत्पद्यते, सत्त्वाद् व्योमवत्। सर्वथा अनित्यं नोत्पद्यते, असत्त्वाद्वन्ध्यासुतवदिति। ६१८८. न चानुत्पन्नस्य स्थितिविपत्ती इति पूर्वमुक्तत्वात्। ६१८९. एकान्तेन। ६१९०. द्रव्यार्थिकनयापेक्षयेत्यर्थः। (न तु पर्यायनयापेक्षयाप्यनुत्पद्यमानस्य)। ६१९१. सूरीणां समन्तभद्राणाम्। ६१९२. सप्तभङ्गीविधिसमारूढस्यैवार्थक्रियाकारित्वप्रकारेण। ६१९३. सापेक्षी नयः सुनयः। ६१९४. विध्यंशेन निषेधांशेन च। ६१९५. सर्वथार्थक्रियाविरोधादिति। ६२९६. विध्यंशस्य निषेधांशस्य। ६१९७. एकस्यैव सत्त्वस्यासत्त्वस्य च सप्तभङ्गीत्वप्राप्तौ प्रत्येकमेकस्मिन्नागतानां सप्तभङ्गानां सप्तभङ्गीत्वप्रकारेण। ६१९८. सौगतः। ६१९९. केवलं सदेवासदेव वार्थक्रियाकारीति सन्देहे प्राह। ६२००. प्रतिषेधनिरपेक्षस्यास्तित्वस्यार्थक्रियाकारित्वं चेत्तर्हि। ६२०१. 'दुर्नयः' स प्रतौ।

६२०२. विध्यंशस्य भङ्गान्तराप्रतिक्षेपितया सप्तभङ्गीसमालिङ्गिते वस्तुनि तादात्म्यमापन्नस्य सप्तभङ्गीविधौ समारोहणोपपत्तेरिति भावः। ६२०३. विधेः सप्तभङ्गीविधौ समारूढत्वप्रकारेण। ६२०४. सुनयार्पितस्य भङ्गस्य भङ्गान्तराप्रतिक्षेपितया युगपत्सर्वभङ्गानां नयविषयत्वप्राप्तेर्नयप्रमाणयोरविशेष इत्याशङ्कायामाहुः केवलमिति। ६२०५. अङ्गीक्रियमाणे। ६२०६. हेतोः। ६२०७. सौगतः। ६२०८. अस्तित्वप्राधान्येन। ६२०९. प्रथमभङ्गात्। ६२१०. असत्त्वादिधर्माणाम्। ६२११. भेदे सति। ६२१२. धर्मिणो वस्तुनः प्रतीतिस्तद्धर्माणामप्रतीतिरिति विरुद्धधर्माध्यासः। ६२१३. धर्मिण इमे धर्मा इति। ६२१४. सति। तस्येति व्यपदेशो भविष्यतीति चेद्धे जैन तदा। ६२१५. सत्त्वलक्षणधर्मद्वारेण। ६२१६. सकलधर्माणां ग्रहो धर्मधर्मिणोरैक्यं स्यात्। ६२१७. अनेकधर्मद्वारेण नानाधर्मविकारनिमित्तेत्याद्यनन्तरोक्तं योज्यमत्र। ६२१८. एका चासावुपकार्या च सा च शक्तिश्चेति तथोक्ता। अत्र धर्मा उपकारका धर्मी तूपकार्यः। ६२१९. धर्मी। ६२२०. सकलधर्मकलापस्य निश्चयः सकलग्रहः पूर्वोक्तदोष इति यावत् तस्य। ६२२१. नानोपाधीनां सत्त्वादिधर्माणामुपकाराङ्गभूता। सा चासौ शक्तिश्च। तया अभिन्न आत्मा स्वरूपं यस्य धर्मिणः स तस्य। ६२२२. धर्मकलापस्य धर्मिणोपकार्यस्य। ६२२३. सत्त्वादिधर्मे ग्राह्ये ततोऽपरे तस्मिन्दृष्टे ये न दृष्टास्ते न सन्त्येव। ततस्तद्ग्रहे सकलग्रहः।

६२२४. हे जैन। ६२२५. धर्मिणः शक्तय इति। ६२२६. तत्कार्यत्वाच्छक्तिरेव स्यान्न शक्तिमान्। ६२२७. शक्तिभिः कृतोपकारो भिन्नश्चेत्कथं शक्तिमतोयमुपकार इति व्यपदिश्येत? उपकारान्तरेण चेदनवस्था, तस्यापि भिन्नत्वात्। ६२२८. शेषधर्माणाम्। ६२२९. धर्माणामुपकारशक्तयस्तासाम्। ६२३०. तास्तस्य संबन्धिन्यो हि किं भवन्ति? नैव। ६२३१. इति यदाह बौद्धः। ६२३२. प्रयोजनम्। ६२३३. अन्तो धर्म इत्यर्थः। बहुषु मध्ये एकधर्मस्य। ६२३४. गौणता। ६२३५. बौद्धः। ६२३६. धर्माभावे। ६२३७. प्रमेयत्वस्यानन्तधर्माभावेपि प्रमेयत्वात्। ६२३८. बौद्धस्य। ६२३९. धर्मिव्यतिरिक्तस्य। ६२४०. धर्मेण। ६२४१. एकधर्मोपि। ६२४२. धर्मस्यैवानन्तधर्मात्मकधर्मित्वप्रतिपादनेन। ६२४३. यथा भ्रमणकाले वलयस्य पूर्वभागो यः स एवापरभागोपि भवति।

६२४४. पृथक्क्रियमाणः। ६२४५. धर्मस्य। ६२४६. 'विशेष' ल, स, प, प्रतिषु नास्ति। ६२४७. धर्मेण। ६२४८. धर्महेतुवृत्त्यसंभवत्वप्रतिपादनेन। ६२४९. हेतोः। ६२५०. नयविषयत्वेन। ६२५१. प्रमाणाविषयत्वात्। ६२५२. स्वः प्रमेयः, परो जीवादिः। ६२५३. स्वपरानन्तानां धर्मत्वे। ६२५४. स्वपरानन्तधर्मात्मकत्वाभावे प्रमेयत्वसाधनस्यानुपपत्तिसद्भावात्। ६२५५. आदिपदेन नास्तित्वादिः। ६२५६. अर्थः प्रयोजनम्। ६२५७. 'शेषधर्माना' मुद्रितप्रतौ पाठः। ६२५८. तदात्मकस्य भेदाभेदात्मकस्य। ६२५९. चित्राकारं च तदेकसंवेदनं चेति। ६२६०. भेदाभेदात्मके वस्तुनि। ६२६१. एकस्य प्रधानधर्मस्य संबन्धित्वेन शेषधर्माणामप्रधानता। ६२६२. गुणप्रधानभावप्रकारेण। ६२६३. प्रतिपत्तुः। ६२६४. प्रधानगुणभावो यतः। ६२६५. नयप्रमाणविषयतया गृहीतागृहीतधर्मापेक्षया गृहीतत्वागृहीतत्वस्वभावभेदसिद्धेः। ६२६६. प्रत्यक्षविषयीकृते धर्मिणि। ६२६७. अनुमानादि। ६२६८. वचनान्तरम्। ६२६९. प्रत्यक्षेण। ६२७०. क्षणिकत्वादिधर्मस्य। ६२७१. धर्मिवचने। ६२७२. शब्दादिधर्मिणः। ६२७३. सौगतमतापेक्षया निरंशत्वं यतः। ६२७४. प्रत्यक्षविषयीकृतस्य वस्तुनः। ६२७५. धर्मः। ६२७६. निरंशे शब्दादौ भ्रान्तिरस्ति यतस्ततः। ६२७७. इति हेतोः।

६२७८. भ्रान्तेः सकाशान्न निश्चीयते। अतः साधनं प्रवर्तते इति सौगताभिमतमपि। ६२७९. 'स्वभावस्य' मुद्रितप्रतौ पाठः। ६२८०. अखिलगुणदर्शनस्य विरोधः कथं प्रतिपाद्यते जैनैः? अथवा यावता दृष्टेर्खिलगुणे धर्मिमात्रे एवाभ्रान्तिर्न त्वखिलगुणे, ततस्तत्सिद्ध्यर्थमनुमानमर्थवदित्याशङ्कायामाहुर्जैनाः। ६२८१. साध्यभ्रान्तौ। ६२८२. शब्दे क्षणिकत्वभ्रान्तौ सत्त्वमपि भ्रान्तं स्यात्। ६२८३. धर्मिनिश्चयः। ६२८४. स्वभावातिशयाभावात्। ६२८५. स्वभावभेदरहितत्वेन। ६२८६. साधनसाध्ययोः। ६२८७. पटपिशाचयोरेकत्वप्रसङ्गात्। ६२८८. सत्पदेन सत्त्वम्। यद्यपि पदार्थस्य स्वतः स्वभावातिशयो नास्ति तथापि विजातीयभेदात्स्वभावातिशयो भविष्यतीत्युक्ते प्राहुर्जैनाः। ६२८९. असत्त्वानुत्पन्नत्वाकृतकत्वादेः। प्रत्यनीकस्वभावस्य। ६२९०. सौगतस्य। ६२९१. भेदोस्यास्तीति भेदवत्। ६२९२. बौद्धेन। ६२९३. सौगतः शङ्कते। ६२९४. एकत्र वस्तुनि यत्सत्ततोन्यत्र वस्त्वन्तरे यत्सत्तत्सदन्तरम्। तेन विविक्तं रहितम्। तस्य प्रकृतस्य। ६२९५. जैनः। ६२९६. 'अङ्गवत्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ६२९७. धर्मान्तरस्य, असत्त्वकृतकत्वादेः। ६२९८. ननु चावस्त्वेव नास्ति। अतः कथमवस्तुव्यावृत्त्या वस्तुव्यवहरणमित्याशङ्कायामाह।

६२९९. आह सौगतः। ६३००. तयोः वस्तुकल्पनयोः। ६३०१. सत्त्वेतरादिकल्पनयोः सिद्धावपि किं भवतीत्याशङ्क्याह। ६३०२. सकलं सत्त्वासत्त्वादि। सकलधर्मधर्मिणां ये विकल्पाः शब्दाश्च तेषाम्। ६३०३. सकलधर्मधर्मिविकल्पशब्दाः स्वलक्षणग्राहका न भवन्तीत्यर्थः। ६३०४. जैनः। ६३०५. निर्विकल्पकेनापरिगृहीते व्यावृत्तिरूपे विकल्पोपि मा भूत्, तज्जन्यत्वाद्विकल्पस्य। ६३०६. नीले पीतविकल्पोत्पत्तिरित्यतिप्रसङ्गः। ६३०७. प्रत्यक्षात्। ६३०८. असत्त्वादिविकल्पोत्पत्तिः। ६३०९. तत्तस्माद्विवक्षितात्। ६३१०. सौमतेन। ६३११. नीलादिरूपव्यवस्थावत्।. ६३१२. सुखादिकं स्वसंवेदनेनैव प्रतिभातीत्याह। ६३१३. तत्, ततः अनादिवासनातो निश्चयोत्पत्तिर्या तस्याः सकाशात्। ६३१४. अनादिवासनावशात्सुखादिविकल्पोत्पत्तिः केन प्रतिपाद्यते यतः सुखाद्यव्यवस्थितिः स्यादिति बौद्धाशङ्कायामाहुर्जैनाः। ६३१५. तस्य स्वसंवेनस्य (सुखादेर्वा)। ६३१६. स्वर्गप्रापणशक्त्यादेर्निश्चयानुत्पत्तौ यथा तद्व्यवस्था न। वेद्याकारविवेकस्य निश्चयानुत्पत्तौ तद्व्यवस्था वा यथा न। ६३१७. सुखादिरूपादर्शने सुखादीनां व्यवस्थितिर्न घटते यतः। ६३१८. वस्तुदर्शनप्रभवान्निश्चयात्। निश्चयो विकल्पः। ६३१९. स्यादस्तीत्यादिसप्तभङ्ग्यामुक्तम्।

६३२०. अथवा भङ्गे भङ्गे एकत्वानेकत्वविचारेपि, घटपटादिसर्वपर्यायाणामेकत्वानेकत्वविचारेपि वा। ६३२१. पुनर्निरूपितान्। ६३२२. एकत्वे द्रव्यार्थिकनयोऽनेकत्वे पर्यायनय इति। ६३२३. सर्वं वस्तु। ६३२४. क्षणिकत्वापेक्षया। ६३२५. निरपेक्षत्वप्रकारेण। ६३२६. द्रव्यषट्कमपि। ६३२७. ए एवायं जीवः स एवायमजीव इति। ६३२८. प्रत्यभिज्ञानाभावे एकत्वप्रतीतिविरोधः कथमित्युक्ते आह। ६३२९. तत् प्रत्यभिज्ञानम्। ६३३०. देवदत्तयज्ञदत्तयोरेकत्वप्रसङ्गात्। ६३३१. जटिलः। ६३३२. जैनविशेषाः। ६३३३. शुद्धसङ्ग्रहः। ६३३४.

द्रव्यषट्कस्य। ६३३५. जैनविशेषाः। ६३३६. स्वद्रव्येषु प्राप्यमाणत्वात्। ६३३७. 'चानन्तानां' पाठान्तरम्। ६३३८. आगमे। ६३३९. 'तत्त्वोपदेशात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ६३४०. अनन्तानन्तपर्यायत्वेप्येतदपेक्षया सर्वमेकं कुत इत्याशङ्क्याह। ६३४१. ननु च सर्वत्र भावः कुतः ? यावता अभावस्य प्रध्वंसादिरूपस्य द्रव्याद्वस्त्वन्तरत्वेन समन्तत्वेन संगतत्वादिति यौगाशङ्कायामाह। ६३४२. सौगतः। ६३४३. कर्मधारयः। ६३४४. जीवादयः। ६३४५. सद्रूपेण सह विशेषं न प्राप्तः। सद्रूपरूपा इति भावः। ६३४६. चित्रज्ञाने यथा नीलादिनिर्भासाः। ६३४७. बसः। ६३४८. बाह्यचित्रविलक्षणत्वं समर्थयन्ति।

६३४९. (सद्रूपात्)। ६३५०. सद्रूपात्। ६३५१. सौगतः। ६३५२. (वैशेषिकमते) सामान्यादित्रये सद्रूपाभावेपि तस्य स्वरूपाभावो न यथा। ६३५३. प्रागभावो वा सत्त्वाभावरूप एवास्ति। ६३५४. (विवेचनं पृथग्भावः)। ६३५५. सत्त्वात्पृथक्करणे। ६३५६. जैनः। ६३५७. सामान्यविशेषसमवायाभावादीनाम्। ६३५८. (सद्रूपात्पृथक्कर्तुमशक्तेरित्यर्थः)। ६३५९. ज्ञानरूपेण विशेषं (भेदं) न प्राप्तत्वात्। ६३६०. पर्यायापेक्षया। ६३६१. पर्यायेण। ६३६२. संख्या च संख्यावांश्च संख्यासंख्यावान्। स चासावर्थश्चेति तद्वत्। ६३६३. कुण्डलिनिकुण्डलपुरुषयोर्भेदेनादृष्टौ विशेषणविशेष्यभावो न भवेद्यथा। ६३६४. यथा क्षीरोदकयोर्भेदमजानन्भेदे न प्रवर्तते। ६३६५. 'मन्यते' पाठान्तरम्। ६३६६. तर्हि सर्वथा भेद एव मन्यतामिति यौगेनोक्ते प्राह। ६३६७. (संख्यावतः संख्या इति)। ६३६८. नैयायिकः। ६३६९. जैनः। ६३७०. तथापीति शेषः। अर्थान्तरत्वादेव। ६३७१. समवेतयोः संख्यासंख्यावतोः। ६३७२. सौगतो वैशेषिको वा। ६३७३. तद्विशिष्टस्य, संख्यावतः। विकल्पनं निश्चयः। ६३७४. संख्यावति संख्यायां वा। ६३७५. संख्यावति संख्यायां वा। ६३७६. इति सर्वथा भेदोपि न स्यात्। ६३७७. यथैकस्मिन्मातुलिङ्गे वर्णरसौ स्तः। तयोर्मध्ये एकस्य वर्णस्य निर्णयेप्यन्यत्र रसे संशयो दृश्यते।

६३७८. युगपत्। ६३७९. वाद्यपेक्षयेदं पदं जैनैर्व्यवहृतम्। ६३८०. स्वलक्षणस्य। ६३८१. (क्रमेण प्राप्तौ सत्यां सतोरप्येकानेकयोर्युगपद् वक्तुमशक्तेरेव)। ६३८२. कारिकायां योजयेदित्यतिदेशवचः। ६३८३. हेतुदृष्टांतयोजनम्। ६३८४. विशेषणत्वादिहेतूनां स्वसाध्येविनाभावसमर्थनार्थमाह। ६३८५. अविशेषणत्वादिना। ६३८६. विशेषणस्य केवलस्य साधनाद्विशेषणत्वादिहेतुर्व्यभिचारीति चेन्न, विशेषणस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वसाधनात् तेन विशेषणत्वादिहेतोरव्यभिचारात्। ६३८७. हेतोर्व्यभिचारः। ६३८८. अविशेष्यत्वादिना। विशेषणत्वादिनेत्यर्थः। ६३८९. हेतोः। ६३९०. हेतोः। ६३९१. स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वादेव। ६३९२. सर्वथैकत्वानेकत्वाभ्यामनवस्थितम्। ६३९३. सप्तभङ्ग्यामारूढत्वमन्तरेण। ६३९४. सदसदाद्येकान्ते। ६३९५. प्रज्ञाधीशप्रपूज्याश्चैते उज्ज्वलगुणाश्च, तेषां निकरः। सत्कीर्तिरिव संपत् सत्कीर्तिसंपत्, तन्निकरादुद्भूता सत्कीर्तिसंपद्यस्य सः। ६३९६. विद्या केवलज्ञानम्, आनन्दोनन्तसुखं (केवलज्ञानाविनाभावी) पक्षे विद्यानन्दस्वामी च। तस्योदयाय।

६३९७. युक्ता गौः। ६३९८. (समन्तभद्रैराचार्यैः प्रोक्ता सामन्तभद्री)। ६३९९. सप्तभङ्गीविधिना इद्धा दीप्ता। ६४००. (अकलङ्कात् अकलङ्कदेवात् अष्टशतीनामकमूलवृत्तिकारात्) प्रकाशते इति अकलङ्कप्राकाशा (अकलङ्कः प्रकाशो यस्य इति वा)। ६४०१. 'लङ्कारे' पाठान्तरम्। ६४०२. अस्मिन्नधिकारे प्रथमतः सर्वज्ञसिद्धिः कृतानुमानाद्यैः। ततोऽर्हत एव सर्वज्ञत्वं समर्थितम्। ततो दृष्टेष्टाभ्यां परेष्टबाधनम्। ततो भावाभावोभयैकान्तानि तत्त्वानि निराकुर्वताऽभावस्वरूपं स्पष्टं दर्शितम्। ततो भावाद्यनेकान्तसमर्थनं, स्याद्वादेन परस्परं विरोधः परिहृतश्च।

●

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः[1] सहस्रसंख्यानैः ।
विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ।।१।।

अद्वैतैकान्तपक्षेपि[2] दृष्टो भेदो विरुध्यते ।
कारकाणां क्रियायाश्च[3] नैकं[4] स्वस्मात्[5] प्रजायते ।।२४।।

४४३. **सदाद्येकान्तेषु दोषोद्भावनमभिहितमाचार्यैः । केवलमद्वैतैकान्ताभ्युपगमान्न तावतानेकान्तसिद्धिरिति चेत्[6], न, प्रत्यक्षादिविरोधात्[7] । न हि कस्यचिदभ्युपगममात्रं[8] प्रमाणसिद्धं क्रियाकारकभेदं प्रतिरुणद्धि, क्षणिकाभ्युपगमवत् ।**

४४४. नन्विदं[9]मयुक्तं[10]मेव संलक्ष्यते अद्वैतं ह्येकात्म्यं, द्वाभ्यां[11]मितं द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं[12], न द्वैतमद्वैतमिति व्याख्यानात् । तस्यैकान्तस्तदेवेत्यभिनिवेशः । तस्य पक्षः प्रतिज्ञाऽभ्युपगममात्रम् । तस्मिन्नपि दृष्टः साक्षात्कृतोऽनुमितश्च कारकाणां कर्त्रादीनां क्रियायाश्च स्थानगमनादिरूपाया निष्परिस्पन्दस्वभावायाः परिस्पन्दरूपायाश्च भेदः प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुध्यते, तदभ्युपगममात्रस्य[13] प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धक्रियाकारकभेदप्रतिरोधित्वासंभवात्, क्षणिकत्वाभ्युपगमवदिति तात्पर्यव्याख्यानम**कलङ्कदेवानाम्** । न[14] हि कारकभेदः प्रत्यक्षादिनाऽद्वैतेपि विरुध्यते, पादपस्यैकस्य युगपत्क्रमेण वा कर्त्राद्यनेककारकात्मकत्वप्रतीतेः[15] ? क्रियानानात्वमप्येकस्य तथैव न प्रतिषिध्यते, देशाद्यपेक्षया[16] गमनागमनयोः स्थानशयनयोर्वा सकृदपि निश्चयात् । तद्वदेकमपि परब्रह्म सकलक्रियाकारकभेदात्मकतया न विरोधमध्यास्ते, तथा प्रतिभासवैचित्र्येप्येकत्वा[17]व्याघाताच्चित्रज्ञानवदित्यपरः[18], सोप्येवं प्रष्टव्यः—क्रियाकारकभेदप्रपञ्चः किमजन्मा[19] जन्मवान्वा ? न तावदजन्मा, कादाचित्कत्वात्, यस्त्वजन्मा स न कादाचित्को यथात्मा, कादाचित्कश्चायम्, तस्मान्नाजन्मेति बाधकसद्भावात् । जन्मवांश्चेत्कुतो जायते इति वक्तव्यम् ? परमपुरुषादेवेति चेत्कथमद्वैतसिद्धिः ? कारणकार्ययोर्द्वैतप्रसिद्धेः । क्रियादिकार्यस्य ब्रह्मणोनन्यत्वादद्वैतमेवेति चेत्कथं स्वस्मादेव तस्य जन्म युज्यते ? कथं च कार्यादभिन्नस्य ब्रह्मणोऽकार्यत्वम् ? यतो नित्यत्वं स्यात् । परस्माज्जायते[20] इति चेत्, द्वैतसिद्धिः, पुरुषात्परस्य क्रियाकारकभेदहेतोरभ्युपगमात् । परस्यानाद्यविद्यारूपत्वादकिञ्चिद्रूपस्य[21] द्वितीयत्वायोगान्न द्वैतसिद्धिरिति चेत्कथमकिंचिद्रूपस्य कारणत्वम् ? कार्यस्याप्यकिञ्चिद्रूपत्वाददोष इति चेत्, किमिदानीं खरविषाणादश्वविषाणस्य[22] जन्मास्ति ? नेति चेत्, कथमविद्यात्मनः कारणादविद्यात्मककार्यस्योत्पत्तिः[23] ? माहेन्द्रादिषु[24] मायामयादेव[25] पावकादेस्तथाविधधूमादिजन्मदर्शनाददोष इति चेन्न, तत्रापि पावकधूमाद्योः सर्वथा मायामयत्वासिद्धेः । न हि तत्प्रतिभासयोर्मायारूपत्वं, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्[26] । नापि बहिः[27] सद्द्रव्यादिरूपयोर्मायास्वभावत्वं, व्यभिचारित्वाभावात्[28] । तद्विशेषाकारयोर्मायारूपत्वमिति[29] चेन्न, तद्विविक्तवस्तुव्यतिरेकेण मायायाः संभवाभावात् । तथा क्रियाकारकभेदप्रपञ्चाकारविविक्त[30]परब्रह्म[31]व्यतिरेकेणाविद्यायाः संभवाभावे कथं वेदान्तवादिनामविद्यातः[32] कार्यस्याविद्यात्मनो[33] जनने स्वस्मादेव स्वस्य जन्म न

भवेत् ? तच्च[३४] प्रमाणविरुद्धं न शक्यं व्यवस्थापयितुं नैरात्म्यवत्[३५]। क्रियाकारभेदोऽयं[३६] **न स्वतो जायते परतो वा। अपि तु जायते एवेति[३७] सुषुप्तायते[३८], प्रतिपत्त्युपायाभावात्,** दृष्टेष्टविरोधप्रसङ्गात्। न हि किंचित्स्वस्मात् परस्माच्चाजायमानं जन्मवदेव दृष्टमिष्टं वा, येन तथा[३९] प्रतिपत्त्युपायरहितं ब्रुवाणः सुषुप्तमिवात्मानं नाचरेत्। **तस्माद्यद् दृष्टविरुद्धं तन्न समञ्जसं यथा नैरात्म्यम्। विरुध्यते च तथैवाद्वैतं क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादिभिः[४०]।** एकस्मिन्नपि क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादेः संभवात् स्वप्नसंवेदनवत्[४१] कथमद्वैतं विरुद्धमिति चेन्न, स्वप्नसंवेदनस्याप्येकत्वे तद्विरोधस्य[४२] तदवस्थत्वात्। तत्रान्यदेव[४३] हि क्रियाविशेषसंवेदनं स्ववासनोत्थमन्यदेव च कारकविशेषसंवेदनं[४४] प्रत्यक्षमनुमानादि वा न पुनरेकमेव, तद्धेतुवासनाभेदाभावप्रसङ्गात्[४५], [४६] जागृद्दशायामिव स्वप्नादिदशायामपि[४७] पुंसोनेकशक्त्यात्मकस्य[४८] क्रियाकारकविशेषप्रतिभासवैचित्र्यव्यवस्थितेः। कस्यचिदेकरूपस्यात्मगगनादेरप्यनेकान्तवादिनामनेकक्रियाकारकविशेषप्रतिभासालम्बनत्वसिद्धेर्विरुद्धमेव[४९][५०][५१] प्रत्यक्षादिभिरद्वैतम्। [५२]न हि करोति कुम्भं कुम्भकारो दण्डादिना, भुङ्क्ते पाणिनौदनमित्यादिप्रत्यक्षं भ्रान्तं येनाद्वैतस्य विरोधकं न स्यात्। सर्वत्र[५३] क्रियाकारकादिरूपं कथंचिद्भिन्नं, भिन्नप्रतिभासित्वान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानं[५४] वा नानाजीवा इत्यादिप्रवचनं वा न विभ्रमाक्रान्तं येनाद्वैतं न विरुध्यात्[५५]।

४४५. स्यादाकूतं "विवादापन्नं प्रत्यक्षादि मिथ्यैव, भेदप्रतिभासित्वात् स्वप्नप्रत्यक्षादिवत्" इति, तदसत्, प्रकृतानुमाने पक्षहेतुदृष्टान्तभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारात्। तन्मिथ्यात्वे तस्मादनुमानात्साध्याप्रसिद्धेः। पराभ्युपगमात्पक्षादिभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वेऽपि[५६] न दोष इति चेन्न, स्वपराभ्युपगमभेदप्रतिभासेन व्यभिचारात्। तस्यापि पराभ्युपगमान्तरादमिथ्यात्वाद्दोषाभावे स एव[५७] तद्भेदप्रतिभासेन व्यभिचार इति न क्वचिद्[५८] व्यवतिष्ठेत[५९]।

४४६. कश्चिदाह—"ब्रह्माद्वैतस्य संविन्मात्रस्य स्वतः सिद्धस्य क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनां बाधकस्य भावात्तेषां भ्रान्तत्वम्। ततो न तद्विरोधकत्वम्[६१]" इति; तदपि न साधीयः, तथा सति बाध्यबाधकयोर्भेदात्, द्वैतसिद्धिप्रसङ्गात्। न च परोपगममात्रात्तयोर्बाध्यबाधकभावः, परमार्थतस्तदभावापत्तेः[६२] प्रतिभासमात्रवत्प्रतिभासमात्रविशेषस्यापि[६३][६४] सत्यत्वसिद्धेरनेकान्तव्यवस्थानात्।

तदेकान्ततः[६५] पुरुषाद्वैतं प्रत्यक्षादिविरुद्धमेव।

तथास्मिन्नद्वैतैकान्ते दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहुः—

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ।।२५।।

४४७. लौकिकं[६६] वैदिकं[६७] च कर्मेति वा[६८], कुशलमकुशलं च कर्मानुष्ठानमिति वा पुण्यं पापं च कर्मेति वा कर्मद्वैतं न स्यात्। तदभावादिहामुत्र च श्रेयःप्रत्यवायलक्षणं फलद्वैतं न स्यात्, कारणाभावे कार्यस्यानुत्पत्तेः। तत[७०] एवेहलोकपरलोकलक्षणं लोकद्वैतं न स्यात्। कर्मादिद्वैतस्यानाद्यविद्योपदर्शितत्वाददोष

इति चेत्, न, धर्माधर्मद्वैतस्याभावे विद्याविद्या[७१]द्वयस्यासंभवाद्बन्धमोक्षद्वयवत्। [७२]पूर्वाविद्योदयादेव विद्याविद्याद्वयं बन्धमोक्षद्वयं च परमार्थतस्तदसंभवात्, 'न बन्धोस्ति न वै मोक्ष इत्येषा परमार्थता' इति वचनात्[७३], प्रतिभासमात्रस्य परब्रह्मण एव तात्त्विकत्वादिति चेत्, न[७४], नैरात्म्यस्यापि तात्त्विकत्वापत्तेस्तत्कल्पनाया[७५] नैष्फल्याविशेषात्। सर्वो हि **प्रमाण[७६]प्रत्यनीकं स्वमनीषिकाभिरद्वैतमन्यद्वा[७७] किंचित्फलमुद्दिश्यारचयेत्, अन्यथा[७८] तत्प्रतिप्रवर्तनायोगात्प्रेक्षावृत्तेः[७९]। तथाहि–पुण्यपापसुखदुःखेहपरलोकविद्येतरबन्धमोक्षविशेषरहितं प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम्, यथा नैरात्म्यदर्शनम्, तथा च प्रस्तुतम्[८०]।** तस्मात्प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम्। इति[८१] न तज्जिज्ञासापि श्रेयसी।

४४८. स्यान्मतम्—न ब्रह्माद्वैतं प्रमाणप्रत्यनीकत्वात् स्वमनीषिकाभिरारचितम्, तस्यानुमानादागमाद्वा प्रमाणात्प्रसिद्धेः। तथाहि—यत्[८२]प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टमेव, यथा प्रतिभासस्वरूपम्, प्रतिभाससमानाधिकरणं च सर्वम्। इति हेतोः परब्रह्मसिद्धिः। न चायमसिद्धः, सुखं प्रतिभासते रूपं प्रतिभासते इति सर्वत्र प्रतिभाससमानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेरन्यथा[८३] सद्भावासिद्धेः। अप्रतिभासमानस्यापि सद्भावे सर्वस्य मनोरथसिद्धिप्रसङ्गान्न किंचि[८४]दसत्स्यात्। अथ[८५] प्रतिभासव्यतिरिक्तस्य प्रतिभास्यस्यार्थस्यान्तर्बहिर्वोपचारात्प्रतिभाससमानाधिकरणत्वव्यवस्थितेः प्रतिभासस्वरूपस्य[८६] मुख्यतोपपत्ते[८७]रसिद्धो हेतुरिति मतं, तदप्यसम्यक्[८८], प्रतिभास्यप्रतिभासयोस्तद्भावानुपपत्तेः[८९]। प्रति[९०]भासस्य तु हेतुत्वात्प्रतिभास्योर्थ इति चेत्, न[९१], प्रतिभासमात्रस्याहेतुकत्वात्कस्यचित्तद्धेतुत्वा[९२]योगात्। तदहेतु[९३]कत्वम्, अकादाचित्कत्वात्[९४], अन्यथा कदाचित्तदभाव[९५]प्रसङ्गात्। प्रतिभा[९६]सालम्बनत्वात्प्रतिभास्योर्थो भवतीति चेत्, कुतस्तस्य[९७] प्रतिभासालम्बनत्वम्? प्रतिभास्यत्वादिति चेत्, परस्पराश्रयणम्[९८]। प्रतिभासालम्बनत्वयोग्यत्वात्, इति चेत्, तर्हि प्रतिभासस्वरूपमेव प्रतिभास्यम्, तस्यैव [९९]प्रतिभासालम्बनत्वोपपत्तेः, सर्वत्र प्रतिभासस्य स्वरूपालम्बनत्वात्[१००]। तथा च कथं विषयस्योपचरितं प्रतिभाससमानाधिकरणत्वं यतोऽसिद्धो हेतुः[१०१] स्यात्। तत[१०२] एव नानैकान्तिको विरुद्धो वा, प्रतिभासान्तराऽप्रविष्टस्य कस्यचिदपि प्रतिभाससमानाधिकरणत्वायोगाद्धेतोर्विपक्षवृत्त्यभावात्। नाश्रया[१०३]सिद्धिरपि हेतोः शङ्कनीया, सर्वस्य धर्मिणः [१०४]परब्रह्मण एवाश्रयत्वात्, 'ब्रह्मेति ब्रह्मशब्देन कृत्स्नं वस्त्वभिधीयते। प्रकृतस्यात्मका[१०५]त्स्न्यस्य 'वै' शब्दः स्मृतये मतः ॥' इति श्रुतिव्याख्यानात्। ततोऽनवद्याद्धेतोर्भवत्येवाद्वैतसिद्धिः। तथोपनिषद्वचनादपि 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिसद्भावात्, ततस्तद्भ्रान्तिनिराकरणात् इति। तदेत[१०६]त्प्रतिविधित्सवः प्राहुः[१०७]—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः[१०८]।
हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न[१०९] किम् ॥२६॥

४४९. ननु च प्रतिभाससमानाधिकरणत्वाद्धेतोः सर्वस्य प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वेन पुरुषाद्वैतसिद्धावपि न हेतुसाध्ययोर्द्वैतं भविष्यति, तादा[११०]त्म्योपगमात्। न च तादात्म्ये साध्यसाधनयोस्त[१११]द्भावविरोधः, [११२]सत्त्वानित्य[११३]त्वयोरपि तथा[११४]भावविरोधानुषङ्गात्। कल्पनाभेदादिह साध्यसाधनधर्मभेदे प्रकृतानुमानेपि कथमविद्योदयोपकल्पितहेतुसाध्ययोस्त[११५]द्भावविघातः, सर्वथाविशेषाभावात्[११६], इति चेत्, न शब्दादौ[११७] सत्त्वानित्यत्वयोरपि कथंचित्[११८]तादात्म्यात् सर्वथा तादात्म्यासिद्धेः, तत्सिद्धौ[११९] साध्यसाधनभावविरोधात्। न

चासिद्धमुदाहरणं नाम[१२०], अतिप्रसङ्गात्[१२१]। ततो न हेतोरद्वैतसिद्धिः। हेतुना विनैवागममात्रात्तत्सिद्धिरिति चेन्न, अद्वैततदागमयोर्द्वैतप्रसङ्गात्[१२२]। यदि पुनरागमोप्यद्वयपुरुषस्वभाव एव न ततो[१२३] व्यतिरिक्तो येन द्वैतमनुषज्यते इति मतम्—

ऊर्ध्वमूलमधः[१२४]शाखमश्वत्थं[१२५][१२६] प्राहुरव्ययम्।
[१२७]छन्दांसि तस्य पर्णानि यस्तं वेत्ति[१२८] स वेदवित्।। ( )

इति वचनात्, तदा[१२९] ब्रह्मवत्तदागमस्याप्यसिद्धत्वं स्यात्, सर्वथाप्यसिद्धस्वभावस्य[१३०] सिद्धत्वविरोधात्, सिद्धासिद्धयोर्भेदप्रसक्तेः[१३१][१३२]। तदेवं **यदसिद्धं[१३३] तन्न हितेप्सुभिरहितजिहासुभिर्वा प्रतिपत्तव्यम्, यथा शून्यतैकान्तः[१३४], तथा चासिद्धमद्वैतमिति। अत्र नासिद्धो हेतुः**, पुरुषाद्वैतस्यानुमानादागमाद्वा सिद्धत्वायोगात्। प्रतिभाससमानाधिकरणत्वानुमानात्तत्सिद्धिरिति चेन्न, तस्य विरुद्धत्वात्[१३५][१३६], प्रतिभासतद्विषयाभिमतयोः कथंचिद्भेदे सति समानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेः सर्वथा प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वासाधनात् स्वविषयस्य[१३७]। न हि शुक्लः पट इत्यादावपि सर्वथा गुणद्रव्ययोस्तादात्म्ये सामानाधिकरण्यमस्ति, सर्वथा भेदवत्। प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते इत्यत्रापि न प्रतिभासतत्[१३८]स्वरूपयोर्लक्ष्यलक्षणभूतयोः सर्वथा तादात्म्यमस्ति, प्रतिभासस्य साधारणासाधारणधर्माधिकरणस्य[१३९] स्वस्वरूपादसाधारणधर्मात्[१४०]कथंचिद्भेदप्रसिद्धेरन्यथा[१४१] तत्सामानाधिकरण्यायोगात्, सुवर्णं सुवर्णमिति यथा, सह्यविन्ध्यवद्वा। तदेवं यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत् प्रतिभासात्कथंचिदर्थान्तरम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम्, प्रतिभाससमानाधिकरणं च[१४२] सुखनीलादि सर्वमिति साध्यविपरीतसाधनाद्धेतोर्नाद्वैतसिद्धिः[१४३]। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्याम्नायादपि द्वैतसिद्धिरेव स्यात्, सर्वस्य[१४४] प्रसिद्धस्याप्रसिद्धेन ब्रह्मत्वेन विधानात्, सर्वथा प्रसिद्धस्य विधानायोगादप्रसिद्धवत्[१४५][१४६]। क्वचिदात्मव्यक्तौ प्रसिद्धस्यैकात्म्यरूपस्य ब्रह्मत्वस्य सर्वात्मस्वनात्माभिमतेषु[१४७] च विधानाद् द्वैतप्रपञ्चारोपव्यवच्छेदेपि तदागमाद्[१४८] व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकसद्भावसिद्धेः[१४९] कथमद्वैतसिद्धिः ? आम्नायस्य[१५०] परमब्रह्मस्वभावत्वेपि न ततस्तदद्वैतसिद्धिः, स्वभावस्वभाववतोस्तादात्म्यैकान्तानुपपत्तेः। स्वसंवेदनमेव[१५१] पुरुषाद्वैतसाधनमिति चेत्, नैतदपि सारम्, निगदितपक्षदोषोपनिपातात्।

४५०. तथाहि—**तत्सिद्धिर्यदि साधनात्साध्यसाधनयोस्तर्हि[१५२] द्वैतं स्यात्। अन्यथाऽद्वैतसिद्धिवद्[१५३] द्वैतसिद्धिः कथं न स्यात्। स्वाभिलापमात्रादर्थसिद्धौ सर्वं[१५४] सर्वस्य[१५५] सिध्येत्।** न हि स्वसंवेदनमपि साधनमात्मनोऽनन्यदेव[१५६] साधनत्वविरोधात्[१५७], अनुमानागमवत्साध्यस्यैव साधनत्वापत्तेः[१५८] प्रकृतानुमानागमयोरिव[१५९] स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्यापि साधनस्याभावात्[१६०]। स्वतः सिद्धं ब्रह्मेत्यभ्युपगमे द्वैतमपि स्वतः किं न सिध्येत् ? तत्त्वोपप्लवमात्रं वा ? नैरात्म्यं वा ? स्वाभिलापमात्राविशेषात्। सर्वस्य सकलसाधनाभावेपि सर्वमनोरथसिद्धिरपि दुर्निवारा स्यात्।

४५१. एतेनैतदपि[१६१] प्रत्याख्यातं यदुक्तं बृहदारण्यकवार्तिके-

आत्मापि सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितम्[१६२]।
ब्रह्मापि स तथैवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते[१६३]।।१।।

आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्य[१६५]सद्वितीयत्वबाधनात् ।
पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम्[१६६] ।।२।। (बृहदा० वा०) इति,

मोहस्याविद्यारूपस्याकिंचिद्रूपत्वे पारो[१६७]क्ष्यहेतुत्वाघटनात् सद्वितीयत्व[१६८]दर्शननिबन्धन[१६९]त्वासंभवात्। तस्य वस्तुरूपत्वे द्वैतसिद्धिप्रसक्तेस्तत[१७१] एव पारोक्ष्यसद्वितीयत्वयोर्बाधनात्। पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमित्येतस्यापि द्वैतसाधनत्वात्। शास्त्र[१७२]पुमर्थयोर्भेदाभावे साध्यसाधनभावासंभवात्।

[१७३]अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव[१७४] हेतुना ।
संज्ञिनः[१७५] प्रतिषेधो न प्रतिषेध्या[१७६]दृते क्वचित् ।।२७।।

४५२. कथं पुनर्हेतुना विनाऽहेतुरिवाद्वैतं द्वैताद्विना सिध्यतीति निश्चितमिति चेत्, उच्यते, **अद्वैतशब्दः[१७७] [१७८]स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वात्[१७९][१८०], अहेत्वभिधानवत्[१८१], इत्यनुमानात्**। अनेकान्तशब्देन व्यभिचार[१८२] इति चेन्न, तस्यापि सम्यगेकान्तेन[१८३] विनानुपपद्यमानत्वात्। एवममायादिशब्देनापि न व्यभिचारस्तस्य मायादिनाऽविनाभावित्वात्। तथा नञ्पूर्वग्रहणात् केवलेन शब्देन[१८४] व्यभिचारो निरस्तः, [१८५]पदांशेनाखण्डग्रहणात्। [१८६]अखरविषाणादिशब्देन च न। ततो **नात्र किंचिदतिप्रसज्यते, तादृशो[१८७] नञो वस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वात्**। न ह्यखण्डपदविशेषणस्य नञः क्वचिदवस्तु[१८८]प्रतिषेधनिबन्धनत्वमुपलब्धं, पदान्तरोपहितपदविशेषण[१८९]स्यैव तथा [१९०]प्रतीतेरखरविषाणमित्यादिवत्। अत एव[१९१] सर्वत्र प्रतिषेध्यादृते संज्ञिनः[१९२] प्रतिषेधाभावः प्रत्येतव्यः। न हि खरविषाणं संज्ञि[१९३] किंचिदस्ति, येन तस्यापि सत एव कथंचित्[१९४] प्रतिषेधः प्रसज्यते।

४५३. ननु पुरुषाद्वैते परमार्थतः प्रतिषेधव्यवहारासंभवात् परोपगतस्य द्वैतस्य परप्रसिद्धन्यायादेवानुमानादिरूपादभावः साध्यते। न च[१९५] स्वपरविभागोपि तात्त्विकस्तस्याविद्याविलासाश्रयत्वात्। ततो न कश्चिद्दोष[१९६] इति चेत्, न[१९७], अविद्याया एव व्यवस्थापयितुमशक्तेः।

४५४. ननु च न वस्तुवृत्तमपेक्ष्याऽविद्या व्यवस्थाप्यते, तस्यामवस्तुभूतायां प्रमाणव्यापारायोगात्। [१९८]परमब्रह्मण्यविद्यावति अविद्यारहिते च विद्याया[१९९] विरोधाद[२००]नर्थक्याच्च नाविद्यास्येत्यप्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पनात्[२०१], ब्रह्माधारा[२०२]यास्त्वविद्यायाः कथमप्ययोगात्[२०३]। यतश्चानुभवादविद्या[२०४]स्मीति ब्रह्मा[२०५]नुभूतिमत्तत एव प्रमाणोत्थविज्ञानबाधिता सा। तदबाधने तस्या अप्यात्मत्व[२०६]प्रसङ्गात्। तथा ब्रह्मण्यविज्ञाते [२०७]तदविद्याव्यवस्थानुपपत्तेर्बाधा[२०८]सद्भावाद् विज्ञातेपि सुतरां तदबाधनादव्यवस्थानं[२०९], [२१०]अबाधिताया बुद्धेर्मृषात्वायोगात्। न चाविद्यावान्नरः कथंचिदविद्यां निरूपयितुमीशश्चन्द्रद्वयादिभ्रान्तिमिव जातितैमिरिकः।

तदुक्तम्—

ब्रह्माऽविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम्[२११] ।
[२१२]निरविद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते ।।१।।
नाऽविद्याऽस्येत्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पते ।
ब्रह्माधारा त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ।।२।।

यतोऽनुभवतो[२१३]ऽविद्या ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिमत् ।
अतो मानोत्थ[२१४]विज्ञानध्वस्ता साप्यन्यथात्मता[२१५] ।।३।।
ब्रह्मण्यविदिते बाधान्[२१६]नाविद्येत्युपपद्यते ।
नितरां चापि विज्ञाते मृषा[२१७] धीर्नास्त्यबाधिता ।।४।।
अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षमः ।
वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य नाविद्येति निरूप्यते[२१८] ।।५।।
वस्तुनो[२१९]ऽन्यत्र[२२०] मानानां[२२१] व्यापृति[२२२]र्न हि युज्यते ।
अविद्या च[२२३] न वस्त्विष्टं मानाघाताऽसहिष्णुतः ।।६।।
अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम् ।
मानाघातासहिष्णुत्व[२२४]मसाधारणमिष्यते ।।७।।

४५५. न चैवमप्रामाणिकायामविद्यायां कल्प्यमानायां कश्चिद्दोषः, तस्याः[२२५] संसारिणः स्वानुभवाश्रयत्वाद्[२२६] द्वैतवादिन एव[२२७] दृष्टादृष्टार्थप्रपञ्चस्य प्रमाणबाधितस्य कल्पनायामनेकविधायां बहुविधदोषानुषङ्गात् । तदप्युक्तम्—

त्वत्पक्षे[२२८] बहुकल्प्यं[२२९] स्यात् सर्वं मानविरोधि च ।
कल्प्याऽविद्यैव मत्पक्षे[२३०] सा[२३१] चानुभवसंश्रया[२३२] ।।१।।

४५६. इति कश्चित्[२३३], सोपि न प्रेक्षावान्, सर्वप्रमाणातीतस्वभावायाः स्वयमविद्यायाः स्वीकरणात् । न हि प्रेक्षावान् सकलप्रमाणातिक्रान्तरूपामविद्यां विद्यां वा स्वीकुरुते । न च प्रमाणानामविद्याविषयत्वमयुक्तम्, विद्यावदविद्याया अपि कथंचिद्[२३४]वस्तुत्वात् । तथा[२३५] विद्यात्वप्रसङ्ग[२३६] इति चेन्न किंचिदनिष्टम्, 'यथा यत्रा[२३७]विसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता' इत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात् । बहिः प्रमेयापेक्षया तु कस्य[२३८]चिदसंवेदनस्याविद्यात्वं बाधकप्रमाणावसेयम् । कथमप्रमाण[२३९]विषयः ? तद्बा[२४१]धकं पुनरर्थान्यथात्व[२४२]साधकमेव प्रमाणमनुभूयते इति वस्तुवृत्त[२४३]मपेक्ष्यैवाविद्या निरूपणीया । न च कथंचिद्विद्या[२४४]वतोप्यात्मनः प्रतिपत्तुरविद्याकत्वं विरुध्यते, यतोऽयं महान् दोषः स्यात् । नाप्यविद्याशू[२४६]न्यत्वे कथंचिद्विद्यानर्थक्यं प्रसज्यते, तत्फलस्य सकलविद्यालक्षणस्य[२४७] भावात् । न विद्यायामेव स्थित्वाऽस्येयमविद्येति प्रकल्प्यते, सर्वस्य[२४८] विद्यावस्थायामेवाविद्येतरविभागनिश्चयात्, स्वप्नाद्यविद्यादशायां तदभावात्[२४९] । ततश्चात्मद्वा[२५०]रेवाविद्या युक्तिमती । यस्मादनुभवादविद्यावनहमस्मीत्यनुभववानात्मा तत एव कथंचित् प्रमाणोत्थविज्ञानाऽबाधिता तदवि[२५१]द्यापि सैवेत्यात्म[२५२]ताविरोधा[२५३]भावात् । न चात्मनि कथ[२५४]ञ्चिदविदितेप्यविद्येति नोपप[२५५]द्यते, बाधाऽविरोधात्[२५६] । कथंचिद्वि[२५७]ज्ञातेपि वाऽविद्येति नितरां घटते, विदितात्मन एव तद्बाध[२४७]कत्वविनिश्चितेः कथंचिद्[२५९]बाधिताया बुद्धेर्मृषात्वसिद्धेः । न च कथंचिदविद्या[२६०]वानेव नरस्तामविद्यां निरूपयितुमक्षमः, सकलप्रेक्षावद्व्यवहाराविलोपात् । यदपि[२६२] प्रमाणाघातासहिष्णुत्वमसाधारणलक्षणमविद्यायास्तदपि प्रमाणसामर्थ्यादेव निश्चेतव्यम् । इति न प्रमाणातिक्रान्ता काचिदविद्या नाम, यदभ्युपगमे ब्रह्माद्वैतं न विरुध्येत[२४३] द्वैतप्रतिषेधो वा द्वैताविनाभावी न भवेत्[२६४] ।

४५७. तदेतेन शब्दाद्वैतमपि निरस्तं, विज्ञानाद्यद्वैतवत्तस्यापि [३६५]निर्गदितदोषविषयत्वसिद्धेः, प्रक्रियामात्रभेदात्, तद्व्यवस्थानुपपत्तेः, [२६६]स्वपक्षेतरसाधकबाधकप्रमाणाभावाविशेषात्, स्वतः सिद्ध्ययोगाद्गत्यन्तराभावाच्च। इत्यलमतिप्रसङ्गिन्या संकथया, सर्वथैवाद्वैतस्य निराकरणात्। [२६७]**इष्टमद्वैतैकान्तापवारणं, पृथक्त्वैकान्ताङ्गीकरणात्, इति माऽवदीधरत्**[२६८]। यस्मात्—

पृथक्त्वैकान्तपक्षेपि पृथक्त्वादपृथक्[२६९] तु तौ।

पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ।।२८।।

४५८. पृथगेव द्रव्यादिपदार्थाः[२७०] प्रमाणादिपदार्थाश्च[२७१], पृथक्प्रत्ययविषयत्वात्, सह्यविन्ध्यवत्, इत्येकान्तः पृथक्त्वैकान्तः, सजातीयविजातीयव्यावृत्ता निरन्वयविनश्वरा बहिरन्तश्च परमाणवः इत्यभिनिवेशश्च[२७२]। तत्र[२७३] येषां[२७४] पृथक्त्वगुणयोगात् पृथक् पदार्था इत्याग्रहस्ते एवं तावत्प्रष्टव्याः किं पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वं गुणः[२७६] पृथग्भूतोऽपृथग्भूतो वा ? न तावदुत्तरः पक्षो गुणगुणिनोर्भेदोपगमात्[२७५]। नापि प्रथमः **पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वस्य पृथग्भावे तेषामपृथक्त्वप्रसङ्गात्। पृथक्त्वस्य तद्गुणत्वात् पृथगितिप्रत्ययस्य[२७९] तदालम्बनत्वान्न तेषामपृथक्त्वप्रसङ्ग** इति चेत्, न तस्य[२८०] कथंचित्तादात्म्यापत्तेः[२८१] पृथक्त्वैकान्तविरोधात्। **तद्गुणगुणिनोरतादात्म्ये[२८२][२८३] घटपटवद् व्यपदेशोपि[२८४] मा भूत्, सम्बन्धनिबन्धनान्तराभावात्।** कथंचित्तादात्म्यमेव हि तयोः संबन्धनिबन्धनं, न ततोऽन्यत्संभवति। समवायवृत्तिः संभवतीति चेन्न, समवायस्य कथंचिदविष्वग्भावादपरस्य[२८५][२८६] प्रतिक्षेपात्। **पृथक्त्वमन्यद्वा[२८७] पृथग्भूतमनंशमनेकस्थेषु[२८८][२८९] निष्पर्यायं वर्तते इति[२९०] दुरवगाहम्।** न ह्यनेकदेशस्थेषु हिमवद्विन्ध्यादिषु सकृदेकः परमाणुर्वर्तते इति संभवति। गगनाद्यनंशमपि[२९१][२९२] वर्तते[२९३] इति चेन्न, तस्याप्यनन्तप्रदेशादितयानंशत्वासिद्धेरनाश्रयतया क्वचिद्वृत्त्यभावाच्च[२९४][२९५][२९६]। सत्तैका[२९७] युगपदनेकत्र वर्तते इत्यप्यसिद्धम्, तदनन्तपर्यायत्वसाधनात्, स्वपर्यायेभ्योऽत्यन्तभेदासिद्धेश्च समवायवृत्त्यनुपपत्तेः[२९८]। द्रव्यत्वादिसामान्यमपि[२९९] नैकमनंशमनेकस्वव्यक्तिवृत्ति सकृत्प्रसिद्धम्, तस्यापि स्वाश्रयात्मकतया कथंचित्सांशत्वानेकत्वप्रतीतेः। संयोगविभागपरत्वापरत्वान्यपि नानेकवृत्तीनि[३००] युगपदुपपद्यन्ते प्रतियोग्यादि-[३०१]संयोगादिपरिणामप्रतीतेः[३०२], सादृश्योपचारादेकत्वव्यवहारात्। द्वित्वादिरनेकद्रव्यवृत्तिर्युगपदित्यप्यप्रातीतिकम्[३०३], प्रतिव्यक्ति सकलसंख्यापरिणामसिद्धेः[३०४] क्वचिदेकत्र[३०५] तदसिद्धौ[३०६] परापेक्षयापि[३०७] तद्विशेषप्रतीत्ययोगात्[३०८] खरविषाणवत्। ततो न पृथक्त्वमनेकत्र युगपद्वर्तते गुणत्वात्, रूपादिवत्[३०९]। न संयोगादिभिरनेकान्तः, तेषामप्यनेकद्रव्यवृत्तीनां सकृदनंशानामसिद्धेः। तदनेन पृथक्त्वैकान्तपक्षेपि पृथक्त्ववतोः पृथक्त्वात्पृथक्त्वे[३१०] तौ तद्वन्तावपृथगेव स्याताम्। तथा[३११] च न पृथक्त्वं नाम गुणः स्यात्, एकत्र तद्वति[३१२] तदनभ्युपगमात्[३१३]। अनेकस्थो ह्यसौ गुण इति कारिकाव्याख्यानं स्थितपक्षदूषणपरं[३१४] प्रकाशितं प्रतिपत्तव्यम्।

सांप्रतं निरन्वयक्षणिकलक्षणपृथक्त्वपक्षे दूषणमाविर्भावयितुमनसः सूरयः प्राहुः—

संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः[३१५]।

प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ।।२९।।

४५९. जीवादिद्रव्यैकत्वस्य[३१६] निह्नवे संतानो न स्याद्भिन्नसंतानाभिमतक्षणवत्[३१७]। तथैकस्कन्धावयवानामेकत्वपरिणामापलापे समुदायो न स्यान्नानास्कन्धावयववत्। तथा [३१८]सधर्मत्वाभिमतानां

सदृशपरिणामैकत्वापह्नवे साधर्म्यं न स्याद्विसदृशार्थवत्। मृत्वा पुनर्भवनं प्रेत्यभावः। सोपि न स्यादुभयभवानुभाव्येकात्माऽपाकरणे नानात्मवत्[३१९]। चशब्दाद्दत्तग्रहादि[३२०] सर्वं न स्यात्तद्वत्। न[३२१] च तदभावः[३२२] शक्यः प्रतिपादयितुम्, सकलबाधकशून्यत्वेन निरङ्कुशत्वात्[३२३]।

४६०. ननु चापरामृष्टभेदाः[३२४] कार्यकारणक्षणा एव संतानः। स चैकत्वनिह्नवेपि घटते एवेत्यपि ये[३२५] समाचक्षते तेषामपि **कार्यकारणयोः पृथक्त्वैकान्ते कार्यकालमात्मान[३२६]मनयतः[३२७] कारणत्वासंभवा[३२८]त्तदनुत्पत्तेः कुतः संततिः ?**

४६१. ननु[३२९] कार्यकाले संतोपि[३३०] कारणत्वे[३३१] तत्कारणत्वानभिमतस्य[३३२] कार्यकालमात्मानं नयतः सर्वस्य तत्कारणत्वप्रसङ्गः। कार्याकारेण[३३३] प्रागसतः[३३४] सद्द्रव्यादिरूपेण प्राक्कार्यकाले च सतस्त[३३५]त्कार्यस्योत्पत्तौ[३३६] खरादिमस्तके[३३७] विषाणादेरुत्पत्तिः[३३८] किन्न स्यात् ? गवादिशिरसीव तत्रापि तस्य[३३९] विषाणाद्याकारतया प्रागसत्त्वस्य सद्द्रव्यादिरूपतया सत्त्वस्य चाविशेषात्। तदुत्पत्तिकारणस्य दृष्टस्यादृष्टस्य चाभावात् तत्र न तस्योत्पत्तिरिति वचने[३४०] परेषामपि[३४१] प्रागसत्त्वैकान्ताविशेषेपि कार्यस्य पूर्वं सति कारणे जन्म नासतीति न किंचिदतिप्रसज्यते[३४२], तदन्वयव्यतिरेकानुविधाननिबन्धनत्वात् तत्कारणत्वस्य[३४३]। न च निरन्वयक्षणिकत्वेपि कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानमसंभाव्यं, स्वकाले सति कारणे कार्यस्योत्पत्तेरसत्यनुत्पत्तेः प्रतीयमानत्वात्, स्वदेशापेक्षान्वयव्यतिरेकवत्[३४४]। तदुक्तम्—

अन्वयव्यतिरेकाद्यो[३४५] यस्य[३४६] दृष्टोनुवर्तकः।
स्वभावस्तस्य[३४७] तद्धेतु[३४८]रतो[३४९] भिन्नान्न संभवः।। ( ) इति।

ततोऽव्यभिचारेण कार्यकारणभूता एवापरामृष्टभेदाः[३५०] क्षणाः संतानो युक्तः, इति[३५१] कश्चित्, सोपि न प्रतीत्यनुसारी, तथा[३५२] बुद्धेतरचित्तानामप्येकसंतानत्वप्रसङ्गात्[३५३], तेषामव्यभिचारेण[३५४] कार्यकारणभूतत्वाविशेषात्। निरास्रवचित्तोत्पादात्पूर्वं बुद्धचित्तस्यापि[३५५] संतानान्तरचित्तकारणत्वाभावान्न[३५६] तेषामव्यभिचारी कार्यकारणभाव इति चेन्न, यतः प्रभृति तेषां कार्यकारणभावस्तत्प्रभृतितस्तस्याव्यभिचारादन्यथा बुद्धचित्तस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। नाऽननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं, नाकारणं[३५७] विषय इति वचनात्।

४६२. स्यान्मतम्, येषामग्राह्यग्राहकत्वे[३५८] सत्यव्यभिचारी कार्यकारणभावस्तेषामेकसंतानत्वोपगमान्न दोष इति चेत्तदप्ययुक्तम्, समनन्तरप्रत्ययेनापि[३५९] सह बुद्धचित्तस्यैकसंतानतापायप्रसक्तेः, तस्य बुद्धचित्तेनाग्राह्यत्वे तस्यासर्ववेदित्वापत्तेः। समनन्तरप्रत्ययस्य[३६०] समनन्तरप्रत्ययत्वादेव[३६१] बुद्धचित्तेन सहैकसंतानत्वमिति चेत्, कुतस्तस्य समनन्तरत्वम् ? तस्याव्यभिचारिकारणत्वादिति[३६२] चेन्न, सर्वार्थानां तत्समनन्तरत्वप्रसङ्गात्। एकसंतानत्वे[३६३] सति कारणत्वात्, इति[३६४] चेत्, सोयमन्योन्यसंश्रयः। सिद्धे समन्तरप्रत्ययत्वे तस्यैकसंतानत्वेन कारणत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च समनन्तरप्रत्ययत्वसिद्धिरिति। स्याद्वादिनां[३६५] कस्तर्ह्येकः संतान इति चेत्, **पूर्वापरकालभाविनोरपि[३६६] हेतुफलव्यपदेशभाजोरतिशयात्मनोरन्वयः[३६७] संतानः। क्वचित्क्षणान्तरे[३६८] नीललोहितादिनिर्भासचित्रैकसंवेदनवत्कथंचिदेकत्वमेव भवितुमर्हति[३६९]**। न च साध्यविकलं चित्रज्ञानमुदाहरणं तस्यैकत्वप्रसिद्धेः। **तदवयवपृथक्त्वकल्पनायां[३७०] चित्रनिर्भासो मा भूत्, पृथग्वर्णान्तरविषयानेक-**[३७१]

[३७२]**संतानैकक्षणवत्। [३७३]तत्र [३७४]प्रत्यासत्तिविशेषः कथंचिदैक्यात्[३७५]कोऽपरः स्यात्?** देशप्रत्यासत्तेः [३७६]शीतातपवातादिभिर्व्यभिचारात्, कालप्रत्यासत्तेरेकसमयवर्तिभिरशेषार्थैरनेकान्तात्, भावप्रत्यासत्ते[३७७]रेकार्थो[३७८]द्भूतानेकपुरुषज्ञानैरनैकान्तिकत्वाद् द्रव्यप्रत्यासत्तिरेव परिशेषात् संभाव्यते। सा चैकद्रव्यतादात्म्यलक्षणत्वात्[३७९]प्रत्यासत्तिविशेषः। इति [३८०]कथंचिदैक्यमेवैकत्वव्यवहारनिबन्धनं चित्रज्ञानस्य, **[३८१]अन्यथा वेद्यवेदकाकारयोरपि पृथक्त्वैकान्तप्रसङ्गात्[३८२]।** तयोः **स्वभावभेदेपि सहोपलम्भनियमात्कथंचिदभेदाभ्युपगमे[३८३] कथमेकसंतानसंविदां[३८४] समनन्तरोपलम्भनियमात्कथंचिदैक्यं न स्यात्?** [३८५]कालसमनन्तरोपलम्भनियमादेकसंतान[३८६]त्वमेव स्याद्दे[३८७]शसमनन्तरोपलम्भनियमात् समुदायवत्[३८८], न पुनरेकद्रव्यत्वमिति चेन्न, [३८९]भवतां बुद्धेतरसंविदामेकसंतानत्वापत्तेः, काल[३९०]समन[३९१]न्तरोपलम्भनियमस्य भावात्, पञ्चा[३९२]नामपि स्कन्धानामेकस्कन्धत्वप्रसङ्गात्, प्रदेशसम[३९३]नन्तरोपलम्भनियमस्य भावात्। [३९४]प्रत्यासत्त्यन्तर[३९५]कल्पनायां **तत्र [३९६]यया प्रत्यासत्त्या संतानः समुदायश्च[३९७], तयैव कथंचिदैक्यमस्तु। [३९८]न हि तादृशां [३९९]साधर्म्यमन्यदन्यत्रात्मसाङ्कर्यात्[४००],** येन कालसमनन्तरोपलम्भनियमभाजामेकसंतानत्वं व्यवतिष्ठते देशसमनन्तरोपलम्भनियमभृतां चैकस्कन्धाख्यं समुदायत्वं युज्येत[४०१], [४०२]तादृशः साधर्म्यस्यैकत्वनिह्नवेऽनुपपत्तेः, कथंचिदेकत्वशून्यार्थसाधर्म्यस्य संतानान्तरेषु नानासमुदायेषु च दर्शनात्। [४०३]एतेनैकसंतानत्वात् प्रेत्यभावव्यवहारकल्पनमपास्तं कथंचिदेकत्वापह्नवे तदयोगात्। कथमिह [४०४]जन्मनो जन्मान्तरेणैकत्वं, विरोधात्, इति चेत्, न, कथंचिदेकत्वे विरोधाभावात्। [४०५]तथाप्रतिभासादे[४०६]कज्ञाननिर्भासविशेषवत्। तथाहि—**एकज्ञाननिर्भासविशेषाणां मिथः स्वभावभेदेपि यथैकत्वपरिणामः स्वभावतोऽनङ्कुशस्तथा प्रेत्यभावादिषु[४०७] संतानोन्वयः परमार्थैकत्वमा[४०८]त्मसत्त्वजीवादिव्यपदेशभाजनं स्वभावभेदानाक्रम्य स्वामिवदनन्यत्र[४०९] वर्तयति।** न पुनरन्यत्र जीवान्तरे, तेषामशक्यविवेचनत्वाद्विरोधवैयधिकरण्यादीनामेकज्ञा[४१०]ननिर्भासविशेषैरपाकरणान्निरङ्कुशत्वसिद्धेः।

पृथक्त्वैकान्तपक्षे दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहुः—

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत्।
ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम्।।३०।।

४६३. सदात्मना सत्सामान्यात्[४११]मना भिन्नमेव ज्ञानं ज्ञेयादिति चेत्, द्विधाप्य[४१२]सदेव प्राप्तं ज्ञानस्यासत्त्वे ज्ञेयस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। ततो बहिरन्तश्च न किञ्चित्कथंचिदपि ज्ञेयं नाम त्वद्द्विषां प्रतीयेत।

४६४. ननु[४१३] सद्विशेषाद् भेदेपि ज्ञानस्य ज्ञेयान्नासत्त्वप्रसक्तिः। सदन्तरत्वे[४१४,४१५] तु न स्यात्[४१६] [४१७]पटान्तराद्भेदेपि पटस्य पटान्तरत्वा[४१८]भावत्। सत्सामान्यं पुनः सर्वेषु सद्विशेषेष्वसत्त्व[४१९]व्यावृत्तिमात्रम्[४२०]। न च [४२१]तदात्मना [४२२]कस्यचित्कुतश्चिद्[४२३]भेदोऽभेदो वा विचार्यते, [४२४]तस्य वस्तुनिष्ठत्वात् सन्मात्रस्य चावस्तुत्वात्। तदात्मना व्यावृत्तस्य ज्ञानस्य ज्ञेयात्परमार्थ[४२५]सत्त्वाविरोधान्न कश्चिदुपाल[४२६]म्भ इति चेन्न, सत्सामान्यस्याभावे [४२७]सांवृतत्वे वा सद्विशेषाणामभाव[४२८]प्रसङ्गात् सांवृतत्वापत्तेश्च तदसत्त्व[४२९]व्यावृत्तेरपि वस्तुस्वभावत्वादन्यथा खरविषा[४३०]णादावपि तदनुष[४३१]ङ्गात्। तथाहि—ज्ञानज्ञे[४३२]ययोरसद्व्यावृत्तिर्वास्तवी सद्विशेषत्वात्, यस्य तु न सा वास्तवी स न सद्विशेषो यथा वन्ध्यासुतः। सद्विशेषौ च ज्ञानज्ञेये, इति केवलव्यतिरेकी हेतुः। तथा

यत्रासद्व्यावृत्तिर्वास्तवी[४३३] तत्र सत्सामान्यं वस्तु, सत्सामान्यरहितेषु वन्ध्यासुतादिष्वसद्व्यावृत्तेरवास्तवत्वात्, इति वास्तवसत्सामान्यात्मना ज्ञानस्य ज्ञेयाद्भेदे[४३४] सद्विशेषात्मनापि भेदः स्यात्। तथा च ज्ञानमसत् प्राप्तम्। तदनिच्छतां[४३५] **विषयिणो[४३६] विषयात्कथञ्चित्[४३७]स्वभावभेदेपि सदाद्यात्मना तादात्म्यं बोधाकारस्येव[४३८] विषयाकाराद्, विशेषाभावात्। अन्यथा[४३९] ज्ञानमवस्त्वेव खपुष्पवत्। तदभावे[४४०] बहिरन्तर्वा ज्ञेयमेव न स्यात्, तदपेक्षत्वात्[४४१]** तस्य। ततः श्रेयानयमुपालम्भः पृथक्त्वैकान्तवाचां[४४२] ताथागतानां वैशेषिकवत्। किञ्च[४४३]—

सामान्यार्था[४४४] गिरोन्येषां[४४५] विशेषो नाभिलप्यते[४४६]।
सामान्याभावतस्तेषां[४४७] मृषैव सकला गिरः।।३१।।

४६५. सामान्यमेवार्थोभिधेयो यासां ताः सामान्यार्था गिरो यतस्ताभिर्विशेषो नाभिलप्यते[४४८] इत्यन्ये[४४९], तेषां मृषैव सकलाः स्वयं सत्यत्वेनाभिमता अपि गिरः स्युः, सामान्यस्य वास्तवस्याभावात्। कुतः पुनः सामान्यस्यैवाभिधेयत्वमिति चेत्, **विशेषाणाम[४५०]शक्यसमयत्वात्[४५१]**। न ह्यनन्ता विशेषा शक्याः संकेतयितुं ततो नाभिधीयेरन्[४५२], **असंकेतितानभिधानात्। विशेषदर्शन[४५३]वत्तद्बुद्धावप्रतिभासनादर्थसन्निधानानपेक्षणाच्च।** न हि स्वलक्षणदर्शने[४५४] यथा संकेतनिरपेक्षो[४५५] विशेषः प्रतिभासते तथा शब्दबुद्धावपि, तस्याः[४५६] स्वलक्षणसंनिधानानपेक्षत्वात्, तदपेक्षत्वे[४५७]ऽतीतानुत्पन्नादिषु शब्दबुद्धेरभावप्रसङ्गात्। यद्येवं[४५८] **स्वलक्षणमनभिधेयं सामान्यमवस्तूच्यते इति वस्तु नोच्यते इति स्यात्। ततः किं शब्दोच्चारणेन संकेतेन वा? गोशब्दोपि हि गां नाभिधत्ते यथाश्वशब्दः। तथा च वस्तुनो[४६०]नभिधाने मौनं यत्किंचिद्वा वचनमाचरेत्, विशेषा[४६१]भावात्। अथास्ति[४६२] विशेषः। कथं स्वार्थं[४६३] नाभिदधीत[४६४]?** मौनाद्यत्किंचनवचनाद्वा यथार्थाभिधानस्य[४६५] स्वाभिधानं मुक्त्वा विशेषस्यासंभवात्[४६६]। **न[४६७] वै परमार्थैकतानत्वा[४६८]दभिधाननियमः,**

परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना[४६९]।
न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु।। ( ) इति वचनात्[४७०]।

४६६. **किंतूपादानविशेषात्[४७१], इत्यपि[४७२] वार्तम्[४७३], अविकल्पेति[४७४] तथैव प्रसङ्गात्[४७५]।** शक्यं हि वक्तुम् "अविकल्पकप्रत्यक्षस्य न परमार्थैकतानत्वान्नियमो[४७६] द्विचन्द्रादिदर्शनाभावप्रसङ्गात्[४७७] किन्तूपादानस्य[४७८] स्ववासनाविशेषस्य भेदात्[४७९] इति। **तदेवम[४८०]नवधारितात्मकं वस्तु स्वलक्षणमापनीपद्येत,** विकल्पने[४८१]वाविकल्पेनाप्यवधारयितुमशक्तेः[४८२]। निर्विकल्पकस्यार्थसंनिधानापेक्षत्वाद्वैशद्याच्च[४८३] परमार्थैकतानत्वमिति चेन्न, तदनियमात्[४८४]। तथाहि—**नावश्यमिन्द्रियज्ञानम[४८५]र्थसंनिधानमपेक्षते विप्लवा[४८६]भावप्रसङ्गात्। नापि विशदात्मकमेव[४८७], दूरेपि तथा[४८८]प्रतिभासप्रसङ्गाद्यथाऽऽरात्। न हि आरादेवार्थे** निर्विकल्पकमिन्द्रियज्ञानम्[४८९], न पुनर्दूरे इति शक्यं वक्तुम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाविशेषात्[४९०]। दूरार्थेपीन्द्रियज्ञानं[४९१] विशदात्मकमेव, तत्रा[४९२]वैशद्यस्याशूत्पन्नानन्तर[४९३]विकल्पेन सहैकत्वा[४९४]ध्यारोपादेव प्रतीते[४९५]रिति चेन्न, आसन्नार्थेपि तदवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात्। न हि तत्राविकल्पानन्तरं चिराद्विकल्पस्योत्पत्तिः, पुरोवर्त्तिन्यर्थेऽक्षज्ञानजविकल्पवैशद्यस्य तल्लघुवृत्तिनिबन्धनत्वा[४९६]भावप्रसङ्गात्, "विमूढो लघुवृत्ते[४९७]र्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति" इतिवचनविरोधात्। यदि पुनरासन्नार्थे[४९८]

निर्विकल्पकस्य बलीयस्त्वात्तद्वैशद्येना[४९९]नन्तरविकल्पा[५००]वैशद्यस्याभिभवाद्वैशद्य[५०१]प्रतिभासो न[५०२] पुनर्दूरे, विपर्ययादिति[५०३] मतं तदा पुरोवर्तिगोदर्शनवैशद्येनाश्वविकल्पावैशद्यस्याभिभूतिप्रसङ्गात् तत्र[५०४] वैशद्यप्रतीतिः किन्न स्यात्? गोदर्शन[५०५]भिन्नविषयत्वादश्वविकल्पस्य नैवमिति चेन्न, नीलदर्शनविकल्पयोरपि भिन्नविषयत्वात्तद्वैशद्या[५०६]प्रतीतिप्रसङ्गात्। न हि तयोरभिन्नविषयत्वं स्वलक्षणसामान्ययोस्तद्विषययोर्भेदात्। तत्र दृश्य[५०७]विकल्प्य[५०८]योरेकत्वाध्यवसायान्नीलविकल्पे वैशद्यप्रतिभास इति चेन्न, ततः[५०९] एव दूरेपि वैशद्यप्रतिभासप्रसङ्गात्।

४६७. स्यान्मतम्[५१०],—प्रत्यासन्नेर्थे विकल्प्ये[५११] दृश्यस्याध्यारोपा[५१२]द्विकल्पवैशद्यं दूरे तु दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोपाद्दर्शनावैशद्यं प्रतीयते,[५१३] कुतश्चिद्विभ्रमात्, इति, तदप्यसारं, चन्द्रार्कादावतिदूरे दृश्ये विकल्प्याध्यारोपादवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात्, **प्रत्यासन्नतरे** च चक्षुषः करतलरेखादौ विकल्प्ये दृश्याध्यारोपाद्वैशद्यप्रत्ययप्रसङ्गात्। यदि[५१४] पुनरदृष्टविशेषवशाद् दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यारोपाविशेषेपि क्वचि[५१५]द्वैशद्यमवैशद्यं[५१६] च यथाप्रतीत्यभिधीयते, तदा तत एवेन्द्रियजत्व[५१७]विशेषेपि क्वचिद्[५१८]विशदप्रतिभासोऽन्यत्र[५१९]ान्यथे[५२०]ति नैकान्तेन दर्शनस्य[५२१] विशदात्मकत्वमर्थसन्निधानापेक्षत्वं वा, यतः परमार्थैकतानत्वान्नियमः[५२२] स्यात्[५२३], न पुनः शब्द[५२४]बुद्धिवदुपादाननियमा[५२५]दिति। न[५२६] शब्दबुद्धेरवस्तुविषयत्वेप्युपादाननियमा[५२७]द्विशेषः, परार्थानुमानस्य वक्त्रभिप्रेतसमये[५२८] त्रिरूपहेतु**सूचित्वा**दविसंवादादितरवचना[५२९]द्विशेष[५३०] इति चेन्न, तथापि **क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा**[५३१] **न किंचित् सत्यं स्याद्वक्त्रभिप्रेतमात्र[५३२]सूचित्वात् प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यवत्[५३३]।** न हि वक्त्रभिप्रेतमात्रसूचित्वाविशेषेपि क्षणभङ्गादिसाधनं प्रतिपक्षदूषणं वा सत्यं न पुनः प्रधानेश्वरादिसाधनमिति शक्यव्यवस्थं यतस्तदेव संवादि[५३४] स्यात्, सर्वथाविशेषाभावात्[५३५]।

४६८. **सदर्थाप्रतिपादनाद्वा न क्षणभङ्गादिसाधनवचनं विपक्षदूषणवचनं वा सत्यम्, प्रसिद्धा[५३६]लीकवचनवत्।**

४६९. ननु च व्याख्यातारः[५३७] **खल्वेवं[५३८] विवेचयन्ति** न व्यवहर्तारः। ते हि दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य यथेष्टं व्यवहरन्ति। क्षणभङ्गा[५३९]दिसाधनवचनमन्यद्वा सत्यम्, न प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यं सत्यम्। परमार्थतस्तु न किंचिद्वचनमवितथम्। इत्यभ्युपगमेपि न **दृश्यविकल्प्यार्थाकारयोः कथंचिदप्यतादात्म्ये स्वलक्षणं सर्वथानवधारितलक्षणं[५४०] दानादिचेतोधर्मादिक्षणवत्[५४१] कथं संशीतिमतिवर्तेत[५४२]**? निर्विकल्पकदर्शनात्तदवधारणासंभवात्, **विकल्पानां[५४३] चावस्तु[५४४]विषयत्वात्। सोय[५४५]मविकल्पेतरराश्योरर्थेतर[५४६]विषयत्वमन्यद्वा[५४७] स्वांश[५४८]मात्रावलम्बिना विकल्पान्तरेण प्रत्येतीति सुपरिबोधप्रज्ञो देवानांप्रियः।** न ह्यविकल्पेतरराश्योरर्थानर्थविषयत्वं विशदेतरात्मत्वं वाऽनुपलब्धे[५४९]तररूपत्वं वा येन[५५०] विकल्पान्तरेण प्रत्येति। तद्वस्तुविषयं युक्तम्, तस्य विकल्पराशावनर्थविषये[५५१]नुप्रवेशात्। **स्वत[५५२] एव विकल्पसंविदां निर्णये स्वलक्षणविषयोपि[५५३] विकल्पः स्यात्[५५४]। परतश्चेदनवस्थानादप्रतिपत्तिः। अतोर्थविकल्पोपि मा भूदित्यन्धकल्पं जगत् स्यात्** स्वयमनिश्चितात्मनो विकल्पादर्थनिश्चयानुपपत्तेः। **न चायं[५५५] परोक्षबुद्धिवादं[५५६]मतिशेते,** सर्वथार्थचिन्तनो[५५७]च्छेदाविशेषात्। यथैव ह्यप्रत्यक्षोपलम्भस्य[५५८] नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति तथा स्वयमनिश्चितात्मोपलम्भस्यापि। **स्वयमनिर्णीतेन नामात्मना बुद्धिरर्थं व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं[५५९]**

तत्त्वम् । **न वै स्वरूपं पररूपं वा बुद्धिरध्यवस्यति निर्विषयत्वात्[५६०], भ्रान्तिस्वप्नबुद्धिवदिति[५६१]** विभ्रमैकान्तवादिवचनम् । **इदमतो भ्रान्ततरम्[५६२], बहिरन्तश्च सद्भावासिद्धेः** । स्वप्नादिभ्रान्तज्ञानं हि बहिरर्थासत्त्वादेव[५६३], न पुनः स्वरूपासत्त्वात्[५६४], इदं तु विभ्रमैकान्तसंवेदनं बहिरन्तरप्यर्थासत्त्वादिति कथं न तदतिशेते[५६५] ? न चास्य[५६६] स्वरूपसत्त्वं, तद्व्यवस्थानस्य विपक्षव्यवच्छेदेन[५६७] प्रतिपत्तिपथमुपनेतुमशक्तेः । **स्वपरस्वभावप्रतिपत्तिशून्येन[५६८] स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थां प्रत्येतीति किमपि[५६९] महाद्भुतम्** । संवृत्या प्रत्येतीति चायुक्तं, कथंचिदपि परमार्थप्रतिपत्त्यभावे संवृतिप्रतिपत्त्ययोगात्, परमार्थविपर्ययरूपत्वात्संवृतेः[५७०] । अन्यथा परमार्थस्य संवृतिरिति नामकरणमात्रमबाधाकरमेव परेषामनुषज्येत[५७१] । सोयं संवृत्या विभ्रमैकान्तसाधनमविभ्रमदूषणं च प्रत्येतीति परमार्थतो न प्रत्येतीति उपेक्षणीयवचन[५७२] एव । तमन्यैऽद्याप्यनुमन्यन्ते[५७३] इत्यचिन्त्यमनल्पतमतमोनिबन्धनमशक्यपर्यन्तगमनमिहाद्भुतम् ।

४७०. एवं तर्हि मा भूत् पृथक्त्वैकान्तोऽद्वैतैकान्तवदशक्यव्यवस्थापनत्वात् । तदुभयैकात्म्यं[५७४] तु श्रेय इति मन्यमानं वादिनं[५७५] सर्वथा वाऽवाच्यं तत्त्वमातिष्ठमानं प्रत्याहुः[५७६]—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं[५७७] स्याद्वादन्यायविद्विषाम्[५७८] ।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ।। ३२ ।।

४७१. **अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्ववत् पृथक्त्वेतरपरस्परप्रत्यनीकस्वभावद्वयसंभवोऽपि[५७९] मा भूद्विप्रतिषेधात्[५८०]** । **न खलु सर्वात्मना[५८१] विरुद्धधर्माध्यासोस्ति[५८२], तदन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वाद्वन्ध्यासुतवत्[५८३]** । यथैव हि वन्ध्याया विधिरेव तत्सुतप्रतिषेधः, स एव वा वन्ध्याया विधिरिति वन्ध्या तत्-सुतयोरन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वं तथा पृथक्त्वस्वभावविधिरेव सर्वथैकत्वप्रतिषेधः स एव च तद्विधिः । इति कथमिव स्याद्वादमनिच्छतां विरुद्धधर्माध्यासः संभवेद्यतस्तदुभयैकात्म्यं[५८४] तत्त्वमेकान्तवादिनः स्वीकुर्युः ? **सर्वथानभिलाप्यतत्त्वाधिगमेपि यदेतदनभिलाप्यं तत्त्वमिति तद् व्याहन्यते, पूर्ववत्[५८५]** । इत्यलं प्रपञ्चेन ।

४७२. तदेवमेकत्वाद्येकान्तनिराकृतिसामर्थ्यात्तदनेकान्ततत्त्वप्रसिद्धावपि[५८६] तत्प्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थ**मन्यथा[५८७]-शङ्कायाकरणार्थं** च तत्सप्तभङ्गीं[५८८] समाविर्भावयितुकामास्तन्मूलभङ्गद्वयात्मकत्वं[५८९] जीवादिवस्तुनः प्राहुः—

अनेपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुतः ।
तदेवैक्यं[५९०] पृथक्त्वं च स्वभेदैः[५९१] साधनं यथा ।। ३३ ।।

४७३. हि यस्मादवस्त्वेवानपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ऐक्यपृथक्त्वनिरपेक्षत्वहेतुद्वयात् प्रतिपादिते प्राक्[५९२], तस्मात्तदेवैक्यं पृथक्त्वं च जीवादिवस्तु कथंचिदेकत्वपृथक्त्वप्रत्ययहेतुद्वयादवसीयते[५९३] । यथा साधनं सत्त्वादि पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणैर्भेदैर्विशिष्टमेकं[५९४] प्रसिद्धमुभयोः[५९५] । तत्राप्यन्वयव्यतिरेकयोरनपेक्षयो-[५९६]रवस्तुरूपत्वात् साधनलक्षणत्वायोगात् सापेक्षयोरेव तल्लक्षणत्वेन वस्तुस्वभावत्वसिद्धेः साम्यमुदाहरणस्य प्रतिपत्तव्यम् ।

४७४. किं पुनरनया कारिकया करोत्याचार्यः ? पूर्वेणैवास्यार्थस्य[५९७][५९८] गतत्वादिति[५९९] चेत्, **एकत्वपृथक्त्वे नैकान्ततः[६००] स्तः, प्रत्यक्षादिविरोधादिति स्पष्टयति**, गतार्थस्याप्यनुमानविषयत्वप्रदर्शनात्स्पष्टत्वप्रसिद्धेः,

[६०१]प्रमाणसम्प्लववादिनां गृहीतग्रहणस्यादूषणात्। तथाहि—**पृथक्त्वैकत्वे [६०२]तथाभूते न स्ताम्, एकत्वपृथक्त्वरहितत्वाद्, व्योमकुसुमादिवत्।** तथा हि—सर्वथा पृथक्त्वं [६०३]नास्त्येव, एकत्वनिरपेक्षत्वात्, व्योमकुसुमवत्। सर्वथैकत्वं नास्ति पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात्, तद्वदिति। अत्र न हेतुद्वयमसिद्धं तदेकान्तवादिनां तथाभ्यु[६०४]पगमात्। नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, विपक्ष[६०५]वृत्त्यभावात्।

४७५. **सापे[६०६]क्षत्वे हि तदेवैक्यं पृथक्त्वमित्यविरुद्धं** कथंचिज्जीवादिवस्तु प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते न पुनः सर्वथेति सिद्धान्यथानु[६०७]पपत्तिः, **सपक्षवि[६०८]पक्षयोर्भावाभावाभ्यां साधन[६१०]वत्।** न हि सपक्षे एव भावो विपक्षेऽभावनिरपेक्षो विपक्षेऽभाव एव वा सपक्षे भावानपेक्षः साधनवस्तुनो रूपं परेषां सिद्धं येन साध्यसाधन-विधुरमुदाहरणं स्यात्।

४७६. **[६११]स्वभेदैर्वा संवेदनवत्।** न हि हेतु[६१२]मनिच्छतः संवेदनाद्वैतं पुरुषाद्वैतं वा स्वीकुर्वतोऽपि चित्रसंवेदनं नीलादिनिर्भासैर्[६१३]द्वयसंवेदनं वा ग्राह्यग्राहकाकारविवेकसंविदाकारैः परमब्रह्म वा तेजः शब्दज्ञानज्योतिराकारैर्विद्येतराकारैर्वा स्वभेदैः परस्परनिरपेक्षैर्विशिष्टं वस्तु सिद्धं येनोदाहरणमनवद्यं [६१४]न स्यात्। **स्वारम्भकावयवैर्वा घटा[६१५]दिवद्** औलूक्याना[६१६]म्। [६१७]सत्त्वादिभिः प्रधानवद्वा कापिलानाम्। **तादृ[६१८]श हि साधनं स्वार्थक्रियायाः** क्षीराद्याहरणादिकार्यायाः महदादिसृष्टिरूपाया वा स्वविषय[६१९]ज्ञानजननलक्षणाया वा सिद्धमेव। **तदन्त[६२०]रेणापि पाठान्तरमिदं बहुसंगृहीतं भवति,** कारिकायां स्वभेदैः साधनं यथा, इत्यत्र साधनशब्देन साधनसामान्यस्याभिधानात्, स्वभेदशब्देन च तत्सामान्यस्य वचनात्। यथायोगं विशेषव्याख्यानादिष्टविशेषसिद्धेर्बहुसंग्रहः।

४७७. ननु [६२१]चैकत्वप्रत्ययात्पृथक्त्वप्रत्ययाच्च कथमेकत्वं पृथक्त्वं च जीवादीनामुपपन्नम्, तस्य [६२२]निर्विषयत्वात्, इत्यारेकायां तस्य सविषयत्वमादर्शयितुमनसः स्वामिनः प्राहुः—

सत्सामा[६२३]न्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः।
भेदाभेदविवक्षा[६२४]यामसाधारणहेतुवत्[६२५] ।।३४।।

४७८. तु विशेषणे। तेन सत्सामान्यं विशेषणमाश्रित्य सर्वेषां जीवादीनामैक्यमिति नैकत्वप्रत्ययो निर्विषयः, [६२६]तस्य सत्सामान्यविषय[६२७]त्वात्। पृथक् सर्वं जीवादिद्रव्यादिपदार्थभेदमाश्रित्यानुभूयते। ततो न पृथक्त्वप्रत्ययोपि निर्विषयः, तस्य द्रव्यादिभेदविषयत्वात्, इति निवेदितं बोद्धव्यम्। [६२८]हेतुरत्र [६२९]ज्ञापकः [६३०]कारकश्चोच्यते। स [६३१]चासारणो [६३२]यथास्वं प्रवादिभिर्विशेषेणेष्टत्वात्। स च यथा स्वभेदानां [६३३]पक्षधर्मत्वादीनां [६३४]स्वारम्भकावयवादीनां वा विवक्षायां पृथगेव हेतुत्वेन घटावयव्यादित्वेन वा तदभेदविवक्षायामेक[६३५] एव, तथा सर्वं विवादाध्यासितमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक[६३६]घटनात्।

४७९. **कश्चिदाह—सर्वार्थानां समानपरिणामेपि कथमैक्यं भेदानां स्वभावसाङ्कर्यानुपपत्तेः[६३७]।** न हि भावाः [६३८]परस्परेणात्मानं मिश्रयन्ति, [६३९]भेदप्रतीतिविरोधात्[६४०]। तेषाम[६४१]तत्कार्य[६४२]कारणव्यावृत्त्या समान[६४३]व्यवहारभाक्त्वेपि परमार्थतो संकीर्णस्वभावत्वात्। तदुक्तम्—

सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिताः[६४४]।
स्वभावपरभावाभ्यां[६४५] यस्माद्व्यावृत्तिभागिनः ।।१।।
तस्माद्यतो[६४६] यतोर्थानां[६४७][६४८] व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।
जातिभेदाः[६४९] प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ।।२।।
ततो यो येन[६५०] धर्मेण विशेषः संप्रतीयते ।
न स शक्यस्ततोन्येन,[६५१] तेन[६५२] भिन्ना व्यवस्थितिः ।।३।। इति।

४८०. अत्राभिधीयते[६५३]—जीवादिभेदानामैक्यं, **यथैकभेदस्य[६५४] स्वभावविच्छेदाभावात्**। न हि स्वभावविच्छेदाभावादृते नीलस्वलक्षणस्य संवेदनस्य वा कस्यचिदेकस्य स्वयमिष्टस्याप्येकत्वनिबन्धनं किंचिदस्ति। नापि[६५५] कथंचिद्भिन्नानामपि भावानां सत्सामान्यस्वभावेन विच्छेदोस्ति,[६५६] तथा विच्छेदाभावस्यानुभवात्। अन्यथैकं[६५७] सदन्यदसत् स्यात्[६५८]। **ततः समञ्जसं सर्वमेकं सदविशेषात्, इति** सदात्मना सर्वभावानां[६५९] परस्परमिश्रणेपि[६६०] साङ्कर्यप्रसक्तेः, चित्रैकज्ञाननीलादिनिर्भासानां संविदात्मनैकत्वेपि साङ्कर्यप्रसक्तिवत्[६६१]। न हि तेषामनेकत्वे चित्रज्ञानसिद्धिः, सर्वथैकत्ववत्[६६२]। तत एव न किंचिच्चित्रज्ञानं निरंशसंवेदनाद्वैतोपगमात्, इति चेत् , न, तत्रापि वेद्याद्याकारविवेकसंविदाकारयोः[६६३] परोक्षप्रत्यक्षयोरेकसंवेदनत्वेऽपि[६६४] साङ्कर्यानिष्टेः, अन्यथा संविदाकारस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात् वेद्याद्याकारविवेकवत्[६६५]। तस्य[६६६] वा प्रत्यक्षत्वं संविदाकारवत् स्यात्। न, चैवं तद्विप्रतिपत्तिविरोधात्[६६७] समारोपस्यापि[६६८] सर्वथाप्यविशेषे[६६९] क्वचिदेवासंभवान्निश्चयवत्[६७०][६७१]। **तस्यैव[६७२] सतो द्रव्यादिभेदात् पृथक्त्वम्, उदाहरणं पूर्ववत्[६७३]**। तथा[६७४] च बहिरन्तश्च भावानां सदात्मनैकत्वं द्रव्याद्यात्मना पृथक्त्वं च स्वस्वभावः सिद्धः, न पुनरसाधारणं[६७५] भिन्नं रूपम्। तेन च[६७६] स्वस्वभावेन व्यवस्थितेः स्वभावपरभावाभ्यां भावाः स्वभावेनानुवृत्तिव्यावृत्तिभागिनो,[६७७] न पुनरेकान्ततो व्यावृत्तिभागिनः। तस्माद्यतो[६७८] यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धना भेदविशेषा एव प्रकल्प्यन्ते,[६७९] न तु जातिविशेषाः,[६८०] प्रतीतिविरोधात्[६८१]। यतो यतस्त्वनुवृत्तिस्ततस्ततो[६८२] जातयः[६८३] प्रकल्प्यन्ते, तासामेवानुवृत्तिप्रत्ययलिङ्गत्वात्[६८४]। ततो यो येन धर्मेण[६८५] विशेषोऽविशेषश्च संप्रतीयते, न स शक्यस्ततोन्येन[६८६]। तेन भिन्नाऽभिन्ना च व्यवस्थितिः पदार्थानां, तथाप्रतीतेः, बाधकाभावात्। ततः स्थितमेतत्, सत्सामान्यविवक्षायां सर्वेषामैक्यं, द्रव्यादिभेदविवक्षायां पृथक्त्वमेव, इतरस्याविवक्षायां गुणभावात्[६८७]। विवक्षाविवक्षयोरसद्विषयत्वान्न तद्वशात्तत्त्वव्यवस्था युक्तेति[६८८] मन्यमानं[६८९] प्रत्याहुः सूरयः—

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि ।
सतो[६९०] विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः[६९१] ।।३५।।

४६७. क्रियते इति शेषः। विशेष्योर्थस्तावदनन्तधर्मा प्रागुक्तः[६९२]। तत्र कस्यचिद्विशेषणस्यैकत्वस्य सत एव विवक्षा पृथक्त्वस्य च सत एव वाऽविवक्षा, न पुनरसतः[६९३] क्रियते तैः प्रतिपत्तृभिरेकत्वपृथक्त्वाभ्यामर्थिभिः, सर्वथा[६९४] तत्र[६९५] कस्यचिदर्थित्वानर्थित्वयोरसंभवात्, तस्य[६९६] सकलार्थक्रियाशक्तिशून्यत्वात् खरविषाणवत्[६९७]। न हि कस्यचिद् विवक्षाविषयस्य मनोराज्यादेरसत्त्वे सर्वस्यासत्त्वं युक्तं, कस्यचित् प्रत्यक्षविषयस्य

केशोण्डुकादेरसत्त्वे सर्वस्य प्रत्यक्षविषयस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षाभासविषयस्यासत्त्वं, न पुनः सत्यप्रत्यक्षविषयस्येति चेत्, तर्ह्यसत्यविवक्षाविषयस्या[६७३]सत्त्वमस्तु, सत्यविवक्षाविषयस्य तु मा भूत्।

४८२. न [६९९]काचिद्विवक्षा सत्या विकल्परूपत्वान्मनोराज्यादिविकल्पवत्, इति चेत्, न, अस्यानुमानस्य[७००] सत्यत्वेऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात्, तदसत्यत्वे साध्याप्रसिद्धेः। यतो[७०१]ऽनुमानविकल्पादर्थं परिच्छिद्य [७०२]प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां न विसंवाद्यते[७०३], तद्विषयः[७०४] सन्नेवेति[७०५] चेत्तर्हि यतो विवक्षाविशेषादर्थं विवक्षित्वा[७०६] प्रवर्तमानो न विसंवाद्यते, तद्विषयः कथमसन् भवेत्? अविवक्षाविषयो[७०७]ऽसन्नेवा[७०८]न्यथा[७०९] तदनुपपत्तेरिति चेन्न, सकलवाग्गोचरातीतेनार्थस्वलक्षणेन व्यभिचारात्[७१०]। सर्वस्य वस्तुनो[७११]ऽवाच्यत्वा[७१२]न्नाविवक्षाविषयत्वमिति चेन्न[७१३], नाम्नस्तद्भा[७१४]गानां च नामान्तरा[७१५]भावादन्यथानवस्थानुषङ्गात्। तेषा[७१६]मविवक्षाविषयत्वेपि सत्त्वे कथमन्य[७१७]दपि विशेषण[७१८]मविवक्षाविषयत्वे सदेव न सिध्येत्? तदेवं **विधिप्रतिषेधधर्माणां सतामेव विवक्षेतराभ्यां योगस्तदर्थिभिः क्रियेत, अन्यथार्थनिष्पत्तेरभावात्।** न ह्यर्थक्रियार्थिनामर्थनिष्पत्तिमनपेक्ष्य विवक्षेतराभ्यां योगः संभवति, येन [७१९]तदभावेऽपि स[७२०] स्यात्। **उपचारमात्रं[७२१] तु स्यात्। न चाग्निर्माणवक इत्युपचारात् पाकादावुपयुज्यते।**

४८३. ननु [७२२]चान्यव्यावृत्तय एव विवक्षेतराभ्यां युज्यन्ते, न वस्तुस्वभावो, यतस्तयोः सद्विषय[७२३]त्वमिति चेन्न, शब्देभ्यो[७२४] वस्तुनि[७२५] प्रवृत्ति[७२६]विरोधात्। व्यावृत्तितद्व[७२७]तोरेकत्वाध्यारोपात्तद्वति[७२८] प्रवृत्तिरिति चेन्न, अध्यारोपस्य विकल्पत्वेनार्थाविषयत्वात् [७२९]स्वाविषयेण व्यावृत्तेरेकत्वारोपणायोगात्। सामान्ये[७३०]नार्थो-ध्या[७३१]रोपवि[७३२]कल्पविषय एवेति चेत्तदपि यद्यन्यव्यावृत्तिरूपं[७३३] तदा व्यावृत्त्यैव व्यावृत्तेरेकत्वारोपात्कुतोऽर्थे प्रवृत्तिः[७३४]? तामिच्छता[७३५] **तदे[७३६]कैकशः परस्परव्यावृत्तयोपि परिणामविशेषा[७३७]** एषितव्याः।

४८४. योप्या[७३८]ह—भेद एव परमार्थसन्नर्थानां नाभेदस्तस्य संवृतिसत्त्वात्, अन्यथा विरोधादि[७३९]ति। अभेद एव तात्त्विको भावानां न भेदस्तस्य कल्पनारोपित्वात्, अन्यथा विरोधानुषङ्गादिति चापरः[७४०]। तौ प्रति सूरयः प्राहुः—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ[७४१] भेदाभेदौ न संवृती।
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्य[७४२]विवक्षया।।३६।।

४८५. अभेदस्तावत्सन्नेव न पुनः संवृति[७४३]विषयः, प्रमाणगोचरत्वात्, भेदवत्। भेदः सन्नेव न पुनः संवृतिः, प्रमाणगोचरत्वात्, अभेदवत्। भेदाभेदौ सन्तावेव, न पुनः संवृती, प्रमाणगोचरत्वात्स्वेष्टतत्त्ववत्, इत्यपि पक्षान्तरमाक्षिप्तं[७४४] लक्ष्यते, तदुभयसंवृतिवादिनोपि सकलधर्मविधुरत्वमनुमन्य[७४५]मानस्य भावात्। न [७४६]चात्र साध्यसाधनधर्मविकलमुदाहरणं, भेदाभेदतदुभयानुभयैकान्ताभिधायिनां तत्प्रसिद्धेः स्याद्वादिवत्। तथैक[७४७]त्र वस्तुनि भेदाभेदौ परमार्थसन्तौ ते भगवतो न विरुद्धौ प्रमाणगोचरत्वात्, स्वेष्टतत्त्ववत्। इति सामर्थ्यात् [७४८]परस्परनिरपेक्षौ भेदाभेदौ विरुद्धावेव, प्रमाणागोचरत्वात्, भेदैकान्तादिवत्। इति कारिकायामर्थसङ्ग्रहः।

४८६. किं पुनः प्रमाणं यद्गोचरत्वमत्र[७४९] हेतुरिति चेत्, **प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्था[७५०]धिगमलक्षणत्वात्,** इत्यग्रे वक्ष्यति। अधिगमो[७५१] हि स्वार्थाकारव्यवसायः। स्वार्थाकारौ च कथंचिद् भेदाभेदौ,[७५२] तदन्यतरापायेऽर्थक्रियानुपपत्तेस्तदेकान्ते सर्वथा[७५३] तदयोगात्।

४८७. **तदेवं[७५४] सति भेदमभेदं[७५५][७५६] वा नान्योन्यरहितं[७५७] विषयीकरोति प्रमाणम्। न हि बहिरन्तर्वा स्वलक्षणं[७५८] सामान्यलक्षणं[७५९] वा तथैवोपलभामहे यथैकान्तवादिभिराम्नायते[७६०]।** इति भेदैकान्ताभावेऽभेदैकान्तासत्त्वे च परस्परनिरपेक्षतदुभयैकान्तापाकरणेऽनुभयैकान्तापसारणे च साध्ये स्वभावानुपलब्धिः,[७६१] स्वमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तस्यानुपलभ्यमानत्वसिद्धेः[७६२]। न चेयमसिद्धा,[७६३] **सूक्ष्मस्थूलाकाराणां स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात्[७६४]।** न हि प्रत्यक्षे स्वलक्षणं सूक्ष्मं परमाणुलक्षणं[७६५] प्रतिभासते स्थूलस्य घटाद्यात्मनः प्रतिभासनात्। परमाणुष्वेवात्यासन्नासंसृष्टेषु दृष्टौ[७६६] प्रतिभासमानेषु कुतश्चिद्विभ्रमनिमित्तादात्मनि[७६७][७६८] परत्र[७६९] चासन्तमेव स्थूलाकारमादर्शयन्ती संवृतिस्तान्[७७०] संवृणोति, केशादिभ्रान्तिवदिति[७७१] चेन्नैवं, बहिरन्तश्च[७७२] प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वकल्पनापोढत्वाभावप्रसङ्गात्, संव्यवहारतः परमार्थतो वा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति लक्षणस्यासंभवदोषानुषङ्गात्, परमाणूनां जातुचिदध्यक्षबुद्धावप्रतिभासनात्[७७३]। ते इमे परमाणवः प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं च न समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिणः[७७४] स्वावयवभिन्नैकावयविवत्[७७५]। न हि सोपि सूक्ष्मस्वावयवव्यतिरिक्तो महत्त्वोपेतः प्रत्यक्षे प्रतिभासते, कुण्डादिव्यतिरिक्तदध्यादिवत्[७७६]। समवायात्तेभ्योऽनर्थान्तरमिव[७७७][७७८] प्रतिभासते[७७९] इति चेन्न, अवयविप्रत्यक्षस्य सर्वत्र[७८०] भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्[७८१]। तथा चाव्यभिचारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमसंभवि स्यात्। न चैतेऽवयवा अयमवयवी समवायश्चायमनयोरिति त्रयाकारं प्रत्यक्षमनुभूयते सकृदपि, यतोसावप्यमूल्यदानक्रयी न स्यात्, प्रत्यक्षबुद्धावात्मानर्पणेन प्रत्यक्षातास्वीकरणाविशेषात्[७८२]। तत एव परस्परभिन्नावयवावयविनामपि प्रत्यक्षे प्रतिभासनादमूल्यदानक्रयिणावुक्तौ[७८३] समवायवत्[७८४]।

४८८. सर्वं[७८५] वस्तु क्षणिकपरमाणुरूपं, सत्त्वात्, नित्यस्थूलरूपे[७८६] क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेः, तदयोगात्,[७८७] इत्यनुमानेन स्वलक्षणमध्यवसीयते इति चेन्न, अत्र[७८८] हेतोर्विरुद्धत्वात्, सत्त्वस्य कथंचिन्नित्या**नित्यामक**सूक्ष्मस्थूलात्मकत्वेन व्याप्तत्वात्, सर्वथा नित्याद्येकान्तरूपे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, सत्त्वानुपपत्तेः समर्थनात्।

४८९. एतेन[७८९] स्थूलमेवावयविद्रव्यं[७९०] सूक्ष्मावयवरहितं प्रतिभासते इति व्युदस्तं, तदनुमानस्यापि[७९१] विरुद्धत्वाविशेषात्, प्रत्यक्षबाधितविषयत्वाच्च हेतोरतीतकालत्वाव्यवस्थितेः[७९२][७९४]। अत एव नोपमानादावपि[७९५] तत्प्रतिभासनमिति[७९६] नासिद्धं[७९७] सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनं, यतस्तत्प्रतिषेधे साध्ये स्वभावानुपलब्धिर्न सिध्येत्[७९८]। तत्प्रतिषेधे[७९९] च सिद्धः सूक्ष्माद्यनेकान्तः। **तत्र[८००] स्वभावान्तरस्य प्राधान्यविवक्षायामाकारान्तरस्य गुणभावः स्यात्, घटोयं परमाणवो रूपादयो वेति।** घटार्थिनो हि घटविवक्षायां घटः प्रधानं परमाणवोनुमेयाः, प्रत्यक्षाश्च रूपादयो गुणीभूताः, तदनर्थित्वादविवक्षाप्रसिद्धेः[८०१]। तदर्थिनां तु तद्विवक्षायां त

एव प्रधानं न पुनर्घटोवयवी, [८०२]तद्विवक्षायाः संभवाभावात्तदर्थित्वानुपपत्तेः। [८०३]न च तदुभयसत्त्वाविशेषादविशेषेणार्थित्वमनर्थित्वं वा प्रसज्यते, [८०४]तस्य तत्सत्तामात्रानिबन्धनत्वात्, [८०५]मोहविशेषोदयहेतुकत्वात् [८०६]तदुदयस्यापि मिथ्या[८०७]दर्शना[८०८]दिकालादिनिमित्तकत्वात्।

४९०. तदेवं स्यादद्वैतं, स्यात् पृथक्त्वमिति मूलभङ्गद्वयं [८०९]विधिप्रतिषेधकल्पनयैकवस्तुन्यविरोधेन प्रश्नवशादुपदर्शितम्। शेषभङ्गानां तु प्रक्रियां [८१०]यथोदितनयविशेषवचनभाक् एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् [८११]इत्याद्यति[८१२]देशकारिकानिर्देशसामर्थ्यात्प्रपञ्चतो निश्चेतव्या।

अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रह[८१३]गहनविपन्निग्रहेऽलङ्घवीर्याः
स्यात्कारामोघमन्त्रप्रणयन[८१४]विधयः शुद्धसद्[८१५]ध्यानधीराः।
धन्यानामादधाना धृतिम[८१६]धिवसतां मण्डलं जैनमग्र्यं
वाचः सामन्तभद्र्यो विदधतु विविधा सिद्धि[८१७]मुद्भूतमुद्राः ।।१।।

इत्याप्तमीमांसाङ्कृतौ द्वितीयः [८१८]परिच्छेदः ।।२।।

द्वितीयपरिच्छेदटिप्पणानि

१. शास्त्रैः। २. अत्र बहवोद्वैतपक्षाः सन्ति पुरुषाद्वैतशब्दाद्वैतविज्ञानाद्वैतादिभेदाः। तेषां सर्वेषामत्र ग्रहणम्। ३. चशब्दाद्विशेष्यसंग्रहः। ४. ब्रह्म। ५. ब्रह्मणः। ६. सदाद्येकान्तेषु दोषोद्भावनेन कथमनेकान्तसिद्धिर्भवेत्, प्रत्यर्थिनोऽद्वैतस्य वर्तमानत्वादित्याशङ्कायामाहुर्जैनाः। ७. अद्वैतैकान्ताभ्युपगमस्य। ८. कर्तृभूतम्। ९. भाष्यस्य तात्पर्योद्घाटनपूर्वकं तत्रोक्तदूषणं परिहरन्नाहाद्वैतवादी। १०. अनन्तरमेव वक्ष्यमाणतात्पर्यव्याख्यानम्। ११. प्रमाणप्रमेयाभ्यामितं निश्चितम्। १२. स्वार्थेऽण्। १३. दृष्टो भेदो विरुध्यते इति कारिकातात्पर्यमाश्रित्य वृत्तिकारेणोक्तं व्याख्यानमयुक्तमेव। कुतः ? एकत्र क्रियाभेदविरोधाभावो दृष्टोपि विरुध्यते यतः, इत्युक्ते आह तदभ्युपगमेति। तेन अद्वैतैकान्तेनाभ्युपगममात्रस्य।

१४. पर एवाह (नन्विदमित्यत आरभ्य)। १५. वृक्षस्तिष्ठति कानने कुसुमिते वृक्षं लताः संश्रिताः, वृक्षेणाभिहतो गजो निपतितो वृक्षाय देयं जलम्। वृक्षादानय मञ्जरीं कुसुमितां वृक्षस्य शाखोन्नता, वृक्षे नीडमिदं कृतं शकुनिना हे वृक्ष किं कम्पसे। १६. एकस्यापि देवदत्तस्य। १७. परब्रह्मणः। १८. यथा प्रतिभासवैचित्र्येपि चित्रज्ञानस्यैकत्वम्। १९. अद्वैतैकान्तविषये। २०. क्रियादिकार्यम्। २१. निस्स्वरूपस्य मिथ्यारूपस्य। २२. अकिञ्चिद्रूपात्कारणात्। २३. (अविद्याया अपि खरविषाणादविशेषात्)। २४. उड्डीशादिषु (इन्द्रजालिकादिषु) ग्रन्थेषु। २५. असत्यरूपात्। २६. तत्प्रतिभासयोः। २७. अन्तःप्रमेयापेक्षया। २८. सद्रूपाव्यभिचारित्वस्य वेदान्तिनामप्यभ्युपगमात्, अन्यथा सत्ताया अपि व्यभिचारित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गात्। २९. वह्निधूमयोः। ३०. विविक्तं पृथग्भूतम्। ३१. (प्रायः सर्वत्र 'परमब्रह्म' एव लिखितो मूलपुस्तके)।

३२. अविद्यारूपब्रह्मणः कारणभूतात्। ३३. क्रियाकारकादेः। ३४. स्वस्मादेव स्वजन्म। ३५. क्षणिकत्ववत्। ३६. परः। ३७. इतो जैनो दूषयति परम्। इति (चेत्तर्हीत्यर्थः)। ३८. अद्वैतवादी। ३९. अपि तु जायते इत्युक्तप्रकारेण। ४०. क्रियाकारकादिषु भेदग्राहकप्रत्यक्षादिभिः। ४१. यथैकस्मिन्स्वप्नज्ञाने गजतुरगादीनामनेकेषां प्रतिभासनं तथा परब्रह्मण्येकस्मिन् घटपटादीनां प्रतिभासेप्यद्वैते न विरुद्धं किंचित्। ४२. अद्वैतपक्षे उक्तदोषस्य। ४३. स्वप्नसंवेदने। ४४. स्ववासनोत्थम्। ४५. अन्यथा (एकमेव चेत्तर्हि)। ४६. वासनाभेदाभावश्च वेदान्तिभिरपि नेष्टः। ४७. ब्रह्मणः। ४८. घटादिविवर्तस्वरूपस्य। ४९. एकस्य निरंशस्यात्माकाशादेरनेककारकाद्यालम्बनत्वं यथा तथा ब्रह्मणोप्यनेककारकाद्यालम्बनत्वं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। ५०. निरंशस्य। ५१. 'मेतत्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५२. अद्वैतं प्रत्यक्षादिविरुद्धं कथं भवेत्, प्रत्यक्षादीनां भ्रान्तत्वादित्युक्ते प्राहुर्जैनाः। ५३. बहिरन्तर्वा वस्तुनि। ५४. कथंचिद्भेदमन्तरेण। ५५. 'विरुन्ध्यात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५६. 'अपि' मुद्रितप्रतौ नास्ति।

५७. तयोः स्वपराभ्युपगमान्तरयोर्भेदः कथम् ? पराभ्युपगमान्तरमेकमभ्युपगमश्च द्वितीयो भेद इति। ५८. भेदप्रतिभासे। ५९. पक्षादिमिथ्यामिथ्यात्वम्। ६०. प्रत्यक्षादीनाम्। ६१. तेषां क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनाम्। ६२. तस्य बाध्यबाधकभावस्य। ६३. तदभावापत्तिर्यतस्तत एव। ६४. कारकादिरूपस्य। ६५. तस्मात्। ६६. कृष्यादि। ६७. नित्यनैमित्तिकभेदात्। ६८. वाशब्दः परस्परसमुच्यते। ६९. श्रेयः प्रशस्तं, प्रत्यवायो विघ्नः। ७०. कारणाभावे कार्यस्यानुत्पत्तिर्यतः। ७१. सम्यग्ज्ञानं विद्या मिथ्याज्ञानमविद्या। ७२. अनादिकालीना या अविद्या तद्वशादेव (न तु धर्माधर्माभ्याम्) विद्याविद्यादिभेदप्रतिभासनमिति ब्रूमो वयमद्वैतिनः। ७३. 'प्रवचनात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ७४. तयोः परब्रह्मनैरात्म्ययोः। ७५. नैरात्म्यकल्पना निष्फला चेत्तर्ह्यद्वैतकल्पनापि निष्फलैव, अविशेषाद् द्वयोः कल्पनयोः।

७६. प्रमाणविरुद्धम्। ७७. सर्वथा द्वैतम्। ७८. फलं विना। ७९. प्रेक्षापूर्वकारिणः। ८०. अद्वैतम्। ८१. तज्जिज्ञासैव फलमित्युक्ते आह। ८२. अन्तर्बहिर्वा वस्तु। ८३. प्रतिभाससमानाधिकरणत्वाभावे। ८४. खरविषाणादिकमपि। ८५. जैनापेक्षया शङ्का। ८६. ज्ञानस्य! ८७. प्रतिभाससमानाधिकरणत्वस्य। ८८. अद्वैतिनोच्यते। ८९. प्रतिभास्यप्रतिभासकभावानुपपत्तेः। ९०. जैनः। ९१. अद्वैती। ९२. कस्यचिदर्थस्य प्रतिभासे अहेतुत्वात्। ९३. प्रतिभासस्य

प्रतिभास्यार्थहेतुकत्वम्। ९४. नित्यत्वात्। ९५. (तस्य प्रतिभासस्य)। ९६. जैनः। ९७. अद्वैती। ९८. प्रतिभासालम्बनत्वे सत्यर्थस्य प्रतिभास्यत्वम्, अर्थस्य च प्रतिभास्यत्वे प्रतिभासस्य प्रतिभास्यालम्बनत्वमिति। ९९. प्रतिभासस्वरूपस्य।

१००. स्वरूप(प्रतिभासस्य)मालम्बनं यस्य स स्वरूपालम्बनः प्रतिभासस्तत्त्वात्। १०१. प्रतिभाससमानाधिकरणत्वादिति। १०२. विषयस्योपचरितं प्रतिभाससमानाधिकरण्यं नास्ति यतः। १०३. 'नान्यथा' पाठान्तरम्। १०४. ग्रामारामादेः। १०५. आत्मा ब्रह्म, सर्वमात्मैवेति वचनात्। १०६. उपनिषद्वाक्यादद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो वाच्यत्वं भविष्यतीत्याशङ्कायां तत्रेत्याशयेनाह ततस्तद्भ्रान्तिरिति। अद्वैतभ्रान्तिनिराकरणात्। १०७. (स्यान्मतमिति पूर्वेणान्वयः)। १०८. (हेतुः प्रतिभाससमानाधिकरणत्वादिति। साध्यं तु 'प्रतिभासन्तःप्रविष्टम्' इति। अत्र हेतुसाध्ययोः सतोर्द्वैतमेव जातं, हेतुसाध्ययोर्द्वैतरूपत्वात्)। १०९. अस्माकं जैनानामपि वाङ्मात्रत एव द्वैतं किं न स्यात्? ११०. हेतुसाध्ययोः। १११. साध्यसाधनभावविरोधः। ११२. अन्यथेति शेषः। ११३. शब्दो नित्यः, सत्त्वादित्यनयोर्हेतुसाध्ययोः (सौगतमतापेक्षयोः)। ११४. तथा भावस्य साध्यसाधनभावस्य। ११५. तस्य साध्यसाधनभावस्य। ११६. (बौद्धाभिमतकल्पनाभेदभिन्नसाध्यसाधनभावेन)। ११७. जैनाः प्राहुः। ११८. एकधर्म्यपेक्षया (जैनमतापेक्षयेदं समर्थनमस्ति। अत्र शङ्का तु पूर्वं बौद्धमतमादाय कृता)। ११९. सर्वथा तादात्म्यसिद्धौ। १२०. 'यथा प्रतिभासस्वरूपम्' इदमपि कथंचित्तादात्म्येन वर्तते न तु सर्वथा तादात्म्येन। १२१. अन्वयदृष्टान्ते वाच्ये व्यतिरेकदृष्टान्तवाच्यत्वप्रसङ्गात्। अन्वये व्यतिरेकिणो दृष्टान्तस्योदाहरणत्वं भवेत्। १२२. तस्य अद्वैतस्य साधक आगमस्तदागमः। १२३. ब्रह्मणः।

१२४. ऊर्ध्वमन्त्यावस्था (अद्वैतावस्था) मूलं स्वरूपं यस्य। १२५ पूर्वावस्था। १२६. ब्रह्म। १२७. वेदाः। १२८. 'वेद' पाठान्तरम्। १२९. इतः प्राह जैनः। १३०. आगमस्य ब्रह्मणो वा। १३१. आगमस्य सिद्धत्वं ब्रह्मणोऽसिद्धत्वं चेत्तदा। १३२. इति द्वैतापत्तिर्जाता। १३३. अनुमानादागमाद्वा ब्रह्मसिद्ध्यभावप्रकारेण। १३४. 'शून्यैकान्तः' पाठान्तरम्। १३५. अद्वैतमसिद्धम्, अद्वैतत्वादित्यत्र अद्वैतत्त्वादिति हेतुः। १३६. प्रतिभाससमानाधिकरणत्वानुमानस्य साध्यविरुद्धसाधकत्वादित्यर्थः। १३७. प्रतिभास्यस्य। १३८. तस्य प्रतिभासस्य स्वरूपं तत्स्वरूपम्। १३९. प्रतिभासमात्रं सत्त्वादिर्वा साधारणधर्मः। असाधारणधर्मस्तु ज्ञानस्वरूपमचैतन्यं चेति। १४०. स्वस्य ज्ञानस्य स्वरूपमेवासाधारणो धर्मस्तस्मात्। १४१. ज्ञाने ज्ञानस्वरूपमसाधारणं प्रतिभासते यथा, तथा घटादिसत्त्वमपि प्रतिभासते। १४२. अन्तर्बहिश्च। १४३. अत्र साध्यमद्वैतम्। १४४. चेतनाचेतनरूपस्य। १४५. आगमेन। १४६. न चागमाद् द्वैतप्रपञ्चारोपव्यवच्छेदव्यवस्था भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। १४७. अचेतनेषु। १४८. ब्रह्मत्वसाधकात्। १४९. व्यवच्छेद्यं ब्रह्म। व्यवच्छेदक आगमः। १५०. आगमस्य।

१५१. स्वस्य अद्वैतस्य संवेदनं पुरुषाद्वैते साध्ये हेतुः। १५२. (साधनात्तर्हीति पूर्वेण वान्वयः)। १५३. (साधनेन विना यदि अद्वैतसिद्धिस्तर्हीत्यर्थः)। १५४. (स्वेष्टम्)। १५५. वादिनः। १५६. ब्रह्मणः। १५७. अभेदपक्षे। १५८. अभेदपक्षस्वीकारे। १५९. प्रतिभाससमानाधिकरणत्वादिति। १६०. पृथक्त्वेनाभावात्। कुतः? ब्रह्मणि प्रविष्टत्वात्। १६१. तत्सिद्धिर्यदीत्यादिभाष्येण। १६२. पारोक्ष्यदूषितं सद्रूपमिदं ब्रह्म अयं चात्मेति भेदरूपेण मोहात्प्रतिभातीत्यर्थः। १६३. (सद्वितीय इत्यस्य भावः सद्वितीयता)। १६४. उभयात्मकत्वेन प्रतीतिः कुतो न स्यादित्युक्ते आह। १६५. तर्हि शास्त्रं किं करोतीत्युक्ते आह। पुमर्थे पुरुषप्रयोजने पारोक्ष्यसद्वितीयत्वनिराकरणरूपे। १६६. ब्रह्मात्मनोरैक्यम्। १६७. परोक्षं प्रति पारोक्ष्यम्। १६८. दर्शनं प्रतीत्यर्थः। १६९. मोहस्य। १७०. मोहस्य। १७१. द्वैतप्रसक्तेरेव। १७२. शास्त्रस्य वस्तुरूपत्वे द्वैतप्रसक्तिरेव।

१७३. प्रकारान्तरेणाप्यद्वैतं दूषयति। १७४. विनेत्यनेन सम्बन्धः। १७५. 'द्वैत' इति संज्ञावतो द्वैतरूपस्य। १७६. द्वैतादेः। १७७. जैनैः। १७८. स्वस्य अद्वैतस्य। १७९. नञ् विशेषणम्। १८०. एकार्थवाचकैकपदत्वात्। १८१. यन्नञ्पूर्वाखण्डपदं तत्स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षं हेतुः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षः। १८२. कथं व्यभिचारः? यतोऽनेकान्तशब्दोपि नञ्पूर्वाखण्डदोस्ति परन्तु स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो न। अतो व्यभिचारः। १८३. सुनयार्पितेन।

१८४. नञ्शब्दरहितेन 'द्वैतो माया' इत्यादिना। १८५. गौरश्व इत्यादिपदम्। तस्यैवैकदेशः पदांशः, यथा गू, अशू इत्यादिः। १८६. अखर इति नञ्पूर्वाखण्डपदं स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षं, न तु अखरविषाणादिशब्दः, अखण्डपदाभावात्। अत्र पदद्वयमस्ति खरो विषाणं च। न खरविषाणमखरविषाणम् (अखण्डशब्देन पदांशोनेकपदसमुदायश्च व्यावर्त्यते)। १८७. अखण्डपदविशेषणस्य। १८८. अवस्तु खरविषाणादि। १८९. विषाणपदात्पदान्तरं खरपदं तेनोपहितं संबद्धं विषाणपदं तस्य विशेषणं नञ्, तस्य। १९०. तथा, अवस्तुप्रतिषेधनिबन्धत्वेन। १९१. प्रागुक्तैर्व्यभिचारो नास्ति यतः। १९२. नामवतो वस्तुनः। १९३. नीरूपत्वेन खरविषाणस्य संज्ञित्वाभावः.। १९४. पररूपापेक्षया। १९५. अद्वैते द्वैतप्रतिषेधव्यवहारो यदि न स्यात्तदा स्वपरविभागस्तात्त्विकः कथं स्यादिति जैनेनोक्ते बौद्धः प्राह। १९६. प्रतिषेध्यप्रतिषेधकादिलक्षणः। १९७. इतो जैनैरुच्यते।

१९८. वस्तुवृत्तमपेक्ष्य नावस्थाप्यते इत्येतदेव समर्थ्यते पब्रह्मणीत्यादिना परैः। १९९. श्रवणमननिदिध्यासनरूपायाः। २००. अविद्याव्यवच्छेदके ब्रह्मणि अविद्यावतीष्टे सति महान् दोषः स्यादिति भावः। २०१. प्रकल्पनामात्राद् व्यवस्थापयितुमशक्तेः। यथान्धकारे स्थित्वाऽन्धकारो नास्तीति वक्तुमशक्यम्। अस्याविद्यास्ति नास्तीति वा अविद्यायां स्थित्वैव प्रकल्पनेत्येवमपि अविद्या व्यवस्थापयतुमशक्येति भावः। २०२. ब्रह्माधाराया ब्रह्मकारणिकायाः। २०३. ब्रह्मप्रविष्टस्य पुंसः अविद्याया व्यवस्थापनं न घटते तदाऽविद्याविनाशादित्यर्थः। २०४. अहं ब्रह्म अविद्यास्मीति। २०५. यदैवाविद्यास्तीति ब्रह्मानुभूतिमत्तदैवाविद्या नश्यतीति भावः। यथा नेदं रजतमिति ज्ञाने विपर्ययो नश्यति। तत एव प्रमाणोत्थज्ञानबाधिता सा। २०६. ब्रह्मत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। २०७. तस्मिन्। २०८. अविद्यायाः। २०९. ब्रह्मणि विज्ञातेप्यविद्या प्रतीयते चेत्तर्हि सा विद्यैवेति भावः। २१०. अविद्याया अव्यवस्थानं कुत इत्युक्ते आह। २११. वक्ष्यमाणः। २१२. अविद्यारहिते ब्रह्मणि। २१३. यतो अविद्यावानहं 'पुरुषोस्मि। ब्रह्मानुभूतिमत्, विद्यावानिति। २१४. मानं प्रमाणम्। २१५. ब्रह्मता। २१६. अविद्यायाः स्वसंवेदनेन ज्ञानेन बाधासंभवादविद्यापि विद्या एवेति शेषः। २१७. ब्रह्मणि। २१८. यतः। अतः कारणाद्वस्तुभूतमाश्रित्याऽविद्येति न कथ्यते किन्त्वविद्या अवस्तुभूतेति। २१९. ब्रह्मणः। २२०. अवस्तुनि। २२१. प्रमाणानाम्। २२२. प्रवृत्तिः। २२३. अविद्या पुनरिष्टमभिमतं वस्तु न भवति। कस्मात् ? यतः प्रमाणपरीक्षां न सहते। २२४. मानाघातासहिष्णुत्वमेवाविद्याया अविद्यारूपत्वे लक्षणम्। २२५. भवतामविद्यायाः। २२६. स्वानुभव आश्रयो यस्य। २२७. दृष्टा देशकालाद्या अदृष्टाः पुण्यपापाद्याः।

२२८. द्वैतवादिपक्षे स्याद्वादपक्षे वा। २२९. बहु स्वर्गादि। २३०. (**अद्वैतिपक्षे**)। २३१. अविद्या। २३२. (अविद्यां संसारी स्वयमेवानुभवतीत्यर्थः)। २३३. (अद्वैती)। २३४. भेदस्य स्वग्रहणप्रकारेण। २३५. भेदस्य स्वग्रहणप्रकारेण। २३६. यतोऽविद्याया अपि सत्यत्वप्रसङ्गः। २३७. स्वग्रहणप्रकारेण। २३८. शुक्तिकादौ रजतादिज्ञानस्य। २३९. अन्तःप्रमेयापेक्षयाऽप्रमाणविषयत्वमविद्यायाः केवलम्। २४०. न सर्वथा प्रमाणाविषायोऽविद्येत्यर्थः। २४१. तद्बाधकं प्रमाणं किमिति पृष्टे प्राह। २४२. यथाप्रतिभातस्यार्थस्यान्यथात्वसाधकं वैपरीत्यसाधकम्। २४३. पारमार्थ्यम्। २४४. सम्यग्ज्ञानवतः। २४५. पूर्वोक्तः। २४६. अविद्यारहितत्वे सम्यग्मतिश्रुतज्ञानयुक्तत्वे इत्यर्थः। २४७. संपूर्णमतिश्रुतज्ञानरूपस्य। २४८. जनस्य। २४९. अविद्येतरविभागाभावात्। २५०. आत्मा ब्रह्म। २५१. तस्य अनुभववत आत्मनोऽविद्या। २५२. विद्यैव। अविद्यायाः स्वसंवेदनज्ञानेन बाधनासंभवात्। २५३. आत्मतालक्षणस्य विरोधत्वाभावादित्यर्थः। २५४. क्षणक्षयादिरूपेण। २५५. कुत्रचिद ज्ञानविशिष्टेप्यात्मनि अविद्योत्पत्तौ न क्षतिः)। २५६. रजतज्ञानादौ बाधाया अविरोधात्। २५७. चैतन्यादिरूपेण। २५८. तस्या अविद्यायाः। २५९. बाह्यप्रमेयापेक्षया। २६०. बाह्यप्रमेयापेक्षया। २६१. अन्यथेति शेषः। २६२. त्वया प्राक् कथितम्।

२६३. काकुः। २६४. काकुः। २६५. अद्वैतैकान्तपक्षेपीत्यादिना पूर्वमुक्तो दोषः। २६६. तद्व्यवस्थानुपपत्तिं स्वपक्षेत्यादिनाहुः। २६७. अथ नैयायिकवैशेषिकौ शङ्केते। २६८. इत्यपि सूरिर्निवधारयामास। २६९. पृथक्त्वाद् गुणात्।

द्रव्यगुणौ यदि अपृथक् तदा स्वमतविरोधः। पृथक्त्वे च सति द्रव्यगुणौ पृथग् न स्यातां यतोऽसौ पृथक्त्वगुणोऽनेकस्थोऽस्ति। २७०. वैशेषिकमतापेक्षया। २७१. नैयायिकमतापेक्षया। २७२. बौद्धमतापेक्षया। २७३. त्रिषु मध्ये। २७४. वैशेषिकनैयायिकानाम्। २७५. सर्वथा। २७६. गुणस्य। २७७. द्रव्यगुणादीनां पदार्थानाम्। २७८. तेषां द्रव्यादीनां गुणत्वात्तद्गुणत्वात्। २७९. तद्गुणत्वे हेतुमाह। २८०. पृथक्त्वस्य। २८१. द्रव्येण सह। २८२. तादात्म्यानभ्युपगमे दूषणमाह। २८३. सर्वथा भेदे। २८४. यथा घटपटयोर्गुणगुणित्वव्यपदेशाभावः।

२८५. अविष्वक्, तादात्म्यमित्यर्थः। २८६. यद्येष कथंचिदविष्वग्(तादात्म्य)भावरूपो न स्यात्तदा अपरस्य ततोऽन्यप्रकारस्य निराकरणं कृतम्। २८७. पृथक्त्वादन्यद्गुणान्तरं संयोगादि। २८८. पदार्थेभ्यः। २८९. द्रव्यादिभ्यः पृथक् स्वयमंशकल्पनया रहितं, तथाप्यनेकेषु युगपद्वर्तते इति विरुद्धं, अनेकत्र वर्तमानस्य तावद्धा भेत्तुं सुशकत्वात्। इत्यादि। २९०. युगपत्। २९१. आदिपदेन कालदिगादिग्रहणम्। २९२. एकमपि नैयायिकादिमतापेक्षया। २९३. अनेकत्र हिमवद्विन्ध्यादिषु। २९४. एकत्रापि पदार्थे। २९५. वृत्तिः समवायः। २९६. (आकाशस्य)। २९७. सत्ता एका अनंशा स्वपर्यायेभ्यो भिन्ना समवायेन सर्वत्र वर्तते इत्युक्ते सत्याहुर्जैनाः। २९८. समवायेनापि वृत्तिर्न सत्तायाः। २९९. अपरसामान्यमित्यर्थः। द्रव्यत्वादेरपि द्रव्यस्वभावतया द्रव्यस्यानेकत्वे तदाश्रितद्रव्यत्वादेरप्यनेकत्वप्रसिद्धेरित्यर्थः। ३००. नैयायिकैरेतानि एकत्वे सत्यनेकवृत्तीनि मतानि परन्तु न जैनैः। ३०१. आधारमाधारं प्रति। ३०२. परिणामो भेदः। अर्थद्वयधर्मत्वेन द्वौ द्वौ संयोगौ स्यातां न त्वेक इत्यर्थः। ३०३. निरंशत्वेपि द्वित्वादिर्गुणो घटद्वयादिषु वर्तते इति नैयायिकशङ्कायामाहुर्जैनाः। ३०४. परिणामो भेदः। ३०५. खरविषाणादौ। ३०६. तस्याः संख्याया असिद्धौ। ३०७. अपरसंख्येयापेक्षया। ३०८. तद्विशेषो द्वित्वादिः। ३०९. परमतापेक्षया सकलस्य गुणस्य निरंशत्वमस्ति यतस्ततो गुणत्वादिति सामान्येनोक्तो हेतुः। ३१०. पदार्थयोः। ३११. एकत्वे सतीत्यर्थः। ३१२. पृथक्त्ववति। ३१३. तस्य पृथक्त्वस्य न्यायबलेन स्याद्वादिभिरस्वीकारात्। ३१४. स्थितः, अक्षणिक इत्यर्थः। ३१५. अस्खलितरूपो निर्बाध इति सर्वत्र संबन्धनीयः। ३१६. एकत्वमनुगताकार इत्यर्थः। ३१७. विसदृशपदार्थवत्।

३१८. सधर्मत्वं सादृश्यम्। ३१९. (नाना जीवा यथा परस्परं परस्वरूपं न परिणमन्ते) ३२०. पूर्वं दत्तस्य पश्चाद् ग्रहणं दत्तग्रहः। आदिपदेन भुक्त्वा व्रजतीत्यादिविषयो ग्राह्यः। ३२१. सर्वं मा भवत्वित्युक्ते आह। ३२२. पुनर्भवदत्तग्रहाद्यभावः। ३२३. पूर्वोक्तानां सन्तानसमुदायादीनाम्। ३२४. भेदस्तु परस्परं वर्तते परंतु ज्ञायते नेत्यर्थः। ३२५. बौद्धाः। ३२६. स्वरूपम्। ३२७. कारणस्य। ३२८. कार्यानुत्पत्तेः। ३२९. सौगतशङ्का। ३३०. यस्य कस्यचित्। ३३१. अङ्गीक्रियमाणे। ३३२. घटादिकं प्रति ऋषभादेः। ३३३. पुनः सौगत एवाह। हे जैन। ३३४. उत्पत्तेः प्राक्। ३३५. विवक्षितकार्यस्य। ३३६. (एवं जैनैरङ्गीक्रियमाणायाम्)। ३३७. कारणरूपे। ३३८. कार्यस्य। ३३९. खरादिमस्तकावयवलक्षणकारणस्य। ३४०. (जैनानाम्)। ३४१. सौगतानाम्। ३४२. विवक्षितकारणाद्विवक्षितस्य कार्यस्य यथोत्पत्तिस्तथा अविवक्षितकारणादविवक्षितकार्यस्योत्पत्तिरपि किन्नेत्याद्यतिप्रसङ्गशङ्काया नावकाश इत्यर्थः। ३४३. तत्, विवक्षितं कारणत्वं यस्य कार्यस्य तत्तस्य, कार्यस्येत्यर्थः। ३४४. स्वदेशस्यापेक्षा यस्य कारणस्य तत्स्वदेशापेक्षं कारणं तस्यान्वयव्यतिरेकौ यथा घटेते। स्वदेशे सति कारणे कार्यस्योत्पत्तिरसति च नास्ति यथेत्यर्थः।

३४५. कार्यस्वभावः। ३४६. कारणस्य। ३४७. कार्यस्य। ३४८. स कारणभूतो हेतुर्यस्य कार्यस्वभावस्य। ३४९. अतः, कारणभूताद्यद्भिन्नमकारणं तस्मान्न संभवः कार्यस्य। ३५०. अपरामृष्टः, असंपृक्तः। ३५१. बौद्धः। ३५२. अव्यभिचारेण कार्यकारणभूतानामेकसंतानत्वप्रकारेण। ३५३. बौद्धानां चित्तक्षणेभ्यः (ज्ञानपर्यायेभ्यः) सुगतचित्रमुत्पद्यते तदुत्पत्तिमत्त्वात्तत्रापि कार्यकारणभावोस्तु (यतो बौद्धचित्तानि कारणानि बुद्धचित्तं कार्यम्)। ३५४. एकसंतानत्वप्रसङ्गे हेतुरुच्यते तेषामित्यादिः। तेषां बुद्धेतरचित्तानाम्। ३५५. कार्यरूपस्य। ३५६. बौद्धचित्तेभ्य उत्पन्नं बुद्धचित्तं यदि बौद्धचित्तानि न विषयीकरोति तर्हि। ३५७.

ज्ञानस्य कारणमेव ज्ञानस्य विषय इति बौद्धसिद्धान्तः। ३५८. चित्तक्षणानाम्। ३५९. उत्तरज्ञानक्षणः कार्यभूतः पूर्वं बुद्धचित्तक्षणं कारणभूतं गृह्णाति तदुत्पत्तिमत्त्वादिति। ३६०. प्राग्ज्ञानक्षणस्य। ३६१. समनन्तरत्वादेव मु. पा.। ३६२. उत्तरचित्तकार्यं प्रति। ३६३. बुद्धचित्तोत्पत्तौ सर्वार्थानां कारणत्वाविशेषात्। ३६४. समनन्तरप्रत्ययस्य उत्तरचित्तं प्रति। ३६५. सौगताशङ्का। ३६६. जैनाः प्राहुः। ३६७. कार्यकारणतया उपादानोपादेयतया वा। ३६८. संतानलक्षणमुक्त्वा संतानस्यैकत्वमाह। संतानः कथंचिदेक एक एव, क्वचित्क्षणान्तरे (चित्रपटादौ चित्रैकसंवेदने) नीललोहितादिनिर्भासचित्रैकसंवेदनवदिति। ३६९. अन्वयद्वारा। ३७०. नीलपीतादिरूपाणां तदवयवानाम्।

३७१. पृथग्वर्णाः श्वेतादयः। ३७२. अनेकसंताना नानापुरुषाः। ३७३. एकैकक्षणवत्। ३७४. चित्रज्ञानावयवेषु प्रत्यासत्तिविशेषाच्चित्रस्यैकत्वं स्यादित्याशङ्क्याहुर्जैनाः। ३७५. कथंचित्तादात्म्यात्। ३७६. शीतवातादीनां देशप्रत्यासत्तावपि भिन्नत्वादेकत्वाभावः। ३७७. ज्ञानगतस्वरूपं नीलाद्याकारो वा भावः। ३७८. ज्ञानलक्षणेन सह। ३७९. आकाराणाम्। ३८०. द्रव्यापेक्षया। ३८१. चित्रज्ञानस्य कथंचिदैक्याभावेप्येकत्वव्यवहारघटनं यदि तर्हि। ३८२. तथा च सति चित्रज्ञानं न स्यात्। ३८३. हे सौगत। ३८४. चित्रज्ञानलक्षणमेकसंतानम्। ३८५. कालस्य वर्तमानस्य। ३८६. चित्रज्ञानक्षणानाम्। ३८७. न पुनरेकद्रव्यत्वम्। ३८८. यथा समुदायस्यैकसंतानत्वम्। ३८९. सौगतानाम्। ३९०. एकसंतानत्वापत्तौ कालेत्यादिना हेतुमाह। ३९१. समनन्तरत्वं सामीप्यम्। ३९२. रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारा इति पञ्चस्कन्धाः। तत्र रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः परस्परासंबद्धा रूपस्कन्धाः, सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः, सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानानि विज्ञानस्कन्धाः, (नामकरणं, संज्ञा), ज्ञानपुण्यपापवासनाः संस्कारस्कन्धाः। ३९३. अत्र हेतुमाह। ३९४. प्रत्यासत्तिविशेषात्संतानः समुदायो वा साधर्म्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुर्जैनाः। ३९५. प्रागुक्तादन्यत्, प्रत्यासत्त्यन्तरम्। ३९६. ज्ञानस्य पूर्वोत्तरक्षणेषु एकदेशवर्तिषु परमाणुषु स्कन्धेषु च। ३९७. भवतीति शेषः। ३९८. एकत्वनिह्नवे साधर्म्यं न स्यादित्येतत् श्लोकस्थपदं विवृण्वन्नाह। ३९९. एकसंतानभाजां ज्ञानक्षणानां परमाणूनां च। ४००. अन्यत्र आत्मसांकर्यात्, कथंचित्तादात्म्यं विनेत्यर्थः। ४०१. 'युज्यते' मुद्रितप्रतौ पाठः। ४०२. एकसंतानत्वनिबन्धनस्य समुदायत्वनिबन्धनस्य च। ४०३. संतानस्य कथंचिदेकत्वसमर्थनेन। ४०४. वर्तमानस्य। ४०५. कथंचिदेकत्वेन। ४०६. एकज्ञानं चित्रज्ञानम्। ४०७. आदिशब्देन सुखादिषु। ४०८. कर्तृपदम्।

४०९. आत्मन्येव वर्तयति स्वभावभेदान्। ४१०. एकस्मिन् चित्रज्ञाने निर्भासा नीलपीतादिप्रतिभासविशेषास्तैः। ४११. सर्वं सदित्यनेन। ४१२. ज्ञानज्ञेयप्रकारेण। ४१३. यौगाचारः। ४१४. तर्हि सद्विषयत्वमेव स्यादित्याशङ्क्याह। ४१५. एकस्माज्ज्ञानरूपात्सतो परं सत् प्रमेयरूपं सदन्तरं तस्य भावस्तत्त्वं प्रमेयत्वं न स्यादित्यर्थः। ४१६. ज्ञानस्य। ४१७. घटादेः। ४१८. पटान्तरत्वाभावो घटाभावः। ४१९. क्षणिकेषु। ४२०. असतो व्यावृत्तिमात्रमेव सद् बौद्धमतापेक्षया। ४२१. सत्सामान्यात्मना। ४२२. ज्ञानस्य। ४२३. ज्ञेयात्। ४२४. विचारस्य। ४२५. परमार्थसत् क्षणिकम्। ४२६. द्विधाप्यसत्त्वविषयकः। ४२७. आरोपितमात्रं कल्पितमात्रं वा सांवृतम्। ४२८. क्षणिकरूपाणां घटादीनाम्। ४२९. तेषु सद्विशेषेषु। ४३०. अखरविषाणाद् व्यावृत्ते खरविषाणे। ४३१. सत्त्वप्रसङ्गात्। ४३२. अज्ञानाद् व्यावृत्तं ज्ञानमज्ञेयाच्च व्यावृत्तं ज्ञेयं, तयोः। ४३३. ज्ञाने ज्ञेये च। ४३४. अङ्गीक्रियमाणे।

४३५. असत्। ४३६. ज्ञानस्य। ४३७. ग्राह्यग्राहकरूपेण। ४३८. ग्राहकाकारस्य विषयाकाराद्भेदेपि यथा सदाद्यात्मना भवताम्। ४३९. सदाद्यात्मना तादात्म्यं नो चेत्। ४४०. तस्य ज्ञानस्याभावे। ४४१. ज्ञानापेक्षत्वाज्ज्ञेयस्य। ४४२. द्विधाप्यसत्त्वलक्षणः। ४४३. अस्माकं सौगतानां सामान्यमस्त्येव, परन्तु शब्देन वाच्यत्वाद्वास्तवं नेत्युक्ते आहुः सूरयः। ४४४. सामान्यग्राहका इत्यर्थः। ४४५. सौगतानाम्। ४४६. यतस्ताभिः सामान्यार्थाभिर्विशेषो न वक्तुं शक्यते। शब्दैर्वक्तुं न शक्यते इत्यर्थः। ४४७. सौगतानाम्। ४४८. विशेषस्यावाच्यत्वात्। ४४९. बौद्धाः। ४५०. पर्यायाणाम्। ४५१. समयः संकेतः। ४५२.

शब्दद्वारा। ४५३. व्यतिरेकदृष्टान्तोयम्। विशेषदर्शने विशेषप्रतिभासो यथा तथा शब्दबुद्धौ विशेषस्य प्रतिभास इत्यर्थः। ४५४. निर्विकल्पकप्रत्यक्षे। ''स्वलक्षणे दर्शने'' मुद्रितप्रतौ पाठः। ४५५. संकेत; सामान्यस्य। ४५६. शब्दबुद्धेः। ४५७. शब्दबुद्धौ। ४५८. वक्ष्यमाणप्रकारेण दूषणं स्याद्यदीत्यर्थः। ४५९. त्वया सौगतेन। ४६०. स्वलक्षणवस्तुनः। ४६१. अर्थशून्यत्वेन विवक्षितशब्दमौनं यत्किंचिद्वचानानां परस्परम्। ४६२. बौद्धः। ४६३. जैनः। ४६४. गवादिशब्दः। हे सौगत। ४६५. सत्यरूपस्य गोशब्दादेः। ४६६. अपरस्य। ४६७. बौद्धः। ४६८. परमार्थैकविषयमाश्रित्य शब्दस्यार्थप्रतिपादकत्वनियमो न स्यादिति सौगतोक्तम्। तानशब्दोत्र विषयवाची।

४६९. ईश्वरप्रधानादिशब्दानाम्। ४७०. ईश्वरप्रधानादयोर्थाः पारमार्थिका न भवन्ति तथापि तत्र शब्दाः प्रवर्तन्ते यतः। ४७१. समयान्तरभेदिष्वर्थेषु शब्दानां प्रवृत्तिर्मा भूदिति चायुक्तं, मतान्तरेषु शब्दप्रवृत्तेरुपलभ्यमानत्वात्। सा च शब्दप्रवृत्तिर्मतान्तरेषु कथं स्यादित्याशङ्कायामाह बौद्धः। ४७२. वासनाविशेषनियमाच्छब्दनियमः। ४७३. इतो जैनाः प्राहुः। ४७४. निर्विकल्पकप्रत्यक्षेपि। ४७५. उपादानविशेषप्रकारेणैव। ४७६. अर्थप्रकाशकत्वनियमः। ४७७. परमार्थैकतानत्वात्प्रत्यक्षस्य। ४७८. किंत्वित्यनेन तर्हि कथं निर्विकल्पकात्प्रदत्तरिति बौद्धाभिप्रायः सूच्यते। तं प्रति जैनो वासनाविशेषस्य भेदादित्याद्याह। ४७९. निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्यार्थप्रकाशकत्वनियम इत्यनेन संबन्धः। ४८०. ततस्मादेवमुक्तप्रकारेण। ४८१. अन्यथेति शेषः। ४८२. वस्तु। ४८३. न तु शब्दस्य। ४८४. तस्य, अर्थसंनिधानासत्त्वस्य वैशद्यस्य च। ४८५. स्वलक्षणवस्तुनः। ४८६. विप्लवो विभ्रमादिः। ४८७. इन्द्रियज्ञानम्। ४८८. विशदात्मकतया ४८९. प्रवर्तते इत्यध्याहारः। ४९०. दूरेतरयोरर्थयोः। ४९१. निर्विकल्पकम्। ४९२. इन्द्रियज्ञाने। ४९३. निर्विकल्पकज्ञानानन्तरोत्पन्नसविकल्पकज्ञानेन। ४९४. इन्द्रियज्ञाने निर्विकल्पके। ४९५. अवैशद्यस्य। ४९६. तयोर्निर्विकल्पकतज्जन्यसविकल्पकयोः। ४९७. सविकल्पाविकल्पयोर्ज्ञानयोर्युगपद्वृत्तिर्लघुवृत्तिः, निर्विकल्पकादनन्तरमेव सविकल्पकस्योत्पत्तिर्वा लघुवृत्तिः। ४९८. हे सौगत। ४९९. निर्विकल्पकवैशद्येन। ५००. अनन्तरविकल्पो विकल्पज्ञानम्। ५०१. विकल्पज्ञाने। ५०२. अविकल्पसंबन्धी। ५०३. निर्विकल्पस्य तत्राबलीयस्त्वात्। ५०४. अश्वविकल्पे। ५०५. गोदर्शनं निर्विकल्पकम्। तस्मात्। ५०६. नीलदर्शनस्य विषयः स्वलक्षणं क्षणिकं, नीलविकल्पस्य तु स्थिरस्थूलं घटादिसामान्यम्। ५०७. बौद्ध आह। तत्र आसन्नदेशे।

५०८. दृश्यं स्वलक्षणं, विकल्प्यं सामान्यम्। ५०९. एकत्वाध्यवसायादेव। ५१०. बौद्धस्य। ५११. विकल्पज्ञानविषये। ५१२. (निर्विकल्पज्ञानविषयो दृश्यः)। ५१३. दृश्यविकल्प्ययोः सादृश्यग्राहकात्। ५१४. हे सौगत। ५१५. आसन्नार्थे। ५१६. क्वचित्, दूरे इत्यर्थः। ५१७. दूरासन्नज्ञानानाम्। ५१८. आसन्नार्थे। ५१९. दूरे। ५२०. अविशदप्रतिभासः। ५२१. निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य। ५२२. निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य। ५२३. अर्थप्रकाशकत्वनियमः। ५२४. शब्दबुद्धौ इव शब्दबुद्धिवदित्यर्थः। ५२५. पूर्ववासनानियमाच्छब्दबुद्धौ शब्दनियमः प्रधानतया प्रत्यक्षे। अर्थात् प्रत्यक्षेऽपि वासनाविशेषादेवार्थप्रकाशकत्वनियमो यतो न स्यात्। ५२६ अत्राह बौद्धः। ५२७. वासनानियमात्। ५२८. अभिप्रायविषयीकृतसंकेते। ५२९ यत्किंचनवचनात् पक्षमात्रवचनाद्वा। ५३०. उपादाननियमाच्छब्दबुद्धेर्विशेषो न, किन्तु त्रिरूपहेतुसूचितत्वादेव विशेषः। कोसौ विशेषः ? शब्दपरो विशेषः। ५३१. सर्वं क्षणिकं सत्त्वाद्विद्युदादिवदिति। ५३२. अर्थशून्यत्वेन। ५३३. (प्रधानश्वेरादिसाधकं यदनुमानं तद्वाक्यवदित्यर्थः)। ५३४. सत्यरूपम्। ५३५. उभयत्राभिप्रायसूचित्वाविशेषात्। ५३६. यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्तीति प्रसिद्धासत्यवचनं तथा सदर्थाप्रतिपादनत्वादिदमप्यसत्यम्। ५३७. धर्मकीर्त्यादयः। ५३८. क्षणभङ्गादिवचनं सत्यमित्येवम्।

५३९. ततश्च किमित्युक्ते आह। ५४०. निर्विकल्पकेन निश्चयाभावात्। ४४१. यथा दानादिचेतोधर्मादिलक्षणयोः कथंचिदेकत्वाभावे एतदुपायमित्यनवधारितरूपत्वान्निस्सन्देहं प्रवृत्तिनिवृत्ती इत्याश्रयत्वं न स्यात्तथा प्रकृतमपि। ५४२ स्वलक्षणं

कर्तृपदम्। ५४३. प्रत्यक्षसमनन्तरभाविविकल्पैः स्वलक्षणावधारणं भविष्यतीति प्रोक्ते आह विकल्पानामिति। ५४४. चशब्दोत्र भिन्नप्रक्रमत्वादन्ते योज्यः। ५४५. किं चेत्यध्याहारः। स सौगतः। ५४६. इतरो विकल्प्यः। ५४७. विशदेतरात्मकत्वम्। ५४८. स्वकीयमंशमात्रं भागमात्रं तदवलम्बिना स्वरूपमात्रग्राहिणेत्यर्थः। तदुक्तं न्यायविनिश्चयालङ्कारे स्वग्राह्येकस्वभावोयं विकल्पस्त्वन्मते स्थितः। व्याहारादेः कथं तेन बहिरर्थस्य वीक्षणमिति। ५४९. अभ्रान्तभ्रान्तत्वम्। ५५०. करणभूतेन। ५५१. अस्वलक्षणविषये। ५५२. हे सौगत। विकल्पादेव। ५५३. विकल्पस्य यत्स्वरूपं तत्सविकल्पकं स्यात्। ततश्चैतद्विरुध्यते 'सर्वे बोधाः स्वरूपे निर्विकल्पकाः' इति स्वलक्षणविषयत्वे च विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लव इति स्ववचनविरोधः। ५५४. विकल्पान्तराद्विकल्पसंविदां निर्णयः। ५५५. विकल्पः। ५५६. मीमांसकाभिमतं ज्ञानं स्वयं परोक्षमिति। ५५७. चिन्तनं ग्रहणम्। ५५८ (मीमांसकीयस्य) परोक्षज्ञानस्य। ५५९. उपहासवचनमिदम्। ५६०. बुद्धेर्निर्विषयत्वात्। ५६१. भ्रान्तेरेव न तु परमार्थतः। भ्रान्ते मुद्रितप्रतौ पाठः। ५६२. विभ्रमैकान्तात्। ५६३. भ्रान्तं कथ्यते। ५६४. स्वरूपस्या-(भावप्रमेयपेक्षया)सत्त्वात्र भ्रान्तत्वं स्वप्नज्ञानस्य। ५६५. तत्स्वप्नज्ञानं कर्मपदम्। इदं कर्तृपदं प्रागुक्तम्। ५६६. ज्ञानस्य। ५६७. विपक्षः, अभ्रान्तस्वरूपम्।

५६८. भ्रान्तसंवेदनेन। ५६९. सुगतः। ५७०. संवृत्त्या प्रतिपत्त्यभावः कुत इत्युक्ते आह। ५७१. जैनानाम्। ५७२. सुगतः। ५७३. तं सुगतम्। अन्ये धर्मकीर्त्यादयः। ५७४. एकत्र वस्तुनि गुणगुणिनोः पृथक्त्वापृथक्त्वयोर्वा ऐकात्म्यम्। ५७५. मीमांसकं प्रति। ५७६. अभ्युपगच्छन्तं सौगतं प्रति। ५७७ पृथक्त्वापृथक्त्वयोः। ५७८. प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितस्वरूपपरस्परविरुद्धानेकधर्मात्मकजीवादिपदार्थलक्षणवस्तुप्रतिपादकनयप्रमाणवाक्यात्मकवचनसन्दर्भमय-श्रुतस्कन्धः स्याद्वादः स एव न्यायस्तं विद्विषन्तीति। ५७९. पृथक्त्वैकान्तेतरे च ते परस्परविरुद्धप्रत्यनीकस्वभावे च, तयोर्द्वयं, तस्य संभवः, सोप्येकधर्मिणि मा भूदिति संबन्धः। ५८०. विप्रतिषेधो विरोधः। ५८१. धर्मपेक्षया धर्म्यपेक्षया च। ५८२. एकत्र वस्तुनि सर्वथास्तित्वनास्तित्वे विरुद्धधर्मौ। परन्तु एकत्रैव वस्तुनि कथंचित् पृथक्त्वापृथक्त्वं न विरुद्धम्। ५८३. वन्ध्यायाः सुतस्य द्वन्द्वसमासोऽत्र ज्ञेयः। ५८४. उभयमस्तित्वनास्तित्वमेकत्र विरुद्धम्।

५८५. अस्तित्वनास्तित्वाभ्यामवाच्यं तत्त्वमिति यथा व्याहन्यते। ५८६. आदिपदेन पृथक्त्वादि। पृथक्त्वमस्तु, ऐक्यनिरपेक्षत्वात्। ऐक्यं केवलं वस्तु न भवति, पृथक्त्वरहितत्वादिति। ५८७. एकत्वादिधर्मनिराकरणेन सकलधर्मशून्योऽनेकान्त इत्यादिरन्यथाशङ्का। ५८८. भेदाभेदसप्तभङ्गीम्। ५८९. स्याद्भेदः, स्यादभेद इति प्रथमं भङ्गद्वयम्। ५९०. परस्परं सापेक्षं सद्वस्तु भवति। ५९१. पक्षधर्मादिस्वभेदैर्विशिष्टं यथा साधनम्। ५९२. कारिकासमूहेन। ५९३. जीवादिवस्तु सापेक्षं सदेकं भवति कथंचिदेकत्वेन प्रतीयमानत्वात्सत्त्वादिसाधनवत्, तथा सापेक्षं जीवादिवस्तु पृथग्भवति कथंचित्पृथक्त्वेन प्रतीयमानत्वात्तद्वदेव, इति अनुमानक्रमः। ५९४ एतैर्भेदैर्भिन्नं नानात्वं प्राप्तम्। ५९५. वादिप्रतिवादिनोः। ५९६. दृष्टान्ते परस्परं भेद एव धर्मधर्मिणोरिति कथं साम्यं दार्ष्टान्तिकेन दृष्टान्तस्येत्युक्ते आह तत्रेति। ५९७. अद्वैतैकान्तपक्षेपीत्यादिकारिकासमूहेन। ५९८. सर्वथा परस्परनिरपेक्षयोः पृथक्त्वैकत्वयोरवस्तुत्वलक्षणस्य। ५९९. ज्ञातत्वात्। ६००. सर्वथा। ६०१. गतार्थोप्यनुमानविषयश्चेत्तदानुमानमप्रमाणं स्याद् गृहीतग्राहित्वादित्युक्ते आह। एकस्मिन् प्रमाणे बहुप्रमाणप्रवृत्तिः प्रमाणसंप्लवः। प्रमाणसंप्लवं मन्यन्ते जैना यौगादयश्च। ६०२. परस्परनिरपेक्षे। ६०३. गुणगुणिनोरनेकत्वम्। ६०४. एकत्वपृथक्त्वनिरपेक्षत्वप्रकारेण।

६०५. सर्वथापृथक्त्वास्तित्वस्य सर्वथैकत्वास्तित्वस्य च विपक्षभूतस्याभावात्तत्र वृत्त्यभावः। ६०६. एतावता ग्रन्थेन पूर्वार्द्धं व्याख्याय सापेक्षत्वे इत्यादिनाऽपरार्द्धं व्याख्यायते। ६०७. जीवादिवस्तु कथंचिदेकं भवति वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः, तदेव कथंचिच्च पृथग्भवति वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेरिति। ६०८. सप्तमी। ६०९. अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। ६१०. यथा साधनस्यान्यथानुपपत्तिः। एकानेकं यथा साधनमस्तीत्यर्थः। सपक्षे सत्त्वं विपक्षव्यावृत्तिसापेक्षं विपक्षाद् व्यावृत्तिः सपक्षसत्त्वसापेक्षा

साधनवस्तुनो रूपमिति रहस्यम्। ६११. प्रकारान्तरेण कथयन्ति दृष्टान्तमकलङ्कदेवाः। ६१२. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुदृष्टान्तमनिच्छतो वादिनः। ६१३. निरंशज्ञानम्। ६१४. सापेक्षत्वे इति। ६१५. सापेक्षैरित्यर्थः। ६१६. मीमांसको जैमिनीये वेदान्ती ब्रह्मवादिनि। वैशेषिके स्यादौलूक्यः शून्यवादी तु सौगते॥ नैयायिके त्वक्षपादः स्यात् स्याद्वादिक आर्हते। लोकायतिकचार्वाके बार्हस्पतिश्च नास्तिके॥ इत्यभिधानात्। ६१७. परस्परसापेक्षैः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रधानं वस्तु एकं सिध्यति। ६१८. परस्परसापेक्षत्वं, भेदैर्विशिष्टत्वं वा। ६१९. स्वविषयो घटपटादिः। ६२०. उदाहरणमन्तरेणापि। ६२१. बौद्धः। ६२२. एकत्वस्य प्रत्यक्षेण बाधितत्वात् पृथक्त्वस्य च सदाद्यात्मना बाधितत्वान्निर्विषयत्वमिति भावः।

६२३. सतोस्तित्वस्य यत्सामान्यं तत्तथा, तस्मात्। ६२४. विवक्षाया हेतोरेकानेकानेकत्वम्। ६२५. वह्न्यादि-साध्यनिश्चये धूमादिर्मृत्पिण्डो वा घटाद्युत्पत्तौ। ६२६. एकत्वप्रत्ययस्य। ६२७. सत्सामान्यं विषयो यस्य स तत्त्वात्। ६२८. हेतुशब्देनात्रानुमानावयवभूतो हेतुर्ग्राह्यः। हेतुर्द्विधा, ज्ञापकः कारकश्च अतो, अर्थक्रियानिष्पादकघटादिर्मृत्पिण्डोपि वा तेन ग्राह्यः। ६२९. धूमादिः। ६३०. मृत्पिण्डादिः। ६३१. विशेषरूपः। ६३२. स्वरूपमनतिक्रम्येत्यर्थः। ६३३. ज्ञापकहेत्वपेक्षया। ६३४. स्वस्य घटादेरारम्भकावयवानां द्व्यणुकत्र्यणुकादीनाम् (कारकापेक्षया)। ६३५. एकानेकरूपमेव। ६३६. जीवादि दार्ष्टान्तिकम्। ६३७. यतो भावसाङ्कर्यानुपपत्तिर्वर्तते। ६३८ पदार्थाः। ६३९. अन्यथेति शेषः। ६४०. अस्ति तु भेदप्रतीतिः। ६४१. तर्हि सर्वे भावाः समाना दृश्यन्ते कथमित्याशङ्क्याह बौद्धः। ६४२. कार्यव्यावृत्तं कारणं कारणव्यावृत्तं कार्यमित्यर्थः। अतत्कार्याद् व्यावृत्तं तत्कार्यम्, अतत्कारणव्यावृत्तं कारणम्। ६४३. अतत्कारणकार्यव्यावृत्तिलक्षणं सामान्यम्। ६४४. 'व्यवस्थितेः' मुद्रितप्रतौ पाठः। ६४५. सकाशात्। ६४६. तस्माद्यतो यतोर्थानामित्यपि पाठः। ६४७. अर्थात्। ६४८. अगोरूपाद्रवामशबलरूपाच्च शबलानां व्यावृत्तिस्ततो व्यावृत्तिविशेषावगाहिनो जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते, न तु परमार्थतो व्यवस्थाप्यन्ते यतः। ६४९. गौः गौः अश्वः इत्याद्याः। ६५०. भेदलक्षणेन। ६५१. अन्येन स प्रत्येतुं न शक्य इति संबन्धः। ६५२. कारणेन। ६५३. जैनैः। ६५४. यथा एकभेदस्य स्वभावभेदाभावस्तथात्रापि। एकश्चासौ भेदश्च तस्य यथा स्वभाव-विच्छेदाभावादैक्यम्।

६५५. ननु स्वभावविच्छेदाभावान्नीलस्वलक्षणे संवेदने चैक्यं निबन्धनमस्तु न तु भिन्नार्थानां, स्वभावविच्छेदादित्याशङ्कायामाह। ६५६. विच्छेदो भेदः। ६५७. न तु सर्वं सदेव स्यात्। ६५८. स्वभावविच्छेदाभावो यतः। ६५९. एवमपि साङ्कर्यं स्यादित्युक्ते आहुर्जैनाः। ६६०. मिश्रणमैक्यम्। ६६१. निरंशसंवेदनाद्वैतवादे। ६६२. संवेदनाद्वैतवादे। ६६३. 'वेद्याकार' मुद्रितप्रतौ पाठः। ६६४. वेद्याकारपरोक्षम्, इदं नीलं वस्तु वेद्याकारान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानसिद्धत्वात्। संविदाकारं प्रत्यक्षमनुभवसिद्धत्वात्। ६६५. वेद्याकार मुद्रितप्रतौ पाठः। ६६६. वेद्याकारविविक्तस्य। (अन्यथेति पूर्वेण शब्देनान्वयः)। ६६७. 'वि' उपसर्गस्य विविधोर्थोत्र ज्ञेयः। वेद्याकारं प्रत्यक्षं संविदाकारं परोक्षमिति द्विविधे (द्वे) प्रतिपत्ती अत्र स्तस्तयोर्विरोधोस्तु। ६६८. गुणकर्मणोः। ६६९. अभेदे। ६७०. वेद्यवेदकाकारविवेके। ६७१. उभयोरपि भेदे सति क्वचिदेव संविदाकारे निश्चयासंभवो यथा। ६७२. वेद्याद्याकारविवेकसमारोपसद्भावात्तद्विप्रतिपत्तिविरोधो न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। ६७३. निर्भासभेदैश्चित्रज्ञानवत्। (चित्रज्ञानं यथा एकमनेकम्)। असाधारणहेतुत्वादिति पूर्वमुक्तम्। ६७४. सर्वभावानामेकत्वे पृथक्त्वे च सति। ६७५. सर्वथेत्यर्थः। एकत्वनिरपेक्षपृथक्त्वेन। ६७६. एकत्वानेकत्वेन। ६७७. सामान्यविशेषस्वरूपभाज इत्यर्थः। ६७८. अर्थात्। ६७९. निश्चीयन्ते। ६८०. जातिः सामान्यम्। ६८१. व्यावृत्तितो विशेषाणामेव प्रतीतिर्न तु जातीनां, तासामनुवृत्त्या एव प्रतीतेः। अतो विपर्ययात्प्रतीतिविरोध इति भावः। ६८२. अनुस्यूतिः, अन्वयः। ६८३. सामान्यानि। ६८४. न तु भेदस्य। ६८५. पृथक्त्वधर्मेण सत्सामान्यधर्मेण च क्रमेण। ६८६. उक्तधर्मद्वयात्। ६८७. (विवक्षा मुख्यता, अविवक्षा गौणतेति च पर्यायार्थः)।

६८८. भेदभेदाव्यवस्था। ६८९. बौद्धम्। ६९०. सतो विद्यमानस्यैव विशेषणस्यास्तित्वादेर्विवक्षा चाविवक्षा च क्रियते

नाविद्यमानस्य। ६९१. एकत्वानेकत्वविशेषणार्थिभिः। ६९२. धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थ इत्यादिकारिकायाम्। ६९३. सर्वथा असतः। ६९४. असति। ६९५. पुंसः। ६९६. सर्वथा असतः। ६९७. विवक्षाविषयस्य मनोराज्यादेरसत्त्वात्कथं विवक्षावशाद्भेदाभेदव्यवस्थितिः स्यादित्याशङ्क्याहुर्जैनाः। ६९८. मनोराज्यादेः। ६९९. पुनर्बौद्धो वक्ति। ७००. इदमनुमानं सत्यमसत्यं वेति विकल्पद्वयं कृत्वा क्रमेण दूषयति जैनः। ७०१. पुनर्बौद्धः। ७०२. नरः। ७०३. न संदिग्धो भवति। ७०४. अनुमानविकल्पविषयः। ७०५. विद्यमानः। ७०६. विवक्षाविषयीकृत्य। ७०७. पुनराह बौद्धः। ७०८. भेदाभेदयोरेकतरविवक्षायामन्यतरविषयोऽसन्नेव, अविवक्षाविषयत्वात्। व्यतिरेके विवक्षाविषयत्वात्। ७०९. सन् चेत्तर्हि। ७१०. यतोऽर्थस्वलक्षणे विवक्षाविषयेपि तस्य सत्त्वं मन्यते बौद्धः। ७११. अधुना शब्दाद्वैतवादी प्रत्यवतिष्ठते। ७१२. शब्देन। ७१३. जैनैर्निराक्रियते। ७१४. शब्दस्य। ७१५. घटनाम्नि घटसंबन्धिवर्णेषु च घटनामान्तरस्य पटनाम्नः पटवर्णानां चाभावात्।

७१६. शब्दतदंशानाम्। ७१७. अविवक्षितम्। ७१८. भेदरूपमभेदरूपं वा। ७१९. अर्थनिष्पत्त्यभावे। ७२०. विवक्षेतराभ्यां योगः। ७२१. हे बौद्ध। असतां धर्माणां विवक्षेतराभ्यां योगः। ७२२. व्यावृत्तेरेव विवक्षाऽविवक्षा च, न तु स्वलक्षणस्य, तस्योपचारादिति बौद्धमतमनूद्य निराकरोति। ७२३. सन् विषयो ययोः (विवक्षेतरयोः), तयोर्भावः। ७२४. व्यावृत्तिविषयेभ्यः। ७२५. व्यावृत्तिरेव सामान्यं तेन सामान्यरूपेण। ७२६. घटमानयेत्युक्ते घटमानयतीति प्रवृत्तेर्विरोधो भवेत्। ७२७. तद्वान् गौः। ७२८. गवि। ७२९. स्वलक्षणरूपेणार्थेन। ७३०. व्यावृत्तिरेव सामान्यं तेन सामान्यरूपेण। ७३१. स्वलक्षणः। ७३२. अध्यारोपो विकल्पस्तस्य विषयः सामान्यलक्षणणोर्थः। ७३३. असामान्याद् व्यावृत्तं सामान्यरूपम्। ७३४. ततश्च सामान्यरूपव्यावृत्तेरध्यारोपविकल्पविषयविशेषव्यावृत्तावेव (व्यावृत्त्यन्तरे) प्रवृत्तिर्न पुनः स्वलक्षणे इति भावः। ७३५. बौद्धेन। 'तामिच्छतां' इति पाठान्तरम्। ७३६. ततः। ७३७. पदार्थं पदार्थं प्रति वस्तुधर्माः। ७३८. बौद्धः। ७३९. एकत्र वस्तुनि। ७४०. अद्वैती। ७४१. परमार्थिकौ। ७४२. भगवतः। ७४३. संवृतिः कल्पना। ७४४. भेदाभेदो संवृती इति वदतोपि वादिनः।

७४५. शून्यवादिनः सौगतस्य। ७४६. त्रिष्वप्यनुमानेषु। ७४७. अनुमानत्रयसद्भावप्रकारेण। ७४८. नैयायिकाभिमतौ। ७४९. अनुमानचतुष्टये। ७५०. अनधिगतः, अपूर्वः। अर्थः स्वार्थः। अधिगमो व्यवसायः (निश्चयः)। ७५१. पूर्वोक्तं स्पष्टीकरोति। ७५२. पर्यायापेक्षया भेदोऽभेदस्तु द्रव्यापेक्षया। ७५३. क्रमेण यौगपद्येन वा। ७५४. भेदाभेदयोः स्वार्थाकारत्वप्रकारेण। ७५५. सौगतस्य। ७५६. अद्वैतिनः। ७५७. परस्परनिरपेक्षं यौगानुमतं वा। ७५८. भेदम्। ७५९. अभेदम्। ७६०. कथ्यते। ७६१. (पूर्वोक्तपक्षचतुष्टयखण्डने साध्ये स्वभावानुपलब्धिर्हेतुरस्ति इत्यर्थः)। ७६२. भेदाद्येकान्तचतुष्टयस्य। ७६३. स्वभावानुपलब्धिः (हेतुः)। ७६४. यतः (सूक्ष्माणां स्थूलस्वभावापेक्षयैव स्थूलानां च सूक्ष्मस्वभावापेक्षयैव प्रतिभासनं, न तु तद्व्यतिरेकेणेति भावः)। ७६५. स्थूलस्वभावनिरपेक्षम्। ७६६. निर्विकल्पकप्रत्यक्षे। ७६७. स्थूलार्थस्य विभ्रमनिमित्ताद्वासनाविषेषात्। ७६८. कल्पिते स्थूलार्थज्ञाने। ७६९. परमाणौ। ७७०. परमाणून्। ७७१. केशधम्मिल्लादिवत्। यथा केशानां समूहे एकत्वं प्रतिभासते तथापि परमार्थत एकत्वं नास्ति। ७७२. बहिः प्रत्यक्षं घटोयमिति। अन्तः प्रत्यक्षं मानसम्।

७७३. निर्विकल्पकप्रत्यक्षज्ञाने। ७७४. मूल्यार्पणमन्तरेण ग्राहिणः। ७७५. एकोवयवी तन्वादिः। स्वावयवभिन्नैकावयविनो न प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्ति यथा। ७७६. यथा कुण्डादिव्यतिरिक्तं दधि प्रतिभासते तथा स्वावयवव्यतिरिक्तोवयवी न प्रतिभासते। व्यतिरेके उदाहरणमिदम्। ७७७. कश्चित्परः। ७७८. अवयवेभ्यः। ७७९. अवयवी। ७८०. अवयविषु। ७८१. अवयवभिन्नस्याभेदेन ग्रहणमिति भ्रान्तत्वम्। ७८२. अवयविनोऽमूल्यदानक्रयित्वसमर्थनादेव। ७८३. अवयवावयविनौ। ७८४. समवायो यथा प्रत्यक्षे न प्रतिभासते प्रत्यक्षश्च

भवतीत्यमूल्यदानक्रयी। ७८५. भाष्योक्तादिशब्दगृहीतानुमानादावपि सूक्ष्मस्थूलाकाराः स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण न प्रतिभासन्ते इति समर्थयमानः परप्रश्नमाह। ७८६. नित्ये स्थूलरूपे च। ७८७. तस्य सत्त्वस्य। ७८८. अनुमाने। ७८९. नित्याद्येकान्ते सत्त्वानुपपत्तिसमर्थनेन। ७९०. घटादिकम्। ७९१. अवयवी अवयवेभ्यः सर्वथा भिन्नः सर्वथा भिन्नप्रतिभासनादिति। ७९२. सर्वथा भिन्नप्रतिभासनादित्यस्य। ७९३. अतीतकालत्वाव्यवस्थितिशब्देन कालात्ययापदिष्टत्वं ग्राह्यम्। ७९४. एतदनुमाननिराकरणात्। ७९५. आदिपदेनागमादिः। ७९६. सूक्ष्मावयवरहितस्य स्थूलस्य प्रतिभासनम्। ७९७ इति हेतोः सिद्धमेव सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनम्। ७९८. अपि तु तत्प्रतिषेधे सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रतिषेधे साध्ये स्वभावानुपलब्धिः सिध्यत्येव। ७९९. सूक्ष्माद्येकान्तनिराकरणे स्याद्वादिनां किं फलमिति केनचित्पृष्टे आहुर्जैनाः। 'तत्प्रतिषेधे' एव इति पाठान्तरम्। ८००. कारिकायाश्चतुर्थ पादं व्याख्याति। तत्र सूक्ष्मस्थूलयोर्मध्ये। अन्यतरः स्वभावः स्वभावान्तरं तस्य। स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वेत्यर्थः। एकस्य प्राधान्ये विवक्षिते आकारान्तरस्य, तदितरस्य स्वभावस्य गुणीभावः स्यादित्यर्थः। (यथा घटस्य प्राधान्ये परमाणूनां घटावयवानां घटरूपादीनां वा अप्राधान्यम्। घटरूपादीनां घटावयवानां च प्राधान्ये घटस्याप्राधान्यमित्यर्थः)।

८०१. (घटपरमाण्वर्थिनां घटरूपाद्यर्थिनां वा)। ८०२. (तस्य घटस्य)। ८०३. हे सौगत। ८०४. तस्य, अर्थित्वस्य। तत्सत्तामात्रानिबन्धनत्वात् किन्तु मोहोदयहेतुकत्वात्। ८०५. मोहोदयोपि सर्वत्र विद्यते, तत एवार्थित्वमनर्थित्वं वा कुतो न प्रसज्यते इत्युक्ते आह विशेषेति। ८०६. तस्य मोहविशेषस्य। ८०७. आदिपदेन मिथ्याज्ञानादि। ८०८. आदिपदेन द्रव्यक्षेत्रभावा गृहीताः। ८०९. प्रथमभङ्गे विधिकल्पना, द्वितीये प्रतिषेधकल्पना। ८१०. सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग् द्रव्यादिभेदत इत्यादिनयविवक्षा। ८११. इति पूर्वमुक्ता त्रयोविंशतितमा कारिका। ८१२. अतिदेशः, उपदेशः। ८१३. गहना दुर्निवारा। ८१४. बसः। बहुव्रीहिः। ८१५. ध्यानं परीक्षा। तेन धीराः, स्थिराः। ८१६. पुंसाम्। ८१७. उद्धूतां मुदं रान्ति, ददतीति तथोक्ताः। इदं वृत्तं द्व्यर्थम्। मन्त्रपक्षे स्यात्कारोमोघमन्त्रप्रणयनविधयो वाचः कर्तृभूताः। ८१८. अस्मिन् परिच्छेदे चतुर्विंशतितमप्रभृति सप्तविंशतितमान्ताभिश्चतसृभिः कारिकाभिरद्वैतमतं, ततः पञ्चकारिकाभिः यौगस्य बुद्धस्य च सर्वथा पृथक्त्वमतं स्पष्टमाक्षिप्य निरसितम्। तदनन्तरं चतसृभिः कारिकाभिर्द्वैताद्वैतोभयात्मकः सापेक्षोनेकान्तः समर्थितस्तत्र तत्र सर्वेषां पूर्वपक्षाश्च विशदीकृत्य दर्शिताः।

एवं त्रयोदशकारिकाविवरणरूपेण परिच्छेदोयं समापितोस्ति।

इति द्वितीयपरिच्छेदः समाप्तः।

अथ तृतीयः परिच्छेदः

अष्टशती प्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात्।
विलसदकलङ्कधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या।। १।।

नित्यत्वैकान्तपक्षेपि[१][२] विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव[३] कारकाभावः क्व प्रमाणं[४] क्व तत्फलम्[५]।। ३७।।

४९१. **सदसदेकत्वपृथक्त्वैकान्तप्रतिषेधानन्तरं नित्यत्वैकान्तप्रतिक्षेपः** प्रक्रम्यते[६]ऽनेनेति तात्पर्यम्। तत्र नित्यत्वैकान्तः कूटस्थत्वाभिनिवेशः[७]। तस्य पक्षः प्रतिज्ञानम्। तस्मिन्नपि विविधा क्रिया परिणामपरिस्पन्दलक्षणा नोपपद्यते। कार्योत्पत्तेः[८][९] प्रागेव तदुत्पत्तौ वा प्रागेव कारकाभावो नोपपद्यते इति[१०] कूटस्थः[११] प्रागेव कारकः स्यादात्मा भोगस्य। अथ[१२] प्रागेव[१३] कारकाभावस्तदा[१४] विक्रियापि[१५] नोपपद्यते इति शश्वदकारकः स्यात्, तदविशेषात्[१६]। सोस्त्वकारकोऽविक्रियश्चेति चेत् क्वैवं प्रमाणं प्रमितिलक्षणं च तत्फलमुपपद्येत ? प्रमातुरभावे तदसंभवात्। न ह्यकारकः प्रमाता नाम, प्रमितिक्रियासाधनस्य कारकविशेषस्य स्वतन्त्रस्य प्रमातृतोपपत्तेः। सकल[१८]कार्योत्पत्तिपरिच्छित्तिक्रिययोः[१९] सर्वथाप्यसाधनस्य सत्त्वासंभवादवस्तुत्वापत्तेः कथमात्मसिद्धिः परस्य[२०] स्यात् ? खरविषाणादिसिद्धिप्रसङ्गात्[२१]।

४९२. ननु[२२] चात्मनश्चेतनैवार्थक्रिया, न पुनः स्वव्यतिरिक्तकार्यकार्यस्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा[२३], तस्याः प्रधानहेतुत्वात्[२४]। न च चेतना पुंसोर्थान्तरमेव, तस्य[२५] तल्लक्षणत्वात्, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम् [/] इति वचनात्।न चानित्या[२६] चेतना, नित्यपुरुषस्वभावत्वात् साक्षित्वादिवत्तस्याः[२७][२८], प्रधानस्वभावत्वे[२९] पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात् तदनित्यत्वप्रसङ्गाच्च सुखादिवत्। न[३०] च नित्यायाश्चेतनायाः परस्यार्थक्रियात्वं[३१] विरुद्ध्यते, धात्वर्थरूपायाः[३२] क्रियायाः प्रतिघाताभावात्सत्तावत्[३३]। ततोर्थक्रियास्वभावत्वादात्मनो वस्तुत्वमेव। न[३४] ह्यर्थक्रियाकारणस्यैव वस्तुत्वमर्थक्रियायाः[३५] स्वयमवस्तुत्वापत्तेस्तत्रार्थक्रियान्तराभावादन्यथानवस्थाप्रसङ्गात्। स्वतोर्थक्रियाया[३६] वस्तुस्वभावत्वे पुरुषस्यापि स्वतः शश्वदर्थक्रियास्वभावत्वान्नित्यं वस्तुत्वमस्तु[३७], विक्रियाविरहेपि नित्यकारकत्वस्यापि[३८] घटनात्, इति कश्चित्, सोपि न परीक्षादक्षधिषणः, प्रमाणविरोधात्, प्रत्यक्षतोनुमानादेर्वा नित्यार्थक्रियायाः[३९] कदाचिदपरिच्छेदात्। स्वसंवेदनमेव नित्यचैतनार्थक्रियां[४०] परिच्छिनत्तीति चेन्न, तथा[४१] तद्बुद्ध्यानध्यवसायात्[४२]। न हि बुद्ध्यानध्यवसितां चेतनां पुरुषश्चेतयते, बुद्धिपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्, सर्वस्य शब्दादेर्विषयस्य[४३] बुद्ध्यानध्यवसितस्यैव पुंसा संवेद्यत्वसिद्धेः[४४]।

४९३. स्यान्मतम्, न चेतना नाम विषयभूतार्थान्तरं पुंसोस्ति, या[४५] बुद्ध्याध्यवसीयते, तस्यास्तत्[४६]स्वरूपत्वात्[४७] स्वतः प्रकाशनाच्च इति, तदप्युक्तम्, तदर्थक्रियात्वायोगात्। न ह्यर्थक्रियावतः स्वरूपमेव[४८] सदवस्थाप्यर्थक्रिया प्रसिद्धास्ति, तस्याः पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारोपादानेन[४९] च स्वस्मिन्[५०] परत्र[५१] वा प्रतीतेः। सोयं **पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणामर्थक्रियां कौटस्थ्येपि ब्रुवाणः कथमनुन्मत्तः[५२] ? सा ह्यर्थक्रियोत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा न च शश्वदवस्थिते सर्वथासौ प्रतीयते, तत्र कारकज्ञापकहेतुव्यापारासंभवात्।** न हि पुरुषस्यार्थ-

स्योत्पत्तिश्चेतना क्रिया येन कारकहेतोरुपादानस्य सहकारिणो[५३] वा व्यापारः[५४] स्वतंत्रो भवेत्। तथोपगमे[५५] वा तस्या[५६]नित्यत्वानुषङ्गात्कुतः कौटस्थ्यसिद्धिः ? चेतना[५७] पुंसो ज्ञप्तिक्रियेत्यपि न युक्तम्, यतस्तत्र ज्ञापकहेतोः प्रमातुः प्रमाणस्य च व्यापारः स्यात्।

४९४. स्यान्मतम्, न पुरुषलक्षणस्यार्थस्य क्रिया चेतनाख्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा। किं तर्हि ? स्वभाव एव, तस्य[५८] सर्वदा तत्स्वभावत्वात्, इति, तदप्यसत्, पुंसः[५९] परिणाम[६०]सिद्धिप्रसङ्गात्, **परिणामविवर्तधर्मावस्थाविकाराणां स्वभावपर्यायत्वात्[६१]।**

४९५. ननु[६२] स्थितस्य धर्मिणः[६३] पूर्वाकारतिरोभावेनोत्तराकाराविर्भावः परिणामः। स कथं स्वभावपर्यायः ? सदावस्थितस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात्। एतेन विवर्तविकारावस्थानां स्वभावपर्यायत्वं व्युदस्तं, विवर्तादीनां कादाचित्कत्वात्। तत एव धर्मविशेषस्य[६४] न स्वभावपर्यायत्वम्। धर्मसामान्यस्यापि साधारण[६५]त्वादसत्त्व[६६]मेव, शश्वदनपायिनो साधारणस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात्। इति कश्चित्, सोपि न तत्त्ववित्, सततावस्थितस्यैकान्ततः कस्यचिद् स्वभावस्यासंभवात्। स[६७] हि न तावत्सकलप्रमाणेनापरिच्छिद्यमानः प्रतिष्ठा[६८]मियर्त्ति, अतिप्रसङ्गात्[६९]। परिच्छिद्यमानस्तु पूर्वापरिच्छिद्यमानरूपताव्यवच्छेदेन परिणामलक्षणानुसरणात् कथं न स्वभावः परिणाम एव स्याद्यतस्तत्पर्यायो न स्यात् ? एतेन विवर्तादीनां स्वभावपर्यायत्वमुक्तम्, तद्वत्स्वभावस्यापि कथंचित्कादाचित्वसिद्धेः। धर्मसामान्यस्य तु यथा साधारणत्वं तथा स्वभावसामान्यस्यापि, परिणामादिसामान्यवत्। ततः परिणामादिविशेषाणां स्वभावविशेषपर्यायत्वं परिणामदिसामान्यानां तु स्वभावसामान्यपर्यायता व्यवतिष्ठते। पूर्वोत्तरा[७०]कारयोस्तिरोभावाविर्भावौ तु नाशोत्पादावेव नामान्तरेणोक्तौ, सर्वथा तद[७१]भावे स्वभावस्यासंभवात्[७२]। **तदेतद्[७३] विनाशोत्पत्तिनिवारण[७४]मबुद्धिपूर्वकं प्रत्यक्षादिविरोधात्, क्षणिकैकान्तवत्।** नेदमसिद्धं साधनम्, पुरुषस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् स्मरणात्प्रत्यभिज्ञानादूहादनुमानाच्छ्रुताच्च प्रमाणात् सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणात्प्रतिपत्तेः, विनाशोत्पत्तिरहितस्य तस्य जातुचिदप्रतीतेः प्रत्यक्षाविरोधस्य निश्चयात्।

४९६. एतेन क्षणिकैकान्तनिदर्शनस्य[७५] साधनविकलता निरस्ता, सर्वथा स्थितिरहितस्य[७६] चेतसः प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात्तद्विरोधस्य सिद्धेः। साध्यशून्यता च न संभवति, स्थितिमात्राभिनिवेशस्येव निरन्वयक्षणिकाभिनिवेशस्यापि मिथ्याबुद्धिपूर्वकत्वात्।

४९७. एतेना[७७]व्यक्त[७८]म् नित्यमेवेत्यपास्तम्, व्यक्तस्यापि[७९] नित्यत्वानुषङ्गात्, नित्याद[८०]व्यतिरिक्तस्याप्यनित्यत्वे चैतन्य[८१]स्याप्यनित्यत्वापत्तेः। सर्वथाऽव्य[८२]क्तस्यापि नित्यत्वे प्रमाणकारकव्यापारविरोधात्तदप्रमेयमनर्थक्रियाकारि प्रसज्येत।

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं[८३] व्यक्तं[८४] चे[८५]दिन्द्रियार्थवत्।
ते च[८६] नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्बहिः[८७] ।। ३८ ।।

४९८. न[88] हि प्रमाणं नित्यं नाम, तत्कृताभिव्यक्तेः प्रमितिरूपाया महदहङ्कारादौ व्यक्तात्मनि नित्यत्वप्रसङ्गात्। नापि कारकं नित्यम्, तद्विहिताभिव्यक्तेरुत्पत्तिरूपायाः सातत्यप्रसक्तेः। तथा च न व्यक्तं प्रमाणकारकैरभिव्यक्तमिन्द्रियैरर्थवदिति शक्यं वक्तुम्[89], पूर्वमनभिव्यक्तस्य व्यञ्जकव्यापारादभिव्यक्तिप्रतीतेः[90]।

४९९. **अथ मतम्[91], प्रमाणकारकाणि व्यवस्थितमेव[92] भावं व्यञ्जयन्ति चक्षुरादिवत् स्वार्थम्। ततो न किञ्चिद्विप्रतिषिद्धमिति[93],** तदप्यसम्यक्, सर्वथा[94] नित्यत्वेन भावस्याव्यवस्थितत्वात्, कथंचिदनित्यस्यैव प्रमाण-कारकव्यापारविषयत्वविनिश्चयात्। चक्षुरादयो हि स्वार्थं रूपादिकमनभिव्यक्तस्वभावपरिहारेणाभिव्यक्तस्वभावो-पादानेन[95] च व्यञ्जयन्तः स्वमव्यञ्जकरूपत्यागेन व्यञ्जकत्वस्वीकरणेन च व्यञ्जकव्यपदेशभाजो दृष्टाः। न चैवं प्रमाणं[96] कारकं च परैरिष्टं[97] तयोर्नित्यत्वाभ्युपगमात्। तत्कृतस्य च **विषयविशेषविज्ञानादेः शाश्वतत्वान्न किञ्चिद् व्यक्त्यर्थं[99] पश्यामः[100], कथंचिदपूर्वोत्पत्तौ[101] तदेकान्तविरोधत्।** न ह्यनेकान्तवादिनस्तव साधोः शासनाद्[102] बहि-र्विषयविशेषविज्ञानाभिलाषप्रवृत्त्यादेरुत्पत्तिः कथंचिदपूर्वा युज्यते, यतोस्यामभ्युपगम्यमानायां नित्यत्वैकान्तविरोधो न भवेत्, **तदभावे[103] विकार्यानुपपत्तेः।** न हि कथंचिदपूर्वोत्पत्त्यभावे किंचिद् व्यङ्ग्यं[104] कार्यं वा विकार्यमुपपद्यते! **न[105] वै किंचिद्विरुद्धं[106] कार्यकारणभावाभ्युपगमादित्य[107]नालोचितसिद्धान्तम्[108],** कार्यस्य सदसत्वविकल्पद्वयानतिक्रमात्। तत्र[109],

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति।
परिणाम[110]प्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ।। ३९ ।।

५००. न तावत्सतः कार्यत्वं चैतन्यवत्। न हि चैतन्यं कार्यम्, तत्स्वरूपस्य[111] पुंसोपि कार्यत्वप्रसङ्गात्, यतस्तद्वन्महदादेः[112] [113] सत एव कार्यत्वं सिद्ध्येत्। नाप्यसतः, सिद्धान्त[114]विरोधात्[115], गगनकुसुमादिवत्।

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्[116] ।
शक्तस्य[117] शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।।

इति हि सांख्यानां सिद्धान्तः।

५०१. **स चासतः कार्यत्वे[118] विरुध्यते एव।** तथा यत्सर्वथाप्यसत् तन्नोत्पद्यते, यथा गगनकुसुमम्। सर्वथाप्यसच्च कार्यं कस्यचित्[119], इत्यनुमानविरोधश्च प्रत्येयः। नापरमेकान्तप्रकारान्तरमस्ति[120]। तत[121] एव न किंचित्कार्यम्, केवलं वस्तुविवर्त[122] एवेत्येकान्तोस्तीति चेन्न, तस्याप्यसंभवात्[123], विवर्तादेः पूर्वोत्तरस्वभावप्रध्वं-सोत्पत्तिलक्षणत्वात्, तथोपगमे परिणामसिद्धेरनेकान्ताश्रयणप्रसङ्गात्। तदेतत् त्रैलोक्यं[124] व्यक्तेरपैति[125] नित्यत्व[126]-प्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति[127] विनाशप्रतिषेधात्, इत्यनेकान्तोक्तिरन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायमनुसरति, स्वदर्शनानपेक्षं[128] यथोपलम्भमाश्रयस्वीकरणात्।

तदेवं[129] नित्यत्वैकान्तवादिनाम्,—

पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फलं[130] कुतः।
बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ।। ४० ।।

५०२. पुण्यपापक्रिया कायवाङ्मनस्कर्मलक्षणा शुभाऽशुभा। सा प्रधाने तावन्नास्ति, सर्वथा नित्यत्वात्[131], पुरुषवत्। तदभावे[132] पुण्यपापयोः क्रिया उत्पत्तिलक्षणा नास्ति, कारणाभावे कार्यानुदयात्। ततः[133]

प्रेत्यभावो जन्मान्तरलक्षणस्तत्फलं च सुखाद्यनुभवलक्षणं कुतः स्यात्? ततो[१३४] बन्धमोक्षौ च यथोक्तलक्षणौ न स्तस्तेषां येषां[१३५] त्वमनेकान्तवादी नायको नासि, इति तात्पर्यार्थः।

५०३. ततो नित्यत्वैकान्तदर्शनं नैतत् प्रेक्षापूर्वकारिभिराश्रयणीयम्, पुण्यपापप्रेत्यभावबन्धमोक्षविकल्परहितत्वात्, नैरात्म्यादिवत्। न चैतत् क्वचिदेकान्ते संभवति, कुशलाकुशलं कर्म इत्यत्र[१३६] तदसंभवस्य समर्थितत्वात्।

सत्यमेतन्नित्यत्वैकान्ते दूषणं क्षणक्षयैकान्तस्यैव प्रातीतिकत्वात्, इति वदन्तं[१३७] वादिनं[१३८] प्रत्याहुः—

क्षणिकैकान्तपक्षेपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः।
प्रत्यभि[१३९]ज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः[१४०] कुतः फलम्॥ ४१॥

५०४. क्षणिकैकान्तपक्षे चेतसः[१४१] कार्यारम्भो नास्ति, प्रत्यभिज्ञानस्मृतीच्छादेरभावात्, सन्तानान्तरचित्तवत्। तदभावश्च[१४२] प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यान्वितस्याभावात्। सन्तानः कार्यमारभते इत्यपि मिथ्या, तस्यावस्तुत्व[१४३]विरोधात्, कार्यारम्भकस्य वस्तुत्वात्। चित्तक्षणानां चावस्तुतापत्तिरकार्यारम्भकत्वात्। न च[१४४] तत्कार्यारम्भकत्वाभावे फलं पुण्यपापलक्षणं संभवति। तदभावे न प्रेत्यभावो न बन्धो न च मोक्षः स्यात्, इति क्षण[१४५]क्षयैकान्तदर्शनमहितम्, असंभवत्प्रेत्यभावादित्वात्, उच्छेदै[१४६]कान्तवत्, ध्रौव्यै[१४७]कान्ताभ्युपगमवद्वा। न हि सर्वथोच्छेदैकान्ते शून्यतालक्षणे नित्यत्वैकान्ते वा प्रेत्यभावादिः संभवति, यतोयं दृष्टान्तः साधनधर्मविधुरः स्यात्। नापि प्रेक्षावतां तदाश्रयणं हितत्वेन मतम्, येन साध्यविकलः स्यात्।

५०५. अथ मतमे[१४८]तत्[१५१], क्षणिकत्वेपि चित्तक्षणानां वासना[१४९]वशात्प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं सुखसाधनमिति स्मरणपुरस्सरमुत्पद्यते। ततोभिलाषात्तत्साधनाय प्रवृत्तिरिति कार्यारम्भात्पुण्यपापक्रियासिद्धेः प्रेत्यभावादिसंभवादसंभवत्प्रेत्यभावादित्वादिति हेतुरसिद्धो न साध्यसाधनायालमिति[१५२], तदसत्, भिन्नकालक्षणा[१५३]नामसंभवद्वासनत्वात्[१५६], अकार्यकारणवत्[१५४]। पूर्वमेव[१५७] चित्तमुत्तरोत्पत्तौ वासना तत्कारणत्वा[१५५]दिति चेन्न, निरन्वयक्षणिकत्वे कारणस्यैवासंभवात्। तथाहि—न विनष्टं कारणमसत्त्वात्, चिरतरातीतवत्[१५८][१५९]। समनन्तरातीतं[१६०] कारणमिति[१६१] चेन्न[१६२], समनन्तरत्वेप्यभावाविशेषात्। न[१६३] च पूर्वस्योत्तरं कार्यं, तदसत्येव हि भावात्[१६४], वस्त्वन्तरवत्, अतिक्रान्ततमवद्वा, यतः पूर्वस्य[१६५] कारणत्वनिर्णयः स्यात्। तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादुत्तरं तत्कार्यमिति चेन्न[१६६], तस्यासिद्धेः[१६७]। न हि समर्थेस्मिन् सति स्वयमनुत्पित्सोः पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं समनन्तरत्वं वा[१६८] युक्तम्, नित्यवत्[१६९], तद्भावे स्वयमभवतस्तदभावे[१७०] एव भवतस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानविरोधात्[१७१]। क्षणिकैकान्ते कारणाभावाविशेषेपि कार्योत्पत्तिसमयनियमावक्लृप्तौ[१७२] कस्यचित्कौटस्थ्येपि[१७३] तत्करणसमर्थसद्भावाभेदेपि कार्यजन्मनः कालनियमः किन्न स्यात्? विशेषाभावात्[१७४]। यथैव हि स्वदेशवत्स्वकाले सति कारणे समर्थे[१७५] कार्यं जायते, नासतीति तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीष्यते, तथा स्वकालेऽनाद्यन्ते[१७६] सति समर्थे नित्ये स्वसमये कार्यमुपजायमानमन्यदानुपजायमानं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि[१७७] कथं नानुमन्यते? सर्वदा समर्थे नित्ये कारणे सति स्वकाले एव कार्यं[१७८] भवत्कथं[१७९] तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत्, तर्हि कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानाद्यनन्ते तद्भावे[१८०] विशेषशून्येपि क्वचिदेव तदभावसमये भवत्कार्यं कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि? इति न कश्चिद्विशेषः। तदे[१८१]वमन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाविशेषेपि क्षणिकैकान्ते एव[१८३] कार्यजन्मेति वचनमभिनिवेशमात्रनिबन्धनम्।

तथा चाक[१८४]स्मिकत्वं स्यात्, समर्थं कारणमनपेक्ष्य स्वयमभिमतसमये भवतः कार्यस्य निर्हेतुकत्वप्रसक्ते[१८५]र्नित्यकार्यवत्। **[१८६]उभयत्राविशेषेण [१८७]कथंचिदनुपयोगेपि [१८८]क्वचिद्व्यपदेश[१८९]कल्पनायाम[१९०]न्यत्रापि किं न भवेत्?** क्षणिकस्य कारणस्य सर्वथा कार्यं प्रत्युपयोगाभावेपि तस्येदं कार्यमिति व्यपदिश्यते, न पुनर्नित्यस्य [१९१]तादृश इति न किंचिन्निबन्धनमन्यत्र महामोहात्। नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोनेकस्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं स्यादिति चेत्, [१९२]क्षणिकस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः। [१९३]स हि क्षणस्थितिरेकोपि भावोनेकस्वभावश्चित्रकार्य[१९४]त्वान्नानार्थवत्। न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञान[१९५]वत्। यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा [१९६]क्षणस्थितेरेककस्मादपि भावात् [१९७]प्रदीपादेर्वर्तिकामुखदाह[१९८]तैलशोषादिविचित्र[१९९]कार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते। अन्यथा [२००]रूपादेर्नानात्वं न सिध्येत्, [२०१]चक्षुरादिसामग्रीभेदात्तज्ज्ञाननिर्भासभेदोवकल्प्येत[२०२], कर्कटिकादिद्रव्यं तु रूपादिस्वभावभेदरहित-मेकमनंशमिति [२०३]वदतोपि निवारयितुमशक्तेः। [२०४]चक्षुरादिबुद्धौ रूपादिव्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्याप्रतिभासनाद्रूपादयो नानैवेति चेत्, तर्हि वर्तिकामुखदाहादिकार्यानुमानबुद्धिषु विचित्रतच्छक्तिव्यतिरेकेण प्रदीपक्षणस्यैकस्याप्रतिभासना-न्नानाशक्तय एव किं न स्युः?

५०६ ननु च शक्तिशक्तिमतोरर्थान्तरानर्थान्तरभावपक्षयोः शक्तीना[२०५]मघटनान्न ताः परमार्थसत्यः संभाव्यन्ते। [२०६]ततस्तासामर्थान्तरभावे [२०७]व्यपदेशानुपपत्तिः संबन्धाभावात्। [२०८]तेन तासामुपकार्योपकारकभावसंबन्धकल्पनायां [२०९]यदि शक्तिमता शक्त्यन्तरैः शक्तय उपक्रियन्ते तदानवस्था, अपरापरार्थान्तर[२१०]शक्तिपरिकल्पनात्। तस्य शक्तिभिरुपकारेऽनेकोपकार्यरूप[२११]तापत्तिः। तदुपकार्यरूपाणां ततो भेदे [२१२]तस्यानुपकारात्तद्व्यपदे[२१३]शानुपपत्तिस्त-दवस्था। [२१४]तैस्तस्योप[२१५]कारकरणेनवस्थितिरेव परापरोपकार्यरूपपरिकल्पनात्। शक्तिमतः शक्तीनामनर्थान्तरभावे शक्तिमानेव, न शक्तयो नाम [२१६]अन्यत्रातद्व्यावृत्तिभ्यः कल्पिताभ्यः, इति [२१७]चेन्न, रूपादीनामपि द्रव्यादर्थान्तरानर्थान्तरभावविकल्पोरघटनात् परमार्थसत्त्वाभावा[२१८]नुषङ्गात् [२१९]प्रकृतदोषोपनिपाताविशेषात्। [२२०]प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना रूपादयः परमार्थसन्तो न पुनरनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानाः शक्तय इति वक्तुमशक्तेः, [२२१]क्षणक्षयस्वर्गप्रापण[२२२]शक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात्। [२२३]क्षणक्षयादीना प्रत्यक्षे प्रतिभातानामेव [२२४]विपरीतारोपव्यवच्छेदेऽ-नुमानव्यापाराददोष इति [२२५]चेत्तर्हि नाना[२२६]कार्यजननशक्तीनामपि प्रत्यक्षेऽवभातानामेव [२२७]समारोपव्यवच्छेदे कार्यानुमानव्यापारात्कश्चिदपि दोषो मा भूत्। नानाकार्यदर्शनात्तज्जननशक्तिरेका [२२८]तादृश्यनुमीयते, न पुनर्नानाशक्तय इति चेत्, तर्हि नानारूपादिज्ञाननिर्भासभेदा[२२९]त्तादृशैकस्वभावो [२३०]द्रव्यस्य व्यवस्थाप्येत, न पुनर्नानारूपादय इति समः [२३१]समाधिः। [२३२]प्रदीपक्षणस्यैकस्य वर्तिकामुखादि[२३३]सहकारिसामग्री[२३४]तद्दाहादिविचित्रकार्यजननं [२३५]न पुनः स्वभावभेदादिति [२३६]चेत्, तर्हि कर्कटिकादिद्रव्ये चक्षुरादिसहकारिसामग्रीभेदाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदो न पुना रूपाद्यनेकस्वभावभेदादिति [२३७]निश्चीयते।

५०७. युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टीनामपि भवितव्यमेव प्रतिभासभेदेन, कारणसामग्रीभेदात्[२३८]। अन्यथा [२३९]दर्शनभेदोपि मा भूत्। न [२४०]चैवं, [२४१]प्रत्यासन्नेतरयोर्वैशद्येतरनिर्भासोपलब्धेः। [२४२]सेयमुभयतः पाशारज्जुः सौगतानां, [२४३]रूपादिज्ञाननिर्भासभेदाद्रूपादिभेदं व्यवस्थापयतः[२४४] प्रदीपक्षणस्यैकस्य कार्यवैचित्र्यात् स्वभाव[२४५]भेदप्रसङ्गात्, [२४६]तस्यैकस्वभावत्वं व्यवस्थापयतो रूपादिनानात्वाव्यवस्थापनात्। **[२४७]सकृत्कारणस्वभावभेदमन्तरेण यदि कार्यनानात्वं, [२४८]क्रम[२४९]शोपि कस्य[२५०]चिदपेक्षितसहकारिणः कार्यसन्ततिः किं न स्यात्[२५१]? [२५२]सहकारिणस्तद्धेतुस्व-भावमभेदयन्तोपि कार्यभेदहेतवः स्युः क्षणक्षयवत्।** यथैव हि क्षणिकस्वलक्षणस्य नानाकार्याणि

युगपदुजनयन्तिः सहकारिकारणानि न कञ्चिद[२५४]तिशयं ततो भिन्नमभिन्नं वा समुपजनयन्ति। किं तर्हि ? कार्याण्येव भिन्नस्वभावानि [२५५]विदधति। तथैव [२५६]नित्यस्यापि। [२५७]**न हि कादाचित्कानि तत्तत्[२५९]कर्तुं समर्थानीति [२६०]स्थिरो[२६१]र्थस्तत्करणस्वभावं जहाति तद्बुद्धि[२६२]पूर्वकत्वाभावात्, क्षणिकसामग्रीसन्निपतितैककारणान्तरवत्**। न हि क्षणिकक्षित्युदकादिसमा[२६३]ग्र्यामन्त्यक्षणप्राप्तायामङ्कुरजननसमर्थायां सत्यां तत्सन्निपतितं बीजं कारणान्तरमङ्कुरजननस्वभावं जहाति, [२६४]तस्य तदकार्यत्वप्रसङ्गात्। न हि हेत[२६५]वः परस्परमीर्ष्यावलिप्ताः क्वचिदेकत्र कार्ये, येनैकस्य तत्र व्यापारेऽपरे निवर्तेरन्। क्षणि[२६६]कोर्थः स्वान्त्यकारणसामग्रीसन्निपतितः स्वकार्यकारी [२६७]तादृशः स्वहेतुस्वभावादुत्पन्न[२६८]त्वात्, न पुनर्नित्य [२६९]इति [२७०]**कल्पयित्वापि स्वहेतुप्रकृतिं भावानां [२७१]स्वप्रकृतिरवश्यमन्वेष्या, [२७२]तत्स्वभाववशात् [२७३]तत्कारणप्रकृतिव्यवस्थापनात्, [२७४]तदयमकारणोपि स्वभावनियतोर्थः स्यात्**।

५०८. ननु [२७५]च क्षणिकस्य क्षणादूर्ध्वमस्थानं [२७६]स्वप्रकृतिर्विनश्वरत्वादन्विष्यते। विनाशस्वभावनियतत्वं च विनश्वरत्वं, न पुनः कालान्तरावस्थायिनः कदाचिन्नाशित्व[२७७]महेतुकत्वाद्विनाशस्य। तथा [२७८]हि—**यद्यद्भावं [२७९]प्रत्यनपेक्षं तत् तद्भावनियतम्**। यथान्त्यकारणसामग्री स्वकार्योत्पादनं प्रत्यनपेक्षा [२८०]तत्स्वभावनियता, विनाशं प्रत्यनपेक्षश्च [२८१]भावः, इति स्वभावहे[२८२]तुः। न तावदयमसिद्धः, कलशादेर्विनाशस्य मुद्गरादिहेतुभिर्व्यतिरिक्तस्याव्यतिरिक्तस्य वा करणासंभवा[२८३]त्, तं प्रति [२८४]तदनपेक्षत्वसिद्धेः। घटादेर्व्यतिरिक्तस्य विनाशस्य करणे [२८५]तदवस्थत्वप्रसङ्गाद्वि[२८६]नष्ट इति प्रत्ययो न स्या[२८७]त्। विनाशसंबन्धाद्विनष्ट इति प्रत्ययोत्पत्तौ विनाशतद्वतोः कश्चित्संबधो वक्तव्यः। स च न तावत्तादात्म्यलक्ष[२८८]णस्तयोर्भेदोपगमात्। नापि तदुत्पत्ति[२८९]लक्षणो घटादे[२९०]स्तदकारणत्वात् तस्य मुद्गरादिनिमित्तकत्ववचनात्। [२९१]तदुभयनिमित्तत्वाददोष इत्यप्यसारं, मुद्गरादिवद्वि[२९२]नाशोत्तरकालमपि कुम्भदेरुपलम्भप्रसङ्गा[२९३]त्। [२९४]कुटादेः स्वविनाशं परि[२९५]णामान्तरलक्षणं प्रत्युपादानकारणत्वान्न तत्का[२९६]ले दर्शनमित्यपि न [२९७]युक्तम्, [२९८]परिणामान्तरस्यैव हेत्वपेक्षत्वसिद्धेः, विनाशस्य तद्व्यतिरिक्तहेत्वनपक्षे[२९९]त्वव्यवस्थितेः सुगतमतसिद्धिप्रसक्तेः। सुगतमते हि न सर्वथा विनाशस्य निर्हेतुकत्वम्। किं तर्हि ? [३००]कार्यजनकहेतुव्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वमिति [३०१]वादावसानं स्यात्। [३०२]विनाशतद्वतोर्विशेषणविशेष्यभावः संबन्ध [३०३]इत्यपि मिथ्याभिधानं परस्परमसंबद्धयोस्तदनु[३०४]पलब्धेः। प्रागभावद्वतोर्विशेषणविशेष्यभावोऽनेनैव निरस्तः। कार्यकारणयोरस्येदं कार्यमिति विशेषणविशेष्यभावः कथमित्यपि न चोद्यं, [३०५]तत्र [३०६]तद्व्यवहारस्य कार्यकारणभावनिबन्धनत्वात्, [३०७]तद्व्यतिरे[३०८]केण भिन्नयोर्विशेषणविशेष्यभावासंभवात्। ततोनर्थान्तरं विनाशः [३०९]कारणैः क्रियते इति प[३१०]क्षान्तरमपि न सम्यक्, स्वका[३११]रणादुत्पन्नस्य कुटा[३१२]त्मनो विनाशस्य कारणान्तराणां वैयर्थ्यात्। अन्यथा परापरकारणानुपरमः स्यात्। इति भावानां विनाशस्वभावत्वं सा[३१३]धनं स्थितेरपि निर्निमित्तत्वं साध[३१४]येत्।

५०९. तथा हि—यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत्तद्भावनियतम्, **यथा विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षं विनश्व[३१५]रम्। तथैव स्थितिं प्रत्यनपेक्षं स्थास्नु** वस्तु। इति स्वभावहेतुः। न चायमसिद्धः, **[३१६]तद्धेतोरकिञ्चित्करत्वात्, [३१७]तद्व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताकरणात् इत्यादि सर्वं समानम्**। न हि वस्तुनो व्यतिरिक्ता स्थितिस्तद्धेतुना क्रियते तस्यास्थास्नुत्वापत्तेः। स्थितिसंबन्धात्तस्य स्थास्नुतेति चेन्न, स्थितितद्वतोः कार्यकारणभावासंभवात् सहभावात्तयोः। असहभावे स्थितेः पूर्वं [३२०]तत्कारणस्यास्थितिप्रसक्तेः, स्थितेरपि

स्वकारणादुत्तरकालमनाश्रयत्वानुषङ्गात्। तयोराश्रयाश्रयिभावः[३२१] संबन्ध इति चेन्न[३२२], अर्थान्तरभूतयोः कार्यकारणभावाभावे तदभावाभ्युपगमात्[३२३], कुण्डबदरवत्[३२४]। तदव्यतिरिक्ता[३२५] स्थितिस्तद्धेतुना[३२६] विधीयते इत्ययमपि पक्षो न श्रेयान्, तद्वैयर्थ्यात्[३२७], स्थितिस्वभावस्यापि[३२८] स्थितिकरणे तत्कारणानामनुपरमप्रसङ्गात्, स्वयमस्थितिस्वभावस्य स्थितिकरणायोगादनुत्पत्तिस्वभावस्योत्पत्तिकरणायोगवत्[३२९]। ततः[३३०] स्थितिस्वभावनियतोर्थः स्यात् सर्वदा स्थितेरहेतुकत्वात्। **तदेवमादौ[३३१] स्थितिदर्शनाद् विद्युत्प्रदीपादेरन्तेपि स्थितेरनुमानं युक्तम्। अन्यथान्ते क्षयदर्शनादादौ तत्प्रतिपत्तिरसमञ्जसैवं[३३२]। तादृशः[३३३] कारणादर्शनेपि[३३४] कथंचिदुपादानानुमानवत्[३३५] तत्कार्यसन्तानस्थितिरदृष्टाप्यनुमीयेत[३३६][३३७]।** शब्दविद्युदादेः साक्षादनुपलब्धमुपादानमनुमीयेत[३३८] निर्निबन्धनोत्पाद-प्रसङ्गभयान्न पुनस्तदुत्तरकार्यमवस्तुत्वानुषङ्गभयादिति[३३९] किमपि महामोहविलसितम्। शब्दादेरुत्तरकार्याकरणेपि योगिज्ञानस्य[३४०] करणान्नावस्तुत्वप्रसक्तिरिति चेन्न, आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य[३४१] रूपाकरणेपि रससहकारित्वप्रसङ्गात्[३४२], ततो रसाद्रूपानुमानानुपपत्तेरनिष्टप्रसङ्गात्[३४३]। तथादृष्टत्वान्नेहानिष्टप्रसङ्ग[३४४][३४५] इति चेत्, किं पुनः शब्दादेव शब्दस्योत्पत्तिरुपलब्धा[३४६] कदाचित्[३४७]? शङ्खादिशब्दसंततौ मध्यावस्थायां शब्दादेव शब्दस्योत्पत्तिर्दृष्टेति चेत् कथमुत्तरशब्दोत्पत्तिरदृष्टा? तथैव तद्दृष्टेरिति शब्दादेर्योगिज्ञानकरणवदुत्तरशब्दादिकरणमनुमीयतां[३४८], रूपोपादानाद्रूपोत्पत्तिवत्[३४९][३५०]। **तस्मात् कथंचन[३५१] स्थितिमतः प्रतिक्षणं विवर्तोपि नान्यथा[३५२],** गगनकुसुमवत्। यदि पुनः परमार्थतः कार्यकारणभावस्याभावाद्विरोध्यविरोधकभावादिवत् प्रतिक्षणं विवर्तोपि नेष्यते संविदद्वैताभ्युपगमादिति[३५३] मतिस्तदा **प्रभवादेरयोगात्[३५४] कुतः प्रेत्यभावादिः?** स्याद्वादिभिरापाद्यस्य[३५५] प्रेत्यभावपुण्यपापक्रियाबन्धमोक्षतत्फल-भावस्य[३५६] स्वयमेवाभ्युपगमादतिभीतप्रलापमात्रमेतदालक्ष्यते[३५७][३५८], संविदद्वैतस्य साधनासंभवात्, संविन्मात्रस्य स्वकार्याकरणेऽनर्थक्रियाकारिणो[३५९] वस्तुत्वविरोधान्नित्यवत्[३६०], तस्य स्वकार्यकरणे कार्यकारणस्वभावसिद्धेः[३६१]। संविदद्वैतेन[३६२] भेदभ्रान्तिबाधने बाध्यबाधकभावः[३६३]। तदबाधने[३६४] तस्याव्यवस्थितिः[३६५], प्रतिपक्षव्यवच्छेदाभावात्। संवृतिमात्रेण[३६६] **सत्यपि हेतुफलभावे[३६७]ऽकारणकार्यान्तरवत्[३६८][३६९]सन्ततिर्न स्यादतादात्म्याविशेषात्।** न हि कार्यकारणक्षणानामकार्यकारणक्षणेभ्यस्तादात्म्याभावैकान्ते[३७०] कश्चिद्विशेषो नैरन्तर्यादिः[३७१] संभवति, तस्य[३७२] भिन्नसंतानकार्यकारणक्षणेष्वपि[३७३] भावात्। **तत्स्वभावविशेषावक्लृप्तौ[३७४] तादात्म्ये[३७५] कोऽपरितोषः?** कथंचित्तादात्म्यस्यैवैकसंतानक्षणानां स्वभावविशेषस्य व्यवस्थितेरव्यभिचारिणः कार्यकारणभावस्य सुगतेतरक्षणेषु भिन्नसंतानेष्वपि भावात्[३७६], भेदतादात्म्ययोर्हि[३७७] **विरोधस्य[३७८] सर्वथाप्यपरिहार्यत्वात्[३७९],** संविदि वेद्यवेदकाकारभेदेपि तादात्म्योपगमादन्यथैकज्ञानत्वविरोधात्, संविदाकारवेद्याद्याकारविवेकयोः[३८०] प्रत्यक्षपरोक्षयोर्भेदेपि संविदेकत्वाङ्गीकरणात्[३८१], कथंचित्तादात्म्याभावे[३८२] संताननियमनिबन्धनस्य स्वभावविशेषस्यानुपलब्धेः। **तत्संतानापेक्षया[३८३] प्रेत्यभावादि मा मंस्त,** क्षणक्षयैकान्ते संतानस्यैव साधयितुं दुःशक्यत्वात्, **ज्ञानज्ञेययोः[३८४] प्रतिक्षणं विलक्षणत्वात्।** स एवाहं तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानादनुस्मरणादभिलाषादेश्च संताननियमसिद्धिरिति चेन्न, तस्यै[३८५]-वासंभवात्। सर्वथा[३८६] वैलक्षण्ये पुंसोऽर्थस्य च **न वै प्रत्यभिज्ञानादिः पुरुषान्तरवदर्थान्तरवच्च। ततः[३८७] कर्मफल-[३९२]संबन्धोपि नानासंतानवदनियमान्न[३८८][३८९][३९०] युक्तिमवतरति।** तदनादिवासनावशात्तन्नियम[३९१] इति चेन्न, कथंचिदप्यतादात्म्ये कार्यकारणक्षणयोस्तदघटनात्, तद्वत्। **तत्सूक्तं 'क्षणिकपक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीयः, सर्वथार्थक्रियाविरोधा-न्नित्यत्वैकान्तवत्'**। न चार्थक्रिया[३९३] कार्यकरणरूपा[३९४] सत्येव कारणे स्यादसत्येव वा। **सत्येव कारणे यदि कार्यं,**

त्रैलोक्यमेकक्षणवर्त्ति स्यात्, कारणक्षणकाले एव सर्वस्योत्तरोत्तरक्षणसंतानस्य भावात्, **ततः संतानाभावात्[३९५]पक्षान्तरासंभवाच्च । इति स्थितमेतत्** साधनं सर्वथार्थक्रियाविरोधादिति, साध्यं च क्षणिकपक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीय इति, प्रत्यभिज्ञाद्यभावात्प्रेत्यभावाद्यसंभव [३९६] इति च, अस्मिन्पक्षे प्रयासाभावात्। यदि पुनरसत्येव कारणे कार्यं तदा कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानादिरनन्तश्च कालः कार्यसहितः स्यात् कारणाभावाविशेषात्। तदविशेषेपि कार्यस्य स्वयं नियतकालत्वे नित्यस्य सर्वदा भावाविशेषेपि [३९७]तत्स्यादित्युक्तम्।

किं च[३९८] क्षणिकपक्षे न तावत्सदेव कार्यमुत्पद्यते स्वमतविरोधा[३९९]दुत्पत्त्यनुपरमप्रसङ्गा[४००]च्च—

[४०१]यद्यसत् [४०२]सर्वथा कार्यं तन्मा [४०३]जनि खपुष्पवत् ।

मोपादाननिया[४०४]मो भून्मा[४०५]श्वासः कार्यजन्मनि ।। ४२ ।।

५१०. पर्यायाकारेणेव द्रव्याकारेणापि सर्वथा यद्यसत्कार्यं तदा तन्मा जनिः, खपुष्पमिव। तथाहि [४०६]यत् सर्वथाप्यसत्तन्न जायमानं दृष्टं, यथा खपुष्पम्। तथा च [४०७]परस्य कार्यम्। इति व्यापकविरुद्धो[४०८]पलब्धिः। [४०९]कार्यत्वं हि कथंचित्सत्त्वेन व्याप्तम्। तद्विरुद्धं सर्वथाप्यसत्त्वम्। प्रतीतं हि लोके **कथंचित्सतः कार्यत्वमु[४१०]पादानस्योत्तरीभव[४११]नात्।** सदेव कथमसत् स्याद्विरोधादिति न चो[४१२]द्यम्, [४१३]**सकृदपि विरुद्धधर्माध्यासानिराकृतेश्चित्रवेदनवदित्युक्तप्रायम्। तथा [४१४]चान्वयव्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्व[४१५]भावनिबन्धनायाः किं फलमपलापेन? तदन्यतरनिराकृतावुभयनिराकृतिरभेदात्।** कथमन्वय[४१६]व्यतिरेकयोरभेद इति चेत्, कारणस्य भावे भावस्यैव तदभावेऽभावरूप[४१७]त्वात्। न हि कारणस्याभावेऽभाव एव भावे[४१८] भावो न[४१९] प्रतीयते यतस्तदभेदो न स्यात्। कथं भावस्वभावनिबन्धनान्वयव्यतिरेकप्रतीतिस्तस्या भावा[४२०]भावस्वभावनिबन्धनत्वात्, इत्यप्यनाशङ्कनीयम्, स्वभा[४२१]वान्तरस्यैवाभावव्यवहारार्हत्वात्। पा[४२२]वकविविक्तप्रदेशविशे[४२३]षस्यैव पावकाभावस्य धूमरहितदेशस्य च धूमाभावस्य प्रतीतिगोचरत्वात्, [४२४]पावकाभावे धूमाभावस्य च व्यतिरेकलक्षण[४२५]त्वात् सिद्धं व्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनिबन्धनत्वमन्वयप्रतीतेरिव। इति निरारेकम्, नीरूपस्याभावस्य प्रतिक्षेपात्। न च सर्वथाप्यसतः कार्यत्वेन्वयव्यतिरेकप्रतीतिः कार्यकारणभावव्यवस्थाहेतुः, कारणाभावे एव कार्यस्य भावाद्भावे चाभावात्, इति निवेदितप्रायम्।

५११. **तन्नासत्कार्यम्, सर्व[४२६]थाप्यनुत्पादप्रसङ्गात्, खकुसुमवत्,** इति[४२७], व्यवतिष्ठते, कार्यत्वकथंचित्सत्त्वयोरेव व्याप्यव्यापकभाव[४२८]स्य प्रसिद्धेस्तथा प्रतीतेः। तत[४२९] एव **न तादृक्का[४३०]रणवत्, सर्वथाऽभूतत्वा[४३१]द्वन्ध्यासुतवत् [४३२]कथंचिदस्थितानुत्पन्नत्वादिति योज्यम्।** न हि सर्वथाप्यसत्कार्यमभूतं भवति[४३३], यतः कथंचिदप्यस्थितमनुत्पन्नं[४३४] च न स्यात्, कथंचित्सत[४३५] एव स्थितत्वोत्पन्नत्वघटनाद्विनाशघटन[४३६]वत्, सत उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वलक्षणत्वात्। न चोत्पादादित्रयरहितं वस्तु समस्ति यतः कारण[४३७]वत्स्यात्, निरन्वयविनाशे तत्कारणस्य[४३८] तद्भावायोगात्, कार्य[४३९]स्य तद्भावायोगवत्।

५१२. **सत्य[४४०]पि प्रभवल[४४१]क्षणे पूर्वपूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलादिषु सकललोकसाक्षिकं सिद्धम्। तत्र स्वमनीषिकाभिः सदृशो[४४२]परापरोत्प[४४३]त्तिविप्रलम्भानवधारणा[४४४]वक्लृप्तिमार[४४५]चयतां मोपादाननियमो भूत् कारणा[४४६]न्तरवत् तदन्वयाभावाविशेषात् सर्वथा वैलक्षण्य[४४७]यात्।** न हि मृत्पिण्डस्थासादीनां तन्तुपटादीनां च सर्वथा[४४८] वैलक्षण्येनान्वयाभावाविशेषेपि मृत्पिण्ड एवोपादानं स्थासस्य, स्थास एव कोशस्य, कोश

एव कुशूलस्य, कुशूल एव घटस्य, न पुनस्तन्त्वादयः स्थासादीनामिति नियमनिबन्धनं किमप्यस्ति, यतः पूर्वपूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासादिषु सकललोकसाक्षिकं न भवेत्। वैलक्षण्यानवधारणं[४४९] निबन्धनमिति[४५०] चेत्, तद्यदि सदृशा[४५१]परापरोत्पत्तिविप्रलम्भात्[४५२]प्रतिपत्तॄणामिष्यते[४५३] तदा समसमयवर्ति[४५४]तिलादीनां संतत्योत्पद्यमानानां[४५५] वैलक्षण्यानवधारणं स्यात्। ततश्च[४५६] परस्परभिन्नसंततीनाम्[४५७]अप्युपादानत्वं[४५८] प्रसज्येत, विशेषाभावात्। यथैव[४५९] ह्येकसंतानवर्तिनः सदृशस्यापरापरस्योत्पत्तिः[४६०] सादृश्यमभावाव्यवधानं[४६१] च बाह्यम्[४६२], विप्रलम्भस्त्वनाद्यभेदवासनाहितमभेदज्ञानमन्तरङ्गं वैलक्षण्यानवधारणस्य कारण तथा भिन्नसंततीनामपि तिलादीनामिति न विशेषः।

५१३. ननु भिन्नदेशानां तेषां[४६३] सत्यामपि सादृश्योत्पत्तौ नाभावेनाव्यवधानमन्तराले[४६४] परस्परमभावस्य व्यवधायकस्य भावात्, इति न मन्तव्यम्[४६५], मृत्पिण्डस्थासादीनामेकसंतानवर्तिनामपि भिन्नदेशत्वसंभवाद[४६६]भावव्यवधानप्रसङ्गात्। न हि तेषां[४६७] काल एव भिद्यते न पुनर्देशस्तस्य[४६८] नित्यत्वप्रसङ्गात्[४६९]। सर्वस्वलक्षणानां स्वरूपमात्रदेशतया[४७०] देशाभावाददोष इति चेत्, कथमेवं भिन्नसंतततितिलादीनां भिन्नदेशता ? स्वरूपलक्षणदेशभेदादिति चेन्मृत्पिण्डादीनामपि तत[४७१] एव सास्तु, न वान्यत्रापीत्यविशेष[४७२] एव। सादृश्यविशेषाद्विशेष[४७३][४७४] इत्यपि मिथ्या, सादृश्यस्यापि परमार्थतः क्वचिदभावात्[४७५]सामान्यवत्[४७६]। अतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या कल्पितस्य[४७७] तु सादृश्यस्य को विशेष इति चिन्त्यम्[४७८]। वैलक्षण्यानवधारणहेतुत्वमिति[४७९] चेत् कृष्णतिलादिषु[४८०] भिन्नसंतानेष्वपि समानम्। परस्पराश्रयत्वानुषङ्गश्चैवम्। सति[४८१] सादृश्यविशेषे मृत्पिण्डादिषु वैलक्षण्यानवधारणं तस्मिन् सति सादृश्यविशेषनिश्चयः, इति नैकस्यापि निर्णयः स्यात्। नन्वनिश्चितादेव सादृश्यविशेषादभेदाध्यवसायरूपं[४८२] वैलक्षण्यानवधारणं निश्चीयते, ततः[४८३] सादृश्यविशेषानुमानेतराश्रयत्वं तयोरिति[४८४] चेन्न, एवं यमलकादिष्वपि[४८५] तदनुमानप्रसङ्गादन्वयस्यापि[४८६] तद्वत्प्रसक्तेः।

५१४. ननु च **निरन्वयस्यापि तादृशी प्रकृतिरात्मानं[४८८] कारणान्तरेभ्यो[४८९] यया[४९०] विशेषयतीति चेन्न, अत्यन्तविशेषानुपलब्धेः[४९१]। तदविशेषादर्शने[४९२][४९३] सर्वथान्ध्यं स्यात्,** विशेषाविशेषयोरदृष्टौ तद्रहितवस्तुरूपोपलम्भाभावात्। **तस्मादियमस्य[४९४][४९५][४९६] प्रकृतिर्यया[४९७] पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादाधिकरणस्थितिं[४९८] प्रतिक्षणं बिभर्ति[४९९], यतोयमुपादननियमः[५००] सिद्धः,** पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानमात्रे[५०१] तदसिद्धेः[५०२] स्थितिमात्रवत्[५०३]। **अथापि कथंचिदुपादाननियमः कल्प्येत, कार्यजन्मनि[५०४] कथमाश्वासः ?** संवृतिमात्रेणोपकल्पितादुपादाननियमात्कार्योत्पत्तावनाश्वासदर्शनात् स्वप्नवत्। **तदत्यन्तासतः[५०५] कार्यस्योत्पत्तेस्तन्तुभ्यः पटादिरेव न पुनः कुटादिरिति निर्हेतुको नियमः स्यात्। पूर्वपूर्वविशेषादुत्तरोत्तरनियमकल्पनायाम्[५०६]अनुपादानेपि[५०७] स्यात् नियमकल्पना। तथाऽदर्शनमहेतुरत्रैव[५०८] विचारात्।** न हि यत्रैव[५०९] विवादस्तदेव[५१०] नियमहेतुरिति युक्तं वक्तुमविचारकत्वप्रसङ्गात्। यथाऽदर्शनं[५११] नियमकल्पनायां हेतावपि **कथंचिदाहितविशेषतन्तूनां[५१२] पटस्वभावप्रतिलम्भोपलम्भात् तदन्यतरविधिप्रतिषेधनियमनिमित्तात्ययात्[५१३], प्रतीतेरलमपलापेन[५१४]।** न हि तन्तुतद्विशेषयोरन्यतरस्य विधौ निषेधे वा नियमनिमित्तमस्ति[५१५]। न हि तन्तव एवातानवितानादिविशेषनिरपेक्षाः पटस्वभावं प्रतिलभमानाः समुपलभ्यन्ते, येन तन्तुमात्रस्यैव[५१६] विधिनियमो विशेष[५१७]प्रतिषेधनियमो वा स्यात्। नापि तन्तुनिरपेक्षो[५१८] विशेष एव पटस्वभावं स्वीकुर्वन्नुपलभ्यते यतो विशेषविधिनियमस्[५१९]तन्तुप्रतिषेधनियमो[५२०] वावतिष्ठेत[५२१]। न चोपलब्ध्यनुपलब्धी मुक्त्वान्यन्निमित्तं तद्विधिप्रतिषेधयोर्नियमे[५२२]स्ति, येन तदत्ययेपि तदुभयप्रतीतेरपलापः शोभेत।

५१५. ननु च नास्ति तन्त्वाद्यन्वय उपलब्धिलक्षण[५२३]प्राप्तस्यानु[५२४]पलब्धेरिति स्वभावानुपलब्धि-[५२५]स्तत्प्रतिषेधनियमनिमित्तम्, विशेष[५२६]मात्रस्यैवोपलब्धे[५२७]स्तद्विधिनियमहेतु[५२८]त्वादिति चेन्न, तन्त्वाद्यन्वयवत्तद्विशेषस्यापि निरपेक्ष[५२९]स्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरविशेषात्प्रतिषेधनियमप्रसङ्गात्। **तस्मा[५३०]दुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धि-रनन्वय[५३१]स्यैव न पुनरु[५३२]भयरूपस्य, इत्यलं प्रसङ्गेन[५३३]**। सर्व[५३४]थान्वयविशेषयोरेव प्रतिषेधनियमस्य निमित्ताभावात् तदुभयरूपजात्यन्तरस्यैव विधिनियमस्य निमित्तसद्भावात् तन्निमित्तस्यार्थक्रियाकारित्वस्य सकलप्रमाणोपलम्भस्य च प्रसिद्धेर्विरो[५३६]धाद्यसंभवाच्च।

[५३७]तदेवं क्षणिकैकान्तपक्षे—

न हेतुफल[५३८]भावादिरन्यभावादनन्व[५३९]यात्।
[५४०]सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्त[५४१]द्वतः पृथक् ।। ४३ ।।

५१६. क्षणिकैकान्तपक्षेपीति वर्तते। तेन पूर्वोत्तरक्षणानां न हेतुफलभावो वास्यवासकभावः कर्मफलसंबन्धः प्रवृत्त्यादिर्वास्ति, सर्वथाऽनन्वये सत्यन्यभावात्, संतानान्तरवत्। ते[५४२]षामेकसंतानत्वात्सोस्तीति चेन्न, एकसंतानस्य [५४३]तद्वतः पृथगसत्त्वात्, सं[५४४]तानिन एवापरामृष्ट[५४५]भेदाः सन्तान इति स्व[५४६]यमभ्युपगमात्। [५४७]सर्वेषां वैलक्षण्याविशेषात्। सन्तानसंकर[५४८]प्रसङ्गश्चाविशेषेणापरामृष्टभेदत्वस्य संभवात्[५४९], एते एवाभेदपरामर्शविषया न [५५०]पुनरन्ये इति विशेषनिबन्धनस्याभावात्। **विलक्षणानामत्यन्तभेदेपि स्वभावतः किला[५५१]संकीर्णाः संततयः कर्मफलसंबन्धादिनिबन्धनं शशविषाणस्येव वर्तुलत्व[५५२]माचरितं कश्चेतनः श्रद्दधीत?** प्रत्यक्षेणाप्रतीतेऽर्थ स्वभावस्याश्रयितुमशक्यत्वात्—

प्रत्यक्षेणाप्रतीतेर्थे यदि पर्यनुयुज्यते।
[५५३]स्वभावैरुत्तरं वाच्यं दृष्टे [५५४]कानुपपन्नता ।।

इति स्वयमभिधानात्।

५१७. न च परस्परविलक्षणानामेव क्षणानामत्यन्तमन्वयासत्त्वेप्यन्तर्बहिर्वा संततयोऽसंकीर्णा एव प्रत्यक्षतः प्रतीताः, [५५५]तस्यैकक्षण[५५६]गोचरतया संतानवि[५५७]षयत्वात्। नाप्यनुमानतः, स्वभावस्य कार्यस्य वा तल्लिङ्गस्य प्रतिबद्ध[५५८]स्यानवधारणात्। प्रत्यभिज्ञानादि त[५५९]दनुमाने लिङ्गमिति चेन्न, तस्य [५६०]क्वचिदन्व[५६१]यासिद्धेर्व्यतिरे[५६२]कानिश्चयाच्च। तत एव नान्यथानु[५६३]पपत्तिः, प्रत्यभिज्ञानादेः [५६४]संतानाभावेऽसंभवनियमनिश्चयायोगात्, तत्रै[५६५]कद्रव्य[५६६]प्रत्यासत्तेरेव ततः[५६७] प्रसिद्धेर्वि[५६८]रुद्धत्वनिर्णयात्। [५६९]ततो न संतानोस्ति स्वभावत एवासंकीर्णः सन्तानान्तरैरिति सूक्तम्।

[५७०]स्यान्मतम्—

[५७१]अन्येष्वनन्य[५७२]शब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम्?।
[५७३]मुख्यार्थः संवृतिर्ना[५७४]स्ति विना मुख्यान्न संवृतिः ।। ४४ ।।

५१८. सं[५७५]तानिभ्योऽनन्यः संतानः, अन्यथात्मनो नामान्तरकरणात्, आत्मा संतान इति, सुखादिपरिणा[५७६]मेभ्यो भिन्नस्य वस्तुनो व्यापकस्यात्मत्वादर्थभेदाभावात्। तथा नामान्तरकरणे च **नित्यानित्यविकल्पा[५७७]नुपपत्तेर्नान्यः**

संतानो वास्तवः स्यात्। नित्यविकल्पे[५७८] तस्य संतानिव्यापकत्वाभावो[५७९]ऽनेकस्वभावेन तद्व्यापकत्वे[५८०] तस्य[५८१] नित्यैकरूपत्वाविरोधात्। एकस्वभावेन[५८२] तद्व्यापकत्वे संतानिनामेकरूपत्वापत्तेः कुतः संतानः? अनेकव्यापिनः क्रमशः संतानत्वात्। तदनित्यविकल्पेपि[५८३] न संतानः, संतानिवद्भेदादेकप्रत्यवमर्शाविषयत्वात्[५८४], **अपि तु[५८५] संवृत्या[५८६]ऽन्येष्वनन्यव्यवहारात्**, अनन्य इति[५८७] शब्दविकल्पलक्षणादेकत्वम्[५८८] **उपचरितमिति**। अन्येष्वनन्यशब्दोयं संवृतिः सौगतैरभिधीयते संतानः[५८९]। सोपि कथं मृषा न स्यात्[५९०]? अस्तु व्यलीकोयं व्यवहारस्तथेष्टत्वादिति चेत्, तर्हि **व्यलीकव्यवहारेपि विशेषानुपपत्तेः संबन्ध[५९१]नियमाभावस्तदवस्थः**, सकलसंतानिनां[५९२] साङ्कर्यस्यापरिहृतत्वात्, उपचरितेनैकसंतानेन केषांचिदेव स्वेष्टसंतानिनां व्याप्तेर्नियमयितुम्[५९३]अशक्तेः। यदि तु मुख्यार्थ[५९४] एव संतानः स्यात्तदा न संवृतिः। संवृतिरेव संतानस्तथोपचारादिति चेन्न, तस्य[५९५] मुख्यप्रयोजनत्वविरोधात्। मुख्यप्रयोजनश्चायं[५९६][५९७], प्रत्यभिज्ञानादेर्मुख्यस्य कार्यस्य करणात्। **उपचारस्तु नर्ते मुख्यात्। यथाग्निर्माणवकः[५९८]। इति स्खलति हि तत्रानन्यप्रत्ययः[५९९], परीक्षाऽक्षमत्वात्। अत एवामुख्यार्थः[६००] प्रस्तुतासाधनम्[६०१]।** न ह्यग्निर्माणवक इत्युपचारात्पाकादावादीयते[६०२]। तथा संतानोप्युपचरितः संतानिनियम[६०३]हेतुर्न स्यात्। इति तदवस्थं संतानिसाङ्कर्यं, संतानस्यैकस्य संतानिभ्यो भिन्नस्याभिन्नस्योभयरूपस्यानुभयरूपस्य वासंभवात्। तत[६०४] एव,—

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य[६०५] सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः[६०६]।
तत्त्वान्यत्वमवाच्यं[६०७] चेत्तयोः संतानतद्वतोः[६०८]॥ ४५ ॥

५१९. यो यो[६०९] धर्मस्तत्र तत्र चतुष्कोटेर्विकल्पस्य वचनायोगः। यथा सत्त्वैकत्वादिधर्मेषु। धर्मश्च संतानतद्वतोस्तत्त्वमन्यत्वं[६१०] च। इति तत्रावाच्यत्वसिद्धिः[६११]। प्रसिद्धं[६१२] हि **सत्त्वैकत्त्वादिषु सर्वधर्मेषु सदसदुभयानुभयादिचतुष्कोटेरभिधातुमशक्यत्वात् संतानतद्वतोरपि भेदाभेदोभयानुभयचतुष्कोटेरनभिलाप्यत्वम्**। सर्वो[६१३] हि वस्तुधर्मः सन् वा स्यादसन् वा उभयो वानुभयो वा। **सत्त्वे तदुत्पत्तिविरोधादसत्त्वे पुनरुच्छेदपक्षोपक्षिप्त[६१४]दोषादुभये[६१५] चोभयदोषप्रसङ्गादनुभयपक्षेपि विकल्पानुपपत्तेरित्यादि[६१६] योज्यम्**। तथा[६१७] हि वस्तुनो धर्मस्यानन्यत्वे[६१८] वस्तुमात्रप्रसक्तेरन्यत्वे व्यपदेशासिद्धेरसंबन्धात्[६१९], उभये चोभयपक्षभाविदोषोऽनुभयपक्षे निरुपाख्यत्वमिति[६२०]। तथानभिधेयत्वं[६२१] प्रसिध्यत् सर्वत्र[६२२] संतानसंतानिनोरपि तत्त्वान्यत्वाभ्याम्[६२३]अवाच्यत्वं प्रसाधयति विशेषाभावात्, इति येषामाकूतं[६२४] तैरपि[६२५]—

अवक्तव्य[६२६]चतुष्कोटि[६२७]विकल्पोपि न कथ्यताम्[६२८]।
असर्वान्तम्[६२९]अवस्तु स्यादविशेष्य[६३०]विशेषणम् ॥ ४६ ॥

५२०. **न हि सर्वथानभिलाप्यत्वेऽनभिलाप्यचतुष्कोटेरभिधेयत्वं युक्तम्, कथंचिदभिलाप्यत्वप्रसङ्गात्[६३१]।** ततो[६३२] भवद्भिरवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोपि न कथनीयः। इति न परप्रत्यायनं[६३३] नाम। **अपि[६३४] चैवं सति सर्वविकल्पातीमवस्त्वेव स्यादन्यत्र[६३५] वाचोयुक्तेः**। जात्यन्तरमेव ह्यनेकान्तात्मकं[६३६] सर्वथैकान्तविकल्पातीतत्वात्। सर्वविकल्पातीतमिति वाचोयुक्तावेव वस्तूक्तं स्यान्नान्यथा[६३७], तस्याविशेष्यविशेषणत्वात्[६३८], खपुष्पवत्। न हि सर्वथा[६३९]प्यसद्[६४०]अनभिलाप्यम्[६४१]अवस्त्विति वा विशेषणं स्वीकुरुते यतो विशेष्यं स्यात्। न चाविशेष्यमविशेषणं च किंचिदध्यक्षसंविदि[६४२] प्रतिभासते, स्वसंवेदनस्यापि[६४३] सत्त्वविशेषणविशिष्टतया विशेष्यस्यैवावभासनात्।

तदुत्तरविकल्पबुद्धौ स्वस्य संवेदनमिति विशेषणविशेष्यभावोवभासते, न तु स्वरूपे तस्येति चेत्तर्हि किमविशेष्यविशेषणं संवेदनमिति स्वतः प्रतिभासते ? तथोपगमे सिद्धो विशेषणविशेष्यभावः संविदि, तत्राविशेषणविशेष्यत्वस्यैव विशेषणत्वात्, सर्वथा[६४४]प्यसतो विशेषणविशेष्यत्वस्य प्रतिषेधायोगात्। तथा[६४५] हि—

द्रव्याद्यन्तर[६४६]भावेन निषेधः संज्ञिनः सतः।
असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ।। ४७ ।।

५२१. **द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरैः प्रतिषेधः संज्ञिनः सतः क्रियते** स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्न पुनरसतः[६४७], तद्विधिप्रतिषेधाविषयत्वात्। द्रव्याद्यन्तरभावेनेव स्वद्रव्यादिभावेनाप्यसत्त्वे कुतो विधिर्नाम ? तदभावे न प्रतिषेधस्तस्य[६४८] कथंचिद्विधिपूर्वकत्वात्। ततः कथंचि[६४९]दभिलाप्यस्य सतः प्रतिषेधादनभि[६५०]लाप्यत्वं युक्तम्। कथंचिद्विशेषणविशेष्यात्मनश्च[६५१] सतोऽविषेष्यविशेषणत्वम्। इति नैकान्ततः किंचिदनभिलाप्यमविशेष्यविशेषणं[६५२] चाभ्युपज्ञातव्यम्[६५३]। **न चैतद्विरुद्धं[६५४] स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत्।** स्वलक्षणं हि स्वरूपेणासाधारणेनानिर्देश्यं नानिर्देश्यमिति शब्देन[६५५] तथा[६५६] निर्देश्यत्वादन्यथा[६५७] स्ववचन[६५८]विरोधात्। तथा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि स्वरूपेण कल्पनापोढमेव, न कल्पनापोढमिति कल्पनापेक्षया, तस्या[६५९]न्यथा कल्पनापोढत्वेन कल्पनाविरोधात्, सकलविकल्पवागगोचरातीतस्य निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात्। तद्वत्स्याद्वादिनां न किचिद्विप्रतिषिद्धम्। **अ[६६०]भावोनभिलाप्य इत्यपि भावाभिधानादेकान्त[६६१]वृत्तावेव दोषोद्भावाभिधानैरपि कथं[६६२]चिदभावाभिधानात्।** यथैव ह्यभाव इति भावान्तरमभिधीयतेनभिलाप्य इति चाभिलाप्यान्तरं तथा भावोभिलाप्य इत्य[६६३]पि भावान्तराभिलाप्यन्तराभावः कथ्यते, तथा प्रतीतेः, अभावशब्दैर्भावशब्दैश्चाभावस्य भावस्य चैकान्ततोभिधाने शाब्दव्यवहारविरोधात्, त[६६४]स्य प्रधान[६६५]गुणभावेन विधिनिषेधयोरुपलम्भात्, तथैव प्र[६६६]वृत्तिनिवृत्त्योरविसंवादसिद्धेरन्यथा विसंवदात्। तथा सूक्तमिदम्[६६७] "असद्भे[६६८]दो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः" इति कथंचित्सद्विशेषस्यैव पदार्थस्य विधिनिषेधाधिकरणत्वसमर्थनात्। तथा[६६९] च पराभ्युपगतमेव तत्त्वं सर्वथानभिलाप्यमायातमित्यभिधीयते[६७०]—

अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात्स[६७१]र्वान्तैः परिवर्जितम्।
वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रि[६७२]याया विपर्ययात्[६७३]।। ४८ ।।

५२२. सकलधर्मविधुरमधर्मिस्वभावं तावदवस्त्वेव, सकलप्रमाणाविषयत्वात्। तदेवानभिलाप्यं युक्त[६७४]म्, न पुनर्वस्तु[६७५] प्रमाणपरिनिष्ठितम्। तदपि[६७६] सर्वान्तैः परिवर्जितमवस्तु परपरिकल्पनामात्रादभिधीयते न पुनः प्रमाणसामर्थ्यात्, कस्यचिद्वस्तुन एव स्वद्रव्याद्यपेक्षालक्षणप्रक्रियाया वि[६७७]पर्यासादवस्तुत्वव्यवस्थितेः, स्वरूपसिद्धस्य घटस्य घटान्त[६७८]ररूपेणाघटत्ववत् कस्यचिद्वस्तुनो व[६७९]स्त्वन्तररूपेणावस्तुत्वप्रतीतेः।

५२३. ननु परस्परविरुद्धमिदमभिहितं वस्तुत्वेतरयोरन्योन्यपरिहारस्थिततत्वात्, इति चेत्, **भावव्यतिरेकवा[६८०]चिभिरपि वाक्यतामापन्नैर्भावाभि[६८१]धाना[६८२]न्नात्र किंचिद्विरुद्धम्।** न ह्यब्राह्मणमानयेत्यादिशब्दैर्वाक्यत्वमुपगतैर्ब्राह्मणादिपदार्थाभाववाचिभिस्तदन्यक्षत्रियादिभावाभिधानमसिद्धं येनावस्त्वनभिलाप्यं स्यादिति शब्देन वाक्यतामुपगतेन वस्तुशून्यत्ववाचिना वस्त्वन्तराभिधानं वि[६८३]रुध्यते। **अतः[६८४] "सूक्तं यदवस्तु तदनभिलाप्यं यथा न किंचित्[६८५]। यत्पुनरभिलाप्यं तद्वस्त्वेव यथा खपुष्पा[६८६]भावः"** इति। नात्र साध्यविकलमुदाहरणं खे

पुष्पाभावस्य स्वस्वरूपत्वात्। सुप्रतीतं हि लोके **अन्यस्य**[६८७] **कैवल्यमितरस्य वैकल्यं, स्वभावपरभावाभ्यां**[६८८] **भावाभावव्यवस्थितेर्भावस्य**[६८९]। न हि वस्तुनः सर्वथा भाव एव, स्वरूपेण भाव एव पररूपेणापि भावप्रसङ्गात्। नाप्यभाव एव[६९०], पररूपेणेव स्वरूपेणाप्यभावप्रसङ्गात्। न च स्वरूपेण भाव[६९१] एव पररूपेणाभावः, परात्मना चाभाव एव स्वात्मना भाव इति वक्तुं युक्तं, तदपेक्षणीयनिमित्तभेदात्[६९२]। स्वात्मानं[६९३] हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययमुजनयति सर्वोर्थः[६९४], परात्मानं त्वपेक्ष्याभावप्रत्ययम्[६९५]। इति एकत्वद्वित्वादिसंख्यावदेकत्र[६९६] वस्तुनि भावाभावयोर्भेदो व्यवतिष्ठते। न ह्येकत्र द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य द्वित्वादिसंख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्रापेक्षैकत्वसंख्यातोनन्या[६९७] प्रतीयते। नापि सोभयी तद्वतो[६९८] भिन्नैव[६९९], तस्यासंख्येयत्वप्रसङ्गात्[७००], संख्यासमवायादपि तथात्वासिद्धेः[७०१], समवायस्य[७०२] तदसंबन्धात्[७०३] तस्य[७०४] स्वसमवायिसंबन्धकल्पनायामप्यनवस्थानुषङ्गात्[७०५], कथंचित्तादात्म्यमन्तरेण समवायासंभवाच्च। तद्वत्र[७०६] भावाभावौ वस्तुनोन्यावेव, निस्स्वभावत्वप्रसक्तेः[७०७]। अथ सत्त्वासत्त्वाभ्यामन्यस्यापि वस्तुनो द्रव्यत्वादिस्वभावसद्भावान्न निःस्वभावत्वमिति मतं[७०८], तदप्यसाधीयः, द्रव्यत्वाद्रव्यत्वाभ्यामपि तस्यान्यत्वात्[७०९]। ताभ्यामनन्यत्वे कथंचिद्भावाभावाभ्यामप्यनन्यत्वसिद्धेः स्वभावपरभावाभ्यां वस्तुनो भावाभावव्यवस्थितिः[७१०] किं न स्यात्, यतः खे पुष्पाभावोऽभिलाप्यो वस्त्वेव न भवेत्? इति निरवद्यमुदाहरणम्।

किं च क्षणिकैकान्तवादिनाम्—

> **सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां[७११] किं वचनं पुनः।**
> **संवृतिश्चेन्मृषैवैषा[७१२] परमार्थविपर्ययात्[७१३] ।। ४९ ।।**

५६०. परेषां सर्वे धर्मा यद्यवक्तव्या एव तदा तेषां किं पुनर्वचनं धर्मदेशनारूपं परार्थानुमानलक्षणं साधनदूषणवचनं वा? न किंचित् स्यादिति मौनमेव शरणम्। यदि पुनः संवृतिरूपं वचनमुपगम्यते तदापि मृषैव संवृतिरेषाभ्युपगन्तव्या, परमार्थविपर्ययरूपत्वात्तस्याः। इति तत्त्वतः[७१४] किं वचनं स्यात्[७१५]? **पुनरप्यवक्तव्यवादिनं**[७१६] **पर्यनुयुञ्ज्महे**[७१७], **सर्वे धर्मा यदि वागगोचरातीताः कथमिमेऽभिलप्यन्ते**[७१८]**? इति,** स्ववचनविरोधानुषङ्गात् सर्वदा मौनव्रतिकोहमिति प्रतिपादयतं[७१९] इव परान्। **संवृत्या चेत्सर्वे** धर्मा इत्यवक्तव्या इति चाभिलप्यन्ते **भवद्भिर्न**[७२०] **विकल्पानुपपत्तेः**[७२१]। संवृत्येति[७२२] हि स्वरूपेण पररूपेणोभयरूपेण वा तत्त्वेन मृषात्वेनेति विकल्पेषु नोपपद्यते[७२३]। तत्र संवृत्या वक्तव्या इति[७२४] **स्वरूपेण चेत्कथमनभिलाप्याः?** स्वरूपेणाभिलाप्यानामनभिलाप्यत्वविरोधात्। **पररूपेण**[७२५] **चेत् स तेषां**[७२६] **स्वरूपं स्याद्येनाभिलाप्याः**[७२७]। **केवलं**[७२८] **वाचः स्खलनं गम्येत**[७२९] गोत्रस्खलनवत्[७३०] स्वरूपेणेति वक्तव्ये पररूपेणेति वचनात्, विशेषरूपवत्[७३१] सामान्यरूपस्यापि वक्तव्यतयाङ्गीक्रियमाणस्य स्वरूपत्वात्[७३२], तस्यास्वरूपत्वे[७३३] विशेषरूपस्याप्यस्वरूपत्वापत्तेः, स्वयं निःस्वरूपत्वप्रसङ्गात्[७३४]। **उभयपक्षेप्युभयदोषानुषङ्गः**[७३५]। **तत्त्वेन**[७३६] **चेत्कथमवक्तव्याः?** केवलं वचः स्खलनं गम्येत, तत्त्वेन वक्तव्या इति वचने प्रस्तुते संवृत्या वक्तव्या इति वचनप्रवृत्तेः। **मृषात्वेन चेत्कथमुक्ताः**[७३७]**?** सर्वथा मृषोक्तानामनुक्तसमत्वात्। **तदलमप्रतिष्ठितमिथ्या-विकल्पौघैः**[७३८], सर्वथानभिलाप्यानां[७३९] सर्वधर्माणामनभिलाप्या इति वचनेनाप्यभिलाप्यत्वासंभवात्तथा परप्रत्यायनायोगात्।

किं चेदं तत्त्वम्—

> **अशक्यत्वादवाच्यं[७४१] किमभावात्किमबोधतः।**
> **आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां[७४२] स्फुटम् ।। ५० ।।**

५२५. **अर्थस्यानभिलाप्यत्वमभावाद्वक्तुरशक्तेरनवबोधाद्वा ? प्रकारान्तरासंभवात्**। ननु[७४३] च मौनव्रतात्प्रयोजनाभावाद्भयाल्लज्जादेर्वाऽनभिलाप्यत्वसिद्धेः कथं प्रकारान्तरासंभव इति चेन्न, मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावात्[७४४] तेषा[७४५] करणव्यापाराशक्तिनिमित्तत्वाच्च[७४६]। न[७४७] चैवमनवबोधस्ततः[७४८] प्रकारान्तरं न स्यात्, तत्त्वाव[७४९]बोधे सति करणव्यापाराशक्तावप्यन्तर्जल्प[७५०]संभवात्। तत्त्वावबोधाभावेपि च करणव्यापारशक्तिसद्भा[७५१]वात्। अनवबोधाशक्यत्वयोरिह बुद्धिकरणपाटवापेक्षत्वात् प्रकारान्तरत्वमेव। **न च सर्वत्र**[७५२] **तदभावो युक्तः**[७५३], कस्यचित्[७५४]क्वचिदव[७५५]बोधसद्भावात्, सुगतस्य प्रज्ञापारमितत्वात् क्षमामैत्रीध्यानदानवीर्यशीलप्रज्ञाकरुणोपायप्रमोदलक्षणदशबलत्वोपगमाच्च कस्यचिदेव[७५६] करणापाटवात्। तदनेना[७५७]शक्यत्वानवबोधवचनलक्षणस्याद्यन्तोक्तिद्वयस्यासंभवो व्याख्यातः। सा[७५८]मर्थ्यादर्थस्याभावादेवावाच्यत्वमिति किं व्याजेनावक्तव्यं तत्त्वमिति वचनरूपेण ? स्फुटमभिधा[७५९]यतां सर्वथार्थाभाव इति, तथा वचने वञ्चकत्वायोगादन्यथानाप्तत्व[७६०]प्रसक्तेः। **ततो नैरात्म्यान्न विशेष्येत**[७६१] **मध्यमपक्षावलम्बनात्**[७६२]। को ह्यत्र विशेषोर्थस्याभावादवाच्यत्वं नैरात्म्यमिति च ? **अशक्यसमयत्वा**[७६३]**दनभिलाप्यमर्थरूपमिति चेन्न,** [७६४] **कथंचिच्छक्यसंकेतत्वाद्**। दृश्य[७६५]विकल्प्यस्वभावत्वात्परमार्थस्य प्रतिभासभेदेपीत्युक्तम्। न[७६६] हि दृश्यस्वभाव एव परमार्थो न पुनर्विकल्प्यस्वभावः सामान्यं, विशेषवत्सामान्यस्यापि वस्तुरूपत्वसाधनात्, अन्यथा प्रतीत्यभावात्, सामान्यविशेषात्मनो जात्यन्तरस्य प्रत्यक्षादौ प्रतिभा[७६७]सनाच्च। न[७६८] चैवं दृश्यलक्षणेषु सङ्केतकरणाशक्तावपि विकल्प्ये सामान्ये क्वचिदशक्यसङ्केतत्वं येनाशक्यसमयत्वादनभिलाप्यमर्थस्वरूपं भवेत्, कथंचिच्छक्यसङ्केतत्व[७६९]सिद्धेः।

५२६. स्यान्मतम्[७७०], सङ्केतितार्थस्य शब्दविषयस्य व्यवहार[७७१]कालेननुगमनाद्वि[७७२]षयिणः शब्दस्य न तद्वाचकत्वमन्यथातिप्रसङ्गा[७७३]त्, इति, तदेत**द्विषयविषयिणोर्भिन्नकालत्वं**[७७४] **प्रत्यक्षेपि समानं,** शब्दविकल्पकालवत् [७७५]प्रत्यक्षप्रतिभासकालेपि विषयस्या[७७६]संभवात्, संभवे वा क्षणिकत्वविरोधात्, वेद्यवेदकयोः[७७७] समानसमयत्वप्रसङ्गाच्च। अर्थे[७७८] भिन्नकालत्वेपि विषयात् प्रत्यक्षस्या**विपरीतप्रतिपत्तिः, अन्यत्रापि**[७७९] सा[७८०]स्त्येव। न हि शब्दादर्थं परि[७८१]च्छिद्य प्रवर्तमानो विपरीतं प्रतिपद्यते प्रत्यक्षा[७८२]दिव प्रतिपत्ता, येन दर्शने एवाविपरीतप्रतिपत्तिर्भवति न पुनः शाब्देपीति बुद्ध्यामहे[७८३]। क्वचिद्विकल्पे विपरीतप्रतिपत्तिमुपलभ्य सर्वत्र विपरीतप्रतिपत्तिकल्पनायां क्व[७८४]चिद्दर्शनेपि विपरीतप्रतिपत्तिं समीक्ष्य सर्वत्र[७८५] तत्कल्पनास्तु, विशेषाभावात्[७८६]। **दर्शन**[७८७]**विकल्पयोः परमार्थैकतानत्वाभावे**[७८८] **न** [७८९]**किंचित्सिद्धम्। दृष्टस्या**[७९०]**निर्णयाददृष्टकल्पनादनिर्णयस्य**[७९१] **प्रधानादिविकल्पा**[७९२]**विशेषात्**[७९३] कुतो दर्शनस्य कल्पनापोढस्यापि परमार्थैकतानत्वम् ? न हि दृष्टे स्वलक्षणे निर्णयः[७९४] संभवति, तस्य[७९५] तदविषयत्वात्[७९६]। अदृष्टे[७९७] तु सामान्यलक्षणे[७९८] निर्णयः प्रवर्तमानो न प्रधानादिविकल्पाद्विशेष्यते। इति सकलप्रमाणाभावात्प्रमेयाभावसिद्धेरवक्तव्यतैकान्तवादिनां नैरात्म्यमेवायातं, सर्वथाप्यशक्यसमयत्वेनाप्यशक्यत्वपक्षस्यासंभवादनवबोधपक्षवदभावपक्षस्यैव निर्व्याजत्वसिद्धेः। ततः क्षणक्षयैकान्तपक्षे कृतनाशा[७९९]कृताभ्यागमप्रसङ्गः। स चोपहासास्पदमेव स्यात्।

तथा हि—

हिनस्त्यनभि[८००]**सन्धातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत्**[८०१]**।**
बध्यते तद्[८०२] **द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ।। ५१ ।।**

५२७. हिंसाभिसंधिमच्चित्तं न हिनस्त्येव प्राणिनम्, तस्य निरन्वयनाशात् संतानस्य[८०३] वासनायाश्चासंभवात्[८०४]। अनभिसन्धिमदेवोत्तरं चित्तं हिनस्ति। तत एव हिंसाभिसन्धिहिंसाचित्तद्वया[८०५]दपेतं चित्तं बध्यते। यच्च बद्धं तन्न मुच्यते, ततोन्यस्य मुक्तेः। [८०६]इति कोन्यः प्रकाशये[८०७]न्निरन्वयात् तस्यैवम्[८०८] ? **संतानादेरयोगादितिकर्त्तव्यतासु[८०९] चिकीर्षो[८१०]र्विनाशात् [८११]कर्तुरचिकीर्षुत्वात् तदुभय[८१२]विनिर्मुक्तस्य बन्धात्तद्[८१३]विनिर्मुक्तेश्च यमनियमादेरविधेयत्वम्, [८१४]कुर्वतो वा[८१५] यत्किंचनकारित्वं** प्रत्येतव्यम्[८१६]। न चैवमनेकान्तवादिनः प्रतिक्षणं परिणामान्यत्वेपि जीवद्रव्यस्यान्वयात् चिकीर्षोरेवेतिकर्त्तव्यतासु कर्तृव्यतासु कर्तृत्वात्कर्तुरेव च कर्मबन्धात् बद्धस्यैव विनिर्मुक्तेः, सर्वथा विरोधाभावात्। क्षणिकवादिनामपि संतानस्यैकत्वात्पूर्वपूर्ववासनोहितोत्तरोत्तरचित्तविशेषस्योत्पत्तेरनुपालम्भ इति चेन्न, संतानस्यावास्तवत्वाद्वास्यवासकभावस्याप्यसंभवादव्यभिचारी, कार्यकारणभावस्यापि तन्नियमहेतुत्वायोगात्, [८१७]सुगतेतरचित्तसंतानेष्वपि भावादिति निरूपतित्वात्[८१८]।

किञ्च क्षणिकैकान्तवादिनाम्—

अहेतुकत्वान्नाशस्य[८१९] हिंसाहेतुर्न हिंसकः।
चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः ।। ५२ ।।

५२८. सर्वथाप्यहेतुं **विनाशमभ्युपगम्य कस्यचिद्यदि हिंसकत्वं ब्रूयात् कथमविक्लवः ? तथा निर्वाणं संतानसमूलतलप्रहाणलक्षणं सम्यक्त्वसंज्ञासंज्ञिवाक्कायकर्मान्तव्यायामाजीवस्मृतिसमाधि[८२०]लक्षणाष्टाङ्गहेतुकं** यदि ब्रूयात्तदापि कथं स्वस्थः ? तयोरहेतुकविनाशाभ्युपगमहिंसकत्वयोरष्टाङ्गहेतुकत्वनिर्वाणवचनयोश्चा**न्योन्यं विप्रतिषेधात्[८२१]** सुगतस्य सर्वज्ञत्वेतरवत्।

विरूपपकार्यारम्भाय यदि हेतुसमागमः[८२२]।
[८२३]आश्रयिभ्यामनन्यो[८२४]सावविशेषा[८२५]दयुक्तवत्[८२६] ।। ५३ ।।

५२९. विसदृश[८२७]रूपं विरूपं कार्यम्। तदारम्भाय हिंसाहेतोर्वधकस्य मोक्षहेतोश्चाष्टाङ्गस्य सम्यक्त्वादेः समागमो व्यापारो यदि ताथागतैरिष्यते [८२८]तदासौ हेतुसमागम एवाश्रयो नाशोत्पादयोः[८२९] कारणत्वात्। स चाश्रयिभ्यां कार्यरूपाभ्यां नाशोत्पादाभ्यामनन्य[८३०] एव, न पुनर्भिन्नः, तयोरविशेषा[८३१]दयुक्तवत्। [८३२]यथैव हि शिंशपात्ववृक्षत्वयोश्चित्रज्ञाननीलादिनिर्भासयोर्वा तादात्म्यमापन्नयोरयुक्तयोः कारणसन्निपातो न भिन्नः संभवत्येककारणकलापादेवात्मलाभाद[८३३]न्यथा तादात्म्यविरोधात्, तथैव पूर्वाकारविनाशोत्तरा[८३४]कारो[८३५]त्पादयोरपि नीरूप[८३६]स्य विनाशस्यानिष्टेरुत्तरोत्पादरूपत्वाभ्युपगमा[८३७]त् तयोर्भिन्नकारणत्वे तद्वि[८३८]रोधान्मतान्तर[८३९]प्रवेशानुषङ्गाच्च।

५३०. सोयं विसदृशका[८४०]र्योत्पादहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावात् पूर्वाकारविनाशस्याहेतुकत्वमुपय[८४१]न्नाशहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावादुत्तरोत्पाद[८४२]स्याहेतुकत्वं नानुमन्यते[८४३], इति कथमनाकुलः ? **वि[८४४]सभागसंतानोत्पादनाय हेतुसन्निधिर्न प्र[८४५]ध्वंसाय, पूर्वस्य[८४६] स्वरससतो निवृत्तेरिति चेत्, [८४७]स पुनरुत्तरोत्पादः स्वरसतः किन्न स्यात् ? [८४८]तद्धेतोरप्यकिंचित्करत्वसमर्थनाद्विनाशहेतुवत्। स्वरसतोत्पन्नमपि तदनन्तरभावित्वात्तेन व्यपदिश्यते[८४९]** इति **चेदितरत्र[८५०] समानम्।** [८५१]कार्यक्षणवत्पूर्वक्षण[८५२]प्रध्वंसस्यापि हेत्वनन्त[८५३]रभावित्वाविशेषात्तेन व्यपदेशोस्तु[८५४], [८५५]न वा कार्यस्या[८५६]पीत्यविशेषः। **[८५७]परमार्थतस्तदहेतुकत्वे प्रतिपन्न[८५८]भिप्रायविशेषेपि स्वतः प्रहाणवादी न**

शक्नोत्यात्मानं न्यायमार्गमनुकारयितुम्, तथा वदतस्तस्य न्यायातिक्रमात्। न च निरन्वयविनाशवादिनः सभाग[६६०]विसभागविवेकः श्रेयान्, **सर्वदा विरूप[६६१]कार्यत्वात्** कारणस्य कथंचिदन्व[६६२]यापाये सभागप्रत्ययायोगात्। **सभागविस[६६३]भागावक्लृप्तिं प्रतिपत्रभिप्रायवशात्सम[६६४]नुगच्छन् सहेतुकं विनाशं त[६६५]तः किं नानुजानीयात्? न च[६६६] समनन्तरक्षणयोर्नाशोत्पादौ पृथग्भूतौ मिथः स्वाश्र[६६७]यतो वा यौ समं सहेतुकेतरौ स्तां[६६८], प्रतिपत्त्य[६६९]भिधा[६७०]नभेदेपि ग्राह्यग्राहकाकारवत्, स्वभावप्रतिबन्धात्[६७१]।** न हि [६७२]तयोर्मिथः कार्यकारणभावः प्रतिबन्धः, समसमयत्वात्[६७३] "नाशोत्पादो समं[६७४] यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः" इति वचनात्। नापि स्वाश्रयेण[६७५] सह कार्यकारणभावः, समनन्तरस्व[६७६]लक्षणक्षणाभ्यां नाशोत्पादयोरर्थान्तरत्वप्रसङ्गात्। तयोस्त[६७७]द्धर्मत्वाद्विशेषणविशे[६७८]ष्यभावः सम्बन्ध इति चेन्न, वैशेषिकमतसिद्धेः। कल्प[६७९]नारोपितत्वात्त[६८०]योर्न तत्सि[६८१]द्धिरिति चेत्तर्हि पूर्वक्षणविनाशोनन्तरक्षणस्वभावस्तदु[६८२]त्पादश्चेति सिद्धः स्वभा[६८३]वप्रतिबन्धः। न चैवं प्रतिपत्त्यभिधानभेदो विरुध्यते, [६८४]संविदि ग्राह्यग्राहकाकारयोरपि तद्विरोधप्रसङ्गात्। ततस्तद्वत्तयोरभेद एव। **संज्ञाच्छन्द[६८५]मतिस्मृत्यादिवत् सत्यपि भेदे समकाल[६८६]भाविनोः कथं सहकारी पुनरन्य[६८७]तरस्यैव हेतुरहेतुर्वा स्यात्, का[६८८]र्यरूपादेरिव कारणम्।** संज्ञा हि प्रत्यभिज्ञा, छन्द इच्छा। ते[६८९]नादिशब्दस्योभयत्र[६९०] संबन्धान्निदर्शनद्वयं वादिद्वया[६९१]पेक्षयोच्यते। संज्ञा[६९२]छन्दादिव[६९३]न्मतिस्मृत्यादिवच्च क्रमभाविनोर्नाशोत्पादयोः सत्यपि भेदे समकालभाविनोस्त[६९४]योर्घटकपालाश्रययोरिव सहकारी मुद्गरादिः कथं कपालोत्पादस्यैव हेतुर्न पुनर्घटविनाशस्य, तस्यैव वासौ हेतुर्न तु कपालोत्पादस्य स्यात्? कार्यरू[६९५]पादिस्तबकस्यैकसामग्र्यधीनस्य कारणरूपादिस्त[६९६]बकवत्। य[६९७]तश्चैवं **तस्मात्कार्यका[६९८]रणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाहेतुकौ सहभावाद्रसादिवत्।** न हि कारणरसादिकलापः का[६९९]र्यस्य रसस्यैव हेतुर्न पुना रूपादेरिति प्रतीतिरस्ति, यतः साध्यशून्यो दृष्टान्तः स्यात्। नाप्यसहभावो रसादीनां, येन साधनविकलः। पुरुषधिषणाभ्यामनेकान्त इति चेन्न, सौगतानां पुरुषासिद्धेः। स्याद्वादिनां तु [७००]तस्यापि सहेतुकत्त्वात् पर्यायार्थतो धिषणावत्, द्रव्यार्थतो हेतुकत्वाच्च धिषणायाः[७०१] पुरुषवन्न ता[७०२]भ्यां हेतोः व्य[७०३]भिचारिता, कारणानन्तरं सहभावात्। इति प्रकरणसा[७०४]मर्थ्यात्सविशे[७०५]षणस्य सहभावस्य हेतुत्वाद्वा न व्यभि[७०६]चारः स्यात्। न चैवमसिद्धं सा[७०७]धनं, मुद्गरादिव्यापारानन्तरं कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः, विनष्टो घट उत्पन्नानि कपालानीति व्यवहारद्वयसद्भावात्। ततः कार्योत्पादवत् कारणविनाशः सहेतुक एवाभ्युपे[७०८]यः।

५३१. ननु हे[७०९]तोर्न **तस्य[७१०] किंचि[७११]द्भवति, न भ[७१२]वत्येव केव[७१३]लमिति** चेत्तर्हि [७१४]कारणात्कार्यस्य [७१५]न किंचिद्भवति, **भवत्ये[७१६]व केवलमिति समानं** विनाशवदुत्पादस्यापि निर्हेतुकत्वापत्तेः। **तस्मादयं विनाशहेतु[७१७]र्भावमभावीकरोतीति न पुनरकिंचित्[७१८]करः। कार्योत्पत्तिहेतुर्वा यद्य[७१९]भावं न भावीकुर्याद् भा[७२०]वं करोतीति कृतस्य करणायोगादकिंचित्करः** स्यात्, सर्वथा[७२१] भावं भावी[७२२]कुर्वतो व्यापारवैफल्यात्। **[७२३][७२४]तदतत्[७२५]करणादिविकल्पसंहतिरु[७२६]भयत्र सदृशी।** यथैव हि विनाशहेतोः कुटस्य तदभिन्नविनाशकरणे तत्करणादकिंचित्करत्वम्, तदभिन्नविनाशकरणे च तदु[७२७]पलम्भप्रसक्तिः, तथोत्पादहेतोर्भावादभिन्नोत्पादकरणेप्यकिंचित्करता, सतः करणायोगात्। सर्वथाप्यसतो भावा[७२८]दभिन्नस्योत्पादस्य करणेपि न किंचित् कृतं स्यात् खपुष्पसौरभवत्। सतोऽसतो[७२९] वार्थन्तरस्य जन्म[७३०]नः करणे तु न सदसद्वा कृतं स्यात्। एतेन[७३१] प्रागसतो[७३२]नर्थान्तरस्यार्थान्तरस्य चोत्पादस्य हेतुना [७३३]करणे तस्याकिंचित्करत्वमुपदर्शितं प्रतिपत्तव्यं, प्रा[७३४]गसतोनन्यस्य[७३५]

सत्त्वायोगात्, ततोन्यस्य[१३६] सत एव करणे वैफल्यात्। ततो यदि न विनाशार्थो[१३७] हेतुसमागमस्तदोत्पादार्थोपि[१३८] मा भूत्, सर्वथा विशेषाभावात्।

५३२. किं च क्षणिकैकान्तवादिनां परमाणवः क्षणा उत्पद्यन्ते स्कन्धसन्ततयो वा[१३९]? प्रथमपक्षे स्थाप्य[१४०]स्थापकविनाश्यविनाशकभाववद्धेतुफलभाव[१४१]विरोधात्कुतः सहेतुकोत्पत्तिरहेतुका वा ? स्थितिविनाशवत्[१४२]।

द्वितीयपक्षे तु—

स्कन्धाः[१४३] सन्ततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः।
स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां[१४४] न स्युः खरविषाणवत्।। ५४।।

५१९. साध्याभावासंभूष्णुताविरहा[१४५]द्धेतो[१४६]रन्य[१४७]थानुपपत्तिर्निश्चितेति न मन्तव्यम्[१४८], साध्याभावे तदभाव[१४९]प्रसिद्धेः सौगतस्य। तथा हि—**रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारस्कन्ध[१५०]संततयोऽसंस्कृताः संवृतित्वात्, यत्पुनः संस्कृतं तत् परमार्थसत्, यथा स्वलक्षणं, न तथा[१५१] स्कन्धसंततयः**, इति साध्य[१५२]व्यावृत्तौ हेतोर्व्यावृत्तिनिश्चयात्। खरविषाणादौ सांवृतत्वस्यासंस्कृतत्वेन व्याप्तस्य प्रतिपत्तेः सिद्धान्यथानुपपत्तिः। **ततः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिताः[१५३] प्रतिपाद्यंते।** तथा हि—स्कन्धसंततयः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिता एवासंस्कृतत्वात्[१५४] खरविषाणवत्। क्षण[१५५]स्थित्युत्प्रत्तिविपत्तिसहितस्य स्वलक्षणस्य संस्कृत[१५६]त्वोपगमादन्यथा[१५७]नुपपत्तिसिद्धिः साधनस्य प्रत्येया। स्याद्वादिनामपि स्थित्युत्पत्तिविपत्तिमतः[१५८] कथंचित् संस्कृतत्वसिद्धेर्न व्यभिचारः। सर्वथास्थितिमतोऽसंस्कृतस्य च कस्यचिद्वस्तुनोनुपपत्तेश्च निरवद्योयं हेतुः[१५९]। **ततो[१६०] विसभाग[१६१]संतानोत्पत्तये विनाशहेतु[१६२]रिति पोप्लूयते[१६३],** रूपादिस्कन्धसंततेरुत्पत्तिनिषेधात् तद्विनाशस्यापि खरविषाणवदसंभवात्। तथा हि—स्कन्धसंततयो विनाशरहिताः स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्। यत् पुनर्विनाशसहितं तन्न स्थित्युत्पत्तिरहितम्, यथा स्वलक्षणम्। न तथा[१६४] स्कन्धसंततयः। इति स्थित्युत्पत्तिव्यया न स्युस्तेषां स्कन्धानां खरविषाणवत्। [१६५]तदभावे विरूप[१६६]कार्यारम्भाय हेतुसमागम इति कथन्न[१६७] सुतरां प्लवते ? ततो न क्षणिकैकान्तः श्रेयान्नित्यैकान्तवत्, सर्वथा विचारासहत्वात्।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
[१६८]अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।। ५५।।

५३४. **नित्यत्वेतरैकान्तद्वयमप्ययुक्तमङ्गीकर्तुम्, विरोधात्, युगपज्जीवितमरणवत्।** तादात्म्ये हि नित्यत्वानित्यत्वयोर्नित्यत्वमेव स्यादनित्यत्वमेव वा। तथा च नोभयैकात्म्यम्[१६९], विप्रतिषेधात्। **नित्यत्वानित्यत्वाभ्याममत[१७०] एवानभिलाप्यमित्ययुक्तं, तदेकान्तेऽनभिलाप्योक्तेरनुपपत्तेः,** सर्वथानभिलाप्यं तत्त्वमित्यभिलपत[१७१] एव स्ववचन[१७२]विरोधात्, सदा मौनव्रतिकोहमित्यादिवत्।

५३५. तदेवं नित्यत्वा[१७३]द्येकान्तानुपपत्तौ सामर्थ्यात्तदने[१७४]कान्तसिद्धिप्रतिपादनेपि तत्त्वोपप्लव[१७५]वादिदुराशयविनाशनाय तत्प्रति[१७६]पत्तिदार्ढ्याय च स्याद्वादिवादन्यायानुसरणेन नित्यत्वाद्यनेकान्तमुपदर्शयन्ति सूरयः—

नित्यं तत्[९७७]प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्[९७८]तदविच्छिदा[९७९]।
क्षणिकं[९८०] काल[९८१]भेदात्ते बुद्[९८२]ध्यसंचर[९८३]दोषतः ।। ५६ ।।

५३६. ते भगवतोर्हतः स्याद्वादन्यायनायकस्य सर्वं जीवादितत्त्वं स्यान्नित्यमेव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। नाकस्मात्तत्प्रत्यभिज्ञानं तस्याविच्छेदेनानु[९८४]भवात्। निर्विषयं हि प्रत्यभिज्ञान[९८५]मकस्मादिति प्रसिद्धम्। यथा तादृशे तदेवेदमिति, तत्रैव वा[९८६] तादृशमिदमिति भ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानम्। न चैवं[९८७] जीवादितत्त्वे प्रत्यभिज्ञानं, बाधकाभावा[९८८]त्तदविच्छेदात्। प्रत्यक्षं बाधकमिति चेन्न, तस्य वर्तमानपर्यायात्मकवस्तुविषयत्वात्, पूर्वापरपर्यायव्याप्येकत्वलक्षणे प्रत्यभिज्ञानविषये प्रवृत्त्यभावात्[९८९]। न च स्वस्याविषये किंचिद्बाधकं साधकं वा श्रोत्रज्ञानविषये चक्षुर्ज्ञानवत्। तत एव नानुमानं, तस्यान्यापोह[९९०]मात्रगोचरत्वा[९९१]त्तत्रैव साधकबाधकत्वोपपत्तेः। प्रमाणान्तरं तु नानुमानादप्रत्यक्षमिष्यते[९९२] क्षणिकवादिभिर्यत्प्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं स्यात्। इति सत्यप्रत्यभिज्ञानमेव वितथप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं। सादृश्य[९९३]प्रत्यभिज्ञानं सम्यगेवास्य जीवादावेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यानाद्यविद्योदयापादितस्य भ्रान्तस्य बाधकमिति चेन्नम्[९९४], अस्य[९९५] [९९६]भ्रान्तत्वासिद्धेः, [९९७]सदृशापरापरोत्पत्त्यनिश्चयात्।

५३७. ननु च यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वा[९९८]नुपपत्तेरित्यनुमानान्निरन्वयविनाशित्वसिद्धेर्जीवादिक्षणानामेकत्वासंभवात् सादृश्यप्रत्यभिज्ञानविषयत्वोपपत्तेर्भ्रान्तमेव तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानं सिद्धमविसंवादा[९९९]भावादिति चेन्न, अस्या[१०००]नुमानस्य विरुद्धत्वात्। तथा हि—यत्सत्[१००१] तत्सर्वं कथंचिन्नित्यं, सर्वथा क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरिति। अत्र न तावद्धेतोरनैकान्तिकत्वं, सर्वथा नित्यत्वे सत्त्वस्याभावात्, सर्वथा क्षणिकत्ववत्। तद[१००२]भावश्च क्रमाक्रमा[१००३]नुपपत्तेः। तदनुपपत्तिश्च पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वितरूपा[१००४]भावात् सकृदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावाच्च। न हि कूटस्थेऽर्थे पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादाने स्तः, क्षणिके वान्वितं रूपमस्ति, यतः क्रमः कालकृतो देशकृतो वा स्यात्[१००५]। नापि युगपदनेकस्वभावत्वं, यतो यौगपद्य[१००६]म्, कौटस्थ्य[१००७]विरोधान्निरन्वयक्षणिकत्व[१००८]व्याघाताच्च। सह[१००९]कारिक्रमाक्रमापेक्षया[१०१०] [१०११]तत्र क्रमयौगपद्यकल्पनापि [१०१२]स्वयं तदपेक्षा न साधीयसी, क्रमेतर[१०१३]स्वभावत्वाभावे तद[१०१४]नुपपत्तेः। [१०१५]तत्कार्याणां तदपेक्षा, न पुनर्नित्यस्य क्षणिकस्य वेत्यपि न श्रेयः[१०१६], तेषां[१०१७] तदकार्यत्वप्रसङ्गात्। [१०१८]तत्सहितेभ्यः सहकारिभ्यः कार्याणामुत्पत्ते[१०१९]रन्यथानुपपत्तेस्तत्कार्यत्वनिर्णय इति चेत्[१०२०]तर्हि येन स्वभावेनैकेन सहकारिणा[१०२१] [१०२२]सहभावस्तेनैव [१०२३]सर्वसहकारिणा यदि [१०२४]तस्य स्यात्तदैककार्यकरणे सर्वकार्यकरणात्क्रमकार्यानुपपत्तिः, सहकार्यन्तराभावेपि च [१०२५]तत्सहभावात्सकृदेव सकलकार्योत्पत्तिः प्रसज्येत। स्वभावान्तरैः सहकार्य[१०२६]न्तरसह[१०२७]भावे तस्य क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वसिद्धेः कुतो नित्यमेकस्वभावं क्षणिकं वा वस्तु क्रमयौ[१०२८]गपद्ययोर्व्यापकं स्यात्? कथंचिन्नित्यस्यैव क्रमाक्रमानेकस्वभावस्य तद्व्यापकत्वप्रतीतेः।

५३८. एतेन [१०२९]विपक्षे [१०३०]हेतोर्बाधकस्य व्यापकानुपलम्भस्य व्यतिरेकनिश्चयः कथंचिन्नित्ये [१०३१]प्रत्यक्षप्रवृत्तेः प्रदर्शितः प्रत्ययः। ततः सत्त्वं कथं[१०३२]चिन्नित्यमेव [१०३३]साधयतीति विरुद्धत्वान्न प्रत्यभिज्ञानविषयस्यैकत्वस्यापहार[१०३४]कम्, येन सादृश्यविषयत्वात्तस्य बाधकं सिद्ध्यद् [१०३७]भ्रान्ततां साधयेत्[१०३८]।

५३९. ननु चेदं प्रत्यभि[१०३९]ज्ञानं नैकं प्रमाणं, तदित्युल्लेखस्य प्रत्ययस्य स्मरणत्वादिदमित्युल्लेखस्य च प्रत्यक्षत्वात्। न [१०४०]चैताभ्यां प्रत्ययविशेषाभ्यामतीतवर्तमानविशेषमात्रगोचराभ्यामन्यत् संवेदनमेकत्वपरामर्शि

समनुभूयते, यत्प्रत्यभिज्ञानं नाम प्रमाणं स्यान्नित्यत्वस्य साधकम्। अतः स्वरूपासिद्धो[१०४१] हेतुरिति कश्चित्[१०४२], सोपि प्रतीत्यपलापी, पूर्वोत्तरविवर्तस्मरणदर्शनाभ्यामुपजनितस्य तदेकत्व[१०४३]संकलनज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेन संवेद्यमानस्य सुप्रतीतत्वात्। न हि स्मरणमेव पूर्वोत्तरविवर्तयोरेकत्वं संकलयितुमलम्। नापि दर्शनमेव। तदुभयसंस्कारजनितं विकल्पज्ञानं तत् संकलयतीति चेत् तदेव प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम्। न च तदकस्मादेव भवतीति निर्विषयं, [१०४४]बुद्ध्यसंचरदोषात्। न हि प्रत्यभिज्ञानविषयास्यविच्छिन्नस्य[१०४५] नित्यत्वस्याभावे बुद्धेः[१०४६] संचरणं नाम, निरन्वयविनाशा[१०४७]द्बुद्ध्यन्तर[१०४८]जननानुपपत्तेः, यदेवा[१०४९]हमद्राक्षं तदेव स्पृशामीति पूर्वोत्तरपरिणाम[१०५०]योरेकद्रव्यात्मकत्वेन गमना[१०५१]संभवात्[१०५२], ततो[१०५३]न्यस्य बुद्धिसंचरणस्येहा[१०५४]प्रस्तुतत्वात्। तथाविधैकत्ववासनावशाद्बुद्धिसंचरणं न पुनः कथंचिन्नित्यत्वादिति चेन्न, कथंचिन्नित्यत्वा[१०५६]भावे संवेदनयो[१०५७]र्वास्य[१०५८]वासकभावायोगा[१०५९]त्कार्यकारणभाव[१०६०]विरोधात्। ततो बुद्धिसंचरणा[१०६१]न्यथानुपपत्तेर्नाकस्मिकं प्रत्यभिज्ञानं विच्छेदाभावाच्च। इति कथंचिन्नित्यं वस्तु प्रसाधयति[१०६२]। तथा[१०६३] सर्वं जीवादि वस्तु कथंचित् क्षणिकं, प्रत्यभिज्ञानात्। न चैतत् क्षणिकत्वमन्तरेण भवतीत्यकस्मादुपजायते, तद्विषयस्य कथंचित्क्षणिकस्य विच्छिद[१०६४]भावात्। न च[१०६६] तदविच्छिदसिद्धा, कालभेदात्, कालभेदस्य च पूर्वोत्तरपर्यायप्रवृत्तिहेतोरसिद्धौ बुद्ध्य[१०६५]संचरणदोषात्। न च तदिदमिति स्मरणदर्शनबुद्ध्योः संचरणापाये प्रत्यभिज्ञानमुदियात्, तस्य[१०६७] पूर्वापरपर्यायबुद्धिसंचरणनिबन्धन[१०६८]त्वात्।

५४०. ननु[१०६९] च सर्वं नित्यं सत्त्वात् क्षणिके स्वसदसत्समये[१०७०]र्थक्रियानुपपत्तेः सत्त्वविरोधात्, इत्यनुमानात् क्षणिकत्वस्य निराकृतेर्न प्रत्यभिज्ञानं तत्[१०७१]साधकं, प्रधानलक्षणविषयाविच्छेदसद्भावात्[१०७२] कालभेदा[१०७३]सिद्धेर्बुद्ध्यसंचरणदोषानवका[१०७४]शाद्बुद्धेरेकत्वगमनस्य[१०७५] संचरणस्य सिद्धेरिति चेन्न[१०७६], सर्वथाक्षणिकत्वस्यैव बाधनात्[१०७७], कथंचित्क्षणिकस्य स्वसत्समये स्वासत्समये चार्थक्रियोपलब्धेः[१०७८]। सुवर्णस्य हि प्रतिविशिष्टस्य[१०७९] सुवर्णद्रव्यतया सत एव, कार्याकार[१०८०]तया चासत एव पूर्वपर्यायाविशिष्टस्योत्तरपरिणामविशेषात्मनोत्पद्यमानस्य प्रतीतिः[१०८१] परीक्षकेतरजनसाक्षिका, स्वसत्समये[१०८२] कार्यकरणं[१०८३] सव्यगोविषाणस्येतरविषाण[१०८४]करणवन्नि[१०८५]रस्यमानं, स्वासत्समये[१०८६] च मृतस्य शिखिनः केकायितकरणवदपाक्रि[१०८७]यमाणं स्वयमेव व्यवस्था[१०८८]पयति। इति किं नश्चिन्तया[१०८९], विरोधादिदूषणस्यापि तथैवा[१०९०]पसारितत्वात्। सोयमात्मादीनां स्वसत्समये एव कर्मादीनां च स्वासत्समये एव ज्ञानसंयोगादिकारणत्वमनुमन्यमानस्तथा संप्रत्यया[१०९१]देकस्य[१०९२] स्वसदसत्समये एवैककार्यकरणं विरोधादिभिरभि[१०९३]द्रवतीति[१०९४] कथं[१०९५] संप्रत्ययोपाध्यायः[१०९६]? सम्यक् प्रतीयमानेपि[१०९७] विरोधमनुरुध्य[१०९८]मानः क्व[१०९९] पुनरविरोधं बुध्येत? [११००]द्रव्यपर्याययो[११०१]रभेदैकान्तप्रतीतिं स्वसमयानुरागमात्रेणाननुभूयमानामप्यविरुद्धविषयां परिभाषते[११०२] इति किमन्यत्कारणं महतोभिनिवेशात्? तदेवं[११०३] कथंचित् क्षणिकत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानं नानुमानविरुद्धम्। नापि प्रत्यक्षविरुद्धम्, सर्वस्येदानीन्तनतया प्रत्येक्षेणानुभवात्, तेन तस्यातीतानागततयानुभवनेऽनाद्यनन्तपरिणामात्मकस्या[११०४]नुभवप्रसङ्गाद्योगित्वापत्तेः,[११०५] साम्प्रतिकतयानुभवस्यैव क्षणिकत्वानुभवरूपत्वात्, क्षणमात्रस्यैव साम्प्रतिकत्वोपपत्तेः, पूर्वोत्तरक्षणयोः साम्प्रतिकत्वेऽनाद्यनन्तक्षणसंततेरपि साम्प्रतिकत्वानुषङ्गादतीतानागतव्यवहारविलोपात्। न चैवं क्षणिकैकान्तस्य प्रत्यक्षतः प्रसिद्धेः कथंचिदक्षणिकत्वविरोधः, पर्यायाकारतयार्थस्येदानीन्तनतयानुभवविच्छेदेपि द्रव्यतया तदविच्छेदात्[११०६], तद्विच्छेदे[११०७] द्रव्यत्वविरोधात्। शश्वद[११०८]विच्छिन्नेदानीन्तनत्वस्य द्रव्यत्वादनित्यत्वैकान्तस्या-[११०९]

व्यवस्थितेर्नित्यत्वैकान्तवत्। **तदेकान्तद्वयेपि[१११०] परामर्शप्रत्ययानुपपत्तेरनेकान्तः[११११]** स्यान्नित्यमेव सर्वं स्यादनित्यमेवेति सिद्धः।

५४१. **स्थित्यभावे[१११२] हि प्रमातुरन्येन[१११३] दृष्टं नापरः[१११४] प्रत्यभिज्ञातुमर्हति।** पूर्वोत्तरप्रमातृक्षणयोः[१११५] कार्यकारणभावलक्षणे **सम्बन्धविशेषेपि पित्रेव दृष्टं पुत्रो** न प्रत्यभिज्ञातुमर्हति। तयोरुपादानोपादेयत्वलक्षणः[१११६] **सन्नप्यतिशयः पृथक्त्वं न निराकरोति।**

पृथक्त्वे च पूर्वापरक्षणयोः प्रत्यवमर्शो[१११७] न स्यात्। यदेव[१११८] हि पृथक्त्वं[१११९] **तदेवान्यत्रापि[११२०] प्रत्यवमर्शाभावनिबन्धनं,** सर्वत्र[११२१][११२२] तदविशेषात्। यदि पुनरेकसंततिपतितेषु[११२३] प्रत्यवमर्शो न पुनर्नानासंततिपतितेषु[११२४] पृथक्त्वाविशेषेपि वासनाविशेषसद्भावादिति मतं, तदा सैवैकसंततिः क्वचिदेव[११२५] कुतः सिद्धा[११२६]? प्रत्यभिज्ञानादिति चेत्, तर्हि **एकसंतत्या प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानबलाच्चैकसंततिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयणमेतत्। न च पक्षान्तरे[११२७] समानं,[११२८] स्थितेरनुभवनात्[११२९]।** न ह्येकद्रव्यसिद्धे प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाच्चैकद्रव्यासिद्धिः स्याद्वादिभिरिष्यते, येन[११३०] तत्पक्षेपि परस्पराश्रयणं, भेदज्ञानाद् भेदसिद्धिवदभेदज्ञानात्[११३१] स्थितेरनुभवाभ्युपगमात्[११३२]। **तद्विभ्रमकल्पनायामुत्पादविनाशयोरनाश्वासः,[११३३] तथानुभवनिर्णयानुपलब्धेर्यथा[११३४][११३५] स्वलक्षणं परिगीयते[११३६]।** सोयं प्रतिक्षणमुत्पादविनाशौ सर्वथा स्थितिरहितौ सकृदप्यनिश्चिन्वन्नेव स्थित्यनुभवनिर्णयं विभ्रान्तं कल्पयतीति कथं न निरात्मक[११३७] एव? **तत्रैतस्यात्[११३८] स्वभावाविनिर्भागेपि[११३९][११४०] न सकलनं[११४१] दर्शनक्षणान्तरवत्[११४२]।** न ह्येकस्मिन्दर्शनविषये क्षणे[११४३] विनिर्भागेपि प्रत्यभिज्ञानमस्तीति। **सत्यमेकान्ते[११४४] एवायं दोषः,** सर्वथा नित्ये पौर्वापर्यायोगात् प्रत्यभिज्ञानासंभवात्। **ततः क्षणिकं कालभेदात्[११४५]।** न चायमसिद्धः,[११४६] **दर्शनप्रत्यभिज्ञानसमययोरभेदे[११४७] तदुभयाभावप्रसङ्गात्,** दर्शनसमयस्याभेदे[११४८] तन्निर्णयानुपपत्तेः, प्रत्यभिज्ञानसमयस्याभेदे पूर्वापरपर्यायव्याप्येकद्रव्यप्रत्यवमर्शासंभवात्[११४९]। ततो दर्शनकालोऽवग्रहेहावायधारणात्मकनिर्णयहेतुर्भिन्न एव, प्रत्यभिज्ञानकालश्च पुनस्तद्दर्शनस्मरणसंकलनहेतुरिति[११५०] प्रतिपत्तव्यम्।

५४२. **किं च पक्षद्वयेपि[११५१] ज्ञानासंचारानुषङ्गादनेकान्तसिद्धिः[११५२][११५३]।** न हि नित्यत्वैकान्तपक्षवत् क्षणिकैकान्तपक्षेपि ज्ञानसंचारोस्ति, तस्यानेकान्ते एव प्रतीतेः। **केवलमपोद्धारकल्पनया[११५४] कथंचिज्जात्यन्तरेपि[११५५] वस्तुनि प्रत्यभिज्ञानादिनिबन्धने स्थित्यादयो[११५६] व्यवस्थाप्येरन्,[११५७]** सर्वथा जात्यन्तरे[११५८] तदपोद्धारकल्पनानुपपत्तेः[११५९] स्थित्यादिस्वभावभेदव्यवस्थानाघटनात्, सर्वथा तदजात्यन्तरवत्[११६०]। **न[११६१] च स्वभावभेदोपलम्भेपि[११६२][११६५] नानात्वविरोधसङ्करानवस्थानुषङ्गश्चेतसि[११६३] ग्राह्यग्राहकाकारवत्[११६४]।** न ह्येकस्य वस्तुनः सकृदनेकस्वभावोपलम्भे नानात्वप्रसङ्गः, संविद्वेद्यवेदकाकाराणां[११६६] नानाज्ञानत्वप्रसङ्गात्। तेषामशक्यविवेचनत्वादेकज्ञानत्वे[११६७] स्थिति-जन्मविनाशानामपि क्वचिदेकवस्तुत्वमस्तु,[११६८][११६९] तदविशेषात्। क्वचिदेकत्र[११७०][११७१] रूपरसादीनामप्यशक्यविवेचना-नामेकवस्तुत्वापत्तिर्नानिष्टकारिणी, तेषां[११७२] नानावस्तुनिष्टेः। न चात्माकाशादीनां[११७३] देशाभेदेप्यशक्यविवेचनत्वं, तेषां परैकद्रव्यतादात्म्याभावात्[११७४]। सत्तैकद्रव्यतादात्म्ये पुनरेकवस्तुत्वमिष्टमेव[११७५] स्याद्वादिनाम् "एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्[११७६]" इति वचनात्। ततो[११७७] न वैयधिकरण्यम्। एतेनोभयदोषप्रसङ्गोऽपास्तो,[११७८] वेद्याद्याकारात्मबोधवदुत्पादाद्यात्मवस्तुनो जात्यन्तरत्वात्, अचौरपारदारिकवच्चौरपारदारिकाभ्याम्[११७९]। न[११८०] चैवं विरोधप्रसङ्गः,[११८१] तस्यानुपलम्भसाधना-[११८२]देकत्रैकदा शीतोष्णस्पर्शवत्,[११८३] स्थित्यादिषु चोपलम्भसद्भावादेकवस्तुन्येकदानुपलम्भासिद्धेः संविदि

वेद्याद्याकारवत्। एतेन संशयप्रसङ्गः[११८५] प्रत्युक्तः, स्थित्याद्युपलम्भस्य[११८६] चलनाभावात्। तत[११८७] एव न संकरप्रसङ्गः, [११८८]स्थित्यात्मन्युत्पादविनाशानुपलम्भादुत्पादविनाशयोश्च[११८९] स्थित्यनुपलब्धेः। एकवस्तुनि युगपत्स्थित्याद्युपलम्भात्सङ्कर इति चेन्न, परस्परमसङ्करादुत्पादादीनाम्। तद्वति[११९०] तु सङ्करो वस्तुलक्षणमेव[११९१]। एतेन व्यतिकरप्रसङ्गो व्युदस्तः, स्थित्यादीनां परस्परगमनाभावात् संविदि[११९२] वेद्याद्याकारवत्। तत एव[११९३] नानवस्था, [११९४]स्थित्यात्मनि जन्मविनाशानिष्टेर्जन्मात्मनि स्थितिविनाशानुपगमाद्विनाशे स्थितिजन्मानवकाशात् प्रत्येकं तेषां[११९५] त्रयात्मकत्वानुपगमात्। न चैवमे[११९६]कान्ताभ्युपगमाद[११९७]नेकान्ताभावः, सम्यगेकान्तस्यानेकान्तेन विरोधाभावात्, नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात्[११९८] तथैव[११९९] दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य[१२००] व्यवस्थितेः।

५४३. केन पुनरात्मना[१२०१]ऽनुत्पादविनाशात्मकत्वात्स्थितिमात्रम्[१२०२]? केन चात्मना विनाशोत्पादावेव? कथं च तत् त्रयात्मकमेव वस्तु सिद्धम्? इति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः—

न सामान्या[१२०३]त्मनोदेति न व्येति[१२०४] व्यक्त[१२०५]मन्वयात्।
व्येत्युदेति विशे[१२०६]षात्ते[१२०७] सहै[१२०८]कत्रोदयादि सत्[१२०९]।। ५७।।

५४४. पूर्वोत्तरपरिणामयोः साधारणः स्वभावः सामान्यात्मा द्रव्यात्मा। तेन सर्वं वस्तु नोत्पद्यते न विनश्यति च, [१२१०]व्यक्तमन्वयदर्शनात्। लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन[१२११] व्यभिचार इति चेन्न, व्यक्तमिति विशेषणात्, प्रमाणेन[१२१२] बाध्यमानस्यैकत्वा[१२१३]न्वयस्याव्यक्त[१२१४]त्वात्। न चात्रान्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्। ततोऽन्विता[१२१५]त्मना स्थितिरेव। तथा विनश्यत्युत्पद्यते च सर्वं वस्तु विशेषानुभवात्[१२१६]। भ्रान्तविशेषदर्शनेन शुक्ले शङ्खे पीताद्याकारज्ञानलक्षणेन व्यभिचार[१२१७] इति चेन्न, व्यक्तमिति विशेषणस्यानुवृत्तेः। न हि भ्रान्तं विशेषदर्शनं व्यक्तं येन तदपि पूर्वाकारविनाशा[१२१८]जहद्वृत्तोत्तराकाराविनाभावि स्यात्। न च प्रकृते[१२१९] विशेषदर्शन[१२२०]मव्यक्तं [१२२१]बाधकाभावात्। नित्यैकान्तग्राहि प्रमाणं बाधकमिति चेन्न, तस्य निरस्तत्वात्। न चैवं भिन्न[१२२२]प्रत्ययविषयत्वादुत्पादविनाशमात्रं स्थितिमात्रं च पदार्थान्तर[१२२३]तयावतिष्ठते, तस्य[१२२४] वस्त्वेकदेशत्वा[१२२५]त्त्रयप्रत्ययविषयत्वात् स्थित्यादित्रयस्य समुदितस्य[१२२६] वस्तुत्वव्यवस्थितेः, तस्य[१२२७] प्रमाणप्रत्ययगोचरत्वात्, सहैकत्रोदयादिसदिति प्रतिपादनात्[१२२८], तथैव "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (त० सू० ५/३०) इति सूत्रकारवचनात्। न चेदं युक्तिरहितं, तथा युक्तिसद्भावात्[१२२९], **चलाचलात्मकं वस्तु कृतकाकृतकात्मकत्वादिति**। न चात्र हेतुरसिद्धः, पूर्वरूपत्यागाविनाभाविपररूपोत्पाद[१२३०]स्यापेक्षितपरव्यापार[१२३१]त्वेन कृतकत्वसिद्धेः, सदा स्थास्नुस्वभावस्या[१२३२]नपेक्षितपरव्यापारत्वेनाकृतकत्वनिश्चयात्। **न[१२३३] हि चेतनस्यान्यस्य[१२३४] वा सर्वथोत्पत्तिः[१२३५], सदादिसामान्यस्वभावेन सत एवातिशया[१२३६]न्तरोपलम्भात्, घटवत्[१२३७]। कथंचिदुत्पादविगमात्मकत्वा[१२३८]दित्या[१२३९]दि योज्यम्**। नापि विनाश एव, तत एव, तद्वत्। न च स्थितिरेव, विशेषाकारेणोत्पादविनाशवद् एव सदादिसामान्येन स्थित्युपलम्भाद् द्रव्यघटवत्। इति हि पृथगुपपत्ति[१२४०]र्योज्यते। सदादिसामान्येन सतस्तन्त्वादेर्घटाकारातिशयान्तरोपलम्भप्रसङ्ग इति चेन्न, स्वभाव[१२४१]ग्रहणात्। सदादिसामान्यं हि यत्स्वभावभूतं घटस्योपादानद्रव्यमसाधारणं तद्भावेन[१२४२] परिणमदुपलभ्यते। तनैव[१२४३] सतोतिशया[१२४४]न्तराधानं[१२४५] घटो[१२४६] यथा प्रतिविशिष्टघटयोग्यमृद्द्रव्यादिस्वरूपेण[१२४७], न पुनः साधारणेन[१२४८] तन्त्वादिगतसदादिसामान्येन[१२४९]। नापि

साधारणा[१२५०]साधारणेन पार्थिवत्वादिसामान्येनाविशिष्टघटोपादानमृदादिसामान्येन वा प्राक्सतोतिशयान्तरो[१२४९]पलब्धिर्येन तन्त्वादेरपि घटपरिणतिप्रसङ्गः। नापि घटविनाशोत्तरकालमप्यसाधारणमृदादिसामान्यस्वभावेन [१२५२]सत्त्वाविशेषाद्घटोत्पत्तिः[१२५३] प्रसज्यते, तत्[१२५४]प्रागभावात्मकस्य सतस्[१२५५]तद्भा[१२५६]वेनोत्पत्तिदर्शनात्, पश्चा[१२५७]दभावा[१२५८]त्मकस्य सतो[१२५९]पि तददर्शनात्[१२६०]। न चैवं प्रागसत एवोत्पत्तिनियमाद् घटस्य कथंचित्प्रागसत्त्वमयुक्तं, प्रागभावस्य भावस्वभावस्य पूर्वं व्यवस्थापनात्। तस्याभावस्वभावत्वे सव्येतरगोविषाणादीनां सहोत्पत्तिनिय[१२६१]मवतामुपादानसंङ्करप्रसङ्गः[१२६२], प्राग[१२६३]भावाविशेषात्। ततो यथा स्वोपादानात्सव्यविषाणस्योत्पत्तिस्तथा दक्षिणविषाणोपादानादपि तत्र तस्योत्पत्तेः[१२६४] प्रागभावसिद्धेः, यत्र यदा[१२६५] यस्य[१२६६] प्रागभावस्तत्र तदा तस्योत्पत्तिरिति[१२६७] नियमकल्पनाया अपि तत्र भावात्[१२६८]। स्वोपादाने[१२६९]तरनियमश्च[१२७०] कुतः स्यात्? प्रागभावनियमादिति चेत्समानसमयजन्[१२७१]मनां स एव[१२७२] कुतः? तदुत्पत्तिनियमादिति चेत् सोपि कुतः? स्वोपादाननियमादिति चेत् स्वोपादानेतरनियमः कुतः स्यात्? इत्यादि पुनरावर्तते इति चक्रकम्[१२७३]। सव्य[१२७४]विषाणस्योत्पत्तिरिति प्रत्यय[१२७५]विशेषादुत्पत्तिनियमोपि न श्रेयान्, कारकपक्ष[१२७६]स्य विचारयितुमारब्धत्वात्। ज्ञापकपक्षे तु प्रागभावनियमोपि[१२७७] तत्प्रत्यय[१२७८]विशेषादेवेति नोत्पत्त्या प्रागभावावगतिः, [१२७९]प्रागभावादप्युत्पत्तिनियमनिश्चयप्रसक्तेरितरेतराश्रयस्य दुर्निवारत्वात्। ततो[१२८०] नोत्पत्तेः प्रागभावः कार्यस्याभावात्मकस्य भावस्वभावस्यैवाबाधितप्रतीतिविषयत्वात् प्रागभा[१२८१]वाभावस्य कार्योत्पादरूपत्वात्। तथा हि—

कार्योत्पादः[१२८२] क्षयो हेतो[१२८३]र्नियमा[१२८४]ल्लक्ष[१२८५]णात्पृथक्।
न तौ जात्या[१२८६]द्यवस्थाना[१२८७]दनपेक्षाः खपुष्पवत्।। ५८।।

५४५. उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव हेतोर्नियमात्[१२८८]। यस्तु ततोऽन्यस्[१२८९]तस्य न हेतोर्नियमो दृष्टो यथाऽनुपादान[१२९०]क्षयस्यानुपादेयोत्पादस्य च। नियमश्च हेतोरु[१२९१]पादानक्षयस्योपादेयोत्पादस्य च। तस्मादुपा[१२९२]दानक्षय एवोपादेयोत्पादः। न तावदत्रासिद्धो हेतुः, कार्यकारणजन्मविनाशयोरेकहेतुकत्वनियमस्य सुप्रतीतत्वात्, तयोरन्य[१२९३]तरस्यैव सहेतुकत्वाहेतुकत्वनियमवचनस्य निरस्तत्वात्।

५४६. ननू[१२९४]पादानघटविनाशस्य बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविभागात्संयोग-विनाशादेव[१२९५] प्रतीतेरुपादेयकपालोत्पादस्य तु स्वारम्भका[१२९६]वयवकर्मसंयोगविशेषादेरेव संप्रत्ययात् तयोरेकस्माद्धेतोर्नियमासंभवादसिद्धमेव साधनमिति चेन्न, अस्य[१२९७] विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीति-कत्वाद्बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गरादिव्यापारादेव घटविनाशकपालोत्पादयोरवलोकनात्। ततो घटावयवेषु कपालेषु क्रियैवोत्पद्यते इति चेत्सै[१२९८]वैको हेतुस्तयोरस्तु[१२९९]। क्रियातोवयवविभागस्यैवोत्पत्तिरिति चेत्स[१३००] एवैकं कारणमनयोरस्तु। विभागात्तदवयवसंयोगविनाश एव दृश्यते इति चेत् स एव तयोरेकं निमित्तमस्तु। तदवयवसंयोगविनाशादवयविनो घटस्य इति चेत्स एव कपालानां तदवयवानां प्रादुर्भावः। इति कथं नैक[१३०१]हेतुनियमः सिध्येत्? म[१३०२]हास्कन्धावयवसंयोगविनाशादपि ल[१३०३]घुस्कन्धोत्पत्तिदर्शनात् "भेदसं[१३०४]घातेभ्य उत्पद्यन्ते" (त०सू० ५.२६) इति वचनात्[१३०५]।

५४७. मिथ्यैवेदं दर्शनं सूत्रकारवचनं च बाधकसद्भावादिति चेत्किं तद्बाधकं? स्व[१३०६]परिमाणा-दणुपरिमाणकारणारब्धानि कपालानि कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानं बाधकमिति चेन्न, एतदुदाहरणस्य

साध्यविकलत्वात्। [१३०७]तन्तवो हि किमपटाकारपरिणताः पटस्य समवायिनः पटाकारपरिणता वा? न तावदाद्यः पक्षः, पटाकारापरिणतेषु तन्तुष्विह पट इति प्रत्ययासंभवात्। द्वितीयपक्षे तु न पटपरिमाणादणुपरिमाणास्तन्तवः पटस्य कारणं, तेषां पटसमानपरिमाणतया प्रतीतेः, समुदितानामेवातान[१३०८]वितानाकाराणां पटपरि[१३०९]णामाश्रयत्वादन्यथाति[१३१०]प्रसङ्गात्। न हि तथाऽपरिण[१३११]ततस्तद्भवति "तद्भा[१३१२]वः परिणामः" (त०सू० ५.४२) इति वचना[१३१३]त्। न चैवं परिणामपरिणामिनोरभेदः स्यात्, प्रत्यय[१३१४]भेदात्कथंचिद्भेदसिद्धेः, परस्या[१३१५]पि तद्भेदे विवादाभावात्, तन्तुद्रव्यपटपर्याययोरन्वयव्यतिरे[१३१६]कप्रत्ययविषयत्वाच्च। [१३१७]तन्तुद्रव्यं हि प्राच्यापटाकारपरित्यागेन तन्तुत्वापरित्यागेन चापूर्वपटाकारतया परिणमदुपलभ्यते, पटाकारस्तु पूर्वाकाराद् व्यतिरिक्त इति सिद्धम्, [१३१८]सर्वथा त्यक्तरूपस्यापूर्वरू[१३१९]पवर्तिन एवोपादानत्वायोगादपरित्यक्तात्मपूर्वरू[१३२०]पवर्तिवत् [१३२१]तथाऽप्रतीतेर्द्रव्य[१३२२]भाव-प्रत्यासत्तिनिबन्धनत्वादुपादानोपादेयभावस्य। भावप्रत्यासत्तिमात्रा[१३२३]त्तद्भावे समानाकाराणाम[१३२४]खिलार्थानां तत्प्र[१३२५]सङ्गात्। कालप्रत्यासत्तेस्तद्भा[१३२६]वे पूर्वोत्तरसमनन्तरक्षणवर्तिनामशेषार्थानां तत्प्रसक्तेः, देशप्रत्यासत्तेस्तद्भावे समानदेशा[१३२७]नाम-शेषतस्तद्भावापत्तेः, सद्द्रव्यत्वादिसाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तेरपि तद्भावानियमात्। असाधार[१३२८]णद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाका[१३२९]रभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परि[१३३०]णामं प्रति निश्चीयते। तदुक्तम्—

त्यक्तात्य[१३३१]क्तात्म[१३३२]रूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्।। १।।
यत् स्व[१३३३]रूपं त्यज[१३३४]त्येव यन्न त्यजति सर्वथा[१३३५]।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शा[१३३६]श्वतं यथा।। २।। इति।

ततो न तन्तुविशेषाका[१३३७]रः पटस्योपादानं येनाल्पपरिमा[१३३८]णादेव कारणान्महापरिमाणस्य पटस्योत्पत्तेरुदा[१३३९]हरणं साध्यशून्यं न भवेत्। [१३४०]हेतुश्चानैकान्तिकः, प्रशिथिलावयवमहापरिमाणकार्पासपिण्डादल्पपरिमाणनिबिडाव-यवकार्पासपिण्डोत्पत्तिदर्शनात्। विरुद्धश्चायं हेतुः, पुद्गलादिद्रव्यस्य महापरिमाणस्य यथासंभवं सूक्ष्मरूपेण स्थूलरूपेण वा पर्यायेण वर्तमानस्य स्वकार्यारम्भ[१३४१]कत्वदर्शनात्, कार्यत्व[१३४२]स्य महापरिमाणकारणारब्धत्वेन व्याप्तिसिद्धेः, स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वविपरीतसा[१३४३]धनात्। ततो नेदमनुमानं बाधकं कपालोत्पादस्य घटविनाशस्य चैकहे[१३४६]तुत्वनियमप्रतीतेरेकस्मादेव मृदाद्युपादानात्तद्भाव[१३४५]स्य सिद्धेरेकस्माच्च मुद्गरादिसहकारिकलापात्तत्संप्र[१३४६]त्ययात्। इति सिध्यत्येव हेतोर्नियमा[१३४७]त्कार्योत्पाद एव पूर्वाका[१३४८]रविनाशः।

५४८. न चैवं सर्वथोत्पादविनाशयोरभेद एव, लक्षणा[१३४९]त्पृथक्त्वसिद्धेः। तथा हि—**कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ [१३५०]कथंचिद्भिन्नौ भिन्नलक्षणसंबन्धित्वात् सुखदुःखवत्**। नात्रासिद्धं साधनं, कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभ[१३५१]लक्षणत्वात् कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युतिलक्षणत्वात्तयोर्भिन्नलक्षणसंबन्धित्वसिद्धेः। [१३५२]नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, क्वचिदेकद्रव्येपि परि[१३५३]णामयोः कथंचिद्भेदमन्तरेण भिन्न[१३५४]लक्षणसंबन्धित्वस्यासंभवात्। न च तयोर्भेद एव[१३५५], कथंचिदभेद[१३५६]ग्राहकप्रमाणसद्भावात्। तथा हि—**उत्पादविनाशौ प्रकृतौ स्यादभिन्नौ, [१३५७]तदभेदस्थितजातिसंख्याद्यात्मक[१३५८]त्वात्पुरुषवत्**। नात्रासिद्धो हेतुः, मृदादिद्रव्यव्यतिरेकेण नाशोत्पादयोरभावात्। पर्यायापेक्षया नाशोत्पादौ भिन्नलक्षणसंबन्धिनौ न तौ, [१३५९]जात्याद्यवस्थानात्, सद्द्रव्यपृथिवीत्वादि[१३६०]जात्यात्म-नैकत्वसंख्यात्मना [१३६१]शक्तिविशेषान्वयात्मना च तदभेदात् तथैव प्रत्यभिज्ञानात्, तदेव मृद्द्रव्यमसाधारणं

घटाकारतया नष्टं कपालाकारतयोत्पन्नमिति प्रतीतेः सकलबाधकरहितत्वात्, य एवाहं सुख्यासं स एव च दुःखी सम्प्रतीत्येकपुरुषप्रतीतिवत्।

५४९. नन्वेवमुत्पादव्ययध्रौव्याणामभेदात् कथं त्रयात्मकवस्तुसिद्धिः ? तत्सिद्धौ वा कथं तत्तादात्म्यम्[१३६२] ? विरोधादिति चेन्न, सर्वथा तत्तादात्म्यासिद्धेः कथंचिल्लक्षणभेदात्। तथा हि—**उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं स्याद्भिन्नमस्खलन्नानाप्रतीतेः रूपादिवत्[१३६३]।** सर्वस्य[१३६४] वस्तुनोऽनित्यत्वसिद्धेरुत्पादविनाशप्रतीतेरस्खलत्वविशेषणमसिद्धमिति चेन्न, कथंचित्क्षणिकत्वसाधनात्। तत एव ध्रौव्यप्रतीतेरस्खलत्वं सिद्धं, सर्वथा क्षणिकत्वनिराकरणात्। न चोत्पादादीनां कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वं विरुद्धं, तदात्मनो[१३६५] वस्तुनो जात्यन्तरत्वेन कथंचिद्[१३६६] भिन्नलक्षणत्वात्, अन्यथा तदवस्तुत्वप्रसङ्गात्[१३६७]। उत्पादादयो हि परस्परमनपेक्षाः खपुष्पवन्न सन्त्येव। तथा हि—**उत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वात्, वियत्कुसुमवत्। तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ।** स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादरहितत्वात् तद्वत्। विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहित्वात् तद्वदेव। इति योजनात् सामर्थ्यादुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति[१३६८] प्रकाशितं भवति, तदन्यतमापाये[१३६९] सत्त्वानुपपत्तेः[१३७०]। प्रत्येकमुत्पादादीनां[१३७१] सत्त्वे[१३७२] त्रयात्मकत्वप्रसङ्गादनवस्थेत्यपि[१३७३] दूरीकृतमनेन[१३७४], तेषां परस्परमनपेक्षाणामेकंशः[१३७५] सत्त्वनिराकरणात्।

किं च—

घटमौलिसुवर्णार्थी[१३७६] नाशोत्पादस्थितिष्वयम्[१३७७]।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं[१३७८] जनो याति सहेतुकम्।। ५९ ।।

५५०. **प्रतीतिभेदमित्थं समर्थयते, सकललौकिकजनस्याचार्यः[१३७९]।** स हि **घटं भङ्क्त्वा मौलिनिर्वर्तने घटमौलिसुवर्णार्थी तन्नाशोत्पादस्थितिषु विषादहर्षौदासीन्यस्थितिमयं जनः प्रतिपद्यते इति,** घटार्थिनः[१३८०] शोकस्य घटनाशनिबन्धनत्वात्, मौल्यर्थिनः प्रमोदस्य मौल्युत्पादनिमित्तत्वात्, सुवर्णार्थिनो माध्यस्थ्यस्य सुवर्णस्थितिहेतुकत्वात्, तद्विषादादीनां[१३८१] **निर्हेतुकत्वे तदनुपपत्तेः[१३८२]**, पूर्वतद्वासनामात्रनिमित्तत्वेपि[१३८३] तन्नियमासंभवात्[१३८४]। तद्वासनायाः[१३८५] प्रबोधकप्रत्ययनियमान्नियतत्वाद्विषादादिनियम[१३८६] इति चेत्, तर्हि[१३८७] नाशोत्पादान्वया[१३८८] एव वासनाप्रबोधकप्रत्यया इति पारम्पर्यात्त एव शोकादिहेतवो बहिरङ्गाः। अन्तरङ्गास्तु मोहनीयप्रकृतिविशेषोदया इति, तेषां वासनेति नाममात्रं भिद्येत, नार्थः, स्याद्वादिभिर्भावमोहाविशेषाणां वासनास्वभावतोपगमात्। ततः सिद्धं लौकिकानामुत्पादादित्रयात्मकं वस्तु, तत्प्रतीतिभेदसिद्धेः[१३८९] [१३९०]।

किं च—

पयोव्रतो[१३९१] न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो[१३९२] नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्।। ६० ।।

५५१. **लोकोत्तरदृष्टान्तेनापि तत्र प्रतीतिनानात्वं विनाशोत्पादस्थितिसाधनं प्रत्याययति, दधिपयो[१३९३]गोरसव्रतानां[१३९४] क्षीरदध्युभयवर्जनात्[१३९५] क्षीरात्मना नश्यद्दध्यात्मनोत्पद्यमानं गोरसस्वभावेन तिष्ठतीति,** पय एव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमभ्युपगच्छतो दध्युत्पादेपि पयसः सत्त्वे[१३९६] दधिवर्जनानुपपत्तेः[१३९७], दध्येव मयाद्य

भोक्तव्यमिति व्रतं स्वीकुर्वतः पयस्यपि दध्नः[१३९८] सत्त्वे पयोवर्जनायोगात्[१३९९], अगोरसं मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमङ्गीकुर्वतोनुस्यूतप्रत्ययविषयगोरसे दधिपयसोरभावे[१४००] तदुभवर्जनाघटनात्। प्रतीयते च तत्तद्व्रतस्य तत्तद्वर्जनम्। **ततस्तत्त्वं त्रयात्मकम्।** न चैवमनन्तात्मकत्वं[१४०१] वस्तुनो विरुध्यते, प्रत्येकमुत्पादादीनामनन्तेभ्य[१४०२] उत्पद्यमानविश्यत्तिष्ठद्भ्यः कालत्रयापेक्षेभ्योर्थेभ्यो भिद्यमानानां[१४०३] विवक्षितवस्तुनि तत्त्वतोनन्तभेदोपपत्तेः, पररूपव्यावृत्तीनामपि[१४०५] वस्तुस्वभावत्वसाधनात्[१४०६], तदवस्तुस्वभावत्वे सकलार्थसाङ्कर्यप्रसङ्गात्। तथा तत्त्वस्य[१४०७] त्रयात्मकतत्त्वस्य त्रयात्मकत्वसाधनेनेनन्तात्मकत्वसाधने च नित्यानित्योभयात्मकत्वसाधनमपि[१४०८] प्रकृतं न विरुध्यते, स्थित्यात्मकत्वव्यवस्थापनेन कथंचिन्नित्यत्वस्य विनाशोत्पादात्मकत्वप्रतिष्ठापनेन चानित्यत्वस्य साधनात्[१४०९]। ततः सूक्तं सर्वं वस्तु स्यान्नित्यमेव, स्यादनित्यमेवेति। एवं स्यादुभयमेव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यान्नित्यावक्तव्यमेव, स्यादनित्यावक्तव्यमेव, स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यपि योजनीयम्। यथायोगमेतत्सप्तभङ्गीव्यवस्थापनप्रक्रियामपि योजयेन्नयप्रमाणापेक्षया सदाद्येकत्वादिसप्तभङ्गीप्रक्रियावत्।

नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्था-[१४१०]
दुद्धर्तुं नेतुमुच्चैः पदममलमलं मङ्गलानामलङ्घ्यम्।[१४११]
स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचः स्वामिनोऽदः
प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताशेषमिथ्याप्रवादम्।। २ ।।[१४१२]

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ तृतीयः परिच्छेदः ।। ३ ।।

तृतीयपरिच्छेदटिप्पणानि

१. अतः सांख्यमतनिर्घाटनम्। २. साङ्ख्याभिमते। ३. कार्योत्पत्तेः। ४. कारणलक्षणम्। ५. कार्यलक्षणम्। ६. श्लोकेन। ७. एकरूपतया यः कालत्रयीव्यापी स कूटस्थः। अथवा कूटवन्निर्विकारो यः स्थितः स कूटस्थ उच्यते। ८. अन्यथेति शेषः। ९. सुखाद्यनुभवस्य कार्यस्योत्पत्तेः प्रागेव कूटस्थ आत्मा भोगस्य कारकः स्यादिति संबन्धः। प्रागेवेति शब्दस्य पञ्चम्यन्तेन सहं व्याख्यानमुत्पत्स्यमानकार्यापेक्षया। तदुत्पत्ताविति सप्तम्यन्तेन पदेन तु उत्पद्यमानकार्यापेक्षया संबन्धः। १०. हे साङ्ख्य ! यदि कारकाभावो न तदा तत्सद्भावः। इति सति। ११. इत्युक्ते कारकसद्भाव एव न तु कारकाभावः कूटस्थे इति दूषणं दत्तं साङ्ख्यमते। १२. यदि। १३. कार्योत्पत्तेः। १४. कूटस्थे आत्मनि। १५. सुखाद्यनुभवलक्षणा। १६. प्रागिवोत्पत्तावपि कारकाभावस्याविशिष्टत्वात्। १७. साङ्ख्यः १८. किं च। १९. उत्पत्तिलक्षणाया ज्ञप्तिलक्षणायाश्चेत्यर्थः। २०. साङ्ख्यस्य। २१. अवस्तुत्वापत्तावप्यात्मसिद्धिश्चेत्तर्हि। २२. साङ्ख्यः। २३. स्वपदेन चेतना। २४. प्रधानं हेतुर्यस्यास्तत्त्वात्। २५. पुंसः। २६. चेतना अनित्या भविष्यतीत्याशङ्कायामाह साङ्ख्यः। २७. प्रधानात्मकत्वकार्योत्पत्तावात्मा साक्षित्वेन वर्तते इति भावः। २८. चेतनायाः। २९. चेतनाया अङ्गीक्रियमाणे। ३०. ननु च नित्यायाश्चेतनायाः कथमर्थक्रियाकारित्वं न विरुध्यते इत्याशङ्क्याह। ३१. साङ्ख्यस्य। ३२. चेतयते इति चेतना धात्वर्थरूपा। ३३. यथा नित्यायाः सत्ताया अर्थक्रियात्वं न विरुध्यते। ३४. नन्वर्थक्रिया चेतना तत्स्वभावो जीवस्तस्यार्थक्रियास्वभावस्य कथं वस्तुत्वम् ? अर्थक्रियाकारणस्यैव वस्तुत्वादित्याशङ्क्याह। ३५. अन्यथेति शेषः।

३६. अर्थक्रियान्तरकारित्वाभावेपि। ३७. पुरुषस्य। ३८. आत्मनः। ३९. चेतनारूपायाः। ४०. नित्यचेतना एवार्थक्रिया ताम्। ४१. नित्यचेतनार्थक्रियाप्रकारेण। ४२. तद् बुद्ध्या स्वसंवेदनेनाहं सुखी दुःखी वेत्यादेरेवानित्यतया परिच्छेदात्र तु नित्यार्थक्रियायाः। ४३. शब्दादेर्विषयो घटादिस्तस्य। ४४. इति बुद्धिकल्पनावैयर्थ्यम्। ४५. चेतना। ४६. चेतनायाः। ४७. पुरुषस्वरूपत्वात्। ४८. चैतन्यम्। ४९. उपादानं ग्रहणम्। ५०. आत्मनि। ५१. घटपटादौ। ५२. कारकहेतोर्ज्ञापकहेतोश्च। ५३. प्रधानादेः। ५४. 'व्यापारस्तत्र' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५५. चेतनाया अर्थोत्पत्तिरूपक्रियात्वेनोपगमे, चेतनायाः कारकहेतुसहकारिहेत्वाद्युपगमे वा। ५६. पुरुषस्य। ५७. चेतनायाः पूर्वमुत्पत्तिक्रियात्वं निषिध्य ज्ञप्तिक्रियात्वं निषिध्यते। ५८. पुंसः कूटस्थस्य। ५९. एवं सतीति शेषः। ६०. पूर्वाकारस्य त्यागे उत्तराकारपरिणमनमेव परिणामः। परिणामसिद्धौ चानित्यत्वं सुतरां सिध्यति। ६१. पर्यायादय एते स्वभावस्य नामान्तरणि, न तु भिन्नरूपस्य। ६२. परिणामस्वभावयोर्भेदं कथयन्नाह साङ्ख्यः। ६३. वस्तुनः।

६४. सुखादेः। ६५. प्रधानादावपि सत्त्वप्रमेयत्वादेर्धर्मसामान्यस्य विद्यमानत्वात्। ६६. स्वभावपर्यायत्वासत्त्वमेवेत्यर्थः। ६७. (सततावस्थितः स्वभावः)। ६८. वादिप्रतिवादिषु स्थितिं नेयर्ति। ६९. खरविषाणादेरपि प्रतिष्ठाप्रसङ्गात्। ७०. ननु च स्वभावपर्याययोरैक्येपि पुरुषस्य न कौटस्थ्यहानिः, परिणामस्याविर्भावतिरोभावरूपत्वेन नाशोत्पादासंभवादित्युक्ते जैनः प्राह। ७१. नाशोत्पादाभावे। ७२. खरविषाणवत्। ७३. तत्, तस्मात्। मिथ्याबुद्धिरबुद्धिः स्यात्। ७४. निदर्शनं। ७५. दृष्टान्ते। ७६. बौद्धाभिमतस्य क्षणिकस्य चेतसो विज्ञानाद्वैतस्यात्मनः। ७७. वक्ष्यमाणकारिकया आत्मतत्त्वस्य नित्यत्वनिराकरणेन। ७८. प्रधानम्। ७९. महदादेः। ८०. नित्यात्प्रधानादभिन्नस्य महदादेः। ८१. नित्यादात्मनोऽभिन्नस्य। ८२. (यदि चेत्यध्याहार्यम्)।

८३. प्रकटम्। ८४. महदादि। ८५. यथेन्द्रियैः स्वार्थो व्यक्तो भवति। ८६. सांख्यमते ते च प्रमाणकारके नित्ये चेत्तर्हि। ८७. प्रमाणकारकव्यापारविरोधो न भवति तैर्व्यक्तेरभिव्यक्तिविधानादित्यशङ्कायामाहुः। ८८. हे साङ्ख्य। ८९. सांख्येन। ९०. अत्र चाभिव्यक्तेर्नित्यत्वेन पूर्वमनभिव्यक्तस्याभावाद् व्यञ्जकव्यापारायोगात्। ९१. सांख्यस्य। ९२. अभिव्यक्तिस्वरूपाद्यभावादिति भावः। ९३. विरुद्धम्। ९४. द्रव्यपर्यायापेक्षया। ९५. 'भावोपपादनेन' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९६. पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिप्रकारेण। ९७. साङ्ख्यै। ९८. प्रमाणकारकयोः।

९९. व्यक्त्यर्थं व्यक्तिनिमित्तमित्यर्थः। १००. वयं जैनाः। १०१. हे सांख्य, विषयविशेषस्य यो ज्ञानादिस्तस्य कथंचिदपूर्वोत्पत्तावङ्गीक्रियमाणायां तु। १०२. बहिः, सांख्यादिमते। १०३. तस्य अपूर्वस्याभावे। १०४. व्यञ्जयितुं योग्यम्। १०५. हे जैन। १०६. नित्यत्वपक्षे। १०७. कार्यं महादादि, कारणं प्रधानम्। १०८. इति सांख्यवचनम्। १०९. विकल्पद्वयमध्ये। ११०. कारणस्य पर्यायरूपतया कल्पना।

१११. अन्यथेति शेषः। तच्चैतन्यं स्वरूपमस्य स तत्स्वरूपः पुमान्। ११२. यतो न चैतन्यं कार्यं ततो न महदादेरपि कार्यत्वमिति संबन्धः। ११३. चैतन्यवत्। ११४. अन्यथेति शेषः। ११५. असदकारणादित्यादीनामाविर्भावतिरोभावार्थं परैरन्तरं वक्ष्यमाणानां हेतूनां विरोधादित्यर्थः। ११६. मृत्पिण्डे वर्तमानतयाऽसत्यपि घटे उपादानतया मृदः स्वीकारात्। ११७. कार्यस्य। ११८. अङ्गीक्रियमाणे। ११९. सांख्यस्य। १२०. सत्त्वासत्त्वव्यतिरिक्तिम्। १२१. परः। यतः सर्वथा सतोऽसतश्च कार्यत्वं नास्ति ततः श्लोकस्यापरार्द्धं व्याख्याति। १२२. वस्तु, प्रधानम्। १२३. एकान्तस्य। १२४. प्रधानम्। १२५. व्यक्तिर्महदादिस्तस्मात्। अपैति तिरोभवति। १२६. महदादिरूपेण प्रधानस्य नित्यत्वप्रतिषेधात्। १२७. त्रैलोक्यं, प्रधानमपेतमपि सत्, अस्ति। १२८. सर्वथा नित्यानपेक्षम्। १२९. सदेवासदेव वा उत्पद्यते विवर्त एवेत्येकान्तत्रयं नास्ति (यतः)। एवमग्रे वक्ष्यमाणप्रकारेण च। १३०. शुभाशुभरूपम्। १३१. प्रधानस्य। १३२. शुभाशुभपरिणामाभावे। पुण्यकारणाभावे पुण्यं न स्यात्, पापकारणाभावे पापं न स्यादित्यर्थः। १३३. कारणाभावे कार्यानुदयात्। १३४. पुण्यपापाद्यभावात्। १३५. एकांतवादिनाम्।

१३६. अष्टमकारिकायाम्। १३७. बौद्धम्। १३८. समन्तभद्राः। १३९. (पूर्वस्मरणवर्तमानानुभूत्योः संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा)। १४०. कार्यादिव्यापारः। १४१. ज्ञानस्य। १४२. आत्मनः। १४३. हे सौगत, यदि सन्तानः कार्यमारभते तर्हि संतानस्यावस्तुत्वकथनं यत्तद् विरुध्यते इत्यर्थः। १४४. ननु च कार्यारम्भकत्वाभावे फलं भविष्यतीति बौद्धेनाशङ्किते आह। १४५. इति हेतोः। १४६. उच्छेदैकान्तः, शून्यतैकान्तः। १४७. ध्रौव्यैकान्तो नित्यत्वैकान्तः। १४८. सौगतस्य। १४९. नाशसन्ततिपतितानां चित्तक्षणानां पूर्वं विज्ञानं वासना। १५०. प्रत्यभिज्ञानात्। १५१. तस्य सुखस्य साधनाय। १५२. इति बौद्धोक्तं न सत्। १५३. भिन्नः कालो येषां ते भिन्नकालाः ते च ते क्षणाश्च तेषाम्। क्षणा ज्ञानक्षणाः। १५४. येषां कार्यकारणसंबन्धो नास्ति तादृशानां घटपटादिक्षणानां भिन्नकालत्वेनासंभवद्वासनत्वं बौद्धैर्मन्यते यथा। १५५. पूर्वचित्तक्षणमुत्तरचित्तक्षणस्य कारणं यतः। १५६. सर्वेषां ज्ञानक्षणानां। १५७. क्षणिकस्वरूपं पूर्वं चित्तं विनष्टं सन्न कारणम्। १५८. (यथा चिरतरातीतं चित्तं न कारणमुत्तरस्य चित्तस्य तथा समनन्तरमपि, असत्त्वेनोभयोरविशेषादित्यर्थः)। १५९. पूर्वस्याभावे। १६०. उत्तरक्षणस्य। १६१. देवदत्तयज्ञदत्तचित्तक्षणवत्। १६२. यथा अतिक्रान्ततमा (चिरतरातीता इत्यर्थः) ज्ञानक्षणा न कारणम्। १६३. (अपि तु न स्यादेव)। १६४. (तस्य पूर्वस्य)।

१६५. पूर्वस्मिन् चित्ते। १६६. 'युक्तम्' मुद्रितप्रतौ नास्ति। १६७. समर्थे सतीत्यादि पूर्वोक्तं नित्येपि योजनीयम्। नित्यविषयकमग्रे च स्पष्टीकरिष्यते। १६८. सौगताभिप्रायमनूद्य दूषयति जैनः। १६९. चिरतरातीतसमीपवर्तिनोः १७०. अवक्लृप्तिः कल्पना। १७१. सांख्यस्य। १७२. तथा च सत्यर्थक्रियाकारित्वात्कूटस्थमपि वस्तु स्यात्। १७३. कार्यप्रदेशे कारणरूपे सति यथा कार्यमसति च न, तथा। १७४. त्वया बौद्धेन। १७५. कार्यक्षणे। १७६. बौद्धेन। १७७. इति बौद्धेनाशङ्क्यते चेत्तर्हि। १७८. अभावरूपत्वेनाविशिष्टे इत्यर्थः। १७९. उत्तरानन्तररूपे कारणाभावसमये एव न पूर्वानन्तररूपे कारणाभावे नाप्युत्तरोत्तरानन्तरूपे वेति तात्पर्यम्। १८०. नित्यक्षणिकयोः। १८१. उभयपक्षयोः साम्यं यस्मात् तत्, तस्मात्। १८२. नित्यक्षणिकयोः १८३. न तु नित्ये। १८४. कार्यस्य। १८५. यथा सांख्यमते नित्यं कार्यं निर्हेतुकम्। १८६. क्षणिकनित्ययोः पक्षयोः। १८७. अन्वयव्यतिरेकप्रकारेण। १८८. क्षणिके। १८९. क्षणिकस्येदं कार्यमिति। १९०. नित्येपि। १९१. कार्यं प्रत्यनुपयोगिनः। १९२. क्षणिकस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे इत्यादि सर्वं योजनीयम्। १९३. क्षणिकस्यानेकस्वभावत्वं नास्तीति कथं समः पर्यनुयोग इत्यारेकायामाहुर्जैनाः। १९४. चित्रकार्यनिष्पादकत्वात्। १९५. यथा

रूपादिज्ञानानां कार्यभूतानां कारणशक्तिनानात्वं विना न प्रादुर्भावः। १९६. क्षणिकात्। १९७. मुखमग्रम्। १९८. आदिपदेन तमोनिरसनकज्जलमोचनार्थप्रकाशनादीनां ग्रहणम्। १९९. प्रदीपगतशक्तिभेदनिमित्तकानि। २००. शक्तिभेदो नो चेत्तर्हि।

२०१. तथा च किं स्यात्? । २०२. (सांख्येन)। २०३. सांख्यस्य। २०४. पुनराह बौद्धः। २०५. शक्तिमतः शक्तयो भिन्ना अभिन्ना वेति विकल्पद्वये क्रियमाणेपि शक्तयो न घटन्ते यतः। २०६. शक्तिमतः। २०७. शक्तिमत एताः शक्तय इति व्यपदेशस्य। २०८. शक्तिमता। २०९. शक्तिमता शक्तय उपक्रियन्ते वा शक्तिभिः शक्तिमानुपक्रियते इति विकल्पद्वयं कृत्वा निवारयति बौद्धः। २१०. अर्थान्तरशब्दस्य भिन्नोर्थः। २११. शक्तिमतः। २१२. उपकार्यरूपैः शक्तिमत उपकाराकरणात्। २१३. शक्तिमत एतान्युपकार्याणीति। २१४. उपकार्यरूपैः। २१५. शक्तिमतः। २१६. बौद्धमते पदार्था अतद्व्यावृत्तिरूपा एव। न ता अताः। अताभ्यो व्यावृत्तय: अतद्व्यावृत्तयः। ताभ्योऽतद्व्यावृत्तिभ्यः अशक्तिव्यावृत्तिभ्य इत्यर्थः। अशक्तिव्यावृत्ताः शक्तयः। इति व्यावृत्तिरूपाः शक्तिर्विहायान्याः शक्तयो न सन्तीत्यर्थः। २१७. जैना आहुः। २१८. रूपादीनाम्। २१९. अर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोर्व्यपदेशानुपपत्तिरेकत्वं चेति प्रकृतदोषः। २२०. निर्विकल्पके। २२१. अन्यथेति शिष्यते। २२२. अनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानानाम्। २२३. सौगतः। २२४. विपरीतमक्षणिकत्वम्। २२५. जैनः। २२६. नाना वर्तिकादाहादि। २२७. विपरीतसमारोपः शक्त्यभावः। २२८. नानाकार्यकारिणी। २२९. तादृशो रूपरसाद्यनेकज्ञानरूपकार्यजननसमर्थ एकः स्वभावः कश्चित्। २३०. कर्कटिकादेः। २३१. (बौद्धस्तु रूपादीनां भिन्नत्वमभिमन्यते इति तस्यैव मतविरोधस्तद्युक्त्या)। २३२. पुनः सौगतः। २३३. आदिपदेन तैलशोषणतमोनिवारणकज्जलमोचनपदार्थप्रकाशानां ग्रहणम्। २३४. तैलशोषणादि आदिपदेन। २३५. स्यात्। २३६. जैनः।

२३७. न च बौद्धैस्तथा मन्यते, रूपाद्यनेकस्वभावभेदाभिमननात्। २३८. दूरादूरादितया। २३९. विशदाविशदतया। २४०. किन्त्वस्त्येव दर्शनभेदः। २४१. दर्शनयोः। २४२. ततश्च। २४३. पाशारज्जुत्वमेव विवृणोति। २४४. सौगतस्य २४५. स्वभावभेदः, शक्तिभेदः। २४६. प्रदीपक्षणस्य। २४७. किं च दूषणान्तरम्। २४८. क्षणिके। २४९. (तर्हीत्यध्याहारः)। २५०. नित्यस्य। २५१. (यतस्तत्र बौद्धेन दूषणं दीयते। न दातव्यमित्यर्थः)। २५२. नित्ये स्वभावभेदमकुर्वतां सहकारिणां नानाकार्यकारित्वं कथं स्यादित्याशङ्कायामाहुर्जैनाः। २५३. स्वभावभेदम्। २५४. (क्षणिकस्वलक्षणात्) २५५. सहकारिकारणानीति कर्तृपदम्। २५६. नित्यस्यापि नाना कार्याणि क्रमेणोपजनयतः सहकारिकारणानि न कथंचित्यादि विदधतीत्येतत्पर्यन्तं वाक्यमत्र द्रष्टव्यम्। २५७. सहकारिभिरेव कार्यस्य कृत्वात्किं (कृतात्) नित्यपरिकल्पनया? इत्याशङ्कायामाहुः। २५८. सहकारीणि। २५९. विवक्षितम्। २६०. नित्यः। २६१. तस्य विवक्षितकार्यस्य। २६२. नित्यस्यार्थस्यैतानि (सहकारिकारणानि) अत्र कार्ये समर्थानि, मया नित्येन किं कर्त्तव्यमिति यदिदं बुद्धिपूर्वकत्वं तदभावात् परमाण्वादीनामचेतनत्वात्। २६३. सहकारिरूपायाम्। २६४. बीजस्य। २६५. सहकारिण उपादानरूपाश्च। २६६. हे जैन, नित्यात् क्षणिकस्य विशेषोस्तीति बौद्धमतं दर्शयन्नाह जैनः। २६७. तादृशः, कार्यकारिरूपः। २६८. क्षणिकार्थस्य। २६९. नित्यः कार्यकारी न, तादृशस्वहेतुस्वभावादनुत्पन्नत्वात्। २७०. जैन आह—हे सौगत। २७१. उत्तरकार्यजनककारणानां वर्तमानकालीनाम्। २७२. तस्य, कार्यभूतस्य। २७३. तस्य, उत्तरक्षणकार्यस्य। २७४. तत्, तस्मात्। स्वप्रकृतिरवश्यमन्वेषणीया यस्मात्। अयं नित्यः। अकारणोपि, न कारणं विद्यते यस्य स तथा। स्वभावनियतः, कार्यकारणस्वभावनियतः। २७५. बौद्धः। २७६. क्षणादूर्ध्वमस्थानमेव क्षणिकस्य प्रकृतिर्लौकैरन्विष्यते (अवलोक्यते) यतोस्य विनाशशीलत्वात्। २७७. कालान्तरावस्थायिनः कदाचिन्नाशित्वमिति नैयायिककृतलक्षणं नश्वरत्वस्य। २७८. विनाशं प्रति हेतुर्न कश्चिदित्येव दर्शयति बौद्धः। २७९. विनाशभावम्।

२८०. तस्य स्वकार्यस्य। २८१. पदार्थः। २८२. भावो विनाशस्वभावनियतोस्ति, विनाशं प्रति अनपेक्षत्वादित्यत्र। २८३. विनाशम्। २८४. तस्य मुद्गरस्य। २८५. तस्य घटस्य। २८६. घटः। २८७.

विनाशस्य ततो भिन्नत्वात्। २८८. विनाशतद्वतोः। २८९. तस्माद् घटाद्विनाशस्योत्पत्तिरिति। २९०. तं विनाशं प्रति। २९१. तदुभयं, घटमुद्गरौ। २९२. यथा मुद्गरादिर्घटविनाशोत्तरकालमपि दृश्यते। २९३. विनाशकारणत्वाविशेषात्। २९४. घटादेः। २९५. कपाललक्षणम्। २९६. विनाशोत्तरकाले। २९७. हे जैन, इत्यपि न युक्तम्। २९८. कपालमालालक्षणस्य। २९९. कपाललक्षणकार्यमुत्तरक्षणः, तस्य जनको हेतुः समनन्तरो घटलक्षणस्तद्व्यतिरिक्तो हेतुर्मुद्गरादिलक्षणः, तदनपेक्षत्वस्य। ३००. कार्यं कपाललक्षणं तस्य जनको हेतुरुपादानलक्षणो घटः। ३०१. विनाशो भिन्नहेतुक इति वादस्य नैयायिकाभिमतस्य। ३०२. नैयायिक आह। ३०३. बौद्धः प्राह। ३०४. तस्य विशेषणविशेष्यभावस्य। ३०५. तत्र, कार्यकारणभावे। ३०६. तस्य विशेषणविशेष्यभावसंबन्धस्य। ३०७. परस्परसंबन्धकार्यकारणभावव्यतिरेकेण। ३०८. पदार्थयोः। ३०९. मुद्गरादिभिः। ३१०. यौगिकाभिमतम्। ३११. मृत्पिण्डादेः। ३१२. (घटादभिन्नस्येत्यर्थः)। ३१३. क्षणिकोर्थः सर्वो विनाशस्वभावनियतो भवितुमर्हति, नाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादिति साधनम्। ३१४. नित्योर्थः स्थितिस्वभावनियतो भवितुमर्हति, तद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादित्येवम् (जैनानां वचनमिदम्)। ३१५. वस्तु। ३१६. तं प्रति हेतोः, कारणस्येत्यर्थः। ३१७. वस्तुनः स्थितिर्व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वेति विकल्प्य स्थितेर्निर्हेतुकत्वसाधनार्थं वदति बौद्धः।

३१८. (पूर्वोक्तम्)। ३१९. वस्तुनः। ३२१. स्थितितद्वतोः। ३२२. सौगतो वक्ति। ३२३. तस्य, आश्रयाश्रयिभावस्य। ३२४. कुण्डस्यावयवाः कारणमवयवी तु कार्यम्। एवं बदरेपि। एवं कुण्डबदरयोः स्वस्वरूपेण कार्यकारणरूपतया निष्पन्नयोराश्रयाश्रयिभावो यथा तथा प्रकृते नास्ति। २३५. हे यौग। ३२६. स्थितिहेतुना। ३२७. तस्य स्थितिहेतोः। ३२८. स्थितिस्वभावकस्यास्थितिस्वभावकस्य वा वस्तुनः स्थितिः क्रियते इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति। ३२९. खरशृङ्गादेः। ३३०. यतो वस्तुनो व्यतिरिक्ताया अव्यतिरिक्ताया वा स्थितेरकरणम्। ३३१. वक्ष्यमाणप्रकारेण। शब्दविद्युदादौ सान्वयां स्थितिं समर्थयन्नाह बौद्धं प्रति जैनः। ३३२. तव सौगतस्य स्वीकर्तुं युक्तम्। ३३३. आदौ स्थितिमतः। ३३४. उत्पत्तिकारणस्य। ३३५. शब्दविद्युदादीनामुत्पत्तिं प्रति कथंचिदुपादानानुमानं यथा त्वया सौगतेनानुमीयते। ३३६. तेषां शब्दविद्युत्प्रदीपादीनाम्। ३३७. त्वया सौगतेन। ३३८. त्वया सौगतेन। ३३९. तस्य शब्दविद्युदादेः। ३४०. कार्यस्य। ३४१. पूर्वरूपक्षणस्य। ३४२. रसोत्पादे सहकारित्वप्रसङ्गात्। ३४३. अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसान्यथानुपपत्तेरिति उत्तररूपाकरणादुत्तररससमये रूपासत्त्वात्र स्यात्तदनुमानम्। ३४४. सजातीयोत्तरकार्यकरणप्रकारेण। ३४५. रूपानुमानरूपः। ३४६. उपादानशब्दानुमानं कुर्वता सौगतेन। ३४७. काकुः। येन शब्दस्योपादानकारणमदृष्टमप्यनुमीयते इति शेषः। ३४८. (इति चेत्तर्हीत्यर्थः)। ३४९. पूर्वरूपक्षणोपादानात्। ३५०. यथोत्तररूपोत्पत्तिः। ३५१. द्रव्यापेक्षया। ३५२. (अन्यथा स्थितिमत्त्वाभावे)। ३५३. हे योगाचार, यदि तव इति पूर्वोक्ता मतिस्तदा।

३५४. कार्यकारणभावादेः। ३५५. दर्शितस्य। ३५६. दूषणस्य। ३५७. (योगाचारैः)। ३५८. (योगाचारवचः)। ३५९. उत्तरक्षणसंविल्लक्षणं स्वकार्यम्। ३६०. (ततो न सिध्यति संविदद्वैतमित्यर्थः). ३६१. (ततोपि द्वैतप्रसक्तेर्न संविदद्वैतसिद्धिरित्यर्थः)। ३६२. संविदद्वैतस्य भेदभ्रान्तिबाधनमबाधनं वेति विकल्प्य जैनो दूषयति। ३६३. (इति भेदप्रसक्तिः)। ३६४. (भेदभ्रान्त्यबाधने, भेदस्य सत्यत्वप्रत्यायकत्वे सतीत्यर्थः)। ३६५. संविदद्वैतस्य। ३६६. हे सौगत। ३६७. कार्यकारणभावे। ३६८. अकारणकार्यान्तरस्य सन्तानो यथा न स्यात्तद्वत्। यथा पटस्य कारणं मृत्पिण्डो न भवति, मृत्पिण्डस्य कार्यं पटो न भवति। ३६९. यथा संवृतिमात्रेण कारणकार्याकारणकार्यान्तरयोस्तादात्म्यं न। तथा प्रतिक्षणानां परस्परं भेदोस्तीति भावः। ३७०. संवृतिकल्पितानाम्। ३७१. (नैरन्तर्यं संततिः। तत्प्रभृतिर्न कश्चिद्विशेषः)। ३७२. विशेषस्य। ३७३. इतरक्षणेभ्यः सुगतक्षणा जायन्ते इति कार्यकारणभावो नाकारणविषय इति स्वयं कथनात्। मृत्पिण्डेपि पटप्रसक्तिः स्यादिति टिप्पण्यन्तरम्। ३७४. तेषामेकसंतानकार्यकारणक्षणानाम्। ३७५. कार्यकारणयोः। ३७६. ततश्चाव्यभिचारी कार्यकारणभावः स्वभावविशेषो न भवेदिति भावः। ३७७. भेदतादात्म्ययोर्हि विरोधः, अत आह। ३७८. तादात्म्ये कोऽपरितोष इति साध्ये। ३७९. कथंचित्प्रकारेणैव परिहार्यत्वादिति भावः। ३८०. वेद्यवेदकाकारौ न स्त इत्यारेकायामाह। ३८१. अत

एव भेदतादात्म्ययोः कथंचिद्विरोधः। ३८२. सर्वथाप्यपरिहार्यत्वादित्यत्र हेत्वन्तरमाह। कथंचित्, द्रव्यपर्यायापेक्षया। ३८३. तत्, तस्मात्। कार्यकारणक्षणानां संततिर्न स्याद्यतः। ३८४. क्षणक्षयैकान्ते। ३८५. प्रत्यभिज्ञानानुस्मरणाभिलाषादेश्च। ३८६. असंभवत्वस्य भावनम्। ३८७. ज्ञानज्ञेययोः सर्वथा वैलक्षण्ये प्रत्यभिज्ञानादिर्न भवेद्यतः। ३८८. यथा नानासंतानस्य कर्मफलसंबन्धो युक्तिं नावतरति। ३८९. नियतसंतानाभावात्। ३९०. ज्ञानापेक्षया। ३९१. उत्तरचित्तोत्पत्तिकारणभूतप्राक्तनचित्तक्षणाख्यवासनावशात् प्रत्यभिज्ञानादिनियमः। ३९२. सर्वथा भेदे इत्यर्थः। ३९३. असिद्धमित्युक्ते आह जैनः। ३९४. 'कार्यकारणरूपा' मुद्रितप्रतौ पाठः।

३९५. असति कारणे इति पक्षान्तरस्य। ३९६. कारिकोक्तपक्षः। ३९७. तत्, कार्यम्। ३९८. दूषणान्तरमाविर्भावयन्ति। ३९९. बौद्धमते यतोऽसदेव कार्यमुत्पद्यते। ४००. (सतः सर्वदा सत्त्वात्)। ४०१. तर्ह्यसदेव कार्यं स्यादिति को दोषः ? इत्याशङ्क्याहुः। ४०२. शक्तिव्यक्तिरूपे द्रव्यपर्यायरूपेण वा। ४०३. तन्माभूत्। ४०४. दूषणान्तरम्। घटपटादेर्मृत्पिण्डतन्त्वादि उपादानमिति नियमोपि मा भूत्सर्वथा कार्यस्याविद्यमानरूपत्वे। ४०५. कार्योत्पत्तावाश्वासोपि मा भूत। ४०६. क्षणिकपक्षे सर्वथाऽसत् कार्यं नोत्पद्यते सर्वथाऽसत्त्वादित्येतावद्वाक्यमध्याहार्यम्। ४०७. सौगतस्य। ४०८. सर्वथाप्यसत्त्वादित्ययं हेतुः। ४०९. एतदेव भावयति। ४१०. मृत्पिण्डादेः। ४११. कार्यत्वेन परिणमनात्। ४१२. सौगतेन। ४१३. एकवारं न किंतु बहुवारं विरुद्धधर्माध्यासानिराकृतेः। यथा चित्रज्ञाने ज्ञानापेक्षयैकत्वं पीतादिनिर्भासापेक्षयानेकत्वमिति विरुद्धधर्मसाहित्यं बहुवारं समर्थितम्। ४१४. बहुवारं विरुद्धधर्माध्यासानिराकृतौ च। ४१५. (द्वावप्यन्वयव्यतिरेकौ भावस्वभावावेवेत्यर्थः)। ४१६. भावाभावयोः। ४१७. (यद्भावे यत्कार्यं भवति तस्य कारणस्याभावे तस्यैव कार्यस्याभावरूपतया प्रतीतेरित्यर्थः) ४१८. कारणस्य। ४१९. द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं सूचयतः। ४२०. अन्वयो भावस्वभावो, व्यतिरेकोऽभावस्वभावः। ४२१. वस्तुनोस्तित्वस्वभावादन्यो नास्तित्वलक्षणः स्वभावः स्वभावान्तरम्।

४२२. नीरूपस्याभावस्य प्रतिक्षेपेपि स्वभावान्तरस्यैवाभावस्य व्यवहारार्हत्वं कुत इत्युक्ते आह। ४२३. पावकस्याभावः परन्तु तत्प्रदेशस्य सद्भावोस्ति। एवं धूमस्याभावः परन्तु धूमरहितदेशस्य सद्भावः। ४२४. तथापि व्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनिबन्धनत्वं कुतः ? इत्यारेकायामाह। ४२५. यत्र प्रदेशेग्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्ति परन्तु अग्निधूमयोरभावेपि प्रदेशसद्भावोस्तीति भावस्वभावनिबन्धनत्वं व्यतिरेकस्य। ४२६. पर्यायरूपेणापि। ४२७. इति, इत्यनुमानम्। ४२८. कार्यत्वं व्याप्यं, कथंचित्सत्त्वं व्यापकम्। ४२९. सर्वथाप्यसतो कार्यत्वादेव। ४३०. तादृक्कारणवन्न कथंचिदस्ति। तादृक्, असत्कार्यं कारणवन्न भवतीत्यर्थः। ४३१. असत्त्वात्। ४३२. द्रव्यरूपतया। ४३३. 'न भवति' मुद्रितप्रतौ पाठ। ४३४. असत्कार्य यद् द्रव्यरूपतया अस्थितमनुत्पन्नं तत्कार्यरूपतया कथमस्थितमनुत्पन्नं न स्यात् ?। ४३५. द्रव्यरूपतया। ४३६. यथा विनाशोपि सत एव घटते। ४३७. (असत्यकार्यं यतः कारणयुक्तं स्यात्। अपि तु न स्यादित्यर्थः)। ४३८. निरन्वयविनाशकारणस्य। ४३९. निरन्वयविनाशिकारणकस्य। ४४०. हे जैन ! असत्कार्ये उत्पादादित्रयं यदि न घटते तर्हि सत्यपि प्रभवलक्षणे उत्पादादित्रयं कथं सिद्धमित्याशङ्क्याहुर्जैनाः। ४४१. कार्यकारणलक्षणे। ४४२. सदृशस्यापरापरकार्यस्य। वैसादृश्येन सह। ४४३. अनाद्यभेदवासनोद्भूताभेदज्ञानं विप्रलम्भः। ४४४. अभेदकल्पनाम्। भेदस्यानवधारणाम्। ४४५. क्षणानाम्। ४४६. यथा कारणान्तरस्योपादाननियमो न भवति। ४४७. भेदात्। ४४८. पर्यायरूपेणेव द्रव्यरूपेणापि। ४४९. सौगत आह। वैलक्षण्यस्य भेदस्यानवधारणम्। अभेदावधारणमित्यर्थः। ४५०. निबन्धमुपादानकारणम्। ४५१. सदृशस्यापरापरकार्यस्य। ४५२. अनाद्यभेदवासनासमुद्भूतमभेदज्ञानं विप्रलम्भः। ४५३. वैलक्षण्यानवधारणम्। ४५४. फलान्तर्वर्तिनां घुर्घुरान्तर्वर्तिनामित्यर्थः। ४५५. नैरन्तर्येण। ४५६. (तथैवेत्यर्थः)।

४५७. सुगतसौगतानां घटपटादीनां वा। ४५८. वैलक्षण्यानवधारणम्। ४५९. हे सौगत। ४६०. कार्यस्य। ४६१. क्षणानां मध्ये व्यवधायकान्यक्षणाभावेन क्षणानां व्यवधानाभाव इत्यर्थः। ४६२. कारणम्। ४६३. तिलादीनाम्। ४६४. किन्तु अभावेन व्यवधानमेव। अन्तराले अभावो वर्तते तिलेषु परस्परं यतः। ४६५. इति बौद्धेन न वक्तव्यमित्यर्थः। ४६६. देशस्यापि बौद्धमते क्षणिकत्वात्। ४६७. एकसंतानवर्तिनाम्। ४६८. अन्यथेति

शेषः। तस्य, देशस्य। ४६९. (न च नित्यत्वं कस्यचिद्बौद्धमते)। ४७०. (स्वरूपमात्रमेव सर्वस्वलक्षणानां देशो नेतरः कश्चिद्देशार्थः)। अतो दोषो वैलक्षण्यानवधारणलक्षणः। ४७१. स्वरूपलक्षणदेशभेदादेव। ४७२. मृत्पिण्डादिष्वपि। ४७३. न तु सादृश्यमात्रात्। ४७४. तिलेभ्यो मृत्पिण्डादेः। ४७५. वस्तुनि। ४७६. सौगताभिप्रायेण। ४७७. असादृश्याद् व्यावृत्तिः सादृश्यमित्येवम्। ४७८. त्वया सौगतेन। ४७९. सादृश्यविशेषः। ४८०. सदृशेषु। ४८१. वैलक्षण्यानवधारणस्य हेतुरिति सादृश्यविशेषे सति। ४८२. अभेदाध्यवसायो रूपं यस्य (वैलक्षण्यानवधारणस्य) तत्। ४८३. वैलक्षण्यानवधारणात्। ४८४. सादृश्यविशेषवैलक्षण्यानवधारणयोः। ४८५. यमलजातेष्वपि, युगपज्जातेष्वपि। ४८६. स एवायं भवितुमर्हति वैलक्षण्यानवधारणात्। ४८७. एकसंतानोन्वयस्तस्यापि यमलजातादिषु तद्वत्, सादृश्यविशेषानुमानवत् संभवात्। ४८८. निरन्वयभावम्। ४८९. तन्त्वादिभ्यः। ४९०. प्रकृत्या। ४९१. यतो भिन्नसंतानेपि सर्वथा भेदोऽभिन्नसंतानेपि सर्वथा भेदः समानः, अन्वयानङ्गीकारात्। ४९२. तस्याः प्रकृतेः। ४९३. अन्वयाभावात्। ४९४. यस्माद्वस्तुनोऽनुपलम्भः। ४९५. अनन्तरं वक्ष्यमाणा। ४९६ कारणस्य। ४९७. द्रव्यरूपतया। ४९८. ध्रौव्यरूपाम्। ४९९. कारणं कर्तृभूतम्। ५००. उत्पादव्ययध्रौव्यात्मककारणरूपः।

५०१. अधिकरणस्थित्यनङ्गीकारे। निरन्वयेऽङ्गीक्रियमाणे इत्यर्थः। ५०२. तस्य उपादाननियमस्य। ५०३. नित्यवत्। (सर्वथा नित्ये यथोपादानादिनियमो न सिध्यतीत्यर्थः)। ५०४. (यद्येवं बौद्धविचारस्तर्हीत्यध्याहार्यम्)। अधिकरणस्थित्यनङ्गीकारे अस्मादेतद्भविष्यतीत्येवंप्रकार आश्वासः कथम् ?। ५०५. तत्तस्मात्। ५०६. विवक्षितकार्योत्पत्तौ। ५०७. पटकार्यं प्रत्यनुपादाने मृत्पिण्डेपि। ५०८. सौगतो वक्ति, पूर्वक्षणा अपरामृष्टत्वेनोत्तरक्षणानुत्पादयन्तीति तथा लोके दृश्यते। अत्राह स्याद्वादी, एवं सत्यहेतुरनुपादानं सर्वं जातं तदा तन्त्वादिभ्योपि घटादिर्जायताम्। आवयोरत्रैवानुपादाने वा विरोधोस्ति। ५०९. अदर्शने। ५१०. अदर्शनम् । ५११. अनुपादानप्रकारेण तन्नियमकल्पनायामदर्शनं हेतुः स्यादित्याशङ्कायामाह। ५१२. आतानादिप्रकारेण। ५१३. तन्तुसामान्यतन्तुविशेषयोः। ५१४. यथादर्शनं नियमकल्पनाप्रतीतेः। ५१५. 'नियम' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५१६. तन्तुसामान्यस्य। ५१७. आहिततन्तुविशेषस्य। ५१८. तन्तुसामान्यनिरपेक्षः। ५१९. आहिततन्तुविशेषस्य। ५२०. तन्तुसामान्यस्य। ५२१. एकत्र वस्तुनि। ५२२. तयोस्तन्तुसामान्यतन्तुविशेषयोः। ५२३. सामान्यरूपस्य तन्त्वादेः। ५२४. पटादौ। ५२५. तस्य, तन्त्वाद्यन्वयस्य। ५२६. आहिततन्तुविशेषस्य। ५२७. तस्य, विशेषमात्रस्य। ५२८. पटं प्रति। ५२९. तन्तुसामान्यनिरपेक्षस्य। ५३०. परस्परनिरपेक्षयोः सामान्यविशेषयोरुपलब्धिर्नास्ति यस्मात्। ५३१. अनन्वयस्यानुगमरहितस्य सामान्यमात्रस्य विशेषमात्रस्य वा। न विद्यतेन्वयो यस्य सामान्यस्य विशेषेण सह, न विद्यतेन्वयः सहावस्थानं यस्य विशेषस्य सामान्येन सह इति च व्युत्पत्तिः। ५३२. सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनः। ५३३. उभयात्मके वस्तुनि सामान्यप्रतिषेधनियमानिमित्तप्रतिपादने। ५३४. परस्परनिरपेक्षयोः। ५३५. कार्यं प्रति। ५३६. एकरूपस्योभयरूपत्वे विरोधः स्यादित्युक्ते सत्याहुर्जैनाः।

५३७. असतः कार्यत्वं न भवेदुपादाननियमश्च न भवेद्यस्मात्तस्मात्। ५३८. कार्यकरणभावादिः। ५३९. अनन्वये सत्यन्यत्वात्सन्तानान्तरवत्। ५४०. यथा सन्तानान्तरे हेतुफलभावादिर्न भवति। ५४१. संतानितः। ५४२. पूर्वोत्तरक्षणानाम्। ५४३. संतानितः पृथक्त्वेन। ५४४. पूर्वोत्तरक्षणाः। ५४५. न परामृष्टो भेदो येषु ते (परमार्थतस्तु भिन्नत्वेपि)। ५४६. बौद्धेन। ५४७. क्षणानां परस्परम्। ५४८. विवक्षितक्षणं प्रत्यविवक्षितक्षणः पूर्वो यः कश्चित् कारणं स्यादिति संतानसंकर इति भावः। ५४९. सर्वेषां स्वसंतानवर्तिनां सन्तानान्तरवर्तिना चाविशेषेणापरामृष्टभेदत्वस्य संभवात्। ५५०. संतानान्तरवर्तिनः। ५५१. अन्यसंततिभिः सह। ५२२. स्वभावतः संकीर्णायाः संततेरेव प्रत्यक्षादिना प्रसिद्धौ स्वभावतः संकीर्णा इति वचनं तथा न सद्यथा शशविषाणस्य वर्तुलत्वकथनम्। ५५३. तदेति शेषः। ५५४. प्रत्यक्षविषयीकृतेऽर्थे। ५५५. प्रत्यक्षस्य। ५५६. स एकक्षणः सन्निहितः। ५५७. 'संतानाविषयत्वात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५५८. लिङ्गिना संतानेन सह। ५५९. तस्य, संतानस्य। ५६०. दृष्टान्ते। ५६१. संताने सत्येव प्रत्यभिज्ञानमुत्पद्यते यथा चेति न क्वापि दृष्टान्तेऽवलोकितमित्यर्थः। ५६२. नीलस्वलक्षणे

संतानेऽसति प्रत्यभिज्ञानाभावोत्र व्यतिरेकः। ५६३. संतानोस्ति प्रत्यभिज्ञानान्यथानुपपत्तेरिति हेतुरपि न घटते इत्यर्थः। ५६४. कृष्णतिलेषु संतानाभावेपि तत्सदृशोयं तिल इति प्रत्यभिज्ञानं यत उदेति। ५६५. क्षणेषु। ५६६. स एवायमेकसंतान इति। तत्र संतानसंकीर्णानुमाने। ५६७. तत्र प्रत्यभिज्ञानादेः सकाशादेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरेव प्रसिध्यति यतः। एवं सति सौगतानां विरुद्धत्वं निर्णीयते यत इत्यर्थः। ५६८. प्रत्यभिज्ञानादेर्हेतोः (प्रत्युत सौगतवचनस्यैव विरुद्धत्वनिर्णयात्)। ५६९. प्रत्यक्षादितो न संतान-सिद्धिर्यतः।

५७०. (बौद्धस्य)। ५७१. भिन्नक्षणेषु। ५७२. अनन्या इमे क्षणा इति शब्दो यस्य सः। संतानः संवृतिरुपचार इत्यर्थः। ५७३. मुख्योर्थो यस्येति बसः। ५७४. 'न स्यात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५७५. वक्ष्यमाणदोषभयात्संतानिभ्यः संतानोनन्य एव वक्तव्यः। तथा च संतानिव्यतिरेकेण संतानाभावात्प्रागुक्त एव दोषानुषङ्गः। ५७६. जैनमतापेक्षया, न तु बौद्धमतापेक्षया। ५७७. नित्यानित्यविकल्पाभ्यां संतानस्यानुपपत्तेः। ५७८. संतानो नित्य इति विकल्पे। ५७९. यतः संतानी स्वयमनित्यस्ततो नित्येन सह न व्याप्नोति। ५८०. व्याप्नोति चेत्तर्हीत्यर्थः। ५८१. संतानस्य। ५८२. (क्षणानां संताने व्यापकत्वमनेकस्वभावसद्भावेनै-कस्वभावसद्भावेनैव वेति विकल्पद्वये द्वितीयं विकल्पमाश्रित्य दूषयन्ति। ५८३. 'तदनित्ये विकल्पे' मुद्रितप्रतौ पाठः। (संतानस्य नित्यत्वमभिमत्य अनेकस्वभावेनैकस्वभावेनेति द्विधापि प्रदूष्य संतानस्यानित्यत्वाभिमतौ सत्यां दूषयन्ति)। ५८४. एकप्रत्यवमर्शः, प्रत्यभिज्ञानम्। ५८५. संतानिभ्यः संतानस्य भिन्नत्वे नित्यानित्यविकल्पाभ्यामनुपपत्तेर्दूषणमेतत् समायातं तर्हि किं स्यादित्युक्ते आह। ५८६. (संवृतिः, कल्पना)। ५८७. विशेषणस्य। ५८८. अनन्य इत्येकत्वमुपचारेणैव सौगतैर्मतम्। ५८९. सौगतैरन्येषु अयमनन्यशब्दः संवृतिरित्यभिधीयते। स एव संतानः। ५९०. संवृतिरूपत्वात्। ५९१. पूर्वोत्तरक्षणानां कार्यकारणभावसंबन्धनियमस्य। ५९२. परस्परं भिन्नक्षणानाम्। ५९३. विवक्षितसंतानिष्वेव संतानः कार्यकारणादिसंबन्धभाग्, न पुनः संतानान्तरवर्तिष्वविवक्षितसंतानिष्विति नियमयितुमशक्तेः। ५९४. मुख्योर्थो यस्य सः। ५९५. संतानस्य। ५९६. तथास्त्वित्युक्ते आह। ५९७. संतानः। ५९८. (सत्येऽग्नौ क्वचित्सति अन्यत्र माणवके प्रयोजनवशादुपचर्यते न त्वसदेवाग्निः। ५९९. पूर्वोत्तरक्षणेषु। ६००. उपचरितसंतानः। ६०१. प्रस्तुतस्यानन्यप्रत्ययस्य। ६०२. माणवकः। ६०३. एतस्य संतानिनोयं संतानो हेतुरिति। ६०४. हे जैन, यतोऽसंभवस्ततः।

६०५. बोद्धाभिप्रायोयं सर्वकारिकायाम्। ६०६. सर्वान्तेषु, सर्वधर्मेषु (अन्तशब्दो धर्मवाच्योत्र)। ६०७. एकत्वानेकत्वं तत्त्वान्यत्वशब्देन। ६०८. संतानतद्वतोस्तत्त्वान्यत्वलक्षणो धर्मोऽवाच्यो धर्मत्वात्। ६०९. तत्त्वान्यत्वेषु धर्मेषु चतुष्कोटिविकल्पस्य वचनायोगो धर्मत्वादित्युपरिष्टाद्योज्यम्। (कोटिः कक्षा)। ६१०. तत्त्वधर्मः संतानस्य। अन्यत्वधर्मो भेदधर्मो वा संतानिनः। ६११. तत्त्वेऽन्यत्वे च। ६१२. उदाहरणसमर्थनेन दार्ष्टान्तं समर्थयति बौद्धः। ६१३. एतत्पूर्वोक्तमेव विवृणोति। ६१४. उच्छेदपक्षः। ६१५. वस्तुधर्मस्य सत्त्वासत्त्वरूपत्वे। ६१६. एकतरप्रतिषेधेऽन्यतरविधानादुभयप्रतिषेधे तु निर्विषयत्वान्नीरूपत्वम्। नीरूपत्वे विकल्पानुत्पत्तिः। ६१७. भाष्योक्तादिशब्दं विवृण्वन्नाह। ६१८. भेदाभेदलक्षणस्य। ६१९. एतस्य वस्तुनोयं धर्म इति। ६२०. वस्तुनो निःस्वभावत्वम्। ६२१. चतुष्कोटेर्विकल्पस्याभिधातुमशक्यत्वप्रकारेण। ६२२. पदार्थेषु। ६२३. तत्त्वमभेदः, अन्यत्वं भेदः। ६३४. सौगतानाम्। ६३५. अभिप्रायः। ६२६. क्षणिकैकान्तपक्षेपीत्यनुवर्तते। किं च। ६२७. स्वलक्षणं सदित्यवक्तव्यमसदित्यवक्तव्यमुभयमित्यवक्तव्यमनुभयमित्यवक्तव्यमित्यत्रावक्तव्यत्वस्यापि धर्मत्वादवाच्यत्वम्। ६२८. तैरपीति संबन्धः। ६२९. सर्वधर्मरहितम्। ६३०. विशेष्यं जीवादिवस्तु। सर्वधर्मरहितं विशेष्यविशेषणं न भवति। ६३१. अन्यथेति शेषः (अनभिलाप्यचतुष्कोटेरभिलाप्यत्वं चेत्तर्हीत्यर्थः)। ६३२.. सौगतैः। ६३३. शिष्यादिप्रबोधनं नैव भवितुमर्हति। ६३४. (कारिकोत्तरार्द्धव्याख्या)। ६३५. अनेकान्तप्रयोगात्। ६३६. वस्तु। ६३७. अनेकान्तमन्तरेण। ६३८. एकान्तपक्षोक्तसर्वविकल्पातीतस्य। ६३९. द्रव्यपर्यायतया। ६४०. असदिति कर्तृपदम्। ६४१. अनभिलाप्यमवस्त्विति वा विशेषणम् (कर्मपदम्)। ६४२. वस्तु।

६४३. ननु स्वसंवेदनं विशेषणविशेष्यरहितमेव प्रतिभासते इत्याशङ्क्याह। ६४४. हेत्वन्तरम्। ६४५. कंथचित्सत एव प्रतिषेधं दर्शयन्नाह। ६४६. स्वद्रव्यादेरन्यद् द्रव्याद्यन्तरं तस्य भावस्तेन। परद्रव्यादिभावेनेत्यर्थः।

६४७. स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरसतः प्रतिषेधो न क्रियते। ६४८. प्रतिषेधस्य। ६४९. स्वद्रव्यादिना। ६५०. परद्रव्यादिना। ६५१. स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन। ६५२ किंतु सर्वं वस्तु कथंचिदभिलाप्यं विशेष्यविशेषणसहितं चास्तीति भावः। ६५३. बौद्धेन। ६५४. अभिलाप्यस्यैवानभिलाप्यत्वं, विशेषणविशेष्यरूपस्यैवाविशेषणविशेष्यरूपत्वं। ६५५. अनिर्देश्यमिति शब्देनापि अनिर्देश्यं न। ६५६. तस्य स्वलक्षणमनिर्देश्यमिति शब्देन निर्देश्यत्वात्। ६५७. (स्ववचनेनाप्यनिर्देश्यं यदि तर्हि)। ६५८. 'वचनाविरोधात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ६५९. कल्पनापोढमिति कल्पनापेक्षयापि यदि अपोढं तर्हि। ६६०. एकस्यैवाभिलाप्यानभिलाप्यादेर्भावाभावरूपस्य वाचकभेदाद्भेदस्य विद्यमानत्वात्कथं न विप्रतिषिद्धमित्याशङ्कायामाह। ६६१. सर्वथैकान्ते। ६६२. पररूपेण। ६६३. इति शब्देनापि। ६६४. शाब्दव्यवहारस्य। ६६५. (यस्य भावस्य प्राधान्यमपेक्षा वा तस्य विधिर्यस्य गुणीभाव उपेक्षा वा तस्य निषेध इत्यर्थः)। ६६६. प्रधानगुणभावेन विधिनिषेधयोरुपलम्भप्रकारेण।

६६७. समन्तभद्रस्वामिभिरत्रैव कारिकायाम्। ६६८. विशेषः, सद्भेदः। स न भवतीत्यसद्भेदः, सर्वथा असत्। ६६९. यतः समर्थनं ततो बौद्धाभ्युपगतमेव बाधितं जातम्। ६७०. अग्रेतनकारिकया। ६७१. (अन्तो धर्मः)। ६७२. कथंचिद्रूपायाः। ६७३.. परापेक्षया। स्वरूपादिचतुष्टयलक्षणायाः प्रक्रियाया विपर्ययात्—पररूपादिचतुष्टयात्। तस्माद्यदवस्तु तदनभिलाप्यम्। ६७४. सर्वथा। ६७५. सर्वथानभिलाप्यं न। ६७६. सकलधर्मरहितस्य वस्तुनो निरुपाख्यस्य स्याद्वादिभिरनभ्युपगमादवस्त्वनभिलाप्यं स्यादिति वचनमयुक्तमित्याशङ्कायामाहुस्तदपीति। ६७७. परद्रव्याद्यपेक्षत्वाद् व्यत्ययात्। ६७८. घटान्तरं पटादि। ६७९. परवस्त्वपेक्षयेत्यर्थः। ६८०. अभाववाचकैः शब्दैरित्यर्थः। ६८१. यथा ब्राह्मणाभाव एव क्षत्रियभावः। दोषाभाव एव गुणसद्भावः। ६८२. अत्र, अवस्तुत्वप्रतिपादने। ६८३. येन कुतो विरुद्ध्यते ? अपि तु न विरुध्यते। ६८४. अविरुद्धत्वादेव। ६८५. शून्यम्। ६८६. स्याद्वाद्यभ्युपगतोऽभावः पक्षः, वस्तु भवतीति साध्यो धर्मः। अभिलाप्यत्वादिति हेतुः। यत्पुनरभिलाप्यं तद्वस्तु यथा खपुष्पाभावः। अभिलाप्यं चेदं तस्माद्वस्तु। अत्राभावस्य वस्तुत्वव्यवस्थापकानुमाने खपुष्पाभाव इति दृष्टान्तः। 'खपुष्पम्' इति कपुस्तके। ६८७. अन्यस्य, खस्य केवलत्व(शुद्धत्वम्)मितरस्य, पुष्पस्य वैकल्यमिति लोके प्रसिद्धम्। ६८८. अर्थे स्वरूपेण भावो व्यवतिष्ठते पररूपेण चाभावः। ६८९. (अर्थस्य)। ६९०. सर्वथा। ६९१. यः स्वरूपेण भावः स एव पररूपेणाभाव इति बौद्धमतम्। ६९२. तयोर्भावाभावयोः। अपेक्षणीयनिमित्तमाश्रित्य तयोर्भेदात्। (निमित्तभेदाद्धि नैमित्तिकभेदः)। ६९३. स्वद्रव्यादिस्वरूपम्।

६९४. परद्रव्यादिचतुष्टयम्। ६९५. नास्तित्वज्ञानम्। ६९६. यथैकवस्तुन्येकत्वद्वित्वादिसंख्यायाः परद्रव्यादिनिमित्तमपेक्ष्य भेदः। ६९७. द्वित्वादिसंख्या एकत्वादिभ्यो भेदरूपा न प्रतीयते किं तु भिन्नैव। ६९८. संख्यावतो वस्तुनः। ६९९. भिन्ना चेत्तर्हीति शेषः। ७००. संख्यावतो वस्तुनः। ७०१. संख्या संख्यावतो भिन्नैवेत्यस्यासिद्धेः। (संख्येयत्वासंभवाद्वा)। ७०२. कुतोऽसिद्धिरित्याह। ७०३. तत्र समवायिनि। ७०४. समवायस्य। ७०५. वस्तुन्येकत्वादिसंख्या समवायसम्बन्धेन स्थितेति चेत्तर्हि समवायो वस्तुनि केन सम्बन्धेन स्थितः ? समवायित्वमपि समवायित्वेनेत्यनवस्था। ७०६. संख्यावतः संख्या न भिन्ना यथा। ७०७. वस्तुनः। ७०८. बौद्धस्य। ७०९. वस्तुनः। ७१०. भावाभावात्मकतासिद्धिः। ७११. सौगतानाम्। ७१२. वचनाभ्युपगमः संवृतिरूपश्चेत्। ७१३. एषा संवृतिः। ७१४. परमार्थतः। ७१५. अपि तु न किंचित् स्यात्। ७१६. बौद्धम्। ७१७. पूर्वपक्षं कुर्महे। ७१८. सर्वे धर्मा अवक्तव्या इति कथमुच्यते ?। ७१९. पुंसो। यथा स्ववचनविरोधः। ७२०. (न, इति चेन्नेत्यर्थः)। ७२१. वक्ष्यमाणविकल्पेष्वनुपपत्तेः। कस्याः ? संवृतेः। ७२२. हे सौगत, त्वया पुनः पुनः संवृतिः कथ्यते। सा का ? संवृत्या इत्युक्ते संवृतिः स्वरूपा, पररूपा, उभयरूपा, तत्त्वरूपा, मृषारूपा वा स्यात्?। ७२३. एतेषु अर्थेषु संवृतिर्नोपपद्यते।

७२४. इति इत्यत्र वचने स्वरूपेण वक्तव्या इति पक्ष आश्रीयेत चेत्तर्हि ते पदार्थाः कथमनभिलाप्याः ?। ७२५. द्वितीयपक्षश्चेत्तर्हीत्यर्थः। ७२६. तत् पररूपम्। तेषां, धर्माणाम्। ७२७. धर्माः। ७२८. केवलमत्र। ७२९. 'गम्यते' इति पाठान्तरम्। ७३०. गोत्रं नाम। ७३१. ननु स्वरूपं विशेषरूपमेव पररूपं तु सामान्यरूपमेव। ततश्च

विशेषरूपेणावक्तव्यत्वसद्भावात्कथं वाचः स्खलनं गम्येत सामान्येनाभिलाप्यत्वे सति ? इत्याह। विशेषः परमाणुलक्षणः। ७३२. यथा विशेषरूपं वस्तुनः स्वरूपं तथा सामान्यरूपमपि। ७३३. सामान्यस्य। ७३४. ततश्च सर्वधर्माणां स्वपररूपाभावान्निःस्वरूपत्वप्रसङ्ग इति भावः। ७३५. संवृत्या इत्युक्ते उभयरूपेणेति पक्षेपि। ७३६. संवृतिस्तत्त्वरूपा इति चतुर्थपक्षे इत्यर्थः। ७३७. सर्वे धर्मा इति अवक्तव्या इति च। ७३८. (दूषणसद्भावादप्रतिष्ठा)। ७३९. सर्वे धर्मा अवक्तव्या इति चाभिलप्यन्ते इत्यस्मिन् पक्षे दूषणमाह। ७४०. हे सौगत। ७४१. वक्तुरशक्तेः। ७४२. किं वा मिषेण ?। ७४३. सौगतशङ्का। ७४४. मौनव्रतादीनाम्। ७४५. (इन्द्रियं ताल्वादि च करणम्)। ७४६. च, एवकारार्थः। ७४७. अनवबोधाशक्यत्वयोरेककारणपूर्वकत्वेनावबोधस्याशक्यत्वेन्तर्भावः स्यादित्युक्ते आह जैनः। ७४८. अशक्यत्वतः। ७४९. 'तथा' पाठान्तरम्। ७५०. अनेन व्यतिरेकाभावो दर्शितः। ७५१. अनेनान्वयाभावो दर्शितः। ७५२. पुरुषेषु। ७५३. तयोः, बुद्धिकरणपाटवयोः। ७५४. पुरुषस्य। ७५५. प्रस्तावे। ७५६. न तु सर्वस्य। ७५७. तत्, तस्मात्, सर्वत्रावबोधशक्यत्वयोरभावो युक्तो न भवति यस्मात्। ७५८. इति हेतोरशक्यत्वादनवबोधादिति च हेतुद्वयेन वस्तुनो वाच्यत्वं न संभवतीति सामर्थ्यात्, पारिशेष्यात्।

७५९. युष्माभिः (सौगतैः)। ७६०. सुगतस्य। ७६१. बौद्धमतम्। ७६२. अभावपक्षावलम्बनात्। ७६३. समयः, सङ्केतः। ७६४. सामान्यरूपेण। ७६५. निर्विकल्पकज्ञानग्राह्योर्थो दृश्यः। विकल्पज्ञानग्राह्यो घटपटादिर्विकल्प्यः। ७६६. विरोधान्नोभयैकात्म्यमिति कारिकाया अपरार्द्धव्याख्यानावसरे प्रथमपरिच्छेदे। ७६७. सामान्यविशेषयोर्वस्तुरूपाविशेषात्। ७६८. दृश्यवद्विकल्प्येपि सङ्केतो न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। ७६९. अर्थस्य। ७७०. बौद्धस्य। ७७१. घटमानयेत्यादौ। ७७२. अन्वयाभावात्। ७७३. अतीतार्थानामपि विवक्षितशब्दवाच्यत्वप्रसङ्गात्। ७७४. (विषयोर्थः। विषयी तु शब्दो बोधो वा कश्चित्)। ७७५. यथा शब्दविकल्पकाले शब्दविषये नास्ति। ७७६. क्षणिकविषयस्य। ७७७. ज्ञेयज्ञानयोः कार्यकारणयोः। ७७८. सौगतः क्षणिकत्वेपि विरोधं परिहरन्नाह। ७७९. शब्देपि। ७८०. अविपरीतप्रतिपत्तिः। ७८१. 'परिच्छेद्य' मुद्रितप्रतौ पाठः। ७८२. यथा प्रत्यक्षादर्थं परिच्छेद्य प्रतिपत्ता प्रवर्तमानो हि विपरीतं न प्रतिपद्यते। ७८३. वयं जैनाः। ७८४. शुक्तिकाशकले रजतविषयदर्शने। ७८५. सत्यज्ञाने। ७८६. दर्शनविकल्प्य(शब्द)योः। ७८७. दर्शनविकल्पयोर्भिन्नविषयत्वेधिकदूषणमाह। ७८८. एकलोलीभावाभावे। ७८९. अन्तर्बहिस्तत्त्वम्। ७९०. निर्विकल्पकप्रत्यक्षविषयीकृतस्य स्वलक्षणस्य। ७९१. अदृष्टं सामान्यम्। ७९२. आदिपदेनेश्वरादिः। ७९३. प्रमाणात्। ७९४. विकल्पज्ञानम्। ७९५. निर्णयस्य। ७९६. (तत्शब्देन स्वलक्षणम्)। ७९७. निर्विकल्पकप्रत्यक्षाविषयीकृते। ७९८. स्थिरस्थूले घटपटादौ।

७९९. येन कृतं स न भोक्ता, येन न कृतं तस्य भोक्तृत्वाभ्यागमः। ८००. हिंसाभिप्रायरहितं चित्तम्। ८०१. हिंसाभिप्रायसहितम्। ८०२. हिंसाऽहिंसाभिप्रायरहितम्। ८०३. संतानो वासना च स्तः। तयोः सद्भावे नेदं दूषणमित्युक्ते आह। ८०४. अनन्तरमेवैतयोर्निराकरणात्। ८०५. हिंसकाहिंसकचित्तद्वयादपेतं तृतीयं चित्तम्। ८०६. एतत्। ८०७. बसः। सौगतादित्यर्थः। ८०८. तस्य, बद्धस्य एवं मुक्त्यभावप्रकाशनप्रकारेण। ८०९. नियमेन कर्त्तव्यता इतिकर्त्तव्यता। ८१०. प्रथमचित्तक्षणस्य। ८११. अग्रेतनस्य क्षणस्य। ८१२. (चिकीर्षुरचिकीर्षुश्चेत्युभयम्) तदुभयाद्विनिर्मुक्तस्तृतीयश्चित्तक्षणः, तस्य। ८१३. तस्य बद्धस्य। ८१४. निष्फलत्वात्। ८१५. परिणामस्य। ८१६. सौगतस्य यमनियमाकरणीयत्वं कुर्वतो यत्किंचनकारित्वं वा कुतः ? नियमेन, कर्तव्यतासु चिकीर्षोः क्षणस्य विनाशात्। विनाशेपि नियमेनाकरणीत्वं कुतः ? कर्तुर्द्वितीयक्षणस्याचिकीर्षुत्वात्। अचिकीर्षुत्वेपि यमादेरकरणीयत्वं कुतः ? चिकीर्षुः कर्तेति यदुभयं तद्विनिर्मुक्तस्य तृतीयस्य बद्धत्वात्। तद्बन्धेप्यकरणीयत्वं कुतः ? बद्धस्य विनिर्मुक्तेरभावाच्चेति संबन्धः। ८१७. इतरचित्तक्षणेभ्यः सुगतज्ञानमुत्पद्यते यतः। ८१८. सन्तानः समुदायश्चेति कारिकाव्याख्यानावसरे। ८१९. नाशः स्वयं जायते, न तु तं प्रति कस्यचिद्धेतुत्वमिति सौगतमतम्। ८२०. सम्यक्त्वं बुद्धधर्मः। संज्ञा स्त्र्याद्यभिधानम्। संज्ञी स्त्र्यादिरेव। वाक्कायव्यापारस्तत्कर्म। अन्तर्व्यायामो वायुनिरोधः। अजीवो जीवाभावो नैरात्म्यम्। स्मृतिः पिटकत्रयार्थानुचिन्तनम्। ध्यानं समाधिः।

८२१. परस्परं विरोधात्। ८२२. तदेति शेषः। ८२३. नाशोत्पादाभ्याम्। ८२४. (हेतुव्यापारः)। ८२५. नाशोत्पादयोरविशेषात् (अभेदात्)। ८२६. अपृथक्सिद्धवत्। ८२७. बौद्धमते सदृशं कार्यं नास्ति, अन्वयाभावात्। ८२८. तर्ह्याश्रयः कः? यतस्तयोराश्रयित्वं स्यादित्युक्ते आह। ८२९. आश्रयिणोः कार्यरूपयोः। ८३०. नाशोत्पादयोर्मध्ये य एव घटनाशस्य हेतुः; स एव कपालोत्पादस्य। इत्येक एव हेतुसमागम इति भावः। तथा च बौद्धानां नाशोपि सहेतुकः स्यादिति दूषणम्। ८३१. अभेदात्। ८३२. एतदेव विवृण्वन्ति। ८३३. भिन्नकारणजन्यत्वं चेत्तर्हि। ८३४. घटविनाश एव कपालोत्पादः। ८३५. कारणसन्निपातस्तु भिन्नः। ८३६. विनाशस्य नीरूपत्वादेकहेतुत्वं कथमित्युक्ते दर्श्यते हेतुः। ८३७. विनाशस्य। ८३८. (तस्य उत्पादस्य विनाशस्य च)। ८३९. भिन्नकारणवादी नैयायिकस्तस्य। ८४०. विसदृशकार्यं कपालः। तद्धेतुर्मुद्गरादिः। ८४१. अभ्युपगच्छन् सौगतः। ८४२. कपालमालोत्पादस्य। ८४३. किं तु सहेतुकत्वं मन्यते। ८४४. अत्राह सौगतः। विसभागो विसदृशः (कपालमालाक्षणकार्यम्)। ८४५. प्रध्वंसाय हेतुसन्निधिर्न। ८४६. स्वभावतः। ८४७. कपालमालाक्षणरूपः। ८४८. उत्तरोत्पादहेतोर्घटस्य। ८४९. तेन कारणेन (घटेन) उत्पन्नमिति व्यपदिश्यते। ८५०. विनाशेपि। ८५१. कपाललक्षणस्येव। ८५२. घटप्रध्वंसस्य। ८५३. हेतुर्मुद्गरादिः। ८५४. मुद्गरादिना विनाशो जात इति व्यपदेशोस्तु। ८५५. न चेत्तर्हीत्यर्थः। ८५६. कार्यस्यापि सहेतुकत्वव्यपदेशो न स्यात्। ८५७. परमार्थतो मया उभयोरपि नाशोत्पादयोर्निहेतुकत्वं स्वीक्रियते, परन्तु प्रतिपत्त्रभिप्रायवशादुत्पत्तिः सहेतुका कथ्यते इति सौगतेनोक्ते आहुः। ८५८. उभयत्र नाशोत्पादयोः। ८५९. प्रहाणस्तु स्वत एवेति वादी सौगतः। ८६०. इदं कार्यं सदृशमिदं च विसदृशमिति भेदः। ८६१. सर्वदा विसदृशमेव कार्यं यतो बौद्धमते। ८६२. द्रव्यरूपेणाप्यन्वयाभावे।

८६३. सजातीयविजातीयलक्षणक्षणकल्पनाम्। ८६४. स्वीकुर्वन् सौगतः। ८६५. (प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात्)। ८६६. (पूर्वोत्तरक्षणयोः)। ८६७. (युगपत्स्वयमेव स्वाश्रयतो वा न पृथग्भूतौ)। ८६८. (अपि तु न सहेतुक एको परश्च निर्हेतुक इत्यर्थः। ८६९. परस्परतः स्वाश्रयतो वा किंवत् पृथग्भूतौ न स्तामित्याह। ८७०. असौ ग्राह्योऽसौ च ग्राहक इति प्रतिपत्तिभेदः। एवमभिधानभेदोपि। ८७१. तादात्म्यसंबन्धादित्यर्थः। ८७२. नाशोत्पादयोः। ८७३. नाशोत्पादयोः। ८७४. भवतः। ८७५. स्वस्य नाशस्याश्रयो घटः, उत्पादस्य च कपालादिः। ८७६. घटकपालाभ्यां क्रमरूपाभ्याम्। ८७७. तयोर्नाशोत्पादयोः तद्धर्मत्वाद्, घटकपालधर्मत्वात्। ८७८. घटस्य विनाशः कपालस्योत्पाद इति च। नाशोत्पादौ विशेषणे घटकपालौ तु विशेष्यरूपावत्र। ८७९. पुनः सौगतः। ८८०. वैशेषिकाभ्युपगतयोः स्वाश्रयाभ्यामर्थान्तरभूतयोर्नाशोत्पादयोः। ८८१. वैशेषिकमतसिद्धिः। ८८२. (य एव पूर्वक्षणविनाशः स एवोत्तरक्षणकपालस्वभावः, स एव च तदुत्पादः)। ८८३. (स्वभावस्तादात्म्यम्)। ८८४. एकज्ञाने। ८८५. संज्ञाच्छन्दाद्योर्बौद्धापेक्षयोदाहरणम्। मतिस्मृत्याद्योस्तु जैनमतापेक्षया। क्रमपक्षे भेदपक्षे इमे द्वे उदाहरणे। ८८६. तयोर्मध्ये कस्यचित्। ८८७. (समकालभाविनोर्मध्ये कपालोत्पादस्य हेतुरहेतुस्तु नाशस्येति च पुनः कथम्?)। ८८८. कार्यस्वभावादेः। सहभावस्येदमुदाहरणम्। ८८९. तेन कारणेन। ८९०. संज्ञाच्छन्दशब्दे मतिस्मृतिशब्दे च। ८१९. बौद्धजैनापेक्षया यथासंख्यम्। ८९२. सेयं स्त्रीत्यत्र प्रत्यभिज्ञानमिच्छायामुत्पन्नायां विनश्यतीति संज्ञाच्छन्दयोः क्रमभावित्वम्। ८९३. वत्—शब्दोत्र भिन्नप्रक्रमे। तेनायमर्थः, संज्ञाच्छन्दयोर्मतिस्मृत्याद्योः क्रमभाविनोर्नाशोत्पादयोर्भेदे सत्यप्येकसहकारिकारणपूर्वकत्वं यथा तथा घटनाशकपालमालोत्पादयोः समकालवर्तिनोरप्येकसहकारिमुद्गरकारणकत्वमित्यर्थः। ८९४. नाशोत्पादयोः। ८९५. (आदिपदेन रसादिः) यसः। ८९६. रूपरसादीनां (कार्यरूपाणां) मध्ये कारणरूपो रूपरसादिरेकस्य हेतुरितरस्य नेति न यथा। ८९७. उत्पादविनाशयोः समकालवर्तिनोरपि एकसहकारिमुद्गरकारणपूर्वकत्वप्रतिपादनप्रकारेण। ८९८. कार्यं कपालमाला, तस्या उत्पादः सहेतुको मुद्गरादिजन्यः। कारणं घटः, तस्य विनाशोऽहेतुको मुद्गरादिजन्यो नेति मतं निषेधयन्ति जैनाः। ८९९. पूर्वरसक्षणः कारणमुत्तरस्तु कार्यमिति बौद्धमतम्। ९००. पुरुषस्य। ९०१. द्रव्यार्थतो धिषणापि पुरुषवदहेतुकेत्यर्थः। ९०२. पुरुषधिषणाभ्याम्। ९०३. सहभावादित्यस्य। ९०४. कार्यविचारप्रस्तावसामर्थ्यात्।

९०५. कारणान्तरमिति विशेषणसहितस्य। ९०६. आत्मनो नित्यत्वेन कारणाभावादित्येवं यो व्यभिचारः। ९०७. कारणान्तरं सहभावादिति साधनम्। ९०८. सौगतैः। ९०९. मुद्गरात्। ९१०. कारणक्षणस्य। ९११.

विनाशरूपम्। ९१२. न भवतीत्यस्य नश्यतीत्यर्थः। स्वयं नश्यतीत्येव वा पाठान्तरम्। ९१३. स्वयमेव। ९१४. मुद्गरादेः। ९१५. कपालोत्पादस्य। ९१६. (किन्त्वित्यध्याहारः। स्वयमेव कपाल उत्पद्यते इत्यपि स्यात्। तथा च बौद्धमतविरोधः, कपालोत्पादस्य सहेतुकत्वाभिमननात्)। ९१७. घटलक्षणः। ९१८. (कारणान्तरं सहभावादिति हेतुः)। ९१९. वा यथार्थे। यथा कार्योत्पत्तिहेतुरभावं (पर्यायरूपेणाविद्यमानं) भावीकरोति, न पुनरकिंचित्करस्तथा विनाशहेतुर्भावमभावीकरोति। ९२०. (तर्हीति शेषः)। ९२१. द्रव्यरूपेणेव पर्यायरूपेणापि। ९२२. उत्पादकारणस्य। ९२३. उत्पादकारणवैफल्यं किमर्थं प्रतिपाद्यते? यावता पूर्वं विद्यमानस्य कपाललक्षणस्य भावस्य मुद्गरादिकारणेन निष्पाद्यत्वं विद्यते एवेत्याशङ्क्याहुर्जैनाः। ९२४. हे बौद्ध! यथा तव विनाशतयोत्पादपक्षेपि। ९२५. विनाशो घटादिभिन्नः क्रियतेऽभिन्नो वेति विकल्प्य दूषयन्ति जैनाः। ९२६. नाशे उत्पादे च। ९२७. तस्य, कुटस्य। ९२८. घटलक्षणात्। ९२९. भावात्। ९३०. उत्पादस्य। ९३१. नाशोत्पादयोः स्वाश्रयाद्भिन्नाभिन्नकरणे दूषणगणप्रतिपादनेन। ९३२. कपालात्। ९३३. मुद्गरादिना। ९३४. कार्यात्। ९३५. उत्पादस्य। ९३६. उत्पादस्य। ९३७. विनाशककारकः। ९३८. तदा, तर्हि। उत्पादकारकः। ९३९. हेतुसमागमो विरूपकार्यारम्भायेति पूर्वं सौगतेनोक्तत्वादयं प्रश्नोवसरप्राप्त एव। ९४०. पूर्वक्षणः स्थापक उत्तरस्तु स्थाप्यः। उत्तरक्षणो विनाशकः पूर्वस्तु विनाश्यः। यद्भावे कारणस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंस इति वचनात्। ९४१. यथा परमाणूनां स्थाप्यस्थापकादिभावो विरुध्यते, तथा हेतुफलभावोपि विरुध्यते। कार्यकारणत्वाभावे एते स्थित्युत्पत्तिव्ययधर्मा विरुध्यन्ते निरंशत्वात्परमाणूनां। न हेतुफलभावादिरव्यभावादनन्वयादिति कार्यकारणभावस्य प्रागेव निरस्तत्वाद्वा विरोधोवगन्तव्यः। ९४२. स्थाप्यस्थापकाभावे स्थितेरभावो विनाश्यविनाशकाभावे च विनाशस्याप्यभावो यथा। ९४३. 'स्कन्ध' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९४४. स्कन्धानाम्।

९४५. साध्याभावसद्भावादित्यर्थः। ९४६. संवृतित्वादित्यस्य। ९४७. साध्यं विना। ९४८. सौगतेन। ९४९. तस्य हेतोः। ९५०. रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः परस्परासंबद्धा रूपस्कन्धाः, सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः, सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानभेदा विज्ञानस्कन्धाः, वृक्षादिनामानि (शब्दाः) संज्ञास्कन्धाः, ज्ञानपुण्यपापवासनाः संस्कारस्कन्धाः। ९५१. परमार्थसन्तः। ९५२. साध्यमसंस्कृतत्वं तद्व्यावृत्तौ हेतोरपि व्यावृत्तेः। ९५३. स्कन्धसंततयः। ९५४. अपरमार्थरूपत्वात्। ९५५. स्थित्युत्पत्तिविपत्तिमतोपि असंस्कृतत्वस्य विद्यमानत्वाद् व्यभिचारादसाधनमित्याशङ्कायामाह। ९५६. संस्कृतत्वं कार्यत्वम्। ९५७. स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहितत्वमन्तरेणासंस्कृतत्वानुपपत्तिः। कार्यरूपत्वं स्वलक्षणादौ स्थित्यादिना व्याप्तं खरविषाणादौ त्वकार्यत्वं स्थित्यादिरहितमित्यन्यथानुपपत्तिसिद्धिरित्यर्थः। ९५८. पदार्थस्य। ७५९. असंस्कृतत्वादिति। ९६०. असंस्कृतत्वादेव। ९६१. विसदृशकपाललक्षणस्य। ९६२. मुद्गरादिः। ९६३. सौगतो वचो न तिष्ठतीत्यर्थः। ९६४. तथा स्थित्युत्पत्तिसहिताः। ९६५. स्कन्धाभावे। ९६६. विरूपकार्यं कपाललक्षणम्। ९६७. सौगतीयं वचः। ९६८. तर्ह्यवाच्यं तत्त्वमित्याशङ्क्याह। ९६९. एकस्मिन्नेव सति युगपत्तदुभयैकात्म्यं विरुध्यते एव। ९७०. विरोधादेव।

९७१. सौगतस्य। ९७२. स्ववचनविरोधात्। ९७३. आदिपदेनानित्यत्वोभयात्मकत्वावाच्यत्वानि ग्राह्याणि। ९७४. कथंचिन्नित्यं कथंचिदुभयमिति। ९७५. तत्त्वोपप्लववादी, शून्यवादी। ९७६. तस्यानेकान्तस्य। ९७७. तस्य जीवादिवस्तुनः। ९७८. तत् प्रत्यभिज्ञानमकस्मात् कारणमन्तरा न भवति, तस्याविच्छेदेन (स एवायमित्येवम्) अनुभवात्। ९७९. अविच्छिदा इति तृतीयान्तं प्रथमान्तं वा ज्ञेयम्। प्रत्यभिज्ञानं भवतु नित्यत्वं च मा भूदिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सति नाकस्मादिति संबन्धनीयम्। ९८०. क्षणिकत्वसाधकमिदमनुमानम्। ९८१. परिणामवशात्। ९८२. अन्यथेति शेषः। ९८३. बुद्धेरसंचारोन्यत्रागमनं, स एव दोषो यतः। ९८४. बाधारहित्वेन। ९८५. नित्यत्वलक्षणकारणं विना। ९८६. तदेवेदमित्यत्र। ९८७. भ्रान्तम्। ९८८. तस्य प्रत्यभिज्ञानस्य। ९८९. प्रत्यक्षस्य। ९९०. अगोव्यावृत्तिर्गौरित्येवमन्यापोहरूपं वस्तु बौद्धमते। ९९१. अन्यापोहमात्रे। ९९२. अनुमानादन्यत् परोक्षं प्रमाणान्तरं नेष्यते। ९९३. आह सौगतः। ९९४. जैनो ब्रूते। ९९५.

एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य। ९९६. कुतस्तथाहि। ९९७. जीवादौ। ९९८. अर्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तिः। ९९९. एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य (किं तु विसंवादरूपत्वादेवेत्यर्थः)। १०००. बौद्धोक्तस्य।

१००१. सर्वं वस्तु कथंचिन्नित्यं सत्त्वादित्युपरिष्टाद् ध्येयम्। १००२. तस्य सत्त्वस्य। १००३. सर्वथा नित्ये क्षणिके च। १००४. सर्वथा नित्ये क्षणिके वा। १००५. सर्वथा नित्ये क्षणिके वा। १००६. स्यादिति शेषः। १००७. अनेकस्वभावत्वे स्वीकृते कौटस्थ्यविरोधः। १००८. यथा युगपदनेकस्वभावत्वमेकस्य क्षणिकस्य तथा क्रमेणाप्यनेकस्वभावत्वं स्याद्यतस्ततः क्षणिकत्वव्याघातः। १००९. नित्यक्षणिकयोः पक्षयोः कार्याणाम्। १०१० सहकारिकारणापेक्षया क्रमाक्रमस्वभावत्वं यदि तदा क्षणिकनित्यत्वव्याघातः। १०११. नित्ये क्षणिके च। १०१२. नित्यस्य क्षणिकस्यं। १०१३. सहकार्यपेक्षा। १०१४. तस्य क्रमयौगपद्यस्य। १०१५. तयोर्नित्यक्षणिकयोः।१०१६. श्रेयान् मुद्रितप्रतौ पाठः। १०१७. तत्कार्याणाम्। १०१८. (तेन नित्येन क्षणिकेन वा)। १०१९. नित्यं क्षणिकं वा विना। १०२०. नित्यस्य क्षणिकस्य च येन स्वभावेन कृत्वा एकेन सहकारिणा सहभावोस्ति, तेनैव सर्वसहकारिणा सहभावो वा स्वभावान्तरैरिति विकल्पद्वयं तत्र कृत्वा क्रमेण दूषते। १०२१. सह। १०२२. नित्यस्य क्षणिकस्य च। १०२३. सह। १०२४. नित्यस्य क्षणिकस्य च। १०२५. सर्वसहकारिणा सह नित्यस्य क्षणिकस्य चैकेन स्वभावेन सहभावात्। १०२६. सहकारिकारणान्तरेण। १०२७. नित्यक्षणिकयोः। १०२८. व्याप्ययोः। १०२९. सर्वथा नित्यस्य क्षणिकस्य वा विपक्षः कथंचिन्नित्यस्तत्र। १०३०. बौद्धप्रयुक्तस्य सत्त्वस्य। सर्वं क्षणिकं सत्त्वादिति सौगतः। वस्तु नित्यं सत्त्वादिति नैयायिकः। जैनास्तु कथंचिन्नित्यं वस्तु सत्त्वादिति मन्यन्ते। १०३१. सत्त्वसाधनस्य। १०३२. जीवादिकं वस्तु। १०३३. (इति हेतोः क्षणिकत्वसाधकस्य सत्त्वहेतोर्विरुद्धत्वदर्शनात्)। १०३४. सत्त्वं कर्तृ। १०३५. बौद्धमते सादृश्यविषयकमेव प्रत्यभिज्ञानं तत्सदृशोयं यथा। १०३६. एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य।, १०३७. एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यैव। १०३८. सत्त्वं कर्तृपदम्। १०३९. (सोयं, तत्सदृशोयं, तद्विलक्षणोयं वेत्यादि संकलनरूपं ज्ञानम्)। १०४०. स्मरणप्रत्यक्षाभ्यां सकाशात्।

१०४१. प्रत्यभिज्ञायमानत्वादिति। १०४२. सौगतः। १०४३. तयोः पूर्वोत्तरविवर्तयोः। १०४४. अन्यथेति शेषः। प्रत्यभिज्ञानरूपाया बुद्धेरसंचरदोषप्रसङ्गात्, बुद्धेरनुत्पादप्रसङ्गादिति वा। १०४५. पूर्वोत्तरविवर्तव्यापिनः। १०४६. प्रत्यभिज्ञानरूपायाः। १०४७. (क्षणिकस्य विषयस्य)। १०४८. (प्रत्येकज्ञानस्य पूर्वं जातस्य क्षणिकमते निरन्वयविनाशात्तयोः संकलनरूपायाः प्रत्यभिज्ञाननामिकाया बुद्धेरुत्पत्त्यसंभवादित्यर्थः)। १०४९. बुद्ध्यन्तराजननं कुत इत्याह। १०५०. स्मरणादर्शनयोः। १०५१. गमनं प्रवर्तनम्। १०५२. यतः क्षणिकत्वेन विषयो निरन्वयं विनष्टं। १०५३. यद्यपि नित्यत्वाभावे प्रत्यभिज्ञानलक्षणबुद्धिसंचरणं नास्ति, तथाप्यन्यबुद्धिसंचरणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह जैनः। १०५४. नित्यत्वसाधनप्रस्तावे। १०५५. तदेवेदमिति। १०५६. वासनायाः। १०५७. दर्शनस्मरणयोः। १०५८. संवेदने वास्ये। वासना वासकः। १०५९. बुद्धिकारणमेव वासकमित्याशङ्क्य कथंचिन्नित्यत्वाभावे वास्यवासकभावायोगः कुत इति वाशङ्क्याह। १०६०. कथंचिन्नित्यत्वाभावे। १०६१. कथंचिन्नित्यत्वाभावे। १०६२. प्रत्यभिज्ञानं कर्तृपदम्। १०६३. कथंचिन्नित्यत्वप्रकारेण। १०६४. विच्छित्त्यभावात्। १०६५. बुद्धेः प्रत्यभिज्ञानरूपायाः। १०६६. एतदेव भावयति। १०६७. प्रत्यभिज्ञानस्य। १०६८. बसः। १०६९. सांख्यः। १०७०. सच्चासच्च सदसती, तयोः समयः कालः सदसत्समयः, स्वस्य सदसत्समयः स्वसदसत्समयस्तस्मिन्। सति क्षणिके कारणे सव्येतरविषाणवत् कार्यकारणभावो नास्ति। कारणस्य क्षणिकरूपस्यासत्समयेऽर्थक्रिया नास्ति, मृतस्य शिखिनः केकायितमिव। १०७१. तस्य क्षणिकत्वस्य। १०७२. प्रत्यभिज्ञानरूपबुद्धेः। १०७३. आत्मत्वादिस्वभावस्य सर्वदा विच्छेदाभावात्कालभेदासिद्धेरिति भावः। १०७४. प्रत्यभिज्ञानरूपायाः। १०७५. तदेवेदमिति। १०७६. अत्राहुर्जैनाः— सांख्यमतं न सम्यक्। १०७७. जैनैः। १०७८. एतदेव भावयति। १०७९. पिण्डाद्याकारस्य। १०८०. कटककुण्डलादिपर्यायाकारतया।

१०८१. क्षणिकस्य कारणस्य। १०८२. स्वस्य क्षणिकक्षणस्य कारणस्य। १०८३. 'कारणं', वा पाठः। सर्वथा क्षणिके, न १०८४. यथा न भवति। १०८५. कार्यकरणम्। १०८६. स्वस्य क्षणिकस्य कारणस्य।

तु कथंचित् क्षणिके। १०८७. कार्यकरणम्। १०८८. किं तु कथंचित् क्षणिकस्य स्वसत्समये स्वासत्समये च कार्यं भवत्येवेति व्यवस्थापयति। १०८९. जैनानाम्। १०९०. प्रतीत्या। १०९१. सम्यग्ज्ञानात्। १०९२. सुवर्णादिद्रव्यस्य। १०९३. निराकरोति। १०९४. हेतो:। १०९५. सदसत्समये कार्यकारित्वेन द्रव्ये सम्यक्प्रतीयमाने। १०९६. सम्यग्ज्ञानस्योपाध्याय:। १०९७. सदसत्समये कार्यकारित्वेन। १०९८. एकत्र युगपद् द्वयो:। यौग: (सांख्यो वा)। १०९९. वस्तुनि। ११००. द्रव्यपर्याययोर्भेदैकान्तात् कथमेवास्य स्वसदसत्समये कार्यकरणमिति नैयायिकेनाशङ्किते आह। ११०१. 'द्रव्यपर्याययोर्भेदे' इति पाठान्तरम्। ११०२. नैयायिक: (सांख्य:)। ११०३. सर्वथा क्षणिकत्वबाधनं यस्मात्। ११०४. वस्तुन:। ११०५. तस्य सामान्यप्रत्यक्षस्य। ११०६. मृत्पिण्डाख्यपर्यायस्य वर्तमानकाले इदानीन्तनतयानुभवो विद्यते, स्थासकाले तु स विच्छिद्यते। स्थासस्यापि स्ववर्तमानकाले तथा सोनुभवो विद्यते, कोशकाले तु स विच्छिद्यते। मृद्द्रव्यस्य तु मृत्पिण्डस्थासकोशादिकाले सर्वदैवेदानीं मृदिदानीं मृदित्यनुभवो न विच्छिद्यते। ११०७. द्रव्यातयानुभवविच्छेदे। ११०८. द्रव्यत्वविरोधस्तु अनित्यैकान्तद्रव्यव्यवस्थापनादित्युक्ते आह। ११०९. द्रव्ये। १११०. तत् तस्मात्। ११११. प्रत्यभिज्ञानरूप: पूर्वोत्तरसमयवर्तिकोटिद्वयसंकलनरूपो वा परामर्श:। १११२. भाष्यानुसारितया कारिकां प्रकारान्तरेण व्याख्याति। १११३. क्षणेन। १११४. क्षण:। १११५. अन्येन दृष्टमन्यक्षण: कुतो न प्रत्यभिज्ञातुमर्हति ? यावता कार्यकारणभावलक्षणसंबन्धवशादन्य: प्रत्यभिज्ञातुं समर्थो भविष्यतीत्याशङ्क्याह। १११६. तयो: पूर्वोत्तरक्षणयो: कार्यकारणादिसंबन्धे सत्यपि कुतो न ज्ञातुर्महति ? यावता तयोरुपादेयत्वलक्षणसंबन्धविशेषे सत्युत्तरोपि प्रत्यभिज्ञातुं समर्थ:। इत्युक्ते आह।

१११७. पूर्वापरयोर्दर्शनस्मरणयो: संकलनज्ञानम्। १११८. एतदेव भावयति। १११९. पूर्वोत्तरक्षणयो:। ११२०. पितापुत्रयो:। ११२१. पितापुत्रयो: पूर्वोत्तरप्रमातृक्षणयो:। ११२२. तस्य पृथक्त्वस्य। ११२३. पूर्वोत्तरक्षणेषु। ११२४. पितापुत्रादिलक्षणेषु। ११२५. स्वकीयक्षणेष्वेव। ११२६. न पुन: पितापुत्रादिषु। ११२७. स्याद्वादपक्षे। ११२८. इतरेतराश्रयणम्। ११२९. नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानादिति कारिकापदसमर्थनम्। तदविच्छिदा इति पूर्वोक्तमेव व्याख्याति। ११३०. तस्य स्याद्वादिन:। ११३१. मृत्पिण्डात्स्थासोत्पत्तौ यथा भेद: प्रतिभासते, तथाऽभेदोपि प्रतिभासते मृद्रूपतया यत:। ११३२. स्याद्वादिभि:। ११३३. तस्य अनुगताकारस्थितेरनुभवस्य। ११३४. स्थितिं विना नाशोत्पादप्रकारेण। ११३५. त्रुट्यद्रूपतया निर्णयाभावात्। ११३६. सौगतै: ११३७. चैतन्यशून्य:। ११३८. नित्यत्वैकान्तपक्षे दूषणमाहुरधुना। ११३९. स्वभावेनाविनिर्भागो निरंशत्वं यस्मिन् तस्मिन्। स्वभावाभेदे नित्यपक्षेपीत्यर्थ:। ११४०. न केवलं क्षणिके प्रत्यभिज्ञानाभाव:, किन्तु नित्यपक्षेपीत्यपिशब्दस्यार्थ:। ११४१. प्रत्यभिज्ञानलक्षणम्। ११४२. दर्शनक्षणात्, प्रमातृक्षणादन्यो विषयलक्षण: क्षणो दर्शनक्षणान्तरं, तस्मिन् यथा न संकलनम्। ११४३. निर्विकल्पकप्रत्यक्षाविषये। ११४४. आशङ्क्यम्। ११४५. दर्शनप्रत्यभिज्ञानयो:। ११४६. हेतु:। ११४७. दर्शनं वर्तमानानुभव:। ११४८. प्रत्यभिज्ञानसमयात्। ११४९. प्रत्यवमर्श:, प्रत्यभिज्ञानम्। ११५०. तस्य वस्तुन:। ११५१. सर्वथा क्षणिकपक्षे नित्यपक्षे च। ११५२. ज्ञानं प्रत्यक्षादि। ११५३. कथंचित्क्षणिकं कथंचिच्च नित्यमिति सिद्धि:। ११५४. अनेकान्ते एव ज्ञानसंचारो यदि, तर्हि अनेकान्तस्य प्रत्यक्षेणैव प्रतीतेस्तत्सिद्ध्यर्थं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्याद्यनुमानं निरर्थकं स्यादित्युक्ते आह। ११५५. संदेहापन्नं प्रति। भेदकल्पनयैव। ११५६. आदिपदेन उत्पत्तिव्ययौ। ११५७. स्थित्यादीनां परस्परभेदकल्पनेन। ११५८. परस्परनिरपेक्षे सर्वथा नित्येऽनित्ये च।

११५९. तयो: कथंचिन्नित्यानित्ययो:। ११६०. एकस्य वस्तुन: सर्वथा नित्यत्ववत्सर्वथा क्षणिकत्ववद्वा। ११६१. एकस्य वस्तुन उत्पादादिस्वरूपत्वे विरोधाद्यनुषङ्ग इत्युक्ते आह। ११६२. एकस्मिन् वस्तुनि उत्पादादिस्वभावभेदोपलम्भेपि। ११६३. नानात्वं वैयधिकरण्यम्। ११६४. यथैकस्मिन् चेतसि ज्ञानक्षणे ग्राह्यग्राहककाकारौ न नाना, न च विरुद्धावित्यादिवत्। ११६५. प्रत्यक्षेण। ११६६. अन्यथेति शेष:। ११६७. सौगतेनाङ्गीक्रियमाणे (यदि तर्हि) सति तु। ११६८. वस्तुनि। ११६९. एकत्वमित्यर्थ:। ११७०. यद्यशक्य-

विवेचनत्वात्सर्वत्रैकत्वं तर्हि रूपरसादीनामप्येकत्वमस्त्वित्याशङ्कायामाह जैनः। ११७१. मातुलिङ्गादौ। ११७२. रूपरसादीनाम्। ११७३. एवं तर्ह्यात्माकाशादीनामप्येकवस्तुत्वमस्त्वित्याशङ्क्याह जैनः। ११७४. परैकद्रव्यतादात्म्यभावः किमिति प्रतिपाद्यते। यावता सत्तालक्षणपरैकद्रव्यतादात्म्यमस्त्येवात्मादीनामित्याशङ्क्याह। सत्तालक्षणस्यैकद्रव्यस्य तादात्म्ये। ११७५. आत्माकाशादीनामपि। ११७६. सत्तालक्षणम्। आत्माकाशादयस्तस्य पर्यायाः। ११७७. यतो नानात्वं न। ११७८. एकत्वपक्षे सौगतोक्तदोषः। अनेकत्वपक्षे अद्वैतवाद्युक्तदोषः। ११७९. यथा चौरादचौरः पारदारिकाद्वा अपारदारिको भिन्नः। ११८०. स्थित्यादेरप्येकवस्तुन्यनुपलम्भो भविष्यति। ततश्च विरोधोनुपलम्भप्रकारेण भवेदित्याशङ्कायामाह। ११८१. एवं जात्यन्तरत्वे सति। ११८२. विरोधस्य। ११८३. एकस्मिन्वस्तुन्येकदा शीतोष्णयोरनुपलम्भोऽतस्तत्र विरोधः। यत्र वस्तुन्येकत्र स्थित्यादीनामुपलम्भस्तत्र तु न विरोधः। ११८४. यथैकस्यामेव संविदि युगपद् वेद्यवेदकाकारयोरुपलम्भः। ११८५. एकत्र वस्तुनि। ११८६. चलिता प्रतिपत्तिश्च संशयः। ११८७. चलनाभावादेव। ११८८. द्रव्यापेक्षया। ११८९. पर्यायापेक्षयाभ्युपगतयोः। ११९०. एकवस्तुनि। ११९१. ततो न दूषणरूप इत्यर्थः। ११९२. यथा संविदि वेद्यवेदकाकाराणां परस्परगमनाभावः। ११९३. संकरव्यतिकरप्रसङ्गनिराकरणेन। ११९४. वस्तुनि। ११९५. स्थितिं प्रति, विनाशं प्रति, उत्पादं प्रति च प्रत्येकम्। ११९६. स्थित्यादेरप्येकवस्तुन्यन्यानुपलम्भो भविष्यति। ततश्च विरोधोनुपलम्भप्रकारेण भवेदित्याशङ्कायामाह। ११९७. परस्परसापेक्षत्वेन। ११९८. (प्रमाणापेक्षया यदनेकान्तं तदेव नयार्पणापेक्षयां एकान्तरूपं भवतीत्यर्थः)। ११९९. नयप्रमाणप्रकारेण। १२००. परस्परसापेक्षसम्यगेकान्तस्य नयस्य।

१२०१. स्वरूपेण। १२०२. वस्तु। १२०३. सत्तास्वरूपेण। १२०४. व्ययं न प्राप्नोति वस्तु। १२०५. सत्यं यथा भवति तथेत्यर्थः। १२०६. पर्यायापेक्षयेर्त्थः। १२०७. ते भगवतः। १२०८. वस्तुनि। १२०९. सदित्युक्ते वस्तु इत्यर्थः। उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं सत्। सद् द्रव्यलक्षणम्। १२१०. (असत्यतयान्वयदर्शनस्य हेतुत्वं मा भूदिति व्यक्तग्रहणम्)। १२११. यतस्तत्रोत्पत्तिविनाशौ दृश्येते। १२१२. व्यक्तमित्युक्तेपि कुतो न व्यभिचार इत्युक्ते आह। १२१३. त एवैते नखादय इत्येकत्वान्वयो बाध्यते प्रमाणेन। ततश्च तत्सदृशा इमे नखादयः इति वक्तुं घटते। १२१४. असत्यत्वात्। १२१५. अन्वयाकारेण। १२१६. विशेषाः, पर्याया भेदा वा। नाशोत्पादरूपविशेषानुभवादेव। मृत्पिण्डे विनाशोप्यनुभूयते इत्येकानुभवविषयौ नाशोत्पादाववगन्तव्यौ। १२१७. यतः शुक्ले शङ्खे पीताद्याकारलक्षणस्य भ्रान्तदर्शनविशेषस्यानुभवेपि तद्विनाशोत्पादाभावस्तत्र। १२१८. किन्तु शुक्लाकारविनाशेनेह जहद्वृत्तिरेव पीताकारः। १२१९. जीवादौ। १२२०. उत्पादादिरूपतया भेददर्शनम्। १२२१. विशेषदर्शनस्य। १२२२. अन्वयदर्शनात्स्थितिप्रकारेण विशेषदर्शनादुत्पादादिप्रकारेण च। १२२३. जीवादिवस्तुनः सकाशात्। १२२४. उत्पादविनाशमात्रस्य स्थितिमात्रस्य च। १२२५. उत्पादविनाशयोः पर्यायनयविषयत्वं स्थितेस्तु द्रव्यार्थिकनयविषयत्वमिति भावः। १२२६. परस्परसापेक्षत्वेन प्रकटीभूतस्य। १२२७. समुदितस्य। १२२८. (प्रकृतकारिकायाम्) १२२९. उत्पादविनाशकारौ स्थितिमात्रं त्वचलशब्देन। १२३० घटादिषु। १२३१. कालाणवादिः परः। १२३२. द्रव्यरूपेण। १२३३. परपक्षनिराकरणे युक्तिमाह। १२३४. पुद्गलस्य। १२३५. पर्यायरूपेणेव द्रव्यरूपेणापि।

१२३६. पर्यायान्तरस्य। १२३७. यथा घटस्य मृद्रूपेण सतो घटलक्षणातिशयोपलम्भः। १२३८. सदादिसामान्यात्मना सत एव। १२३९. नापि विनाश एव न च स्थितिरेवेत्यनन्तरं वक्ष्यमाणद्वयमादिशब्देन लभ्यम्। १२४०. प्राक्तनहेतुः साध्यद्वयोपि योज्यतेत्रेति भावः। १२४१. तन्त्वादौ पटस्वभाव एव, न तु घटस्वभावः। १२४२. घटस्वभावभूतमृदादिसामान्यरूपेण। १२४३. सदादिसामान्येन। १२४४. उपादानमृत्पिण्डस्य। १२४५. उपलभ्यते। १२४६. तेनैव सतोतिशयान्तराधानं घटो भवतु। तथाप्यतिप्रसङ्गपरिहारः कथमित्याशङ्ककायामाह। १२४७. प्राक्सतोतिशयान्तरोपलब्धिः। १२४८. सर्वव्यक्तिव्यापित्वात्साधारणत्वं सदादिसामान्यस्य। १२४९. 'गतसामान्येन' मुद्रितप्रतौ पाठः। १२५०. मृत्पिण्डतन्त्वादिव्यक्त्यपेक्षया साधारणत्वं पार्थिवत्वस्याप्तेजोवाय्वाद्यपेक्षयाऽसाधारणत्वं च। १२५१. घटादिरुपेण। नेति सम्बन्धः। १२५२.

मृदादिद्रव्यस्य। १२५३. कपालमालायां घटोपलब्धिः। १२५४. तस्य घटस्य। १२५५. मृद्रूपतया विद्यमानस्य। १२५६. घटभावेन। १२५७. घटविनाशोत्तरकालम्। १२५८. प्रध्वंसाभावात्मकस्येत्यर्थः। मृदादिद्रव्यस्य। १२५९. कपालरूपेण सतोपि घटस्य। १२६०. तस्य घटस्य। १२६१. कार्यस्वरूपाणाम्। १२६२. सव्यविषाणस्थानेऽसव्यविषाणस्य, असव्यस्थाने च सव्यस्योत्पत्तिप्रसङ्गः। १२६३. 'प्रागभावाप्रागभाव्यविशेषात्' इति कपुस्तकपाठः। १२६४. सव्यविषाणस्य। १२६५. (सौगत आह) यत्र वस्तुनि। १२६६. कार्यस्य। १२६७. जैनो वक्तीतः। १२६८. तथापि दक्षिणविषाणे सव्योत्पत्तिः स्यात्। १२६९. अभावस्य नीरूपत्वे सति। १२७०. अभावस्य भावान्तरस्वभावत्वासंभवविशेषो यतः। १२७१. विषाणादीनाम्। १२७२. प्रागभावनियमः। १२७३. प्रागभावस्य तुच्छत्वपक्षे। १२७४. विवक्षितगोमस्तकप्रदेशे। १२७५. इति अनेन प्रकारेण। १२७६. उत्पत्तिपक्षस्य। १२७७. न केवलमुत्पत्तिनियम इत्यपिशब्दार्थः। १२७८. तस्य प्रागभावस्य। १२७९. अन्यथा, उत्पत्त्या प्रागभावावगतिश्चेत्तर्हि।

१२८०. प्रागभावस्याभावस्वभावत्वे उपादानसङ्करप्रसङ्गो यतः। १२८१. यथा घटस्य प्रागभावो मृत्पिण्डः। १२८२. घटोत्पादः। १२८३. मृत्पिण्डलक्षणस्य। १२८४. एकहेतुनियमात्। य एव हेतुः कार्योत्पादस्य स एवं क्षयस्य। १२८५. एवमुत्पादविनाशयोरेकहेतुकत्वे भेद एव द्वयोः स्यादित्युक्ते आह लक्षणादिति, लक्षणभेदादित्यर्थः। १२८६. जात्याद्यवस्थानात् तौ न पृथक्। जातिः सामान्यम्। १२८७. उत्पादादयो निरपेक्षा भविष्यन्तीत्युक्ते आह। १२८८. एकहेतुकत्वादिति यावत्। अयं व्यतिरेकी हेतुः। १२८९. उपादानक्षयादन्यः। १२९०. घटस्यानुपादानं तन्तवः, तेषां क्षयस्तस्याग्न्यादिभिन्नहेतुकत्वम्। तन्त्वपेक्षयानुपादेयो घटः। तस्योत्पादः। तस्य मृदादिरूपभिन्नहेतुकत्वम्। १२९१. एकहेतोर्नियमो न दृष्टः। १२९२. एकहेतोः। १२९३. तयोः जन्मविनाशयोर्मध्ये जन्म, कपालामालाया उत्पादः सहेतुकः, विनाशस्तु निर्हेतुक इति बौद्धोक्तस्य नियमवचनस्य। १२९४. यौगः। १२९५. घटविनाशस्य। १२९६. अवयवकर्म, परमाण्वादिगतक्रिया। १२९७. बलवत्पुरुषादिस्वारम्भकावयवादिलक्षणायाः प्रक्रियायाः कथनस्य। १२९८. सा क्रिया। १२९९. घटविनाशकपालोत्पादयोः। १३००. अवयवविभागः। १३०१. एकहेतुः, मुद्गरादिः। घटविनाशकपालोत्पादयोः। १३०२. महास्कन्धो घटादिः। १३०३. लघुः कपालमाला। १३०४. भेदश्च संघातश्च तदुभयं चेति, तेभ्यः। महास्कन्धानां भेदेभ्यो लघुकार्याण्युत्पद्यन्ते। लघुस्कन्धानां संघातेभ्यो महाकार्याण्युत्पद्यन्ते इति भावार्थः। १३०५. महाशास्त्रतत्त्वार्थाधिगमसूत्रकर्तुः श्री-उमास्वामिनः।

१३०६. स्वस्य कपालस्य। १३०७. (साध्यविकलत्वं समर्थयन्ति)। तन्तवः कारणरूपाः। १३०८. पटसमानपरिमाणतया प्रतीतिः कथमित्याशङ्क्याह—कार्योन्मुखानाम्। १३०९. पटपरिणामं प्रति। १३१०. रण्डाकरण्डतन्तूनामपि पटपरिणामत्वप्रसङ्गात्। १३११. पटस्वरूपेणापरिणतं पटस्वरूपं न भवति। १३१२. तेन तेनासाधारणेन (प्रतिविशिष्टेन) रूपेण भवनं तद्भावः। १३१३. (वाचकमुख्यस्य श्री-उमास्वामिनः)। १३१४. अयं पटपरिणामः, अयं परिणामी तन्तुरित्येवम्। १३१५. तव यौगस्यापि। प्रत्ययभेदाद्भेदेऽङ्गीक्रियमाणे। १३१६. सत्सु तन्तुषु पटो नासत्स्विति। १३१७. (अन्वयव्यतिरेकौ स्पष्टयन्ति)। १३१८. पर्यायरूपेणेव द्रव्यरूपेणापि। तन्तुत्वेनापि त्यक्तरूपस्येत्यर्थः। १३१९. तन्तुपिण्डस्य। १३२०. (नित्यवादिमतेनोदाहरणम्) यथाऽपरित्यक्तात्मपूर्वरूपवर्तिनस्तन्तुसमूहस्य पटं प्रत्युपादानत्वायोगः। १३२१. उपादानोपादेयरूपस्य। १३२२. द्रव्यं तन्तुः, भावः पटः, तयोः। १३२३. उपादानोपादेयभावस्य। १३२४. तन्तुपिण्डानाम्। १३२५. तस्य उपादानोपादेयभावस्य। १३२६. तस्य, उपादानोपादेयभावस्य। १३२७. मृत्पिण्डादीनाम्। १३२८. आतानवितानीभूतं तन्तुद्रव्यमसाधारणम्। १३२९. आतानवितानरूपः पूर्वाकारः। १३३०. पटलक्षणम्। १३३१. त्यक्तं पर्यायरूपेण, अत्यक्तसाधारणद्रव्यरूपेण। १३३२. पूर्वरूपमुन्दुकाद्यपेक्षया त्यक्तात्मकं तन्त्वपेक्षयाऽत्यक्तात्मकम् (अतस्तन्त्वपेक्षया पूर्वरूपेण वर्तते पटापेक्षया तु अपूर्वरूपेण वर्तते)। १३३३. यद्, द्रव्यम्। १३३४. बौद्धमतानुसारेण। १३३५. सांख्यमतानुसारेण। १३३६. क्रमेणोदाहरणद्वयम्। १३३७. आतानवितानविशेषरहित उन्दुकाकारः। १३३८. तन्तुकादेः। १३३९. उत्पत्तिमपेक्ष्य प्रतिपाद्यमानं पटवदिति।

१३४०. कार्यत्वादिति। १३४१. सूक्ष्मरूपेण स्थूलरूपेण च। १३४२. हेतोः। १३४३. विरुद्धः कार्यत्वादिति हेतुरित्यनेन पूर्वोक्तेनान्वयः। १३४४. मुद्गरादिप्रहारो निमित्तकारणमुपादानकारणं चोभयोरेको मृत्पिण्डः। १३४५. घटविनाशकपालोत्पादभावस्य। १३४६. तयोरुत्पादविनाशयोः। १३४७. एकहेतुकत्वनियमादित्यर्थः। १३४८. उपादानस्य क्षयः। १३४९. नाशोत्पादयोर्लक्षणभेदात्। १३५०. पर्यायापेक्षया। १३५१. बसः (बहुव्रीहिसमासः)। १३५२. परो वक्ति— एकमृत्पिण्डे कार्यकारणयोरभेदोस्ति भवन्मतापेक्षया तथापि साधनमस्ति, अतो व्यभिचार इत्युक्ते आहुर्जैनाः। १३५३. कार्यकारणरूपयोः। १३५४. नियतपूर्वक्षणवर्तित्वं कारणलक्षणम्। नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम्। १३५५. (सर्वथा)। १३५६. द्रव्यापेक्षया। १३५७. ताभ्यामुत्पादविनाशाभ्यां सहाभेदेन स्थिताश्च ते जातिसंख्यादयः, ते आत्मानो ययोर्नाशोत्पादयोः। तदभेदस्थितितज्जातीत्यादि पाठान्तरम्। १३५८. पुरुषनाशोत्पादौ यथा कथंचिदभिन्नौ। १३५९. नाशोत्पादौ भिन्नौ न। १३६०. जात्याद्यवस्थानेपि भिन्नलक्षणसंबन्धिनौ कुतो न भवेतामित्याशङ्क्याह। १३६१. उत्पादविनाशादिरूपा शक्तिः। १३६२. तेषामुत्पादादीनाम्।

१३६३. यथैकस्मिन् मातुलिङ्गे रूपरसादयः कथंचिद्भिन्नाः। १३६४. सांख्यः। १३६५. उत्पादाद्यात्मनः। १३६६. कथंचिदभिन्नलक्षणत्वादिति पाठान्तरम्। १३६७. (तेषामुत्पादादीनाम्) १३६८. (सूत्रकारवचः) १३६९. तेषामुत्पादादीनाम्। १३७०. वस्तुनः। १३७१. उत्पादः सन्, स्थितिरपि सती, विनाशः सन्नित्येवम्। १३७२. अङ्गीक्रियमाणे। १३७३. उत्पादादीनां प्रत्येकम्। १३७४. उत्पादादयः केवला न सन्त्येवेति ग्रन्थकथनेन। १३७५. उत्पादादेः। १३७६. एको हेमघटार्थी, अन्यो हेममौल्यर्थी, तृतीयः केवलं सुवर्णार्थी। १३७७. क्रमेण कारणभूतेषु। १३७८. यथाक्रमं कार्यभूतम्। १३७९. स्वामिसमन्तभद्रः। १३८०. जनस्य। १३८१. तेषां घटमौलिसुवर्णार्थिनां क्रमेण यद्विषादहर्षौदासीन्यानि तेषाम्। १३८२. तेषां विषादादीनाम्।, १३८३. बौद्धेनाङ्गीक्रियमाणे। अयमाशयः—पराशङ्का, विषादादीनां हेतवो न केचित् सन्ति, किन्तु पूर्वविषादादिवासनामात्रनिमित्ताद्विषादादयो जायन्ते, इत्युक्ते बौद्धेन जैनैः पूर्वतद्वासनेत्याद्युक्तम्। १३८४. तेषां विषादादीनाम्। १३८५. पुनराह सौगतः। १३८६. घटभङ्गादिज्ञापककारणनियमात्। १३८७. इतो जैनः। १३८८. अन्वयः स्थितिः।

१३८९. तेषामुत्पादादीनाम्। १३९०. 'प्रतीतेः' मुद्रितप्रतौ पाठः। १३९१. पयो दुग्धमेवाहं भुञ्जे इति यस्य व्रतं नियमः स न दध्यत्ति, दधि अहं भुञ्जे इति यस्य व्रत्तं नासौ पयोत्ति। यस्य चागोरसमहं भुञ्जे इति व्रतं नासावुभयमत्ति, यतो गोरसरूपेण तेषामेकत्वात्, तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्। १३९२. गोरसशब्देन दधिदुग्धद्वयं गृह्यते। १३९३. दधिशब्दस्यार्च्यत्वात्पूर्वनिपातः। अत एव नाशादिभिः सह यथासंख्यं न कर्त्तव्यम्। किन्त्वलङ्कारकारैर्विद्यानन्दिभिर्वक्ष्यमाणार्थ एवात्रापि द्रष्टव्यः। १३९४. पुंसाम्। १३९५. इति, एवं त्रयात्मकत्वेन प्रतीतिविषयीकरोतीत्यर्थः। १३९६. पयःस्वरूपेण नश्यति गोरसमिति साध्यं ध्येयम्। १३९७. अङ्गीक्रियमाणे। १३९८. दध्नोत्पद्यते इति साध्यमत्र। १३९९. अस्ति च पयोवर्जनम्। १४००. गोपयसोर्भिन्नतया अगोरसान्तः-पातित्वे सतीत्यर्थः। १४०१. एवम्, एकवस्तुनस्त्रयात्मकत्वप्रकारेण। १४०२. कथंभूतो घटोत्पादः ? पटोत्पादाद्व्यावृत्तः, मठोत्पादाद्व्यावृत्तः, लुकटोत्पादाद् व्यावृत्तः। एवं स्थितिनाशौ चानन्तार्थस्थितिनाशाभ्यां व्यावृत्तौ। १४०३. व्यावृत्तानाम्। १४०४. नन्वेवं व्यावृत्तीनामेवानन्त्यं स्यान्न तु तदपेक्षयोत्पत्त्यादीनां, तासामवस्तुरूपत्वादित्याशङ्क्याह। १४०५. अगोव्यावृत्तिर्गौः, अपटव्यावृत्तिः पट इत्यादीनाम्। १४०६. विवक्षा चाविवक्षा चेत्यादिकारिकाव्याख्याने तदेकैकशः परस्परं व्यावृत्तोपि परिणामविशेषा इत्यादिना, यथावसरमन्यत्र च समर्थनात्। १४०७. तेन प्रकारेण। १४०८. एकस्मिन् वस्तुन्येव। १४०९. एकस्मिन्नेव वस्तुनि। १४१०. आशिषमाह। १४११. सर्वेषां मङ्गलानां मध्ये उत्कृष्टं मङ्गलमित्यर्थः। १४१२. स्वामिनो विशेषणं प्रेक्षावत्त्वं ज्ञेयम्।

•

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

जीयादष्टसहस्री देवागमसंगतार्थमकलङ्कम्[१]।
गमयन्ती सन्नयतः[२] प्रसन्नगम्भीरपदपदवी[३]।।१।।

कार्यकारणनानात्वं[४] गुणगुण्यन्यतापि[५] च।
सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन[६] यदीष्यते।।६१।।

५५२. कार्यग्रहणात्[७]कर्मणोरवयविनो[८]ऽनित्यस्य[९] गुणस्य प्रध्वंसाभावस्य[१०] च ग्रहणं, कारणवचनात् समवायिनस्तद्वतः[११] प्रध्वंसनिमित्तस्य[१२] च। गुणशब्दशब्दान्नित्यगुण[१३]प्रतिपत्तिः, गुणिवचनान्तदाश्रयस्य[१४]। सामान्याभिधानात्परापर[१५]जातिप्रत्ययः। तद्वद्वचनादर्थ[१६]प्रत्यय[१७] इति। क्रियातद्वतो[१८]रवयवा[१९]वयविनोर्गुण[२०]गुणिनोर्विशेषतद्वतोः सामान्यतद्वतोरभाव[२१]तद्विशेष्ययोश्चान्यतैव, भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविन्ध्य[२२]वदित्युक्तं भवति। न चात्रासिद्धो हेतुः, साध्यधर्मिणि[२३] भिन्नप्रतिभासत्वस्य सद्भावनिश्चयात्। तत एव न सन्दिग्धासिद्धोऽज्ञातासिद्धो वा। नाप्यन्यतरासिद्धो, वादिप्रतिवादिनोरविवादात्। भिन्नपुरुषप्रतिभाविषयेणाभिन्नेनार्थेन व्यभिचार[२४] इति चेन्नैकपुरुषापेक्षया भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतुत्वात्। तथापि क्रमेणैकप्रतिपत्तृभिन्नप्रतिभाविषयेणैकेन वस्तुना[२५]नेकान्त इति चेन्न, भिन्नलक्षणत्वस्य[२६] भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतुत्वात्। भिन्नं हि लक्षणं कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्च। न चैकस्य वस्तुनो भिन्नलक्षणत्वेन प्रतिभासोस्ति, येन व्यभिचारः।[२७] तत एव न विरुद्धो हेतुः, साकल्येनैकदेशेन वा[२८] विपक्षे[२९] वृत्त्यभावात्। नापि कालात्ययापदिष्टः, पक्षस्य प्रत्यक्षागमबाधाऽभावात्।[३०] कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोस्तादात्म्यमभिन्नदेशत्वात्। ययोस्तादात्म्यं[३१] न तयोरभिन्नदेशत्वम्। यथा सह्यविन्ध्ययोः। अभिन्नदेशत्वं च प्रकृतयोः तस्मात्तादात्म्यम्। इत्यनुमानेन पक्षस्य[३२] बाधेति चेन्न,[३३] शास्त्रीयदेशाभेदस्या[३४]सिद्धत्वात्, कार्यस्य[३५] स्वकारणदेशत्वात् कारणस्यापि स्वान्यकारणदेशत्वात्।

५५३. एतेन गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्च देशभेदस्य[३६] प्रतिपादनात्, लौकिकदेशाभेदस्य तु व्योमात्मादिभि[३७]र्व्यभिचाराद[३८]स्यानुमानस्यासमीचीनत्वात्, प्रकृत[३९]पक्षबाधकत्वासंभवात्। कथंचित्तादात्म्यस्य[४०] प्रत्यक्षतः प्रतीतेः सर्वथा भेदपक्षस्य बाधेति चेन्न, तद्विरोधात्[४१]। तत एव भेदो मा[४२] भूदिति चेन्न, भेदस्य पूर्वसिद्धत्वात्[४३] तादात्म्यस्य पूर्वसिद्धेरसिद्धेः। सिद्धौ[४४] वा कार्यकारणादिविरोधात्, धर्मधर्मित्वा[४५]धिकरणाधेयतादिविरोधात्, क्रियाव्यपदेशादि[४६]भेदविरोधाच्च तयोर्न तादात्म्यं, भेदतादात्म्ययोर्वैयधिकरण्याच्च परस्परविरोधा[४८]च्छीतोष्णस्पर्शवत्। तयोरैकाधिकरण्ये संकरव्यतिकरापत्तिः। तदनापत्तौ पक्षद्वयोक्त[४९]दोषानुषङ्गः। प्रत्येकं तद्[५०]द्विरूपत्वोपगमे वाऽनवस्थानादप्रतिपत्तिरभावश्च। इति वैशेषिकस्य **अवयवगुणसामान्यतद्वतां व्यतिरेकैकान्तमाशङ्क्य[५१] प्रतिविधत्ते—**

एकस्यानेक[५२]वृत्तिर्न भागाभावाद्[५३]बहूनि वा।
भागित्वाद्वा[५४]स्य नैकत्वं दोषो वृत्ते[५५]रनार्हते[५६]।।६२।।

५५४. कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्चान्यत्वमेकान्तेन यदीष्यते तदैकस्य कार्यद्रव्या[५७]देरनेकस्मिन् का[५८]रणादौ वृत्तिरेषितव्या, त[५९]दनिष्टौ कार्यकारणभावादिविरोधादकार्यकारणा[६०]दिवत्। तद्वृत्तिश्चाभ्युपगम्यमाना प्रत्या[६१]श्रयमेकदेशेन सर्वात्मना वा स्यात्? **तत्र[६२] एक[६३]मनेकत्र[६४] वर्तमानं प्रत्यधिकरणं न तावदेकदेशेन, निष्प्रदेशत्वात्[६५]। नापि सर्वात्मना[६६], अवयव्यादिबहुत्वप्रसङ्गात्।**

यावन्तो ह्यवयवास्तावन्तोऽवयविनः स्युस्तस्य प्रत्येकं सर्वात्मना वृत्तत्वात्। यावन्तश्च संयोग्यादयो गुणिनस्तावन्तः संयोगा[६७]दयोनेक[६८]स्था गुणाः प्रसज्यन्ते। यावन्तः सामान्यवन्तोर्थास्तावन्ति सामान्यानि भवेयुस्तत एव। **अथापि[६९] कथंचित्प्रदेशवत्त्वं** मन्येतावयव्यादीनां **तत्रा[७०]पि[७१] वृत्तिविकल्पोनवस्था च**। तथात्रा[७२]वयव्या[७३]दि सर्वं **तदेकमेव न स्यादिति** वृत्तेर्दोषोऽनार्हते मते दुर्निवारः। नैकदेशेन वर्तते, नापि सर्वात्मना। किं तर्हि? वर्तते एवेति चा[७६]युक्तं, प्रकारा[७७]न्तराभावात्।

५५५. ननु च समवाय एव प्रकारान्तरं वर्तते, समवैतीति[७८] संप्रत्ययात्, त[७९]द्व्यतिरेकेण वृत्त्य[८०]र्थासंभवादिति चेन्न, तत्रै[८१]व विवादात्। एतदेव हि विचार्यते, किमेकदेशेन समवैति प्रत्याश्रयं सर्वात्मना वाऽवयवादिष्ववयव्यादिः, गत्यन्तराभावादिति। तत्र[८२] च निगदितो दोषः। तदेवं कार्यगुणसामान्यानां स्वाश्रयेभ्यो[८३] विवादापन्नेभ्यो नैकान्तेनान्यत्वं, तत्र वृत्त्यु[८४]पलब्धेः। यस्य तु यतोन्यत्वैकान्तस्तस्य तत्र न वृत्त्युपलब्धिः। यथा हिमवति विन्ध्यस्य। वृत्त्युपलब्धिश्चावयव्यादेः स्वाश्रयेषु। तस्मान्नैकान्तेनान्यत्वम्। इत्यनु[८५]मानेन तन्ना[८६]नात्वपक्षस्य बाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टो भिन्नप्रतिभासत्वादिति[८७] हेतुः।

५५६. नन्विदमनुमानमसम्यक्, स्थाल्यां दध्नानैकान्तिकत्वात् ततोऽन्यस्यापि दध्नस्तत्र वृत्त्युपलब्धेः। [८८]संयोगो हि वृत्तिरर्थान्तरभूतयोरेव प्रतीयते नान्यथेति[८९] न मन्तव्यं, संयोगिनोः[९०] संयोगपरिणामात्मनोः सर्वथान्यत्वासिद्धेरन्यथा त[९१]दभावप्रसङ्गात्। ता[९२]भ्यां भिन्नस्य संयोगस्योत्पत्तौ हि कथमेक[९३]स्यान्य[९४]त्र संयोग इति व्यपदेशो यतः स[९५] एव वृत्तिः स्यात्? ता[९७]भ्यां तस्य जननात्तथा[९८] व्यपदेश इति चेन्न, कर्मणा[९९] कालादिना च तज्जननात्तथाव्यपदे[१००]शप्रसङ्गात्। तयोः समवायिका[१०१]रणत्वात्तस्य[१०२] तथा[१०३] व्यपदेश इति चेत्कुतः समवायिकारणत्वं तयोरेव न पुनः[१०४] कर्मादेरिति नियमः? इह संयोगिनोः इति प्रत्ययात्तत्र तस्य समवायसिद्धेरिति[१०५] चेत्स तर्हि समवायः पदार्था[१०६]न्तरं कथम[१०७]त्रैवेहे[१०८]दमिति प्रत्ययं कुर्यान्न पुनः कर्मादिषु[१०९] भेदाविशेषेपीति न बुद्ध्यामहे। तैरेव समवायि[११०]भिर्विशेषणविशेष्य[१११]भावसिद्धेः समवायस्य तत्रैवेहेदमिति प्रत्ययोत्पत्तिर्न तु कर्मादिषु, त[११२]दसिद्धेरिति चेत् स[११३] एवं कुतः[११४] सर्वत्र न स्यात्?

५५७. तादृगदृष्टविशेषनियमादिति चेत्, किं विशेषणविशेष्यभावेन समवायेन संयोगेन वा? तादृगदृष्टविशेषादेव समवायविशिष्टाः[११५] समवायिन[११६] इति प्रत्ययस्येहेदमिति[११७] विज्ञानस्यात्रेदं संयुक्तमिति बुद्धेश्च जननप्रसङ्गात्। सर्वस्य वा प्रत्ययविशेषस्यादृष्टविशेषवशवर्तित्वसिद्धेः किं पदार्थभेदप्रभेदपरिकल्पनया? इति[११८] विज्ञानवादप्रवेशः स्यात्, तस्यै[११९]वादृष्टविशेष[१२०]त्वसिद्धेः, चेत[१२१]ना कर्मेति विज्ञानवादिभिरपि प्रतिपादनात्। तेषां[१२२] वासनाविशेष एव ह्यदृष्टम्। स[१२३] च पूर्वविज्ञानविशेषः[१२४]। इति न विज्ञानमात्राददृष्टमन्यत् स्यात्।

५५८. ननु च नाप्रबुद्धा वासना प्रत्ययविशेषं[१२५] प्रसूते सकृत्सर्वप्रत्ययविशेषप्रसङ्गात्[१२६][१२७]। प्रबुद्धा तु तमुपजनयन्ती प्रबोधकहेतूनपेक्षते। ते च बहिर्भूता एवार्था इति न विज्ञानमात्रं तत्त्वमनुषज्यते इति चेन्न[१२८], विज्ञानविशेषादेव वासनाप्रबोधस्य सिद्धेः, तदभावे[१२९] बहिरर्थस्य सत्तामात्रेण[१३०] तदहेतुत्वादन्यथातिप्रसङ्गात्[१३१][१३२][१३३]। न च नीलादिविज्ञानादेव तद्वासनाप्रबोधस्तत्प्रबोधादेव[१३४] च नीलादिज्ञानमिष्यते[१३५], यतः परस्पराश्रयः स्यात्[१३६], तदधिपतिसमनन्तरादिविज्ञानानामेव[१३७] नीलादिज्ञानजनकानां तद्वासनाप्रबोधकत्वात् तद्वासनानामपि तत्कारण-[१३८] विज्ञानेभ्यः प्रबोधोपगमात्, इत्यनादिरयं वासनासरित्परिपतितस्तत्प्रबोधप्रत्ययसार्थस्तद्विज्ञानप्रवाहश्च[१३९], इति किं बहिरर्थैः? कल्पयित्वाप्येतान्विज्ञानानि[१४०] प्रतिपत्तव्यानि, तैर्विना[१४१] तद्व्यवहाराप्रसिद्धेः[१४२]। सत्सु च तेषु बहिरर्थाभावेपि स्वप्नादिषु तद्व्यवहारप्रतीतेरलं[१४३] बाह्यार्थाभिनिवेशेन। ततो बहिरर्थं[१४४] व्यवस्थापयितुं मनसा[१४५] नादृष्टमात्रनिमित्तो विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययोनुमन्तव्यः, तस्य[१४६] द्रव्यादिप्रत्ययवद्बहिरर्थविशेषविषयत्वस्यावश्यमाश्रयणीयत्वात्[१४७][१४८]। तथा चानवस्थानात्[१४९][१५०] कुतः संयोगिभ्यां संयोगोर्थान्तरभूतः समवायवृत्त्या तयोरिति[१५१] व्यपदिश्येत ?

स[१५२] एव च स्थाल्यां दध्नो वृत्तिरिति[१५३] न तेनानेकान्तिको हेतुः[१५४] स्यात्। तत[१५५] एव न विरुद्धः, सर्वथार्थान्तरभूतस्य[१५६] क्वचिद्वृत्त्युपलब्धेरभावात्[१५७]। ततो निरवद्यमिदमनुमानं भेदपक्षस्य बाधकम्, इति[१५८] तत्र प्रर्वतमानो हेतुः[१५९] कालात्ययापदिष्ट एव, प्रत्यक्षविरुद्धत्वाच्च पक्षस्यावयवावयव्यादीनां[१६०][१६१] कथंचित्तादात्म्यस्यैव साक्षात्करणात्।

५५९. नन्वेवमपि[१६२] वृत्तेर्दोषो यथोपवर्णितः स्याद्वादिनां प्रसज्यते इति चेन्नायं **प्रसङ्गोऽनेकान्ते, कथंचित्तादात्म्याद्वेद्यवेदकाकारज्ञानवत्।** यथैव हि ज्ञानस्य वेद्यवेदकाकाराभ्यां तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वात् किमेकदेशेन सर्वात्मना वेति विकल्पयोर्न विज्ञानस्य सावयवत्वं बहुत्वं वा प्रसज्यतेऽनवस्था वा, तथावयव्यादेरप्यवयवादिभ्यस्तादात्म्यशक्यविवेचनत्वादेव नैकदेशेन प्रत्येकं सर्वात्मना[१६३] वा यतस्ताथागतः सर्वथा भेद इवावयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्येपि वृत्तिं दूषयेत्।

५६०. एतेन[१६४] वैशेषिकोपि न कथंचित्तादात्म्ये वृत्तिविकल्पादिदूषणमापादयितुमीशः[१६५], सामान्य-विशेषवत्तत्र[१६६][१६७] तदनवकाशात्[१२४]। न ह्यपरसामान्यं व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वादिशेषाख्यामपि[१६९][१७०] लभमानमपह्नोतुं शक्यं, तस्य[१२४] सामान्यैकरूपत्वेऽपरविशेषाभावप्रसङ्गात्[१७२], तदपरविशेषरूपत्वेऽपरसामान्याभावापत्तेः[१७३], तदुभयरूपत्वे[१७४] सामान्यविशेषरूपयोः कथंचित्तादात्म्यस्यैवाभ्युपगमनीयत्वात्, तदेकार्थसमवायस्य[१७५] कथंचिदेकद्रव्य-तादात्म्यादपरस्यासंभवात्[१७६], सामान्यस्यैवानुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वेन सामान्यविशेषोभयाकारस्येष्टत्वाच्च। न तयोराकारयोरन्यत्रैकार्थे[१७७] समवायः परस्परं[१७८] वा शक्यो वक्तुं यतस्तद्वदवयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्यं वृत्तिः प्रकृतदूषणोपद्रुता स्यात्। किं चावयवादिभ्योवयव्यादीनामत्यन्तभेदे[१७९][१८०] देशकालाभ्यामपि भेदः स्यात्—

देशकालविशेषेपि[१८१] स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत्[१८२]।
समानदेशता[१८३] न स्यान्मूर्तकारणकार्ययोः[१८४] ।।६३।।

५६१. [१८५]नन्वात्माकाशयोरत्यन्तभेदेपि देशकालाभ्यां भेदाभावान्न ततः कार्यकारणादीनां तद्भेदः[१८६] सिध्यति, यतो युतसिद्धवद्वृत्तिः स्यात्, इति चेन्न, [१८७]तयोरपि सद्द्रव्यत्वादिना भेदाभावादत्यन्तभेदासिद्धेरभिन्नदेशकालत्वाविरोधात्। [१८८]परस्यापि सर्वमूर्तिमद्द्रव्येषु युगपत्संयोगवृत्तेरभ्युपगमात् तयोरत्यन्तभेदानिष्टेर्देशकालाभ्यामभेदाविरोधे[१८९] तथैवा[१९०]वयवावयव्यादेस्ताभ्यामभेदोस्त्वविरुद्धः। स च कथंचिदभेदसाधनः स्यात्। [१९१]न चासाविष्यते,[१९२] अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। **तस्मा[१९३]दङ्ग्यादेरत्यन्तभेदात् तद्देशकालविशेषेणापि वृत्तिः[१९४] प्रसज्येत घटवृक्षवत्। [१९५]वर्णादिभिरनैकान्तिकत्व[१९६]मित्ययुक्तं, [१९७]तद्व्यतिरेकैकान्तानभ्युपगमात्[१९८]।** यथैव हि वर्णरसगन्धस्पर्शानां [१९९]स्वाश्रयादत्यन्तभेदो नेष्टो दृष्टो वा तथा परस्परतोपीति। नाप्येतैः[२००] पक्षैकदेशा[२०१]त्मभिर्व्यभिचारो नामातिप्र[२०२]सङ्गात्। यदि पुनः कार्यकारणादीनां समानदेशकालत्वमुररीक्रियते, तथैव सिद्धान्तावधारणादिति मतं[२०३] **तदाप्यवयवावयविनोः समानदेशे[२०४] वृत्तिर्न भवेत्, मूर्तिमत्त्वात्खरकरभवत्,**[२०५] मूर्तयोः समानदेशत्वविरोधात्। [२०६]वातातपयोः समानदेशत्वदर्शनादविरोध इति चेन्न, तयोः स्वावयवदे[२०७]शयोरवयविनोरभ्युपगमात्। तन्तुपटयोरपि स्वावयवदेशत्वात्समानदेशत्वाभावो न दोष इति चेन्न, [२०८]परमाणुद्व्यणुकयोर्भिन्नदेशत्वाभावात्समानदेशत्व[२०९]मपि न भवेदिति दोषोद्भावनात्। [२१०]द्व्यणुकस्य परमाणुदेशत्वात्परमाणोरनंशस्याप्याश्र[२११]यान्तरस्थत्वात्तयोरसमानदेशतैवेति [२१२]चेन्न, तथा लौकिकदेशापेक्षया समानदेशत्वोपगमस्य प्रसङ्गात्। [२१३]स च मूर्तयोर्न[२१४] भवेदिति सूक्तमेव दूषणम्[२१५]। [२१६]कथमेवमनेकान्तवादिनामेकाकाशप्रदेशेऽसंख्येयादिपरमाणूनाम[२१७]वस्थानं विरुध्यते इति चेत्, तथावगाहनविशेषादेकत्वपरिणा[२१८]मादिति ब्रूमहे[२१९]। नह्येकं मूर्तिमद्[२२०]द्रव्यमेकत्र[२२१] देशेवतिष्ठमानं विरुद्धं नाम, अतिप्रसङ्गात्[२२२]। संयोगमात्रेण तु स्थितानामेकत्व[२२३]परिणामनिरुत्सुकानां नैकाकाशप्रदेशेवस्थानमवगाहनविशेषाभावादनेकाकाशप्रदेशवृत्तित्वसिद्धेः। इति स्याद्वादिनां न किंचिद्वि[२२४]रुद्धम्। [२२५]स्यान्मतम्—

आश्रया[२२६]श्रयिभावान्न स्वातन्त्र्यं[२२७] समवायिनाम्[२२८]।
[२२९]इत्ययुक्तः स संबन्धो न[२३०] युक्तः समवायिभिः ।। ६४।।

५६२. [२३१]समवायेन **कार्यकारणादीनां परस्परं प्रतिबन्धात् कुतः स्वातन्त्र्यं यतो देशकालादिभेदेन वृत्तिरिति चेत्,** [२३२]स तर्हि समवायिषु समवायान्तरेण वर्तते स्वतो वा? **समवायस्य समवायान्तरेण [२३३]वृत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्, स्वतो वृत्तौ द्रव्यादेस्तथोपपत्तेः** समवायवैयर्थ्यात् [२३४]कार्यकारणादीनां कुतः प्रतिबन्धः? [२३५]यदि पुनर[२३६]नाश्रितत्वात् प्रतिबन्धान्तरानपेक्ष[२३७] इष्यते तदाप्य**संबद्धः[२३८] समवायः कथं द्रव्यादिभिः सह वर्तेत, यतः [२३९]पृथक्सिद्धिर्न स्यात्?** [२४०]तस्मादयुक्तः संबन्धो न युक्तः[२४१] समवायिभिः। न ह्यप्रतिबद्ध[२४२] एव समवायिभिः समवायसंबन्धो युक्तिमान्, [२४३]कालादेरपि संबन्धत्व[२४४]प्रसङ्गात्। संबद्ध एव हि स्वसंबन्धिभिः संयोगः संबन्धो दृष्टस्तस्य[२४५] तैः [२४६]कथंचित्तादात्म्य[२४७]संबन्धात्। समवायोपि विशेषणविशेष्यभावसंबन्धात्समवायिभिः संबद्ध इति चेन्न, तस्यापि विशेषणविशेष्यभावान्तरेण स्वसंबन्धिभिः संबन्धेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, अन्यथा[२४८] संबन्धत्वविरोधात्। तस्य संबन्धिभिः कथंचित्ता[२४९]दात्म्ये कार्यकारणादीनामपि तदेवा[२५०]स्तु। किं समवायेन पदार्थान्तरभूतेन सत्तासामान्येनेव कल्पितेन? फलाभावात्।

५६३. प्रागसतः सत्तासमवायात् कार्यस्योत्पत्तेः सफलमेव तत्परिकल्पनमिति[२५१] चेन्न, अनुत्पन्नस्य[२५२] सत्तासमवायासंभवात्, उत्पन्नस्यापि तद्वैयर्थ्यात्[२५३], स्वरूपलाभस्यैव[२५४][२५५] स्वरूपसत्तात्मकत्वात्[२५६], [२५७]स्वरूपेणासतः सत्तासंबन्धेतिप्रसङ्गात्[२५८]। यदि पुनरुत्पद्यमानमेव कार्यं सत्तासमवायीष्यते, [२५९]प्रागसतः सत्तासमवाय उत्पाद इति वचनात्, केवलस्य[२६०] समवायस्य सत्तासामान्यवन्नित्यत्वादुत्पाद इति ज्ञानाभिधानाहेतुत्वादिति मतं[२६१] तदा—

सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र[२६२] समाप्तितः[२६३]।
अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु[२६४][२६५] को विधिः[२६६] ।।६५।।

५६४. येषां[२६७] परमार्थतः सानान्यस्याश्रिततत्वमुपचारात्समवायस्य समवायिषु तत्राप्रतिबद्धत्वासंबद्धत्वं[२६८], तदुपचारनिमित्तं[२६९] तु समवायिषु सत्सु तस्येहेदमिति प्रत्ययकारित्वमिति मतं तेषां **प्रत्येकं[२७०] परिसमाप्तेराश्रयाभावे[२७१] सामान्यसमवाययोरसंभवादुत्पत्तिविपत्तिमत्सु[२७२] कथं वृत्तिः?** क्वचिदेकत्र नित्यात्मन्याश्रये सर्वात्मना वृत्तं[२७३] सामान्यं समवायश्च तावत्[२७४]। 'उत्पित्सुप्रदेशे[२७५] **प्राग्नासीद**नाश्रिततत्वप्रसङ्गात्[२७६], **नान्यतो याति** सर्वात्मना पूर्वाधारापरित्यागादन्यथा[२७७] तदभावप्रसङ्गात्, नाप्येकदेशेन[२७८], सांशत्वाभावात्[२७९], **स्वयमेव पश्चाद्भवति**[२८०][२८१] स्वप्रत्ययकारित्वात्[२८२], **आश्रयविनाशे च न नश्यति** नित्यत्वात्[२८३], **प्रत्येकं परिसमाप्तं च' इति व्याहतमेतत्**[२८४]।

५६५. स्यान्मतम्, 'सत्तासामान्यं तावद्द्रव्यादिषु[२८५] प्रत्येकं परिसमाप्तं, सत्प्रत्ययाविशेषात्। सर्वत्रास्ति च सत्प्रत्ययाविच्छेदात्। समवायोपि सर्वत्र[२८६] विद्यते, समवायिनां शश्वदविच्छेदान्नित्यानां, जन्मविनाशवतां[२८७] तु केषांचिदुत्पित्सुप्रदेशेषूत्पद्यमानानामेव सत्तासमवायित्वसिद्धेः, निष्ठासंबन्धयोरेककालत्वात्[२८८]' इति वचनात्। प्रकृतदूषणानवकाशः[२८९], सत्तासमवाययोः[२९०] प्रागसत्त्वाभावात्[२९१] तत्रान्यतश्चागमनस्य[२९२][२९३] सर्वत्मनैकदेशेन वानभ्युपगमात् पश्चाद्भवनानिष्टेः[२९४] शाश्वतिकत्वाच्च[२९५]'[२९६] इति तदेतदपि व्याहततरं, सर्वगतस्य सामान्यस्य समवायस्य चैकस्य स्वाश्रयेषु[२९७] प्रत्येकं परिसमाप्तेरसंभवात् तद्बहुत्वापत्तेराश्रयस्वरूपवत्[२९८]। न च सर्वत्राविच्छेदात्तदेकत्वं[२९९][३००], तदसिद्धेः प्रागभावादिषु[३०१] सत्तासमवायासंभवाद्विच्छेदोपलम्भात्। प्रागभावादीनां सर्वदा[३०२] भावविशेषणत्वान्न तत्र तद्विच्छेद इति चेन्नैवमभावस्यापि[३०३] सर्वगतत्वैकत्वप्रसङ्गात्, सर्वत्रासत्प्रत्ययाविशेषादविच्छेदाविशेषाच्च। यथैव हि द्रव्यादिषु सत्प्रत्ययोऽविशिष्टस्तथा पररूपतोऽसत्प्रत्ययश्च[३०४][३०५]। यथा चाभावस्य[३०६] शश्वद्भावपरतन्त्रत्वं[३०७] तथा भावस्याभावपरतन्त्रत्वमपि[३०८] तदविच्छेदसाधनं[३०९], पररूपेणासत एव भावस्य प्रतीतेरन्यथा सर्वसाङ्कर्यप्रसङ्गाद्भावविशेषव्यवस्थितिविरोधात्[३१०]।

५६६. [३११]नन्वभावस्यैकत्वे कार्यस्य [३१२]जन्मनि प्रागभावाभावे प्रध्वंसेतरेतरात्यन्ताभावानामप्यभावप्रसङ्गादनन्तत्वसर्वात्मकत्वात्यन्ताभावापत्तिः[३१३]। प्रध्वंसस्य चाभावेनुत्पन्नस्य[३१४] कार्यस्य प्रागभावस्याप्यभावादनादित्वप्रसङ्गः[३१५][३१६] प्राक्पश्चादितरेतरात्यन्तविशेषणानुपपत्तिश्च[३१७] तदभेदात्[३१८], इति कश्चित्[३१९], तस्यापि कथं सत्त्वैकत्वे समवायैकत्वे च कस्यचित्सत्तासमवाये[३२०][३२१] सर्वस्य स[३२२] न भवेत्? तथा सति[३२३] भावस्योत्पत्तेः प्रगपि प्रध्वंससमयेप्यभावान्तरेपि[३२४] चात्यन्तसत्त्वसिद्धेः कुतः प्रागभावादिभेदस्य व्यवस्था स्यात्[३२५]? प्रत्ययविशेषात्तद्व्यवस्थायां सत्तासमवायस्य भेदव्यवस्थास्तु तत एव। न हि प्रध्वंसात्प्राक्कार्यस्य

सत्तासमवायः[३२६] प्रागभावात्[३२७] पश्चादितरस्मादितरत्रेत्यादिप्रत्ययविशेषोऽसिद्धः[३२८] परीक्षकाणां, यतः सत्तासमवाययोरनेकत्वं न स्यात्। यदि[३२९] पुनः प्राक्कालादिविशेषणान्येव भिद्यन्ते समवायिनश्च, न पुनः सत्ता समवायश्चेति मतं तदा कथमभावोपि भिद्येत ? तद्विशेषणानामेव[३३०] भेदात्। विरुद्धधर्माध्यासात्तद्भेदे[३३१][३३२] सत्तासमवायभेदोपि तत एव। ततो विश्वरूपसत्तास्तु असत्तावत्[३३३]। तथा समवायोपि[३३४]। न चैवमेकत्वविरोधः सत्तायाः संभावनीयो, विशेषतोनेकत्वेपि सामान्यार्पणादेकत्वाविरोधात्[३३५], सद्विशेषेष्वेव सत्तसामान्यप्रतीतेर-सद्विशेषेष्वसत्सामान्यप्रतीतिवत्। समवायविशेषेषु समवायसमानान्यप्रतीतिश्च न विरुद्धा, संयोगविशेषेषु तत्सामान्यप्रतीतिवत्। इति सर्वं सामान्यविशेषात्मकं सिद्धम्[३३६]।

५६७. न च सामान्यस्य विशेषस्य चैकशः सामान्यविशेषात्मकत्वेऽनवस्थानमन्यथा[३३७] सर्वं सामान्यविशेषात्मकम्, इति प्रतिज्ञा[३३८] हीयते, तयोरन्योन्यात्मकत्वसिद्धेर्द्रव्यार्थार्पणया[३३९][३४०][३४१] परस्परतो भेदाच्च पर्यायार्थार्पणया सापेक्षत्वमात्रस्य[३४२] तयोरिष्टेः। सामान्यस्य[३४३] हि स्वविशेषादपोद्धृतस्य[३४४][३४५] विशेषान्तरात्मकत्वे[३४६] विशेषस्य च स्वसामान्यान्निर्धारितस्य[३४७] सामान्यान्तरात्मकत्वेऽनवस्था स्यान्नान्यथा[३४८]। भिन्नस्य च सामान्यस्य विशेषाद्विशेषस्य[३४९] च सामान्यादितरनिरपेक्षत्वे प्रतिज्ञाहानिः प्रसज्यते, न पुनरितरथा[३५०]। इति स्याद्वादिनां सर्वं[३५१] सुस्थम्। वैशेषिकाणां तु तदुभयप्रकाराभ्युपगमादुक्तदोषानुषङ्ग[३५२] एव। तेषां हि—

सर्वथानभिसंबन्धः[३५३] सामान्यसमवाययोः[३५४]।
ताभ्यामर्थो[३५५] न संबद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत्[३५६]।।६६।।

५६८. समनुष्यज्यन्ते इति शेषः। तथाहि—**सामान्यसमवाययोः परस्परतः संबन्धासंभवात् ताभ्यामर्थोपि न संबद्धः।** कुतस्तयोरनभिसंबन्ध इति चेत्, संयोगस्य[३५७] समवायस्य चानभ्युपगमात्[३५८], सामान्यं[३५९] समवायीति[३६०] विशेषणविशेष्यभावस्य चासंभवादनवस्थाप्रसङ्गाच्च[३६१]। तथैकार्थसमवायस्य चानवकाशात् समवायस्य क्वचिदसमवायात्[३६२][३६३] संबन्धान्तरानिष्टेः[३६४] सर्वथानभिसंबन्धस्तावत्सिद्ध एव। तत परस्परतोनभिसंबन्धाभ्यां सामान्यसमवायाभ्यामर्थोपि द्रव्यगुणकर्मलक्षणो न संबद्धः शक्यते वक्तुं यतस्तत्र सत्तासमवायः स्यात्। **ततस्त्रीण्यपि नात्मानं बिभृयुः[३६५] कूर्मरोमादिवत्।** परस्परमसंबद्धानि[३६६] ह्यर्थसमवायसामान्यानि न सन्त्येव। न चासतां कर्तृत्वम्। नापि कश्चिदात्मा[३६७] संभवति यस्य कर्मत्वम्। न च कर्तृकर्मत्वाभावे तान्यात्मानं बिभृयुरिति शक्यं वक्तुं, कर्तरि लिङो विधानात्कर्मणि विभक्तिनिर्देशाच्च[३६८]।

५६९. स्यान्मतं[३६९] 'परस्परमसंबद्धानामपि[३७०] स्वरूपसत्त्वप्रसिद्धेनार्थसमवायसामान्यानामसत्त्वम्, कूर्मरोमादीनां स्वरूपसत्त्वाभावाच्च विषमोयमुपन्यासः' इति, तदयुक्तं, द्रव्यगुणकर्मणां स्वरूपसत्त्वोपगमे सत्तासमवायस्य वैयर्थ्यात्सामान्यादिवत्[३७१], सामान्यादीनां[३७२] वा सत्तासंबन्धप्रसङ्गाद् द्रव्यादिवत्, तेषां[३७३] स्वरूपसत्त्वानुपगमे कूर्मरोमादिभ्यो विशेषाभावात् सम एवोपन्यास इति निरूपणात्। कथं चार्थान्तरभूतायां सत्तायां समवायवत्सर्वथानभिसंबद्धायां द्रव्यगुणकर्मणां सत्त्वं न पुनः कूर्मरोमादीनाम् ? इति चिन्त्यम्। कथं च सत्तासामान्यं सर्वथा समवायासंबद्धं द्रव्यादिषु समवायि न पुनः समवायस्तत्र[३७४] समवायी समवायान्तरेणासंबद्ध इति बुद्ध्यामहे ? समवायसंबद्धत्वाभावविशेषात्, सतापि[३७५] हि समवायेन

सामान्यस्यासंबद्धत्वं समवायान्तरेण पुनरसता सम[३७६]वायस्येति स[३७७]त्सदसत्त्वाभ्यामसंबद्धत्वस्य विशेषयितुमशक्तेः। न च कश्चित्संबन्धः स्वसंबन्धिभ्यामसंबद्ध एव तौ घटयितुमलं, संयोगस्यापि स्वसंयोगिभ्यामसंबद्धस्यैव तयोर्घटकत्वप्रसङ्गात्। न चैवमिष्यते, सि[३७८]द्धान्तविरोधात्। ततो न कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोर्वान्यतैकान्ते तद्भावो[३७९] युक्तोऽकार्यकारणादिवत्, समवायादर्थान्तरभावनियमाच्च। तद्वत्समवायोपि न तेषां परस्परं घटनकारी सर्वथानभिसंब[३८०]द्धत्वात् तादृगर्था[३८१]न्तरवत्। ततश्चासन् समवायोनर्थक्रियाकारित्वात् कूर्मरोमादिवत्। सामान्यं चासत् तत एव तद्वत्। न हि त[३८२]दर्थैरसंबद्धं स्वविषयज्ञानोत्पादनलक्षणामप्यर्थक्रियां कर्तुं प्रभवति यतोऽसिद्धो हे[३८३]तुः स्यात्। तथा न सन्ति द्रव्यादीनि सत्तासमवायरहित्वात्, तद्वत्। सामान्यादिभिर्व्यभि[३८४]चार इत चेन्न, ते[३८५]षामपि परमार्थतः सत्त्वानभ्युपगमात्[३८६]। न चोपचरितसद्भिर्व्यभिचारचोदनोपपत्तिमती, परमार्थसत्त्वाभावसाधनस्यातिप्र[३८७]सङ्गात्। इति न कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः श्रेयान् प्रमाणाभावादनन्यतैकान्तवत्।

अपरः[३८८] प्राह, माभूत्कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः परमाणूनां तु नित्यत्वात् सर्वास्ववस्था-स्वन्यत्वाभावादनन्यतैकान्त इति तं प्रति संप्रत्यभिधीयते—

अनन्य[३८९]तैकान्तेऽणूनां सं[३९०]घातेपि विभागवत्।
अ[३९१]संहतत्वं स्याद्भूत[३९२]चतुष्कं भ्रान्तिरेव सा।।६७।।

५७०. यथैव हि विभागे सति परमाणवोऽसंहतात्मानस्तथा संघातकालेपि स्युः, सर्वथान्यत्वा[३९३]भावादन्यत्वे[३९४] तेषामनित्यत्वप्रसङ्गात्। सं[३९५]घातकाले कार्यस्योत्पत्तेस्तदसमवायिकारणस्वसंयोग[३९६]स्वभावं संहतत्वं भवत्येवेति चेन्न, तेषामतिश[३९७]यानुत्पत्तौ [३९८] संयोगस्यैवासंभवात्, [३९९]पृथिव्यादिभूतचतुष्कस्यावयविलक्षणस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। [४००]कर्मणोतिशयस्य[४०१] प्रसूतेः संयोगः परमाणूनामिति चेन्न, कथंचिदन्यत्व[४०२]भावे त[४०३]दयोगात्। क्षणिकत्वात्परमाणूनामदोष[४०४] इति चेत्तथापि **कार्यकारणादेरभेदैकान्ते धारणाकर्षणादयः परमाणूनां संघातेपि मा भूवन्विभाग[४०५]वत्।** विभक्तेभ्यः परमाणुभ्यः संहतपरमाणूनां[४०६] विशेषस्योत्पत्तेर्धारणाकर्षणादयः संगच्छन्ते एवाधोमुखसोदककमण्डलु[४०७]वद्वंशरज्ज्वादिवच्चेति चेत् स त[४०८]र्हि तेषां **[४०९]नाहितोपि विशेषो विभागै[४१०]कान्तं निराकरोति,** [४११]तन्निराकरणे परमाणुत्वविरोधादे[४१२]कत्वपरिणामा[४१३]त्मकस्कन्धस्योत्पत्तेः। प्रविभक्तपरमाणुभ्यः संहतपरमा[४१४]णूनामविशिष्टत्वलक्षणानन्यत्वासंभ[४१५]वात् संहतानां धारणाकर्षणादिसामर्थ्यं विशेषो न पुनरपरमाणुत्वं[४१६], येनाविशेषः, येनाविशेषः कार्यकारणपरमाणूनां न भवेदिति चेन्न, सर्वथा त[४१७]दविशेषे त[४१८]त्सामर्थ्यस्यैवायोगात्, प्रवि[४१९]भक्तपरमाणूनामपि तत्प्रसङ्गात्। प्रविभक्तत्वादेव न तेषां तत्सामर्थ्यमिति चेत्, **तत एवान्य[४२०]त्रापि तन्नेष्यते,** केनचिदपि विशेषान्तरेण तद्विभक्तत्वानिराक[४२१]रणात्। **पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्थितिरेव[४२२] विभ्रममात्रं प्राप्नोति,** सर्वथा परमा[४२३]णुत्वाविशेषात्। **इष्ट[४२४]त्वाददोष[४२५] इति चेन्न, प्रत्यक्षा[४२६]दिविरोधात्।** प्रत्यक्षं हि बहिर्वर्णसंस्थानाद्यात्मकं स्थवीयांसमा[४२७]कारमन्तश्च हर्षाद्यनेकविवर्तात्मकमात्मानं साक्षात्कुर्वद् भ्रान्तं चेत्किमन्यदभ्रान्तं यत्प्रत्यक्षलक्षणं बिभृयात्? प्रत्य[४२८]क्षाभावे च कुतोनुमानं न विरुध्यते? न च प्रत्यक्षादिविरोधे स्वसंवेदनमात्रमपि सिध्येत्, सर्वदा संवित्परमाणुमात्रस्यासंवेदनात्। न च [४२९]कार्यस्य भ्रान्तौ परमाणुसिद्धि[४३०]स्तत्त्वतः स्यादित्युच्यते—

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्य[४३१]लिङ्गं हि [४३२]कारणम् ।
[४३३]उभयाभावतस्तत्स्थं गुणजातीतरच्च न ।।६८।।

५७१. प्रत्यक्षतः परमाणूनां प्रसिद्धेर्नाणुभ्रान्तिरिति चेन्न, तेषामप्रत्यक्षत्वात्। तथाहि—**चक्षुरादिबुद्धौ स्थूलैकाकारः प्रतिभासमानः परमाणुभेदैकान्तवादं प्रतिहन्ति तद्वि[४३४]परीतानुपलब्धिर्वा।** [४३५]तत्रैतत्स्याद् भ्रान्तैकत्वादिप्रतिपत्तिरिति [४३६]तन्न, परमाणूनां चक्षुरादिबुद्धौ स्वभावमनर्पयतां कार्यलिङ्गा[४३७]भावात्त[४३८]त्स्वभावाभ्युपगमानु[४३९]पपत्तेः, [४४०]प्रविरलवकुलतिलकादीनां जातुचित्प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तौ[४४१]वनेकाकार[४४२]प्रतिभासस्य च भ्रान्तत्वे तत्स्वभावाभ्युपगमा[४४३]नुपपत्तिवत्। [४४४]कार्यलिङ्गं हि कारणं परमाणुरूपम्। तत्कथं कार्यस्य भ्रान्तौ भ्रान्तं न भवेत्? पर[४४५]माणूनां कार्यस्य चानभ्युपगमे **तद्द्वयाभावात्तद्वृत्तयो जातिगुणक्रियादयो न स्युर्व्योमकुसुमसौरभवत्।** [४४६]तद्धि गुणजातिरूपादिसत्तादिस्वभावमितरच्च क्रियाविशेषस[४४७]मवायाख्यं परमाणुवृत्ति वा स्यात् कार्यद्रव्यवृत्ति वा, न च तदुभ[४४८]यासंभवेभ्युपगन्तुं युक्तं, [४४९(क)]गगनकुसुमस्याभावेपि तद्वृत्तिसौरभाभ्युपगमप्रसङ्गात्। [४४९]ततस्त[४५०]दभ्युपगच्छता कार्यद्रव्यमभ्रान्तमभ्युपगन्तव्यम्। तच्च परमाणूनां परमाणुरूपतापरित्यागेनावयविरूपतोपादाने सति संभाव्यते नान्यथा। तत्र तै[४५१]षामनन्यतैकान्तः, कार्योत्पत्तौ [४५२]कथंचिदन्यत्वोपपत्तेः। ततः सौगतवन्न वैशेषिकाणां [४५३]स्वमतसिद्धिः।

साङ्ख्यानां च कार्यकारणयोः–

एकत्वेन्यतराभावः शेषा[४५४]भावोविनाभुवः[४५५]।
द्वित्व[४५६]संख्याविरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा[४५७] ।।६९।।

५७२. कार्यस्य हि महदादेः कारणस्य च प्रधानस्य परस्परमेकत्वं तादात्म्यम्। तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेन्यतरस्याभावः स्या[४५८]त्। ततः शे[४५९]षस्याप्यवि[४६०]नाभुवोऽभावः, इति सर्वाभावः प्रसज्यते। यदि पुनः कार्यस्य[४६१] का[४६२]रणेनुप्रवेशात्पृथ[४६३]गभावेपि कारणमेकमास्ते एव नित्य[४६४]त्वादिति मतं, तदा द्वित्वसंख्[४६५]याविरोधोपि, सर्वथै[४६६]कत्वे तदसंभवात् कार्यकारणभावादिव[४६७]त्। संवृतिरेव द्वित्वसंख्या तत्रेति चेत्तर्हि मृषैव सा तद्वदेव प्रसक्ता। तथा[४६८] च कुतः प्रधानस्याधिगतिः न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य तदविषयत्वात्। नाप्युनमानात्, अभ्रान्तस्य लिङ्गस्याभावात्। न चागमात्, शब्दस्यापि भ्रान्तत्वोपगमात्। न च [४६९]भ्रान्ताल्लिङ्गादेरभ्रान्तसाध्यसिद्धिरतिप्र[४७०]सङ्गात्।

५७३. [४७१]एवं पुरुषचैतन्ययोराश्रयाश्रयिणोरेकत्वे **तदन्यतराभावः।** पुरुषे चैतन्यानुप्रवेशे पुरुषमात्रस्य, तस्य वा चैतन्यानुप्रवेशे चैतन्यमात्रस्य प्रसक्तेः सिद्धस्तावत्तदन्यतरस्याभावः परेषा[४७२]म्। **ततः [४७३]शेषाभावस्तत्स्व[४७४]भावाविनाभावित्वाद्वन्ध्यासुतरू[४७५]पसंस्थानवत्।** यथैव हि वन्ध्यासुतरूपस्याभावे न तस्य संस्थानं संस्थानिस्वभावाविनाभा[४७६]वित्वात्। तथा पुरुषस्याश्रयस्याभावे चैतन्यस्याश्रयिणोप्यभावस्तदभावे पुरुषस्याप्यभावः, तत्स्व[४७७]भावाविनाभावात्। **तथा [४७८]सति द्वित्वसंख्यापि न स्यात्,** पुरुषचैतन्ययोरे[४७९]कत्वमिति। **तत्र[४८०] संवृतिकल्पना शून्यत्वं नातिवर्तते, परमार्थविपर्ययाद् व्यलीकवचनार्थवत्,** परमार्थतः संख्यापाये

संख्येयाव्यवस्थानात् सकल[४८१]धर्मशून्यस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽसंभवात्। तत्र कार्यकारणादीनामनन्यतै[४८२]कान्तः संभवत्यन्यतैकान्तवत्[४८३]।

विरोधान्नो[४८४]भयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ।।७०।।

५७४. **अवयवेतरादीनां[४८५] व्यतिरेकाव्यतिरेकैकान्तौ न वै यौगपद्येन संभविनौ विरोधात्। तथानभिलाप्यतैकान्ते स्ववचनविरोधस्त[४८६]दभिलाप्यत्वात्।** अनभिलाप्यतैकान्तस्याप्यनभिलाप्यत्वे कुतः परप्रतिपादनम्? तद्वचनाच्चेत्कथमनभिलाप्यतैकान्तः? परमार्थतो न कश्चि[४८७]द्वचनात्प्र[४८८]तिपाद्यते इति चेत्[४८९]स्वयमवाच्यताप्रतिपत्तिः कथम्? वस्तुनि वाच्यतानुपलब्धेश्चेत्[४९०]सा यदि दृश्यानुपलब्धिस्तदा सिद्धा क्वचिद्[४९१]वाच्यता। नो चेन्[४९२]नास्ति त[४९३]दभावनिश्चयोतिप्रस[४९४]ङ्गात्। विकल्पप्रतिभासिन्यन्यापोहे प्रतिपन्नाया एव वाच्यताया [४९५]स्वलक्षणे प्रतिषेधाददोष इति चेन्न, वस्तुवाच्यतायाः प्रतिषेधायोगात्[४९६], तदन्यापोहमात्रवाच्यताया एव प्रतिषेधात्। न चान्यापोहवाच्यतैव वस्तु[४९७]वाच्यता त[४९८]त्प्रतिषेधाविरोधात्। निरस्त[४९९]प्रायश्चायमवाच्यतैकान्त इत्यलं प्रसङ्गेन।

५७५. **स्याद्वादाभ्युपगमे तु न दोषः, क[५००]थंचित्[५०१]तथाभावोपलब्धेः।** सर्वं हि वस्तु व्यञ्जनपर्यायात्म[५०२]कतया वाच्यमर्थपर्यायात्मकत्वेनावाच्यमिति स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, अन्यथा प्र[५०३]माणाभावात्।

तदेवमवयवावयव्यादीनामन्य[५०४]त्वाद्येकान्तं निराकृत्याधुना तदनेकान्तं सामर्थ्यसिद्धमपि [५०५]दुराशङ्कापनोदार्थं दृढतरं निश्चिकीर्षवः सूरयः प्राहुः—

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेक[५०६]तः।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ।।७१।।
संज्ञासंख्याविशेषाच्च[५०७] स्व[५०८]लक्षणविशेषतः।
प्रयो[५०९]जनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ।।७२।।

५७६. गुणिसामान्योपादानकारणानां द्रव्यशब्दाद्ग्रहणम्। गुणव्यक्तिकार्यद्रव्याणां पर्यायशब्दात्। तदेवं द्रव्यपर्यायावेकं वस्तु, प्रतिभासभेदेप्यव्यतिरिक्तत्वात्। **यत्प्रतिभासभेदेप्यव्यतिरिक्तं तदेकं, यथा वेद्यवे[५१०]दकज्ञानं रूपादिद्रव्यं वा मेचकज्ञानं वा। तथा च द्रव्यपर्यायौ न व्यतिरिच्येते।** तस्मादेकं वस्त्विति मन्तव्यम्। पर्यायादवास्तवाद्व्यतिरिक्तमेव द्रव्यं वास्तवमेके[५११]षाम्। द्रव्यादवास्तवाद्व्यतिरिक्त एव पर्यायो वास्तवः परे[५१२]षाम्। ततोऽसिद्धो हे[५१३]तुरिति न मन्तव्यं, **त[५१४]दन्यतरापायेर्थ[५१५]स्यानुपपत्तेः।** तथाहि न द्रव्यं केव[५१६]लमर्थक्रियानिमित्तं क्रमयौगपद्यविरोधात् केवलपर्यायवत्। पर्यायो वा न केवलोर्थक्रियाहेतुस्तत एव, केवलद्रव्यवत्। क्रमयौगपद्यविरोधस्त[५१७]त्रासिद्ध इति चेन्न, द्रव्यस्य पर्यायस्य वा सर्वथैक[५१८]स्वभावस्य क्रमयौगपद्यादर्शनात्, अनेकपर्यायात्मन एव द्रव्यस्य तदुपलम्भात्। वास्तवत्वेपि द्रव्यपर्याययोर्[५१९]व्यतिरेकोऽसिद्धः, कुटादिद्रव्याद्रूपादिपर्यायाणां [५२०]ज्ञानप्रतिभासभेदाद् घटपटादिवदिति चेन्न[५२१], त[५२२]स्यैकत्वाविरोधित्वात्।

[५२३]**उपयोगविशेषाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदः स्वविषयैकत्वं न वै निराकरोति, [५२४]सामग्रीभेदे युगपदेकार्थोपनिबद्धविशदेतरज्ञानवत्[५२५]**। ततो नासिद्धो हेतुः। नापि विशेषण[५२६]विरुद्धः। प्रतिभासभेदस्य विशेषणस्याव्यतिरिक्तहेतुना विरोधा[५२७]सिद्धेः।

५७७. स्यान्मतम्[५२८], 'अव्यतिरिक्तमैक्यमेवोच्यते। ततोयं [५२९]साध्याविशिष्टो हेतुरनित्यः शब्दो निरोध[५३०]धर्मकत्वादिति यथा। ततो न गमक' इति तदसत्, कथंचिदप्य[५३१]शक्यविवेचनत्वस्याव्यतिरिक्तस्य हेतुत्वेन प्रयोगात्। व्यतिरेचनं [५३२]व्यतिरिक्तं विवेचनमिति यावत्। न विद्यते व्यतिरिक्तमनयो[५३३]रित्यव्यतिरिक्तौ। तयोर्भावोऽव्यतिरिक्तत्वमशक्यविवेचनत्वम् इति व्युत्पादनात्, तयोरैक्यमेव वस्तुत्वमिति साध्यस्येष्टत्वान्न साध्यमेव हेतुर्यतो गमकः स्यात्[५३४]। न चैतदसिद्धमशक्यविवेचनत्वं, विवक्षितद्रव्यपर्यायाणां द्रव्यान्तरं नेतुमशक्यत्वस्य सुप्रतीतत्वात्, वेद्यवेदकाकारज्ञानवत्[५३५] [५३६]तदाकारयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यत्वस्यैव तस्या[५३७]भिमतत्वात्। [५३८]तयोरयुतसिद्ध[५३९]त्वादेव[५४०]मिति चेत्किमिदमयुतसिद्धत्वं नाम? [५४१]न तावद्देशाभेदः, पवनातपयोस्तत्प्रसङ्गात्। नापि कालाभेदस्तत एव। स्वभावाभेद इति चेन्न सर्वथा[५४२]सौ युक्तः, विरोधात्[५४३]। कथंचिच्चेत्तदेवा[५४४]शक्यविवेचनत्वम्। [५४५]स एवाविष्वग्[५४६]भावः समवाय इति परमत[५४७]सिद्धिः, अन्यथा[५४८] तस्याघटनात्[५४९]। पृथगनाश्रयाश्रयित्वं पृथगगतिमत्त्वं चायुतसिद्धत्वमित्यपि[५५०] नाशक्यविवेचनत्वादन्यत्प्रतिभाति। ततो न साध्यसाधनशून्यमुदाहरणमपि[५५१]। रूपादिद्रव्यं वेत्यप्युदाहरणमुपपन्नं, प्रतीतिसिद्धत्वात्, रूपादि[५५२]द्रव्ययोः समवायस्याशक्यविवेचनत्वस्यैवाव्यतिरिक्तत्वस्य साधनस्य सद्भावादैक्यस्य चैकवस्तुत्वस्य साध्यस्य निर्णीतेः। धर्मिग्राहक[५५३]प्रमाणेन बाधनात्कालात्ययापदिष्टो हेतुरित्यपि[५५४] न सत्यं, तेन धर्मिणोः कथंचिद्भिन्नयोरेव ग्रहणात्, सर्वथा भिन्नयोर्द्रव्यपर्यायत्वासंभवात्, सह्यविन्ध्यवत्[५५५]।

५७८. ननु द्रव्यपर्याययोर्भिन्नयोः कथमभेदो विरोधादिप्रसङ्गदिति चेन्न, [५५६]तथोपलम्भान्मेचकज्ञानवत् सामान्यविशेषवद्वा[५५७]। न हि तत्र विरोधवैयधिकरण्यसंशयव्यतिकरसंकरानवस्थाऽप्रतिपत्त्यभावाः प्रसज्यन्ते, तेषां तथाप्रतीत्या[५५८]पसारितत्वात्। न च प्रकृत[५५९]योस्तथा[५६०] प्रतीतिरसत्या सर्वदान्यथा प्रतीत्यभावात्। **[५६१]तदेवं सति विरोधाद्युपालम्भश्चतुरस्र[५६२]धियां मनो मनागपि न प्रीणयति** [५६३]**वर्णादिरप्य[५६४]भावप्रसङ्गात्**। द्रव्यमेवैकं, न वर्णादयो, विचारासहत्वाद्वर्णाद्येव वानेकं, न द्रव्यं नाम, तस्य विचार्यमाणस्य **सर्वथानुपपत्तेरित्येकत्वानेकत्वैकान्तौ[५६५] नान्योन्यं विजयेते,** दूषणसमाधानयोः समानत्वात्, [५६६]द्वयोरपि **भावस्वभावप्रतिबन्धात्[५६७]**। द्रव्यैकत्वस्य भावस्वभावस्यैकान्तिकस्य प्रत्यक्षादिविरोधात् वर्णादिपर्यायैकान्तस्वभावस्य चाबाधितप्रत्यभिज्ञान[५६८]निराकृतत्वात् सिद्धं द्रव्यपर्याययोः कथंचिदैक्यम्।

५७९. भेदः कथं विद्धः? इत्युच्यते, [५६९]**यत्परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकं तद् भिन्नलक्षणं, यथा रूपादि, तथा च द्रव्यपर्यायौ,** तस्माद्भिन्नलक्षणावित्यनुमानात् परस्परविविक्तस्वभावपरिणामौ हि द्रव्यपर्यायौ, द्रव्यस्यानाद्यनन्तैकस्वभाववैश्र[५७०]सिकपरिणामत्वात्[५७१], पर्यायस्य च साद्यन्तानेकस्वभावपरिणाम[५७२]त्वात्। ततो नासिद्धः परिणामविशेषादिति हेतुः[५७३]।

५८०. एतेन शक्तिमच्छक्ति[५७४]भावः सिद्धः कथितः। परस्परविविक्तस्वभावसंज्ञासंख्या[५७५]विशेषौ च द्रव्य[५७६]पर्यायौ, द्रव्ये द्रव्यमिति, पर्याये पर्याय इत्यन्वर्थसंज्ञायाः प्रसिद्धेः, एकं द्रव्यमित्येकत्वसंख्यायाः, पर्याया बहव इति बहुत्वसंख्यायाश्चानुपचरिता[५७७]याः प्रसाधना[५७८]त्। ततः संज्ञासंख्याविशेषाच्चे[५७९]त्यपि नासिद्धं साधनम्। द्रव्यस्यैकत्वा[५८०]न्वयज्ञानादिकार्यत्वा[५८१]त् पर्यायस्यानेकत्वव्यावृत्तिप्रत्ययादिकार्यत्वा[५८२]न्न तयोः परस्पर-विविक्तस्वभावप्रयोजनत्वमसिद्ध[५८३]म्। द्रव्यस्य त्रिकालगोचरत्वात् पर्यायस्य वर्तमानकालत्वाद्भिन्नकालत्वमपि न तयोरसिद्धं [५८५]भिन्नप्रतिभासवात्। [५८६]ततः प्रसिद्धा[५८७]द्धेतोर्भिन्नलक्षणत्वं तयोः सिध्यत्येव। इति स्वलक्षणविशेषत[५८८]स्तन्नानात्वं सिद्धम्। स्वमसाधारणं लक्षणं स्वलक्षणम्। तस्य विशेषो [५८९]लक्ष्याविनाभावित्वं, तत एव तस्य लक्षणत्वोपपत्तेः।

५८१. नन्व[५९०]साधारणं रूपं वस्तुनो लक्षणमित्युच्यमाने सर्वं भिन्नं प्रमेयत्वादित्यनुपसंहा[५९१]र्यस्यापि लक्षणत्व[५९२]प्रसङ्ग इति चेन्न, कर्मतया प्रमितिजनकत्वस्य प्रमेयत्वस्यानुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वाविरोधात् सत्त्व[५९३]वत्। सद्वस्तु लक्षणम्, "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (त०सू० ५.३०) इति वचनात्।

५८२. ननु[५९४] न यत्र सन्न तद्वस्तु[५९५], यथा शशविषाणमिति विपक्ष[५९६]स्यासतः सिद्धेर्नानुपसंहार्यं [५९७]सत्त्वं, सपक्षविपक्षरहितस्य पक्षव्यापिनोनुपसंहार्य[६००]त्वादिति चेत्, तत[५९८] एव प्रमेयत्वमप्यनुपसंहार्यं मा भूत्, खरविषाणस्यासतो भिन्नत्वा[५९९]नाश्रयस्य कर्मत्वेन प्रमित्यजनकस्याप्रमेयस्य विपक्षस्य भावात्। सर्वशब्दे[६०१]न सतोऽसतश्च ग्रहणान्न त[६०२]स्य विपक्षत्वमिति चेत्तर्हि सद्ग्रहणेन भावस्य भावान्तरस्वभावप्रागभावादेश्च स्वीकरणात् क[६०३]स्यचित् तद्वि[६०४]पक्षत्वं मा भूत्। पराभ्युपगतस्यानु[६०५]त्पादव्ययध्रौ[६०६]व्ययुक्तस्य विक[६०७]ल्पबुद्धिप्रतिभासिनो विपक्ष[६०८]त्वे सद[६०९]सद्वर्गभावस्य परा[६१०]भ्युपगतस्याप्रमाणविषयस्य वि[६११]पक्षत्वमस्तु सर्वथा विशेषा[६१२]भावात्। इति नानुपसंहार्यस्य संभवो, यतः पक्षव्यापिन एवासाधारणस्य वस्तुलक्षणत्वं न स्यात्, विद्यमानयोरविद्यमानयोर्वा सपक्षविपक्षयोर[६१३]सतः पक्षव्यापिनोऽ[६१४]साधारणत्वमिति वचनात्।

५८२. एतेन[६१५] पक्षाव्यापक[६१६]स्यासाधारणत्वं प्रत्युक्तं, तस्या[६१७]साधारणैकदेशत्वाल्लक्षणत्वा-योगादग्नेरुष्णत्ववत्[६१८]। न हि [६१९]तत् सकलाग्निव्यक्तिष्वस्ति प्रदीपप्रभादिष्वनुद्भूतोष्णस्पर्शेष्वभावात्। न चानुद्भूतमपि लक्षणं युक्तमप्रसिद्धत्वात्। यदि पुनरुष्णस्पर्शयोग्यत्वं पावकस्य लक्षणं स्या[६२०]न्न क[६२१]श्चिद्दोषः पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्वसिद्धेः। एतेना[६२२]विद्यमाने विपक्षे[६२३]ऽसतोऽसंभवत्सपक्षस्यासाधारणत्वमुपदर्शितं प्रत्येयम्। विद्यमाने च सपक्षेऽसतोऽसंभवद्विपक्षस्य पक्षव्यापिनोऽसाधारणस्य लक्षणत्वमविरुद्धं शब्दस्या[६२४]नित्यत्वे श्रावणत्ववत्[६२५]। न हि तद्[६२६] घटादावनित्ये सपक्षे विद्यमानेप्यस्ति। नाप्यस्य विपक्षो नित्यैकान्तः संभवति, [६२७]शब्दत्वस्यापि सदृशपरिणामलक्षणस्य कथंचिद[६२८]नित्यत्वात्, शब्दा[६२९][६३०]भावस्य च शब्दान्तरस्वभास्ये-तरेतरा[६३१]भावप्रध्वंसाभावरूपस्यानित्यत्वात् पक्षादन्यत्वानुपपत्तेः। [६३२]अशब्दात्मनोऽश्रावणत्वात् साधीय एव श्रावणत्वं शब्दस्य लक्षणं, शब्दात्मकत्वाभावेऽनुपपद्यमान[६३३]त्वात्। इत्यन्यथा[६३४]नुपपद्यमानरूपं पक्षव्यापिलक्षणमनवद्यत्वात्।

५८४. तत्र[६३५] द्रव्यस्य लक्षणं गुणपर्ययवत्त्वं, "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" (त.सू. ५.३८) इति वचना[६३६]त्, क्रमा[६३७]क्रमभाविविचित्रपरिणामाभावे द्रव्यस्य लक्षयितुमशक्तेः, द्रव्यस्यापाये गुणपर्ययवत्त्वस्यानुपपत्तेः

कार्यद्रव्ये[६३८] घटादिविशेषे[६३९] गुणवत्त्वस्य भावान्नवपुराणादिपर्याययोगित्वस्य च भावान्नाव्याप्तिर्लक्षणस्य। नाप्यतिव्याप्तिः, स्पर्शादिविशेषेषु क्रमजन्मसु पर्यायेषु[६४०] स्पर्शादिसामान्येषु[६४१] सहभाविषु गुणेषु[६४२] चाभावात्[६४३]। तथा पर्यायस्य तद्भावो लक्षणं, ''तद्भावः परिणामः'' (त.सू. ५.४२) इति वचनात्। तेन तेन प्रतिविशिष्टेन रूपेण भवनं हि परिणामः, सहक्रम[६४४]भाविष्वशेषपर्यायेषु तस्य[६४५] भावादव्याप्त्यसंभवात्, तदभावे[६४६] च द्रव्ये तदनुपपत्तेः[६४७]। इति प्रमाणसिद्धं भिन्नलक्षणत्वं[६४८] द्रव्यपर्याययोः कथंचिन्नानात्वं साधयति, रूपाद्युदाहरणस्यापि साध्यसाधनवैकल्याभावात्, कथंचिन्नानात्वेन व्याप्तस्य भिन्नलक्षणत्वस्य[६४९] परस्परविविक्तस्वभावपरिणामादित्वेन[६५०] साधनात्। रूपादेर्हि लक्षणं रूपादिबुद्धिप्रतिभासयोग्यत्वं भिन्नं प्रसिद्धं कथंचित्तन्नानात्वं चेति निरवद्यमुदाहरणम्।

५८५. ननु[६५१] च भिन्नलक्षणत्वं[६५२] स्यान्नानात्वं[६५३] च न स्याद्विरोधाभावात्। ततः सन्दिग्धविपक्ष[६५४]व्यावृत्तिको[६५५] हेतुरिति[६५६] न शङ्कनीयम्[६५७], **विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्[६५८]बुद्धिप्रतिभासभेदाभ्यां च वस्तुस्वभावभेदसिद्धेः[६५९]। अन्यथा[६६०]ऽनानैकं[६६१] जगत्स्यात्, तदभ्युपगमे पक्षान्तरासंभवादिति[६६२],** विपक्षे[६६३][६६४] बाधकप्रमाणसद्भावान्निश्चित[६६५]व्यतिरेकत्वात् साधनस्य[६६६] द्रव्यपर्याययोः[६६७] सर्वथैकत्वे[६६८] विरुद्धधर्माध्यासस्यास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदस्य चायोगाद्भिन्नलक्षणत्वस्यानुपपत्तेः[६६९], व्यापकस्य[६७०] ग्राहकस्य[६७१] चाभावे व्याप्यस्य[६७२] विषयस्य[६७३] चाव्यवस्थितेः। व्यवस्थितौ वा भिन्नलक्षणत्वस्य न किंचिदेकं जगति स्यात्। नापि नाना, विरुद्धधर्माध्यासाद्य[६७४]भावेपि नानात्वस्य सिद्धौ तस्य[६७५] तत्साधनत्वा[६७६]योगात्। न चासाधना कस्यचित्सिद्धिरतिप्रसङ्गात्। न च नानात्वैकत्वाभ्युपगमे प्रकारान्तर[६७७]मस्ति, यतो जगदनानैकं न स्यात्। न हि विरुद्धधर्माध्यासेतराभ्यामन्यन्नानात्वैकत्वस्वरूपम्। नाप्यस्खद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभेदाभ्यामन्यत्तत्साधनं, यत्प्रकारान्तरं स्यात्। **ततः कारिका[६७८]द्वयेन सामान्यविशेषात्मा[६७९]नमर्थं संहृत्य तत्रापेक्षानपेक्षैकान्तप्रतिक्षेपायाह** भगवान् वास्तवमेव इति स्यान्नानात्वमेव[६८०] स्वलक्षणभेदात्[६८१]। स्यादेकत्वमेवाक्यविवेचनत्वात्। स्यादुभयमेव क्रमार्पितद्वयात्। स्यादवक्तव्यमेव सहार्पितद्वयाद्वक्तुमशक्यत्वात्। स्यान्नानात्वावक्तव्यमेव विरुद्धधर्माध्याससहार्पितद्वयात्। स्यादेकत्वावक्तव्यमेव, अशक्यविवेचनसहार्पितद्वयात्। स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमार्पितद्वयात्[६८२]। इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया दृष्टेष्टाविरुद्धावबोद्धव्या, पूर्ववत्।

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिह नियतः सर्वथा कारणादे-
रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शान्ततामाश्रयन्ति।
प्रायो यस्योपदेशादविघटितनया[६८३]न्मानमूला[६८४]दलङ्घ्यात्,
स्वामी[६८५] जीयात् स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः।।

इत्याप्त[६८६]मीमांसालङ्कृतौ चतुर्थः परिच्छेदः।।४।।

चतुर्थपरिच्छेदटिप्पणानि

१. अकलङ्कदेवप्रतिपादितभाष्यार्थमित्यर्थः । २. समीचीनयुक्तितः । ३. पदवी, पद्धतिः स्थानं वा । ४. भेदः । ५. भेदः । ६. हे यौग ! एकान्तेन यदि सर्वेषां भेद इष्यते । ७. चलनादिक्रियायाः । ८. तन्त्वाद्यवयवकारणकस्य । ९. संयोगादेः । १०. मुद्गरादिकारणस्य । ११. (कर्मवतः, अनित्यगुणवतः, पटाद्यवयवानां चेत्यर्थः)। १२. प्रध्वंसं प्रति घटादिरुपादानकारणं, मुद्गरादिः सहकारिकारणम् । १३. आकाशादौ । १४. नित्यगुणाश्रयस्याकाशादेः । १५. परं सामान्यं सत्ता अपरं तु तदन्तर्हितं गोत्वादि । १६. तद्वत्, द्रव्यगुणकर्मत्रिकम् । १७. द्रव्यगुणकर्मणामर्थशब्देन व्यपदेशः, द्रव्यादित्रयमेवार्थ इति काश्यपनिर्णय इति वचनात् । त्रिष्वेव सामान्यं वर्तते । १८. क्रिया गमनादिका । १९. तन्तुपटयोर्यथा । २०. आकाशतन्महत्त्वयोर्यथा । २१. अभावो विशेषणरूपः, प्रध्वंसः । तद्वान् विशेष्यः । यथा छिन्नो घट इति । २२. यथा सह्यविन्ध्यौ भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् । २३. अन्यतायाम् । २४. भिन्नप्रतिभासेपि भेदसाधनात् । २५. यत एकस्यैव प्रतिपत्तुर्दूरदेशेन्यथा प्रतिभासः समीपे चान्यथेति भेद एकत्रैव । २६. भिन्नलक्षणस्य संबन्धि यद्भिन्नप्रतिभासत्वं भिन्नलक्षणत्वमित्यर्थः ।

२७. एकस्य वस्तुनो भिन्नलक्षणत्वेन प्रतिभासो नास्ति यतः । २८. (वा, खपुस्तके एव न तु कपुस्तके)। २९. सर्वथा अभेदे । ३०. जैनाशङ्का । ३१. सर्वथा भेद इत्यर्थः । ३२. भेदपक्षस्य । ३३. भेदो द्विधा शास्त्रीयो लौकिकश्च । तत्र क्रमेण दूषणं निराकरोति । ३४. कार्यकारणादेः । ३५. कार्यस्य पटादेः स्वकीयं कारणं तन्तवः । तन्तूनां तु कार्पासादिः । इत्येवं सर्वेषां देशभेद एव शास्त्रापेक्षया । ३६. शास्त्रीयस्य । ३७. यतो व्योमात्मादिषु लौकिकदेशापेक्षया भिन्नदेशत्वाभावेपि तादात्म्याभावः । ३८. तादात्म्यसाधकस्य । ३९. भेदपक्षः प्रकृतः । ४०. कार्यकारणादिषु । ४१. कथंचित्तादात्म्येन भेदस्य विरोधात् । ४२. किंतु तादात्म्यमेवास्तु । ४३. कार्यकारणत्वादिभेदस्य सर्वैरप्यभ्युपगमनीयत्वात्पूर्वप्रसिद्धत्वम् । ४४. तादात्म्यस्य । ४५. अयं धर्मोयं धर्मीति वक्तुं न शक्यते तादात्म्याङ्गीकारे सति यतः । ४६. इयमस्य क्रियेत्यादिविरोधात् । गुणिनः पटस्य शीतनिवारणक्रिया न तत्कारणतन्तूनां नापि च तद्गुणस्य रूपादेरित्येवं च । ४७. भेदस्य सर्वथा भिन्नं वस्त्वधिकरणमभेदस्य च सर्वथाऽभिन्नं वस्त्वधिकरणमिति भेदतादात्म्ययोर्वैयधिकरण्यम् । ४८. भेदपक्षे संबन्धाभावः । अभेदपक्षे सर्वथैकत्वे सति कार्यकारणादित्वविरोधः । यत्र भेदस्तत्र अभेदो न, यत्र चाभेदस्तत्र भेदो नेति च विरोधः परस्परस्य । ४९. भेदो भेदरूपोऽभेदरूपश्च । अभेदोपि भेदरूपोऽभेदरूपश्चेति द्विरूपत्वम् । ५०. तयोः भेदातादात्म्यो । ५१. व्यतिरेको भेदः । ५२. अवयव्यादीनां मध्ये यस्य कस्यचिदेकस्य सर्वथा भेदेङ्गीक्रियमाणे स्वारम्भकेषु अवयवा-(तन्तुषु)दिष्वनेकेषु वृत्तिर्न स्यात्, भागाभावात्, निरंशत्वात् । ५३. अवयविनो भागित्वमाश्रित्य वृत्तिः स्यादित्युक्ते आह—बहूनीति । अवयविनोवयवेषु वृत्तिश्चेत्तर्हि बहूनि कार्याणि स्युः । ५४. एकस्यैवावयविनः । ५५. एकस्यानेकेषु वृत्तेः । ५६. मते । ५७. अवयव्यादेः । ५८. आदिशब्देन गुणिसामान्यवतोर्ग्रहणम् । ५९. एकस्य कार्यद्रव्यादेरनेकस्मिन् कारणादौ वृत्त्यनिष्टौ । ६०. तन्तुघटयोरथवा मृत्पिण्डपटयोर्यथाकार्यकारणत्वविरोधस्तथा । ६१. तन्त्वादिलक्षणमाधारमाधारं प्रति । ६२. उभयोर्विकल्पयोर्मध्ये । ६३. पटादिकार्यद्रव्यम् । ६४. अधिकरणे तन्त्वादौ । ६५. एकस्यावयव्यादेः । ६६. एकमनेकत्रावयवेषु सर्वात्मनापि न वर्तितुं शक्यम् ।

६७. आदिशब्देन विभागद्वित्वादिसंख्या परत्वापरत्वसामान्यगुणा एव ग्राह्या न तु रूपादयः, रूपादिविशेषगुणानां परैरनेकत्र वृत्तेरनभ्युपगमात् । ६८. अनेकावयवस्थः । ६९. अपिशब्दोत्र भिन्नप्रक्रमे । तेन कथंचित्प्रदेशवत्त्वमपीति द्रष्टव्यम् । ७०. यदि तर्हीति शेषः । ७१. तन्तुभ्यो भेदोपि पटस्य सांशत्वे कथं तत्र स्वावयवेषु वृत्तिरेकदेशेन सर्वात्मना वेति पुनः पुनः क्रियते इति पुनः सति वृत्तिविकल्पः अनवस्था च स्यात् । अनवस्था, अस्थितिः । ७२. अवयवेषु । ७३. आदिशब्देन गुणः सामान्यं च । एकमेकं यद्वर्तते स्यात् । ७४. प्रवृत्तेः । विकल्पात् । ७५. अवयवी अवयवेषु । ७६. हे यौग, तवोक्तम् । ७७. एकदेशेन सर्वात्मना वेति प्रकारं मुक्त्वा अन्यस्य प्रकारस्याभावात् । ७८. अवयवादिष्ववयवी समवैतीति संबन्धात् । ७९. समवायव्यतिरेकेण । ८०. वृत्तेः, वर्तनशब्दस्य । अर्थः, प्रयोजनम् । तस्यासंभवात् । ८१. समवाये । ८२. पक्षद्वयेपि । ८३.

अवयविगुणिसामान्यवदर्थेभ्यः। ८४. तेषां कार्यगुणसामान्यानाम्। ८५. केवलव्यतिरेक्यनुमानेन। ८६. तेषामवयवावयव्यादीनामन्योन्यम्। ८७. पूर्वकारिकायां कथितः। ८८. जैनः प्राह, भो यौग, इति पूर्वोक्तं त्वया न मन्तव्यम्। उभाभ्यां संबन्धः संयोगः कथ्यते। ८९. अन्यथा, अनर्थान्तरभूतयोः। ९०. स्थालीदध्नोः। ९१. तस्य, संयोगस्य। ९२. ननु संयोगिनोः सर्वथा भेदे संयोगाभाव इत्ययुक्तं यावता ताभ्यां भिन्नस्य संयोगस्योत्पत्तेरित्युक्ते आह। ९३. दध्नः। ९४. स्थाल्याम्। ९५. संयोगः। ९६. संयोगिभ्याम्। ९७. संयोगस्य। ९८. अनयोः संयोग इति। ९९. उत्क्षेपणादिना (यौगाभिमतेन)। १००. स्थाल्यां कर्मणः कालादेर्वायं संयोग इति। १०१. संयोगं प्रति। १०२. संयोगस्य। १०३. अनयोः संयोगिनोरयं संयोग इत्येवम्। १०४. संयोगं प्रति समवायिकारणत्वं कर्मादिनेति। १०५. इति हेतोः संयोगिनोर्दधिस्थाल्योः समवायिकारणत्वमिति यौगेनोक्ते जैनः प्राह। १०६. संयोगिभ्यां समवायिरूपाभ्यां भिन्नः पदार्थः। १०७. संयोगसंयोगित्वेन। १०८. संयोगलक्षणम्।

१०९. समवायस्य भेदाविशेषात्। ११०. संयोगिभिः। १११. संयोगसमवायवन्तावेतौ संयोगसंयोगिनाविति। पटसमवायवन्तस्तन्तव इति वा। ११२. तस्य, विशेषणविशेष्यभावस्य। ११३. विशेषणविशेष्यभावः। ११४. कर्मादिष्वपि। ११५. विशेषणविशेष्यभावोयम्। ११६. तन्तवो यथा पटस्य। ११७. तन्तुषु पटसमवाय इति। ११८. इति सति हे यौग, तव। ११९. विज्ञानाद्वैतस्यैव। १२०. विज्ञानमेवादृष्टमित्यर्थः। १२१. चेतना, विज्ञानम्। कर्म, अदृष्टम्। १२२. विज्ञानवादिनाम्। १२३. वासनाविशेषः। १२४. विशेषशब्देन समनन्तरं पूर्वज्ञानमालक्ष्यते, समनन्तरस्य पूर्वविज्ञानस्य प्रबोधकत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। १२५. नीलमिदमित्यादिकम्। १२६. अन्यथेति शेषः। १२७. वासना प्रबुद्धत्वाविशेषात्। १२८. वासना प्रबुद्धत्वाविशेषात्। १२८. सौगत आह, इति यौगोक्तं न सम्यक्। १२९. तस्य, विज्ञानविशेषस्य। १३०. वासनप्रबोधं प्रति। १३१. तस्य प्रबोधस्य। १३२. तदभावेपि बहिरर्थस्य सत्तामात्रेण वासनाप्रबोधहेतुत्वं यदि तर्हि। १३३. पिशाचपरमाण्वादेरपि वासनाप्रबोधहेतुत्वप्रसङ्गात्। १३४. तस्य, नीलादिविज्ञानस्य। १३५. नीलादेरर्थस्य। १३६. हे यौग। १३७. नेष्यते, कुतः ? इत्याह। तस्य, नीलादिज्ञानस्याधिपतिश्चक्षुरादिनिर्विकल्पकज्ञानम्। समनन्तराणि च तानि चादिविज्ञानानि चेति। १३८. अधिपतिसमनन्तरादिकारणप्राक्तनविज्ञानेभ्यः। १३९. तस्य, वासनाप्रबोधस्य। १४०. बहिरर्थान्। १४१. विज्ञानैः। १४२. तस्य, बहिरर्थस्य। १४३. तस्य बहिरर्थस्य। १४४. विज्ञानवादप्रवेशो यतः। १४५. त्वया यौगेन। १४६. विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययस्य। १४७. यथा द्रव्यादिप्रत्ययस्य बहिरर्थविशेषविषयत्वम्। १४८. यौगैः। १४९. आश्रयणीयत्वे च। १५०. संयोगसंयोगिनोः स्वसमवायो न विशेषणविशेष्यभावः समायाति। स च स्वसंबन्धिभ्यो भिन्न एवेति स्वसंबन्धिसिद्ध्यर्थं संबन्धान्तरमपेक्षते। तच्च तदनन्तरमित्यनवस्था। ततो विशेषणविशेष्यभावः संयोगिसंयोगसमवायैः स्वसंबन्धिभिरसंबद्धः संबन्धरूपो न भवति तदसंभवे समवायोपि न तथाविधः संभवति। ततश्च तद्वशात् संयोगिनोरयं संयोग इति कथं कथ्यते इति भावः। १५१. संयोगिनोः।

१५२. संयोगः। १५३. वृत्तित्वेनाभ्युपगतसंयोगस्यैव निराकृतत्वादित्यभिप्रायः। १५४. वृत्त्युपलब्धेरिति हेतुः। १५५. यतो नानैकान्तिकः। १५६. कार्यस्य। १५७. कारणान्तरे तन्त्वादौ। १५८. सर्वथा भेदे। १५९. भेदसाधको भिन्नप्रतिभासत्वादिति हेतुः। १६०. अवयवावयव्यादिभेदपक्षस्य। १६१. कुतः प्रत्यक्षविरोधः ? इत्याह। १६२. बौद्धाशङ्का। १६३. इति विकल्पयोः सतोरवयव्यादेः सावयवत्वं (सांशत्वम्) बहुत्वमनवस्था च न प्रसज्यते इति पूर्वोक्तमत्रापि संबन्धनीयम्। १६४. कथंचित्तादात्म्ये ताथागतस्य वृत्तिविकल्पदूषणासामर्थ्यनिरूपणेन। १६५. विरोधादिदोषा आदिशब्देन गृह्यन्ते। १६६. सामान्यमेव विशेषस्तयोरन्योन्यं तादात्म्यं यथा। १६७. कथंचित्तादात्म्ये। १६८. तस्य, वृत्तिविकल्पादिदूषणस्य। १६९. व्यावृत्तिबुद्धिं प्रति। १७०. अपिशब्दात्सामान्याख्यामपि। १७१. अन्यथेति शेषः। १७२. द्रव्यत्वादिकमपरमल्पविषयत्वात् तद्व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् विशेषाख्यामपि लभते इति परैः स्वयमेवाभिधानात्। घटे यथा घटत्वं तद्व्यावृत्तं पटत्वमपरविशेषः। १७३. तस्य, अपरसामान्यस्य। अपरसामान्यमेव यो विशेषः। १७४. अपरसामान्यस्य सामान्यविशेषरूपत्वे। १७५. ननु च तादात्म्यस्यैवाभ्युपगमनीयत्वं कथम् ? यावता सामान्यविशेषरूपयोरेकत्रार्थे समवायो भविष्यति न तु तादात्म्यमिति शङ्कायामाह। तत्, तयोः सामान्यविशेषयोः। १७६. समवायस्य। १७७. भिन्ने तृतीये कस्मिंश्चित्पदार्थे। १७८. सामान्याकारे विशेषाकारस्य

विशेषाकारे सामान्याकारस्य च समवायः परस्परं समवायः। १७९. वृत्तिविकल्पादि प्रकृतं दूषणम्। १७९क. अवयवावयव्यादयो देशकालाभ्यां भिन्ना अत्यन्तभिन्नत्वात्। १८०. अङ्गीक्रियमाणे।

१८१. विशेषो, भेदेः। १८२. पृथगाश्रयाश्रयिघटपटवत्। १८३. नन्ववयवावयव्यादीनामेकस्मिन्नवस्थान-(समानदेशता)-मभ्युपगच्छाम इत्युक्ते आह। समानदेशता, एकदेशकालता। १८४. अवयवावयविनोः। १८५. यौगशङ्का। १८६. ताभ्यां, देशकालाभ्यां। १८७. आत्माकाशयोः। १८८. वैशेषिकस्यापि देशकालाभ्यामभेदो भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। १८९. अङ्गीक्रियमाणे। १९०. आत्माकाशप्रकारेण। १९१. कथंचिदभेद एवास्त्विति यौगनोक्ते आह जैनः। १९२. यौगैः। १९३. अवयवावयव्यादेरभेदो नेष्यते यस्यात्। १९४. भेदवृत्तिः। १९५. रूपरसगन्धस्पर्शैः। १९६. अत्यन्तं भिन्नत्वादित्यस्य हेतोः। १९७. तेषां वर्णादीनाम्। १९८. (जैनैः)। १९९. मातुलिङ्गादिद्रव्यात्। २००. वर्णरसगन्धस्पर्शैः। २०१. पक्षीकृतैर्गुणगुण्यादिभिः सहैकदेशस्वरूपैः। पक्षान्तःपातिभिरित्यर्थः। २०२. क्षित्यादि धीमद्धेतुकं कार्यत्वादित्यस्योत्पन्नपक्षैकदेशात्मसु तृणपर्वतादिषु धीमद्धेतुकत्वलक्षणसाध्याभावेपि सत्त्वात्तृणपर्वतादिभिर्व्यभिचारप्रसङ्गात्। २०३. यौगस्य। २०४. एकदेशेनाभ्युपगतो यथा यथात्र वर्णादिषु पक्षैकदेशात्मसु देशकालाभ्याम्। २०५. सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं परिहरन्नाह। मूर्तयोरवयवावयविनोः। २०६. निश्चितानैकान्तिकत्वे सत्याह। २०७. स्वावयवा एव देशो ययोः। २०८. परमाणूनां निरवयवत्वाद्भिन्नदेशत्वाभावः। २०९. यत्प्रतिपाद्यते तत्र भवति। २१०. पुनर्यौगः। २११. आकाशमाश्रयान्तरम्। २१२. आहात्र जैनः। परमाणुद्व्यणुकयोः शास्त्रीयदेशभेदो नास्ति यद्यपि, तथापि लौकिकदेशभेदोभ्युपगतो यथा तथा समानदेशत्वमप्यस्तु कार्यकारणयोः। २१३. अस्त्वेवमित्युक्ते आह जैनः। २१४. कार्यकारणयोः। २१५. कार्यकारणयोः। २१६. भो जैन, मूर्तयोः समानदेशे वृत्त्यभावप्रतिपादनप्रकारेण। २१७. स्कन्धरूपाणामसंख्यातपरमाणूनां मूर्तानामप्येकाकाशप्रदेशे वर्तनं संभवतीति जैनाः। २१८. स्कन्धरूपेण। २१९. वयं जैनाः। २२०. असंख्येयपरमाणुरूपम्। २२१. आकाशस्य। २२२. जललवणभूतिसूचिकादीनां क्रमेणैकत्रावस्थानं संभवति, न च तथा स्यादित्यतिप्रसङ्गः। २२३. परमाणूनाम्। २२४. केषांचित्तु स्कन्धाकारपरिणतानां परमाणूनां समानदेशत्वमितरेषामसंबद्धानां तु भिन्नदेशत्वमिति।

२२५. यौगानाम्। २२६. आश्रयभावोवयवादीनामाश्रयिभावस्त्ववयव्यादीनाम्। २२७. भेदः। २२८. तन्तुपटादीनाम्। २२९. इति, इति चेत्तर्हि। अग्रे अयुक्त इत्यादिना दूषणमाह। २३०. समवायलक्षणः संबन्धः समवायिभिः सहासंबद्धत्वादनुपपन्नो गगनादिवद्यस्मात्तस्मादित्यर्थः। २३१. पूर्वपक्षं विवृण्वन्नाह निराकरणम्। २३२. समवायः। २३३. समवायिषु, तन्तुपटादिषु। २३४. यथा समवायस्य समवायिषु वृत्तिः स्वतस्तथा समवायिनामपि परस्परमिति। २३५. सामान्यमित्यादिकारिकाव्याख्यानाम्। २३६. समवायस्यानाश्रित्ववचनेपि षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः इति वैशेषिकग्रन्थो न विरुध्यते एव, तत्रापि तस्योपचारादाश्रितत्वकथनात्। तथा च समनन्तरं निवेदयन्ति ग्रन्थकाराः। २३७. समवायः। २३८. समवायिभिः। २३९. कार्यकारणादीनाम्। २४०. पृथक्सिद्धिर्भवेद्यतः। २४१. घटमानः। २४२. अनाश्रितः। २४३. अन्यथेति शेषः। २४४. अप्रतिबद्धत्वाविशेषात्। समवायिभिः सह। २४५. संयोगस्य। २४६. स्वसंबन्धिभिः। २४७. संयोगपरिणामात्मकत्वादित्यर्थः। २४८. विशेषणविशेष्यभावान्तरेण विना स्वयमेव स्वसंबन्धिभिः सह संबन्धे सति। २४९. यौगेनाङ्गीक्रियमाणे। २५०. तादात्म्यम्। २५१. तस्य, सत्तासामान्यस्य। २५२. कार्यस्य। २५३. तस्य, सत्तासमवायस्य। २५४. कुतस्तद्वैयर्थ्यमित्याह। २५५. उत्पन्नकार्यस्यैवेत्यर्थः। २५६. पदार्थान्तरभूता काचित्स्वरूपसत्तायाः सत्ता नास्तीत्यर्थः। २५७. स्वरूपेणासतः कार्यस्य सत्तासमवायात्संबन्धो भविष्यतीति कथं तद्वैयर्थ्यमित्यारेकायामाह। २५८. खरविषाणादीनां सत्तासंबन्धप्रसङ्गात्। २५९. कार्यस्य। २६०. सत्तासमवाय उत्पाद इत्येतदेवास्ताम्। किमनेन प्रागसत इति विशेषणेन ? इत्याशङ्कायामाह केवलस्येति। २६१. यौगस्य तव। २६२. चशब्दोयं भिन्नप्रक्रम इवार्थः। तेन सामान्यमित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। ततोयमर्थः प्रतिपादितो भवति सामान्यमिवेति। सामान्यं यथाऽऽश्रयमन्तरेण न स्यात्तथा समवायोप्याश्रयमन्तरेण न स्यात्, नित्यव्यक्तिषु प्रत्येकं सामान्यसमवाययोः परिसमाप्तत्वादित्यर्थ। २६३. एकैकासु नित्यव्यक्तिषु। २६४. ततश्चेति शेषः। २६५. अनित्येषु कार्येषु। २६६. कथं सत्त्ववर्तनमित्यर्थः।

२६७. वैशेषिकाणाम्। सामान्यस्य समवायेन संबन्धत्वात्परमार्थत आश्रितत्वसमवायस्य समवायान्तरेण संबन्धाभावादुपचरिताश्रितत्वं यौगैर्मन्यते। २६८. समवायस्योपचारादाश्रितत्वं समवायिषु यतस्तस्मादप्रतिबद्धत्वमाश्रित्य समवायस्यासंबद्धत्वमस्तीति भावार्थः। २६९. समवायस्याश्रितत्वोपचारनिमित्तम्। २७०. नित्यद्रव्येषु। २७१. सामान्यसमवाययोः। २७२. अनित्येषु कार्येषु। २७३. परिसमाप्तम्। २७४. यौगमते। २७५. उत्पद्यमानघटादिप्रदेशे। उत्पित्सुप्रदेशे प्राग्नासीदिति यौगो वक्ति, आकारादिकाच्च सर्वात्मनैकदेशेन वा न यातीति च वक्ति। इत्येतद्विरुद्धम्। स्वयमेव पश्चाद्भवति आश्रयविनाशे च न नश्यतीति च विरुद्धम्। प्रत्येकं परिसमाप्तमिति वक्ति, एकदेशेन सर्वात्मना च न वर्तते इति च विरुद्धमिति भावः। २७६. अन्यथेति शेषः। २७७. पूर्वाधारो नित्यं द्रव्यम्। २७८. यातीति संबन्धः। २७९. सामान्यसमवाययोः। २८०. उत्पत्त्यनन्तरम्। २८१. उत्पित्सुप्रदेशे। २८२. नित्यद्रव्यादात्माकाशादेः। २८३. प्रत्याश्रयम्। २८४. (इति, पूर्वोक्तं परस्पराविरुद्धं वचो व्याहतम्। 'न याति न च तत्रास्ते न पश्चादस्ति नांशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः' इत्यत्र दर्शितदोषसमत्वमेवात्रापि ज्ञेयम्)। उत्पित्सुदेशे प्रागित्यादि योज्यमुपरितः। २८५. आदिपदेन गुणकर्मणोर्ग्रहणम्। २८६. समवायिषु। २८७. अनित्यानां समवायित्वं कथमित्युक्ते आह। २८८. कार्योत्पादसमवाययोरित्यर्थः। २८९. प्रकृतं दूषणं प्राग्नासीदित्यादिलक्षणमनन्तरमेवोक्तम्। २९०. कुत इत्युक्ते आह। २९१. कार्योत्पत्तेः प्राक्। २९२. उत्पित्सुप्रदेशे। २९३. सत्तासमवाययोरेव। २९४. उपित्सुप्रदेशात्पश्चात्। २९५. सत्तासमवाययोर्नित्यत्वात्। २९६. स्यान्मतमित्यनेन संबन्धः। २९७. द्रव्यगुणकर्मसु। २९८. अन्यथेति शेषः। २९९. तयोः, सामान्यस्य समवायस्य च। ३००. तस्य, अविच्छेदस्य। ३०१. अनित्यकार्येषु। ३०२. भावस्य, घटादेः। यथा घटप्रागभावो मृत्पिण्डः। ३०३. एवं सत्तासमवाययोः सर्वगतत्वप्रकारेण। ३०४. परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयेत्यर्थः। ३०५. सर्वत्र द्रव्यादिषु साधारणः। ३०६. चतुर्विधस्य। ३०७. भावाश्रितत्वम्। अघटः पटो वर्तते इत्यत्र वर्तनक्रियान्वयो भावस्यैवेति तस्यैव प्राधान्यम्। ३०८. पटस्वरूपे घटस्वरूपाभावो' वर्तते इत्यत्राभावस्यैव वर्तनक्रियान्वय इति तस्यैव प्राधान्यम्। ३०९. तस्य, अभावस्य। ३१०. घटोयं पटोयमित्येवम्।

३११. यौगः। ३१२. सति। ३१३. प्रध्वंसाभावाभावेऽनन्तत्वदोषः। इतरेतराभावाभावे सर्वस्य सर्वात्मकत्वमिति दोषः। अत्यन्ताभावाभावे सङ्करत्वदोषः। ३१४. मृत्पिण्डस्य प्रध्वंसं विना घटो नोत्पद्यते। प्रागभावेतरेतरात्यन्ताभावानामप्यभावप्रसङ्गः स्यादिति टिप्पण्यन्तरम्। ३१५. मृत्पिण्डे घटस्य प्रागभावस्तस्यापि। ३१६. सर्वस्य कार्यस्य। ३१७. प्राग् नासीत् पश्चान्नासीदित्येवम्। ३१८. तस्य, अभावस्य। ३१९. यौगो, वैशेषिकः। ३२०. विवक्षितकार्यस्य। ३२१. अङ्गीक्रियमाणे। ३२२. अतीतानागतकार्यस्य। ३२३. सर्वस्य सत्तासमवायभवने च। ३२४. अभावान्तरेणेतरेतरात्यन्ताभावौ। ३२५. तवापि यौगस्य। ३२६. न ह्यसिद्ध इति संबन्धः। ३२७. प्रागभावाभावान्तरं कार्यस्य सत्तासमवायः। ३२८. सत्तासमवायो नासिद्ध इत्येव। (इतरस्मादितरत्र, इतरपदार्थादितरपदार्थे। इतरेतराभावतया निदर्शनमेतदित्यर्थः)। ३२९. हे यौग। ३३०. प्राक्-पश्चादित्यादीनाम्। ३३१. विरुद्धधर्माणां प्राग्नासीदित्यादीनाम्। ३३२. अभावभेदे। ३३३. अभाववत्। ३३४. विश्वरूपोस्तु। ३३५. द्रव्यगुणकर्मसु। ३३६. स्याद्वादिनाम्। ३३७. सामान्यस्य सामान्यविशेषात्मकत्वं, विशेषस्य च सामान्यविशेषात्मकत्वमिति। ३३८. न चेति संबन्धः। ३३९. सामान्यविशेषयोः। ३४०. सामान्यमेव विशेषो, विशेष एव सामान्यमिति। ३४१. (द्रव्यार्थिकनयविवक्षया इत्यर्थः)। ३४२. (तयोः सामान्यविशेषयोरभेदरूपेणेष्टेरित्यर्थः)। ३४३. घटत्वादेः। ३४४. घटादेः। ३४५. पृथक्कृतस्य। ३४६. अङ्गीक्रियमाणे। ३४७. पृथक्कृतस्य। ३४८. अन्यथा, अन्योन्यात्मकत्वप्रकारेण स्वीकारे। ३४९. भिन्नस्य। ३५०. इतरापेक्षत्वेन स्वीकारे सतीत्यर्थः। ३५१. पूर्वोक्तं स्याद्भिन्नं स्यादभिन्नं च सामान्यविशेषादि। ३५२. सामान्यविशेषयोः परस्परसापेक्षत्वप्रकारस्य।

३५३. संयोगादिप्रकारेण। ३५४. यतः संयोगो द्रव्ययोरेव। ३५५. तत एव सामान्यसमवायाभ्याम्। ३५६. सामान्यं समवायोर्थश्च। ३५७. संयोगस्तु द्रव्ययोरेवेति यौगमतं यतः, अयुतसिद्धानां गुणगुण्यादीनामाधाराधेयभूतानां यः संबन्धः स समवाय इति च वैशेषिकमतं यतः। ३५८. (यौगैः)। ३५९. विशेष्यम्। ३६०. विशेषणम्। ३६१. सामान्यं समवायीति स्वतः परतो वा? न तावदाद्यः, परतोनवस्थानादित्येवम्। ३६२. पदार्थे। ३६३.

असंबद्धत्वात्। ३६४. कथंचित्तादात्म्यलक्षणस्य संबन्धान्तरस्यानिष्टत्वं यतो यौगानाम्। ३६५. असतः किंचित्स्वरूपासंभवात्। ३६६. हेतुगर्भितविशेषणम्। ३६७. आत्मा, स्वरूपम्। ३६८. आत्मानमिति द्वितीयविभक्तिनिर्देशात्। ३६९. यौगस्य। ३७०. द्रव्यादीनाम्। ३७१. सामान्यादीनां स्वरूपसत्त्वोपगमे सत्तासमवायस्य यथा वैयर्थ्यम्। ३७२. अन्यथेति शेषः। सामान्यादीनां सत्तासमवायस्य वैयर्थ्यं नो चेत्तर्हीत्यर्थः। ३७३. सामान्यादीनाम्। ३७४. द्रव्यादिषु। ३७५. सत्ता सामान्यं सत्तासमवायेनासंबद्धं समवायः पुनरसता समवायान्तरेणासंबद्ध इति विशेषो भविष्यतीत्युक्ते आहुर्जैनाः। ३७६. असंबद्धत्वमित्यन्वयः। ३७७. तयोः सामान्यसमवाययोः। विवक्षितसमवायसत्तायाः सत्त्वं समवाये च समवायान्तरस्यासत्त्वं, ताभ्यामित्यर्थः।

३७८. संयोगस्य गुणत्वात्संयोगिनश्च गुणित्वाद्गुणगुणिनोः संयोगसंयोगिनोः समवाय इति वैशेषिकसिद्धान्तः। न तु संयोगस्य स्वसंयोगिभ्यामसंबद्धत्वमिति शेषः। ३७९. कार्यकारणादिभावः। ३८०. कार्यकारणादीनाम्। ३८१. कालादिवत्। ३८२. तत्, सामान्यम्। ३८३. अनर्थक्रियाकारित्वादिति। ३८४. सामान्यादिषु सत्तासमवायरहितत्वेपि सत्त्वसद्भावाद् व्यभिचारः। ३८५. सामान्यसमवायविशेषाणाम्। ३८६. यौगमते। ३८७. मशकोपरितनधूमेन सत्यधूमस्य व्यभिचारप्रसङ्गात्। ३८८. वैशेषिकः। परमाणूनां सर्वासु संयुक्तवियुक्तावस्थासु एकस्वरूपतैकान्त इत्यभिप्रायः। ३८९. स्वस्वरूपं विहाय स्कन्धरूपविकाराद्यभजने। एकस्वरूपत्वैकान्ते। ३९०. स्कन्धरूपत्वेपि। ३९१. परस्परासंबद्धत्वम्। ३९२. सौगतप्रतिपादितम्। ३९३. स्वरूपान्तरपरिणमनाभावात्। ३९४. स्वरूपान्तरत्वेङ्गीक्रियमाणे। ३९५. अत्र बौद्धः कथयिष्यति, भवतु परमाणूनामनित्यत्वम्। तत्रोच्यते, अनित्यत्वं त्वस्तु परन्तु परिणामित्वं न स्यात्, यतः स्वरूपान्तरत्वे एव परपरिणामात्मभवनं स्यात्। ३९६. स्वेषां परमाणूनां संयोगः। असवायिकारणं चासौ स्वसंयोगश्च। स एव स्वभावो यस्य संहततत्वस्येति बसः। ३९७. परिणमनरूपोतिशयः। ३९८. अङ्गीक्रियमाणायाम्। ३९९. संयोगासंभवे च। ४००. चलनात्मरूपक्रियाया उत्क्षेपणादेः। ४०१. क्रियारूपस्य परिणामस्य। ४०२. चलनाचलनादिरूपतया भेदाभावे। ४०३. तस्य संयोगस्य। ४०४. पूर्वोक्तः। ४०५. विभागे इव। ४०६. स्कन्धरूपाणाम्। ४०७. ऊर्ध्वमुखकमण्डलुना समत्वेपि। अधोमुखकमण्डलुमध्ये धारणं वंशरज्जौ त्वाकर्षणं यथासंख्यमुदाहृतं ज्ञेयम्। ४०८. संहतपरमाणूनाम्। ४०९. जनितः। ४१०. भेदैकान्तपक्षम्।

४११. अणूनां विभागैकान्तनिराकरणे सति। ४१२. किं तु स्कन्ध एवं स्यात्। ४१३. अनेकपरमाणूनाम्। ४१४. प्रविभक्ताणूनामेकत्वं भिन्नं संहताणूनां स्कन्धरूपाणां तु भिन्नमेकत्वमिति भावः सौगतवचनस्यास्य। ४१५. परमाणूनां संहतानां प्रविभक्तानां च नाविशिष्टत्वलक्षणमेकत्वं, किन्तु विशिष्टत्वलक्षणमेवैकत्व- (एकत्वं द्विधा) मिति भावः। ४१६. परमाणुत्वं तथापि (संहतत्वेपि) न नश्यतीत्यर्थः। ४१७. तेषां, कार्यकारणपरमाणूनाम्। ४१८. धारणाकर्षणादेः। ४१९. अन्यथेति शेषः। ४२०. संहतेषु। ४२१. (संहतेषु सत्स्वपि)। ४२२. संहतपरमाणूनां सर्वथा प्रविभक्तत्वसमर्थनप्रकारेण। ४२३. संहतविभक्तेषु। ४२४. अस्माकं वैशेषिकाणां। ४२५. भूतचतुष्टयस्य विभ्रममात्रत्वलक्षणः। ४२६. संहतानां स्कन्धरूपाणां विभक्तानां चाणूनां समानत्वकथनं प्रत्यक्षेण विरुध्यते यतः। ४२७. स्थूलतरम्। ४२८. प्रत्यक्षं भ्रान्तिग्राहकं मास्तु। अनुमानं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। ४२९. स्कन्धरूपस्य। ४३०. परमार्थतः। ४३१. कार्यं स्कन्धरूपमेव लिङ्गं यस्य तत्कारणद्रव्यम्। ४३२. यत इति शेषः। ४३३. इति सति किं भवतीत्युक्ते आह। कार्यकारणपरमाण्वभावतः। ४३४. तस्मात् स्थूलैकाकाराद्विपरीतः परमाणुरूपस्तदाकारस्य। ४३५. सौगतपक्षमाश्रित्य वैशेषिक आह— तत्र, नित्यैकान्तनिराकरणे स्याद्वादाङ्गीकृते एतत्फलं स्यात्। किम्? इत्याह— परमाणूनामेकत्वादिप्रतिपत्तिर्भ्रान्ता स्याद्वादिनां स्यादिति। ४३६. इति चेत्तन्नेति जैन आह। ४३७. कार्यलिङ्गस्य भ्रान्तत्वात्। ४३८. तत्स्वभावस्य, परमाणुत्वस्य। ४३९. सौगतवैशेषिकयोः समानतयैवैतद् दूषणम्। ४४० भिन्नभिन्नानाम्। ४४१. सत्याम्। ४४२. निबिडाकारप्रतिभासस्य। ४४३. यथा सर्वथा वृक्षादर्शिनोऽनुपपत्तिः। ४४४. कार्यलिङ्गभावात्तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तेरित्येतद्भावयन्नाह। ४४५. तर्ह्युभयाभावोस्तु इत्याशङ्कायामाह। ४४६. एतद् भाष्यमेव स्पष्टयति। ४४७. क्रिया च विशेषश्च समवायश्चेति द्वन्दः।

४४८. कार्यकारणोभयस्य। ४४८(क). अन्यथेति शेषः। ४४९. गुणजातीतरत्परमाणुकार्यद्रव्यलक्षणद्वयवृत्ति न भवेद्यतः। ४५०. तत्, गुणजात्यादि। ४५१. परमाणूनाम्। ४५२. स्कन्धरूपापेक्षया। ४५३. कथंचिदन्यत्वोपपत्तेः। ४५४. ततश्चेति शेषः। ४५५. अविनाभावनियमात्। ४५६. इदं कार्यमिदं कारणमिति। ४५७. संवृतिः। ४५८. उभयोः सर्वथैकत्वात्। ४५९. कारणस्य। ४६०. कार्येणाविनाभुवः कारणस्याभावः, कारणस्य कार्यापेक्षत्वात् सर्वथा कार्याभावे कारणत्वासंभवात्। ४६१. महदादेः। ४६२. प्रधाने। ४६३. उत्तरसृष्टिक्रमापेक्षया भेदाभावेपि। ४६४. कारणस्य। ४६५. विरोधो, अभावः। ४६६. कार्यकारणयोः। ४६७. कार्यकारणादेर्यथा सर्वथैकस्मिन्वस्तुन्यसंभवः। ४६८. द्वित्वसंख्याया मृषात्वे। ४६९. आदिशब्देन शब्दप्रत्यक्षयोर्ग्रहणम्। ४७०. गोपालघटिकाधूमादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। ४७१. कार्यकारणप्रकारेण। ४७२. संख्यानाम्। ४७३. शेषः, पुरुषः। ४७४. (तत्स्वभावस्य चैतन्यस्वभावस्य)। ४७५. रूपं, शरीरम्। ४७६. संस्थानस्य। ४७७. तयोः पुरुषचैतन्ययोः परस्परम्। ४७८. उभयोः परस्परं सर्वथानुप्रवेशे सति। ४७९. इति, हेतोः। ४८०. द्वित्वसंख्यायाम्।

४८१. धर्माः संख्येयत्वादयः। ४८२. सांख्याभिमतः। ४८३. यौगाभिमतोन्यतैकान्तो यथा न संभवति। ४८४. ऐकात्म्यं, तादात्म्यम्। ४८५. आदिपदेन गुणगुणिनां सामान्यतद्वतां च ग्रहणम्। इतरशब्देनावयवी गृह्यते। ४८६. तस्य, अनभिलाप्यरूपस्य सिद्धान्तस्य अनभिलाप्य इति वचनेनाभिलाप्यरूपत्वात्। ४८७. पदार्थः सिद्धान्तो वा। ४८८. किं तु संवृत्यैव। ४८९. स्वयं, स्वस्य सौगतस्य। ४९०. सा दृश्यानुपलब्धिरदृश्यानुपलब्धिर्वेति विकल्पद्वयं कृत्वा क्रमेण दूषयति। ४९१. यत्र देशे दृश्या। ४९२. दृश्यानुपलब्धिर्न किन्तु अदृश्या चेत्तर्हि नास्तीत्यादि संबन्धः। ४९३. तस्या वाच्यतायाः। ४९४. परमाण्वादेरप्यभावप्रसङ्गात्। ४९५. निर्विकल्पकविषये। ४९६. यतोन्यापोहवाच्यतैव प्रतिषिद्धा न तु स्वलक्षणस्य (वस्तुभूतस्य) वाच्यतेत्यर्थः। ४९७. अन्यथेति शेषः। ४९८. तत्, तस्या अन्यापोहवाच्यतायाः। (अन्यापोहवाच्यतायाः स्वयमभ्युपगमो यस्तस्य विरोधादित्यर्थः)। ४९९. पञ्चचत्वारिंशत्तमकारिकातो द्विनवत्यधिकैकशततमे पत्रे। ५००. नयापेक्षया। ५०१. अवाच्यत्वभावोपलब्धेः। ५०२. स्थूलो व्यञ्जनपर्याय इत्युक्तत्वात्। ५०३. एकान्तवाच्यताऽवाच्यतारूपेण। ५०४. आदिशब्देनान्यत्वमुभयमवाच्यं च ग्राह्यम्। ५०५. तत्वोपप्लववादिनः। ५०६. अशक्यविवेचनत्वात्। ५०७. संज्ञा खण्डमुण्डादिः। संख्या द्वित्वादिः। तयोर्विशेषात्। ५०८. स्वेषां द्रव्याणां प्रत्येकं लक्षणभेदाच्चेत्यर्थः। ५०९. आदिना भिन्नकालत्वादिहेतुग्रहः।

५१०. प्रतिभासभेदेप्यव्यतिरिक्तत्वमसिद्धं, यतः प्रतिभासभेदोस्ति। इति शङ्कापनोदार्थमिदं विशेषणम्। ५११. ब्रह्माद्वैतवादिनाम्। ५१२. सौगतानाम्। ५१३. प्रतिभासभेदेप्यव्यतिरिक्तत्वादिति। ५१४. तयोर्द्रव्यपर्याययोर्मध्ये। ५१५. अर्थक्रियालक्षणस्य। ५१६. पर्यायनिरपेक्षम्। ५१७. केवले द्रव्ये पर्याये वा। ५१८. क्रमेण युगपद्वानेकस्वभावरहितस्य। ५१९. अभेदः। ५२०. सहार्थे भा (तृतीया) कार्या। ५२१. इति यौगाशङ्का न सम्यगित्यर्थः। ५२२. प्रतिभासभेदस्य। ५२३. चक्षुरादिव्यापार उपयोगः। ५२४. दूरनिकटदेशादिः, सामग्रीभेदः। ५२५. यथैतद्विशदेतरज्ञानयोर्निर्भासभेदः स्वविषयैकत्वं न निराकरोति। ५२६. प्रतिभासभेदेपीति विशेषणदलम्। ५२७. अनन्तरोक्तन्यायेन। ५२८. यौगस्य। ५२९. साध्यसम इत्यर्थः। ५३०. विनाशोऽनित्यता निरोधश्चेत्येकार्थवाचकाः। अनित्यधर्मकत्वादित्यर्थः। ५३१. द्रव्यपर्यायतया। ५३२. भावार्थे क्तप्रत्ययान्तम्। ५३३. द्रव्यपर्याययोः। ५३४. साध्यसमत्वाभावो दर्शितोनेन। ५३५. वेद्यवेदकाकारज्ञानयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यविवेचनत्वं यथा। ५३६. वेद्यवेदकाकारज्ञानयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यत्वस्यापरं किंचिन्निमित्तं भविष्यति, न त्वशक्यविवेचनत्वमित्याशङ्कायामाह। ५३७. अशक्यविवेचनत्वस्य। ५३८. वेद्यवेदकाकारयोः। ५३९. अपृथक्सिद्धत्वात्।

५४०. द्रव्यान्तरं नेतुमशक्यमित्यर्थः। ५४१. अयुतसिद्धत्वं किं देशाभेदः कालाभेदः स्वभावाभेदो वेति विकल्पत्रयं कृत्वा दूषयन्ति। ५४२. असौ द्रव्यपर्याययोः स्वभावाभेदः किं सर्वथा कथंचिद्वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयन्ति। ५४३. स्वभावाभेदद्वित्वयोः युक्तत्वविरोधादिति कपुस्तकपाठः। ५४४. कथंचित्स्वभावाभेदरूपम्। ५४५. कथंचित्स्वभावाभेद एव। ५४६. अपृथग्भावः। ५४७. परो जैनः। ५४८. कथंचित्त्वाभावे। ५४९. समवायस्य।

५५०. यौगवचनम्। ५५१. अपिशब्दात् न केवलं हेतुः साध्यसमो न भवतीति ध्वन्यते। ५५२. साधनस्य सद्भावः साध्यस्य च निर्णीतिः कुत इत्युक्ते आह। ५५३. धर्मिणोर्द्रव्यपर्याययोर्भेदग्राहकप्रमाणेन प्रत्यक्षेण। ५५४. अव्यतिरिक्तत्वं हेतुः। ५५५. यथा सर्वथा भिन्नयोः सह्यविन्ध्ययोर्द्रव्यपर्यायत्वासंभवः। ५५६. भेदाभेदप्रकारेण। ५५७. सामान्यमेव विशेषः। तद्वत्। ५५८. द्रव्यपर्याययोर्मेचकज्ञानवद्विरोधादिदोषानवकाशरूपया, भेदाभेदरूपया वा। ५५९. द्रव्यपर्याययोः। ५६०. भेदाभेदतया। ५६१. द्रव्यपर्याययोरैक्ये सति। ५६२. कविर्नूतनसन्दर्भो गमकी (शास्त्रबोधकः) कृतिभेदकः। वादी विजयवाग्वृत्तिर्वाग्मी स्याज्जनरञ्जकः॥ इत्युक्ताश्चत्वारः कवित्वादयोऽस्त्रा अवयवा यस्याः, सा धीर्येषां ते चतुरस्रधियः। ५६३. अन्यथेति शेषः। ५६४. आदिशब्देन यस्य वर्णादयः पर्यायास्तस्य वर्णादिमतो द्रव्यस्य ग्रहणम्। ५६५. ब्रह्माद्वैतिसौगतस्वीकृतौ। ५६६. निरपेक्षयोर्द्रव्यपर्याययोः। ५६७. पदार्थस्वरूपसंबन्धित्वेनैकान्तद्वयस्य जैनैर्निराक्रियमाणत्वात्। ५६८. यदेव मया पूर्वं दृष्टं तदेव स्पृश्यते इत्यनेनाबाधितैकत्वप्रत्यभिज्ञानेन निराकृतत्वात् (यतः प्रत्यभिज्ञानेन पूर्वापरसमयवर्ती पदार्थ एक एव विषयीक्रियते। तस्यैव च नित्यत्वमनेकसमयवर्तिन एव नित्यत्वाभिमननात्)। ५६९. संज्ञासंख्याविशेषाच्चेति कारिकामधुना व्याख्याति। द्रव्यपर्यायौ कथंचिद्भिन्नलक्षणौ परस्पराविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकत्वादिति उपरिष्टाद्योज्यमत्र।

५७०. वैश्रसिकः, स्वाभाविकः। ५७१. बसः। ५७२. परिणामविशेषादिति हेतोरसिद्धत्वनिराकरणेन। ५७३. परस्परविविक्तस्वभावौ हि शक्तिशक्तिमन्तौ द्रव्यपर्यायविति साध्येऽयं कारिकोक्तो हेतुः। ५७४. शक्तयोत्र पर्यायाः, शक्तिमत्तु द्रव्यम्। ५७५. बसः। ५७६. स्त इति संबन्धः। ५७७. प्रधानभूताया इत्यर्थः। ५७८. प्रथमपरिच्छेदावसाने। ५७९. कारिकोक्तम्। ५८०. पर्यायेष्वनुस्यूतत्वमन्वयः। ५८१. बसः। ५८२. बसः। ५८३. कारिकोक्तं साधनं। ५८४. कारिकायां प्रयोजनादीत्यत्रादिपदेन लभ्यमेतत् साधनं भिन्नकालत्वमिति। ५८५. भिन्नप्रतिभासत्वमपि प्रयोजनादिभेदादित्यत्रादिशब्दपाठेन लभ्यम्। ५८६. परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनत्वादिकं सिद्धं यतः। ५८७. परस्परविविक्तस्वभावसंज्ञासंख्येत्यादिहेतोः। ५८८. तयोः द्रव्यपर्याययोर्भिन्नत्वम्। ५८९. द्रव्यपर्यायरूपेण लक्ष्येण। ५९०. हे जैन। ५९१. सपक्षेऽन्वयद्वारेणोपसंहार्यो न भवति विपक्षे च व्यतिरेकद्वारेण न प्रदर्श्यते, किन्तु पक्षे एव प्रवर्तते यः सोनुपसंहार्यो हेतुः। सपक्षविपक्षरहित इत्यर्थः। ५९२. सर्वस्य पक्षीकृतत्वेन सपक्षविपक्षयोरभावेनासाधारणत्वसद्भावाल्लक्षणत्वं च। एतस्य लक्ष्यगम्यत्वप्रसङ्गः। ५९३. यथा सत्त्वं वस्तुनो लक्षणम्। ५९४. यौगः। ५९५. साधनाभावे साध्याभावरूपा विपर्ययेणात्र व्याप्तिः कृतास्ति। किमर्थम्? लक्ष्यलक्षणयोर्मध्ये एकस्याभावेऽपरस्याभावो भवतीति ज्ञापयितुम्। ५९६. सतो विपक्षः असत्, असतो विपक्षश्च सत्। ५९७. सर्वं वस्तु सत्त्वादित्यत्र। ५९८. जैन आह। ५९९. सर्वं वस्तु भिन्नं प्रमेयत्वादित्यत्र भिन्नत्वं साध्यम्। तस्यानाश्रयः खरविषाणं तस्य। ६००. प्रमाणविषयतया। ६०१. सर्वं भिन्नं प्रमेयत्वादित्यत्र। ६०२. खरविषाणस्य। ६०३. असतः। ६०४. तस्य सत्त्वस्य। ६०५. उत्पादव्ययरहितं सत्त्वमित्यभ्युपगतं सांख्यैः। ६०६. ध्रौव्यरहितमिति सौगतैरभ्युपगतम्। ६०७. असत्यंबुद्धिप्रतिभासिनः पराभ्युपगतस्य सत्त्वस्य। ६०८. पराभ्युपगतोनुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तो विकल्पबुद्धिप्रतिभासी कश्चित्पदार्थः सत्त्वस्य हेतोर्विपक्ष इत्यङ्गीक्रियमाणे इत्यर्थः। ६०९. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः सद्वर्गः। प्रागभावादिरसद्वर्गो वैशेषिकदर्शने। तदभावस्य नीरूपस्य। ६१०. परेण तत्त्वोपप्लववादिना। ६११. प्रमेयत्वापेक्षया। ६१२. सत्त्वप्रमेयत्वयोः।

६१३. अविद्यमानस्य लक्षणस्य। ६१४. 'साधारणत्ववचनात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ६१५. पक्षव्यापिन एवासाधारणस्य वस्तुलक्षणत्वप्रतिपादनपरेण ग्रन्थेन। ६१६. हेतोः। ६१७. तस्य पक्षस्यैकदेशे व्यापकस्य लक्षणस्यासाधारणत्वेपि लक्षणत्वायोगादव्यापिसद्भावादित्यर्थः। ६१८. यथोष्णत्वमग्नेरसाधारणमपि न लक्षणं भवति लक्ष्यैकदेशवृत्तित्वात्। ६१९. तत्, उष्णत्वम्। ६२०. तर्हीति शेषः। ६२१. हेतुगतः। पक्षाव्यापित्वलक्षणः। ६२२. पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्वकथनेन। ६२३. हेतोः। ६२४. साध्ये। ६२५. अत्र सपक्षविपक्षाभावेपि

पक्षव्यपित्वाल्लक्षणत्वं यथा। ६२६. श्रावणत्वम्। ६२७. शब्दत्वं (सामान्यं) विपक्षो भविष्यतीत्याशङ्क्याह। ६२८. पर्यायापेक्षया। ६२९. शब्दाभावस्तर्हि विपक्षः स्यादित्याशङ्क्याह। ६३०. स च शब्दाभावः शब्दान्तरस्वभावो शब्दरूपो वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयन्ति। ६३१. घटशब्देन यथा पटशब्दाभाव इतरेतराभावः। ६३२. विकल्पद्वये द्वितीयविकल्परूपस्य शब्दाभावस्येत्यर्थः। ६३३. श्रावणस्य। ६३४. लक्ष्यं शब्दमन्तरेण। ६३५. द्रव्यपर्याययोर्मध्ये इति प्रकृते। ६३६. (श्रीतत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्रकर्तुः)। ६३७. इति वचनेऽपि द्रव्यस्य लक्ष्यत्वं गुणपर्ययवत्त्वस्य च लक्षणत्वं कुत इत्याशङ्क्याह साध्यद्वयेपि यथाक्रमं हेतुद्वयं योजयन्। ६३८. कार्यद्रव्यस्य पर्यायत्वात्कथं द्रव्यलक्षणत्वं घटते इत्याशङ्क्याह। ६३९. स्थासकोशकुशूलादिषु च। ६४०. पर्यायमात्रेषु। ६४१. स्पर्शत्वादिष्वित्यर्थः। ६४२. केवलेषु। ६४३. गुणपर्ययवत्त्वलक्षणस्य। ६४४. स्पर्शादिसामान्यरूपसहभाविनो गुणा एव क्रमभावित्वे पर्याया उच्यन्ते। ६४५. तद्भावलक्षणस्य। ६४६. तर्ह्यतिव्याप्तिर्लक्षणस्य भविष्यतीत्याशङ्क्याह। ६४७. तस्य, परिणामविशेषादेः। ६४८. परिणामविशेषादिति च। हेतुचतुष्टयरूपम्। ६४९. व्याप्यस्य। ६५० आदिशब्देन संज्ञासंख्यालक्षणप्रयोजनानि गृह्यन्ते। नानात्वेन व्यापकेनेत्यर्थः।

६५१. सांख्यः। ६५२. द्रव्यपर्याययोः। ६५३. नानात्वं, परस्परतो भेदः। ६५४. संदिग्धा विपक्षाद्व्यावृत्तिर्यस्य सः। ६५५. सन्दिग्धानैकान्तिक इत्यर्थः। ६५६. सर्वथैकत्वादिति हेतुरेकत्वसाधकोत्र। परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावत इति च हेतुः। ६५७. सांख्येन। ६५८. पर्यायमात्रेषु। अस्खलन्ती, अबाध्यमाना। ६५९. कथंचिन्नानात्वसिद्धेः। ६६०.. विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभावेपि वस्तुस्वभावे भेदसिद्धिर्यदि तदेत्यर्थः। ६६१. नानारहितम्। ६६२. विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदौ विहाय प्रकारान्तरासंभवादित्यर्थः। ६६३. पक्षान्तरासंभवः कुत इत्युक्त आह। ६६४. नानात्वाभावे सर्वथैकत्वे इत्यर्थः। ६६५. नानात्वाभावलक्षणाद्विपक्षाद्व्यावृत्तिर्निश्चिता। ६६६. भिन्नलक्षणत्वस्य। ६६७. देहलीदीपकन्यायेनेदं पदं पूर्वेण पश्चात्तमेन च पदेन सह संयुज्यते। ६६८. सर्वथैकत्व विपक्षोत्रे। ६६९. तयोर्विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासयोरभावेऽनुपपत्तिः कुत इति शङ्कापनोदार्थमाह। ६७०. अस्खलद्बुद्धिप्रतिभासस्य ग्राहकस्य। ६७१. विरुद्धधर्माध्यासे सत्येव भिन्नलक्षणत्वम् इति सति व्यापकत्वं विरुद्धधर्माध्यासस्य। ६७२. भिन्नलक्षणत्वस्य। ६७३. ग्राह्यस्य। ६७४. आदिशब्देनास्खलद्बुद्धिप्रतिभासग्रहणम्। ६७५. भिन्नलक्षणत्वस्य नानात्वस्य। ६७६. तेन विरुद्धधर्माध्यासेन साधनत्वयोगात्। ६७७. विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदौ विहाय। ६७८. द्रव्यपर्याययोः कथंचिन्नानात्वमेकत्वं च सिद्धं यतः। ६७९. द्रव्यपर्यायरूपमित्यर्थः। ६८०. द्रव्यपर्याययोरिति सप्तस्वपि भङ्गेषु ज्ञेयम्। ६८१. असाधारणस्वरूपभेदात्। ६८२. (तत्र क्रमार्पितद्वयादुभयरूपत्वमक्रमार्पितद्वयाच्चावक्तव्यत्वं द्वयोरपि, यतो क्रमेण विवक्षिते सति परस्परविरुद्धधर्मयोर्द्वयोर्युगपद्वक्तुमशक्यता)। ६८३. बसः। उपदेशादित्यस्य विशेषणरूपम्। ३८४. मानं, प्रमाणम्। ३८५. श्रीसमन्तभद्राचार्यः। ३८६. अस्मिन् परिच्छेदे प्रथमं वैशेषिकमतसंमतस्य भेदैकान्तस्य प्रतिविधानं दर्शितम्। तत्र तावत्पूर्वमेकषष्टितम्यां कारिकायां तत्पूर्वपक्षो दर्शितः। तथाहि कार्यकारणादि गुणगुण्यादि च परस्परं भिन्नं, भिन्नलक्षणत्वात्, भेदेन प्रतिभासाच्च। सर्वथा तदभेदे कार्यकारणास्वरूपं न घटते, कार्यस्य तदुत्तरसमवर्तित्वात् कारणस्य तत्पूर्वाव्यवहितसमयस्थायित्वात्। ययोश्च परस्परं न भेदस्तयोर्देशः कालो वा न भिद्येत, भिद्येते च देशकालौ कार्यकारणयोः। इत्येवं पूर्वपक्षं समर्थ्य तत्प्रतिविधानं द्विषष्टितमकारिकातः कृतमस्ति। यथा च, अन्यत्वैकान्तेपि एकस्य कार्यस्यानेककारणादौ प्रवृत्तिः स्वीकर्त्तव्या एव, तदस्वीकारे कार्यकारणभावादिविरोधात्। तद्वृत्तौ च सर्वात्मनैकदेशेन वा स्वीकारे एकस्यापि बहुत्वसंभवो बहुप्रदेशित्वापत्तिर्वा। न च तथा भेदैकान्ते संभवति, तथा सति तदेकान्ताविघटनात्, पूर्वं कारणदशायामनेकस्य कार्यरूपत्वे एकत्वसंभवेन सर्वथान्यत्वाघटनात्। समवायेन वृत्तिश्च न घटते, तस्य प्रागेव निराकरणात्। अदृष्टवशाद्वृत्तिकल्पने प्रत्यक्षसिद्धः स्याद्भेद एव किमिति नाङ्गीक्रियेत ? इत्यादिप्रकारेण वैशेषिको निरस्तः। सप्तषष्टितमकारिकातो बौद्धः पराजितः। तत एकान्नसप्ततितमकारिकातः सांख्यमतनिषेधः। सप्ततितमकारिकातः स्याद्वादविधाने सर्वस्य सुघटत्वदर्शनम्। इत्ययमस्य परिच्छेदस्य निष्कर्षः संभवति।

●

अथ पञ्चमः परिच्छेदः

स्फुटमकलङ्क[1]पदं या प्रकटयति पटिष्टचेतसामसमम्[2]।
दर्शितसमन्त[3]भद्रं साष्टसहस्त्री सदा जयतु।। १।।

यद्यापेक्षि[4]कसिद्धिः स्यान्न द्व[5]यं व्यवतिष्ठते।
अ[6]नापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता।। ७३।।

५८६. **ध[7]र्मधर्मिणोरापेक्षि[8]की सिद्धिः, प्रत्यक्ष[9]बुद्धौ तदनवभासनाद्दूरेतरा[10]दिवत्।** न हि प्रत्यक्षबुद्धौ धर्मो धर्मी वा प्रतिभासते, तत्पृ[11]ष्ठभाविविकल्पोपकल्पितत्वात्, तस्य स्वलक्षणस्यैव तत्र प्रतिभासनात्, श[12]ब्दापेक्ष[13]यां सत्त्वादेर्धर्मत्वेपि ज्ञेयत्वापेक्षायां धर्मित्वव्यवहरणात्, तदपे[14]क्षया ज्ञेयत्वस्य धर्मत्वेप्यभिधे[15]यत्वापेक्षायां धर्मित्वव्य[16]वहारात्, त[17]दपेक्षया चाभिधेयत्वस्य [18]धर्मत्वेपि प्रमेयत्वापेक्षायां धर्मित्वप्रसिद्धेः। इति[19] न क्वचिद्धर्मो धर्मी वा व्यवतिष्ठते। त[20]तो न तात्त्विकोसौ[21]। न[22] हि नीलस्वलक्षणं संवित्स्वलक्षणं वा प्रत्यक्षमव[23]भासमानं किं[24]चिदपेक्ष्यान्य[25]थाभावमनुभवदुपलब्धम्। केवलम[26]पेक्षाबुद्धौ विशेषणविशेष्यत्वं सामान्यविशेषत्वं गुणगुणित्वं क्रियाक्रियावत्त्वं कार्यकारणत्वं साध्यसाधनत्वं ग्राह्यग्राहकत्वं वा प्रकल्प्यते दूरेतरत्वादिवत्।

५८७. [27]इति यद्यापेक्षिकसिद्धि[28]: स्यात्तदा न द्वयं व्यवतिष्ठते नीलस्वलक्षणं तत्संवेदनं चेति, तयोरप्यापेक्षिकत्वाशेषणविशेष्यत्वादिव[29]त्। तथा हि—ययोः सर्वथा परस्परापेक्षाकृता सिद्धिस्तयोर्न व्यवस्था। यथा परस्पराश्रययोः सरिति प्लवमानयोः। तथा न नीलतद्वेदनयोः सर्वतापेक्षाकृता सिद्धिः। इति तद्[30]द्वयमपि न व्यवतिष्ठते। न हि नीलं नीलवे[31]दनानपेक्षं सिध्यति, तस्यावेद्यत्वप्रसङ्गात्, संविन्निष्ठत्वाच्च वस्तुव्यवस्थानस्य। नापि नीलानपेक्षं नीलवेदनं, तस्य[32] तस्मा[33]दात्मलाभोप[34]गमादन्यथा निर्विषय[35]त्वापत्तेः। इत्यन्यतराभावे शेषस्याप्यभावादद्वयस्याव्यवस्थानं स्यात्।

५८८. एतेन[36] नीलवासनातो नीलवे[37]दनमित्यस्मिन्नपि दर्शने द्वयाव्यवस्थितिरुक्ता। **तयोरन्योन्यापेक्षैका[38]न्ते स्वभावतः प्रतिष्ठितस्यैक[39]तरस्याप्यभावेन्यतराभावादु[40]भयं न प्रकल्प्येत,** नीलवेदनाभावे तद्वासनाविशेषस्याव्यवस्थितेरन्यथातिप्रसक्ते[41]:, तद्वासनाविशेषमन्तरेण नीलवेदनस्याव्यवस्थितेरन्यथा[42] निर्निमित्तत्वापत्तेः।

५८९. स्यान्मतं, नीलवेदनस्य स्वतः प्रकाशनान्नायं दोष इति, तदसत्, परस्परापेक्षैकान्तविरोधा[43]त्, दण्डादेर्विशेषणस्य स्व[44]बुद्धौ स्व[45]तः सिद्धेः सामान्यादेरपि[46] स्वग्राहिणि ज्ञानेऽन्यानपेक्षस्य प्रतिभासनाद्विशेष्यविशेषणादेरपि तथा[47] प्रसिद्धेर्द्वयाभावा[48]नवकाशात्। तत[49] एव दूरेतरादिदृष्टान्तोपि साध्यसाधनधर्मविकलः स्यात्, **दूरासन्नभा[50]वयोरपि स्वभावविवर्तविशेषा[51]भावे समानदेशा[52]देरपि प्रसङ्गात्[53]।** न च समानदेशकालस्वभा[54]वयोरन्योन्यापेक्षयापि दूरासन्नभावव्यवहारः, खरविषाणयोरिव त[55]त्स्वभावशून्ययोस्त[56]दयोगात्। **[57]तदिमौ स्वभावतः सतामन्यथेतरेतरा[58]श्रयदोषानुषङ्गात्।** [59]एतेन स्वाश्रयशब्दा[60]द्यपेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेन स्वधर्मापेक्षायां[61] धर्मित्वं नाव्यवस्थाकारित्वेनायुक्तमिति प्रकाशितं,

[६२]तथाविधस्वभावविशेषाभावे परापेक्ष[६३]यापि धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः, अनन्तत्वाच्च धर्माणां [६४]तदपेक्षिणामप्यपर्यन्तत्वात्, [६५]अन्यथाभिप्रेतधर्मधर्मिणोर[६६]प्यव्यवस्थापत्तेः । इति नापेक्षैकान्तः श्रेयान् ।

५९०. योप्याह[६७] धर्मधर्मिणोः सर्वथानापेक्षिकी सिद्धिः, [६८]प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वान्नीलादिस्व[६९]रूपवत्, [७०]सर्वथानापेक्षिकत्वाभावे प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वानुपपत्तेः खपुष्पवत्' इति[७१] **तस्यानपेक्षापक्षेपि[७२] नान्वयव्यतिरेकौ स्यातां, भेदाभेद[७३]योरन्योन्यापेक्षात्मकत्वाद्विशेषेतर[७४]भावस्य** । अन्वयो हि सामान्यं, व्यतिरेको विशेषः । तौ च परस्परापेक्षौ व्यवतिष्ठेते । तयोरनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता । प्रतिनियतबुद्धिविषययोरपि प्रतिनियतपदार्थता स्यान्नी[७५]लपीतवत् । न ह्य[७६]भेदो भेदनिरपेक्षः प्रतिनियतान्वयबुद्धिविषयोस्ति, नापि भेदो[७७] जातुचिदभेदनिरपेक्षः प्रतिनियतव्यतिरेकबुद्धिविषयः संभाव्यते [७८]क्वचिदेकव्यक्ते[७९]रपि प्रथमदर्शनकाले [८०]तद्बुद्धिविषयत्वप्रसङ्गात् । तदनेन[८१] प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वस्य हेतोर्विरु[८२]द्धत्वं प्रतिपादितं तस्य कथंचिदापेक्षिकत्वेन व्याप्तत्वात् प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्व[८३]वत् । ततो [८४]नैतावेकान्तौ घटेते, वस्तुव्यवस्थानाभावानुषङ्गात् ।

विरोधान्नोभयैका[८५]त्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ।। ७४ ।।

५९१. **अन्यन्तरैकान्त[८६]योर्युग[८७]पद्विवक्षा मा भूद्विप्रतिषेधात् सदसदेकान्तवत्,** स्याद्वादानाश्रयणात् । **तथानभिधेयत्वैकान्तेपीति कृतं विस्तरेण,** सदसत्त्वाभ्यामनभिधेयत्वैकान्तवत् ।

इति कथंचिदापेक्षिकत्वेतरानेकान्तं प्रतिपक्ष[८८]प्रतिक्षेपसामर्थ्यात्सिद्धमपि दुरारे[८९]कापाकरणार्थमाचक्षते—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।
न स्व[९०]रूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्ग[९१]वत् ।। ७५ ।।

५९२. धर्मधर्मिणोरविनाभावोन्योन्यापेक्षयैव सिध्यति, न तु स्वरूपं, तस्य पूर्व[९२]सिद्धत्वात् । [९३]स्वतो ह्येतत्सिद्धं सामान्यविशेषवत् । सामान्यं हि स्वतः सिद्धस्वरूपं भे[९४]दापेक्षान्वयप्रत्यया[९५]दवगम्यते । विशेषोपि स्वतः सिद्धस्वरूपः सामान्यापेक्षव्यतिरेकप्रत्ययादवसीयते । **न केवलं सामान्यविशेषयोः [९६]स्वलक्षणमपेक्षितपरस्पराविनाभावलक्षणमपि तु धर्मधर्मिणोरपि** गुणगुण्यादिरूपयोः **[९७]कर्तृकर्मबोध्यबोधकवत्** (कारकाङ्गकर्तृ[९८]कर्मवत्, ज्ञापकाङ्गबोध्यबोधक[९९]वच्च)। न हि कर्तृस्वरूपं [१००]कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्त्वप्र[१०१]सङ्गात् । नापि कर्तृत्वव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्षः, कर्तृत्वस्य कर्मनि[१०२]श्चयावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात् ।

५९३. एतेन बोध्यबोधकयोः प्रमेयप्रमाणयोः स्वरूपं स्वतः सिद्धं, ज्ञाप्यज्ञानकव्यवहारस्तु परस्परापेक्षया सिद्ध इत्यभिहितम् । तद्वत्सकलधर्मधर्मिभूतानामर्थानां 'स्यादापेक्षिकी [१०३]सिद्धिः, तथा व्यवहारात् । स्यादनापेक्षिकी पूर्वप्रसिद्धस्वरूपत्वात् । स्यादुभयी क्रमार्पि[१०४]तद्वयात्, स्यादवक्तव्या,

सहार्पितद्वयात्, स्यादापेक्षिकी चावक्तव्या च तथा[१०५] निश्चयेन सहार्पितद्वयात्, स्यादनापेक्षिकी चावक्तव्या च पूर्वसिद्धत्वसहार्पितद्वयात्, स्यादुभयी[१०६] चावक्तव्या च क्रमाक्रमार्पितोभयात्, इति सप्तभङ्गीप्रक्रियां योजयेन्नयविशेषवशादविरुद्धां, पूर्ववत् ।

अपेक्षैकान्तादि[१०७]प्रबलगरलोद्रेकदलिनी,
प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिषेकानवरतम् ।
प्रवृत्ता वागेषा सकल[१०८]विकलादेशवशतः
समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्या[१०९]ऽमलमतेः ।।

इत्याप्तमीमांसा[११०]लङ्कृतौ पञ्चमः परिच्छेदः ।

पञ्चमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. अष्टशती अकलङ्कदेवकृता तत्पदम्। २. अनुपमम्। ३. समन्तभद्रकृता मूलस्तुतिर्देवागमनामिका सा दर्शिता येन। ४. बौद्धं प्रति स्वामी प्राह। अपेक्षैव प्रयोजनं येषामर्थानां तेषां सिद्धिः निश्चितिर्वा, अथवा आपेक्षिकी चासौ सिद्धिश्च सा यदि स्यात्तदा कार्यकारणादि द्वयं युगपन्न व्यवतिष्ठते। कस्मात्? एकेनैकस्य प्रतिहतत्वात्। अपेक्षासिद्धिर्विकल्पज्ञानेनापेक्ष्य जनिता,. न तु पारमार्थिकीत्यर्थः। ५. नीलस्वलक्षणं (ज्ञेयं कारणरूपं) नीलसंवेदनं (ज्ञानं कार्यरूपं) चेति द्वयम्। ६. सामान्यविशेषयोस्तर्ह्यनापेक्षिकी सिद्धिरस्त्विति यौगः। तं प्रत्याहु:। ७. बौद्धः। ८. कल्पितैव, न तु पारमार्थिकी। ९. निर्विकल्पज्ञाने। १०. दूरेतरादिर्यथापेक्षिकी सिद्धिः प्रत्यक्षे निर्विकल्पके न प्रतिभासते, तत्र वस्तुन एकत्वप्रतिभासनात्। ११. तस्य, निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य। १२. धर्मधर्मिणोर्विकल्पमात्रोपकल्पितत्वं दर्शयन्नाह बौद्धः। १३. परार्थानुमानापेक्षया, सर्वं क्षणिकं सत्त्वादिति। १४. ज्ञेयत्वापेक्षया, सत्त्वं ज्ञेयमित्येवम्। अत्र सत्त्वादिर्धर्मः। १५. शब्दापेक्षायामित्यर्थः। १६. ज्ञेयत्वस्यैव। १७. अभिधेयत्वापेक्षया। १८. ज्ञेयस्य धर्मिणः सत्त्वादेरभिधेयत्वं धर्मः। १९. इति, हेतोः। २०. यतो न व्यवतिष्ठते। २१. धर्मो धर्मी वा (किंतु कल्पितः)। २२. धर्मधर्मिणोः क्वचिद् व्यवस्थानाभावेपि तात्त्विकत्वं कुतो न स्यादित्युक्ते आह। २३. नीलस्वलक्षणस्य संवित्स्वलक्षणस्य च तात्त्विकत्वं, नापरस्य धर्मस्य धर्मिणो वेत्यर्थः। २४. पीतादिकम्। २५. नीलस्वलक्षणं पीतत्वेन। २६. अपेक्षया जनितायां बुद्धौ, विकल्पबुद्धावित्यर्थः। २७. इति, एवं चेद्वदे बौद्ध? जैनो वक्ति। २८. विशेष्यविशेषणत्वादेः। कार्यनिष्पत्तिं प्रति। २९. आदिपदेन सामान्यविशेषत्वादीनां ग्रहणम्। ३०. तयोः, नीलतद्वेदनयोर्द्वयम्। ३१. नीलज्ञाननिरपेक्षम्। ३२. नीलवेदनस्य। ३३. नीलात्। ३४. नाकारणं विषय इति सौगतैरभ्युपगतत्वात्। ३५. नीलवेदनस्य।

३६. द्वयाव्यवस्थानप्रतिपादनेन। ३७. उत्पद्यते इति शेषः। ३८. अङ्गीक्रियमाणे। ३९. नीलवासनारूपस्य नीलरूपस्य वा। ४०. नीलज्ञाननीलवासनाद्वयम्। ४१. धूमलक्षणालिङ्गाभावेपि पर्वतेऽग्निसाधनत्वप्रसङ्गात्। ४२. नीलवासनामन्तरेण नीलज्ञानस्य व्यवस्थितिश्चेत्तर्हि। ४३. विरोधोऽभावार्थकः। ४४. विशेषणबुद्धौ। ४५. विशेष्यापेक्षमन्तरेण। ४६. अपिशब्देन क्रियागुणादिग्रहणम्। ४७. स्वतः प्रकारेण। ४८. प्रतिवादिनोक्तो द्वयाभावो जैनानां नास्तीति भावः। ४९. विशेषणविशेष्यसामान्यविशेषादिरूपद्वयाभावस्यानवकाशात्। ५०. पदार्थयोः। ५१. दूरासन्नत्वस्वभावलक्षणाविवर्तविशेषस्याभावे। ५२. पदार्थस्य। ५३. (दूरासन्नतादिप्रसङ्गात्)। ५४. पदार्थयोः। ५५. दूरासन्नत्वस्वभावशून्ययोः। ५६. तस्य, दूरासन्नभावव्यवहारस्य। ५७. दूरासन्नभावौ। ५८. दूरेतरार्थप्रतिपत्तौ दूरेतरार्थप्रतिभासप्रतिपत्तिः, तस्यां च तत्प्रतिपत्तिरिति। ५९. दूरासन्नपदार्थयोः स्वभावतः स्थितिप्रतिपादनेन। ६०. स्वं सत्त्वम्। तस्याश्रयभूतः शब्दः (सत्त्वस्याश्रयः शब्दः), यथा शब्दः क्षणिकः सत्त्वादिति। आदिशब्देन ज्ञेयत्वाभिधेयत्वप्रमेयत्वादीनां ग्रहणम्। ६१. अतिप्रसङ्गो भवति। स च नास्ति यतः। ६२. तथाविधस्य, परमार्थतो धर्मधर्मिस्वरूपस्य। ६३. धर्मधर्मित्वादिकं कल्पितमस्तीत्यादिरूपया। ६४. ते धर्माः। ६५. सर्वेषां धर्मधर्मिणां स्वतः सिद्ध्यभावे। ६६. अपिशब्दो हेत्वन्तरद्योतकः। ६७. यौगः। ६८. धर्मधर्मिणोः। ६९. जैनमते नीलनीलस्वरूपयोरनापेक्षिकसिद्धिः। अत एव जैनान् प्रति सिद्धो दृष्टान्तः। ७०. प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वं च स्यादनापेक्षिकत्वं च न स्यादिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह। ७१. इति योप्याह तस्यात्र दूषणमाह जैनः। ७२. न केवलमपेक्षापक्षे एव। ७३. विशेषसामान्ययोः। ७४. इतरत्, सामान्यम्। ७५. यथा नीलपीतयोरनापेक्षिकसिद्धौ इदं नीलमिदं पीतमिति निश्चयो न स्यात्। ७६. अस्य विशेषस्येदं सामान्यमस्य सामान्यस्य चायं विशेष इति प्रतिनियतान्वयव्यतिरेकबुद्धिविषयत्वत्तयोः सामान्यविशेषयोः सामान्यविशेषरूपता स्यादित्याशङ्कामाह। ७७. भेदो विशेषः। ७८. अन्यथेति शेषः। ७९. घटादेः।

८०. तद्बुद्धिः, अन्वयबुद्धिर्व्यतिरेबुद्धिश्च। ८१. संभाव्यते इत्यनेन। ८२. सापेक्षिकत्वसाधनात्। ८३. दूरेतरादौ प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्वं यथाकथंचिदापेक्षिकत्वेन व्याप्तम्। ८४. आपेक्षिकत्वानापेक्षिकत्वलक्षणौ। ८५. आपेक्षिकानापेक्षिकद्वयम्। ८६. आपेक्षिकत्वानापेक्षिकत्वयोः। ८७. ऐकात्म्ये। ८८. प्रतिपक्षस्य, सर्वथापेक्षिकत्वानापेक्षिकत्वोभयरूपस्य। ८९. सकलशून्यतायाः, उपप्लुततत्त्वस्य वा। ९०. स्वरूपमन्योन्यवीक्षया

न सिद्ध्यति। ९१. कारकस्याङ्गे, अवयवौ ते कर्तृकर्मणी व्यवहाररूपे परस्परापेक्षे। ज्ञापकस्याङ्गे, अवयवौ। तथैव परस्परापेक्षे ज्ञेये। ९२. धर्मधर्मिविवक्षातः प्राक्। ९३. स्वकारणकलापादेव। ९४. भेदो, व्यतिरेकः। बसः। ९५. एवमेव। ९६. स्वकीयस्वरूपम्। ९७. स्वतः सिद्धस्वरूपं ज्ञातव्यम्। ९८. यथा कारकस्याङ्गे, अवयवौ। ते च ते कर्तृकर्मणी च। ९९. ज्ञानस्याङ्गे (अवयवौ) वेद्यवेदकज्ञाने यथा। १००. अन्यथा कर्तृस्वरूपाभावः स्यात्। १०१. इतरेतराश्रयत्वेन। १०२. कर्मनिश्चयपूर्वकत्वेनावसेयत्वादित्यर्थः।

१०३. सिद्धिशब्दः सप्तस्वपि भङ्गेषु वाच्यः। १०४. अपेक्षानपेक्षाधर्मद्वयस्य। १०५. धर्मधर्मित्वक्रमप्रकारेण। १०६. आपेक्षिकी चानापेक्षिकी चावक्तव्या चेत्यर्थः। १०७. यसः। १०८. सकलादेशरूपः पदार्थः प्रमाणविषयः। विकलादेशरूपस्तु (वस्त्वेकांशः) नयाधीनः। १०९. श्रीसमन्तभद्रस्वामिनः। ११०. अत्र सर्ववस्तूनां तद्गतधर्माणां च स्यादापेक्षिकी स्यादनापेक्षिकी सिद्धिर्दर्शितां तदेकान्तमतानि च निरसितानि।

●

अथ षष्ठः परिच्छेदः

पुष्यदकलङ्कवृत्तिं[1] समन्तभद्रप्रणीततत्त्वा[2]र्थाम्[3] ।
निर्जितदुर्नयवादामष्टसहस्रीमवैति[4] सद्दृष्टिः ।।

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः[5] ।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि[6] ।। ७६ ।।

५९४. इह[7] हि सकललौकिकपरीक्षकैः **उपेयतत्त्वं व्यवस्थाप्योपायतत्त्वं व्यवस्थाप्यते,** कृष्यादिषु प्रवर्तमानानां व्यवस्थित[8]सस्याद्युपेयानामेव तदुपायव्यवस्थापनप्रयत्नोपलम्भात्, 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इति प्रसिद्धेः, मोक्षार्थिनां च प्रेक्षावतां व्यवस्थितोपेयमोक्षस्वरूपाणामेव तदुपायव्यवस्थापनव्यापारदर्शनात्, अव्यवस्थितमोक्षतत्त्वानां तदुपायव्यवस्थापनपराङ्मुखत्वाच्चार्वाकादिवत्[9] ।

५९५. तत्र[10] हेतुत[11] एव सर्वमुपेय[12]तत्त्वं सिद्धं, न प्रत्यक्षात्, तस्मिन्सत्यपि विप्रतिपत्तिसम्भवात्, **युक्त्या यन्न घटमुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे इत्यादेरेकान्तस्य बहुलं दर्शनात्,** अर्थानर्थाविवेचनस्यानुमानाश्रयत्वात्त[13]द्विप्रतिपत्तेस्तद्व्यवस्थापनायाहेत्वादिवचनात्[14] । **प्रत्यक्षतदाभासयोरपि व्यवस्थितिरनुमानात्[15], अन्यथा[16] संकरव्यतिकरोपपत्ते[17][18]रर्थानर्थविवेचनस्य** प्रत्यक्षाश्रयत्वासंभवात् । इति[19] केचित्तेषां प्रत्यक्षाद्गतिरनुमाना[20]दादितोपि न[21] स्यात् । न च धर्मिणः साधनस्योदाहरणस्य च प्रत्यक्षादगतौ[22] कस्यचिदनुमानं प्रवर्तते । अनुमानान्तरात्तद्गतौ तस्यापि धर्म्यादिगति[23]पूर्वकत्वादनुमानान्तरमपेक्षणीयमित्यनवस्था स्यात् । ततः **कथंचित्साक्षात्करणमन्तरेण** धर्म्यादीनां न **क्वचिदनुमानं[24]** प्रवर्तेत । **किं पुनः शास्त्रोपदेशात्[25] ?** इति प्रत्यक्षादपि सिद्धिरभ्यस्तविषयेभ्युपगन्तव्या, अन्यथा[26] शब्दलिङ्गादिप्रतिपत्तेरयोगात् . परार्थानुमानरूपाणामपि शास्त्रोपदेशानामप्रवृत्तेः ।

५९६. ये त्वाहुः—'आगमादेव सर्वं सिद्धं, तमन्तरेण प्रत्यक्षेपि माणिक्यादौ यथार्थनिर्णयानुपपत्तेः, अनुमान[27]प्रतिपन्नेपि चिकित्सिता[28]दावागमापेक्षणात्, आगमबाधितपक्षस्यानुमानस्यागमकत्वा[29]च्च, परब्रह्मणः[30] शास्त्रादेव सिद्धेः, प्रत्यक्षानुमानयोरविद्याविवर्तविषयत्वादागमविषये सन्मात्रात्मनि परमात्मन्येव प्रमाणत्वव्यवहरणात्[31] । अबाधिताश्चैते शास्त्रोपदेशाः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादयः, प्रत्यक्षानुमानयोस्त[32]दविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात्' इति[33], तेषां[34] विरुद्धार्थमतान्यपि शास्त्रोपदेशेभ्यः[36] सिध्यन्तु, विशेषाभावात् । सम्यगुपदेशेभ्यस्तत्त्वसिद्धिरिति चेत्तर्हि युक्तिरपि तत्त्वसिद्धिनिबन्धनं, तत[35] एव तेषां सम्यक्त्वनिर्णयात्, अदुष्टकारणजन्यत्वबाधवर्जितत्वाभ्यां तदुपगमात्[37] । **न चैते[38] युक्तिनिरपेक्षाः[39], परस्परविरुद्धार्थतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्[40],** परब्रह्मण एवापौरुषेयादागमात्सिद्धिर्न पुनः कर्मकाण्ड[41]स्येश्वरादिप्रवादस्य चेति नियामका[42]भावात् । कथं च श्रौत्रप्रत्यक्षस्याप्रमाणत्वे वैदिकशब्दस्य प्रतिपत्तिर्यतस्तदर्थनिश्चयः स्यात् ? प्रमाण[43]त्वे कुतोनुमाना[44]भावे संवादविसंवादाभ्यां प्रमाणेतरसामान्याधिगमः, यतः किंचिदेव[45] श्रौत्रं प्रत्यक्षं प्रमाणं नान्यदिति व्यवतिष्ठेत ? ततः कुतश्चिदागमात्तत्त्वसिद्धिमनुरुध्य[46]मानेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपि तत्त्वसिद्धिरनुमन्तव्या, अन्यथा[47] तद[48]सिद्धेः ।

५९७. प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्त्वसिद्धिर्नागमादित्य[49]परे, तेपि न सत्यवादिनः, ग्रहोप[50]रागादेस्तत्फलविशेषस्य च ज्योतिःशास्त्रादेव सिद्धेः । **न च प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्तरेणोपदेशं[51] ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः ।** सर्वविदः

प्रत्यक्षादेव तत्र[५२]प्रतिपत्तिरनुमानविदां पुनरनुमानादपीति चेन्न, सर्वविदामपि योगिप्रत्यक्षात्पूर्वमुपदेशाभावे तदुत्पत्त्ययोगादनुमाना[५३]भाववत्। ते हि श्रुत[५४]मयीं चिन्ता[५५]मयीं च भावनां प्रकर्षपर्यन्तं प्रापयन्तोतीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात्कुर्वते, नान्यथा। तथानुमानविदामपि नात्यन्तपरोक्षे[५६]ष्वर्थेषु परोपदेशमन्तरेण साध्याविनाभाविसाधनधर्मप्रतिपत्तिः संभवति,[५७] सर्वज्ञ[५८]त्वप्रसङ्गात्। इति चिन्तितम[५९]न्यत्र। ततो नैतावप्येकान्तौ युक्तौ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।। ७७।।

५९८. **युक्तीतरैकान्त[६०]द्वयाभ्युपगमोपि मा भूत्, विरुद्धयोरेकत्र सर्वथासंभवात्,** स्याद्वादन्यायाविद्विषां [६१]कथंचित्तदनुभ्युपगमात्। **तदवा[६२]च्यत्वेपि पूर्ववत्** स्ववचनविरोधप्रसङ्गः।

सम्प्रति युक्तीतरानेका[६३]न्तमुपदर्शयन्ति—

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः सा[६४]ध्यं तद्धेतुसाधि[६५]तम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्या[६६]त्साध्यमागमसाधितम्।। ७८।।

५९९. कः पुनराप्तोनाप्तश्च? यस्मि[६७]न् सति वाक्यात्साधितं साध्यमर्थतत्त्वमागमात् साधितं [६८]स्याद्धेतोस्तु यत्साध्यं तद्धेतुसाधितमिति विभागः सिध्यतीति चेदुच्यते—**यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तस्ततोपरोनाप्तः।** कः पुनरविसंवादो येनाविसं[६९]वादकः स्यात्? **तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थज्ञाना[७०]त्।** तदर्थज्ञानं पुनः प्रस्फु[७१]टव्यवसायरूपं साक्षादसा[७२]क्षाद्वावसीयते, प[७३]रमार्थतस्तस्[७४]य संशयविपर्यासानध्यवसायव्यवच्छेदफलत्वात्। तत्र[७५]ाविसंवादक एवाप्त इत्यवधार्यते। अनाप्तस्तु कदाचिदपि विसंवादक उच्यते, यथा[७६]र्थज्ञानादिगुण[७७]स्य विसंवादकत्वायोगात्। **तेना[७८]तीन्द्रि[७९]ये जैमिनिर[८०]न्यो वा श्रुतिमात्रावलम्बी नैवाप्तस्त[८१]दर्थापरिज्ञानात्तथागतवत्।** नात्र निदर्शनं साधनधर्मविकलं, तथागतस्य श्रुत्यर्थधर्मापरिज्ञानात्, 'बुद्धादेर्धर्माद्युपदेशो व्यामोहादेव केवलात्' इति स्वयमभि[८२]धानात्। न चासिद्धो हेतुर्जैमिनेर्ब्रह्मादेर्वा श्रुत्यर्थपरिज्ञानस्य सर्वथाप्यसंभवात्। तद्धि प्रत्यक्षं वा श्रौतं [८३]वा स्यात्? न तावत्प्रत्यक्षं तस्या[८४]सर्वज्ञत्वात् श्रुतिमात्रावलम्बितत्वाच्च। **न हि ता[८५]दृशातीन्द्रियार्थज्ञानमस्ति दोषा[८६]वरणक्षयातिशयाभावात्।** न हि प्रतिनियतदोषावरणक्षयमात्रे सत्यपि धर्माधर्मादिसाक्षात्क[८७]रणं युक्तं, तस्[८८]य [८९]तत्परिक्षयातिशयहेतुकत्वेन व्यवस्थापितत्वात्। [९०]नापि श्रौतं तदर्थपरिज्ञानं श्रुत्यविसंवादात्पूर्वमसिद्धेः। **श्रुतेः परमार्थवित्त्वं, ततः श्रुतेरविसंवादनमित्यन्योन्यसंश्रित[९१]म्।** न ह्यप्रसिद्धसंवादायाः श्रुतेः परमार्थपरिज्ञानं जैमिन्यादेः संभवति, अतिप्रस[९२]ङ्गात्। नापि परमार्थवित्त्वमन्तरेण तत्त्वप्रतिपादनलक्षणमविसं[९३]वादनं यतोन्योन्याश्रयणं न स्यात्।

६००. ननु[९४] न श्रुतेरविसंवादात्प्रामाण्यम्। किं तर्हि? स्वत एव। ततो न दोष इति चेत्, **स्वतः श्रुतेर्न वै प्रामाण्यमचेतनत्वाद् घटवत्। सन्निकर्षा[९५]दिभिरनैकान्तिकत्वमयुक्तं तत्प्रामाण्यानभ्युपगमा[९६]न्मुख्यरूपतः। अथापि[९७] कथंचित्[९८] तत्प्रमाणत्वं स्यादविसंवादकत्वात्[९९]।** सन्निकर्षादेरविसंवादकज्ञानकारणत्वेन [१००]तथोपचारसिद्धिरिति मन्[१०१]येमहि। [१०२]तथापि **श्रुतेरयुक्तमेव,[१०३] [१०४]तदभावात्। तेनोपचारमात्रमपि न स्यात्, [१०५]तदर्थबुद्धिप्रामाण्यासिद्धेः।** न हि श्रुतिविसंवादिज्ञानस्य कारणं, येनोपचारतः प्रमाणं स्यादिति निवेदितं प्राक् भावना[१०६]दिश्रुतिविषयाविसंवादकत्वनिराकृतिप्रस्तावे।

६०१. **आप्त[१०७]वचनं तु प्रमाणव्यपदेशभाक्, तत्कारण[१०८]कार्यत्वात्।** प्रमाणकारणकं तत्, **[१०९]तदतीन्द्रियार्थदर्शनोत्पत्ते[११०]स्तदर्थज्ञानोत्पादनाच्च प्रमाणकार्यकम्। नैतत् श्रुतेः संभवति, सर्वथाप्ता[१११]नुक्तेः, पिटक[११२]त्रयवत्। वक्तृदोषा[११३]त्तादृशेऽप्रामाण्यं तदभावाच्छ्रुतेः प्रामाण्यमिति चेत्, कुतोयं विभागः सिध्येत्?** पिटकत्रयादेः पौरुषेयत्वस्य स्वयं सौगतादिभिरभ्युपगमाद्वेदवादिभिश्च श्रुतेरपौरुषेयत्वोपगमादिति चेत्, **सोय[११४]मभ्युपगमानभ्युपगमाभ्यां [११५]क्वचित्पौरुषेयत्वमन्यद्वा व्यवस्थापयतीति सु[११६]व्यवस्थितं तत्त्वम्।**

६०२. **एते[११७]न कर्तृस्मरणाभावादयः [११८]प्रत्युक्ताः।** [११९]स हि श्रुतौ कर्तृस्मरणादिमत्त्वदृष्टकर्तृकसमानत्वाद्यभावमभ्युपगममात्राद् व्यवस्थापयतीति [१२०]तद्भावं चेतर[१२१]त्रानभ्युपगमा[१२२]त्। न च तथा[१२३] तत्त्वं[१२४] व्यवतिष्ठते, **वेदेतरयोरवि[१२५]शेषात्। इतरत्र बुद्धो वक्तेति चेत्, [१२६]तत्र कमलोद्भवादिरिति कथं न समानम्?** यथैव हि पिटकत्रये बुद्धो वक्तेति सौगताः प्रतिपाद्यन्ते, तथा वेदेपि ते अष्ट[१२७]कान् काणादाः, पौराणिकाः कमलो[१२८]द्भवं, जैनाः कालासुरं वक्तारमनुमन्यते। **सुदूरमपि गत्वा तदङ्गीकरणेतरमा[१२९]त्रे व्यवतिष्ठेत** श्रुतिवादी,[१३०] प्रमाणबलात्तद[१३१]वक्तृकस्य साधयितुमशक्तेः।

६०३. स्यान्मतं—

यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययन[१३२]पूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा।। ( )

इति प्रमाणात् वेदे वक्तु[१३३]रभावो, न पुनभ्युपगममात्रात् इति, तद[१३४]युक्तम्, पिटकत्रयादावपि तत एव वक्त्रभावप्रसङ्गात्। **वेदाध्ययनवदितरस्यापि सर्वदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रक्लृप्तौ न वक्त्रं वक्रीभवति,** यतो विद्यमानव[१३५]क्तृकेपि भावा[१३६]दध्ययनवाच्यत्व[१३७]स्यानैकान्तिकत्वं न स्यात्। वेदविशेषस्याध्ययनवाच्यत्वस्यान्यत्राभावान्नैकान्तिकतेति चेत्तर्हि पिटकत्रयादिविशे[१३८]षणस्य वेदादावसंभवादव्यभिचारिता कथं न भवेत्? तथा[१३९] च वेदवदवे[१४०]दस्याप्यपौरुषेयत्वं प्रामाण्यनिबन्धनं याज्ञिकानां [१४१]प्रवर्तकं स्यान्न वा वेदेपि, विशेषाभावात्, दुर्भण[१४२]नदुःश्रवणादीनामस्मदाद्युपलभ्यानां **तदतिशयान्तराणां च शक्यक्रियत्वादितरत्रापि** परो[१४३]क्षाया **मन्त्रशक्तेरपि दर्शना[१४४]त्।** न ह्याथर्वणानामेव मन्त्राणां शक्तिरुपलभ्यते, न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वक्तुं, प्रमाणबाधनात्। वैदिका एव मन्त्राः परत्रोपयुक्ताः शक्तिमन्त इत्यप्ययुक्तं, प्रावच[१४५]निका एव वेदेपि प्रयुक्ता इत्युपपत्ते[१४६]स्तत्र भूयसामुपलम्भात्, समुद्राद्याकरेषु रत्नवत्। न हि कियन्त्यपि रत्नानि राजकुलादावुपलभ्यमानानि तत्रत्यान्येव, तेषां रत्नाकरादिभ्य एवानयनात् तद्भवत्वसिद्धेर्भूयसां तत्रोत्पत्तिदर्शनात् तद्वत्प्रवचनैकदेशविद्यानु[१४७]वादादेव सकलमन्त्राणां समुद्धृतिविस्तीर्णात्, न पुनर्वेदात्तल्लवमात्रादिति युक्तमुत्पश्यामः।

६०४. वेदस्यानादित्वादपौरुषेयत्वाच्च तन्मन्त्राणामेवाविसंवादकत्वं संभवतीति चायुक्तं, तदप्रसिद्धेः। **सिद्धेपि तद[१४८]नादित्वे पौरुषेयत्वाभावे वा कथमविसंवादकत्वं प्रत्येतव्यम्? म्लेच्छ[१४९]व्यवहारादेस्तादृशो बहुलमुपलम्भात्,** तेन तस्य[१५०] व्यभिचारात्।

६०५. एतेन वेदैकदेशेन[१५१,१५२] स्वयमप्रमाणतयोपगतेनानादित्वस्यापौरुषेयत्वस्य चानैकान्तिकत्वमुक्तम्।

६०६.[१५३] किं च, **कारणदोषनिवृत्तेः कार्यदोषाभावकल्पनायां पौरुषेयस्यैव वचनस्य दोषनिवृत्तिः, कर्तुर्वीतदोषस्यापि संभवात्** 'दोषावरणयोर्हानिः' इत्यादीना संसाधनात्, न पुनरपौरुषेस्य, **तदध्येतृव्याख्यातृश्रोतॄणां रागादिमत्त्वाद्वी**तरागस्य कस्यचिदनभ्युपगमात्[१५४] सर्वथाप्यपौरुषेयस्य तदुपगमेन[१५५] विरोधात्। **नेतरस्य**[१५६] कथंचित्पौरुषेयस्य[१५७] तदविरोधात्। **इति निश्शङ्कं नश्चेतः,**[१५८] त्रिविप्रकृष्टस्यापि[१५९] निर्णयोपायप्रतिपादनादिति। **वक्तृगुणापेक्षं वचनस्याविसंवादकत्वं चक्षुर्ज्ञानवत्,** विसंवादस्य **तद्दोषानुविधानात्**[१६०]। यथैव हि चक्षुर्ज्ञानस्य ज्ञातृगुणं सम्यग्दर्शनादिकमपेक्ष्याविसंवादकत्वं,[१६१] तद्दोषं मिथ्यादर्शनादिकमपेक्ष्य विसंवादकत्वं चोपपद्यते, तथा वक्तुर्गुणं यथार्थज्ञानादि दोषं च मिथ्याज्ञानादिकमपेक्ष्य संवादकत्वं विसंवादकत्वं चेति निश्चितं महाशास्त्रे[१६२]।

[१६३]**ततोऽनाप्तवचनान्नार्थज्ञानमन्धरूपदर्शनवत्**। न हि जात्यन्धो रूपं दर्शयितुमीशः परस्मै। तथानाप्तोपि नार्थं ज्ञापयितुमतिप्रसङ्गात्[१६४]।

६०७. एवमपौरुषेयस्य[१६५] वचनस्य पौरुषेयस्य च गुणवद्वक्तृकस्य[१६६] कारणदोषाभावान्निर्दोषत्वं समानमतिशयासंभवात्[१६७]। **तत्र**[१६८] **यदेव युक्तियुक्तं**[१६९] **तदेव प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यं** कथंचित्पौरुषेयत्वं, न तु सर्वथा पौरुषेयत्वं, तस्य युक्तियुक्तत्वाभावात्, तद्युक्तीनां तदाभासत्वसमर्थनात्। तत्रापौरुषेयत्वेपि[१७०] वा वेदे यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यं वचन**मग्निर्हिमस्य भेषजं,** द्वादश मासाः संवत्सर **इत्यादिवत्**[१७१]। [१७२]**नाग्निहोत्रादिवाक्यसाधनं,** तस्य युक्तियुक्तत्वविरोधात्। **सिद्धे पुनराप्तवचनत्वे यथा हेतुवादस्तथाज्ञावादोपि प्रमाणं,** तदाप्तवचनत्वाविरोधात्[१७३]।

६०८. **ननु चापौरुषेयत्ववदाप्तशासनमप्यशक्यव्यवस्थं,** तस्यैव[१७४] ज्ञातुमशक्तेः, सरागस्यापि वीतरागवच्चेष्टोपलम्भादयमाप्त इति प्रतिपत्त्युपायासत्त्वात् तस्य शासनमिति व्यवस्थापयितुमशक्तेरित्यपरे[१७५]। **उक्तमत्र सर्वथैकान्तवादानां स्याद्वादप्रतिहतत्वादिति**। युक्तिशास्त्रविरोधिवाक्त्वाद्विनिर्दोषोयमिति शक्यं निर्णेतुं, दोषवानयमिति च, दृष्टेष्टविरोधवचनत्वात्[१७६]। तत्रानिश्चितवचनविशेषस्य[१७७] कस्यचिद्वीतरागत्वेतराभ्यां संदेहेपि निश्चितवचनविशेषस्य शक्यमाप्तत्वं व्यवस्थापयितुम्। **तत्राप्तिः**[१७८] **साक्षात्करणादिगुणः**[१७९] 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा' इत्यादिना साधितः। **संप्रदायाविच्छेदो वा**[१८०]। सर्वज्ञादागमस्तदर्थानुष्ठानात् सर्वज्ञ इति सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सिद्धः[१८१] प्रवचनार्थस्य, **अन्यथान्धपरम्परया**[१८२] **प्रतिपत्तेः**। न ह्यन्धेनाकृष्यमाणोन्धः स्वेष्टं मार्गमास्कन्दति नाम। न चैवं[१८३] संप्रदायाविच्छेदे परस्पराश्रयणं, कारकपक्षे बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्[१८४][१८५]तस्यानवतारात्[१८६]। ज्ञापकपक्षेपि परस्मात्[१८७] स्वतः सिद्धात्,[१८८] पूर्वस्य[१८९] ज्ञप्तेनेतरेतराश्रयणं, प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य[१९०][१९१] साधनात्।

६०९. तदेवं स्यात्सर्वं हेतुतः सिद्धं करणाप्तवचनानपेक्षणात्[१९२]। स्यादागमात्सिद्धमक्षलिङ्गानपेक्षणात्। स्यादुभयतः सिद्धम्, क्रमार्पितद्वयात्[१९३]। स्यादवक्तव्यम्, सहार्पितद्वयात्। शेषभङ्गत्रयं च पूर्ववत्। इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजनीया।

नैकान्ताद्धेतुवादः प्रभवति सकलं तत्त्वमुन्नेतुमेक[१९४]-
स्तद्वन्नाहेतुवादः प्रवद(भव)ति विहिता[१९५]शेषशङ्काकलापः ।
इत्यार्याचार्यवर्या विदधति निपुणं[१९६] स्वामिनस्तत्त्वसिद्ध्यै
स्याद्वादोत्तुङ्गसौधे स्थितिम[१९७]मलधियां[१९८] प्रस्फुटोपायतत्त्वे ।। २ ।।

इत्याप्तमीमां[१९९]सालंकृतौ षष्ठः परिच्छेदः ।

षष्ठपरिच्छेदटिप्पणानि

१. (अकलङ्कवृत्तिः, अष्टशती। सा पुष्यन्ती यस्यां सा ताम्)। २. समन्तभद्रप्रणीतो देवागमोत्र मूलम्। सोपि समन्तभद्रशब्दवाच्यः स्यात्, कल्याणार्थत्वात्। तेन प्रणीतस्तत्त्वार्थों यस्यां सा ताम्। ३. यथासंभवमन्योप्यर्थो विकल्प्यः। ४. 'मवैतु' पाठान्तरम्। ५. गतिः, ज्ञानम्। ६. सिद्धानि भवेयुरिति शेषः। ७. इह हीत्याद्यारभ्य चार्वाकादिवदित्यन्तो ग्रन्थः कारिकाया अवतारो द्रष्टव्यः। ८. व्यवस्थितं, निश्चितम्। वसोत्र। ९. यथा चार्वाकादीनामनिश्चितमोक्षतत्त्वानां मोक्षकारणदर्शनादेर्व्यवस्थापने पराङ्मुखत्वम्। १०. एवं सति केचित्सौगता एवं हेतुवादं मन्यन्ते। ११. अनुमानादेव। १२. कार्यतंत्त्वम्। १३. अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानाश्रयत्वेपि। १४. आगमादिवचनादित्यर्थः। १५. यतः प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वम्। १६. यदि प्रत्यक्षत एव प्रत्यक्षतदाभासयोर्व्यवस्थितिस्तर्हीत्यर्थः। १७. प्रत्यक्षं तदाभासं च स्यादिति संकरः। १८. प्रत्यक्षतदाभासयोरर्थानर्थौ विषयतदाभासौ, तयोर्विवेचनं तस्य। १९. (अनुमानवादिनः सौगताः)। २०. प्रत्यक्षादादिभूतादपि उपेयतत्त्वस्य गतिर्न स्यादिति संबन्धः। २१. प्रत्यक्षाद्गतिर्मा भूदित्याशङ्कायामाह। २२. अज्ञानेङ्गीक्रियमाणे। २३. आदिशब्देन साधनोदाहरणे ग्राह्ये। २४. शिष्यादीन् प्रति। २५. अपि तु न किंचित् प्रयोजनम्। २६. शब्दादिः क्षणिकः सत्त्वादिति स्वार्थानुमाने धर्मिभूतशब्दस्य, सत्त्वादिति लिङ्गस्य च प्रतिपत्तेरयोगात्।

२७. अनुमानात्सर्वं सिद्धं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। २८. वैद्यकशास्त्रे। २९. ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवदित्याद्यनुमानेषु न सुरां पिबेत्, न पलाण्डुं भक्षयीत इत्याद्यागमेन पक्षबाधा यथा। ३०. लौकिकतत्त्वमागमात्सिध्यति, न तु पारमार्थिकमित्याशङ्क्याह। ३१. शास्त्रस्य। ३२. स, आगमः। ३३. इति, ये त्वाहुरिति पूर्वेण सम्बन्धः। ३४. ब्रह्माद्वैतिनाम्। बौद्धसांख्यनैयायिकादीनामिति टिप्पण्यन्तरम्। ३५. युक्त्या एव। ३६.उपदेशानाम्। ३७. तस्य सम्यक्त्वस्य। ३८. उपदेशाः। ३९. उपदेशाः सम्यग्, अदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाधवर्जितत्वाच्चेत्यनुमाननिरपेक्षाः। ४०. अन्यथेति शेषः। ४१. कर्मणो यागादिक्रियायाः काण्डं प्रकरणम्। ४२. परब्रह्मकर्मकाण्डेश्वरादिप्रतिपादकागमानामपौरुषेयत्वाविशेषे विशेषाधायकत्वाभावात्। ४३. श्रौत्रप्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वेङ्गीक्रियमाणे च। ४४. इदं श्रोत्रं प्रत्यक्षं प्रमाणं संवादकत्वात्, इदं त्वप्रमाणं विसंवादकत्वादित्यनुमानाभावे श्रोत्रस्य प्रमाणेतरत्वज्ञानं कुतो भवेत्? ४५. वेदग्राहि ब्रह्मवाचकशब्दग्राहि वा। ४६. अभिलषता ब्रह्माद्वैतिना। ४७. केवलागमप्रामाण्यं चेत्तर्हीत्यर्थः। ४८. तस्य, आगमस्य। ४९. वैशेषिकाः। सौगताः। ५०. ग्रहसंचरणग्रहणादेः। ५१. आगमं विना। ५२. तस्य, ज्योतिर्ज्ञानादेः। ५३. स्वार्थानुमानाभावे योगिप्रत्यक्षं नोपपद्यते यथा। ५४. परार्थानुमानरूपामागमरूपां वा। ५५. स्वार्थानुमानरूपाम्(आगमरूपामेव)। ५६. ग्रहोपरागादिषु। ५७. अन्यथा। ५८. अनुमानविदामपि। ५९. स्वकृते श्लोकवार्त्तिके।

६०. युक्तिः, हेतुः। इतरः, आगमः। ६१. कथंचित्वप्रकारेण। ६२. युक्तीतराभ्यामवाच्यत्वेपि। ६३. कथंचिदनुमानं कथंचिच्चागम इत्यनेकान्तम्। ६४. उपेयतत्त्वम्। ६५. स्यात्। ६६. तस्य, आप्तस्य। ६७. आप्ते सति। ६८. यस्मिन्नाप्ते असति। ६९. वक्ता (आप्तः)। ७०. तस्य शास्त्रस्योपदेशस्यार्थस्तस्य ज्ञानं ग्रहणं तस्मात्। ७१. स्फुटोऽबाधितो व्यवसाय एव रूपं यस्य ज्ञानस्य। ७२. स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमरूपं पञ्चप्रकारमसाक्षाज्ज्ञानम् (परोक्षमित्यर्थः)। ७३. स्फुटव्यवसायात्मकत्वं कुत इत्युक्ते आह। ७४. तदर्थज्ञानस्य। ७५. अविसंवादक एवाप्तो येन कारणेन। ७९. धर्माद्यर्थे। ८०. ब्रह्मा वेदान्तकर्त्ता व्यासश्च। ८१. तदर्थस्य धर्मादेः। ८२. मीमांसकैः। ८३. श्रुतेरागतम्। ८४. जैमिन्यादेः। ८५. असर्वज्ञस्य जैमिन्यादेः। ८६. दोषा रागादयः। आवरणशब्देन ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म गृह्यते।

८७. तदर्थपरिज्ञानेन। ८८. धर्माधर्मादिसाक्षात्करणस्य। ८९. तयोः दोषावरणयोः। ९०. तर्हि श्रुत्यविसंवादात्तदर्थपरिज्ञानं भविष्यतीत्याशङ्क्याह। ९१. तर्ह्यन्योन्याश्रयदूषणमित्यर्थः। ९२. अङ्गुल्यग्रे

हस्तियूथशतमास्ते इत्यादिवाक्यादपि स्वविषयज्ञानप्रसङ्गात्। ९३. श्रुतेः। ९४. मीमांसकः। ९५. नैयायिकमते सन्निकर्षादीनामचेतनत्वेपि प्रामाण्यमभ्युपगतम्। ततस्तेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थमाह। ९६. जैनैः। ९७. मुख्यरूपतया सन्निकर्षादीनां प्रामाण्याभावेपि। ९८. उपचारेण। ९९. सत्यरूपत्वात्। १००. तथा, प्रामाण्यप्रकारेण। १०१. वयं जैनाः। १०२. अविसंवादज्ञानकारणत्वेनैव श्रुतिरपि प्रमाणं स्यादित्याशङ्क्याह। १०३. अविसंवादकत्वम्। १०४. अविसंवादिज्ञानकारणत्वाभावात्। १०५. तदर्थबुद्धेः, श्रुत्यर्थज्ञानस्य। १०६. भावना श्रुत्यर्थः, विधिः, नियोगो वा श्रुत्यर्थ इत्यादिनिराकरणप्रघट्टके। १०७. तर्ह्याप्तवचनं कथं प्रमाणमित्युक्ते आह। १०८. कारणं च कार्यं च कारणकार्ये, तस्य प्रमाणस्य कारणकार्ये, तयोर्भावस्तस्मात्। आप्तवचनात्प्रमाणं केवलज्ञानमुत्पद्यते, प्रमाणादाप्तवचनं जायते यतस्ततः (परस्परकार्यकारणत्वम्)। न चान्योन्याश्रयः, बीजवृक्षादिसंततिवदनादिसिद्धत्वात् परम्परायाः। १०९. अतीन्द्रियार्थप्रत्यक्षादाप्तवचनस्योत्पत्तेः। ११०. अतीन्द्रियार्थस्तदर्थः। तदर्थज्ञानं, तद्विषया बुद्धिस्तस्योत्पादनादाप्तवचनस्य प्रामाण्यं शिष्यज्ञानलक्षणकार्यकारणत्वात्। १११. साक्षाद्वचनप्रकारेण संकेतप्रकारेण चानुक्तेः। कस्याः ? श्रुतेरिति संबन्धः। ११२. बौद्धमते ध्यानाध्ययनानुष्ठानादिप्रतिपादकं शास्त्रं पिटकत्रयं कथ्यते। ११३. वक्ता बुद्धः पिटकत्रयादेः, तस्य दोषात्। ११४. मीमांसकः। ११५. पिटकत्रयादौ पौरुषेयत्वं श्रुतौ चापौरुषेयत्वम्। ११६. प्रमाणमन्तरेण पौरुषेयत्वमपौरुषेयत्वं च मीमांसकः साधयतीति सत्यं व्यवस्थितमित्युपहासवचनमेतत्। ११७. अभ्युपगमेत्यादिना। ११८. वेदोऽपौरुषेयः कर्तृस्मरणाभावादित्यादयो हेतवः। ११९. मीमांसकः। १२०. तस्य, कर्तृस्मरणादिमत्त्वदृष्टकर्तृकसमानत्वादेरेव। १२१. पिटकत्रये।

१२२. कर्तृस्मरणाद्यभावस्यानभ्युपगमादेव, न तु प्रमाणत्वात्। १२३. अभ्युपगमानभ्युपगमप्रकारेण। १२४. मीमांसकस्य। १२५. अभ्युपगमानभ्युपगममात्रत्वे। १२६. वेदे। १२७. कांश्चिदृषीन् कर्तॄन्। १२८. ब्रह्माणम्। १२९. अनङ्गीकरणं वेदे। १३०. मीमांसकः। १३१. वेदस्य। १३२. गुर्वध्ययनपूर्वम्। १३३. प्रतिपाद्यतेस्माभिः। १३४. यन्मीमांसकमतम्। १३५. पिटकत्रयेपि। १३६. सद्भावात्। १३७. हेतोः। १३८. बसः। १३९. अव्यभिचारितायाम्। १४०. पिटकत्रयस्य। १४१. पिटकत्रयानुष्ठाने ज्ञानत्रयानुष्ठाने ज्ञानचैत्यवन्दनरूपे। १४२. दुर्भणनत्वादिलक्षणातिशयस्य वेदे सद्भावात्कथमविशेष उभयत्रेत्याशङ्क्याह। १४३. इदमप्याशङ्क्याह। १४४. इतरत्र पिटकत्रयादौ। १४५. जैनागमप्रोक्ताः। १४६. प्रवचने। १४७. दशमः पूर्वो विद्यानुवादः। (द्वादशाङ्गरूपस्य श्रुतज्ञानस्यान्तिमो योङ्गस्तस्य चतुर्दशभेदाः सन्ति तेषामेव 'पूर्व' नाम। तत्र दशमो विद्यानुवादः पूर्वोस्ति)।

१४८. तस्य, वेदस्य। १४९. म्लेच्छा द्वीपान्तरनिवासिनस्तेषां व्यवहारो मातृविवाहादिलक्षणः, स आदिर्यस्य नास्तिकादिव्यवहारस्य। तस्य म्लेच्छव्यवहारादेरनादित्वापौरुषेयत्वे सत्यप्यविसंवादित्वाभावात्। १५०. अनादित्वादेः। १५१. अग्निमीडे पुरोहितं, आपः पवित्रमित्यादिस्वरूपानिरूपकेण। १५२. मीमांसकेनाग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति कार्यार्थे एव चोदनायाः प्रामाण्याभ्युपगमात्। १५३. वेदस्यादुष्टकारणजन्यत्वादिति मीमांसकमतम्। १५४. मीमांसकेन। १५५. वीतरागोपगमेन। १५६. पौरुषेयस्य वचनस्य वीतरागोपगमनेन विरोधो नेति संबन्धः। १५७. तेन वीतरागोपगमनेन। १५८. अस्माकमकलङ्कदेवानाम्। १५९. ननु देशकालस्वभावेति त्रिधा विप्रकृष्टस्य वीतरागस्य निर्णयाभावात्कथं तत्प्रतिपादनमित्याशङ्क्याह। १६०. तस्य, वक्तुः। १६१. तस्य, ज्ञातुः पुरुषस्य। १६२. विद्यानन्दिमहोदयैस्तत्रैव (तत्त्वार्थे वा)। १६३. वक्तुर्गुणापेक्षमेव संवादकत्वं निश्चितं यतः। १६४. रथ्यापुरुषस्याप्यर्थज्ञापकत्वप्रसङ्गात्। १६५. संवादकवचसो वक्तृगुणापेक्षत्वप्रकारेण। १६६. अपौरुषेयत्वपक्षे गुणवद्व्याख्यातृकस्येत्यर्थः। १६७. अपौरुषेयपौरुषेययोर्वचनयोरुभयत्र इतरविशेषासंभवात्। १६८. पौरुषेयापौरुषेययोर्वचनयोः समानत्वेपि सति। १६९. नयप्रमाणात्मिका युक्तिः।

१७०. तत्र यदेवेत्यादिमूलग्रन्थवाक्यं प्रकारान्तरेण व्याख्यायते। १७१. इत्यादिवेदवचनं युक्तियुक्तं यथा। १७२. प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यमिति संबन्धः। १७३. तयोः, हेतुवादाज्ञावचनयोर्द्वयोरपि। १७४. आप्तस्य। १७५. मीमांसकाः। १७६. बसः। १७७. आप्तस्यानाप्तस्य च। १७८. आप्ते पुरुषविशेषे। १७९. अर्थस्य

साक्षात्करणादिः। १८०. आप्तरिति पूर्वेणान्वयः। १८१. संप्रदायाविच्छेद एवं सिद्धः। १८२. आप्तत्वं, साक्षात्करणादिगुणः संप्रदायाविच्छेदो वा सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सिद्धो न भवेच्चेत्तदेत्यर्थः। १८३. सर्वज्ञादागमस्तदर्थानुष्ठानात्सर्वज्ञ इति पूर्वोक्तप्रकारेण। १८४. यथा वर्तमानाङ्कुरः पूर्वबीजात्पूर्वबीजं तु तत्पूर्वाङ्कुरात् पूर्वाङ्कुरोपि तत्पूर्वबीजादिति। १८५. सर्वज्ञागमयोः। १८६. परस्पराश्रयणस्य। १८७. कार्यभूतादागमात्। १८८. ज्ञानपक्षेपि विचारः क्रियते, स्वयमेव निष्पन्नत्वात्स्नानपानाद्यनुभवलक्षणात्, परस्मात् तोयज्ञानात् पूर्वस्य पथिकोपदेशघटचेटिकादर्दुरादिदर्शनाभ्यां ज्ञातलक्षणस्य ज्ञानस्य ज्ञप्तेः प्रामाण्यघटनात्। १८९. पूर्वस्य, आगमकारणसर्वज्ञस्य। १९०. आगमेन। १९१. सर्वज्ञस्य। १९२. करणमिन्द्रियम्। १९३. (आप्तवचनानपेक्षणत्वस्याक्षलिङ्गानपेक्षणत्वस्य च हेतुद्वयस्य क्रमेणार्पणादित्यर्थः)। १९४. व्यवस्थापयितुम्। १९५. ईश्वरादिविषये। १९६. यथा स्यात्तथा। १९७. (विदधतीत्यस्य कर्म)। १९८. भव्यविनेयानाम्।

१९९. अत्राधिकारे वस्तुसिद्धिकारणानां प्रत्यक्षानुमानागमानां त्रयाणामपि प्रसङ्गानुसारेण स्यादावश्यकतेति दर्शितम्। केचित्प्रत्यक्षवादिनः, केचन केवलमनुमानवादिनः, केचन च आगमवादमेवाद्रियन्ते, तेषां सर्वेषां निरासो दर्शितः। आगमवादिष्वन्यतमस्य वेदान्तिनो वेदप्रामाण्ये विशेषतो विचारः कृतः, निरासिताश्च तत्प्रामाण्याय प्रयुक्ता युक्तयो विशेषतः। इति तात्पर्यमस्य परिच्छेदस्य।



अथ सप्तमः परिच्छेदः

निर्दिष्टो यः शास्त्रे[१] हेत्वागमनिर्णयः प्रपञ्चेन ।
गमयत्यष्टसहस्री संक्षेपात्तमिह सामर्थ्यात्[२] ।। १ ।।

अन्तरङ्गार्थतैकान्ते[३] बुद्धिवाक्यं[४] मृषाखिलम् ।
प्रमाणाभासमेवा[५]तस्तत्[६] प्रमाणादृते कथम् ।। ७९ ।।

§ ६१०. अन्तरङ्गस्यैव स्वसंविदितज्ञानस्यार्थता वस्तुता, न बहिरङ्गस्य जडस्य प्रतिभासानर्हस्येत्येकान्तोऽन्तरङ्गार्थतैकान्तः, तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेऽखिलं बुद्धिवाक्यं हेतुवादाहेतुवादनिबन्धन[७]मुपाय[८]तत्त्वं मृषैव स्यात्। यतश्च मृषा स्यादत एव प्रमाणाभा[९]समेव, प्रमाणस्य सत्यत्वेन व्याप्तत्वात्, मृषात्वेन प्रमाणाभासस्य व्याप्तेः। तच्च प्रमाणाभासं प्रमाणादृते कथं संभवेत् ? तदसंभवे तद्[१०]व्यवहारमवास्तमेवायं[११] स्वप्रव्यवहारमिव संवृत्या[१२]पि कथं प्रतिपद्य[१३]ते ? **तज्जन्म[१४]कार्यप्रभवा[१५]दिवेद्यकलक्षणमनैकान्तिकमादर्श्य संवित्तिरेव खण्डशः[१६] प्रतिभासमाना व्यवहाराय कल्प्यते[१७], इत्य[१८]भिनिवेशेपि प्रमाणं मृग्यम्।** न हि प्रमाणाभावे तज्जन्म[१९]ताद्रूप्यदध्यवसायान् प्रत्येकं वेद्यवेदक[२०]लक्षणं चक्षुषा समानार्थ[२१]समनन्तरवेदनेन शुक्तिकायां रजताध्यवसायेन च व्यभिचारयितुमीशः, सह[२२] वा समानार्थसमनन्तरज्ञानेन[२३] कामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानसमनन्तरज्ञानेन वा[२४] सौत्रान्तिकान्प्रति[२५] व्यभिचारि प्रतिदर्शयेत्[२६]। कथं वा कार्यनिमित्तकारणत्वं[२७] तल्लक्षणं[२८] यौगान् प्रत्यनैकान्तिकं[२९] व्यवस्थापयेत्[३०] ? कथं च कार्यकारणभावाख्यं प्रभावं[३१] कांश्चन[३२] प्रति योग्यतां वा तल्लक्षणतया[३३] व्यभिचारयेत् ? कथं च संवित्तिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना वेद्यवेदकादिव्यवहाराय प्रकल्पते, इत्यभिनिवेशं वा विदधीत ? यतो न प्रमाणं मृगयते।

§ ६११. किञ्चास्य विज्ञानवादिनः संविदां **क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासंतानत्वमिति स्वतस्तावन्न सिध्यति, भ्रान्तेः[३४]** स्वपनवत्। स्वसंवेदनात्स्वतः सिध्यतीति चेन्न, क्षणिकत्वेनानन्यवेद्यत्वेन[३८] नानासंतानत्वेन च नित्यत्वेन सर्ववेद्यत्वेनैकत्वेनेव[३५] परब्रह्मणः स्वसंवेदनाभावात्[३६]। **तथात्म[३७]संवेदनेपि व्यवसायवैकल्ये[३९] प्रमाणान्तरा[४०]पेक्षयानुपलम्भककल्पत्वात्,** तस्य प्रमाणान्तरानपेक्षस्यैव व्यवसायात्मनः संवेदनस्योपलम्भत्वव्यवस्थितेः, व्यवसाया[४१]भावे तु बुद्धीनामभ्यासादपि तथानुपलम्भात्[४२]। **न हि तथा बुद्धयः संविद्[४३]रते यथा व्या[४४]वर्ण्यन्ते** क्षणिकत्वाद्यात्मनान्य[४५]थैव तासां प्रतिभासनाभ्याससिद्धेः। **नापि परतः[४६]** क्षणिकत्वादि सिध्यति, **संबन्धप्रतिपत्ते[४७]रयोगात्।** न हि सत्त्वादेर्लिङ्गस्य क्षणिकत्वादिना व्याप्त्या[४८] संबन्ध[४९]प्रतिपत्तिः प्रत्यक्षतो युज्यते, तस्य सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वा[५०]च्च। नाप्यनुमाना[५१]दनवस्थानात्, इति प्रागेव[५२] प्ररूपणात्। **स्वांश[५३]मात्रावलम्बिना मिथ्याविकल्पेन प्रकृत[५४]तत्त्वव्यवस्थापने बहिरर्थेष्वप्यविरोधात्[५५]** क्षणिक[५६]त्वादिव्यवस्थापनमस्तु सौत्रान्तिकादीना[५७]म्, अविशेषा[५८]त्। तथा हि—**कथंचिद[५९]त्र[६०] वेद्यलक्षणं[६१] यदि व्यवतिष्ठेत** तदा तत्प्रकृतं संविदां क्षणिक[६२]त्वादिसाधनं लैङ्गिकज्ञानेन **कृतं स्यान्नान्यथा[६३]। न चानुक्त[६४]दोषं लक्षण[६५]मस्ति,** वेद्यस्य विज्ञानवादिना तज्जन्मा[६६]देरनैकान्तिकत्वदोषवचनात्। संवित्क्षणिकत्वादावनुमान[६७]वेदनस्य **तत्संभवे[६८] नान्यत्र** बहिरर्थे **तदसंभवोऽभिधेयः[६९],** सर्वथा विशेषाभावा[७०]त्। **तत्स्व[७१]परपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं किंचित्[७२]कथंचित्[७३]कुतश्चि[७४]दवितथज्ञानमादरणीयमन्यथाऽशेषविभ्रमा[७५]सिद्धेः।**

६१२. ननु किंचित्संविदद्वैतं कथंचित्संविदात्मना कुतश्चित्स्वतः सत्यप्रतिभासनमाद्रियत एव, स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति वचनादिति चेन्न, स्वरूपेपि वेद्यवेदकलक्षणाभावे तदघटनात्, पुरुषाद्वैतवत्।

६१३. **एतेन यद्ग्राह्यग्राहकाकारं तत्सर्वं विभ्रान्तं, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानं, तथा च प्रत्यक्षादिकमिति प्रतिविहितं वेदितव्यं,** भ्रान्तत्वप्रकृतानुमानज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकाकारयोर्भ्रान्तत्वे ताभ्या[७६]मेव हेतोर्व्य[७७]भिचारात्, तदभ्रान्तत्वे त[७८]तः सर्वस्य भ्रान्तत्वप्रसिद्धेः, स[७९]र्वभ्रान्तौ[८०] साध्यसाधनविज्ञप्तेरसंभवात्तद् व्याप्तिविज्ञप्ति[८१]वत्, संभवे[८२] स[८३]र्वविभ्रमासिद्धेः।

साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता[८४]।
न[८५] साध्यं न च हेतुश्च[८६] प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥ ८० ॥

६१४. प्रतिज्ञादोषस्तावत्स्ववचनविरोधः साध्यसाधनविज्ञानस्य विज्ञप्तिमात्रत्वमभिलपतः प्रसज्यते। तथाहि—

६१५. **सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियो[८७]र्द्विचन्द्रदर्शनवदित्यत्रार्थसंविदोः सहदर्शनमुपे[८८]त्यैकत्वैकान्तं सांधयन् कथमवधेयाभिलापः ?** स्वोक्तधर्मधर्मिभेदवचनस्य हेतुदृष्टान्तभेदवचनस्य चाद्वैतवचनेन विरोधात्, संविदद्वैतवचनस्य च तद्भेदे[८९]वचनेन व्याघातात्, तद्वच[९०]नज्ञानयोश्च भेदे तदेकत्वसाधनाभिलापविरोधात्, तदभिलापे वा तद्भेदविरोधात्। इति स्ववच[९१]नयोर्विरोधाद्बिभ्यत् **स्वाभिलापाभा[९२]वं वा स्ववाचा प्रदर्शयन्कथं स्वस्थः ?** सदा मौनव्रतिकोहमित्यभिलापवत् स्ववचनविरोधस्यैव स्वीकरणात्। तथा[९३] विज्ञानवादिनोऽप्रसिद्धविशेष्यत्वमप्रसिद्धविशेषणत्वं च प्रतिज्ञादोषः स्यात्, नीलतद्धियोर्विशेष्ययोस्तदभेदस्य च विशेषणस्य च स्वय[९४]मनिष्टेः[९५]। पराभ्युप[९६]गमेन प्रसङ्गसाधनस्योपन्या[९७]साददोष इति चेन्न, तस्य[९८] परासिद्धेस्त[९९]दभ्युपगमाप्रसिद्धेश्च प्रसङ्गसाधनासंभवात् 'साधनसाध्यधर्मयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि सत्यां परस्य[१००] व्याप्या[१०१]भ्युपगमो व्यापका[१०२]भ्युपगमनान्तरीय[१०३]को यत्र[१०४] प्रदर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनम्। न चैतद्विज्ञप्तिमात्रवादिनः संभवति, विरोधात्।

६१६. ननु स्याद्वादिनोपि[१०५] तद्दोषोद्भवनमयुक्तं विज्ञप्तिमात्रवादिनं प्रति, तस्य तदसिद्धेः[१०६], विज्ञप्तिमात्रव्यतिरेकेण दोषस्याप्यभावाद् गु[१०७]णवत्। स्वा[१०८]भ्युपगममात्रादेव[१०९] तत्संभवः, परस्य[११०] विज्ञप्तिमात्रसाधनात्पूर्वं यथाप्रतीति वस्तुनो व्यवस्था[१११]नादिति समाधा[११२]ने त[११३]त एव सौग[११४]तस्यापि तदेव समाधानमस्तु[११५], विचारात्पूर्वं सर्व[११६]स्याविचारितरमणीयेन रूपेण यथाप्रतीति साध्यसाधनव्यवहारप्रवृत्तेर[११७]न्यथा विचाराप्रवृत्तेः। सिद्धे तु विज्ञप्तिमात्रे न कश्चित्साध्यसाधनव्यवहारं प्रतनोति सौगतः, नापि परेषां[११८] तद्दोषाद् भवनेवकाशोस्ति' इति केचित्; तेपि न विचारचतुरचेतसः; किंचिन्निर्णी[११९]तमाश्रित्यान्य[१२०]त्रानिर्णीतरूपे तदविनाभाविनि विचारस्य प्रवृत्तेः, सर्वविप्रतिप[१२१]त्तौ तु क्वचिद्विचारणानवतरणात्। इति विचारात्पूर्वमपि विचारान्तरेण निर्णीते एव साध्यसाधनव्यवहारस्तद्गु[१२२]णदोषस्वभावश्च निश्चीयते। न चैव[१२३]मनवस्था, संसारस्यानादित्वात् क्वचित्कस्य[१२४]चित्कदाचिदाकाङ्क्षानिवृत्तेर्विचारान्तरानपेक्षणात्। ततो[१२५] युक्तमेव स्याद्वादिनः प्रतिज्ञा[१२६]दोषोद्भावनं हेतु[१२७]दोषोद्भावनं च। तथा हि—अयं **पृथगनुपलम्भाद्भेदाभावमात्रं साधयेन्नीलतद्धियोः। तच्चासिद्धं,**

संबन्धासिद्धेरभावयोः[१२८] खरशृङ्गवत्[१२९]। सिद्धे[१३०] हि धूमपावकयोः कार्यकारणभावे संबन्धे कारणाभावात्कार्यस्याभावः सिध्यति। सति च शिंशपात्ववृक्षत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावे व्यापकाभावाद् व्याप्याभावो नान्यथा[१३१]। न चैवं भेदपृथगुपलम्भयोः संबन्धः क्वचित्सिद्धो विरोधाद्विज्ञप्तिमात्रवादिनो यतः पृथगुपलम्भाभावो[१३२] भेदाभावं साधयेत्, इति न निश्चितो हेतुः[१३३]।

६१७. **एतेनासहानुपलम्भाद्[१३४]भेदसाधनं प्रत्युक्तं, भावाभावयोः संबन्धासिद्धेरविशेषात्[१३५] तादात्म्य[१३६]तदुत्पत्त्योर्[१३७]अर्थस्वभावनियमात्**, तदन्यव्यावृत्तेर्[१३८]अर्थास्वभावत्वा[१३९]देकत्वेन[१४०] भावस्वभावेन सह तदयोगात्। **सिद्धेपि[१४१] प्रतिषेधैकान्ते[१४२] विज्ञप्तिमात्रं न सिध्येत्, तदसाधनात्[१४३]। तत्सिद्धौ तदाश्रयं[१४४] दूषणमनुषज्येत** ग्राह्यग्राहकभावा[१४५]सिद्धिलक्षणं तद्वद्बहिरर्थ[१४६]सिद्धिप्रसञ्जनं चाविशेषात्[१४७]। **तदेकोपलम्भ[१४८]नियमोप्यसिद्धः, साध्यसाधनयोरविशेषात्[१४९]**। साध्यं हि नीलतद्धियोरेकत्वम्। तदेकोपलम्भोपि तदेव[१५०], ज्ञानस्यैकस्योपलम्भादिति हेत्वर्थव्याख्यानात्[१५१], सहशब्दस्यैकपर्यायत्वात्, सहोदरो भ्रातेत्यादिवत्। **तथैकज्ञान[१५२]ग्राह्यत्वं[१५३] द्रव्यपर्यायपरमाणुभि[१५४]रनैकान्तिकम्**। द्रव्यपर्यायौ हि जैनानामेकमतिज्ञानग्रहौ, न च सर्वथैकत्वं प्रतिपद्येते। सौत्रान्तिकस्य च संचिता[१५५] रूपादिपरमाणवश्चक्षुरादिज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, 'संचितालम्बनाः[१५६] पञ्च विज्ञानकायाः' ( ) इति वचनात्। न चैक्यं प्रतिपद्यन्ते। तथा योगाचारस्यापि[१५७] सकलविज्ञानपरमाणवः[१५८] सुगतज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, न चैकत्वभाजः। इति तैरनैकान्तिकं साधनमनुषज्यते[१५९]। नीलतद्धियोरैक्यमनन्यवेद्यत्वात्[१६०] स्वसंवेदनवत्, इत्यत्रापि परेषा[१६१]**मनन्यवेद्यत्वमसिद्धं**, नीलज्ञानादन्यस्य[१६२] नीलस्य वेद्यत्वात्।

६१८. एतेनैकलोलीभावेनोपलम्भः सहोपलम्भश्चित्रज्ञानाकार[१६३]वदशक्यविवेचनत्वं[१६४] साधनमसिद्धमुक्तं, नीलतद्वेदनयोरशक्यविवेचनत्वासिद्धेरन्तर्बहिर्देशतया विवेकेन प्रतीतेः। यदि पुनरेकदोपलम्भः सहोपलम्भ इति व्याख्यायते तदा **एकक्षणवर्तिसंवित्तीनां[१६५] साकल्येन सहोपलम्भ[१६६]नियमाद्व्यभिचारी[१६७] हेतुः**, तासां **तथोत्पत्तेरेव[१६८] संवेदनत्वात्[१६९]** संविदितानामेवोत्पत्तेः[१७०]। द्विचन्द्रदर्शनवदिति **दृष्टान्तोपि साध्यसाधनविकलः[१७१], तथोपलम्भाभेदयोरर्थे[१७२] प्रतिनियमाद[१७३]भ्रान्तौ[१७४] तदसंभवात्[१७५]**, संभवे तद्भ्रान्तित्वविरोधात्।

६१९. **ननु चासहानुपलम्भमात्रादभेदमात्रं** साधनात्साध्यरूपं भ्रान्तादपि संभवति, अभावेऽभावयोः[१७६ १७७] संभवाविरोधात्। ततो न साध्यसाधनविकलो दृष्टान्त इति न शक्यप्रतिष्ठं, **कथंचिदर्थस्वभावा[१७८]नवबोधप्रसङ्गात्[१७९] सर्वविज्ञानस्वलक्षणक्षणक्षयविविक्तसन्ततिविभ्रमस्वभावानुमितेः[१८०] साकल्येनैकत्वप्रसङ्गात्**, तदन्यापोह[१८१ १८२]मात्राद्धेतोरन्यापोहमात्रस्यैव सिद्धेरर्थस्वभावानवबोधात्। किंच सकृदुपलम्भनियमे[१८३] हेत्वर्थे सति **एकार्थसंगतदृष्टयः[१८४] परचित्तविदो वा नावश्यं तद्बुद्धि[१८५] तदर्थं[१८६] वा संविदन्तीति[१८७] हेतोरसिद्धिः नियमस्यासिद्धेः[१८८]।**

६२०. **किं च सहोपलम्भनियमश्च स्याद्भेदश्च स्यात्, किं विप्रतिषिध्येत ? स्वहेतुप्रतिनियमसंभवात्[१८९]**। इति सन्दिग्धव्यतिरेको[१९०] हेतुर्न[१९१] विज्ञप्तिमात्रतां साधयेत्। **तस्मादयं[१९२]** विज्ञानवादी **मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः संविदानो[१९३] वा वचनं तत्त्वज्ञानं च प्रतिरुणद्धीति[१९४] न किंचिदेतत्, असाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाच्च[१९५] निग्रहार्हत्वात्[१९६]**। न ह्यस्य वचनं किंचित्साधयति[१९७] दूषयति वा,

यतस्तद्वचनं साधनाङ्गं दोषोद्भावनं वा स्यात्। नापि किंचित्संवेदनमस्य[१९८] सम्यगस्ति, येन मिथ्यादृष्टिर्न भवेत्। संविदद्वैतमस्तीति[१९९] चेन्न, तस्य स्वतः परतो वा ब्रह्मवदप्रतिपत्तेर्यथासंवेदनं[२००] मिथ्यात्वसिद्धेः[२०१]। तदेवं नान्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिर्वाक्यं वा सम्यगुपायतत्त्वं संभवतीति स्थितम्।

बहिरङ्गार्थतैकान्ते[२०२] प्रमाणाभासनिह्नवात्[२०३][२०४]।
सर्वेषां[२०५] कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिधायिनाम्।। ८१ ।।

६२१. **यत्किंचिच्चेतस्तत्सर्वं[२०६] साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धम्। यथाग्निप्रत्यक्षेतरवेदनम्[२०७]। स्वप्नदर्शनमपि चेतः[२०८], तथाविषयाकारनिर्भासात्[२०९]। साध्यदृष्टान्तौ पूर्ववत्।** विवादापन्नं विज्ञानं[२१०] साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धं, विषयाकारनिर्भासात्, यथाग्निप्रत्यक्षेतरवेदनम्। तथा स्वप्नदर्शनमपि विषयाकारनिर्भासम्। तत्तथा। **इति** बहिरङ्गार्थतैकान्तः, सर्ववेदनानां बहिर्विषयत्वाभिनिवेशात्। **अत्रापि[२११] लोकसमय[२१२]प्रतिबद्धानां[२१३] परस्परविरुद्धशब्दबुद्धीनां[२१४] स्वार्थसंबन्धः[२१५] परमार्थतः प्रसज्येत।** न[२१६] चैवं, तृणाग्रे करिणां शतमित्यादिवचनानां स्वप्नादिबुद्धीनां[२१७] च स्वार्थे संबन्धाभावात् तथा संवादासिद्धेः।

६२२. स्यान्मतं[२१८] 'द्विविधोऽर्थो, लौकिकोऽलौकिकश्च। यत्र लोकस्य परितोषः स लौकिकः सत्यत्वाभिमतज्ञानविषयः। यत्र न लोकस्य परितोषः शास्त्रविदां[२१९] तु संतोषः सोऽलौकिकोर्थः स्वप्नादिबुद्धिविषयः, सर्वथाप्यविद्यमानस्य[२२०] प्रतिभासवचनासंभवात्[२२१] खरविषाणानुत्पन्नप्रध्वस्तविषयशब्दज्ञानानामपि[२२२] लोकागोचरालौकिकार्थविषयत्वात्'[२२३] इति तदेतदलौकिकमेव[२२४], जाग्रत्प्रत्यया निरालम्बना एव, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्, इति परार्थानुमानप्रत्ययस्यास्वार्थप्रतिबद्धत्वे[२२५] तेनैव चेतस्त्वस्य विषयाकारनिर्भासस्य च हेतोर्व्यभिचारात्[२२६] स्वार्थप्रतिबद्धत्वे[२२७] च सर्ववेदनानां सालम्बनत्वविरोधात्। अस्यालौकिकार्थालम्बनत्वान्न[२२८] लौकिकार्थलम्बनत्वे[२२९] साध्ये हेतोर्व्यभिचारो विरोधो वेति चेन्न, लौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यत्वानुमानेन[२३०] हेतोर्व्यभिचारविरोधयोस्तदवस्थत्वात्। न चैवंविधार्थानां[२३१] परस्पराविरुद्धानां सकृत्संभव[२३२] इति न बहिरङ्गार्थतैकान्तः श्रेयान्, अन्तरङ्गार्थतैकान्तवत्।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।। ८२ ।।

६२३. **अन्तर्बहिर्ज्ञेयैकान्तयोः सहाभ्युपगमो विरुद्धः** स्याद्वादन्यायविद्विषामेव। **तदवाच्यतायामुक्तिविरोधः[२३३] पूर्ववत्।** स्याद्वादाश्रयणे तु न कश्चिद्दोष इत्याहुः।

भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं[२३४] च[२३५] ते[२३६]।। ८३ ।।

६२४. **सर्वसंवित्तेः स्वसंवेदनस्य[२३७] कथंचित्[२३८] प्रमाणत्वोपपत्तेस्तदपेक्षायां[२३९] सर्वं प्रत्यक्षं[२४०] न कश्चित्प्रमाणाभासः,** सौगतानामप्यत्राविवादात्[२४१], 'सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं[२४२][२४३] प्रत्यक्षम्' इति वचनात्। तन्निर्विकल्पकमित्ययुक्तं[२४४] स्वार्थव्यवसायात्मत्वमन्तरेण प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः समर्थनात्[२४५]। तथानभ्युपगमेन्यत[२४६][२४७][२४८]

एव बुद्धेरनुमानं स्यात्।[२४९] तच्चायुक्तं[२५०] लिङ्गाभावात्।[२५१] **तत्रार्थ[२५२]ज्ञानमलिङ्गं, तदविशेषेणा[२५३]सिद्धेः**। स्वयमप्रत्यक्षं[२५४] ज्ञानं ह्यर्थपरिच्छे[२५५]दादनुमीयते इत्यर्थज्ञानं कर्मरूपमर्थस्य प्राकट्यं तल्लि[२५६]ङ्गमिष्यते।[२५७] स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, [२५८]ज्ञाते त्वनुमानादव[२५९]गच्छति बुद्धिं ( ) इति वचनात्। तच्चा[२६०]र्थप्राकट्यमर्थधर्मो ज्ञानधर्मो वा? प्रथमपक्षेऽर्थपरिच्छेदकज्ञानादविशेषेणेत[२६१]रस्यासिद्धेर्न तल्लिङ्गम्। तद[२६२]विशे[२६३]षस्तु,[२६४] तस्यास्वसंविदितत्वादनुमानापेक्षत्वप्रसङ्गात्। न हि ज्ञाने परिच्छेदकेऽप्रत्यक्षे तत्कृतोर्थपरिच्छेदः प्रत्यक्षः स्यात्, संतानान्तरज्ञानकृतार्थपरिच्छेदवत्। बहिरर्थस्य प्रत्यक्षत्वात्तद्धर्मस्य[२६५] प्रत्यक्षत्वमिति चेन्न, अर्थस्यापि स्वतः प्रत्यक्षत्वासिद्धेः। स्व[२६६]ज्ञाने प्रतिभासमानस्य प्रत्यक्षत्वे संतानान्तरज्ञानेपि साक्षात्प्रति[२६७]भासमाने प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, [२६८]तस्यानुमेयत्वावि[२६९]शेषात्।[२७०] बहिरर्थप्राकट्यस्य प्रमातुः स्वसंविदितत्वात्त[२७१]ल्लिङ्गमेव ज्ञाने प्रसिद्धमिति चेत्क[२७२]थमर्थधर्मः स्वसंविदितो नाम? अर्थवत्। सो[२७३]यं ज्ञानमस्वसंविदितं प्राकट्यमर्थस्वरूपं स्वसंविदितमित्याचक्षाणो विपरीतप्रज्ञः। परि[२७४]च्छिद्यमान[२७५]त्वस्य ज्ञानजस्यार्थधर्म[२७६]स्यार्थज्ञानस्य[२७७] कुतस्त[२७८]तो विशेषो येन त[२७९]ल्लिङ्गं सिध्येत्? पुंसः[२८०] स्वसंविदितत्वेन ततो **विशेषे वा[२८१] तदन्यत[२८२]रेणार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेन[२८३]**? स्वसंविदितार्थप[२८४]रिच्छेदादेव स्वार्थपरिच्छित्ति-सिद्धेरप्रत्यक्षज्ञानस्याकिंचित्करत्वात्। पुंसो वा स्वसंविदितार्थत्वेनार्थपरिच्छेदसिद्धेः किमनेन[२८५]? तस्य करणत्वान्नाकिंचित्करत्वमात्मनः कर्तृत्वादर्थस्य च कर्मत्वात्करणत्वविरोधात्, कर[२८६]णमन्तरेण क्रियाया[२८७]ः संभवाभावादिति चेत्तर्हि पुंसः स्वसंवित्तौ किं करणम्? स्वात्मैवेति चेत्स एवार्थपरिच्छित्तावपि करणमस्तु, कर्तुरनन्यस्यापि कथंचि[२८८]दविभक्तकर्तृ[२८९]कस्य करणस्य सिद्धेर्विभक्तकर्तृ[२९०]वत्। एतेनार्थपरि[२९१]च्छेदस्या[२९२]र्थधर्मस्य स्वसंवित्तौ स्वात्मनः कर[२९३]णत्वे करणान्तरमकिंचित्करमुक्तम्। ततः पुरुषार्थपरिच्छेदयोरन्यतरेण स्वात्मनै[२९४]व करणेनार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेन करणेन परोक्षज्ञानेन? **यच्चेदमर्थज्ञानं[२९५] तच्चेदर्थस्वलक्षणं[२९६] स्याद्व्य[२९७]भिचारा[२९८]दहेतुः**, अप्रत्यक्षे ज्ञाने साध्ये तस्यार्थस्वरूपस्य तदभावेपि भावादन्यथा[२९९]र्थाभावप्रसङ्गात्।[३००] न च ज्ञानस्याभावे[३०१]ऽर्थस्याभावः। परिच्छिद्यमानत्वधर्मे[३०२]ण धर्मिणो विशिष्टस्यार्थस्याभाव एवेति चेन्न, तस्य ज्ञाना[३०३]सिद्धौ प्रतिपत्तिविरोधात्, विशेषणा[३०४]प्रतीतौ तद्विशिष्टत्वस्य क्व[३०५]चिदप्रतीतेरसिद्धत्वेन हेतुत्वायोगस्याभिधानात्।

६२५. एनेना[३०६]र्थमहं जानामीति प्रतीतेरात्मनोर्थज्ञानं स्वसंविदितमर्थप्राकट्यं ज्ञानधर्मोऽप्रत्यक्षायां लिङ्गबुद्धौ लिङ्गमित्येतदपास्तं, तस्य[३०७] बुद्धेर[३०८]प्रत्यक्षत्वे तथा प्रतीतेरयोगात्, इत्य[३०९]विशिष्ट एव ज्ञानानपेक्षस्वभावोर्थस्तद्धे[३१०]तुः[३११] स्यात्। स च व्यभिचा[३१२]र्येव। **ए[३१३]तेनेन्द्रिया[३१४]दिप्रत्य[३१५]क्षं प्रत्युक्तं**, तस्याप्यतीन्द्रियत्वेनाप्रत्यक्षज्ञानादविशेषेणासिद्धेः। विशेषेण वा तयोर[३१६]न्यतरेण भावेन्द्रियादि[३१७]ना स्वसंविदितेनार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेनाप्रत्यक्षज्ञानेन? तस्यैव ज्ञानत्वात्। व्यभिचारी चेन्द्रिया[३१८]दिहेतुर्ज्ञानाभावेपि तस्य[३१९] भावात्। कारण[३२०]स्येन्द्रियस्य मनसो वावश्यं कार्यवत्त्वा[३२१]नुपपत्तेः। **ततः[३२२] प्रत्यक्षेतरबुद्ध्यवभासस्य स्वसंवेदना[३२३]त्प्रत्यक्षविरुद्धं** ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वमनुमानविरुद्धं च। तथा हि—**सुखदुःखादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे हर्षविषादादयोपि न स्युरात्मान्तरवत्**।

६२६. **एतेन[३२४] प्रतिक्षणं निरंशसंवेदनं प्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, यथाप्रतिज्ञमनुभवाभा[३२५]वात्, यथा[३२६]नुभवमनभ्युपगमा[३२७]त्**, स्थिरस्यात्मनः सुखदुःखादिबुद्ध्यात्मकस्य प्रत्यक्षमनुभूयमानस्य

हर्षविषादादेरनुभवात्। भ्रान्तोयमनुभव[३२८] इति चेन्न[३२९], बाधकाभावात्। [३३०]**सर्वत्र**[३३१] **सर्वदा**[३३२] **भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशेषात्** परोक्षज्ञानवादानुषङ्गः सौगतस्य। **कथंचिद्[३३३]भ्रान्तावेकान्तहानेः** स्याद्वादानुप्रवेशः। न केवलं निर्विकल्पकेऽर्थदर्शने परोक्षज्ञानादविशेषः। किं तर्हि ? तद्व्यवस्थाहेतौ **विकल्पस्वसंवेदने[३३४]पि, विकल्पा[३३५]नतिवृत्तेः**, सर्वथा[३३६] विकल्पस्य भ्रान्तत्वे बहिरिव स्वरूपेपि भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशेषादभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति वचनात्। कथंचिद् भ्रान्तत्वेनेकान्तसिद्धेरनिवारणात्। **[३३७]तस्मात्स्वसंवेदनापे[३३८]क्षया न किंचिज्ज्ञानं सर्वथा प्रमाणम्। क्वचित्स्व[३३९]रूपे बहिरर्थापेक्षया तु प्रमाणतदाभासव्यवस्था, तत्संवादकविसंवादकत्वात् केशमशकादिज्ञानवत्।** नभसि केशादिज्ञानं हि बहिर्विसंवादकत्वात्प्रमाणाभासं स्वरूपे संवाद[३४०]कत्वात्प्रमाणम्। न चैवं[३४१] विरोधः प्रसज्यते, जीवस्यैकस्यावरणविगमविशेषात् सत्येतराभाससंवेदनपरिणामसिद्धेः कालिकादिविगमविशेषात्कनकादि[३४२]जात्येतरपरिणामवत्। न च जीवो नास्त्येवेति शक्यं वक्तुं, तद्ग्राहकप्रमाणस्य भावात्। तथा हि—

जीवशब्दः सबाह्यार्थः[३४३] संज्ञात्वाद्धेतुशब्द[३४४]वत्।
[३४५]मायादिभ्रान्तिसंज्ञा[३४६]श्च मायाद्यैः [३४७]स्वैः [३४८]प्रमोक्तिवत्।। ८४ ।।

६२७. [३४९]**स्वरूपव्यतिरिक्तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन जीवशब्दोर्थवान्। अतो न कृतः[३५०] प्रकृतः[३५१] स्यादिति [३५२]विक्लवोल्लापमात्रं, लोकरूढेः समाश्रयणात्।** का पुनरियं लोकरूढिः ? **यत्रायं व्यवहारो जीवो गतस्तिष्ठतीति वा।** न हि शरीरेऽयं व्यवहारो रूढ[३५३]स्तस्याचेतनत्वद्भो[३५४]गाधिष्ठानत्वेन रूढेः। नापीन्द्रियेषु, तेषामुपभोगसाधनत्वेन प्रसिद्धेः। न शब्दादिविषये, तस्य भोग्यत्वेन व्यवहारात्। किं तर्हि ? भोक्तर्येवात्मनि जीव इति रूढिः। शरीरादिकार्य[३५५]स्य चैतन्यस्य भोक्तृत्वमयुक्तं भोगक्रिया[३५६]वत्।

६२८. ननु सुखदुःखाद्यनुभवनं भोगक्रिया। सा ह्यत्रान्वयिनि गर्भादिमरणपर्यन्ते चैतन्ये सर्वचेतनाविशेषव्यापिनि भोक्तृत्वं, शरीरादिविलक्षणत्वात्तस्येति चेत्तदेवात्मद्रव्यमस्तु, जन्मनः पूर्वं मरणादूर्ध्वमपि तस्य सद्भावोपपत्तेरन्यथा पृथिव्यादिसमुदयशरीरेन्द्रियविषयेभ्यो वैलक्षण्यासंभवात्[३५७] न[३५८] तत्कार्यं [३५९]ततोऽत्यन्तविलक्षणमस्ति[३६०], रूपादिसमन्वया[३६१]त्। चैतन्यस्यापि सत्त्वादिसमन्व[३६२]यान्नात्यन्तविलक्षणत्वमिति[३६३] चेन्न[३६४], तत्त्वभेदेपि तस्य[३६५] भावात्। पृथिव्यादितत्त्वभेदानामेकविकारित्वसमन्व[३६६]याभावाद् भेद[३६७] एवं[३६८], केषांचित्[३६९] प्रागभावादिभेद[३७०]वदिति चेत्, किमिदानीं[३७१] चैतन्यभूतयोरेकविकारिसमन्वयोस्ति[३७२] ? येन तत्त्वान्तर[३७३]त्वेन भेदो न स्यात्[३७४]। तस्मादेकविकारिसमन्वयासत्त्वं वैलक्षण्यम्। तदेव च तत्त्वान्तरत्वमित्यनाद्यनन्ततां चैतन्यस्य साधयति। तादृश[३७५]चैतन्यविशिष्टे काये जीवव्यवहारश्चैतन्यकाययोरभेदोपचारादेव। क्षणिके चित्तसंताने जीवव्यवहार इत्यसारं तस्य निराकृत[३७६]त्वात्। ततः कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणेनोपयोगस्व[३७७]भावेन जीवेन जीवशब्दः सबाह्यार्थ इति साध्यनिर्देशे सिद्धसाधनाभावः।

६२९. संज्ञा[३७८]त्वादिति हेतुर्विरुद्धः, सबाह्यार्थत्वविरुद्धाभिप्रेतमात्र[३७९]सूचकत्वेन तस्य व्याप्तत्वादिति चेन्न, संज्ञाया[३८०] वक्त्रभिप्रायमात्रसूच[३८१]कत्वस्य प्रमाणबाधितत्वात्। तथाहि—**नात्र संज्ञाभिप्रेतमात्रं सूचयति, ततो[३८२]ऽर्थक्रियायां नियमायोगात्,** तदाभासवत्[३८३]। न च त[३८४]दयोगः संज्ञायाः, तयार्थं परिच्छिद्य

प्रवर्तमानस्यार्थक्रियानियमस्य दर्शनात्करणप्रतिपत्तिवत्[३८५], **करण[३८६]प्रतिपत्तीनां तदभावेऽनादरणीयत्वात्[३८७]।** ततः[३८८] संज्ञात्वं[३८९] जीवशब्दस्य सबाह्यार्थत्वं साधयति हेतुशब्दवत्। सर्वेण हि हेतुवादिना हेतुशब्दः सबाह्यार्थो[३९०]ऽभ्युपगम्यते, **साधनतदाभासयोरन्यथा विशेषासंभवात्,** वक्त्रभिप्रायमात्रसूचकत्वादबाह्यार्थत्वा[३९१]विशेषात्। तद्विशेषमिच्छता[३९२] **परम्पर[३९३]यापि परमार्थैकतान[३९४]त्वं वाचः प्रतिपत्तव्यम्। क्वचिद[३९५]व्यभिचारदर्शनादनाश्वासे चक्षुरादिबुद्धेरपि** कथमाश्वासः? **तदा[३९६]भासोपलब्धेस्तत्राप्यनाश्वासे कुतो धूमादेरग्न्यादिप्रतिपत्तिः? कार्यकारणभावस्य व्यभिचारदर्शनात्।** न चेदम[३९७]सिद्धं **काष्ठादिजन्मनोऽग्नेरिव मणिप्र[३९८]भृतेरपि भावात्।** सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति, **तद्विशेषपरीक्षायां[३९९]** सुविवेचितः शब्दोऽर्थं न व्यभिचरतीति प्रसिद्धेरितर**त्रापि[४००]** तद्वि[४०१]शेषपरीक्षास्तु, **विशेषाभावात्[४०२]। वक्तु[४०३]रभिसन्धि[४०४]वैचित्र्यादभिधानव्यभिचारोपलम्भे** तदितराध्य[४०५]क्षानुमानकारण**सामग्रीशक्तिवैचित्र्यं पश्यतां[४०६] कथमाश्वासः[४०७] स्यात्? तस्माद[४०८]यम[४०९]क्षलिङ्गसंज्ञा[४१०]दोषाविशेषेपि क्वचित्प्र[४११]त्यक्षे**नुमाने च **परितुष्य[४१२]न्नन्यतमप्रद्वेषेणेश्वरायते, परीक्षाक्लेशलेशासहनात्।**

६३०. ननु चाभावोपादान[४१३]त्वात्तदन्य[४१४]तमायां संज्ञायां प्रद्वेषेण परीक्षक एव, न पुनरीश्वरायते, तस्य[४१५] परीक्षाक्षमत्वादिति चेन्न[४१६], तस्याः[४१७] सर्वथा[४१८] भावोपादानत्वाभावेऽभावोपादानत्वासिद्धेः। सर्वत्र **भावोपादानसंभवे[४१९] हि[४२०] समाख्यानामितरोपा[४२१]दानप्रक्लृप्तिः।** [४२२]एतेनैतदपि प्रत्युक्तं यदुक्तं सौगतेन—

अनादिवासनोद्भूतविकल्प[४२३]परिनिष्ठितः।
शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभया[४२४]श्रितः' ।। ( ) इति।

तत्त्वतो[४२५] भावाश्रयत्वा[४२६]भावे वासनोद्भूतभावाश्रयत्वानुपपत्तेः सर्वत्रानुभवपूर्वकत्वाद्वासनायाः परम्परया वस्तु[४२७]प्रतिबन्धात्। पूर्वपूर्ववासनात एवोत्तरोत्तरवासनायाः समुद्भवादनादित्वादवस्त्वाश्रयत्वमेवेति चेन्न, शब्दवासनाया[४२८] अप्यनादित्वे परार्थानुमान[४२९]शब्दवासनायाः साधन[४३०]स्वलक्षणदर्शननिमित्तकत्वविरोधात्[४३१] त्रिरूपहेतुवचनस्य परम्परया धूमादिवद्वस्त्वाश्रय[४३२]त्वे हेतुशब्दवज्जीवशब्दस्य भावाश्रयत्वं युक्तम्। **भावश्चात्र[४३३] हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तः, प्रत्यात्मवेदनीयः, प्रतिशरीरं भेदात्मकोऽप्रत्याख्यानार्हः प्रतिक्षिपन्त[४३४]मात्मानं प्रतिबोधयतीति कृतं प्रयासेन।** तदनेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं प्रतिक्षिप्तं, पक्षस्य प्रत्यक्षादिभिरबाधितत्वात्। तत्र[४३५] निरतिशय[४३६]स्यास्वसंविदितस्य[४३७] सर्वशरीरेष्वभिन्न[४३८]स्यैकस्य प्रतिक्षणं भिन्नस्य[४३९] चात्मनः प्रतिभासाभावात्तस्य प्रत्याख्यानार्हत्वसाधनान्न तेन[४४०] जीवशब्दः सबाह्यार्थः।

६३१. ननु[४४१] च मायादिभ्रान्तिसंज्ञाभिरबाह्या[४४२]र्थाभिरनैकान्तिकं संज्ञात्वमिति चेन्न, तासामपि मायाद्यैः स्वैरर्थैः सबाह्यार्थत्वात् प्रमाणवचनवत्[४४३]। **न हि मायादिसमाख्या स्वार्थरहिता विशिष्ट[४४४]प्रतिपत्तिहेतुत्वात्, प्रमाणसमाख्यावत्** भ्रान्तिसमाख्यानामबाह्यार्थत्वे[४४५] ततो[४४६] भ्रान्तिप्रतिपत्तेरयोगात् प्रमाण[४४७]त्वप्रतिपत्ति[४४८]प्रसङ्गान्न विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वमसिद्धम्। प्रमाणशब्दस्य स्वा[४४९]र्थविशेषरहितत्वे[४५०] भ्रान्तिप्रतिपत्त्य[४५१]नुषङ्गाच्च[४५२] न तद[४५३]सिद्धं, यतो निदर्शनं साधनधर्मविकलं स्यात्।

६३२. एतेन खरविषाणादिशब्दानामपि स्वा[४५४]र्थरहितत्वमपास्तं, विशिष्टप्रतिप[४५५]त्तिहेतुत्वाविशेषादन्यथा[४५६] भावशब्दत्वप्रसङ्गात्। ततो न तैरपि व्यभिचारः[४५७]।

किञ्च,—

बुद्धिशब्दार्थ[४५८]संज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः ।
तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च[४५९] त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ।। ८५ ।।

६३३. येप्याहुः[४६०]—अर्थाभिधानप्रत्यया[४६१]स्तुल्यनामान इति जीवार्थस्य जीव इति संज्ञा, जीव इति शब्दस्य च, जीव इति बुद्धेश्चेति। तत्रा[४६२]र्थपदार्थक एव जीवशब्दः सबाह्यार्थः प्रसिद्धो, न बुद्धिशब्दप[४६३]दार्थकः। ततो[४६४]नेन हेतोर्व्यभिचारः, संज्ञात्वस्य सामा[४६५]न्येन हेतुवचनात्, इति; तेपि न[४६६] सम्यगुक्तयः, सर्वत्र बुद्धिशब्दार्थसंज्ञानां तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तबुद्ध्यादिपदार्थवाचकत्वात्। यस्माद्धि शब्दादुच्चारितादव्यभिचारेण यत्र बोधः प्रजायते स एव तस्यार्थः स्यात्, अन्यथा शब्द[४६७]व्यवहारविलोपात्। यथा[४६८] च जीवशब्दादर्थपदार्थकाज्जीवो न हन्तव्य इत्यत्र[४६९] जीवार्थस्य प्रतिबिम्बको बोधः प्रादुर्भवति, तथा बुद्धिपदार्थकाज्जीव इति बुध्यत इत्या[४७०]देर्बुद्ध्यर्थस्य[४७१] प्रतिबिम्बको, जीव इत्याहेति शब्दपदार्थका[४७२]च्छब्दस्य प्रतिबिम्बकः[४७३] स्यात्। ततस्त्र[४७४]योर्थास्तिसृणां संज्ञानामवगम्यन्ते, तत्प्रतिबिम्बकबोधानां त्रयाणामेव भावात्। तदने[४७५]नाचार्यो[४७६] **हेतुव्यभिचाराशङ्कां प्रत्यस्तमयति,**[४७७] बुद्ध्यादिसंज्ञानां **तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तवस्तुसंबन्धदर्शनात् तद्बुद्धीनां च तिसृणां तन्निर्भा[४७८]सनात्तद्विषयतोपपत्तेः[४७९]।** सामान्यतो जीवशब्दस्य धर्मित्वात् स्व[४८०]व्यतिरिक्तार्थस्य च सबाह्यार्थत्वस्य साध्यत्वाद् व्यभिचारविषयस्या[४८१]सत्त्वादव्यभिचारी हेतुः।

६४३. ननु च विज्ञान[४८२]वादिन प्रति संज्ञात्वादित्यसिद्धो हेतुः, संज्ञाया विज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्वात्। दृष्टान्तश्च[४८३] साधनविकलो, हेतुशब्दस्य तदाभासवेदनादन्यस्या[४८४]विद्यमानत्वात्। संज्ञा[४८५]भासज्ञानत्वस्य हेतुत्वे शब्दाभा[४८६]सस्वप्रज्ञानेन व्यभि[४८७]चारो हेतुः, इति कश्चित्[४८८]; तं प्रत्यभिधीयते—

वक्तृ[४८९]श्रोतृप्रमातृणां बोधवाक्यप्रमाः पृथक्[४९०] ।
भ्रा[४९१]न्तावेव प्रमाभ्रान्तौ बाह्यार्थौ तादृशेतरौ ।। ८६ ।।

६३५. वक्तु[४९२]रभिधेयबोधाभावे कुतो वाक्यं प्रवर्तेत ? तस्या[४९३]भिधेयबोधनिबन्धनत्वात्। वाक्याभावे च श्रोतुरभिधेयज्ञानसंभवस्तस्य[४९४] तन्नि[४९५]मित्तकत्वात्। प्रमातुः प्रमित्यभावे च शब्दार्थयोः प्रमेययोरव्यवस्थानादि[४९६]ष्टतत्त्वानुपपत्तेर्वक्त्रादित्रयस्य बोधादित्रयं पृथग्भूतमुपेयम्। तथा सति न हेतोरसिद्धतादिदोषो, दृष्टा[४९७]न्तस्य वा साध्यावैकल्यं प्रसज्यते।

६३६. स्यान्मतं—'**बहिरर्थाभावाद्वक्त्रादित्रयं न बुद्धेः पृथग्भूतं,** वक्त्राद्या[४९८]भासाया बुद्धेरेव वक्त्रादित्वव्यवहारात्, वाक्यस्यापि बोधव्यतिरेकेणासत्त्वात्, प्रमाया बोधात्मकत्वात्। **ततो[४९९]ऽसिद्धतादिदोषः साधनस्य हेतुदृष्टान्तलक्षणस्य[५००]' इति, तन्न[५०१], रूपादेर्ग्राहकस्य[५०२] तद्व्यतिरिक्तविज्ञानसंतानकलापस्य च स्वांशमात्रा[५०३]वलम्बिनः प्रमाणस्य विभ्रमकल्पनायां साकल्येना[५०४]सिद्धेरन्तर्ज्ञेया[५०५]भ्युपगमविरोधात्।** न हि रूपादेरभिधेयस्य ग्राहकस्य वक्तुः श्रोतुश्च[५०६] विभ्रमकल्पनायां व्यतिरिक्तविज्ञानसंतानकलापः स्वांशमात्रावलम्बी सिध्यति परस्परमसंचारा[५०७]त्, येनाभिधानाभिधेयज्ञानभेदः स्यात्। तस्या[५०८]पि विभ्रमकल्पनायां न प्रमाण-सिद्धिर्भ्रा[५०९]न्तस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। प्रमाणस्यापि विभ्रमकल्पनायां कथमन्तर्ज्ञे[५१०]यमेव तत्त्वमित्यभ्युपगमो

न विरुध्यते ? प्रमाणमन्तरेण तदभ्युपगमे सर्वस्य स्वेष्टाभ्युपगमप्रसङ्गात्। प्रमाणभ्रान्तौ बाह्यार्थयोस्तादृशान्यादृशयोः[५११][५१२] प्रमेययोरन्तर्ज्ञेययोरिष्टानिष्टयोर्विवेचनस्यापि[५१३] भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्।[५१४] **तौ हि ग्राहकापेक्षया**[५१५] **बाह्यार्थौ भ्रान्तावेव** ग्राहकप्रमाणभ्रान्तेः, इति **कुतस्तत्र हेयोपादेयविवेकः** स्यादन्तर्ज्ञेयैकान्ते? यतस्तदभ्युपगमो[५१६] न विरुद्धो भवेत्। यदि पुनः प्रमाणमभ्रान्तमिष्यते तदा बाह्यार्थोऽभ्युपगन्तव्यः, तदभावे प्रमाणतदाभासव्यवस्थित्ययोगात्। तथाहि—

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं[५१७] बाह्यार्थे सति नासति।
सत्यानृतव्यवस्थैवं[५१८] युज्यतेर्थाप्त्यनाप्तिषु ।। ८७ ।।

६३७. बुद्धेः स्वप्रतिपत्त्यर्थत्वाच्छब्दस्य[५१९] परप्रतिपादनार्थत्वात्[५२०] **स्वपरप्रतिपत्त्यर्थसाधनं बुद्धिशब्दात्मकं स्वसंवित्त्यैव[५२१] परप्रतिपादनायोगात्[५२२]** तस्याः पराप्रत्यक्षत्वात्। **तस्य[५२३] च सति बहिरर्थे[५२४] प्रमाणत्वमर्थप्राप्तितः सिध्येत्, असति प्रमाणाभासत्वमर्थानाप्तितः। इति[५२५]** सत्यानृतव्यवस्था बुद्धिशब्दयोर्युज्यते,[५२६] स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मनोस्तथा[५२७] प्रतीतेः। **तदेव[५२८] परमार्थतः सन् बहिरर्थः, साधनदूषणप्रयोगात्।** इत्येकलक्षणो[५२९] हेतुः प्रवर्तते। न चात्रैकलक्षणसिद्धं,[५३०] सत्येव[५३१] बहिरर्थे परमार्थतो हेतोरुपपत्तेस्तथोपपन्नत्वस्य[५३२] प्रधानलक्षणस्य सद्भावात्। **अन्यथा[५३३] स्वप्नेतराविशेषात्किं केन[५३४] साधितं दूषितं च?** इति कुतः संतानान्तरमन्यद्वा स्वसन्तानक्षणक्षयवेद्याद्याकारशून्यत्वं[५३५] साधयेत्? बहिरर्थस्य[५३६] वास्तवस्य ग्राह्यलक्षणस्याभावे हि साधनदूषणप्रयोगस्य हेतोः संभवे स्वप्नजाग्रदवस्थाभाविने तत्प्रयोगयोर्विशेषासिद्धिः। ततः किंचिज्ज्ञप्तिमात्रं केन सहोपलम्भनियमादिनानुमानेन[५३७] स्वार्थेन साधितं स्यात्, परार्थेन वा वचनात्मना परं प्रति, किं वा[५३८] स्वसंविदद्वैतं स्वतः प्रत्यक्षत एव साधितं स्यात्[५३९]? तत्साधनस्य स्वप्नवन्निर्विषयत्वात्।[५४०] किं वा बहिरर्थजातं केन,[५४१] जडस्य प्रतिभासायोगात्, इत्यादिना स्वार्थेन परार्थेन वा दूषणेन दूषितं स्यात्? इति संतानान्तरमपि न केनचित्साधनेन साधितं स्यात्। तदनभ्युपगमे[५४२] न केनचिद्दूषणेन दूषितं स्यत्, तथा[५४३] स्वसंतानक्षणक्षयादिकं[५४४] च न केनचित् साधितं स्यात्। तदनभ्युपगमेपि न केनचिद्दूषितम्। इति न क्वचिद्[५४५] व्यवतिष्ठते।[५४६]

६३८. **तैमिरिकद्वयाद्विचन्द्रदर्शनवद् भ्रान्तः सर्वो[५४७] व्यवहार इत्यत्रापि[५४८] तत्त्वज्ञानं शरणं, तत[५४९] एव सर्वविभ्रमव्यवस्थितेः। इति[५५०]** व्याहतमेतत् तत्त्वज्ञानात् सर्वस्य भ्रान्तत्वसाधनम्, **अन्यथा[५५१] बहिरर्थवदभिसंहितस्यापि[५५२]** सर्वविभ्रमस्य **निराकरणापत्तेः,** भ्रान्तादेव ज्ञानात् तस्याप्यसिद्धेः।[५५३] **तथा परमाण्वादिदूषणेपि[५५४] प्रतिपत्तव्यं,** तत्त्वज्ञानं शरणमतत्त्वज्ञानादभिसंहितस्यापि परमाण्वाद्यसत्त्वस्य निराकरणापत्तेः। **अन्यथा[५५५] तत्कृतमकृतं[५५६] स्यादिति सर्वत्र योज्यं,** सर्वस्य स्वेष्टस्य स्वयमनिष्टस्य च तत्त्वज्ञानादेव साधनदूषणोपपत्तेः।

६३९. एतेन[५५७] साधनदूषणप्रयोगादिति साधनमसिद्धमितीच्छन्[५५८] प्रतिक्षिप्तस्तदसिद्धत्वस्य[५५९] स्वयमिष्टस्य तत्सिद्धत्वस्य चानिष्टस्य साधनदूषणप्रयोगादेव व्यवस्थापनादन्यथा तदव्यवस्थितेर्यत्किंचनवादित्वप्रसङ्गात्।[५६०] **तदिमे विज्ञानसंतानाः सन्ति न सन्तीति तत्त्वाऽप्रतिपत्तेर्दृष्टापह्नुतिरनिबन्धनैव,[५६१][५६२] दृश्येनात्मना[५६३] कथंचित्स्कन्धाकारेणादृश्यानामपि परमाणूनां बहिरपि समवस्थाने विप्रतिषेधाभावादन्तर्ज्ञेयवत्।** अदृश्या[५६४]

एव हि ज्ञानपरमाणवः संविन्मात्राद् दृश्यादवस्थाप्यन्ते नान्यथेति[५६५] युक्तमुदाहरणं[५६६], बहिःपरमाणूनां व्यवस्थापने **तत्र[५६७] पूर्वादिदिग्भागभेदेन जडरूपाणां षडंशादिकल्पनया वृत्तिविकल्पेन[५६८] वा परपक्षोपालम्भे[५६९] स्वपक्षाक्षेपात्[५७०],** तस्योपालम्भाभासत्वसिद्धेः[५७१][५७२]। समानं हि दूषणं बहिःपरमाणुषु, संवित्परमाणुषु[५७३] च। देशतः सबन्धे[५७४] षडंशत्वं दिग्भागभेदात्[५७५]। सर्वात्मना[५७६], प्रचयस्यैकपरमाणुमात्रत्वम्[५७७][५७८]। प्रचयस्य परमाणुभ्यो भेदे प्रत्येकं परिसमाप्त्यैकदेशेन वा वृत्तौ प्रचयबहुत्वं सांशत्वापादनमनवस्था[५७९] च। न च परमाणुभिः संसृष्टैर्व्यवहितैर्वा[५८०] प्रचयस्योपकारे संसर्गासंभवो[५८१], व्यवधानेन[५८२] च व्यवधीयमानाभ्यां[५८३] व्यवधायकस्य सजातीयस्य · विजातीयस्य वा व्यवधाने प्रकृतपर्यनुयोगोनवस्थाप्रसञ्जनं चेति स्वपक्षघाति[५८४] स्यात्, सूक्ष्मस्थूलात्मनि[५८५] बहिर्जात्यन्तरे तस्यानवकाशाच्च[५८६][५८७], हर्षविषादाद्यनेकाकारात्मवत्[५८८]। तत्रापि[५८९] विरोधो दूषणमिति चेत्, सर्वथा[५९०] कथंचिद्वा ? न तावदाद्यः पक्षः, सर्वथा क्वचिद्विरोधासिद्धेः शीतोष्णस्पर्शयोरपि सत्त्वाद्यात्मनाऽविरोधात्, स्वेष्टेपि तत्त्वे[५९१]। **कथंचिद्विरोधपरिहारस्य[५९२] पुनरायासतामप्यशक्तेर्न द्वितीयः पक्षः संभवति। तत्साक्षात्परंपरया वा, विमत्यधिकरणभावापन्नं[५९३] ज्ञानं** विप्लवज्ञानग्राह्यग्राहकाकारत्वेन[५९५] **स्वरूपव्यतिरिक्तार्थालम्बनं[५९४], ग्राह्यग्राहकाकारत्वात्, संतानान्तरसिद्धिवत्।** **न हि व्यापारव्याहारनिर्भासो[५९७] विप्लुतो नास्ति[५९८],** व्यभिचार इति[५९६] चेन्न, संतानान्तरसाधनस्यापि[५९६] व्यभिचारप्रसङ्गात्। येनाव्यभिचारी हेतुः स्यात्।

तदन्यत्रापि[५९९] वासनाभेदो गम्येत न संतानान्तरम्। यथैव हि जाग्रद्दशायां बहिरर्थवासनाया दृढतमत्वात्तदाकारस्य ज्ञानस्य सत्यत्वाभिमानः, स्वप्नादिदशायां तु तद्वासनाया दृढत्वाभावात् तद्वेदनस्यासत्यत्वाभिमानो लोकस्य, न परमार्थतो बहिरर्थः सिध्यतीति वासनाभेदोभ्युपगम्यते[६००], तथाऽनुप्लवदशायां[६०१] सन्तानान्तरज्ञानस्य[६०२] वासनाया दृढतमत्वात्सत्यताभिमानोऽन्यत्र[६०३] तददार्ढ्यादसत्यताव्यवहार इति वासनाभेदो गम्यतां, न तु संतानान्तरम्। तदनभ्युपगमे स्वसंतानक्षणक्षयादिसिद्धिः कथमभ्युमगम्यते ? ततः सुदूरमपि गत्वा किंचिद्वेदनं[६०४] स्वेष्टतत्त्वावलम्बनमेषितव्यम्[६०५]। तदेव वेद्यवेदकाकारं बहिरर्थवेदनस्य स्वरूपव्यतिरिक्तालम्बनत्वं साधयति।

६४०. ततो बहिरर्थस्य सिद्धेः सिद्धं वक्त्रादित्रयं[६०६], तस्य च बोधादित्रयम् इति न जीवशब्दस्य सबाह्यार्थत्वसाधने संज्ञात्वस्य साधनस्यासिद्धतानैकान्तिकता वा दृष्टान्तस्य[६०७] वा साधनधर्मादिवैधुर्य[६०८], यतो न जीवसिद्धिः स्यात्[६०९]। तत्सिद्धौ च तस्यार्थं[६१०] परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्य संवादविसंवादसिद्धिः सिध्यत्वेव। स्यात् सर्वमभ्रान्तमेव ज्ञानं भावप्रमेये[६११] संवादापेक्षणात्[६१२]। स्याद् भ्रान्तं बहिरर्थे विसंवादापेक्षणात्। स्यादुभयं, क्रमार्पिततद्द्वयात्। स्यादवक्तव्यं सहार्पिततद्द्वयात्। स्यादभ्रान्तावक्तव्यं संवादसहार्पिततद्द्वयात्। स्यादभ्रान्तावक्तव्यं विसंवादसहार्पितं तद्द्वयात्। स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमार्पिततद्द्वयात्। इति पूर्ववत् सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजयितव्या, तथैवातिदेश[६१३]सामर्थ्यात्[६१४] तद्विचारस्य[६१५] सिद्धेः प्रमाणनयादेशादपि प्रतिपत्तव्या।

ज्ञानैकान्तादिपक्षे गगनफलमिव ज्ञापकोपायतत्त्वं
संभाव्यं नैव मानात्[६१६] कथमपि निपुणं भावयद्भिर्महद्भिः।
स्याद्वादे तत्प्रसिद्धं[६१७] विविधनयबलात्तत्त्वतः · शुद्धबुद्धे-[६१८]
रित्याज्ञातं प्रपञ्चाद्विचरतु सुचिरं स्वामिनः सद्वचस्सु ।। १ ।।

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ सप्तमः[६१९] परिच्छेदः।

सप्तमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. अत्रैव मूलग्रन्थे श्रीस्वामिकृते। २. स्वशक्तितः। ३. ननु च विज्ञानाद्वैतस्यैव वास्तवत्वात् तस्यैव व्यवस्था स्यात्, न तूपायोपेयत्त्वयोरित्याशङ्क्याह। ४. बुद्धिः, अनुमानम्। वाक्यम्, आगमः। ५. मृषा यतः। ६. तत्, प्रमाणाभासम्। ७. शिष्यस्य बुद्धिरुपाध्यायहेतुवादनिबन्धना च उपाध्यायहेतुवादानिबन्धना च। स्वशिष्यं प्रति वाक्यमागमः, उपाध्यायहेतुवादः स आगमः। तन्निबन्धनं यस्येति हेतुवादाहेतुवादनिबन्धनम्। बसोत्र। ८. आगमः। ९. बुद्धिवाक्यम्। १०. तस्य, प्रमाणाभासस्य। ११. (सौगतः)। १२. कल्पनया। १३. जानाति। १४. आह सौगतः। तस्मादर्थाज्ज्ञानस्य जन्म। सौत्रान्तिकापेक्षयेदं वचनम्। उपलक्षणात्ताद्रूप्यतदध्यवसायौ ग्राह्यौ। अत्रैव टिप्पण्यन्तरं 'योगापेक्षयेदं वचनम्, कार्यं निमित्तकारणत्वमित्यभिप्रायः' इति। तृतीया टिप्पणी 'अर्थज्ञानयोः कार्यकारणभाव इति वचनं संख्यापेक्षया'। चतुर्थी टिप्पणी तज्जन्म कार्यप्रभवाद्येव वेद्यवेदकलक्षणम्। १५. आदिशब्देन योग्यता ग्राह्येति जैनापेक्षयेदं वचनम्। १६. वेद्यादिभागरूपतया। १७. विज्ञानाद्वैतवादिना। १८. (जैन आह)। १९. तस्मादर्थाज्जन्म। २०. अर्थो वेद्यः, अर्थग्राहकं ज्ञानं वेदकम्। ताद्रूप्यं यथा, ज्ञानगतो नीलाकारो वेद्यो, नीलाकारं ज्ञानं वेदकम्। तदध्यवसाये अध्यवसेयं वेद्यं, तदध्यवसायो वेदकः। २१. (तज्जन्मताद्रूप्यादि)। २२. न हि प्रमाणाभावे इत्याद्यत्रापि संबन्धनीयम्। २३. उत्तरानन्तरज्ञानेन तदुत्पत्तिताद्रूप्यद्वयं व्यभिचारि। २४. त्रितयं व्यभिचारि। २५. वेद्यवेदकम्। २६. न हि प्रमाणाभावे विज्ञानाद्वैतवादी प्रतिदर्शयेदिति संबन्धः। २७. ज्ञानस्य निमित्तकारणत्वमर्थे वर्तते। २८. (वेद्यवेदकलक्षणम्)। २९. चक्षुषानैकान्तिकं, यतश्चक्षुर्निमितकारणकं ज्ञानं कार्यम्। ३०. प्रमाणाभावे इति योज्यम्। ३१. अथवाग्रेः कार्यस्यारणिकाष्ठं कारणमित्यादि कार्यकारणत्वसंज्ञं प्रभवम् (वेद्यवेदकलक्षणम्)। ३२. प्रभवापेक्षया सांख्यान्प्रति योग्यतापेक्षया च जैनान्प्रति। ३३. वेद्यवेदकलक्षणतया।

३४. ज्ञानाद्वैतवादिनः स्वकीयज्ञानात्सर्वसंविदां क्षणिकत्वादिकं न सिध्यति, परग्राहकस्य ग्राह्यग्राहकभावघटनपूर्वकं भ्रान्तत्वाभ्युपगमादिति भावः। ३५. (यथा वेदान्त्याद्यभ्युपगमेन (नित्यत्वादिना)। ३६. संविदाम्। ३७. किं च, तथा क्षणिकत्वादिप्रकारेण। ३८. संविदां स्वरूपसंवेदनेपि। ३९. निर्विकल्पकत्वात्संविदाम्। ४०. प्रमाणान्तरं, विकल्पज्ञानम्। ४१. अभ्यासवशात्तथोपलम्भकत्वं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। ४२. क्षणिकरूपवस्त्वनुपलम्भकत्वादिति विशेषः। ४३. प्रतिभासन्ते। ४४. परैर्बौद्धैः। ४५. अक्षणिकत्वादिप्रकारेण। ४६. अनुमानतः। ४७. लिङ्गलिङ्गिनोर्व्याप्तिज्ञानस्य। ४८. सामस्त्येन। ४९. सर्वं क्षणिकं सत्त्वादिति व्याप्तिप्रतिपत्तिः। ५०. निर्विकल्पकत्वात्। ५१. क्षणिकत्वसिद्धिरिति शेषः। ५२. स त्वमेवासि निर्दोष इत्यादिकारिकाव्याख्यानचरमभागे। ५३. दूषणान्तरमिदम्। वासनानिमित्तकः सामान्याकारो मिथ्याविकल्पः स्वांशः (अहमिति स्वांशनिश्चयः)। स एव तन्मात्रं, तदवलम्बिना। ५४. प्रकृतः क्षणिकत्वादिः। ५५. बहिरर्थोपि क्षणिक इत्यर्थः। ५६. योगाचारेण भवता वेद्यवेदकलक्षणमनैकान्तिकमादर्श्य यद्विघटितं क्षणिकत्वादिव्यवस्थापत्रं सौत्रान्तिकाद्यभिमतं तत्तेषामिदानीं व्यवस्थितं भवतीत्येतदत्राकूतम्। आदिनाऽक्षणिकत्वादिव्यवस्थापनं सौत्रान्तिकाद्यभिमतं तत्तेषामिदानीं व्यवस्थितं भवतीत्येतदत्राकूतम्। आदिनाऽक्षणिकत्वादिग्रहश्च। ५७. आदिशब्देन यौगसांख्यजैना गृह्यन्ते। ५८. उभयत्र योगाचारसौत्रान्तिकयोः। ५९. तज्जन्मादिना योग्यतया वा। ६०. संवेदनेषु। ६१. संवेदनाद्वैतं यदि केनापि प्रकारेण वेद्यं भवति तदा क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासंतानत्वं च कृतं स्यात्। ६२. आदिशब्देनानन्यवेद्यत्वनानासंतानत्वग्रहणम्। ६३. वेद्यलक्षणाभावप्रकारेण प्रकृतं कृतं न स्यादिति संबन्धः। ६४. दोषरहितम्। ६५. ज्ञानवादिनाम्। ६६. वेद्यलक्षणस्य। ६७. संवित्क्षणिकत्वादौ साध्येऽनुमानं यथा, संवित् क्षणिका, सत्त्वादिति। ६८. तस्य, वेद्यलक्षणस्य। ६९. (अद्वैतिना)। ७०. नियामकाभावात्। ७१. स्वपरपक्षसाधनदूषणे प्रमाणमन्तरेण न घटेते यतः। ७२. प्रत्यक्षमनुमानं वा। ७३. स्वपरपक्षभूषणदूषणतया। ७४. प्रमाणान्तरात्। ७५. संविद्बहिरर्थयोः।

७६. ग्राह्यग्राहकाकाराभ्यां भ्रान्तत्वप्रकृतानुमानाभ्याम्। ७७. अभ्रान्तत्वपक्षे सर्वं भ्रान्तं ग्राह्यग्राहकाकारत्वादित्यस्य हेतोः। ७८. प्रकृतानुमानात्। ७९. ननु च साध्यसाधनग्राहिकाया विज्ञप्तेरसंभवो भवतु, विज्ञप्तिमात्रव्यतिरेकेण तद्विषयभूतसाध्यसाधनयोरभावादिति कश्चित्। तं प्रत्याहुः। ८०. प्रतिविहितमित्यत्र साध्ये हेत्वन्तरमेतत्। ८१.

८२. साध्यसाधनविज्ञप्तिसंभवे। ८३. सर्वस्य, प्रत्यक्षादनुमानाद्वा साध्यसाधनव्याप्तिविज्ञप्तेरसंभवो यथेत्यर्थः। ८४. ज्ञानमात्रतैव। ८५. किं तर्हीत्याह। ८६. चकाराद्दृष्टान्तोपि। ८७. तस्य, नीलस्य। ८८. अभ्युपगम्य। ८९. तस्य, साध्यधर्मादेः। ९०. तद्वचनं (नीलवचनं) च तद्वचनज्ञानं (नीलसंवेदनं) च तयोः। ९१. अभेदभेदरूपयोः। ९२. अन्तर्बाह्यतत्वस्य। ९३. स्ववचनविरोधप्रकारेण। ९४. विज्ञानाद्वैतवादिना। ९५. ज्ञानं स्वस्य आत्मनो वचनाभावम्। ९६. जैनादिमताङ्गीकारेण। ९७. साध्यधर्मादीनां दूषणोत्पादनस्य। ९८. विज्ञानवादिनः। ९९. विहायापरस्याभेदस्यानभ्युपगमात्। १००. जैनादेः। १०१. व्याप्यः, सहोपलम्भः। १०२. व्यापक ऐक्यम्। १०३. अविनाभावी। १०४. अनुमाने। १०५. प्रतिज्ञाहेतुदोषः स्यादित्यादेर्दोषस्य। १०६. तद्दोषासिद्धेः। तस्य, जैनादेर्योऽभ्युपगमस्तस्यासिद्धेः।

१०७. यथा विज्ञप्तिमात्रं विहाय कश्चिद्गुणो नास्ति विज्ञानमात्रवादिनः। १०८. स्वस्य, जैनस्य। १०९. तस्य, प्रतिज्ञाहेतुदोषस्य। ११०. (ज्ञानाद्वैतिनः)। १११. जैनैर्दोषसंभवस्य व्यवस्थापनात्। ११२. भो जैन। ११३. यथाप्रतीति वस्तुनो व्यवस्थानादेव। ११४. मम। ११५. भवतां जैनानां यथा गुणदोषौ स्तस्तथास्माकं सौगतानां विज्ञप्तिमात्रं स्यात्। ११६. वादिनः। ११७. ततश्चास्माकं सौगतानां न प्रतिज्ञादोषः संभवतीति भावः। ११८. जैनानाम्। (सिद्ध्यत्विति पूर्वेण संबन्धः)। ११९. साध्यमेवंविधलक्षणकं, साधनं त्वेवंविधलक्षणमिति निर्णीतम्। १२०. साध्ये स्थाणुपुरुषादिरूपे। १२१. सर्वत्र साध्यसाधनादौ संदेहे सति। १२२. तस्य, साध्यसाधनादेः। १२३. विचारान्तरेण निर्णीततत्वप्रकारेण। १२४. वीतरागादेः। १२५. अनवस्था नास्ति यतः। १२६. नीलतद्धियोरभेद इति प्रतिज्ञा। १२७. सहोपलम्भनियमादिति हेतुः। १२८. पृथगुपलम्भाभावभेदाभावयोः। १२९. खरशृङ्गयोर्यथा संबन्धाभावः। १३०. ननु चाभावादभावसाधनं नासिद्धमगन्यभावाद्धूमाभावसाधनवत्, व्यापकाभावद्व्याप्याभावसाधनवद्वा इत्याशङ्कायामाह। १३१. कार्यकारणयोर्व्याप्यव्यापकयोश्च पूर्वं सद्भावासिद्धौ। १३२. सहोपलम्भनियम इत्यर्थः। १३३. पृथगुपलम्भाभावरूपः। १३४. भेदभावसिद्धिनिराकरणपरेण ग्रन्थेन। १३५. अभेदपृथगनुपलम्भयोः। १३६. अविशेषः कुतः ? तादात्म्यतदुत्पत्त्योरर्थस्वभावनियमात्। १३७. सहक्रमसंबन्धयोः। १३८. सा चासावसहानुपलम्भरूपा अन्यव्यावृत्तिश्च। तस्याः सहोपलम्भनियमात्सकाशाद्व्यावृत्तिश्चासहानुपलम्भः। तदन्यव्यावृत्तिरिति असहानुपलम्भ एव। १३९. तुच्छाभावरूपत्वात्। १४०. साध्येन। १४१. साधनस्याभावरूपत्वे दूषणमुक्त्वा इदानीं साध्यस्याभावरूपत्वे दूषणमाह। १४२. नीलतद्धियोर्भेदाभावमात्रे। १४३. पृथगनुपलम्भलक्षणाद्धेतोर्विज्ञप्तिमात्रस्यासाधनात्। १४४. सा, विज्ञप्तिः। १४५. अनुमानं ग्राहकं विज्ञप्तिमात्रं ग्राह्यम्। १४६. विज्ञप्तिवत्। १४७. विज्ञप्तिमात्रबहिरर्थयोर्ग्राह्यग्राहकभावसिद्धेः। १४८. स चासावेकोपलम्भश्च। १४९. अभेदात्। १५०. (एकत्वमेव)। १५१. सहोपलम्भनियमादित्यस्य हेतोरर्थस्य साध्यसमत्वात्।

१५२. पूर्वोक्तप्रकारेण। १५३. नीलतद्धियोरैक्यमेव एकज्ञानग्राह्यत्वात्। १५४. द्रव्यं च पर्यायाश्च परमाणवश्चेति द्वन्द्वः। १५५. पिण्डीकृताः। १५६. संचितमालम्बनं विषयो येषां पञ्चविज्ञानकायानाम्। कायः स्वरूपम्। १५७. विज्ञानद्वैतवादिनः। १५८. विज्ञानरूपाः परमाणवो विज्ञानपरमाणवः। १५९. एकज्ञानग्राह्यत्वलक्षणम्। १६०. नीलस्य ज्ञानादन्यत्वाभावादनन्यवेद्यत्वम्। सहोलम्भनियमादित्यस्यैवार्थकथनमेतत्। १६१. जैनानाम्। १६२. इन्द्रियपञ्चकापेक्षया। १६३. चित्रज्ञानकाराणामेकलोलीभावेनोपलम्भो शक्यविवेचनत्वं यथा। १६४. नीलतद्धियोः। १६५. नानापुरुषज्ञानानाम्। १६६. ननु कथमेकक्षणवर्त्तिसंवित्तीनामेकदैवोत्पत्तिर्न त्वेकदोपलम्भः ? तत एकदैवोपलम्भनियमाद् व्यभिचारित्वं स्यादित्याशङ्कायामाह। १६७. नानापुरुषैः। १६८. तथा, एकदात्वेन। १६९. (एकक्षणवर्त्तिसंवित्तीनामेकदात्वेनोत्पत्तिरेव तासामुपलम्भत्वम्। १७०. अनुभूतानाम्। १७१. यतः स्वलक्षणे साध्यमभेदः, साधनं तथोपलम्भो वर्तते, न तु द्विचन्द्रदर्शने। १७२. वस्तुरूपे स्वलक्षणे वा। १७३. निश्चयात्। १७४. द्विचन्द्ररूपायाम्। १७५. तयोः, तथोपलम्भाभेदयोः। १७६. द्विचन्द्ररूपे। १७७. सहानुपलम्भाभावभेदाभावरूपयोः साध्यसाधनयोः। (अभावभावयोरिति खपाठः)। १७८. विज्ञानान्येव

स्वलक्षणानि। तेषां क्षणक्षयादेः १७९. अनुमाने। १८०. अनुमानज्ञाने परिच्छित्तेः। १८१. अर्थस्वभावानवबोधायान्यापोह-(अर्थस्वभावानवबोधाद् व्यावृत्तः अर्थस्वभावाभेदः) मात्रादर्थस्वभावावबोधो भविष्यतीत्युक्ते आह। १८२. तच्च तदन्यापोहमात्रं च। १८३. नीलतद्धियोः। १८४. एकार्थे नर्तकीक्षणे संलग्नदृष्टयः पुरुषाः। १८५. एकार्थसंलग्नपुरुषबुद्धिम्। १८६. परचित्तार्थम्। १८७. नियमेन परचित्तार्थं न जानन्ति परचित्तविदो वा पुरुषाः। दृश्यते चायं व्यवहारस्तुष्टो राजा न ज्ञायते कुत्रेति। इत्यसिद्धत्वं हेतोः। १८८. व्याप्तेः। १८९. ज्ञानार्थयोः स्वस्वकारणप्रभवत्वादित्यर्थः। भिन्नकारणप्रभवत्वाच्च भेद एवेत्यर्थः।

१९०. संदिग्धो व्यतिरेको विपक्षाद् व्यावृत्तिर्यस्य सः। १९१. सहोपलम्भनियमरूपः। १९२. विज्ञानाद्वैतसाधकेऽनुमाने प्रतिज्ञादृष्टान्तादि दोषोयस्मात्। १९३. जानानः। १९४. निराकरोति। १९५. बहिरर्थे। १९६. सौगतस्य। १९७. क्रमेण विज्ञानमात्रं बहिरर्थं च। १९८. विज्ञानाद्वैतवादिनः। १९९. सम्यगस्तीत्यर्थः। २००. सांशस्य कथंचित्क्षणिकस्यैव संवेदनस्य प्रतीतिर्न तु निरंशस्य सर्वथा संवेदनं संवेदनानुरोधेन प्रतीतिमनुसृत्य निरीक्ष्यमाणे सति त्वदीयसंविदद्वैतमिथ्यात्वस्यासत्त्वस्य सिद्धिस्तथा। २०१. त्वदीयसंवेदनस्य क्षणिकत्वात्। २०२. बहिः (ज्ञानादन्यत्) अङ्गं शरीरं यस्य स बहिरङ्गः। स चासावर्थस्तस्य भावस्तत्ता। सैवैको साधारणः स्वप्रेतरयोन्तो धर्मः। तस्मिन्नङ्गीक्रियमाणे। २०३. मिथ्याज्ञानस्य संशयादेः। २०४. बाह्यार्थः सत्य एवेति। २०५. न केवलं सौगतानामपि तु जैनादीनामपि। २०६. अयमग्निरिति साक्षादग्निप्रत्यक्षज्ञानम्। २०७. इतरवेदनमनुमानं परम्परयार्थसंबद्धं, पर्वतोयमग्निमान्धूमवत्त्वादिति यथा परम्परया। २०८. चेतो बहिरर्थसंबद्धं विषयाकारनिष्प्रतिभासात्। २०९. पूर्वानुमानप्रकारेण। २१०. स्वप्नज्ञानम्। २११. दूषणं ब्रूमो वयं जैना इत्यर्थः। २१२. समयः संकेतः। २१३. यथामनोरथं सकलजनसमाहितसंकेतसङ्गानाम्। २१४. अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतं भ्रान्तमास्ते इति लोकशब्दाः। यत्सत्तत्क्षणिकं यत्सत्तदक्षणिकम्। इत्यादिसमयशब्दाः। तत्र प्रतिबद्धानां परस्परविरुद्धबुद्धीनामर्थानर्थार्थग्राहकबुद्धीनाम्। शब्दाश्च बुद्धयश्चेति द्वन्द्वः। २१५. विषयसंबन्धः। २१६. अस्त्वेतदित्युक्ते आह। २१७. आदिशब्देन मरीचिकाजलादिग्रहणम्। २१८. बहिरर्थवादिनः। २१९. बहिरर्थैकान्तवादिनाम्। २२०. कुत इत्याह। २२१. सर्वथा विद्यमानानामर्थानां प्रतिभासवचनयोरसंभवः किमिति प्रतिपाद्यते ? यावता भावान्तरस्वभावतया खरविषाणादीनां प्रतिभासस्य खरविषाणशब्देन तु वचनस्य संभवो भविष्यतीत्याह। २२२. खरविषाणो न उत्पन्नो न प्रध्वस्तो विषयो येषां ते।

२२३. खरविषाणादीनामलौकिकार्थविषयत्वेन सर्वथाप्यविद्यमानत्वं नास्तीति तात्पर्यम्। २२४. वाचकाः शब्दा ग्राहकाणि च ज्ञानानि, तत्सर्वम्। २२५. परार्थानुमानप्रत्ययः स्वार्थप्रतिबद्धोऽस्वार्थप्रतिबद्धो वेति विकल्प्य दूषयति जैनः। २२६. परार्थानुमानप्रत्ययस्य चेतस्त्वेपि स्वार्थप्रतिबद्धत्वाभावाद् व्यभिचारः। २२७. प्रत्ययत्वादित्यनुमाने निरालम्बनरूपार्थप्रतिबद्धत्वेन बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वादिति तात्पर्यम्। २२८. परार्थानुमानप्रत्ययस्य। २२९. जाग्रत्प्रत्यया लौकिकार्थालम्बनाः प्रत्ययत्वादित्येवम्। २३०. सर्वे प्रत्यया निरालम्बना लौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यप्रत्ययत्वादित्यर्थः। २३१. लौकिकालौकिकार्थानाम्। २३२. अस्य प्रकृतानुमानस्य लौकिकार्थालम्बनत्वे स्वयं लौकिकार्थालम्बनत्वेनाभिमत-जाग्रत्प्रत्ययानामप्यलौकिकार्थालम्बनत्वसिद्धेर्लौकिकार्थाः सकृत्प्रसज्यन्ते। तेषां च परस्परविरुद्धत्वात्संभवो न भवतीति भावः। २३३. तयोः, अन्तरङ्गार्थबहिरङ्गार्थतैकान्तयोः। २३४. सर्वं प्रमाणाभासम्। २३५. प्रमाणाभासम्। २३६. अर्हतः। २३७. स्वरूपसंवेदनस्य। २३८. सत्त्वचेतनत्वाद्याकारेण, न क्षणक्षयादिरूपेण। २३९. तस्य, स्वसंवेदनस्य। २४०. स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्। २४१. स्वसंवेदनापेक्षया सर्वं प्रत्यक्षमित्यत्र। २४२. चित्तानि ज्ञानानि। तत्र भवाश्चैत्ता हर्षादयः। २४३. आत्मा, स्वरूपम्। २४४. ननु च स्वसंवेदनप्रत्यक्षं निर्विकल्पकमितरच्च सविकल्पकं प्रमाणाभासमिति। तत्कथं प्रमाणाभासनिह्नव इत्याशङ्कायामाह। २४५. प्रथमपरिच्छेदे विरोधान्नोभयैकात्म्यमित्यादिकारिकाव्याख्यानचरमभागे। २४६. सर्वसंवित्तीनां संवेदनप्रकारेण। २४७. ज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मकत्वानभ्युपगमे। २४८. अर्थापत्तिलिङ्गात्। २४९. तथेष्टत्वाददोष इति मीमांसकीयाशङ्कायामाहुः। तत्, अनुमानम्। २५०. परोक्षज्ञानग्राहकलिङ्गाभावात्। २५१. बुद्धौ।

२५२. अर्थ-प्राकट्यम्। २५३. लिङ्गस्य। २५४. आह मीमांसकः। २५५. अर्थप्राकट्यात्। २५६. तस्य परोक्षज्ञानस्य। २५७. अर्थस्यासिद्धत्वेन प्राकट्यमप्यसिद्धं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। सः अर्थः।

२५८. इदं मीमांसकवचनं तल्लिङ्गमिष्यते इत्यत्र योजनीयम्। २५९. प्रमातेति शेषः। २६०. अत्राह जैनः। २६१. अर्थपरिच्छेदज्ञानादविशेषस्तु। २६२. मीमांसकमते अर्थप्राकट्यस्य। २६३. ज्ञानस्याव्यवसायात्मकत्वादर्थस्याप्यव्यवसायात्मकत्वम्। अतोऽविशेषः। २६४. भवति। २६५. बहिरर्थधर्मस्यार्थप्रकटनस्य। २६६. अर्थस्य स्वतः प्रत्यक्षत्वं न स्याच्चेन्मा भूत्, स्वज्ञाने प्रतिभासमानस्यार्थस्य प्रत्यक्षत्वं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। स्वज्ञाने, परोक्षज्ञाने। २६७. अर्थे। २६८. संतानान्तरज्ञानस्य। २६९. संतानान्तरज्ञानं परोक्षज्ञानमप्यनुमेयम्। २७०. प्राकट्यस्य प्रमातुर्वा स्वसंविदितत्वात् प्राकट्यस्य करणज्ञानाद्विशेषो भविष्यतीत्याह मीमांसकः। २७१. अर्थप्राकट्यम्। २७२. प्राकट्यम्। २७३. एतदेव भावयति। स मीमांसकः। २७४. तत इति शेषः। २७५. अर्थप्राकट्यस्य। २७६. इदं विशेष्यं प्राग्भाष्यस्थं पदमेतत्तत्समनन्तराणि त्रीण्यपि विशेषणानि तदर्थकथनरूपाणि प्रत्येतव्यानि। २७७. आत्मनः अर्थप्राकट्यस्य च। २८१. अङ्गीक्रियमाणे। २८२. परोक्षज्ञानस्वसंविदितपुरुषयोर्मध्ये परोक्षज्ञानसंविदितार्थप्राकट्ययोर्मध्ये वा। २८३. परोक्षज्ञानेन। २८४. अर्थप्राकट्यात्। २८५. द्वितीयेन परोक्षज्ञानेन। २८६. करणं मा भूदित्याशङ्क्याह। २८७. आत्मनः स्वरूपस्य क्रियाया अर्थपरिच्छेदरूपायाः। २८८. चित्स्वरूपतया। २८९. अर्थप्राकट्यस्य। २९०. विभिन्नकर्तृकं कुठारलक्षणं यथा तथा। २९१. कर्तुरनन्यस्य करणत्वसाधनात्। २९२. अर्थप्राकट्यस्य। २९३. मीमांसकेनाभ्युपगम्यमाने। २९४. पुरुषस्वरूपेण अर्थप्राकट्यरूपेण च। २९५. अर्थप्राकट्यम्। २९६. घटादिस्वरूपम्। २९७. तर्हीति शेषः। २९८. अविनाभावाभावादनैकान्तिकत्वादित्यर्थः। दूरव्यवहितार्थस्य ज्ञानाभावेपि भावात्। २९९. परोक्षज्ञानाभावेऽभावो यद्यस्य प्राकट्यस्यापि तर्हि। ३००. अस्तित्वत्युक्ते आह। ३०१. प्रतिनियतदेशादिरूपतया ज्ञानविषयत्वधर्मस्य। ३०२. परिच्छिद्यमानत्वधर्मणो विशिष्टस्येति कपाठः। ३०३. ज्ञानस्य परोक्षत्वादेवासिद्धिः। ३०४. विशेषणाप्रतीतिरपि कुत इत्युक्ते ज्ञानासिद्धावित्यादि साधनं वक्तव्यम्।

३०५. अर्थे। ३०६. अर्थधर्मोर्थप्राकट्यमप्रत्यक्षज्ञाने लिङ्गं न भवतीति समर्थनग्रन्थेन। ३०७. आत्मनः। ३०८. करणज्ञानस्य। ३०९. परिच्छिद्यमानत्वधर्मविशेषणरहित एव। ३१०. स्वभावः, अर्थप्राकट्यम्। ३११. परोक्षज्ञानहेतुः। ३१२. यत्र यत्र परोक्षज्ञानं तत्र तत्रार्थप्राकट्यमिति व्याप्तेरभावात् परोक्षज्ञानाभावेपि अर्थरूपदर्शनात्। ३१३. अर्थप्राकट्यस्य लिङ्गत्वनिराकरणपरेण ग्रन्थेन। ३१४. आदिशब्देन मनः। ३१५. मयि चक्षुरादीन्द्रियमस्ति रूपादिज्ञानान्यथानुपपत्तेरिति। ३१६. इन्द्रियपरोक्षज्ञानयोः। ३१७. आदिशब्देन भावमनः। (भावेन्द्रियं भावमनो वा ज्ञानरूपमेव, लब्ध्युपयोगयोर्भावेन्द्रियत्वकथनात्, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियमिति वचनात्। ज्ञानावरणादिज्ञानरोधककर्मणां क्षयोपशमो लब्धिः। तदनन्तरमर्थपरिच्छेदाय चेतनाव्यापार उपयोगः)। ३१८. द्रव्येन्द्रियादि हेतुः। ३१९. 'तस्य' इति पाठान्तरम्। ३२०. ज्ञानोत्पत्तिं प्रति। ३२१. अर्थपरिच्छित्तिरूपं कार्यम्। ३२२. इन्द्रियादेरपि ज्ञानस्य परोक्षत्वसिद्धिर्न भवेद्यतः। ३२३. पूर्वोक्तप्रतिभासस्य। ३२४. सुखेत्यादिग्रन्थेन। ३२५. हर्षादीनाम्। ३२६. स्थिरसांशत्वप्रकारेण। ३२७. हेत्वन्तरमिदम्। ३२८. आह सौगतः। ३२९. जैनः। ३३०. सर्वथा भ्रान्तः कथंचिद्वेति विकल्प्य दूषयति जैनः। ३३१. किं च सर्वथायमनुभवो भ्रान्त इति पक्षे बहिरर्थे स्वरूपेपि च स्यात्। ३३२. स्वप्नावस्थायामिव जाग्रदवस्थायामपि। ३३३. अर्थे एव, न स्वरूपे इत्यर्थः। ३३४. परोक्षज्ञानाविशेषः। ३३५. वक्ष्यमाणयोर्विकल्पयोरग्रेतनयोः (विकल्पः सर्वथा भ्रान्तः कथंचिद्वेति)। ३३६. विकल्पस्य भ्रान्तत्वेपि प्रत्यक्षत्वमित्युक्ते आह। ३३७. सर्वथा कथंचिद्वा विकल्पस्य भ्रान्तत्वमिति पक्षयोः परोक्षज्ञानाविशेषस्यानेकान्तसिद्धेरनिवारणं यस्मात्। ३३८. अन्तःप्रमेयापेक्षया। ३३९. नभसि। ३४०. संवादकत्वादिति पाठान्तरम्। ३४१. एकस्यैव प्रमाणाप्रमाणव्यवस्थारूपतया।

३४२. जात्यः, उत्कृष्टः। ३४३. बाह्येन जीवलक्षणेनार्थेन सह वर्तते इति सबाह्यार्थः। ३४४. त्रिरूपलिङ्गप्रतिपादकः शब्दो हेतुशब्दः। तेन तुल्यो वर्तते इति तद्वत्। सौगतमतवच्चार्वाकस्यापि धूमादग्नि

प्रतिपद्यमानस्य हेतुरस्तीति न दृष्टान्तासिद्धिः। ३४५. मायादिभ्रान्तिसंज्ञाभिरनैकान्तिको भविष्यति हेतुरिति शङ्कायामाह। ३४६. यसः। ३४७. स्वैरर्थैः। ३४८. यथा प्रमोक्तिः, प्रमाणवचनं, प्रमाणेन प्रत्यक्षादिनार्थवती भवति, तथा मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्चेत्यसौ दृष्टान्तो मायावादिन इति द्रष्टव्यः। ३४९. स्वरूपशब्देन जीवादयः शब्दाः परामृश्यन्ते। तेनार्थः स्वरूपाज्जीवादिशब्दाद् व्यतिरिक्तेनेति विषयः। ३५०. निश्चितः। ३५१. अनादिनिधनो जीवः। ३५२. 'विक्लवो विह्वलः स्यात्तु' इत्यमरः। ३५३. प्रसिद्धः। ३५४. आत्मनः। ३५५. 'कार्यस्याचैतन्यस्य' इति पाठेन भाव्यं। ३५६. भोगलक्षणा क्रिया चैतन्यस्य न घटते अचैतन्य(शरीर)कृतकार्यत्वेनाचेतनत्वात्। ३५७. ननु च पृथिव्यादिकार्यमपि चैतन्यं पृथिव्यादेरत्यन्तविलक्षणं भविष्यतीति शङ्कायामाह। ३५८. पृथिव्यादिकार्यम्। ३५९. पृथिव्यादिभ्यः। ३६०. कुतः पृथिव्यादिभ्योत्यन्तवैलक्षण्यमस्तीत्युक्ते हेतुमाह। ३६१. पृथिव्यादिकार्येषु रूपादिसमन्वयदर्शनात्। ३६२. चैतन्यं सत्, भूतमपि सदिति सत्त्वेनोभयत्र समन्वयात्। ३६३. पृथिव्यादितत्त्वानाम् (चैतन्येन सह)। ३६४. अत्राह जैनः। ३६५. सत्त्वादिसमन्वयस्य। ३६६. चार्वाक आह। ३६७. एको यो विकारी पृथिव्यादिः। तेन परस्परं समन्वयाभावात्तदनुस्यूतताभावात्। ३६८. पृथिव्यादीनाम्। ३६९. (सर्वथा)। ३७०. नैयायिकानाम्। ३७१. प्रागभावादिभेदानां परस्परभावरूपैकविकारसमन्वयाभावाद्भेदो यथा सर्वथा। ३७२. जैनः पृच्छति। ३७३. किन्तु नैवेत्यर्थः। ३७४. पृथिव्यादिसकाशादात्मनः। ३७५. अनाद्यनन्तचैतन्यविशिष्टे काये जीवव्यवहारः कथमित्याशङ्क्याह।

३७६. अन्येष्वनन्यशब्दोयमित्यादिकारिकासु। ३७७. ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगपरिणामकेन। ३७८. सौगताशङ्का। ३७९. मायादिशब्दानाम्। ३८०. हेतुरूपायाः। ३८१. साध्यस्य। ३८२. अभिप्रेतमात्रसूचिकायाः संज्ञायाः सकाशात्। ३८३. मरीचिकायां जलसंज्ञा तदाभासः। तद्वत्। ३८४. तस्य, नियमस्य। ३८५. करणप्रतिपत्तीनामर्थक्रियानियमो नास्ति। ३८६. नन्वित्याशङ्कायामाह। ३८७. अकिंचित्करत्वात्। ३८८. विरुद्धो न भवेद्यतः। ३८९. हेतुः। ३९०. बाह्येन धूमादिलक्षणेन सह। ३९१. शून्यत्वाविशेषात्। ३९२. सौगतेन। ३९३. अर्थानुभवपूर्विका वासना। वासनापूर्वकः शब्द इति। ३९४. सत्यार्थैकविषयत्वम्। ३९५. मरीचिकायां जलादिलक्षणत्वस्य। ३९६. शुक्तिकायां रजतज्ञानस्योपलम्भात्। ३९७. कार्यकारणव्यभिचारदर्शनम्। ३९८. सूर्यकान्तादेः। ३९९. सत्याम्। ४००. शब्दे। ४०१. तस्य, शब्दस्य। ४०२. कार्यशब्दयोः। ४०३. रागादिमतः। ४०४. अभिसन्धिरभिप्रायः। ४०५. अभिधानसामग्रीतो या इतरा अक्षानुमानसामग्री। ४०६. सौगतानाम्। ४०७. प्रत्यक्षानुमानयोः। ४०८. सर्वत्र नाश्वासो यतः। ४०९. सौगतः। ४१०. अक्षलिङ्गसंज्ञानां स्वार्थव्यभिचारलक्षणदोषाविशेषेपि। ४११. निर्विकल्पके। ४१२. अन्यतमे, संज्ञेयव्यभिचारिणि। ४१३. अन्यापोहः स उपादानमाश्रयोस्याः संज्ञायाः। ४१४. अक्षलिङ्गसंज्ञासु मध्ये। ४१५. (प्रद्वेषेणेश्वरस्य)। ४१६. जैनः। ४१७. संज्ञायाः। ४१८. स्वरूपपररूपाभ्याम्। ४१९. घटलक्षणसंज्ञया घटलक्षणार्थाश्रयत्वसंभवे सति पररूपेण पटादिलक्षणेनासत्त्वसंभवः। स्वद्रव्यापेक्षया भावोपादानत्वे सति परद्रव्यापेक्षया अभावोपादानत्वं घटेत नान्यथेति भावः। ४२० संज्ञानाम्। ४२१. इतरः, अभावः। ४२२. सर्वत्रेत्यादिप्रक्लृप्तिरिति पर्यन्तेन ग्रन्थेन।

४२३. वास्तवार्थस्यानुपपद्यमानत्वादनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिकल्पितरूप एवार्थः। ४२४. घटलक्षणसंज्ञाया घटलक्षणार्थाश्रयत्वसंभवे सति पररूपेण पटादिलक्षणेनासत्त्वसंभव इति भावाभावोभयाश्रितः। ४२५. कथं प्रत्युक्तमित्याह। ४२६. शब्दस्य। ४२७. वासना अनुभवपूर्विका, अनुभवश्चार्थप्रतिबन्धक इति। ४२८. अस्यार्थस्यायं शब्दो वाचक इत्येवंविधायाः। ४२९. परार्थानुमानरूपशब्दवासनायाः। ४३०. साधनं, यथा धूमः। ४३१. वासनाया अनादित्वादवस्त्वाश्रयत्वं यतः। ४३२. अङ्गीक्रियमाणे। ४३३. कारिकोक्तानुमाने लोके वा। ४३४. वादिनम्। ४३५. निरतिशयत्वादिस्वभावेन सांख्यादिकल्पितेन, प्रतिक्षणभिन्नस्वभावेन च सौगतपरिकल्पितेनात्मना जीवशब्दः सबाह्यार्थो भविष्यतीत्याशङ्कायामाह। ४३६. नित्यरूपस्यापरिणामिन इत्यर्थः। ४३७. यौगापेक्षया। ४३८. ब्रह्मवाद्यपेक्षया। ४३९. सौगतापेक्षया। ४४०. परमताभिमतेन जीवशब्देन। ४४१. बौद्धाशङ्का। ४४२. इन्द्रजालादिभिः। ४४३. प्रमाणवचनस्य प्रमाणलक्षणो ज्ञानलक्षणो बाह्यार्थो यथा। ४४४. भ्रान्तिविषया विशिष्टा

असाधारणरूपा प्रतिपत्तिः। 'विशेषार्थ'इति वा पाठः। ४४५. भ्रान्तिरूपार्थाभावे। ४४६. भ्रान्तिसमाख्यातः। ४४७. असाधारणरूपा प्रतिपत्तिः। ४४८. तथा च सर्वभ्रान्त्यभावात्सर्ववाह्याभ्युपगमस्यापि प्रमाणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। ४४९. स्वार्थो, विशिष्टोत्पन्नभ्रान्तिरूपायाः। ४५०. अङ्गीक्रियमाणे। ४५१. असदर्थस्य। ४५२. ततश्च प्रमाणशब्दस्य स्वार्थविशेषसहितत्वमिति भावः। ४५३. ज्ञानलक्षणः। ४५४. स्वार्थोत्राभावरूपः। ४५५. अभावरूपतया विशिष्टा असाधारणरूपा प्रतिपत्तिः। ४५६. तत्, विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वम्। विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वाभावे। अभावलक्षणस्वार्थरहितत्वं यदि तर्हीत्यर्थः। ४५७. संज्ञात्वस्य हेतोः।

४५८. बुद्धिश्च शब्दश्चार्थश्च तेषां संज्ञाः। बुद्ध्यादेर्विषयस्य बोधा बुद्ध्यादिसंज्ञाजनितास्त्रयो बुद्ध्यादिविषयप्रतिविम्बका यतः। ४५९. बोधाश्चेत्यत्र चशब्दोपिशब्दार्थः। तेन न केवलं बुद्ध्यादिशब्दा इति समुच्चयः। बुद्ध्यर्थादिप्रतिपादकत्वेन तुल्याः समा इत्यर्थः। ४६०. मीमांसकाः। ४६१. प्रत्ययो ज्ञानम्। ४६२. त्रयाणां जीवसंज्ञात्वे सति। ४६३. बुद्धिपदार्थकः शब्दपदार्थकश्च नेत्यर्थः। ४६४. जीवशब्दोर्थपदार्थक एव सबाह्यार्थो, न तु बुद्धिशब्दपदार्थक इत्युक्तं यतः। ४६५. बुद्धिशब्दार्थादिविशेषविरहेण। ४६६. मीमांसकाः। ४६७. 'शब्दस्य' पाठान्तरम्। ४६८. ननु चार्थपदार्थकादेव जीवशब्दाज्जीवार्थकस्य प्रतिविम्बको बोधः प्रादुर्भवति, न तु बुद्धिशब्दपदार्थकाद्बुद्धिशब्दकात्। ततः कथं जीवशब्दो बुद्धिशब्दपदार्थकस्तद्वाचक इत्युक्ते आह। ४६९. वाक्ये। ४७०. बुद्धिस्वरूपकाज्जीवशब्दात्। ४७१. ज्ञानरूपस्य। ४७२. जीवशब्दात्। ४७३. बोधः। ४७४. त्रिधापि बोधः प्रादुर्भवति यतः। ४७५. बुद्ध्यादिश्लोकेन। ४७६. श्रीसमन्तभद्रस्वामी। ४७७. अस्तं नयति। ४७८. तस्य बुद्ध्यादेः। ४७९. ततश्चाव्यभिचारी हेतुरिति फलितम्। ४८०. बुद्धिशब्दपदार्थकाज्जीवशब्दात्। ४८१. संज्ञात्वादिति हेतोः। ४८२. योगाचारम्। ४८३. हेतुशब्दवदिति। ४८४. हेतुशब्दस्य। ४८५. संज्ञाया अवभासने यज्ज्ञानं तत्संज्ञावभासज्ञानम्। जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञाभास(शब्दाकार)ज्ञानत्वादिति। ४८६. शब्दाभासः, शब्दाकारः। ४८७. शब्दाकारस्वप्रज्ञाने सबाह्यार्थत्वाभावात्। ४८८. योगाचारः। ४८९. यदा सौगतः पूर्वपक्षवादी तदासौ वक्ता जैनादिः। श्रोता यदा जैनादिस्तदा वक्ता सौगतादिः। ४९०. वक्तरि बोधो वाक्यस्य कारणं, श्रोतरि कार्यं वाक्यम्। कार्यं कारणं चैतद्वाक्ययुक्तायुक्तविचारप्रमाणान्ताः पृथगभ्युपगन्तव्याः। वीप्सापदमेतत्। पृथक् पृथगवभासन्ते इत्यध्याहारः, अन्यथैकस्मिञ्ज्ञानेवभासनाज्ज्ञानमेव यदवभासते तज्ज्ञानमिति वचनात्। ४९१. ननु बोधवाक्यप्रमास्तिस्रो भ्रान्ता एव चेत्तर्हि प्रमाणमपि भ्रान्तं स्यात्। अस्तु। को दोष इत्युक्ते आह।

४९२. वक्त्रादित्रयस्य बोधादित्रयं पृथग्भूतमुपेयमित्यस्यानन्तरम्, अन्यथाशब्दस्ततो वक्तुरभिधेयेत्यादिवाक्यं द्रष्टव्यम्। वक्तरि वाक्यं श्रोतरि बोधः, प्रमातरि प्रमाणमिति युक्त्या वक्तृश्रोतृप्रमातॄणां बोधवाक्यप्रमा भिन्ना एवेति तात्पर्यार्थः, इति टिप्पण्यन्तरम्। ४९३. वाक्यस्य। ४९४. अभिधेयज्ञानस्य। ४९५. तद्, वाक्यम्। ४९६. इष्टं विज्ञानम्। ४९७. हेतुशब्दवदित्यस्य। ४९८. वक्त्राद्याकारायाः। ४९९. वक्त्रादित्रयं बुद्धेः पृथग्भूतं न भवेद्यतः। ५००. बसः। ५०१. इति यन्मतं तत्र सम्यगित्यर्थः। ५०२. वक्तुः श्रोतुश्च। ५०३. स्वांशो, ज्ञानम्। ५०४. रूपादीनाम्। ५०५. अन्तर्ज्ञेयो, ज्ञानाद्वैतम्। ५०६. रूपादिचत्वारि पदानि भिन्नानि ग्राह्याणि। ५०७. ज्ञानानां स्वांशमात्रावलम्बिनां स्वरूपागमकत्वात्। ५०८. स्वांशमात्रावलम्बिज्ञानस्य। ५०९. सौगतमते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति वचनात्। ५१०. ज्ञानाद्वैतम्। ५११. स्वग्राहिज्ञानापेक्षया ज्ञानस्य बाह्यार्थत्वम्। ५१२. प्रमाणाप्रमाणरूपयोः। ५१३. अन्तर्ज्ञेयमिष्टं, बहिर्ज्ञेयमनिष्टं च)। ५१४. अन्तर्ज्ञेयबहिर्ज्ञेयरूपार्थौ। ५१५. स्वज्ञानग्राहकापेक्षया। ५१६. अन्तर्ज्ञेयैकान्ताभ्युपगमः। ५१७. बुद्धेः शब्दस्य च प्रमाणत्वम्। ५१८. बाह्यार्थे सति नासतीत्येवंप्रकारेण।

५१९. ज्ञानस्य स्वसंवेदनप्रयोजनकत्वादित्यर्थः। ५२०. अयं घटोयं पट इति कथनप्रयोजनकत्वादित्यर्थः। ५२१. ननु च बुद्ध्यात्मकमेव स्वपरप्रतिपत्त्यर्थं भविष्यतीति किं शब्दात्मकेनेत्यत्राह। ५२२. असति बहिरर्थे साधनस्येति संबन्धनीयम्। ५२३. बुद्धिशब्दात्मकस्य साधनस्य। ५२४. ग्राहकापेक्षया बहिरर्थे ज्ञानरूपेऽज्ञानरूपे वा। ५२५. एवम्। ५२६. बुद्धिः स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मिका, शब्दश्च तथाविधः। ५२७. अर्थप्राप्त्यनाप्तिभ्यां बुद्धिशब्दयोः सत्यासत्यरूपतया। ५२८. सत्यानृतव्यवस्था युज्यते यस्मात्। ५२९. अविनाभावरूपः। ५३०.

अनुमाने। ५३१. ग्राहकज्ञानापेक्षया ग्राह्यमपरं ज्ञानं बहिरर्थो भवति। घटादिबहिरर्थस्तु बहिष्ट्वे प्रसिद्ध एव। ५३२. साध्ये सत्येव हेतुर्द्विविधः—अन्यथानुपपन्नत्वलक्षणस्तथोपपन्नत्वलक्षणश्च। ५३३. बहिरर्थाभावेपि साधनदूषणप्रयोगो यदीत्यर्थः। ५३४. पुरुषेण अनुमानादिना वा। ५३५. भाष्यस्थितान्यद्वाशब्दस्यार्थोयम्। किं तदन्यदिति। ५३६. अन्तर्ज्ञेयबहिर्ज्ञेयलक्षणस्य। ५३७. सहोपलम्भः, अविनाभावः। ५३८. किं साधितं स्यादिति अत्र संबन्धो ज्ञेयः। ५३९. न किमपि साधितं स्यादिति भावः। ५४०. स्वप्नसाध्यवत्। ५४१. वादिना साधनेन वा। ५४२. कुत इत्यादिभाष्यांशं भावयन्नाह। ५४३. अन्यद्वा इति भाष्यांशं विवृण्वन्नाह। संतानान्तरमेव नाभ्युपगम्यते तत्कथं न केनचित्साधितं स्यादित्युक्ते आह। ५४४. आदिशब्देन वेद्याद्याकारशून्यत्वं ग्राह्यम्। ५४५. विज्ञप्तिमात्रसंविदद्वैतबहिरर्थजातादिषु। ५४६. साधनदूषणप्रयोगः। ५४७. ज्ञानज्ञेयरूपः। ५४८. सौगतकल्पनायाम्। ५४९. सर्वस्य विभ्रान्तत्वसिद्धिरपि त्वदिष्टा तत्त्वज्ञानसद्भावात्। ५५०. तत्त्वज्ञानस्यापि भ्रान्तत्वस्वीकारे। ५५१. त्वदनिष्टस्य निराकरणापत्तिर्यथा तथा अभिसंहितस्य-अभिमतस्या(त्वदिष्टस्येत्यर्थः)पि। ५५२. न केवलं बहिरर्थस्य किन्तु त्वदिष्टस्यापि। ५५३. परमाणवः सन्ति किन्तु भ्रान्ता इत्यत्र। ५५४. तत्त्वज्ञानं यदि शरणं न स्यात्। ५५५. अतत्त्वज्ञाननिश्चितम्। ५५६. सर्वत्र योज्यमित्यादिना।

५५७. योगाचारः। ५५८. तस्य साधनदूषणप्रयोगादिति हेतोरसिद्धत्वं यत् स्वयमिष्टं, तस्य, तस्यैव हेतोः सिद्धिः स्वयमनिष्टा, तस्यापि। ५५९. इष्टानिष्टसाधनाव्यवस्थितेः। ५६०. सर्वज्ञानानां भ्रान्तत्वात्। ५६१. दृष्टस्य अवयव्यादिभेदयुक्तस्य बहिरर्थस्य। ५६२. स्वरूपेण। ५६३. दृष्टान्तं विवृणोति ५६४. अदृश्यपरमाणुरूपत्वप्रकारेण। ५६५. अन्तर्ज्ञेयवदिति पूर्वमुक्तम्। ५६६. बहिः परमाणुषु। ५६७. वृत्तिः संबन्धः (अवयविरूपेण परिणामसमये)। ५६८. परो जैनो वैशेषिकादिश्च तस्य पक्षः परमाण्वादिस्तस्योपालम्भे निराकरणे। ५६९. स्वपक्षः सौगतपक्षः। सौगतपक्षे हि ज्ञानसंताना एव, ते च क्षणिका अनन्यवेद्याश्च। तस्याक्षेपो निराकरणम्। ५७०. एतदेव भावयन्ति। तस्य परपक्षोपालम्भस्य। ५७१. परमार्थतः परपक्षनिराकरणं न स्यादित्यर्थः। ५७२. बहिःपरमाणवो जैनापेक्षया, संवित्परमाणवस्तु योगाचारापेक्षया। ५७३. भाष्यार्थः। ५७४. संतानान्तरमिष्टमतः प्रतिषिध्यते जैनैः। ५७५. परमाणूनां सम्बन्धे। ५७६. परमाणुषट्कस्य। संतानान्तरे वासनाभेदो नेष्टः। संतानान्तरं पारमार्थिकं बाह्यार्थस्त्वपारमार्थिकः। ५७७. स्कन्धस्य बहिःपरमाणुप्रचयस्य संवित्परमाणुप्रचयस्य चेति संबन्धः। ५७८. अवस्थितिर्न स्यात्। ५७९. संसृष्टैः परमाणुभिः प्रचयस्योपकारो व्यवहितैर्वेति पक्षद्वयं कृतम्। ५८०. प्रथमपक्षे संसर्गासंभवः एकदेशेन सर्वात्मना वेत्युक्तदूषणात्। ५८१. व्यवधानपक्षे। ५८२. स्वपक्षः संवित्परमाणुरूपो बौद्धपक्षः। ५८३. 'च' मुद्रितप्रतौ नास्ति। ५८४. घातिः मुद्रितप्रतौ पाठः। ५८५. सौगतीयस्यैव पक्षस्य घातिर्न तु जैनीयस्येति कथमित्युक्ते आह। ५८६. प्रोक्ताशेषदोषस्य। ५८७. एकत्रैव सूक्ष्मत्वं चेत्स्थूलत्वं कथमित्येवं प्रकारेण। ५८८. जीवे यथैषां वृत्तिविकल्पानवकाशः। ५८९. सौगताशङ्का। ५९०. जैनैः परिहारः क्रियते। ५९१. स्वेष्टं चित्रकज्ञानादिलक्षणं, तत्रापि सर्वथा विरोधो न संभवतीत्यर्थः। यतो ज्ञानत्वाद्यपेक्षया युगपदेनकाकारयोः परस्परविरुद्धयोस्तत्र सद्भावात्। ५९२. नीलपीताद्यपेक्षया न तु ज्ञानापेक्षया विरोधः, अयमेव कथंचिद्विरोधः। ५९३. विमतिर्विवादः। ५९४. स्वरूपव्यतिरिक्तो बहिरर्थ एव। अनुमानज्ञानं यथा संतानान्तरलक्षणबाह्यार्थालम्बनम्। ५९५. विप्लवज्ञानं भ्रान्तं, यथा द्विचन्द्रज्ञानं स्वप्नज्ञानं च। ५९५. (क) स्वव्यतिरिक्तालम्बनत्वाभावाद्धेतोः। ५९६. (१) स्वप्नदशायां विप्लुतव्यापारादिसाधनेन। (२) व्यापारव्याहारनिर्भासस्य। (३) अस्त्यत्र बुद्धिर्व्यापारादिनिर्भासादित्यनुमानेन। ५९७. निर्भासोपि मुद्रितप्रतौ पाठः। ५९८. स्वप्नदशायाम्। अपि त्वस्त्येवेत्यर्थः। संतानान्तरसाधने हेतुरयम्।

५९९. ज्ञाने ग्राह्यग्राहकाकारत्वं वासनाभेदादेव, न तु बहिरर्थसद्भावादित्युक्ते आह। ६००. त्वया विज्ञानाद्वैत-वादिना सौगतेन। ६०१. जाग्रद्दशायां। ६०२. संतानान्तरग्राहकज्ञानस्य। ६०३. स्वप्नाद्युपप्लवदशायाम्। ६०४-५. संतानान्तरस्वसंतानक्षणक्षयादिसाधनमनुमानरूपम्। ६०६. वक्तृश्रोतृप्रमातॄणां बोधवाक्यप्रमाः पृथक् इति कारिकोक्तम्। ६०७. हेतुशब्दवदिति। ६०८. नेति पूर्वेण संबन्धः। संज्ञात्वस्य हेतोरसिद्धतानैकान्तिकता च न,

हेतुशब्दवदिति, उक्तस्य दृष्टान्तस्य साधनधर्मादिवैधुर्यमपि नेति भावार्थः। ६०९. किंतु स्यादेव जीवसिद्धिः। ६१०. जीवस्य। ६११. ज्ञानरूपे। ६१२. संवादः सत्यता। ६१३. पूर्ववत्। ६१४. एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेदिति अतिदिष्टवचनबलात्। ६१५. सप्तभङ्गीपरीक्षायाः। ६१६. प्रमाणात्। ६१७. तद् ज्ञापकोपायतत्त्वम्। ६१८. पुंसः। ६१९. अस्मिन् परिच्छेदे बौद्धाभिमतस्य ज्ञानैकान्तस्योपपत्तिपूर्वकं निरासः कृतः। अथवा हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः साधनपूर्वकत्वात्, तत्साधनस्य ज्ञापककारकभेदाद् द्वैविध्ये ज्ञापकमुपायतत्त्वमत्र निर्णीतम्। तत्र केचन बौद्धा हि बहिरुपेयतत्त्वमनादृत्य केवलमुपायतत्त्वं ज्ञानमेव स्वीकुर्वन्ति, तत्तु न समञ्जसं, बहिरुपेयाभावे ज्ञापकस्योपायस्य वाऽसत्त्वापत्तेः, आत्मन उपेयस्य स्वीकारेपि ज्ञानेनाभेदात्तादात्म्याद्वा आत्मार्थं तत्स्वीकारस्य वैयर्थ्यात्, तस्य ज्ञानसत्त्वेन स्वतः सत्त्वसिद्धेरुपायत्वेन तत्र ज्ञानस्यानुपयोगात्। किञ्च, न बहिरर्थाभावः सिध्यति, बहिरर्थस्य ज्ञाने सत्यपि भ्रान्तत्वे ज्ञानस्वरूपस्यापि भ्रान्तत्वसाधनादुभयत्राविशेषात्। स्वप्नवद्बहिरर्थस्य दृश्यमानस्य भ्रान्तत्वे जाग्रद्विषयवदभ्रान्तमपि तस्य सिध्यतु, अन्यथा स्वप्नजाग्रद्दशयोरविशेषे स्वप्नविषयस्य दृष्टान्तत्वाघटनात्। किं च परप्रतिपादनं विना ज्ञानाद्वैतमपि कथं सिध्येत्? प्रतिपादनस्य च पुद्गलकृतशब्दात्मकबहिरर्थरूपत्वात्र तदद्वैतं श्रेयः। बहिरर्थत्वेन शब्दस्य मिथ्यात्वे तत्प्रतिपादितस्य ज्ञानाद्वैतस्यापि मिथ्यात्वमस्तु, साधनस्य मिथ्यात्वे तेन साधितस्यापि मिथ्यात्वाविशेषात्। इत्यादिप्रकारेणात्र ज्ञानाद्वैतता निरसिता।

•

अथ अष्टमः परिच्छेदः

ज्ञापकमुपायतत्त्वं[1] समन्तभद्राकलङ्कनिर्णीतम्[2]।
सकलैकान्तासंभवमष्टसहस्री[3] निवेदयति ।। १ ।।

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ।। ८८ ।।

६४१. कारकलक्षणमुपायतत्त्वमिदानीं परीक्ष्यते। तद्धि केचिद्दैवमेव दृष्टादृष्टकार्यस्य साधनमित्याचक्षते, पौरुषमेवेत्यपरे[10]। किंचिद्दैवादेव[11] किंचित्पौरुषादेवेत्यन्ये[12][13]। तदुभयसाधनत्वेनावक्तव्यमेवेति चेतरे। तत्र दैवादेव यदि सर्वस्यार्थस्य सिद्धिरुच्यते, तदा दैवमपि कथं पुरुषव्यापारात् कुशलाकुशलसमाचरणलक्षणादुपपद्येत, प्रतिज्ञाहानेः, देवान्तरादेव दैवं, न पौरुषादित्यभ्युपगमेऽनिर्मोक्षो मोक्षाभावः, पूर्वपूर्वदैवादुत्तरोत्तरदैवप्रवृत्तेरनुपरमात्। ततः[14] पौरुषं[15] निष्फलं भवेत्। पौरुषाद्दैवस्य परिक्षयान्मोक्षप्रसिद्धेर्न तन्निष्फलमिति चेत्, सैव प्रतिज्ञाहानिः[16]। मोक्षकारणपौरुषस्यापि दैवकृतत्वात् परम्परया मोक्षस्यापि दैवकृतत्वोपपत्तेर्न प्रतिज्ञाहानिरिति[17] चेत्, तर्हि पौरुषादेव तादृशं दैवमिति न दैवैकान्तः।

६४२. एतेन[18] धर्मादेवाभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरित्येकान्तः प्रतिक्षिप्तः, महेश्वरसिसृक्षानर्थक्यप्रसङ्गाच्च[19]।

६४३. कुतस्तर्हि[20] समीहितार्थसिद्धिरित्युच्यते ? **योग्यता[21] पूर्वं[22] कर्म वा दैवमुभयमदृष्टं, पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम्[23]। ताभ्यामर्थसिद्धिः, तदन्यतरापायेऽघटनात्, पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनाद्, दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसङ्गात्[24]।** स्वयमप्रयतमानस्य सर्वमिष्टानिष्टमदृष्टमात्रादेव, प्रयतमानस्य तु प्रयत्नाख्यात् पौरुषादेव दृष्टादिति[25] वदन्नपि न प्रेक्षावान्, कृष्यादिषु समं प्रयतमानानां कस्यचिदेवार्थप्राप्त्यनर्थोपरमदर्शनादपरस्यानर्थप्राप्त्यर्थप्राप्त्यर्थोपरमप्रतीतेः, धर्माधर्मयोरपि तन्निमित्तत्वसिद्धेः। स्वयमप्रयतमानानार्थप्राप्त्यनर्थोपरमयोरनर्थप्राप्त्यर्थोपरमयोश्च सद्भावेपि प्रयत्नाभावेनुपभोग्यत्वप्रसङ्गात्[26][27] पौरुषस्यापि तदनुभवकारणत्वनिश्चयात् सर्वत्र दृष्टादृष्टयोर्निमित्तत्वसिद्धिस्तयोरन्यतरस्याप्यपाये तस्यानुपपद्यमानत्वात्, मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात्। ततो न पाक्षिकोपि[28] दैवैकान्तः श्रेयान्।

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ?
पौरुषाच्चेदमोघं[29][30] स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ।। ८९ ।।

६४४. पौरुषादेवार्थस्य सिद्धिरिति वदतोपि[31] कथं पौरुषं दैवतः स्यात्[32] ? प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात्। **तद्धि पौरुषं विना दैवसंपदा[33] न स्यात्, 'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः। सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ।।'** ( ) इति प्रसिद्धेः। तत्सर्वं बुद्धिव्यवसायादिकं पौरुषं **पौरुषापदितमिति चेत्,** तर्ह्यमोघमेव सर्वप्राणिषु पौरुषं भवेत्। तथैवेति चेत्, **तद्व्यभिचारदर्शिनो[34] न वै श्रद्दधीरन्।**

६४५. स्यान्मतमेतत्[35]—पौरुषं द्विविधं, सम्यग्ज्ञानपूर्वकं मिथ्याज्ञानपूर्वकं च। तत्र मिथ्याज्ञानपूर्वकस्य पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनेपि सम्यगबोधनिबन्धस्य न व्यभिचारः। ततः सफलमेव पौरुषमिति, तदसत्;

दृष्टकारणसामग्रीसम्यगवबोधनिबन्धनस्यापि पौरुषस्य व्यभिचार[36]दर्शनात्, कस्यचिदुपेयाप्राप्ते[37]र्दृष्ट-कारणकलापसम्यगवबोधस्य तु साक्षा[38]दसकल[39]विदामसंभवात्, तन्निबन्धनपौरुषाभावात्। प्रमाणान्त[40]रात्तदवबोधस्य संभवेपि किमसावदृश्यकारणकलापः कारण[41]शक्तिविशेषः[42] पुण्यपापविशेषो वा? प्रथमपक्षे तत्सम्य-गवगमनिमित्तकस्यापि पौरुषस्य व्यभिचार[43]दर्शनान्नामोघत्वसिद्धिः। द्वितीयपक्षे तु दैवसहायादेव पौरुषात् फलसिद्धिः, दैवसदवगमनिबन्धनादेव पौरुषादुपेयप्राप्तिव्यवस्थितेः। तदपरिज्ञानपूर्व[44]कादपि कदाचित्फलोपलब्धेश्च न सम्यगपबोधनिबन्धनः पौरुषैकान्तः, इत्यसौ परित्याज्य एव, दैवैकान्तवत्।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं[45] स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।। ९० ।।

६४६. **दैवेतरयोः सहैकान्ताभ्युपगमे व्याघातादवाच्यतायां च स्ववचनविरोधात् स्याद्वादनीतिः** श्रेयसी, तद्द्विषां प्रमाणाविरुद्धाभिधायित्वात्। कीदृशी स्याद्वादनीति[46]रत्रेत्याहुः—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्।। ९१ ।।

६४७. **ततोऽ[47]तर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतं,** बुद्धिपूर्वापेक्षापायात्। तत्र पुरुषकारस्याप्रधानत्वात्, दैवस्य प्राधान्यात्। [48]**तद्विपरीतं पौरुषापादितं** बुद्धिपूर्वव्यपेक्षानपायात्, तत्र दैवस्य गुणभावात् पौरुषस्य प्रधानभावात्, न पुनरन्यतर[49]स्याभावात्। [50]**अपेक्षाकृतत्वात्तद्व्यवस्थायाः**। तथा[51]पेक्षानपाये परस्परं सहायत्वेनैव दैवपौरुषाभ्यामर्थसिद्धिः। इति।

६४८. स्यात्सर्वं दैवकृतमबुद्धिपूर्वापेक्षातः। स्यात्पौरुषकृतं बुद्धिपूर्वापेक्षातः, स्यादुभयकृतं क्रमार्पिततद्द्वयात्, स्यादवक्तव्यं सहार्पिततद्द्वयात्, स्याद्दैवकृतावक्तव्यमबुद्धिपूर्वापेक्षया सहार्पिततद्द्वयात्, स्यात्पौरुषकृतावक्तव्यं बुद्धिपूर्वापेक्षया सहार्पिततद्द्वयात्, स्यात्तदुभयावक्तव्यमेव क्रमेतरार्पिततद्द्वयात्। इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववत् (योजनीया)।

दैवैकान्तादिपांशुप्रसरनिरसनाद् भूतसामर्थ्यवृत्तिः
सन्मार्गव्यापिनीयं पवनततिरिवाज्ञानखेदं हरन्ती।
बन्धं प्रध्वंसमद्धा[52] स[53]कलमपि बलादानयन्ती नितान्तं
नीतिः स्याद्वादिनी[54]द्धा दृ[55]गवगमभृतां निर्वृतिं वः प्रदेयात्।। १ ।।

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतावष्टमः परिच्छेदः।

अष्टमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. उपायतत्त्वं ज्ञापकं कारकं चेति द्विविधं, तत्र ज्ञापकं प्रकाशकमुपायतत्त्वं ज्ञानं, कारकं तूपायतत्त्वमुद्योगदैवादि। २. समन्तभद्रैः कलङ्करहितं यथा भवति तथा निर्णीतं, समन्ताद्भद्रं यथा भवति तथा अकलङ्कदेवैर्निर्णीतमिति अर्थद्वयमत्र ज्ञेयम्। ३. अत्र एकान्तपक्षा यथा दैवादेवार्थसिद्धिर्न पौरुषात्, पौरुषादेव वा न दैवादित्येवं, तदेव च वक्ष्यते मूलकारिकाग्रन्थेन पुरस्तादेव। ४. अर्थः प्रयोजनम्। ५. पुरुषव्यापारात्। ६. यतो दैवमपि कार्यमेवैकप्रकारकं ततस्तदपि पौरुषात्कथं सिध्येत्, कार्यमात्रस्य दैवाधीनत्वप्रतिज्ञान्यथा विरोधादिति भावः। ७. मोक्षकारणत्वेनाभिमतम्। ८. ज्ञापकोपायतत्त्वपरीक्षानन्तरम्। ९. मीमांसकाः। १०. सौगताः। ११. स्वर्गादिकम्। १२. कृष्यादिकम्। १३. मीमांसकविशेषाः। १४. मोक्षाभावो यतः। १५. मोक्षनिमित्तम्। १६. दैवादेव सर्वमुत्पद्यते इति या प्रतिज्ञा सा हीयते, पौरुषान्मोक्षप्राप्तिस्वीकारात्। १७. इति मीमांसकेनाशङ्क्येत चेत्तर्हीत्थं वक्ष्यमाणमुत्तरं जैनैर्दीयते इति भावः। १८. पौरुषादेव तादृशं दैवमित्यनन्तरोक्तेन वचनेन। १९. अज्ञो जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥ इत्यादिप्रकारेणोक्तवचनेन कल्पिताया महेश्वरसिसृक्षाया निष्फलत्वप्रसङ्गात्, यतः सृष्ट्युत्पत्तेर्दैवाधीनत्वान्महेश्वरस्य तत्कारणत्वं कथं घटते? २०. जैनं दैववादी पृच्छति। दैवपौरुषयोरेकमपि कारणं नानुमन्यते, तर्हि कथं समीहितसिद्धिरिति प्रष्टुरभिप्रायः। २१. योग्यता (भव्यता), पूर्वकर्म दैवमदृष्टमिति घटकलशवत्पर्यायनामानि। २२. कर्म पूर्वं वा मु० पाठः। २३. शुभाशुभलक्षणो व्यापारः। प्रतिपाद्यते इत्यध्याहारः। इह चेष्टितदृष्टपौरुषादीन्यपि पर्यायनामानि। २४. ईशेच्छात्र समीहा।

२५. सर्वमिष्टानिष्टं सिध्येदित्यध्याहारः। २६. पौरुषाभावे। २७. इष्टानिष्टयोः सुखदुःखयोर्वा। २८. न केवलं प्राक्तनदैवैकान्तो न श्रेयान्, किंतु स्वयमप्रयतमानस्य सर्वमिष्टानिष्टमदृष्टमात्रादेवेति पक्षसमुद्भूतोपि न निर्दोषः। २९. पौरुषमपि पौरुषादेवोत्पद्यते इति मतं चेत्तदा। ३०. सर्वं कार्यं कृतं सत्सफलं भवेत्। ३१. चार्वाकस्य। ३२. चेत् स्यात्तर्हि। ३३. पुण्यपापसामग्र्या। ३४. पौरुषे कृतेपि तत्फलप्राप्त्यविनाभावाभावं पश्यन्तः। ३५. चार्वाकस्य। ३६. कृष्यादिकर्मणि। ३७. तर्हि अदृष्टकारणकलापस्य सम्यगवबोधात्पौरुषं सफलं भवेदिति चार्वाकशङ्कायामाह। अदृष्टः अदृश्यतां प्राप्तः स चासौ कारणकलापश्च। अयमेवार्थश्चार्वाकपक्षे ग्राह्यः। अदृष्टं पुण्यपापलक्षणं, तच्चासौ कारणकलापश्चेत्यर्थोपि संभवति, किंतु नासावर्थश्चार्वाकोक्तवचनस्य ग्राह्यः, तेन कर्मणोऽस्वीकारात्। ३८. प्रत्यक्षेण। ३९. अल्पज्ञानाम्। ४०. अनुमानादेः। ४१. अदृष्टशब्दस्य यदुपर्यर्थद्वयं दर्शितं तदेवात्र पक्षद्वयेन विचार्यते। ४२. कस्यचित्कारणस्य शक्तिविशेष एव, किन्तु चक्षुरादिना द्रष्टुमशक्यः।

४३. तदुदाहरणं यथा, क्षीणायुष्के पुंसि औषधशक्तिसम्यगवगमनिमित्तकस्यापि तत्पानादिपौरुषस्य नोपयोगो भवतीति तत्र तद्व्यभिचारः स्वीकर्त्तव्यः। ४४. पूर्वं कारणम्। तच्छब्देन दैवं परामृशन्ति। बसे कृते पौरुषादित्यर्थो निष्पद्यते। ४५. दैवपौरुषैकान्तयोः पृथक् पृथक् कार्यपेक्षया ऐकात्म्यं मीमांसकैरभ्युपगतम्। ४६. दैवेतरैकान्तयोः पक्षे। ४७. अचिन्तितोपढौकितम्। ४८. तर्कितोपस्थितम्। ४९. दैवपुरुषार्थयोर्मध्ये। ५०. कुतः? तथा हि, तयोः दैवपौरुषयोर्व्यवस्था अन्योन्यकृता यतः। ५१. इतरसद्भावप्रकारेण।

५२. झटिति। ५३. प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशा इति चतुःप्रकारं समस्तं कर्मबन्धम्। ५४. इद्धा वर्धमाना। ५५. दृक् सम्यग्दर्शनम्, अवगमो ज्ञानं, चारित्रं तूपलक्षणतयात्र ग्राह्यम्। तत्त्रयधारकाणां निर्वृतिः, मोक्षः, ताम्।

●

अथ नवमः परिच्छेदः

सम्यग्गवबोधपूर्वं पौरुषमपसारिताखिलानर्थम् ।
दैवोपेतमभीष्टं सर्वं संपादयत्याशु ।। १ ।।

[२]पापं ध्रुवं परे[३] दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि ।
अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ।। ९२ ।।

६४८. द्विविधं हि दैवम्—पुण्यं पापं च प्राणिनामिष्टानिष्टसाधनमुक्तम्, 'सद्वेद्यशुभायुर्नाम[४]गोत्राणि पुण्यम्', इतरत् पापम्' इति वचनात् (त० सू० ८.२५-२६)। तदास्रवनिमित्तविप्रतिपत्तिविपत्त्यर्थमिदमुक्तम्। तत्र परसंताने दुःखहेतुः पुरुषः पापमात्मन्यास्रवयति सुखहेतुः पुण्यमिति[५] **परत्र सुखदुःखोत्पादनात् पुण्यपापबन्धैकान्ते कथमचेतनाः क्षीरादयः** कण्टकादयो वा **न बध्येरन्** ? परस्मिन् सुखदुःखयोरुत्पादनात्। चेतना एव बन्धार्हा चेत्, तर्हि **वीतरागाः** कथं न बध्येरन् ? **तन्नि[६]मित्तत्वाद्बन्धस्य**। तेषामभि[७]सन्धेरभावान्न बन्ध इति चेत्, तर्हि न परत्र सुखदुःखोत्पादनं पुण्यपापबन्धहेतुरित्येकान्तः संभवति।

पुण्यं ध्रुवं स्व[८]तो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां[९] युञ्ज्यान्निमित्त[१०]तः ।। ९३ ।।

६५०. स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनात्तु पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशा[११]दिरूपदुःखोत्पत्तेर्विदुषस्तत्त्वज्ञान-संतोषलक्षणसुखोत्पत्तेस्त[१२]न्निमित्तत्वात्।

६५१. स्यान्मतम्—'स्वस्मिन् दुःखस्य सुखस्य चोत्पत्तावपि वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतस्त[१३]दभिसंधेरभावान्न पुण्यपापाभ्यां योगस्तस्य तदभिसंधिनिबन्धनत्वात्' इति, तर्ह्य[१४]नेकान्तासिद्धिरेवायाता। **आत्मसुखदुःखाभ्यां पापेतरैकान्तकृ[१५]तान्ते पुनरकषायस्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात्। ततो न कश्चिन्मोक्तुमर्हति, तदुभयाभावासंभवा[१६]त्।** नहि पुण्यपापोभयबन्धाभावासंभवे मुक्तिर्नाम[१७], संसृतेरभावप्रसङ्गात्। ततो नैतावेकान्तौ संभाव्येते, दृष्टेष्टविरुद्धत्वात्, सदाद्येकान्तवत्।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ।। ९४ ।।

६५२. **प्रस्तुतैकान्तद्वयसिद्धान्ते व्या[१८]हतेरनभिधेयतायां[१९]मनभिधेयाभिधानविरोधात् कथंचिदेवेति युक्तम्।** न हि स्वस्मि[२०]न्नन्यस्मिन् वा सुखात् दुःखाच्च पुण्यमेव पापमेव वा, तदुभयमेव वेति वदतामव्याहतिः संभवति, नापि तथाऽवाच्यतैकान्तेऽवाच्यमित्यभिधानमविरुद्धं, यतः, स्याद्वादो न युक्तः स्यात्।

कथं स्याद्वादे पुण्यपापास्रवः स्यादित्याहुः—

विशुद्धिसंक्लेशा[२१]ङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम् ।
पुण्यपापास्रवो युक्तो न[२२] चेद् व्यर्थस्तवार्हतः ।। ९५ ।।

६५३. **आत्मनः परस्य वा सुखदुःखयोर्विशुद्धिसंक्लेशाङ्गयोरेव पुण्यपापास्रवहेतुत्वं, न चान्यथा, अति[२३]प्रसङ्गात्** । विशुद्धि[२४]कारणस्य विशुद्धिकार्यस्य विशुद्धिस्वभावस्य वा विशुद्ध्यङ्गस्य[२५], संक्लेशकारणस्य संक्लेशकार्यस्य संक्लेशस्वभावस्य वा संक्लेशाङ्ग[२६]स्य च, सुखस्य दुःखस्य वा तदुभयस्य वा स्वपरोभयस्थस्य पुण्यास्रवहेतुत्वं पापास्रवहेतुत्वं च यथाक्रमं प्रतिपत्तव्यम्। न चान्यथा, यथोदित[२७]प्रकारेणातिप्रसङ्गस्येष्ट[२८]विपरीतेपि पुण्यपापबन्धप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात्। कः पुनः संक्लेशः का वा विशुद्धिरिति चेत्, उच्यते— **आर्तरौद्रध्यानपरिणामः संक्लेशस्[२९]तदभावो विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्य[३०]वस्थानम्** ।

६५४. तत्रार्तध्यानं चतुर्विधं,—'[३१]आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे [३२]तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः' (त.सू.९. २९), 'विपरीतं मनो[३३]ज्ञस्य' (त.सू.९.३०), 'वेदना[३४]याश्च' (त.सू.९.३१) 'नि[३५]दानं च' (त.सू.९.३२), इति सूत्रचतुष्टेन तथा प्रतिपादनात्। रौद्रध्यानं चतुर्विधम्, हिंसादिनिमित्तभेदात् 'हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्' (त.सू.९.३५) इत्यत्र सूत्रे प्रकाशनात्। 'मिथ्या[३६]दर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' (त.सू.८.१), त एव संक्लेशपरिणामा इति[३७] न विरुध्यते। तेषामार्तरौद्रध्यानपरिणामकारण[३८]त्वेन संक्लेशाङ्गत्ववचनात्, [३९]तत्कार्यहिंसादिक्रियावत्। 'काय[४०]वाङ्मनःकर्म योगः' (त.सू.६.१), 'स आस्रवः' (त.सू.६.२), 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' (त.सू. ६.३) इत्यपि न विरुद्धम्, कायादियोगस्यापि तत्कारणकार्यत्वेन संक्लेशत्वव्यवस्थितेः ।

६५५., एतेन तदभावे विशुद्धिः। सम्यग्दर्शनादिहेतुः धर्म्यशुक्लध्यानस्वभावा तत्कार्यविशुद्धिपरिणामा[४१]त्मिका च व्याख्याता, तस्या[४२]मेवात्मन्यवस्थानसंभवात्। तदेवं वि[४३]वादाध्यासिताः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवः संक्लेशकारणकार्यस्वभा[४४]वाः प्राणिनामशुभफलपुद्गलसंबन्धहेतवः संक्लेशाङ्गत्वाद्विषभक्षणादिकायादिक्रिया[४५]वत्। तथा विवादापन्नाः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवो विशुद्धिकारणकार्यस्वरूपाः[४६] प्राणिनां शुभफलपुद्गलसंबन्धहेतवः, विशुद्ध्यङ्गत्वात्, पथ्याहारादिकायादिक्रियावत्। ये [४७]शुभाशुभफलपुद्गलास्ते पुण्यं पापं च कर्मानेकविधम्। इति संक्षेपात्सकलशुभाशुभकर्मास्रवबन्धकारणं सूचितं भवति, विस्तरतस्तस्यास्रव[४८]बन्धाध्या[४९]ये सुनिरूपितत्वात्।

६५६. ततः स्यात्स्वपरस्थं सुखदुःखं पुण्यास्रवहेतुः, विशुद्ध्यङ्गत्वात्। स्यात्पापास्रवहेतुः, संक्लेशाङ्गत्वात्। स्यादुभयं, क्रमार्पिततद्द्वयात्। स्यादवक्तव्यं, सहार्पिततद्द्वयात्। स्यात्पुण्यहेतुरवक्तव्यं च[५०], स्यात्पापहेतुरवक्त[५१]व्यं च, स्यादुभयं चावक्तव्यं च, स्व[५२]हेतुविशेषात्। इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववद् योजनीया।

न किंचित्[५३]पापाय प्रभवति न वा पुण्यततये
प्रवृद्धे[५४]द्धां शुद्धिं[५५] समधिवसतो ध्वंसिविधुराम्।
भवेत् पुण्यायैवाखिलमपि विशुद्ध्यङ्ग[५६]मपरं
[५७]मतं पापायैवेत्युदित[५८]मवताद्वो मुनिपतेः ।। १ ।।

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ नवमः परिच्छेदः ।

नवमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. सम्यग्बोधपूर्वत्वादि पौरुषस्य किमिति चेद्विवृतमनन्तरमेव एतत्पद्यगतं सर्वमर्थजातम्। दैवस्यापि कारणत्वमस्तीति संसाध्य, तद्दैवं पुण्यं पापं चेति द्विविधमपि कथमुत्पद्यते इत्यत्र विवादपरिहारं कुर्वन्त्याचार्या अनेनाधिकारेण। २. अचेतनास्तृणकण्टकादयः क्षीरादयश्च यथाक्रमं पापपुण्यबन्धकाः स्युः। अकषायो वीतरागो मुनिः, परस्य शिष्यादेः सुखदुःखकारकः। यदा परं दीक्षयति तदा दुःखकृत्, यदा च परं शिक्षयति तदा सुखकृत्। अतः सोपि बध्येत, न च बध्यते। ३. अन्यत्र प्राणिनि दुःखोत्पादनादित्यादिसंबन्धः। ४. तयोः पुण्यपापयोरास्रवः, तन्निमित्तं किमिति या विप्रतिपत्तिः (संदेहः) तस्या विपत्तिर्विनाशः, तदर्थम्। ५. एवं तर्हि। ६. सुखदुःखनिमित्तत्वात्। ७. अभिसंधिर्मनःसंकल्पः। ८. स्वस्मिन्निति स्वतः। सार्वविभक्तिकस्तस्। ९. पुण्यपापाभ्याम्। १०. स्वस्मिन् सुखदुःखोत्पादनलक्षणनिमित्तसद्भावात्। ११. त्रिकालयोगाद्यनुष्ठानेन। १२. तयोः पुण्यपापयोः।

१३. तदभिसंधिः सुखदुःखयोरुत्पादाभिसंधिः (आसक्तिरिच्छा वा)। १४. अभिप्रायोपेतसुखदुःखोत्पादकत्वं पुण्यपापहेतुर्भवति, तदभावे न भवतीति। १५. कृतान्ते, सिद्धान्ते अङ्गीक्रियमाणे। १६. पुण्यपापयोरभावः कदाचिदपि न स्यादित्यर्थः। १७. अन्यथा। १८. व्याहतिर्विरोधः। १९. अवाच्यतायां स्वीक्रियमाणायाम्, अवाच्यमिति वचनोच्चारणासंभवात्। २०. परस्मिन् पाठान्तरम्। २१. विशुद्धिसंक्लेशौ अङ्गं कारणं यस्य (सुखदुःखस्य) तत्। २२. यदि स्वपरस्थं सुखासुखं विशुद्धिसंक्लेशाङ्ग न, न तर्हि तदास्रवः। व्यर्थः, फलविहीनत्वात्। २३. विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वाभावप्रसङ्गात्। २४. इतः पदत्रयाणामपि (षष्ठीसमासः)। २५. विशेष्यपदम्। तथापि सुखदुःखपदयोर्विशेषणमेव। २६. विशेष्यपदम्। तथापि सुखदुःखपदयोर्विशेषणमेव।

२७. उदितं तु प्राक् 'अचेतनाकषायौ, वीतरागो मुनिः' इति कारिकामध्ये। २८. इष्टाच्चेतनाद्विपरीतेऽचेतने कण्टकादौ (अकषाये च)। २९. भावान्तरस्वभावो धर्मशुक्लध्यानरूपः। ३०. स्वस्वरूपे। ३१. उमास्वामिकृते तत्त्वार्थसूत्रे एतानि सूत्राण्युक्तानि। क्रमेण चतुर्भिः सूत्रैश्चतुर्भेदानां लक्षणमुच्यते। ३२. संयोगे सति तद्वियोगाय कथं स्यादिति स्मृतिसमन्वाहारोऽसकृच्चिन्ता। ३३. मनोज्ञे इष्टविषये वियुक्ते जाते तत्संयोगायासकृच्चिन्ता तद्द्वितीयमार्त्तध्यानम्। ३४. वेदनोपस्थितौ तद्दुःखानुभवस्तृतीयम्। ३५. अप्राप्तैश्वर्यप्राप्तिसंकल्पो निदानं चतुर्थम्। ३६. संक्लेशाङ्गस्य परिणामस्य बन्धहेतुत्वं भवद्भिरुक्तं सूत्रकारैरुमास्वामिभिरागमे तावन्मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वं प्रोक्तमिति परस्परं कथं न भवेदित्याशङ्कायामाह। ३७. 'इत्यपि न विरुध्यते' इत्यपि पाठः। ३८. 'परिणामत्वेन' इति पाठान्तरम्। ३९. तत्कार्यं संक्लेशाङ्गकार्यं, तच्चासौ हिंसादिक्रिया च, तद्वत्। ४०. संक्लेशाङ्गं पापास्रव उक्तः। तथा चाशुभकार्यादिव्यापारस्य पापास्रवहेतुत्वं प्रतिपादयदिदं सूत्रं विरुद्धमिति चेदाह। ४१. तत्कार्यं चासौ विशुद्धिपरिणामश्च, स एवात्मा यस्याः सा। ४२. विशुद्धौ सत्यामेव। ४३. सक्लेशाङ्गविशुद्ध्यङ्गशब्दग्राह्यं तत्कारणकार्यस्वभावविषयं मत्वा विरोधः परिहृतो यतः। ४४. बहुव्रीहितया पूर्वपदस्य विशेषणमिदम्। पुरस्तादपि विशेषणान्येव ! ४५. एताः क्रिया यथाऽशुभफलदायिनां पुद्गलानां सम्बन्धकारणानि भवन्ति, तद्वत्। ४६. सत्यः। ४७. अनेन (पूर्वोक्तेन) शुभाशुभकर्मपुद्गलसिद्धिरेव स्यान्न तु पुण्यपापकर्मसिद्धिरित्याशङ्क्याह। ४८. आस्रवकारणस्य। ४९. तत्त्वार्थशास्त्रे।

५०. विशुद्ध्यङ्गत्वे सहार्पिततद्द्वयात्। ५१. संक्लेशाङ्गत्वे सहार्पिततद्द्वयात्। ५२. क्रमेण विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वेपि अक्रमेण सहार्पिततद्द्वयात्। 'विषयात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५३. सुखं दुःखं च। ५४. क्षायिकलक्षणम्। ५५. अविनश्वरीम्। ५६. विशुद्ध्यङ्गादन्यत् संक्लेशाङ्गम्। ५७. स्वीकृतम्। ५८. वचनम्।

•

अथ दशमः परिच्छेदः

श्रीमदकलङ्कविवृतां समन्तभद्रोक्तिमत्र[1] संक्षेपात् ।
परमागमार्थविषयामष्टसहस्रीं प्रकाशयति ।।

अज्ञानाच्चेद्[2]ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली ।
ज्ञानस्तोकाद् विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोन्यथा[3] ।।९६।।

६५७. प्रसज्य[4]प्रतिषेधे ज्ञानस्याभावोऽज्ञानं, पर्युदासे ततोन्यन्मिथ्याज्ञानमज्ञानम् । तत्र[5] यदि ज्ञानाभावाद् ध्रुवोवश्यंभावी बन्धः स्यात्तदा केवली न कश्चित्स्यात् । सकलविपर्ययरहितं[6] तत्त्वज्ञानमसहायं केवलम्,[7] "एवं[8] तत्त्वाभ्यासान्नास्मि[9]न् मे नाहमित्यपरिशेषम्[10] । अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।।" इति वचनात्,[11] तद्योगात्केवलीत्युच्यते[12] । स[13] कथं न स्यादिति चेत्, तदुत्पत्तेः पूर्वमशेषज्ञानाभावात्,[14] करणजविज्ञानस्यातीन्द्रिया-र्थाविषयत्वादनुमानस्य चात्यन्तं परोक्षार्थागोचरत्वादागमस्यापि सामान्यतोऽविशेषार्थ[15]विषयत्वादयोगिनामशेषविशे-षविषयज्ञानविरोधात् । न चाक्ष[16]लिङ्गशब्दज्ञानपरिच्छेद्य एवार्थस्ततोऽपरो[17] नास्तीति शक्यं वक्तुं, ज्ञेयस्यानन्त्यात्, प्रकृति[18]विवर्त[19]विशेषाणां पुरुषाणां चानन्ततोपगमात्[20] ।

६५८. स्यान्मतम्[21] – 'प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानादेवागमबलभाविनः[22] स्तोकादपि तत्त्वाभ्यासस्वात्मभावात् केवलज्ञानभृद्[23]भवेत्[24] । स एव च तस्य विमोक्षः, पुनः संसाराभावादनागतबन्धनिरोधात्' इति; तदप्ययुक्तम्; स्तोकज्ञानापेक्षया बहोरज्ञानाद्बन्धस्य प्रसङ्गादेष्यद्बन्धनिरोधासंभवाद् विमोक्षानुपपत्तेः ।

६५९. अथ तत्त्वज्ञानेन स्तोकेनापि[25] बहोरज्ञानस्य प्रतिहतशक्तिकत्वान्न तन्निबन्धनो बन्धः संभवतीति;[26] मतं; तदप्यसत् प्रतिज्ञातविरोधात् ! यत् खलु प्रतिज्ञातमज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इति तद्विरुध्यते ।

६६०. अथाखिलज्ञाना[27]भावादज्ञानादवश्यंभावी बन्धो न ज्ञानस्तोकमिश्रणादिति[28] मतं; तदप्यसम्यक्, सर्वदा[29] बन्धप्रसक्तेश्च, तत्र[30] सकलज्ञानाभावस्य बन्धहेतोः बन्धाभावप्रसङ्गात्, सर्वस्य प्राणिनः किंचिज्ज्ञानसंभवान्मुक्तौ[31] संभवात्, असंप्रज्ञातयोगावस्थायां च 'तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानमिति[32] वचनात् । स्वरूपं च पुंसश्चैतन्यमात्रं सकलज्ञानरहितम्,[33] इति मोक्षहेतुरेव[34] बन्धहेतुः स्यात् । यदि पुनस्तत्त्वज्ञानस्य[35] प्रागभावाद्बन्धो, न प्रध्वंसाभावात्[36] इति मतम्, तदा समाविर्भूततत्त्वज्ञानस्य कस्यचित् कुतश्चिद्विपर्ययज्ञानकारणादन्तरङ्गाद्बहिरङ्गाद्वा विपर्ययज्ञानोत्पत्तौ तत्त्वज्ञानप्रध्वंसाद्बन्धः कथं युज्येत?

६६१. स्यान्मतम् – सकलतत्त्वज्ञानोत्पत्तौ निःशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्तेरसंप्रज्ञातयोगोत्पत्तौ तु तत्त्वज्ञानस्यापि नाशादशेषज्ञानाभावाख्यादज्ञानान्मोक्ष एव, ततोऽन्यस्मात्[३८] अज्ञानात्[३९] सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसरूपाद्बन्ध एवेति; तदप्यसाधीयः; केवल्यभावप्रसङ्गस्याभिधानात्[४०]। स्तोकतत्त्वज्ञानाप्रतिबद्धात्[४१]तथाविधादज्ञानाद्बन्ध[४२] इत्यपि विरुद्धम्, [४३]प्रवर्तकधर्महेतोः स्तोकतत्त्वज्ञानात्प्रतिहता[४४]शेषाज्ञानशक्तिकात् पुण्यबन्धाभावानुषङ्गात्। ततो ज्ञानाभावलक्षणादज्ञानान्नावश्यंभावी बन्ध इति पक्षः क्षेमंकरः, स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इति पक्षवत्।

६६२. अथ[४५] मिथ्याज्ञानलक्षणादज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात्,

> **धर्मेण गमनमूर्ध्वं[४६] गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।**
> **ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।।** (सां का०)

इति वचनात्[४७]।

६६३. विपर्ययो मिथ्याज्ञानं सहजमाहार्यं[४८] चानेकविधमित्यभिमतं; तदप्यसत्यम्; केवल्यभावप्रसक्तेः, [४९]समयान्तरश्रवणजनितानेकविधाहार्यविपर्ययस्य सांख्यागमभावनाबलोद्भूततत्त्वज्ञानाद्विनाशेपि सहजस्य विपर्ययस्यानिवृत्तेः। केवलज्ञानात् प्राग् बन्धस्यावश्यंभावात्तन्निबन्धन[५०]मिथ्याज्ञानान्तरोद्भूतेः केवलोद्भूतिविरोधात्। न चागमबलात्सकलतत्त्वज्ञानाविर्भूतिरुपपद्यते, ज्ञेयस्य विशेषतोऽनन्तत्वादागमाविषयत्वादनुमानाद्यविषयत्ववत्[५१][५२], यतः कृत्स्नमिथ्याज्ञाननिवृत्तेः केवलाविर्भावः संभाव्यते। स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्यप्यनेन निराकृतम्, बहुतो मिथ्याज्ञानाद्बन्धस्य प्रसक्तेः। स्तोकतत्त्वज्ञानप्रतिहताद्बहुतोपि मिथ्याज्ञानान्न बन्ध इति चेत्कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात्? कथं वा स्तोकतत्त्वज्ञानात् प्रवर्तकधर्मनिबन्धनात्पुण्यबन्धः? इति दुरवबोधम्।

६६४ एतेनान्त्यमिथ्या[५३]ज्ञानान्न बन्ध इत्येतदप्यपास्तं, प्रतिज्ञातविरोधाविशेषात्। रागादिदोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्धो, निर्दोषान्न बन्ध इत्यपि प्रतिज्ञातविरोधि कापिलानाम्, वैराग्यसहितात्तत्त्वज्ञानान्मोक्ष इति वचनवत्[५४]।

६६५. एतेनैतदपि प्रत्याख्यातम्, यदुक्तं परेण[५५]—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावा[५६]न्निःश्रेयसम्' ( )[५७] इति। मिथ्याज्ञानादवश्यं दोषोद्भूतौ, दोषाच्च प्रवृत्तेर्धर्माधर्मसंज्ञिकायाः प्रादुर्भावे, ततोपि जन्मनः प्रसूतौ, ततोपि दुःखस्यैकविंशतिप्रकारस्य[५८] प्रसवे, केवलिनः साक्षादशेषतत्त्वज्ञानवतोसत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादिप्रत्यक्षा[५९]नुमानोपमानागमैः प्रमाणैः [६०]सकलतत्त्वज्ञानासंभवान्निशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्त्ययोगात् सकलज्ञेयविशेषाणामानन्त्यात्[६१], 'सोयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः, प्रमाणभृद्भेदस्या[६२]परिसंख्येयत्वादिति[६३]' ( ) स्वयमभिधानात्।

६६६. न च मिथ्याज्ञानस्य कात्स्न्र्येनानिवृत्तौ सकलदोषनिवृत्तिः, तदनिवृत्तौ च न प्रवृत्तिनिवृत्तिः, तदनापये च न जन्मनोऽपायः, ततो नाशेषदुःखापायश्च। इति गता[६४] निश्रेयसकथा। यदि पुनरात्माद्यपवर्गपर्यन्त[६५]प्रमेयतत्त्वज्ञानादपर[६६]निःश्रेयसप्राप्तिरिष्यते[६७], न पुनः प्रमाणादिषोडशपदार्थविशेषतत्त्वज्ञानाद्, येन ज्ञानस्तोका[६८]देव विमोक्षसिद्धेः केवली न स्यादिति मतम्, तदा बहोर्मिथ्याज्ञानाद्बन्धः किं न भवेत्? तत्त्वज्ञानेन तस्य प्रतिहतत्वादिति चेत्, [६९]कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यादित्युक्तम्? दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्ध इति चानेन निराकृतम्, योगि[७०]ज्ञानात्[७१] प्रागदोषानिवृत्तेस्तत्कारणमिथ्याज्ञानसंततेः संभवात्[७२]।

६६७. एतेन[७३] वैशेषिकमतमपास्तम् – 'इच्छाद्वेषाभ्यां बन्धः' ( ) इति, केवल्य[७४]भावाविशेषात्।

६६८. 'अ[७५]विद्यातृष्णाभ्यां बन्धोवश्यंभावी। दुःखे विपर्यास[७६]मतिस्तृष्णा वा बन्धकारणम्। जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स ज[७७]न्माधिगच्छति'। ( ) इति ताथागतमपि न सम्यक्, योगिज्ञानाभावप्रसङ्गात्। अयो[७८]गिनः प्र[७९]त्यक्षानुमानाभ्यामखिलतत्त्वज्ञानरूपाया विद्याया एवायोगात्, तद्विशेषज्ञेयस्यानन्त्यात्, स्वयमनन्ता, लोक[८०]धातव' इति वचनात्। न चाविद्यानुच्छेदे तृष्णा निवर्तते यतः सुगतः स्यात्। अथ ज्ञानस्तोकाद्विमोक्ष इष्यते, हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपा[८१]यस्य वेदक[८२]ः सुगत इति ( ) वचनात्, तर्हि बहुतो मिथ्याज्ञानाद्बन्धः सिध्यतु, तन्निबन्धनतृष्णाया अपि संभवात्, कथमन्यथा मिथ्यावबोधतृष्णाभ्यामवश्यंभावी बन्ध इति प्रतिज्ञा न विरुध्यते?

६६९. एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं, यदुक्तं वृद्धबौद्धैः 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं, नामरूपप्रत्ययं षडायतनं, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनाप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्, उपादानप्रत्ययो भवो, भवप्रत्यया जा[८३]तिः, जातिप्रत्ययं जरामरणम्' इति (अभिधर्मको०) द्वादशाङ्गं[८४] प्रतीत्यसमु[८५]त्पाद[८६]स्य संभवात्, क्षणिकनिरात्मकाशुचिदुःखेषु[८७] तद्विपरीतज्ञानलक्षणा[८८]विद्योदये[८९] क्वचिदपि ज्ञेये तत्प्रत्ययसंस्काराणां पुण्यापुण्याने[९०]ञ्ज्यप्रकाराणां शुभाशुभा[९१]नुभयविषयाणामवश्यंभावात्, तद्भावे च वस्तुप्रतिविज्ञप्तिलक्षणविज्ञानस्य विकल्पात्मनः संभवात्, तत्संभवे च विज्ञानसमुद्भूतरूपवेदनासंज्ञासंस्कारज्ञान-लक्षणनामपृथिव्यादिभूतचतुष्टयात्मकरूपसमुदायलक्षणस्य नाम[९२]रूपस्य सिद्धेः, तत्सिद्धौ च चक्षुरादि[९३]षडायतनस्यात्मकृत्यक्रिया[९४]प्रवृत्तिहेतोः प्रसूतेः, तत्प्रसूतौ च तद्धेतूनां षण्णां स्पर्शकायानां रूपं चक्षुषा पश्यामीत्यादिविषयेन्द्रियविज्ञानसमूहलक्षणानां प्रादुर्भावात्, तत्प्रादुर्भावे स्पर्शानुभवलक्षणाया वेदनायाः सद्भावात्, तत्सद्भावे च विषयाध्यवसा[९५]नलक्षणतृष्णायाः समुत्पादात्, तत्समुत्पादे तृष्णावैपुल्यलक्षणस्योपादानस्योदयात्, तदुदये च पुनर्भ[९७]वजनककर्मलक्षणभवस्य भावात्, तद्भावे चापूर्वस्कन्धप्रादुर्भावलक्षणाया जातेरुत्पादात्, तदुत्पत्तौ[९९] च स्कन्ध[९८]परिपाकप्रध्वंसलक्षणजरामरणसद्भावात् केवलिनः कस्यचित्सुगतस्यासंभवप्रसङ्गात्, अन्यथा प्रति[१००]ज्ञातविरोधात्।

६७०. ततः[१०१] सूक्तम्, **यदि बन्धोयमज्ञानान्नेदानीं कश्चिन्मुच्येत, सर्वस्यैव क्वचिदज्ञानोपपत्तेर्ज्ञेयानन्त्यात्, इति** केवलिनः प्राक् सर्वज्ञासंभवात्। **य[१०२]दि पुनर्ज्ञाननि[१०३]र्ह्रासाद्ब्रह्म[१०४]प्राप्तिरज्ञानात्[१०५] सु[१०६]तरां प्रसज्येत, दुःखनिवृत्तेरिव सुखप्राप्तिः**। न ह्यल्प[१०७]दुःखनिवृत्तेः सुखप्राप्तौ बहुतरदुःखनिवृत्तौ सुतरां सुखप्राप्तिरसिद्धा, येन ज्ञानहानेरल्पा[१०८]याः परब्रह्मप्राप्तौ सकलाज्ञानात्तत्प्राप्तिः सुतरां न स्यात्। ततो नायमेकान्तः श्रेयानाभासते 'ज्ञानस्तोकान्मोक्ष' इति, 'अज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध' इत्येकान्तवत्।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।९७।।

६७१. **न हि सर्वात्मनैकस्यैकदा ज्ञानस्तोकान्मोक्षो बहुतश्चाज्ञानाद्बन्ध इत्येकान्तयोरविरोधः स्याद्वादन्याय-विद्विषां सिध्यति, येन तदुभयैकात्म्यं स्यात्।** तथाऽवाच्यतैकान्ते स्ववचनविरोधः पूर्ववत्।

६७२. कुतस्तर्हि पुण्यपापबन्धः प्राणिनां येनाबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः स्यात्? कुतो वा मोक्षो मुनेर्यतः पौरुषादिष्टसिद्धिर्बुद्धिपूर्वा स्यात् ? चार्वाकमतमेव वा [१०९]'बन्धमोक्षाभाव एव परलोकाभावात्' इति न भवेत्? इत्यारेकां निराचिकीर्षवः प्राहुः-

[११०]अज्ञानान्मोहिनो बन्धो [१११]नाज्ञानाद् वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः [११२]स्यादमोहान्मोहिनोन्यथा ।।९८।।

६७३. **मोहनीयकर्मप्रकृतिलक्षणादज्ञानाद्युक्तः कर्मबन्धः** स्थित्यनुभागाख्यः[११३] स्वफलदानसमर्थः क्रोधादिकषायैकार्थसमवायिनो[११४] मिथ्याज्ञानस्य अज्ञानस्य[११५] च मोहनीयकर्मप्रकृतिं लक्षयतः[११६] पुंसो बन्धनिबन्धनत्वोपपत्तेः[११७], 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः' (त० सू० ८.२) इति वचनात् । [११८]**ततोन्यतोपि बन्धाभ्युपगमेतिप्रसङ्गात्,** क्षीणोपशान्तकषायस्याप्यज्ञानाद्बन्धप्रसक्तेः[११९] । [१२०]प्रकृतिप्रदेशबन्धस्तस्याप्यस्तीति चेन्न, तस्याभिमतेतरफलदानासमर्थत्वात्, सयोगकेवलिन्यपि[१२१] संभवादविवादापन्नत्वात् । न चात्रागममात्रं, युक्तेरपि सद्भावात् । तथाहि - विवादापन्नः प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धः[१२२] कषायैकार्थसमवेताज्ञान-निबन्धनस्तथात्वात्[१२३]पथ्येतराहारादिसंबन्धवत्[१२४] ।

६७४. नात्र प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादसिद्धो हेतुर्धर्मिणानेकान्तात्[१२५], तस्य प्रतिज्ञार्थधर्मिधर्मसमूहैकदेशत्वेपि[१२६] प्रसिद्ध-त्ववचनात्[१२८], 'अनित्यः शब्दः, शब्दत्वादित्यत्रापि[१२७] हेतोरसिद्धत्वविरोधात् । न चात्र विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतः कश्चिद्दोषः, प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो विनश्वरः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् , घटवत्, इति यथा ।

६७५. [१२९]ननु [१३०]शब्दस्य धर्मित्वे पक्षाव्यापको हेतुः स्यात्, [१३१]समुद्रघोषादेः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभावात् । [१३२]ततोऽत्र प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो विशिष्टो धर्मीति चेत्तर्हि प्राणिनां पुद्गलविशेषसंबन्धस्य धर्मित्वे तथात्वस्य च हेतुत्वे दृष्टान्तासिद्धिप्रसक्तेः[१३३], प्रकृतिप्रदेशबन्धाभ्यामनैकान्तिकत्वप्रसङ्गाच्च[१३४] विवादापन्नत्वविशेषणमिष्टानिष्टफल-दानसमर्थत्वविशेषणं च युक्तम् , इष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धत्वस्य हेतोः कषायैकार्थसमवेताज्ञान[१३५]-निबन्धनत्वेन व्याप्तस्य पथ्येतराहारादिषु [१३६]पुद्गलविशेषसंबन्धे[१३७] सुप्रसिद्धत्वादुदाहरणस्य[१३८] साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावात्, हेतोश्चानन्वयत्वासंभवात्, विवादापन्नो[१३९] धूमोग्निजन्मा धूमत्वान्महानसधूमवत्, इत्यादिवत्[१४०]।

६७६. [१४१]न चेष्टानिष्टफलदानसमर्थः कर्मबन्धः पुद्गलविशेषसंबन्धो न [१४२]भवति, पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमान-त्वाद् व्रीह्यादिवत्[१४३] । जीवविपाकिषु[१४४] कर्मसु तदभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेन्न, तेषामपि सकर्मजीवसंबन्धेन विपच्यमानत्वात् पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वस्य प्रसिद्धेः[१४५] पुद्गलक्षेत्रभवविपाकिकर्मवत् पक्षव्यापकत्वसिद्धेः । पूर्वानुभूतविषयस्मरणेन सुखदुःखदायिषु कर्मसु तदभावात्[१४६] पक्षाव्यापकत्वमस्य हेतोरित्यप्यनेन निराकृतम् , परम्परया[१४७] पुद्गलसंबन्धेनैव तेषां विपच्यमानत्वाच्च । न किंचित्कर्म साक्षात्परम्परया वात्मनः पुद्गलसंबन्धमन्तरेण विपच्यमानमस्ति, येन पौद्गलिकं न स्यात् । ततो न कर्मबन्धस्य पुद्गलविशेषसंबन्धित्वमसिद्धम् । [१४८]नापीष्टानिष्टफलदानसमर्थत्वम् , दृष्टकारणव्यभिचारे शुभेतरफलानुभवनस्य स्वसंविदितस्यादृष्टहेतुत्वसिद्धेः, रूपादिज्ञानस्य चक्षुराद्यदृश्यहेतुवत्[१४९] ।

६७७. नन्वेवमज्ञानहेतुकत्वे बन्धस्य मिथ्यादर्शनादिहेतुत्वं कथं सूत्रकारोदितं न विरुध्यते, इति चेत्, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगानां कषायैकार्थसमवाय्यज्ञानाविनाभाविनामेवेष्टानिष्टफलदानसमर्थकर्मबन्धहेतुत्वसमर्थनात् मिथ्यादर्शनादीनामपि संग्रहात् संक्षेपत इति बुध्यामहे। ततो मोहिन एवाज्ञानाद्विशिष्टः कर्मबन्धो न वीतमोहादिति सूक्तम्[१५०]। **तथैव बुद्धेरपकर्षान्मोहनीयपरिक्षयलक्षणान्मोक्ष्यति विपर्यये**[१५१] **विपर्यासादित्यधिगन्तव्यं,** प्रकृष्टश्रुतज्ञानादेः क्षायोपशमिकात् केवलापेक्षया स्तोकादपि छद्मस्थवीतरागचरमक्षणभाविनः साक्षादार्हन्त्यलक्षणमोक्षस्य सिद्धेः। तद्विपरीतात्तु मोहवतः स्तोकज्ञानात् सूक्ष्मसाम्परायान्तानां[१५२] मिथ्यादृष्ट्यादीनां कर्मसंबन्ध एव। इति चिन्तितमन्यत्र[१५३]।

६७८. नन्वस्तु[१५४] मोहप्रकृतिभिः कामादिदोषात्मिकाभिः सहचरितादज्ञानात् पुण्यपापकर्मणोः शुभाशुभफलानुभवनिमित्तयोः प्राणिनां बन्धः। स तु कामादिप्रभवो[१५५] महेश्वरनिमित्त[१५६] एवेत्याशङ्कामपाकर्तुमिदमाहुः–

कामादिप्रभवश्चित्रः[१५७] कर्मबन्धानुरूपतः।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो[१५८] जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः[१५९] ॥९९॥

६७९. कामादिप्रभवो[१६०] भावसंसारोयं **नैकस्वभावेश्वरकृतः, तत्कार्यसुखदुःखादिवैचित्र्यात्।** यस्य यस्य कार्यवैचित्र्यं[१६१] तत्तन्नैकस्वभावकारणकृतम्, यथानेकशाल्यङ्कुरादिविचित्रकार्यं शालिबीजादिकं, सुखदुःखादिकार्यवैचित्र्यं च संसारस्य, तस्मान्नायमेकस्वभावेश्वरकृतः। न तावदयं हेतुरनिश्चितव्यतिरेकत्वादगमकः, साध्याभावेनुपपन्नत्वग्राहकप्रमाणसद्भावात्। न हि कारणस्यैकरूपत्वे कार्यनानात्वं युक्तं, शालिबीजाङ्कुरवत्[१६२]। प्रसिद्धस्तावदेकस्वरूपाच्छालिबीजादनेकाङ्कुरकार्यायोगः, स एव दृष्टान्तः स्यात्। ततः साध्विदं विपक्षे बाधकं[१६३] [१६४]प्रमाणमेकस्वभावकारणकृतत्वप्रतिषेधस्य साध्यस्याभावे नियमेनैकस्वभावकारणकृतत्वेऽनेककार्यत्वस्य साधनस्य व्यावृत्तिनिश्चयजननात्, विचित्रकार्यं च स्यादेकस्वरूपकारणकृतं च स्यादिति संभावनाशङ्काव्यवच्छेदात्। कालादिना व्यभिचारी हेतुरिति चेन्न[१६५], तस्यैकस्वभावत्वैकान्तासिद्धेः। **अपरिणामिनः[१६६] सर्वथार्थक्रियाऽसंभवात् तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः[१६७] सद्भावमेव तावन्न संभावयामः[१६८]।** सत्त्वस्यार्थक्रियया[१६९] व्याप्तिरसिद्धेति न मन्तव्यं, तद्रहितस्य[१७०] खपुष्पादेरसत्त्वनिश्चयात्[१७१]।

६८०. नन्व[१७२]सतोप्य[१७३]सदिति[१७४]प्रत्ययलक्षणार्थक्रियाकारित्वान्न तया[१७५] सत्त्वस्य व्याप्तिरिति न शङ्कितव्यं[१७६], व्यापकस्य[१७७] तदतन्निष्ठतया[१७८] व्याप्याभावेपि भावाविरोधात् तद्व्याप्तेरखण्डनात्[१७९]। क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाव्याप्तिरसिद्धेति चेन्न, प्रकारान्तरेणार्थक्रियायाः संभवाभावात्। [१८०]एकस्यैकामेवार्थक्रियां संपादयतो न क्रमो नापि यौगपद्यं, [१८१]तस्यानेककार्यविषयत्वादिति चेन्न[१८२], तादृशस्य[१८३] वस्तुनोसंभवत्। सर्वस्य बाह्यामर्थक्रियां कुर्वतोऽन्तरङ्गस्वज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारणस्यावश्यंभावित्वा[१८४]दन्यथा[१८५] योगिनोऽसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्, पदार्थस्यानेकक्षणस्थायिनः क्रमेणाक्रमेण वानेककार्यकारित्वसिद्धेरेकक्षणस्थायिनोनभ्युपगमात् तथाप्रतीत्यभावाच्च[१८६]। क्रमयौगपद्ययोः परिणामित्वेन [१८७]व्याप्तिरसिद्धेति चेन्न, अपरिणामिनः[१८८] क्षणिकस्येव नित्यस्यापि क्रमयौगपद्यविरोधात्।

६८१. ततः कस्यचित्परिणामित्वाभावे क्रमयौगपद्याभावादर्थक्रियापायात् सत्त्वानुपपत्तेर्वस्तुत्वसंभावनाभाव एवेति निश्चितम्। **तत्र कालदेशावस्थास्वभावभिन्नानां तनुकरण[१८९]भुवनादीनां किलायं कर्तेति महच्चित्रं,** प्रकृतप्रमाण[१९०]बाधनात्।

६८२. [१९१]**एतेनेश्वरेच्छा प्रत्युक्ता,**[१९२] तस्या अपि नित्यैकस्वभावायाः कार्यवैचित्र्यानुपपत्तेर्व[१९३]-स्तुत्वसंभावनानुपपत्तेश्चाविशेषात्। **न चैतेनास्याः संबन्धस्तत्कृ[१९४]तो[१९५]पकारानपेक्षणात्।** न हि नित्यादेकस्वभावादीश्वरात् कश्चिदुपकारः सिसृक्षायास्तथाविधायाः संभवत्यनर्थान्तरभूतः, नित्यत्वविरोधात्। नाप्यर्थान्तरभूतः,[१९६] संबन्धासंभवा[१९७]दनुपकारात्, उपकारान्तरेनवस्था[२०५] प्रसङ्गात्। **ततो व्यपदेशोपि मा भूत्** ईश्वरस्य[१९८] सिसृक्षेति। तत्र[२०१] समवायात्तथा व्यपदेश इति चेन्न, सर्वथै[१९९]कस्वभावस्य समवायित्व[२००]निमित्तकारणत्वादिनानास्वभावविरोधात्।

६८३. महेश्वरस्या[२०२]भिसन्धेरनित्यत्वेपि[२०३] **समानः प्रसङ्गः**[२०७] पदार्थान्तरभूतस्याभिसन्धेस्तेन[२०४] संबन्धाभावस्य[२०५] तत्कृतोपकारानपेक्षस्य[२०६] व्यपदेशासंभवस्य चाविशेषात्, सकलकार्याणामुत्पत्तिविनाशयोः स्थितौ च महेश्वराभिसंधेरेकत्वे **सकृदुत्पत्त्यादि[२०८]प्रसङ्गाद्वि[२०९]चित्रत्वानुपपत्तेरिति।** तदनेकत्वेप्यक्रमत्वेऽस्यैव दोषस्योप[२१०]निपातात्, क्रमवत्त्वे[२११] केषांचित्कार्याणां सकृदुत्पत्त्यादि[२१२]दर्शनविरोधात् कथमनित्यो[२१३]भिसन्धिरीशस्य स्यात्?[२१४] सन्नप्यसौ यदीश्वरसिसृक्षानपेक्षजन्मा तदा तन्वादयोपि तथा भवेयुरिति[२१५] न कार्यत्वादिहेतवः प्रयोजकाः स्युः।[२१६] सिसृक्षान्तरापेक्षजन्मा चेदनवस्था। बुद्धिपूर्वकत्वादिच्छाया न दोष इति चेत्सा तर्हि बुद्धिरीश्वरस्य यदि नित्यैकस्वभावा[२१७] तदा कथमनेकसिसृक्षाजननहेतुः क्रमतो युज्येत युगपद्वा? पूर्वपूर्वसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरसि-सृक्षोत्पत्तिर्नित्यैकस्वभावबोधस्यापि महेश्वरस्य न विरुद्धा[२१८] तत्समानसमयानेकतन्वादिकार्योत्पत्तिश्च, पूर्वसिसृक्षात उत्तरसिसृक्षायास्तत्समानकालतन्वादिकार्याणां च भावादनादित्वात्[२१९] कार्यकारणप्रवाहस्येति चेन्न,[२२०] एकस्वभावस्येश्वरबोधस्यैकस्य पूर्वपूर्वसिसृक्षापेक्षाविरोधात्, तदपेक्षायां स्वभावभेदादनित्यतापत्तेः।

६८४. अथ सिसृक्षातन्वादिकार्योत्पत्तौ नेश्वरबोधः सिसृक्षान्तरमपेक्षते, तत्कार्याणामेव तदपेक्षत्वात्, इति मतं तदप्यसत्, नित्येश्वरबोधस्य तदनिमित्तत्वप्रसङ्गात्। तदभावेऽभावात्तस्य तन्निमित्तत्वे सकलात्मनां तन्निमित्तता[२२१] स्याद्, व्यतिरेकाभावाविशेषात्[२२२]। अथासर्वगतस्येश्वरबोधस्य नित्यत्वात्कालव्यतिरेका[२२३]-भावेपि न देशव्यतिरेकासिद्धिः। सकलात्मनां तु नित्य[२२४]सर्वगतत्वात्कालदेशव्य[२२५]तिरेकासिद्धिरिति मतम्,[२२६] तर्हि दिक्कालाकाशानां तत एव[२२७] सर्वोत्पत्तिमन्निमि[२२८]त्तकारणता मा भूत्[२२९]।

६८५. एतेनैवेश्वरस्य तन्निमित्तकारणत्वं प्रतिक्षिप्तं, नित्येश्वरबोधस्यापि तन्निमित्तत्वे सकृत् सर्वत्रोत्पित्सुकार्याणामुत्पत्तिर्न स्यात्,[२३०] तस्य सर्वत्राभावात् शरीरप्रदेशवर्तिनोपि सर्वत्र बहिर्निमित्तकारणत्वं देशव्यतिरेकस्याप्यभावात् कथमन्वयमात्रेण तत्कारणत्वं युक्तम्? [२३१]नित्येश्वरज्ञानस्य सर्वगतत्वेप्ययमेव दोषः। तस्यानित्यासर्वगतत्वात् कालदेशव्यतिरेकसिद्धेस्तन्वा[२३२]दौ निमित्तकारणत्वसिद्धिरि[२३३]ति चेन्न, ईश्वरस्य कदाचित्क्वचिद्बोधवैधुर्ये सकलवेदित्वविरोधा[२३४]त्।

६८६. यदि पुनरपरापरसर्वार्थज्ञानस्याविच्छेदात् सदाशेषवेदित्वमविरुद्धं तदा कुतो व्यतिरेकस्तस्य सिध्येत्? कथं चानित्यस्य[२३५] बोधस्येश्वरबोधान्तरानपेक्षस्योत्पत्तिर्न पुनः सिसृक्षातन्वादिकार्याणामिति[२३६] विशेषहेतोर्विना[२३७] प्रतिपद्येमहि? तस्य बोधान्तरापेक्षायामनवस्थानं तदवस्थम्।

६८७. स्यान्मतम् – पूर्वपूर्वबोधसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरबोधसिसृक्षातन्वादिकार्याणामुत्पत्तेरनादित्वात्कार्यकारणभावस्य बीजाङ्कुरादिवदयमदोष[२३८] इति नैतत्सारम्; ईश्वरकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्। तद्भावे भावाद्बोधादिकार्याणां तत्कारणत्वसिद्धेर्नानर्थक्यमिति चेन्न, व्यतिरेकासिद्धेः[२३९], अन्वयमात्रेण कारणत्वे तदकारणत्वाभिमतानामपि[२४०] तत्प्रसङ्गात्। न चैकस्वभावाद्बोधात्कामादिकार्यवैचित्र्यं क्रमतोपि युज्यते महेश्वरसिसृक्षाभ्यामिति[२४१], किमनया[२४२] चिन्तया? **तयोरेकस्वभावत्वेपि कर्मवैचित्र्यात्कामादिप्रभववैचित्र्यमिति चेद्युक्तमेतत्, किंतु नेश्वरेच्छायां किंचित्**[२४३], **तावतार्थपरिसमाप्तेः**[२४४], सति कर्मवैचित्र्ये कामादिप्रभववैचित्र्यस्य भावादसत्यभावात् 'कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः' इत्यस्यैव दर्शनस्य[२४५] प्रमाणसिद्धत्वात्, अनिश्चितान्वयव्यतिरेकयोरीश्वरेच्छयोः कारणत्वपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गात्[२४६]।

६८८. **एतेन**[२४७] **विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषादिभ्यः**[२४८] **पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसाधने नेश्वरप्रापणं**[२४९] **प्रत्युक्तम्**[२५०], धर्माधर्माभ्यामेवात्मनः शरीरेन्द्रियबुद्धीच्छादिकार्यजननस्य सिद्धेः, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमन्तरेणापि विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषकार्यत्वाचेतनोपादानत्वार्थक्रियाकारित्वादीनां[२५१] साधनानामुपपत्तेस्ततः[२५२] पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वासिद्धेः।

६८९. ननु[२५३] च **प्राक्कायकरणोत्पत्तेरात्मनो**[२५४] **धर्माधर्मयोश्च स्वयमचेतनत्वाद्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणादिसंपादनकौशलासंभवात्**[२५५] **तन्निमित्तमात्मान्तरं, मृत्पिण्डादिकुलालवदिति**[२५६] **चेन्न, एवमपि**[२५७] **प्रकृतसाधनव्यतिरेकानिश्चयात्**[२५८]। तथाहि – तनुकरणभुवनादिकं विवादापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं, विरम्य प्रवृत्तेः, सन्निवेशविशिष्टत्वात्, अचेतनोपादानत्वात्, अर्थक्रियाकारित्वात्, कार्यत्वाद्वा, घटवत्, इति साधनमुच्यते, तस्यात्मान्तरमीश्वराख्यं[२५९] बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाचेतनस्यात्मनो[२६०]ऽनीशस्य धर्माधर्मयोश्चाचेतनयोर्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणभुवनादिनिर्मापणकौशलासंभवात्तन्निमित्तकारणमात्मान्तरं बुद्धिमत्कारणमेषितव्यम्[२६१], इत्यनेन व्यतिरेकः समर्थ्यते। कुलालमन्तरेण मृत्पिण्डदण्डादेः स्वयमचेतनस्य घटादिनिष्पादनकौशलासंभववदिति वैधर्म्यदृष्टान्तप्रदर्शनम्। सत्येव कुलाले मृत्पिण्डादेर्घटादिसंपादनसामर्थ्यदर्शनादिति चान्वयसमर्थनमभिधीयते[२६२]। न चैतदभिधातुं[२६३] शक्यमन्यथानुपपत्तेरभावात्। बुद्धिमता कारणेन विना विरम्य प्रवृत्त्यादेरसंभवादन्यथानुपपत्तिरस्त्येवेति चेन्न, **तस्यापि**[२६४] **वितनुकरणस्य तत्कृतेरसंभवात्**[२६५], कालादिवत्[२६६]। तादृशेपि[२६७] निमित्तभावेकर्मणामचेतनत्वेपि तन्निमित्तत्वमप्रतिषिद्धं, सर्वथा दृष्टान्तव्यतिक्रमात्। यथैव हि कुलालादिः सतनुकरणः कुम्भादेः प्रयोजको दृष्टान्तस्तनुकरणभुवनादीनामशरीरेन्द्रियेश्वरप्रयोजकत्वकल्पनया व्यतिक्रम्यते, तथा कर्मणामचेतनानामपि तन्निमित्तत्वकल्पनया बुद्धिमानपि[२६८] दृष्टान्तो[२६९] व्यतिक्रम्यतां[२७०], विशेषाभावात्[२७१]।

६९०. स्यान्मतम्[२७२] – 'सशरीरस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नवत एव कुलालादेः कारकप्रयोक्तृत्वं[२७३] दृष्टं, कुटादिकार्यं कर्त्तुमबुद्ध्यमानस्य तददर्शनाद्, तद्बुद्धिमतोपीच्छापाये तदनुपलब्धेस्तदिच्छावतोपि प्रयत्नाभावे तदनुपलम्भात्। तद्वद्वितनुकरणस्यापि बुद्धिमतः स्रष्टुमिच्छतः प्रयत्नवतः[२७४] शश्वदीश्वरस्य समस्तकारकप्रयोक्तृत्वोपपत्तेर्न दृष्टान्तव्यतिक्रमः[२७५], सशरीरत्वेतरयोः कारकप्रयुक्तिं प्रत्यनङ्गत्वात्[२७६]। न हि सर्वथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमस्ति[२७७] 'तद्विशेषविरोधात्'[२७८] इति, तदयुक्तं वितनुकरणस्य बुद्धीच्छाप्रयत्नानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत्[२७९] शरीराद्बहिः[२८०] संसार्यात्मवत्, कालादिवद्वेति[२८१]। शरीरेन्द्रियाद्युत्पत्तेः पूर्वमात्मना व्यभिचार[२८२] इति चेन्न, तस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नरहितत्वोपगमादन्यथा स्वमतविरोधात्[२८३]। परेषां[२८४] तु तस्य सशरीरस्यैव[२८५] बुद्ध्यादिमत्त्वाभ्युपगमान्न तेनानेकान्तः।

६९१. ननु[२८६] चेश्वरस्य धर्मित्वे तदप्रतिपत्तावाश्रयासिद्धो हेतुरिति चेन्न, प्रसङ्गसाधने[२८७]वश्यमाश्रयस्यानन्वेषणीयत्वात् तत्प्रतिपत्तिसद्भावाच्च[२८८]। ननु यतः प्रमाणादीश्वरस्यास्मद्विलक्षणस्य धर्मिणः प्रतिपत्तिस्तेनैव[२८९] हेतुर्बाध्यते[२९०] इति चेन्न, आत्मान्तरस्य[२९१] सामान्येनेश्वराभिधानस्य धर्मित्वात् सकलकारकप्रयोक्तृत्वेन[२९२] बुद्ध्यादिमत्त्वेन च तस्य विवादापन्नत्वात्।

६९२. अथ 'तन्वादिकारकाणि[२९३] विवादापन्नानि चेतनाधिष्ठितानि, विरम्यप्रवृत्त्यादिभ्यो, वास्यादिवत्, इत्यनुमानात् समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं बुद्ध्यादिसंपन्नत्वं चेश्वरस्य साध्यते। ततोऽशरीरेन्द्रियत्वम्[२९४], अनाद्यनन्ततन्वादिकार्यसंताननिमित्तकारणस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तस्य[२९५] शरीरत्वविरोधात्। अशरीरत्वमपि तस्यानाद्यनन्तमस्तु बुद्धीच्छाप्रयत्नवत्। इति मतं, तदयुक्तं, प्रमाणबाधनात्! तथा हि—नेश्वरे शरीरत्वमनाद्यनन्तमशरीरत्वात्, परप्रसिद्ध्या[२९६] कायकरणोत्पत्तेः पूर्वमस्मदाद्यशरीरत्ववत्। नेश्वरबुद्ध्यादयो नित्या बुद्ध्यादित्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवदिति। एतेनागमात् 'अपाणिपादः'[२९७] इत्यादेरीश्वरस्याशरीरत्वसाधनं प्रत्याख्यातं, तस्य[२९८] युक्तिबाधितत्वात्[२९९]। तत एव सशरीरो महेश्वरोस्त्विति चेन्न, तच्छरीरस्यापि बुद्धिमत्कारणापूर्वकत्वे[३००] तेनैव कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारात्[३०१]। तस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे वाऽपरापरशरीरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् पूर्वपूर्वस्वशरीरेणोत्तरोत्तरस्वशरीरोत्पत्तौ भवस्य[३०२] निमित्तकारणत्वे[३०३] सर्वसंसारिणां तथा प्रसिद्धेरीश्वरकल्पनावैयर्थ्यात्, स्वोपभोग्यभुवनाद्युत्पत्तावपि[३०४] तेषामेव[३०५] निमित्तकारणत्वोपपत्तेः। इति न कार्यत्वाचेतनोपादानत्वसन्निवेशविशिष्टत्वहेतवो गमकाः[३०६] स्युः। **स्थित्वाप्रवर्तनार्थक्रियादि[३०७] चेतनाधिष्ठानादिति नियमे पुनरीश्वरादेरपि[३०८] मा[३०९] भूत्[३१०]।** अन्यथेश्वरदिक्कालाकाशाश्चेतनाधिष्ठिताः[३११] स्युः, सर्वकार्येषु क्रमजन्मसु स्थित्वा प्रवर्तनादर्थक्रियाकारित्वाद्वास्यादिवदिति न्यायात्। तथा[३१२] चेश्वरोपीश्वरान्तरेणाधिष्ठित इत्यनवस्था स्यात्, अन्यथा[३१३] स्यात्तेनैवास्य[३१४] हेतोर्व्यभिचारः[३१५]।

६९३. **नायं[३१६] प्रसङ्गो[३१७], बुद्धिमत्त्वादिति[३१८] चेत्तत एव तर्हि[३१९] प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनो मा भूवन्।** यथैव हि बुद्धिमानीश्वरो नाधिष्ठात्रन्तरं[३२०] चेतनमपेक्षते[३२१] तथा प्रहीणान् कुब्जादिशरीरकरणादीनपि मास्म करोत्, सातिशयं[३२२] तद्विदः प्रहीणस्वकार्याकरणदर्शनात्। प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनां **कर्मणो**

वैचित्र्यादिति चेत्तर्हि कर्मणामपि **तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तत्वे** [३२३]**समानप्रसङ्गः**[३२४], तान्यपि प्रहीणतनुकरणादि-कारणानि मा भूवन्निति[३२५]। [३२६]**तदनिमित्तत्वे तनुकरणादेरपि तन्निमित्तत्वं मा भूद्विशेषाभावात्**। एवं[३२७] चार्थक्रियादेरपि[३२८] ताभ्यामनैकान्तिकत्वं[३२९] कर्मणः[३३०] स्थाणोश्चार्थक्रियाकारित्वस्थितत्त्वाप्रवर्तनयोश्चेतनाधिष्ठानाभावेपि भावात्। **ततः कर्मबन्धविशेषवशाच्चित्राः कामादयस्ततः कर्मवैचित्र्यमिति**[३३१] **स्थितम्**[३३२]। [३३३]**नहि भावस्वभावोपालम्भः**[३३४] **करणीयोन्यत्रापि**[३३५] तथैव **तत्प्रसङ्गानिवृत्तेः**। यथैव हि कथमचेतनः कर्मबन्धः कामादिवैचित्र्यं कुर्यात् कामादिर्वा चेतनस्वभावः कथमचेतनं कर्मवैचित्र्यमिति तत्स्वभावस्योपालम्भः प्रवर्त्यते तथा कथमचेतन-मुन्मत्तकादिभोजनमुन्मादादिवैचित्र्यं विदधीत, प्राणिनामुन्मादादिर्वा चेतनः कथमचेतनं मृदादि [३३६]रूपवैचित्र्यमित्यपि तत्स्वरूपोपालम्भः किमिति प्रसज्यमानो निवर्त्यते? तथा दृष्टत्वादिति चेत्तत एवं [३३७]प्रकृतस्वभावोपालम्भोपि निवर्त्यतां, [३३८]तथानुमितत्वात्।

६९४. न चैवमीश्वरस्याप्यनुमितत्वादुपालम्भप्रसङ्गनिवृत्तिः स्यादिति शङ्कनीयं, तदनुमानस्यानेकदोषदुष्टत्वात्। तथा हि—तनुकरणभुवनादेः कार्यत्वादिसाधनं किमेकबुद्धिमत्कारणत्वं साधयेदनेकबुद्धिमत्कारणत्वं वा? प्रथमपक्षे प्रासादादिनानेकसूत्रधारयजमानादिहेतुना[३३९] [३४०]तदनेकान्तिकम्। द्वितीयपक्षे सिद्धसाधनं, नानाप्राणिनिमित्तत्वात्तदुपभोग्यतन्वादीनां, [३४१]तेषां [३४२]तद्दृष्टकृतत्वात्। एतेन[३४३] बुद्धिमत्कारणसामान्यसाधने सिद्धसाधनमुक्तं, [३४४]तदभिमतविशेषस्याधि[३४५]करणसिद्धान्तन्यायेनाप्य[३४६]सिद्धेः। सामान्यविशेषस्य[३४७] साध्यत्वाद[३४८]दोष इति चेन्न, दृष्टादृष्टविशे[३४९]षाश्रयसामान्यविकल्पद्वयानतिवृत्तेः, [३५०]दृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्यस्य साध्यत्वे [३५१]स्वेष्टविघातात्, [३५२]अदृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्यस्य साध्यत्वे साध्यशून्यत्वप्रसङ्गा[३५३]न्निदर्शनस्य। [३५४]दृष्टेतरविशेषाश्रयसामान्यसाधनेपि स्वाभिमतविशेषसिद्धिः कुतः [३५५]स्यात् ? अधिकरणसिद्धान्तन्यायादिति चेत्, कोयमधिकरणसिद्धान्तो नाम? [३५६]यत्सिद्धावन्य[३५७]प्रकरण[३५८]सिद्धिः सोधिकरणसिद्धान्तः। ततो दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यमात्रस्य बुद्धिमन्निमित्तस्य जगत्सु प्रसिद्धौ प्रकरणाज्जगन्निर्माणसमर्थः समस्तकारकाणां प्रयोक्ता सर्वविदलुप्तशक्तिर्विभुरशरीरत्वादिविशेषाश्रय एव सिध्यतीति चेत्स्यादेवं, यदि सकलजगन्निर्माणसमर्थेनैकेन समस्तकारकाणां [३५९]प्रयोक्तृत्वसर्वज्ञत्वादिविशेषोपेतेना-विनाभावि दृष्टेतरविशेषाधिकरणबुद्धिमत्कारणसामान्यं कुतश्चित् [३६०]सिध्येत्। न च सिध्यति, अनेकबुद्धिमत्कारणेनैव स्वोपभोग्यतन्वादिनिमित्तकारणविशेषेण [३६१]तस्य व्याप्तत्वसिद्धेः समर्थनात्। [३६२]तथा सर्वज्ञवीतरागकर्तृकत्वे साध्ये घटादिनानैकान्तिकं [३६३]साधनं , साध्यविकलं च [३६४]निदर्शनम्। सरागासर्वज्ञकर्तृकत्वे साध्येऽपसिद्धान्तः। [३६५]सर्वथा कार्यत्वं च साधनं तन्वादावसिद्धं, तस्य कथंचित्कारणत्वात्। कथंचित्कार्यत्वं तु विरुद्धं, सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वात्साध्याद्विपरीतस्य कथंचिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वस्य साधनात्। तथा पक्षोप्यनुमानबाधितः स्यात् , 'अकृत्रिमं जगत् , दृष्टकर्तृकविलक्षणत्वात्, खादिवत्' इत्यनुमानस्य [३६६]तद्बाधकस्यान्यत्र समर्थितत्वात्। इति सूक्तं [३६७]'नेश्वरकृतः संसारः' इति।

६९५. ननु यदि कर्मबन्धानुरूपतः संसारः स्यात्र **तर्हि केषांचिन्मुक्तिरितरेषां संसारश्च, कर्मबन्धनिमित्ता-विशेषादिति चेन्न, तेषां शुद्ध्यशुद्धितः प्रतिमुक्तीतरसंभवादात्मनाम्**। न हि जीवाः [३६८]शश्वदशुद्धित एव

व्यवस्थिताः स्याद्वादिनां याज्ञिकानामिव[३६९], कामादिस्वभावत्वनिराकरणात्[३७०], तत्स्वभावत्वे[३७१] कदाचिदौदासीन्योपलम्भविरोधात्[३७२] । नापि शुद्धित एवावस्थिताः[३७३] कापिलानामिव, प्रकृतिसंसर्गेपि[३७४] तत्र कामाद्युपलम्भविरोधात् , प्रकृतावेव कामाद्युपलम्भे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात्, तदुपभोगस्यापि तत्रैव संभवात्। न ह्यन्यः[३७५] कामयतेऽन्यः[३७६] काममनुभवतीति वक्तुं युक्तम्। नापि सर्वे संभवद्विशुद्धय एव जीवाः प्रमाणतः प्रत्येतुं शक्याः, संसारिशून्यत्वप्रसङ्गात् । किं तर्हि? शुद्ध्यशुद्धिभ्यां व्यवतिष्ठन्ते, 'जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः' इति वचनात्। ततः शुद्धिभाजामात्मनां प्रतिमुक्तिरशुद्धिभाजां संसारः। केषांचित्[३७७] प्रतिमुक्तिः स्वकाललब्धौ[३७८] स्यादिति प्रतिपत्तव्यम्। के पुनः शुद्ध्यशुद्धी जीवानामित्याहुः—

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्[३७९] ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ।।१००।।

६९६. शुद्धिस्तावज्जीवानां भव्यत्वं केषांचित्सम्यग्दर्शनादियोगान्निश्चीयते[३८०]। अशुद्धिरभव्यत्वं तद्वैपरीत्यात्[३८१] सर्वदा प्रवर्तनादवगम्यते छद्मस्थैः, प्रत्यक्षतश्चातीन्द्रियार्थदर्शिभिः। इति **भव्येतरस्वभावौ**[३८२] शुद्ध्यशुद्धी जीवानां **तेषां सामर्थ्यासामर्थ्ये,** शक्त्यशक्ती इति यावत्। ते **माषादिपाक्यापरशक्तिवत्**[३८३] संभाव्येते सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्। तत्र शुद्धेर्व्यक्तिः सादिस्तदभिव्यञ्जकसम्यग्दर्शनादीनां सादित्वात्। एतेनानादिः सदाशिवस्य शुद्धिरिति प्रत्युक्तं, प्रमाणाभावाद्[३८४] दृष्टातिक्रमादिष्टविरोधाच्च[३८५] । अशुद्धेः पुनरभव्यत्वलक्षणाया व्यक्तिरनादिस्तदभिव्यञ्जकमिथ्यादर्शनादिसंततेरनादित्वात्। पर्यायापेक्षयापि शक्तेरनादित्वमिति[३८६] चेन्न, द्रव्यापेक्षयैवानादित्वसिद्धेः। इति **शक्तेः प्रादुर्भावापेक्षया**[३८७] **सादित्वम्**। ततः शक्तिर्व्यक्तिश्च स्यात्सादिः[३८८], स्यादनादिरित्यनेकान्तसिद्धिः[३८९]। यदि वा[३९०] जीवानाम**भिसन्धिनानात्वं**[३९१] **शुद्ध्यशुद्धी**। स्वनिमित्तवशात्[३९२] सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मकोऽभिसंधिः शुद्धिः, मिथ्यादर्शनादिपरिणामात्मकोऽशुद्धिर्दोषावरणहानीतरलक्षणत्वात्तेषां[३९३][३९४][३९५] शुद्ध्यशुद्धि**शक्त्योरिति**[३९६] **भेदमाचार्यः प्राह, ततोऽन्यत्रापि**[३९७] भव्याभव्याभ्यां भव्येष्वेव, **साद्यनादी प्रकृतशक्त्योर्व्यक्ती** सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तेः पूर्वमशुद्ध्यभिव्यक्तेर्मिथ्यादर्शनादिसंततिरूपायाः कथंचिदनादित्वात् , सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तिरूपायाः पुनः शक्त्यभिव्यक्तेः सादित्वात् । **कुतः शक्तिप्रतिनियम**[३९८] **इति चेत्** , तथास्वभावादिति ब्रूमः[३९९]। **न हि भावस्वभावाः पर्यनुयोक्तव्याः**, तेषामतर्कगोचरत्वात्।

६९७. ननु प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्थे स्वभावैरुत्तरं वाच्यं सति पर्यनुयोगे[४०१], न पुनरप्रत्यक्षे, अतिप्रसङ्गादिति चेन्न[४०२], अनुमानादिभिरपि प्रतीते वस्तुनि भावस्वभावैरुत्तरस्याविरोधात्[४०३] प्रत्यक्षवदनुमानादेरपि प्रमाणत्वनिश्चयात्। ततः[४०४] परमागमात्सिद्धप्रामाण्यात्[४०५] प्रकृतजीवस्वभावाः[४०६] प्रतीतिमनुसरन्तो[४०७] न तर्कगोचरा यतः[४०८] पर्यनुयुज्यन्ते, तर्कगोचराणामप्यागमगोचरत्वेन[४०९] पर्यनुयोगप्रसङ्गात्[४१०]। तद्वत्प्रत्यक्षविषयाणामपि[४११]। इति न प्रत्यक्षागमयोः स्वातन्त्र्यमुपपद्येत तर्कवत्। तदनुपपत्तौ[४१२] च नानुमानस्योदयः स्यात्, धर्मिप्रत्यक्षादेः प्रतिज्ञायमानागमार्थस्य च प्रमाणान्तरापेक्षत्वादित्यनवस्थानात् । ततः सूक्तं कर्मबन्धानुरूपत्वेपि कामादिप्रभवस्य भावसंसारस्य द्रव्यादिसंसारहेतोः प्रतिमुक्तीतरसिद्धिर्जीवानां शुद्ध्यशुद्धिवैचित्र्यादिति।

६९८. ननु चोपेयतत्त्वस्य सर्वज्ञत्वादे[४१३]रुपायतत्त्वस्य च ज्ञापककारकविकल्पस्य हेतुवाददैवादेः प्रमाण-नयैरेव कार्त्स्न्यैकदेशतोधिगमः कर्त्तव्यो नान्यथा तदधिगमो[४१४]पायान्तराणामत्रैवान्तर्भावात्, 'प्रमाणनयैरधिगमः' (त.सू.१.६) इति वचनात्[४१५]। तत्र प्रमाणमेव तावद्वक्तव्यं, तत्स्वरूपा[४१६]दिविप्रतिपत्तिसद्भावात्, तन्निराकरणमन्तरेण तदध्यवसायानुपपत्तेः। इति भगवता पृष्टा इवाचार्याः प्राहुः—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ।।१०१।।

६९९. प्रमाणलक्षणसंख्याविषयविप्रतिपत्तिरनेन व्यवच्छिद्यते। तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति वचनादज्ञानस्य[४१७] [४१८]निराकारदर्शनस्य सन्निकर्षादेश्चाप्रमाणत्वमुक्तं, तस्य स्वार्थाकारप्रमितिं प्रति साधकतमत्वानुपपत्तेः, ज्ञानस्यैव स्वार्थाकारव्यवसायात्मनस्तत्र साधकतमत्वात्। नहि स्वार्थाकारव्यवसायशून्यं निर्विशेषवस्तुमात्रग्रहणं[४१९] दर्शन[४२०]मिन्द्रियादिसन्निकर्ष[४२१]मात्रं श्रोत्रादिवृत्तिमात्रं[४२२] वा यथोक्तपरिच्छित्तिं प्रति साधकतमं, [४२३]तद्भावा[४२४]भावयोस्तस्यास्तद्वत्ता[४२५]पायात्। यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्तत्र साधकतमं युक्तं[४२८], भावाभावयोर्द्वयोस्तद्वत्ता[४२६] साधकतमत्वमिति वचनात्[४२७]। न चैतद्दर्शनादिषु संभवति, तद्भावेपि स्वार्थप्रमितेः क्वचिदभावात्, संशयादेरन्यथानुपपद्यमानत्वात्, [४२९]तद्भावेपि च विशेषणज्ञानाद्विशेष्यप्रमितेः सद्भावोपगमात्।

७००. ननु ज्ञानस्याप्येवं साधकतमत्वं मा भूत्, संशयादिज्ञाने सत्यपि यथार्थप्रमितेरभावात्, तदभावेपि[४३०] च भावादिति चेन्न, तत्त्वग्रहणात्। तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति हि निगद्यमाने मिथ्याज्ञानं संशयादि मत्याद्याभासं व्यवच्छिद्यते। ततोस्य साधकतमत्वं यथोक्तमुपपद्यते एव।

७०१. नन्वेमपि तत्त्वज्ञानान्तरस्य प्रमेयस्य प्रमातुश्चात्मनः स्वार्थप्रमितिं प्रति साधकतमत्वात् प्रमाणत्वं कुतो न भवेदिति चेन्न, तस्य[४३१] कर्मत्वेन कर्तृत्वेन च साधकतमत्वासिद्धेस्तत्सिद्धौ करणत्वप्रसङ्गात्। करणस्य च तत्त्वज्ञानात्मनः[४३२] प्रमाणत्वे को विरोधः? तदेवं सकलप्रमाणव्यक्तिव्यापि साकल्येनाप्रमाणव्यक्तिभ्यो[४३३] व्यावृत्तं प्रतीतिसिद्धं[४३४] तत्त्वज्ञानं प्रमाणलक्षणम्, तस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात् संभवद्बाधकस्य[४३५], संशयितासंभवद्बाधकस्य[४३६] च कदाचित्क्वचित्कस्यचिन्निश्चितासंभवद्बाधकस्य[४३७] च प्रमाणत्वायोगात्, प्रवृत्तिसामर्थ्या[४३८]स्यार्थवत्क्रिया[४३९]प्राप्तेरदुष्ट-कारणजन्यत्वस्य[४४०] लोकसंमतत्वस्य[४४१] च प्रमाणलक्षणस्य तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके प्रपञ्चतोऽपास्तत्वात्।

७०२. ननु च तत्त्वज्ञानस्य सर्वथा प्रमाणत्वसिद्धेरनेकान्तविरोध इति न मन्तव्यं, **बुद्धेरनेकान्तात्[४४२], येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया[४४३] प्रामाण्यमिति** निरूपणात्। **तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्ये[४४४]तरस्थितिरुन्नेतव्या, प्रसिद्धा[४४५]नुपहतेन्द्रिय[४४६]दृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्य[४४७]भूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्।** [४४८]कथमेवं क्वचित्प्रमाणव्यपदेश एव[४४९] क्वचिदप्रमाणव्यपदेश एवेति नियता लोकव्यवस्थितिरिति? उच्यते, **तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्।** यथा च प्रत्यक्षस्य संवादप्रकर्षात्प्रमाणव्यपदेशव्यवस्था, प्रत्यक्षाभासस्य च

विसंवादप्रकर्षादप्रमाणत्वव्यपदेशव्यस्थितिः, गन्धादिगुणप्रकर्षात्कस्तूरिकादेर्गन्धद्रव्यादिव्यपदेशव्यवस्था[४५१] तद्-व्यवहारिभिरभिधीयते, **तथानुमानादेरपि कथंचिन्मिथ्याप्रतिभासेपि**[४५२] **तत्त्वप्रतिपत्त्यैव प्रामाण्यमन्यथा**[४५३] चाप्रामाण्य-मित्यनेकान्तसिद्धिः। **एकान्तकल्पनायां तु नान्तर्बहिस्तत्त्वसंवेदनं व्यवतिष्ठते**[४५४] ताथागतमते[४५५] **स्वयमद्वयादेर्द्वयादि-**[४५६][४५७]**प्रतिभासनाद्रूपादिस्वलक्षणानां**[४५८] **च तथैवादर्शनाद्यथा व्यावर्ण्यन्ते**[४५९]। स्वसंवेदनस्य[४६०] संविन्मात्रे प्रमाणत्वेपि तदद्वयक्षणिकपरमाणुरूपे[४६१] विपर्ययप्रतिभासादप्रमाणत्वकल्पनायां कथमेकान्तहानिर्न स्यात् यत्प्रमाणं तत् प्रमाणमेवेति? रूपादिदर्शनस्य च रूपादिमात्रे प्रमाणत्वेपि स्थूलस्थिरसाधारणाकारप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वाद-प्रमाणतायां कथमेकान्तसिद्धिः? तस्माददृष्टस्य[४६२] भावस्य[४६३] दृष्ट एवाखिलो[४६४] गुण[४६५] इति **तदविशेषोपलम्भाभ्युपगमेपि**[४६६][४६७] **भ्रान्तेर्निश्चीयते**[४६८] नेति[४६९] साधनं[४७०][४७१] संप्रवर्तते इति वचनात्[४७२] तद्व्यवसायवैकल्यं[४७३] सिद्धमेव[४७४]। **तत्र च तद्व्यवसायवैकल्ये**[४७५] वा[४७६] दानहिंसादिचित्ते **क्वचिद्धर्माधर्मसंवेदनवत्**[४७७] **परोक्षत्वोपपत्तेस्तत्**[४७८]त्रिरूपलिङ्गबलभाविनामपि **विकल्पानाम-तत्त्वविषयत्वात् कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिः?**

> **मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतः।**[४७९][४८०]
> **मिथ्याज्ञानाविशेषेपि विशेषोर्थक्रियां प्रति**[४८१] ।।१।।
> **यथा, तथाऽयथार्थत्वेप्यनुमानावभासयोः।**[४८२]
> **अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्**[४८३] ।।२।।

इति, **मणिप्रदीपप्रभादृष्टान्तोपि स्वपक्षघाती**[४८४], **मणिप्रदीपप्रभादर्शनस्यापि संवादकत्वेन**[४८५] **प्रामाण्यप्राप्त्या प्रमाणान्तर्भावविघटनात्**[४८६] कथं प्रमाणे[४८७] एवेत्यवधारणं घटते? **न हि तत्प्रत्यक्षं स्वविषये**[४८८] **विसंवादनात्**[४८९] **शुक्तिकादर्शनवद्**[४९०] **रजतभ्रान्तौ**[४९१]। तत्राप्रतिपन्नव्यभिचारस्य[४९२] यदेव मया दृष्टं तदेव मया प्राप्तमित्ये-कत्वाध्यवसायाद्विसंवादनाभावान्मणिप्रभाया मणिदर्शनस्य प्रत्यक्षत्वे तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्यापि[४९३] धावदध्वादितरुदर्शनस्य[४९४] प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादभ्रान्तमिति[४९४] विशेषणमध्यक्षस्य न स्यात्। धावतां दर्शनादवस्थितानामगानां प्राप्तेर्विसंवादात्[४९५] भ्रान्तत्वसिद्धेस्तस्याप्रत्यक्षत्वे[४९६] कुञ्चिकाविवरे[४९७] मणिप्रभायां मणेर्दर्शनादपवरकाभ्यन्तरे परिप्राप्तेः[४९८] कथमिव तस्याभ्रान्तता युज्येत? इति न प्रत्यक्षं तत् स्यात्[५००]। **नापि लैङ्गिकं**[५०१], **लिङ्गलिङ्गिसंबन्धाप्रतिपत्तेरन्यथा**[५०२] **दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात्**[५०३] ? तदेतेन 'प्रतिपन्नव्यभिचारस्य य इत्थं प्रतिभासः स्यात् स न संस्थानवर्जितः[५०४], एवमन्यत्र[५०५] दृष्टत्वादनुमानं[५०६] तथा सतीति' प्रज्ञाकरमतमप्यपास्तं[५०७], स्वयमसिद्धेन दृष्टान्तेन साध्यसिद्धेरकरणात्[५०८]। कदाचित्संवादात् प्रत्यक्षत्वेनैव मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य दृष्टान्तत्वमयुक्तं, **कादाचित्कार्थप्राप्तेरारेकादेरपि संभवात् प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः।**

७०३. सर्वदा संवादात्तस्य[५०९] प्रत्यक्षत्वमुदाहरणत्वं चेत्यप्यसारं, तदसिद्धेः[५१०]। **न हि मिथ्याज्ञानस्य संवादनैकान्तः**[५११] संभवति, विरोधात्। नन्वनुमानस्य संभवत्येवावस्तुविषयत्वेन मिथ्याज्ञानस्यापि सर्वदा संवादनं, लिङ्गज्ञानवत् पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धात्। तदुक्तम्—

> **लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि।**
> **प्रतिबन्धात्तदाभासं शून्ययोरप्यवञ्चनम्**[५१२] ।। ( )

इति कश्चित्[५१३], सोप्यनालोचिताभिधायी, सर्वदा संवादिनः प्रत्यक्षवन्मिथ्याज्ञानत्वविरोधात्। तथा[५१४] न लैङ्गिकं सर्वथैवा[५१५]विसंवादकत्वात्[५१६]। न हि तदालम्बनं[५१७] भ्रान्तं, प्राप्येपि[५१८] वस्तुनि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। प्राप्ये तस्या[५१९]विसंवादकत्वे[५२०] स्वालम्बनेप्य[५२१]विसंवादकत्वम्। इति कथं न सर्वथैवाविसंवादकत्वमनुमानस्य? सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्व-प्रसिद्धेः, प्रत्यक्षवत्, अन्यथा प्रमाणत्वायोगात्। **'तस्मात् सूक्तं – 'तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणं कारण[५२३]सामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदेपीति।'** न ह्यनुमानस्य वस्तुविषयत्वात् विशदप्रतिभासनमापादयितुं[५२४] शक्यं, विदूरस्थपादपादिदर्शनेनाविशदप्रतिभासेन व्यभिचारात्। पृथग्जन[५२५]प्रत्यक्षस्यापि योगिप्रत्यक्षवदसंभवात् सकलसमारोपत्वप्रसङ्गात् स्वलक्षण[५२६]विषयत्वाविशेषात्। तदविशेषेपि योगीतरप्रत्यक्षयोः कारणसामग्रीविशेषा-द्विशेषपरिकल्पनायां तत एव प्रत्यक्षानुमानयोरपि प्रतिभासविशेषोस्तु, सर्वथा बाधकाभावात्।

७०४. **प्रमाणमेव[५२७] वा तत्त्वज्ञानं** नामेत्यवधारणमनुमन्तव्यं, फलज्ञानस्यापि स्वाव्यवहितफलापेक्षया प्रमाणत्वोपगमात्[५२८]। **ततः स्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनस्तत्त्वव्यवसायस्य[५२९] प्रमाणत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणे एवेत्याद्यवधारणं प्रत्याचष्टे[५३०]** सौगतानां, तस्य[५३१] प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमाणान्तरत्वात्। नहीन्द्रियव्यवसायोऽप्रमाणमविसंवादकत्वात्। **अनिधिगतार्थाधिगमाभावात्तदप्रमाणत्वे लैङ्गिकस्यापि मा भूत्** प्रमाणत्वं, **विशेषाभावात्। अनधिगतस्वलक्षणाध्यवसायादनुमितेरतिशयकल्पनायां प्रकृतस्यापि[५३२] न वै प्रमाणत्वं प्रतिषेध्यमनिर्णीतनिर्णयात्मकत्वात्[५३३] क्षणभङ्गानुमानवत्।** क्षणिकत्वानुमानस्य ह्यनिश्चिताध्यवसाय एवानधिगतस्वलक्षणाध्यवसायः। स[५३४] च ध्वनिदर्शनानन्तरभाविनो व्यवसायस्या[५३५]स्तीति[५३६] युक्तं प्रमाणत्वम्। **ध्वनेरखण्डशः श्रवणादधिगमोपि प्राथमकल्पिक[५३७]स्तत्त्वनिर्णीतिरेव** तद्वशात् तत्त्वव्यवस्थानान्निर्णीतिरेव[५३८] मुख्यप्रमाणत्वोपपत्तेः, **तदत्यये[५३९] दृष्टेरपि विसंवादकत्वेन[५४०] प्रामाण्यानुपपत्तेरदर्शनानतिशायनात्तद्दर्शनाभावेपि[५४१] तत्त्वनिश्चये तदन्यसमारोपव्यवच्छेदलक्षणे[५४२] प्रमाणलक्षणाङ्गीकरणात्।**

७०५. ननु[५४३] निश्चितार्थमात्रस्मृतेरप्येवं प्रमाणत्वापत्तेरतिप्रसङ्ग इति चेन्न, प्रमितिविशेषाभावेतरपक्षानति[५४४]-क्रमात्। प्रथमपक्षे **क्वचित्कुत[५४५]श्चिद्धूमकेतुलैङ्गिकवन्निर्णीतार्थमात्रस्मृतेरधिगतार्थाधिगमात् प्रामाण्यं मा भूत् प्रमितिविशेषाभावात्।** द्वितीयपक्षे पुनरिष्टं प्रामाण्यमनुस्मृतेः प्रमितिविशेषसद्भावात्। **प्रकृतनिर्णयस्य प्रामाण्ये हि न किंचिदतिप्रसज्यते,** दृष्ट[५४६]स्याप्यनिश्चितस्य निश्चयात्[५४७] प्रत्यक्षतो निश्चिते धूमकेतौ ज्वालादिविशेषाद् धूमकेतु-लैङ्गिकस्मृतौ तु विशेषपरिच्छित्तेरभावादप्रामाण्यनिदर्शनात्। परिच्छित्तिविशेषसद्भावेपि साकल्येन स्मृतेरप्रामाण्यकल्पनायामनुमानोत्थानायोगः, संबन्ध[५४८]स्मृतेरप्रमाणत्वात्[५४९], तस्या अपि लैङ्गिकत्वेन प्रामाण्ये परापरसंबन्धस्मृतीनामनुमानत्वकल्पनादनवस्थानात् संबन्धस्मृतिमन्तरेणानुमानानुदयात्। सुदूरमपि गत्वा संबन्धस्मृतेरननुमानत्वे प्रमाणत्वे च सिद्धं स्मृतेरुपयोगविशेषात् प्रमाणत्वमविसंवादादनुमानवत्। तच्च[५५०] यथा प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणे[५५१] एवेत्यवधारणं प्रत्याचष्टे, तथा त्रीण्येव[५५२] प्रमाणानि चत्वार्येव[५५३] पञ्चैव[५५४] षडेवे[५५५]त्यवधारणमपि[५५६], स्मृतेरागमोपमानार्थापत्त्यभावेष्वनन्तर्भावात्[५५७], तदन्तर्भावेनुमानान्तर्भाव[५५८]वदनवस्थानानुषङ्गादागमाद्युदयविरोधात्, शब्दादिस्मृतिमन्तरेण तदनुपपत्तेः। यदि पुनरागमाद्युत्थापकसामग्रीत्वाच्छब्दादिस्मृतेरागमादिप्रमाणत्वमप्युररीक्रियते

तदा शब्दादिप्रत्यक्षस्यापि तत्सामग्रीत्वादागमादित्वप्रसङ्गः। तथा च स्मृतिवन्न प्रत्यक्षं प्रमाणान्तरं स्यात्। प्रमाणान्तरत्वे वा स्मृतेरपि प्रमाणान्तरत्वं,[५५९] दर्शनानन्तराध्यवसाय[५६०]**वन्निर्णीतेपि कथंचिदतिशायनाद**[५६१]नुमानवत्।

७०६. एवं **प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं, व्यवसायातिशयोपपत्तेः** प्रत्यक्षादिवत्[५६२], **तत्सामर्थ्याधीनत्वात्प्रमाण-त्वस्थितेः,**[५६३] अविसंवादस्यापि[५६४] स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात्। **अन्यथा हि विसंवादः स्यात्संशयादिवत्**[५६५]। न चेदं प्रत्यभिज्ञानमव्यवसायात्मकं, तदेवेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविषयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्या-बाधितस्यारेकादिव्यवच्छेदेनावगमात्, बाध्यमानस्याप्रमाणत्वोपपत्तेस्तदाभासत्वात्। न च सर्वं प्रत्यभिज्ञानं बाध्यमानमेव, प्रत्यक्षस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसंभवादबाधकत्वादनुमानस्यापि तद्विषयविपरीतसर्वथाक्षणिक-विसदृशवस्तुव्यवस्थापकस्य[५६६] निरस्तत्वात्तद्बाधकत्वायोगात्। ततः प्रत्यभिज्ञानं तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाणं, प्रत्यक्षवत्।

७०७. एवं **लिङ्गलिङ्गिसंबन्धज्ञानं**[५६७] **प्रमाणमनिश्चितनिश्चयादनुमानवत्**[५६८]। **सत्त्वक्षणिकत्वयोर्धूमतत्कारणयोर्वा साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ**[५६९] **न प्रत्यक्षमुत्सहते, सन्निहितार्थाकारानुकारित्वात्** इन्द्रियजमानसस्वसंवेदनप्रत्यक्षस्य योगिप्रत्यक्षस्य च **अपरीक्षाक्षमत्वाच्च**[५७०]। **नानुमानमनवस्था**[५७१]**नुषङ्गात्**[५७२]। **सुदूरमपि गत्वा तदुभयव्यतिरिक्तं**[५७३] **व्यवस्थानिमित्तमभ्युपगन्तव्यम्**[५७४]। तदस्माकमूहाख्यं प्रमाणमविसंवादकत्वात्, समारोपव्यवच्छेदकत्वादनुमानवत्। न चोहः संबन्धज्ञानजन्मा[५७५], यतोऽनवस्थानं स्यादपरापरोहानुसरणात्, तस्य[५७६] प्रत्याक्षानुपलम्भजन्मत्वात्[५७७] प्रत्यक्षवत्, स्वयोग्यतयैव स्वविषये[५७८] प्रवृत्तेः[५७९]। संबन्धज्ञानमप्रमाणमेव[५८०], प्रत्यक्षानुपलम्भपृष्ठभाविविकल्पत्वाद् गृहीतग्रहणात्, संबन्धप्रतिपत्तौ[५८१] प्रत्यक्षानुपलम्भयोरेव भूयः प्रवर्तमानयोः प्रमाणत्वादित्येके; तेप्यसमीक्षितवाचः, कथंचिदपूर्वार्थविष-यत्वादूहाख्यविकल्पस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः, प्रत्यक्षानुपलम्भयोः[५८२] सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च व्याप्तौ[५८३] प्रवृत्त्यसंभवात्। यदि पुनरप्रमाणमेव व्याप्तिज्ञानं संबन्धं व्यवस्थापयेत्तदा प्रत्यक्षमनुमानं चाप्रमाणमेव स्वविषयं व्यवस्थापयेत्, किं तत्प्रमाणत्वसाधनायासेन? लिङ्गलिङ्गिसंबन्धप्रतिपत्तिरर्थापत्तिरित्यन्ये[५८४]। तेषामपि संबन्ध-ज्ञानपूर्वकत्वे[५८५]र्थापत्तेरर्थापत्त्यन्तरानुसरणादनवस्था[५८६]। तदपूर्वकत्वे स्वयमनिश्चितानन्यथाभवनस्यार्थापत्त्युदयत्वप्र-[५८७]सङ्गः[५८८] परस्पराश्रयणं च, सत्यनुमानज्ञाने तदन्यथानुपपत्त्या संबन्धज्ञानं, सति च संबन्धज्ञानेनुमानज्ञानमिति[५८९] नैकस्याप्युदयः[५९०] स्यात्। न चान्यत्संबन्धार्थापत्त्युत्थापकमस्त्यनुमानज्ञानाद्[५९१] येन परस्पराश्रयणं न स्यात्।[५९२] एतेन उपमानादेः संबन्धप्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता[५९३]। **तस्मादुपमानादिकं**[५९४] **प्रमाणान्तरमिच्छतां**[५९५] **तत्त्वनिर्णयप्रत्ययवमर्षप्रतिबन्धाधिगम-प्रमाणत्वप्रतिषेधः प्रायशो वक्तुर्जडिमानमाविष्करोति**।

७०८. **इति प्रत्यक्षं परोक्षमित्येतद्द्वितयं प्रमाणमभ्युपगन्तव्यं, अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेपि,**[५९६] **परोक्षेऽन्तर्भावात्**। तदुक्तम्—

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधाश्रित[५९७]**मविप्लवम्**[५९८]।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि[५९९] **प्रमाणे इति संग्रहः**।। ( )

७०९. ततः[६००] सूक्तमिदमवधारणं [६०१] प्रमाणमेव तत्त्वज्ञानमिति, प्रत्यक्षपरोक्षतत्त्वज्ञानव्यक्तीनां[६०२] साकल्येन प्रमाणत्वोपपत्तेः।

७१०. **तत्र सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भितं[६०३] केवलज्ञानं युगपत्सर्वार्थविषयम्।** करणक्रमव्यवधानातिवर्तित्वात्[६०४] युगपत्सर्वभासनम्। तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाणम्। **तथोक्तम्—'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'** (त०सू०१.२९) **इति** सूत्रकारैः[६०५]। केवलज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तित्वात् चक्षुरादिज्ञानदर्शनवद्युगपत्सर्वभासनमयुक्तमिति चेन्न, तयोर्यौगपद्यात्, तदावरणक्षयस्य युगपद्भावात्, 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' (त० सू० १०.१) इति।

७११. अत्र प्रथमं मोहक्षयस्ततो ज्ञानावरणादित्रयक्षयः सकृदिति व्याख्यानात्। **तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्याद्,** दर्शनकाले ज्ञानाभावात्तत्काले च दर्शनाभावात्। सततं च भगवतः केवलिनः सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं च, 'साद्यपर्यवसिते केवलज्ञानदर्शने' (   ) इति वचनात्[६०६]। **कुतस्तत्सिद्धिरिति** चेन्निर्लोठितमेतत् सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे[६०७], न पुनरिहोच्यते।

७१२. केवलज्ञानदर्शनयोर्युगपद्भावः कुतः सिद्ध इति चेत्, **सामान्यविशेषविषययोर्विगतावरणयोरयुगपत्प्रतिभासायोगात् प्रतिबन्धकान्तराभावात्**। सामान्यप्रतिभासो हि दर्शनं विशेषप्रतिभासो ज्ञानम्। तत्प्रतिबन्धकं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च। यदुदयादस्मदादेः केवलज्ञानदर्शनानाविर्भावः[६०८]। तयोश्च युगपदात्मविशुद्धि[६०९]प्रकर्षविशेषात्[६१०] परिक्षयसिद्धेः कथमिवा[६११]युगपत्प्रतिभासनं सामान्यविशेषयोः स्यात्? प्रक्षीणाशेषमोहान्तरायस्य प्रतिबन्धान्तरं च कथमिव संभाव्येत, येन युगपत् तद्द्वितयं न स्यात्? अस्तु नाम केवलं तत्त्वज्ञानं[६१२] युगपत्सर्वभासनं, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानं तु कथमित्युच्यते, **शेषं सर्वं क्रमवृत्ति, प्रकारान्तरासंभवात्**। तेन क्रमभावि[६१३] यन्मत्यादितत्त्वज्ञानं तदपि प्रमाणमिति व्याख्यातं भवति, 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं,' 'तत्प्रमाणे' (त० सू० १.९-१०) इति सूत्रकारवचनात्।

७१३. ननु[६१४] च मत्यादिज्ञानचतुष्टयमपि युगपदिष्यते, तदादीनि[६१५] भाज्यानि[६१६][६१८] युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः'[६१७] (त० सू० १/३०) इति सूत्रसद्भावात्[६१९], इति न शङ्कनीयं[६२०], मत्यादिज्ञानानामनुपयुक्तानामेव यौगपद्यवचनात्[६२१] 'सह द्वौ न स्तः, उपयोगात्' ( ) इत्यार्षवचनात्। छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगापेक्षया तद्वचनमिति चेन्नैवं विशेषानभिधानात्। 'सामान्यचोदनाश्च[६२२] विशेषेष्व[६२३]वतिष्ठन्ते[६२४]' इति न्यायात् तद्विशेष[६२५]गतिरिति चेन्न, अन्यथापि विशेषगतिसंभवात्, तत्रैवेति प्रमाणाभावात्। क्वचिदात्मनि मत्यादिज्ञानानि सोपयोगानि युगपत्संभवन्ति सकृत्सन्निहितस्वविषयत्वात् दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ चक्षुरादिज्ञानपञ्चक[६२६]वदित्यनुमानादिष्टविशेषगतिरस्तु। न चेदमुदाहरणं साध्यविकलं चक्षुरादिज्ञानानां क्रमवृत्तौ परस्परव्यवधाना[६२७]द्विच्छेदोपलक्षणप्रसङ्गात्[६३०], प्रसिद्धक्रमभाविरूपादिज्ञानवत्' इति न[६३१] मन्तव्यं, चक्षुरादिज्ञान-[६३२]पञ्चकस्यापि परस्परव्यवधानेपि विच्छेदानुपलक्षणं[६३३] क्षणक्षयवत्[६३४] ताथागतस्य[६३५] स्यात्। तेषां यौगपद्ये हि संतानभेदात् परस्परपरामर्शाभावः सन्तानान्तरवत्। यौगपद्येपि संतानभेदाभावेऽक्षमनोध्यक्षयोरपि यौगपद्यमस्तु विशेषाभावात्। **मानसप्रत्यक्षेपि चक्षुरादिज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवे न कश्चिद्विशेषः[६३६], क्रमवृत्तौ चक्षुरादिज्ञानवद् व्यवधानप्रतिभासविकल्प[६३७]प्रतिपत्तेरसंभवात्[६३८]।** न च चक्षुरादिज्ञानपञ्चकात्सहभाविनः क्रमभुवां तदनन्तरजन्मनां मानसप्रत्यक्षाणां[६४०] व्यवधानेन प्रतिभासभेदप्रतिपत्तिरस्ति। तेषां लघुवृत्तेः[६३९] क्रमभावित्वेपि न व्यवधानेन प्रतिभास-[६४१]विकल्पानां प्रतिपत्तिरिति चेत्तत एव चक्षुरादिज्ञानानामपि विच्छेदोपलक्षणं मा भूत्, क्रमभावेपि विशेषाभावात्।

यौगपद्ये हि स्पर्शादिप्रत्यवमर्शविरोधः पुरुषान्तरवत्[६४२]। जैनानामपि क्रमभावश्चक्षुरादिवेदनानामुपपन्न एव। तद्वन्मत्यादिज्ञानानामपि[६४३] सोपयोगानां क्रमभावो निरुपयोगानां तु यौगपद्यमविरुद्धम्, **विषयस्यानेकान्तात्मकत्वात्**[६४४]।[६४५] ततः सोपयोगं **मतिज्ञानादि** क्रमभावि **स्याद्वादनयलक्षितं प्रतिपत्तव्यं**, तस्य[६४५] नयोपलक्षितत्वात् **केवलज्ञानवत् स्याद्वादोपलक्षितत्वाच्च**। कुत[६४७] एतदिति चेद्विकलसकलविषयत्वात् तयोः[६४८]। तत्त्वज्ञानं वा स्याद्वादनयसंस्कृतं प्रतिपत्तव्यं क्रमाक्रमभावित्वे। कथम् ? 'तत्त्वज्ञानं स्यादक्रमं[६४९], सकलविषयत्वात्। स्यात्क्रमभावि विकलविषयत्वात्। स्यादुभयं, तदुभयविषयत्वात्। स्यादवक्तव्यं, युगपद्वक्तुमशक्तेः।' इत्यादि[६५०], सप्तभङ्ग्याः प्रमाणनयवशादुपपत्तेः[६५३]। अथवा प्रतिपर्यायं[६५४] स्याद्वादनयसंस्कृतं[६५५] प्रतिपत्तव्यम्, स्यात्प्रमाणं स्वार्थप्रमितिं प्रति साधकतमत्वात्, स्यादप्रमाणं प्रमाणान्तरेण प्रमेयत्वात् स्वतो वा[६५६]। अथवा स्यात्सत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्, स्यादसत्, पररूपादिचतुष्टयात् इत्यादि[६५७] योजनीयम्।

अथ प्रमाणफलविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाहुः—

उपेक्षा[६५८] फलमाद्यस्य[६५९] शेषस्यादानहानधीः[६६०]।
पूर्वा[६६१] वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ।।१०२।।

७१४. कारिकापाठापेक्षया युगपत्सर्वभासनं केवलमाद्यम्, तस्य व्यवहितं फलमुपेक्षा। कुत इति चेदुच्यते, **सिद्धप्रयोजनत्वात्केवलिनां सर्वत्रोपेक्षा**[६६२]। हेयस्य संसारतत्कारणस्य हानादुपादेयस्य मोक्षतत्कारणस्योपात्तत्वात् सिद्धप्रयोजनत्वं नासिद्धं भगवताम्।

७१५. ननु **करुणावतः[६६३] परदुःखजिहासोः[६६४] कथमुपेक्षा? तद्भावे कथं चाप्तिः[६६५]? इति** चेन्न, तेषां मोहविशेषात्मिकायाः करुणायाः संभवाभावात् **स्वदुःखनिवर्तनवदकरुणयापि[६६६] वृत्तेरन्यदुःखनिराचिकीर्षायाम्**।

७१६. नन्वस्मदादिवद्दयालोरेवात्मदुःखनिवर्तनं युक्तम्। तथाहि—यो यः[६६७] स्वात्मनि दुःखं निवर्तयति स स स्वात्मनि करुणावान् यथास्मदादिः, तथा च योगी स्वात्मनि संसारदुःखं निवर्तयतीति युक्तिः। न चात्र हेतुर्विरुद्धोऽनैकान्तिको वा, विपक्षे[६६८] सर्वथाप्यभावात्[६६९] बाधकप्रमाणसामर्थ्यात्, स्वसाध्याविनाभावसिद्धेः। तथाहि —यः स्वात्मन्यकरुणावान्न स स्वदुःखं निवर्तयति, यथा द्वेषादेर्विषभक्षक[६७०] इति साध्यव्यावृत्तौ[६७१] साधनव्यावृत्तिनिश्चयात्[६७२]। भयलोभादिनात्मदुःखनिवर्तकैर्व्यभिचारी हेतुरिति चेन्न, तेषामपि करुणोत्पत्तेः। न ह्यात्मन्यकरुणावतः परतो भयं लोभो मानो वा संभवति, तस्यात्मकरुणाप्रयुक्तत्वात्[६७३]। इति परम्परया करुणावानेवात्मदुःखमनशनादिनिमित्तं निवर्तयति। भयादिहेतुका वा कस्यचिदात्मनि करुणोत्पद्यते। सोत्पन्ना सती स्वदुःखं निवर्तयति। इति साक्षात्करुणयात्मदुःखनिवर्तने प्रवर्तते ततो न व्यभिचारः।

७१७. एतेनादृष्टविशेषवशादात्मनि दुःखनिवर्तनपरैर्व्यभिचारचोदना[६७४] निरस्ता, ततः करुणोत्पत्तेरेव तन्निवर्तनात्। तत्राकरुणस्यात्मदुःखनिवर्तनं दृष्टम्। **अतोयमसमाधिरिति[६७५] चेन्न**, स्वभावतोपि स्वपरदुःखनिवर्तननिबन्धनत्वोपपत्तेः प्रदीपवत्। **न वै प्रदीपः कृपालुतयात्मानं परं वा तमसो दुःखहेतोर्निवर्तयतीति**। किं तर्हि? तथा स्वभावात्। **कल्पयित्वापि कृपालुतां तत्करणस्वभावसामर्थ्यं[६७६] मृग्यम्**[६७७]। **एवं हि परम्परापरिश्रमं[६७८] परिहरेत्**। ततो

निःशेषान्तरायक्षयादभयदानं स्वरूपमेवात्मनः प्रक्षीणावरणस्य परमा दया। सैव च मोहाभावाद् रागद्वेषयोर-प्रणिधानादुपेक्षा। तीर्थकरत्वनामोदयात्तु हितोपदेश[६७९]प्रवर्तनात् परदुःखनिराकरणसिद्धिः। इति न बुद्धवत्करुणयास्य प्रवृत्तिर्भगवतः, येनोपेक्षा केवलस्य फलं न स्यात्।

७१८. अव्यवहितं[६८०] तु फलमाद्यस्याज्ञाननिवृत्तिरेव, स्वविषये मत्यादिवत्। तथा हि—**मत्यादेः साक्षात्[६८१] फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेद[६८२]स्तदभावे[६८३] दर्शनस्यापि[६८४] सन्निकर्षविशेषात्[६८५] क्षणपरिणामोपलम्भवदवि[६८६]-संवादकत्वासंभवात्[६८७]** । तदनेन प्रमाणाद्भिन्नमेव[६८८] फलमिति व्युदस्तम्[६८९]। तथा **परम्परया हानोपादानसंवित्तिः** फलमुपेक्षा वा मत्यादेः।

७१९. एतेनाभिन्नमेव प्रमाणात्फलमिति[६९०] निरस्तम्। **तथा हि – करणस्य क्रियायाश्च[६९१] कथंचिदेकत्वं[६९२] प्रदीपतमोविगमवत्[६९३], नानात्वं च परश्वादिवत्[६९४]।**

७२०. ननु[६९५] च 'यथा देवदत्तः काष्ठं परशुना छिनत्तीति करणस्य क्रियायाश्च नानात्वं सिद्धं, छिदेः काष्ठस्थत्वात्परशोर्देवदत्तस्थत्वात्, तथा प्रदीपस्तमो नाशयत्युद्द्योतेनेत्यत्रापि करणस्योद्द्योतस्य क्रियायाश्च तमोविनाशात्मिकाया नानात्वमेव प्रतीयते। तद्वत्करणस्य प्रमाणस्य क्रियायाश्च फलज्ञानरूपाया नानात्वेनैव भवितव्यम्, तदनानात्वे दृष्टान्ताभावात्' इति केचित्, तेपि न प्रतीत्यनुसारिणः, प्रदीपः स्वात्मनात्मानं[६९६] प्रकाशयतीति[६९७] प्रतीतेः, प्रदीपात्मनः कर्तुरनन्यस्य[६९८] कथंचित्करणस्य[६९९], प्रकाशनक्रियायाश्च प्रदीपात्मिकायाः कथंचिदभेदसिद्धेः। तद्वत्प्रमाणफलयोः कथंचिदव्यवहितत्व[७००]सिद्धिरुदाहरणसद्भावात्। सर्वथा[७०१] तादात्म्ये तु प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था, तद्भावविरोधात्। न[७०२] हि सारूप्यमस्य[७०३] प्रमाणमधिगतिः[७०४] फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिध्यति। दर्शनस्यासारूप्यव्यावृत्तिः[७०५] सारूप्यमनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेन्न, स्वभाव-भेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदानुपपत्तेः। **तस्माद्ग्राह्यसंविदाकारयोः[७०५] प्रमाणफलव्यवस्थायामपि** व्यामोहविच्छेदाभावे[७०५] **विसंवादानिराकरणे तदज्ञस्येव विषदृष्टेः[७१०] प्रमाणत्वं न प्रतिपत्तुमर्हति। तावतैव प्रमाणत्वे क्षणिकत्वाद्यनुमानमधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वान्न वै प्रमाणमिति** निरूपितप्रायम्।

ननु स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानमित्युक्तं तद्वत् फलमपीति स एव तावत् स्याच्छब्दोभिधीयतामित्याहुः[७१५]—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती[७१६] गम्यं[७१७] प्रति विशेषणम्[७१८]।
स्यान्निपातोर्थयोगित्वात्तव[७१९] केवलिनामपि ।।१०३।।

७२१. किं पुनर्वाक्यं नामेत्युच्यताम्, तत्र विप्रतिपत्तेः। तदुक्तम्—

(१) आख्यातशब्दः (२) संघातो (३) जातिः[७२०] संघातवर्तिनी।

(४) एकोनवयवः शब्दः (५) क्रमो (६) बुद्ध्यनुसंहती ॥१॥

(८) पदमाद्यं (९) पदं चान्त्यं (१०) पदं सापेक्षमित्यपि।

वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥२॥ (वाक्यपदीय (इति) २.१-२)

७२२. अत्रोच्यते—

पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः[७२१] समुदायो वाक्यं, (१) न पुनराख्यातशब्दः, तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य पदत्वादन्यथाख्यातपदाभावप्रसङ्गात्। पदान्तरसापेक्षस्यापि[७२२] क्वचिन्निरपेक्षत्वा[७२३]भावे[७२४] वाक्यत्वविरोधात् , प्रकृता[७२०]-र्थापरिसमाप्तेः[७२५], निराकांक्षस्य[७२६] तु वाक्यलक्षणयोगादुपपन्नं वाक्यत्वम्। (२) संघातो[७२७] वाक्यमित्यत्रापि परस्परा-पेक्षाणां पदानामनपेक्षाणां वा? प्रथमपक्षे निराकाङ्क्षत्वेस्मत्पक्षसिद्धिः, साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोधः[७२८]। द्वितीयविकल्पेऽतिप्रसङ्गः[७२९]। (३) जातिः संघातवर्तिनी वाक्यमित्यप्यनेन[७३०] विचारितं[७३१], निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षपदसं[७३२]-घातवर्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणाया जातेर्वाक्यत्वघटनात्, अन्यथा तद्विरोधात्। (४) एकोनवयवः शब्दो वाक्यमित्यप्ययुक्तं, तस्याप्रमाणकत्वात् ,श्रोतृबुद्धौ[७३३] तदप्रतिभासनात् तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात्[७३४]। अर्थप्रतिपत्तिर्लिङ्गमिति चेन्न, अन्यथापि[७३५] तद्भावात् , वाक्यस्फोटस्य[७३६] क्रियास्फोटवत् तत्त्वार्थालङ्कारे निरस्तत्वात्। (५) क्रमो[७३७] वाक्यमित्यपि न विचारक्षमं[७३८], वर्णमात्रक्रमस्य वाक्यत्वप्रसङ्गात् । पदरूपतामापन्नानां वर्णविशेषाणां क्रमो वाक्यमिति चेत्, स यदि परस्परापेक्षाणां[७३९] निराकाङ्क्षस्तदा समुदाय एव[७४०], क्रमभुवां कालप्रत्यासत्तेरेव समुदायत्वात्, सहभुवामेव देशप्रत्यासत्तेः[७४१] समुदायत्वव्यवस्थितेः। अथ साकाङ्क्षस्तदा[७४२] न वाक्यमर्धवाक्यवत् । परस्परनिरपेक्षाणां[७४३] तु क्रमस्य वाक्यत्वेतिप्रसङ्ग[७४४] एव। (६) बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्यं द्रव्यवाक्यं वा? प्रथमकल्पनायामिष्टमेव। द्वितीयकल्पनायां प्रतीतिविरोधः[७४५]। (७) अनुसंहतिर्वाक्यमित्यपि नानिष्टं, भाववाक्यस्य यथोक्तपदानुसंहतिरूपस्य[७४६] चेतसि परिस्फुरतोभीष्टत्वात्। (८.९.१०) आद्यं पदमन्त्यं वान्यद्वा[७४७] पदान्तरापेक्षं वाक्यमित्यपि[७४९] नाकलङ्कोक्तवा-क्याद्भिद्यते[७४८], तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वसिद्धेः, तदभावे पदसिद्धेरप्यभावप्रसङ्गात्।

७२३. ननु[७५०] यदि निराकाङ्क्षः परस्परापेक्षपदसमुदायो वाक्यं **न तर्हि तदानीमिदं भवति, यथा यत्सत्तत्सर्वं[७५१] परिणामि, यथा घटः, संश्च शब्द इति** साधनवाक्यं[७५२] **तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षणात्,** साकाङ्क्षस्य[७५३] वाक्यत्वानिष्टेरिति[७५४] न शङ्कनीयं, कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः[७५५]। निराकाङ्क्षत्वं[७५६] हि नाम **प्रतिपत्तुर्धर्मोयं वाक्येष्वध्यारोप्यते,** न पुनः शब्दस्य धर्मस्तस्याचेतनत्वात्[७५८]। **स चेत् प्रतिपत्ता तावतार्थं प्रत्येति, किमिति शेषमाकाङ्क्षति[७५७]?** पक्षधर्मोपसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि[७५९] निगमनवचनापेक्षायां निगमनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ साधनावयवान्तरवचनापेक्षाप्रसङ्गात्[७६०]। इति न क्वचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः। तथा च वाक्याभावान्न वाक्यार्थ-प्रतिपत्तिः कस्यचित्स्यात्। ततो यस्य प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षपदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति सर्वं सुस्थम्।

७२४ **प्रकरणादिना[७६१] वाक्यकल्पेनाप्यर्थप्रतिपत्तौ[७६२] न वा प्राथमकल्पिकवाक्यलक्षणपरिहारः,** प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य[७६३] निराकाङ्क्षस्य **सत्यभामादिपदवद्[७६४] वाक्यत्वसिद्धेः।**

७२५. तदेवंलक्षणेषु वाक्येषु स्यादिति शब्दोनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधिविचारप्रश्नादिद्योती[७६५] तथा विवक्षापायात्[७६६]। कः पुनरनेकान्त इति चेदिमे ब्रूमहे। **सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेप-**

लक्षणोऽनेकान्तः, स च दृष्टेष्टाविरुद्ध इत्युक्तं प्राक्[७६७]। तत्र **क्वचित्प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दस्तद्विशेषणतया[७६८] प्रकृतार्थतत्त्वमनवयवेन[७६९] सूचयति, प्रायशो निपातानां तत्स्वभावत्वा[७७०]देवकारादिवत्।** 'द्योतकाश्च भवन्ति[७७१] निपाता' इति वचनात् स्याच्छब्दस्यानेकान्तद्योतकत्वेपि न कश्चिद्दोषः[७७२], सामान्योपक्रमे[७७३] विशेषाभिधानमिति[७७४] न्यायाज्जीवादिपदोपादानस्याप्यविरोधात्, स्याच्छब्द[७७५]मात्रयोगादनेकान्तसामान्यप्रतिपत्तेरेव संभवात्। सूचकत्वपक्षे तु[७७६] गम्यमर्थरूपं प्रति विशेषणं[७७७] स्याच्छब्दस्तस्य विशेषकत्वात्[७७८]। **न हि केवलज्ञानवदखिलमक्रममवगाहते,** किंचिद्वाक्यं, येन तदभिधेयविशेषरूपसूचकः स्यादिति न[७७९] प्रयुज्यते, **वाचः क्रमवृत्तित्वात् तद्बुद्धेरपि[७८०] तथाभावात्[७८१]।** ततस्तव भगवतः[७८२] केवलिनामपि स्यान्निपातोभिमत एवार्थयोगित्वादन्यथानेकान्तार्थप्रतिपत्तेरयोगात्।

ननु च कथंचिदित्यादिशब्दादपि भवत्येवानेकान्तार्थप्रतिपत्तिः? सत्यं भवति, तस्य[७८३] स्याद्वचनपर्यायत्वात्। तथाहि—

[७८४]स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः[७८५]।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

७२६. किमो वृत्तः[७८६] किंवृत्तः, स चासौ चिद्विधिश्चेति **कथंचिदित्यादि किंवृत्तचिद्विधिः स्याद्वादपर्यायः। सोयमनेकान्तमभिप्रेत्य[७८७] सप्तभङ्गनयापेक्षः स्वभावपरभावाभ्यां सदसदादिव्यवस्थां प्रतिपादयति।**

७२७. के पुनः सप्तभङ्गाः के वा नयाः? **सप्तभङ्गी प्रोक्ता** पूर्वमेव। **द्रव्यार्थिक[७८८]पर्यायार्थिकप्रविभागवशान्नैगमादयः शब्दार्थनया[७८९] बहुविकल्पा मूलनयद्वय[७९०]शुद्ध्य[७९१]शुद्धिभ्यां,** शास्त्रान्तरे प्रोक्ता इति संबन्धः।

७२८. द्रव्यार्थिकप्रविभागाद्धि नैगमसंग्रहव्यवहाराः पर्यायार्थिकप्रविभागादृजुसूत्रादयः[७९३]। तत्र[७९४] ऋजुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोर्थनयाः, तेषामर्थप्रधानत्वात्[७९५]। शेषास्त्रयः शब्दनयाः, शब्दप्रधानत्वात्। तत्र मूलनयस्य द्रव्यार्थिकस्य[७९६] शुद्ध्या संग्रहः, सकलोपाधिरहितत्वेन शुद्धस्य सन्मात्रस्य विषयीकरणात् सम्यगेकत्वेन सर्वस्य संग्रहणात्[७९७]। तस्यैवाशुद्ध्या[७९८] व्यवहारः, संग्रहगृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकत्वव्यवहरणात्[७९९], द्रव्यत्वादिविशेषणतया[८००] स्वतोऽशुद्धस्य स्वीकरणात्, यत्सत्तद्द्रव्यं गुणो वेत्यादिवत्। एवं नैगमोप्यशुद्ध्या प्रवर्तते, सोपाधिवस्तु[८०१]विषयत्वात्। स हि त्रेधा प्रवर्तते, द्रव्ययोः पर्याययोर्द्रव्यपर्याययोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षायां नैगमत्वात्[८०२], नैकं गमो नैगम इति निर्वचनात्[८०३]। तत्र द्रव्यनैगमो द्वेधा—शुद्धद्रव्यनैगमोऽशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। पर्यायनैगमस्त्रेधा अर्थपर्याययोर्व्यञ्जनपर्याययोरर्थव्यञ्जनपर्याययोश्च नैगम इति। अर्थपर्यायनैगमस्त्रेधा ज्ञानार्थपर्याययोर्ज्ञेयार्थपर्याययोर्ज्ञानज्ञेयार्थपर्याययोश्चेति। व्यञ्जनपर्यायनैगमः षोढा—शब्दव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढव्यञ्जनपर्यायोरेवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः शब्दसमभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः शब्दैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोश्चेति। अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमस्त्रेधा–ऋजुसूत्रशब्दयोः, ऋजुसूत्रसमभिरूढयोः, ऋजुसूत्रैवंभूतयोश्चेति। द्रव्यपर्यायनैगमोऽष्टधा—शुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोः शुद्धद्रव्यशब्दयोः शुद्धद्रव्यसमभिरूढयोः

शुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्च, एवमशुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोरशुद्धद्रव्यशब्दयोरशुद्धद्रव्यसमभिरूढयोरशुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्चेति लोकसमयाविरोधेनोदाहार्यम्।

७२९. तथा पर्यायार्थिकस्य मूलनयस्याशुद्ध्या[८०४] तावदृजुसूत्रः, तस्य कालकारकलिङ्गभेदेनाप्यभेदात्। शुद्ध्या शब्दस्तस्य [८०५]कालादिभेदेन भेदात्। शुद्धितरया समभिरूढस्तस्य [८०६]पर्यायभेदेनापि भेदात्। शुद्धितमयैवं-भूतस्तस्य क्रियाभेदेनापि भेदात्। इति मूलनयद्वयशुद्ध्यशुद्धिभ्यां बहुविकल्पा नया नयचक्रतः प्रतिपत्तव्याः। पूर्वपूर्वा महाविषया उत्तरोत्तरा अल्पविषयाः शब्दविकल्पपरिमाणाश्च[८०७]। तदेवं व्याख्यातः सप्तभङ्गनयापेक्षः स्याद्वादो हेयादेयविशेषकः[८०८] प्रसिद्धस्तमन्तरेण हेयस्योपादेयस्य च विशेषेण व्यवस्थानुपपत्तेः। सर्वतत्त्वप्रकाशकश्च केवलज्ञानवत्[८०९]। एतदेव दर्शयति –

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च[८१०] ह्यवस्त्वन्यतमं[८११] भवेत्॥१०५॥

७३०. साक्षादसाक्षात् प्रतिभासिज्ञानाभ्यामन्यस्याप्रतीतेरवस्तुत्वप्रसिद्धेः[८१२], इत्यर्थः। **स्याद्वादकेवलज्ञाने इति निर्देशात् तयोरभ्यर्हितत्वानियमं[८१३] दर्शयति, परस्परहेतुकत्वात्।** न चैवमन्योन्याश्रयः पूर्वसर्वज्ञद्योतितादागमादुत्तरसर्वज्ञस्य केवलोत्पत्तेः, ततोप्युत्तरकालमागमद्योतनात्[८१४] सर्वज्ञागमसन्तानस्याना[८१५]-दित्वात्, केवलज्ञान**स्याभ्यर्हितत्वे वा पूर्वनिपाते व्यभिचारं सूचयति,** शिष्योपाध्यायादिवत्। ततोनवद्यो निर्देशः "स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने" इति। **कथं पुनः स्याद्वादः सर्वतत्त्वप्रकाशनः? यावता 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु'** (त.सू. १.२६) इति श्रुतस्यासर्वपर्यायविषयत्वव्यवस्थानमिष्यते, तच्चैवं[८१६] विरुध्यते, इति सूत्रविरोधं[८१७] मन्यते तदयुक्तं, पर्यायापेक्षया [८१८]तदनभिधानात्। एवं हि [८१९]भगवतामभिप्रायोऽत्र **'जीवादयः सप्त पदार्थास्तत्त्वं,** जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् (त०सू० १.४) इति वचनात्। **तत्प्रतिपादनाविशेषात्[८२०]** स्याद्वादकेवलज्ञानयोः 'सर्वतत्त्वप्रकाशनत्वम्' इति न विरोधः। यथैव ह्यागमः परस्मै जीवादितत्त्वमशेषं प्रतिपादयति तथा केवल्यपीति[८२१] न विशेषः, साक्षादसाक्षाच्च[८२२] तत्त्वपरिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्भेदस्य। **तदाह— 'भेदः साक्षादसाक्षाच्चेति'। साक्षात्कृतेरेव[८२३] सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति[८२४] नान्यत[८२५] इति यावत्।** न हि वचनात्तान्प्रकाशयति समुत्पन्नकेवलोपि[८२६] भगवान्, तेषां [८२७]वचनागोचरत्वात्[८२८]।

७३१. तदेवं स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणनयसंस्कृतमिति व्याख्याने[८२९], स्याद्वादः प्रमाणं सप्तभङ्गवचनविधिर्नैगमादयो बहुविकल्पा नया इति संक्षेपतः प्रतिपादितं, विस्तरतोन्यत्र[८३०] तत्प्ररूपणात्।

संप्रत्यहेतुर्वादागमः[८३१] स्याद्वादो, हेतुवादो नयस्ताभ्यां संस्कृतमलंकृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणं युक्तिशास्त्राविरुद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकमिति व्याख्यानान्तरमभिप्रायन्तो भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, स्याद्वादस्य प्रकाशितत्वात्।

सधर्मणैव[८३२] साध्यस्य[८३३] साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थ[८३४]विशेषव्यञ्जको नयः॥१०६॥

७१७. नीयते[८३५] साध्यते गम्यार्थोनेनेति नयो हेतुः । स च हेतुः सधर्मणैव[८३६] दृष्टान्तधर्मिणा साधर्म्यात्साध्यस्य साध्यधर्माधिकरणस्य धर्मिणः परमागमप्रविभक्तस्यार्थविशेषस्य[८३७] शक्यस्याभिप्रेतस्याप्रसिद्धस्य विवादगोचरत्वेन व्यञ्जको, न पुनर्विपक्षेण[८३८] साधर्म्यात् , तेन वैधर्म्यादेवाविरोधेन[८३९] हेतोः साध्यप्रकाशनत्वोपपत्तेः । अत्र **'सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादित्यनेन[८४०] हेतोस्त्रैलक्षण्यमविरोधादित्य[८४१]न्यथानुपपत्तिं च[८४२] दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं, तत्पुत्रत्वादिवत्[८४३] । एकलक्षणस्य तु गमकत्वं, 'नित्यत्वैकान्तपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते'** (आ. मी. ३७)[८४४] इति[८४५] बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात् ।

७३३. नन्वत्र[८४६] संक्षेपात्[८४७] तथाभिधानेपि त्रैलक्षण्यं[८४८] शक्यमुपदर्शयितुं पञ्चावयववत्[८४९] ।

७३४. [८५०]सत्यमेतत् ; केवलं[८५१] **यत्रार्थक्रिया न संभवति तत्र वस्तुतत्त्वं यथा विनाशैकान्तः । तथा च नित्यत्वेपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रिया न संभवति, नापरं प्रकारान्तर[८५२]मिति[८५३], त्रिलक्षणयोगेपि प्रधानमेकलक्षणं, तत्रैव[८५४] साधनसामर्थ्यपरिनिष्ठितेः । तदेव च[८५५] प्रतिबन्धः[८५६] पूर्ववद्वीतसंयोग्या[८५७]दिसकलहेतुप्रतिष्ठापकं न,** पुनस्तादात्म्य-तदुत्पत्ती प्रतिबन्धः संयोगादिवत् , तदभावेपि हेतोः साध्याभावासंभवनियमनिर्णयलक्षणस्य भावे गमकत्वसिद्धेः, [८५८]शीताचले विद्युत्पातः, केदारे[८५९] कलकलायितत्वादित्यादिवत् , सत्यपि च तदुत्पत्त्यादिप्रतिबन्धेऽन्यथानुपपन्नत्वाभावे गमकत्वासंभवात्, स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदित्यादिवत् , अस्त्यत्र धूमोऽग्नेर्महानसवदित्यादिवच्च । सकलविपक्षव्यावृत्तिनिश्चयाभावादस्याग[८५९]मकत्वेऽन्यथानुपपन्नत्वनिश्चयाभावादेवागमकत्वमुक्तं स्यात् । इति[८६०] तस्यैव लक्षणत्वमस्तु[८६२], सकलसम्यग्घेतुभेदेषु कार्यस्वभावानुपलम्भेष्विव, पूर्ववत् - शेषवत् - सामान्यतोदृष्टेषु[८६३], वीतावीततदुभयेषु[८६४], संयोगिसमवायैकार्थसमवायिविरोधिषु, भूतादिषु च वर्तमानस्य पक्षव्यापिनः सर्वस्माच्च विपक्षादसिद्धादिहेत्वाभासप्रपञ्चाद् व्यावर्तमानस्यान्यथानुपपन्नत्वस्य हेतुलक्षणत्वोपपत्तेः । तथाविधस्यापि तदलक्षणत्वे हि न किंचित्कस्यचिल्लक्षणं स्यादिति लक्ष्यलक्षणभाव एवोच्छिद्येत । सति चान्यथानुपपन्नत्वे प्रतिपाद्याशयवशात् प्रयोगपरिपाटी[८६५] पञ्चावयवादिरपि न निवार्यते इति तत्त्वार्थालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम् । **ततः स्याद्वादेत्यादिनानुमितमनेकान्तात्मकमर्थतत्त्वमादर्शयति** । तदेव हि स्याद्वादप्रविभक्तोर्थः, प्राधान्यात्, सर्वाङ्गव्यापित्वात् । **तस्य विशेषो नित्यत्वादिः पृथक् पृथक् । तस्य प्रतिपादको नयः** । इति नयसामान्यलक्षणमप्यनेन दर्शितमिति व्याख्यायते । **तथा चोक्तम्–**

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं, तदंशधीः[८६६] ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः[८६७] ।।इति।

७३५. [८६८]**तदनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नयस्तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्नयः, केवलविपक्षविरोधदर्शनेन स्वपक्षाभिनिवेशात्[८६९]** ।

किं पुनर्वस्तु स्यादित्याहुः—

नयोपनयैकान्तानां[८७०] त्रिकालानां समुच्चयः ।
अविभ्राड्भावसंबन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ।।१०७।।

७३६. [८७२]**उक्तलक्षणो द्रव्यपर्यायस्थानः** [८७३]**संग्रहादिर्नयः, तच्छाखाप्रशाखात्मोपनयः । तदेकान्तानां** [८७४]**विपक्षोपेक्षालक्षणानां त्रिकालविषयाणां समितिर्द्रव्यं** वस्तु, 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'(त.सू. ५.३८) इति वचनात् । कः पुनस्तेषां समुच्चयो नामेति चेत्, कथंचिदविभ्राड्भावसंबन्ध [८७५]इत्याचक्षते, ततोन्यस्य समुच्चयस्य संयोगादेरसंभवात् द्रव्यपर्यायविशेषाणाम् । न [८७६]चैवमेकमेव द्रव्यं नयोपनयैकान्तपर्यायाणां तत्तादात्म्यादित्यारेकितव्यं, ततस्तेषां क़थंचिद्भेदादनेकत्वमिति वचनात्। तर्ह्यनेकमेवास्तु तादात्म्यविरोधादनेकस्थस्येत्यपि न शङ्कितव्यं, कथंचित्ता-दात्म्यस्याशक्यविवेचनत्वलक्षणस्याविरोधा[८७७]त्तथाप्रतीतेः । केवलं **ततस्तेषाम**[८७८]**पोद्धाराद्गुणगुण्यादिवत्** तदनेकधा । ततः [८७९]सूक्तं, त्रिकालवर्तिनयोपनयविषयपर्यायविशेषसमूहो द्रव्यमेकानेकात्मकं जात्यन्तरं वस्त्विति ।

अत्र परारेकामुपदर्श्य परिहरन्तः सूरयः प्राहुः—

[८८०]मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः ।
निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु [८८१]तेऽर्थकृत् ।।१०८।।

७३७. **सुनयदुर्नययोर्यथास्माभिर्लक्षणं व्याख्यातं तथा न चोद्यं न** [८८२]**परिहारः**, निरपेक्षाणामेव नयानां मिथ्यात्वात्, तद्विषयसमूहस्य मिथ्यात्वोपगमात्, सापेक्षाणां तु सुनयत्वात्तद्विषयाणामर्थक्रियाकारित्वात्, तत्समूहस्य वस्तुत्वोपपत्तेः । **तथा हि – निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः,** [८८३]**सापेक्षत्वमुपेक्षा,** [८८४]**अन्यथा** [८८५]**प्रमाणनयाऽविशेषप्रसङ्गात्। धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च,** [८८६]**प्रमाणात्तदतत्स्व**[८८७]**भावप्रतिपत्तेर्नयात्तत्प्रतिपत्तेर्दुर्नयादन्यनिराकृतेश्च । इति** [८८८]**विश्वोपसंहृतिः,** तद्व्यतिरिक्त-प्रतिपत्तिप्रकाराणामसंभवात् ।

नन्वेवमनेकान्तात्मार्थः कथं वाक्येन, नियम्यते यतः प्रतिनियते विषये प्रवृत्तिर्लोकस्य स्यादित्यारेकायामिदमभिदधते—

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन [८८९]विधिना वारणेन वा ।
तथान्यथा च [८९०]सोवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा [८९१]।।१०९।।

७३८. **यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात्** [८९२]**स्वविषयाकारसंवित्तिवत्** । यद्विवादाध्यासितं वस्तु तत्सर्वं धर्मि प्रत्येयम्, 'अप्रसिद्धं साध्यमि'ति वचनात्, तस्यानेकान्तात्मकत्वेन विवादाध्यासितत्वात् साध्यत्वोपपत्तेः । अर्थक्रियाकारित्वादिति [८९३]हेतुरसिद्धत्वादिदोषानाश्रयत्वात् [८९४]प्रधानैकलक्षणयोगाच्च । [८९५]स्वविषयाकारसंवित्तिवदित्युदाहरणं, [८९६]तथा वादिप्रतिवादिसिद्धत्वात्। सौगतस्य चित्राकारैकसंवेदनोपगमात्, यौगानामीश्वरज्ञानस्य स्वार्थसंवेदिनो मेचकज्ञानत्वोपगमात्, कापिलानामपि स्वरूप[८९७]बुद्ध्यध्यवसितार्थसंवेदिनः स्वसंवेदनस्येष्टेः [८९८]श्रोत्रियाणामपि फलज्ञानस्य स्वसंवेदिनोऽर्थपरिच्छित्तिरूपस्य प्रसिद्धेः, चार्वाकस्यापि प्रत्यक्षस्य वेदनस्य स्वार्थपरिच्छेदिनोभ्युपगमनीयत्वात् [८९९]सम्यगिदं [९००]साधनवाक्यम्। तथा न [९०१]**किंचिदेकान्तं वस्तुतत्त्वं सर्वथा तदर्थक्रियाऽसंभवाद्, गगनकुसुमादिवदिति** ।

७३९. अत्रापि विवादापन्नं वस्तुतत्त्वं धर्मि पराध्यारोपितैकान्तत्वेन [९०२]प्रतिषेध्यं, [९०३]क्वचित् सत इवारोपि-

तस्यापि प्रतिषेध्यत्वसिद्धेरन्यथा कस्यचित्परमतप्रतिषेधायोगात्, 'सत[९०४] एव संज्ञिनः प्रतिषेधो नासतः' इत्यस्याप्यविरोधात्, सम्यगेकान्ते[९०५] प्रसिद्धस्य रूपस्य सापेक्षस्य निरपेक्षत्वेनारोपितस्य [९०७]क्वचित्प्रतिषेधात्, सर्वथा तदर्थक्रियाभावात्, इति हेतो[९०६]र्व्यापकानुपलब्धिरूपत्वात्। गगनकुसुमादिवदित्युदाहरणं साध्यसाधनावैकल्याद्गगनकुसुमादेरत्यन्ताभावस्य परैरेकान्तवस्तुस्वरूपत्वसर्वथार्थक्रियाकारित्वयोरनिष्टेः। इतीदमपि श्रेयः[९०८] साधनवाक्यम्।

७४०. विशेषेण पुनर्नास्ति **सदेकान्तः, सर्वव्यापार[९०९]विरोधप्रसङ्गादसदेकान्तवत्।** एतेन[९१०] विशेषतोनेकान्तात्मकः[९११] [९१२]परिणाम्यात्मार्थक्रियाकारित्वात्, प्रधानवत्, इत्याद्युपदर्शितम्। **इति विधिना प्रतिषेधेन वा वस्तुतत्त्वं नियम्येत** तथा[९१३]न्यथा च तस्यावश्यंभावसमर्थनात्। **अन्यथा तद्वि[९१४]शिष्टमर्थ[९१५]तत्त्वं** विशेष्यमेव **न स्याद्विधेः** प्रतिषेधरहितस्य प्रतिषेधस्य च विधिरहितस्य विशेषणत्वनिराकरणात्, तदुभयरहितस्य च विशेष्यत्वविरोधात्, खपुष्पवत्, **इत्यनेन विधिप्रतिषेधयोर्गुणप्रधानभावेन सदसदादिवाक्येषु वृत्तिरिति लक्षयति[९१६]**। ततो न तेषां पौनरुक्त्यं, येन [९१७]सप्तभङ्गीविधिरनवद्यो न स्यात्।

विधिनैव वस्तुतत्त्वं वाक्यं[९१८] नियमयति सर्वथेत्येकान्ते दूषणमुपदर्शयन्ति—

तदतद्वस्तु[९१९] वागेषा तदेवेत्यनुशासती[९२०]।
न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः कथं तत्त्वार्थदेशना ॥११०॥

७४१. **प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूतं विरुद्धधर्माध्यासलक्षणम[९२१]विरुद्धं वस्तु** समायातं, स्वशिरस्ताडं फूत्कुर्वतोपि तदतद्रूपतयैव प्रतीतेः। तदुक्तम्[९२२]—

विरुद्धमपि[९२३] संसिद्धं तदतद्रूपवेदनम्।
यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्॥ (इति)

७४२. तच्च **तदेवेत्येकान्तेन प्रतिपादयन्ती मिथ्यैव भारती**, विध्येकान्ते प्रतिषेधैकान्ताभावस्येष्टस्यान[९२४]भिधानात्, [९२५]तदभिधाने वा विध्येकान्तप्रतिपादनविरोधात्। न च मृषावाक्यैस्तत्त्वार्थदेशना युक्तिमती। इति **कथमनया[९२६]र्थदेशनम्। इत्येकान्ते वाक्यार्थानुपपत्तिरालक्ष्यते।**

प्रतिषेधमुखेनैवार्थं वाक्यं नियमयतीत्येकान्तोपि न श्रेयानिति प्रतिपादयन्ति—

वाक्स्वभावो[९२७]न्यवागर्थ[९२८]प्रतिषेधनिरङ्कुशः।
आह च स्वार्थ[९२९]सामान्यं तादृग्वाक्यं[९३०] खपुष्पवत्॥१११॥

७४३. **वाचः[९३१] स्वभावोयं येन स्वार्थसामान्यं प्रतिपादयन्ती तदपरं[९३२] निराकरोति**, न पुनस्तदप्रतिपादयन्ती, स्वार्थसामान्यप्रतिपादनतदन्यनिराकरणयोरन्यतरापाये[९३३]नुक्तानतिशायनात्। **इदंतया नेदंतया वा न प्रतीयेत तदर्थः[९३५] [९३४]कूर्मरोमादिवत्। न खलु सामान्यं विशेषपरिहारेण विशेषं वा** सामान्यपरिहारेण **क्वचिदुपलभामहे। अनुपलभमानाश्च कथं स्वं परं वा तथाभिनिवेशेन विप्रलभामहे[९३६]**, विध्येकान्तवदन्यापोहैकान्तस्य प्रागेव व्यासेन निरस्तत्वात्।

भूयोप्यन्यापोहवादिनमाशङ्क्य निराकुर्वते—

सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्थो मृषा हि सा ।
अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः ।।११२।।

७४४. **अस्तीति** सत्सामान्यवाक् **केवलमभावविच्छेदाद्** विशेषमपोहमाहेति **चेत्, कः पुनरपोहः?** परतो व्यावृत्तिरभावोन्यापोह इष्यते इति चेत्, **कथमेवं सत्यभावं** किमन्यव्यावृत्तिरुत [९३८]तथा विकल्पः? **परतो व्यावृत्तिरभावोन्यापोह** इष्यते इति चेत्, **कथमेवं सत्यभावं न प्रतिपादयति[९३९]? भावं न प्रतिपादयतीत्यनुक्तसमं न स्यात् ? तद्विकल्पोन्यापोहोस्तु मिथ्याभिनिवेशादिति चेत्, न चैतत्तस्य[९४०] प्रतिपादकं मिथ्याविकल्पहेतुत्वाद् व्यलीकवचनवत्।** ततो नान्यापोहः शब्दार्थः सिद्ध्यति, येन तत्र प्रवर्तमानास्तीत्यादिसामान्यवाग् मृषैव[९४१] स्यात्। ततः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनो मन्तव्यः, स्वाभिप्रेतार्थविशेषप्राप्तेः। सर्वो[९४२] हि प्रवर्तमानः कुतश्चिद्वचनात् क्वचित्[९४३]स्वरूपादिना सन्तमभिप्रेतमर्थं प्राप्नोति, न पररूपादिनानभिप्रेतं[९४४], स्वरूपेणेव पररूपेणापि सत्त्वे सर्वस्या[९४५]भिप्रेतत्वप्रसङ्गात्, परात्मनेव स्वात्मनाप्यसत्त्वे प्रवृत्तिवैयर्थ्यात् , स्वरूपेणेव पररूपेणापि सत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वप्रसङ्गात्, परात्मनेव स्वात्मनाप्यसत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वाभावात् स्वयंमभिप्रेतस्याप्यनभिप्रेतत्वप्रसक्तेश्च। **ततः स्याद्वाद एव सत्यलाञ्छनो न वादान्तरमित्यतिशाययति** भगवान् समन्तभद्रस्वामी।

विधेय[९४६]मीप्सितार्थाङ्गं[९४७] प्रतिषेध्या[९४८]विरोधि यत् ।
[९४९]तथैवादेयहेयत्वमिति [९५०]स्याद्वादसंस्थितिः ।।११३।।

७४५. **अस्तीत्यादि विधेयमभिप्रेत्य विधानात्[९५१]**, [९५२]सर्वत्रैतावन्मात्रलक्षणत्वाद् विधेयत्वस्य। न हि परिवृढ[९५३]-भयादेरनभिप्रेतस्यापि विधाने विधेयत्वं युक्तं, वीतरागस्यापि तत्कृतबन्धप्रसङ्गाज्जनापवादानुषङ्गाच्च। नाप्यभिप्रेतस्याप्यविधानेऽविधेयत्वं, तद्योग्यतामात्रसिद्धेरन्यथाविधानानर्थक्यात्। तत एवाभिप्रायशून्यानां किंचिदप्यकुर्वतां न किंचिद्विधेयं नापि हेयमभिप्रेत्यहानाभावादुपेक्षामात्रसिद्धेः। तद्विपरीतानां तु किंचिद्विधेयं, तच्च **नास्तित्वादिभिरविरुद्धम्** , प्रतिषेध्यैरीप्सितार्थाङ्गत्वात् , तस्य तद्विरोधे स्वयमीप्सितार्थहेतुत्वासंभवात् , विधिप्रतिषेधयोरन्योन्याविनाभावलक्षणत्वात् स्वार्थज्ञानवत् । न हि स्वार्थज्ञानयोरन्योन्याविनाभावोऽसिद्धः स्वज्ञानमन्तरेणार्थज्ञानानुपपत्तेः कुटवत्[९५५], स्वज्ञाने एवार्थज्ञानघटनात्। सर्वज्ञज्ञानवत्[९५६] न हीश्वरस्यापि स्वज्ञानाभावः, सर्वज्ञत्वविरोधात् स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमस्यावश्यंभावात्, नापि विषयाकारज्ञानमन्तरेण स्वज्ञानं, स्वाकारस्या[९५७]र्थस्य परिच्छेद्यत्वविरोधत् स्वज्ञानाभावप्रसङ्गात्। तदनवद्यमुदाहरणं प्रकृतं साधयति। यथैव च विधेयं प्रतिषेध्याविरोधि सिद्धमीप्सितार्थाङ्गं तथैवादेयहेयत्वं वस्तुनो नान्यथा, विधेयैकान्ते कस्यचिद्धेयत्वविरोधात्, प्रतिषेध्यैकान्ते कस्यचिदादेयत्वविरोधात्। न हि सर्वथा विधेयमेव[९५८] प्रतिषेध्यं स्याद्वादिनोभिप्रेतं, येनोभयात्मकत्वे[९६०] एवादेयहेयत्वं न स्यात् , कथंचिद्विधिप्रतिषेधयोस्तादात्म्योपगमात्। **[९५९]तद्विधेयप्रतिषेध्यात्मविशेषात् स्याद्वादः प्रक्रियते सप्तभङ्गीसमाश्रयात्** । यथैव हि विधेयोस्तित्वादिविशेषः, स्वात्मना विधेयो न प्रतिषेध्यात्मनेति स्याद्विधेयः [९६१]स्यादभिधेयः सिद्धः। प्रतिषेध्यात्मविशेषश्च विधेयात्मना प्रतिषेध्यो न प्रतिषेध्यात्मना इति स्यात्प्रतिषेध्यः

स्यादप्रतिषेध्योन्यथा व्याघातात्। तथैव जीवाद्यर्थः स्याद्विधेयः स्यात्प्रतिषेध्यः। इति सप्तभङ्गीसमाश्रयात् स्याद्वादस्य प्रक्रियमाणस्य सम्यक् स्थितिः, सर्वत्र युक्तिशास्त्राविरोधात्, भावैकान्तादिष्वेव तद्विरोधसमर्थनात्। ततो भगवन्ननवद्यमध्यवसितमस्माभिः—'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्' इति।

तदेवं प्रारब्धनिर्वहणमात्मनस्तत्फलं च सूरयः प्रकाशयन्ति—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्[९६२]।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ।।११४।।

७४६. **इति** देवागमाख्ये **स्वोक्तपरिच्छेदे** शास्त्रे स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति ग्राह्यं तत्र **विहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा** हितमिच्छतां **निःश्रेयसकामिनां,** मुख्यतो निःश्रेयसस्यैव हितत्वात् तत्कारणत्वेन रत्नत्रयस्य च हितत्वघटनात् , तदिच्छतामेव न पुनस्तदनिच्छतामभव्यानां, **तदनुपयोगात्। तत्त्वेतरपरीक्षां प्रति भव्यानामेव नियताधिकृतिः,**[९६३] तथा मोक्षकारणानुष्ठानात् मोक्षप्राप्त्युपपत्तेः। सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये युक्ताप्तमीमांसा भगवतामाचार्याणां परहितसंपादनप्रवणहृदयत्वात् , दर्शनविशुद्धिप्रवचनवात्सल्यमार्गप्रभावनापरत्वाच्च। ततः परमार्हन्त्यलक्ष्मीपरिसमाप्तेः स्वार्थसंपत्तिसिद्धेः। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति सम्यगुपदेशः, तदन्यतमापाये मोक्षस्यानुपपत्तेः समर्थनात्। 'ज्ञानेन चापवर्गः' इत्यादिमिथ्योपदेशस्तस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वसाधनात्। तयोरर्थविशेषः सत्येतरविषयभेदः सम्यग्दर्शनादिमिथ्यादर्शनादिप्रयोजनभेदो वा तद्भावनाविशेषो वा मोक्षबन्धप्रसिद्धिभेदो वा। तस्य प्रतिपत्तिरुपादेयत्वेन हेयत्वेन च श्रद्धानमध्यवसायः समाचरणं चोच्यते। तस्यै सम्यग्मिथ्यापदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये। शास्त्रारम्भेभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थानपरा परीक्षेयं विहिता। इति स्वाभिप्रेतार्थनिवेदनमाचार्याणामार्यैर्विचार्य प्रतिपत्तव्यम्।

अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं[९६४] मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते—

जयति जगति क्लेशावेशप्रपञ्चहिमांशुमान्
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।
यतिपतिरजो यस्याधृष्यान्मताम्बुनिधेर्लवान्[९६५]
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ।।१।।

श्रीमदकलङ्कदेवाः पुनरिदं वदन्ति—

श्रीवर्धमानमकलङ्कमनिन्द्यवन्द्य-
पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं
स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ।।२।।

इति परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवनस्य मङ्गलस्य प्रसिद्धेः। वयं तु स्वभक्तिवशादेव निवेदयामः—

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
यद्वाचोप्यकलङ्कनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः[९६६]।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्
विद्यानन्दफलप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ।।३।।

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ दशमः[९६७] परिछेदः।

अष्टसहस्रीसमाप्तिमङ्गलम्।

श्रीमदकलङ्कशशधरकुलविद्यानन्दसंभवा भूयात्[९६८]।
गुरुमीमांसालंकृतिरष्टसहस्री सतामृद्ध्यै ।।

समाप्ता चेयमष्टसहस्री व्याख्या पाटनप्रतिलेखकप्रशस्तिः

वेदेषुयुगभूसंज्ञे वत्सरे योगिनीपुरे।
लिखितोऽयं तपापक्षशालायां वाचना कृता ।।

दशमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. विशेष्यपदमिदम्। २. सांख्यमतमुद्दिश्य वक्ति। ३. अन्यथा बन्धप्राप्तिः स्यादित्यर्थो मूलापेक्षया। यदि पुनरित्यादिसुखप्राप्तिरित्येतत्पर्यन्तवक्ष्यमाणभाष्यार्थापेक्षायां 'अन्यथा' शब्दस्य सुतरामित्यर्थो ग्राह्यः। ४. नञर्थो प्रसज्यप्रतिषेधः सर्वथा तदभावबोधकः, पर्युदासस्तु तन्निषेधपूर्वकं तत्सदृग्ग्राही भवति। एतदेवार्थद्वयमाश्रित्य क्रमेणाह। ५. द्वयोः पक्षयोर्मध्ये प्रथमपक्षे। ६. संशयविपर्ययानध्यवसायरहितम्। ७. ज्ञानान्तरसाहाय्यरहितम् ८. वक्ष्यमाणप्रकारेण। ९. अस्मिन् जगति न मे किंचन। १०. परिशेषरहितं यथा भवति। क्रियाविशेषणम्। ११. महाग्रन्थे प्रतिपादनात् १२. सांख्येन। १३. 'कुतः' इति क पुस्तके। १४. न विशेषात् १५. 'अशेषा' इति पाठः। १६. प्रत्यक्षानुमानागमास्त्रीण्येव प्रमाणानि सांख्यमते। १७. सूक्ष्मान्तरितादिः। १८. ज्ञेयस्यानन्तता नास्तीत्यपि न वक्तुं शक्यमित्यर्थः। १९. परिणामभेदानाम्। २०. तव सांख्यस्याप्यङ्गीकारात्। २१. सांख्यस्य। २२. एतद्विशेष्यपदं, पुरस्तात्तु त्रीणि विशेषणपदानि। २३. पुरुषः। २४. पुरुषस्य। २५. प्रकृतिपुरुषभेदपरिज्ञानमात्रेण। २६. 'मतम्' मुद्रितप्रतौ पाठः।

२७. बहुव्रीहिरुत्तरस्य विशेषणम्। २८. अज्ञानात्। २९. 'एवं सति अज्ञानाद्बन्ध इत्येतन्न सम्यग्घटते' इति प्रतिज्ञाय एतद्दार्ढ्यार्थमग्रेतनं हेतुद्वयं ज्ञातव्यम्। ३०. तत्र बन्धप्रसक्तौ हेतुमाह। ३१. कुतो मुक्तौ सकलज्ञानाभाव इति प्रश्ने उत्तरमिदम्। मुक्तावसंप्रज्ञातयोगो नाम निरालम्बनध्यानं साक्षात्परममोक्षहेतुः सांख्यमतेभिमतः। ३२. नन्वनेन स्वरूपेवस्थानमेव निरूपितं, न ततः सकलज्ञानराहित्यमित्याशङ्कायामाह। ३३. ज्ञानं बुद्धिः, तच्च प्रकृतिपरिणामात्मकं चेतनाज्जीवाद्भिन्नम्। तस्य हि मुक्तावभावे सकलज्ञानाभावः सुघटः। अत एव च मोक्षे बन्धप्रसक्तिरारोपिता, ज्ञानाभावस्य बन्धकारणत्वप्रतिज्ञानात्। ३४. ज्ञानाभावरूपस्य चैतन्यस्वरूपावाप्तेर्मोक्षहेतुत्वं तु ध्यानरूपत्वात्, बन्धहेतुत्वं च, जडरूपत्वात्। ३५. स च संसारावस्थायाम्। ३६. अयं तु मोक्षावस्थायाम्। ३७. अन्तरङ्गं पापकर्म, बहिरङ्गं तु काचादिदोषः। ३८. कतिपयार्थज्ञानाभावरूपात्। ३९. 'अज्ञानात्' मुद्रितप्रतौ नास्ति। ४०. भाविकेवलिनश्छद्मावस्थायां कतिपयज्ञानाभावरूपस्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसरूपस्य संभवात्। ४१. अप्रतिहतात्। ४२. सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसरूपात्। ४३. पुण्यस्य। ४४. आगमात्। विशेष्यपदमिदमन्यानि विशेषणानि। ४५. नञर्थस्य द्वितीयपक्षे। ४६. स्वर्गं प्रति। ४७. ईश्वरकृष्णकृतसांख्यकारिकाग्रन्थस्य। ४८. जाततैमिरिके परिणामादिनिमित्तवशाज्जातम्। ४९. केवल्यसंभूतौ हेतुः। समयः सिद्धान्तः। ५०. सबन्धो निबन्धनं यस्य, तच्च तन्मिथ्याज्ञानं च। इदं हि मिथ्याज्ञानं यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानं मरीचिकादौ जलज्ञानादि च।

५१. आगमस्य तथा विशेषाविषयत्वात्। ५२. अनुमानस्यापि सर्वं विशेषतया न गोचरीभवति। ५३. मिथ्याज्ञानं द्वेधा, सदोषं निर्दोषं च। ५४. एवं वचने सति वैराग्यरहितात्तत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्ययुक्तं न स्यात्, तथा वचनमिदं वैराग्यसहितात्तत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्येतद् ज्ञानस्तोकान्मोक्ष इति प्रतिज्ञातेन विरोधि यथा तथा प्रकृतमपीति भावः। ५५. नैयायिकेन। ५६. 'पायादपवर्ग' इति सूत्रपाठोधुना न्यायदर्शने उपलभ्यते। न्यायदर्शनस्य प्रारम्भे द्वितीयसूत्रमिदम्। ५७. दुःखादीनामभावस्य तत्त्वज्ञाननिबन्धनत्वात्, तच्च सकलतत्त्वज्ञानं नास्ति नैयायिकानामतः प्रकृतं मिथ्याज्ञानमेव स्थितमिति तात्पर्यम्। ५८. संसर्गः सुखदुःखे च तथार्थेन्द्रियबुद्धयः। प्रत्येकं षड्विधाः ख्याता दुःखसौख्यैकविंशतिः। ५९. नैयायिकाभिमतान्येव प्रमाणानि। अस्मच्छब्देन तुच्छत्वं सूच्यते। एतानि, अस्मदाद्यल्पप्रयोजनसाधकानि। एभिः सकलतत्त्वज्ञानं न संभवेत्। ६०. कुत इत्याह। ६१. तेषु मध्ये सूक्ष्मादीनामस्मदादिप्रत्यक्षाद्यविषयत्वादित्यर्थः। ६२. प्राणभृज्जीवः। ६३. अनन्तत्वात्। ६४. नष्टा। ६५. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाः प्रमेयम्। ६६. मुक्तिर्द्विधा परापरभेदात्। अपरमुक्तिः कैवल्यप्राप्तिपूर्विका सशरीरा स्थितिः। सकलकर्मनिवृत्तौ शरीरविनाशे निरञ्जनरूपेण सिद्धात्मना स्थितिः परमुक्तिः। ६७. नैयायिकैः। ६८. परमुक्तिकारणात्। ६९. तत्त्वज्ञानेन तस्य प्रतिहतत्वाद् बन्धो

नेत्येवं प्रकारेण। ७०. ननु दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्ध एव नास्ति तत्कथं तन्निराकरणं शोभते इत्युक्ते आह। ७१. दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्ध इत्युक्ते योगिज्ञानात्प्राक् कदाचनापि दोषनिवृत्तेरसंभवाद्दोषसहितमिथ्याज्ञानस्य सदानुपरतिरेव। ततश्च कैवल्याभाव एव स्यादिति भावः। ७२. 'सद्भावात्' पाठान्तरम्।

७३. योगिज्ञानादिति ग्रन्थेन। ७४. योगिज्ञानात्प्रागिच्छाद्वेषयोरनिवृत्तेस्तत्कारणमिथ्याज्ञानसन्ततेः सदा सद्भावात्। ७५. सौगतः। ७६. अविद्यापि सैव। ७७. संसारम्। ७८. अस्मदादेः। ७९. एते द्वे एव प्रमाणे सौगतानामभिमते। ८०. उत्पादकादिकारणानि। ८१. सकारणस्य। ८२. अतः स केवली। ८३. जातिः जन्म। ८४. द्वादशकारणम्। ८५. आश्रित्य। ८६. संसारस्य। ८७. तस्मात् क्षणिकनिरात्मकाशुचिदुःखरूपाद्विपरीतता अक्षणिकसात्मकशुचिसुखरूपता। ८८. सति। ८९. संसारिशरीरे। ९०. 'नेक' पाठान्तरम्। ९१. प्रशस्ताप्रशस्तौदासीन्यरूपाणाम्। ९२. रूपवेदनासंज्ञासंस्कार-चतुष्टयं नाम, पृथिव्यादीचतुष्टयं रूपम्। ९३. चक्षुःश्रोत्रघ्राणस्पर्शनरसनमनांसि षडायतनम्। ९४. आत्मनः कर्तुं योग्या, सा चासौ क्रिया च, तस्याः प्रवृत्तिस्तस्या हेतुर्यस्तस्य। ९५. विषयाध्यवसानवाञ्छारूपं ज्ञानम्। ९६. तत्तत्पदार्थग्रहणार्था प्रवृत्तिः। ९७. पुनरुत्पत्तिजनकं च तत्कर्म च, तदेव लक्षणं यस्य (संसारस्य)।

९८. मनुष्यादिदेहप्रादुर्भावस्य जीर्णता तत्प्रध्वंसः। ९९. द्वादशाङ्गं प्रतीत्य संसारस्य संभवो न स्याद्यदि। १००. अविद्यातृष्णाभ्यां बन्ध इति, द्वादशाङ्गद्वारकः समुत्पाद (संसारः) इति च यत्प्रतिज्ञातम्। १०१. केवली न स्याद्यतः। १०२. कारिकापरभागं विवृण्वन्नाह। १०३. ज्ञानमत्र इन्द्रियज्ञानम्। १०४. स्तोकज्ञानाभावादित्यर्थः। १०५. ब्रह्ममोक्षः। १०६. तर्हीति शेषः। १०७. अनेन दृष्टांतं समर्थयन्ति। १०८. इन्द्रियजरूपायाः। १०९. न भवेदिति उत्तरेण संबन्धनीयम्। ११०. मोहसहितात्। १११. 'न' मुद्रितप्रतौ पाठः। ११२. मोहरहिताज्ज्ञानस्तोकादपि मोक्षः स्यात्, मोहसद्भावे तु तथा न स्यादिति भावः।

११३. बन्धश्चतुर्धा स्थित्यनुभागप्रकृतिप्रदेशभेदात्। तत्रान्त्यौ योगादात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणाद्भवतः, स्थित्यनुभागौ कषायतः संभवतः। योगनिमित्तेषु द्विधाकर्मसु नास्ति विशेषसामर्थ्यं, कषायनिमित्तककर्मस्वभावसद्भावे एव तयोरुपयोगात्। अत एव कषायस्य बन्धकारणत्वं प्राधान्यापेक्षयोक्तं, स्वफलदानसमर्थत्वं च तन्निमित्तकस्यैव प्रतिपादितम्। ११४. क्रोधादिकषायसंयुक्तस्य। ११५. एकस्मिन्नेवात्मलक्षणेर्थे कषायेण सह समवायो वर्तते, अतो मिथ्याज्ञानं यत्तदेवाज्ञानं जायते। ११६. ज्ञापयंतः। ११७. मिथ्याज्ञानं पुंसो बन्धकारणमित्येव तात्पर्यार्थः। ११८. मोहापेक्षां विना केवलादज्ञानाज्ज्ञानाभावरूपादेव बन्धस्वीकारे सति योतिप्रसङ्गः स पुरस्ताद्विद्यानन्दैरेव प्रदर्शितः। ११९. क्षीणकषायो द्वादशगुणस्थानवर्ती जीव उपशांतकषायस्त्वेकादशगुणस्थानवर्ती। एकादशे कषायः सन्नप्यात्मनि उपशान्तो भूत्वा तिष्ठति, नहि तदा उदित्वात्मपरिणामं विकरोति, द्वादशे तु कषायसत्तैवात्मनः सकाशात्क्षीयते। अत एवान्वर्थनामनी ते द्वे अपि गुणस्थाने। उभयत्रापि केवलोत्पत्त्यभावेनाज्ञाने सत्यपि कषायोदयाभावाद्बन्धो न भवति। १२०. तटस्थाशङ्का-योगसद्भावात्प्रकृतिप्रदेशबन्धस्तु त्रयोदशगुणस्थानपर्यन्तं भवति तदपेक्ष्याशङ्कितं, तथापि तन्निरुपयोगि दग्धरज्जुवदतः सदप्यसदेवेत्युत्तरम्। १२१. त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनि। १२२. 'समर्थ' पाठान्तरम्। १२३. कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनस्यैव बन्धस्य सत्यबन्धरूपत्वादित्यर्थः। १२४. पथ्येतराहारादिसंबन्धो यथा कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धन एव इष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धस्तथा प्रकृतोपि। १२५. धर्मिणः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेप्यसिद्धत्वाभावो यथेत्यर्थः। १२६. धर्मिणः। १२७. मीमांसकं प्रति। १२८. विवादापन्नम्। १२९. मीमांसकः। १३०. केवलस्य। १३१. पक्षमात्रे हेत्वभावात्। १३२. जैनः। १३३ धर्मिणो विवादापन्नत्वविशेषणमन्तरेण दृष्टान्तस्यापि पुद्गलविशेषसंबन्धरूपत्वाद्धर्मिण्यन्तर्भावाद् दृष्टान्तासिद्धिः। १३४. क्षीणोपशान्तकषायस्य। प्रकृतिप्रदेशबन्धयोः पुद्गलविशेषसंबन्धरूपत्वेपि कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनत्वाभावाद् व्यभिचारः। १३५. 'संवन्धस्य' पाठान्तरम्। १३६. साध्येन सह। १३७. हेतोः। १३८. पक्षे। १३९. साध्येन

सह। १४०. इत्यादौ यथा साध्यसाधनवैकल्याभावो हेतोश्चान्वयत्वासंभवः।

१४१. कर्मणो हिंसादिविरतिचित्तधर्मत्वेन (जीवपरिणामरूपत्वेन) चेतनत्वात् कर्मबन्धस्य पुद्गलविशेषसंबन्धत्वमसिद्धमिति वदन्तं चेतनकर्मवादिनं प्रत्याहुः। स च नैयायिकादिर्यो धर्माधर्मसंज्ञकं जीवस्य गुणं मन्यते। १४२. अपितु पुद्गलविशेषसंबन्धरूप एव भवेत्। १४३. व्रीह्यादि यथा आतपजलादिसंबन्धेन विपच्यमानमतो पुद्गलरूपं दृष्टं, तथा। १४४. कर्मणां चत्वारो भेदाः—पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी च। तद्विस्तारो हि गोमटसारे। तद्यथा, देहादीफासंता पण्णासा णिमिणतावजुगलं च। थिरसुहपत्तेयदुगं अगुरुतियं पुग्गलविवाई॥ देहादिस्पर्शान्ताः पञ्चाशत् प्रकृतयः, निर्माणमातपयुगलं च स्थिरं शुभं प्रत्येकद्विकमगुरुलघु इति सर्वाः पुद्गलविपाकिन्यः प्रकृतयः॥ पुद्गले जीवशरीरे विपाकः फलोदयो यस्य कर्मणस्तत्पुद्गलविपाकि। यथा शरीरनामकर्म। अतो देहस्यैव निर्माणं भवति न तु जीवविषये तत्साक्षात्किंचिद्विकरोति। आऊणि भवविवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वी य। अठ्ठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा॥ आयूंषि भवविपाकीनि क्षेत्रविपाकीनि आनुपूर्व्याणि, अष्टसप्ततिर्जीवविपाकीनि (कर्माणि) मन्तव्यानि। आयुः कर्म भवविपाकि, भवे नरकादिगतौ प्राप्तशरीरेऽवरोधकारणत्वादायुषो भवविपाकित्वसिद्धेः। अनेनापि न कश्चित्साक्षाज्जीवे विकारो भवति, अवरोधमात्रेण तद्विकारासंभवात्। आनुपूर्व्यं हि कर्म मरणानन्तरं नूतनशरीरग्रहणाय मध्ये (विग्रहगतौ) गच्छतो जीवस्य, शरीरपरिमाणतोत्पादकौदारिकादिशरीराभावेपि पूर्वशरीराकारतामादधाति इति, नानेनापि जीवे साक्षात्कश्चिद्विकार उत्पाद्यते, पूर्वाकारस्य तदवस्थत्वकारणत्वेपि तावता जीवे विकृत्यसंभवात्। विहायोगतिसुभगानां प्रत्येकं सप्रतिपक्षेण सह द्विकं, चतस्रो गतयः पञ्च जातयः (पञ्चेन्द्रियापेक्षया एकेन्द्रियादिनामिकाः), एवं सप्तविंशतिर्नामकर्माणि। एतैरपि जीवप्रदेशेषु जीवगुणे वा क्वचिद्विकार एवोत्पाद्यते इत्येता अपि जीवविपाकिन्य एव।

इति 'चतुःप्रकारकर्मसुमध्ये यानि जीवविपाकीनि तेषां विपाके पुद्गलापेक्षत्वं न स्यादिति मत्वा शङ्का, यत्कथं जीवविपाकीनि पौद्गलिकानि संभवेयुः? पुद्गलसंबन्धेन तद्विपाकाभावात्। तदुत्तरं त्वित्थं—यत्तेषां जीवविपाकिनामपि सकर्मजीवे एव विपाको भवति। सकर्मजीवास्तु तदावेशात्स्यान्तमूर्ता अभिमताः। मूर्तत्वमेव च पौद्गलिकत्वमिति कृत्वा जीवविपाकिनामपि पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वं सुघटम्। एवं चानेन हेतुना सर्वेषामपि कर्मणां पौद्गलिकत्वं सिध्यति। १४५. 'सिद्धेः' पाठान्तरम्। १४६. तस्य पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वस्य। १४७. अनुभवपूर्वकत्वात्स्मरणस्य, अनुभवस्य च पुद्गलाश्रयत्वात्। १४८. पुद्गलमयं कर्म चेत्तर्हि तस्य फलदानसामर्थ्यं न स्यादचेतनत्वादेरित्याशङ्क्याह। १४९. चक्षुरतीन्द्रियत्वाददृश्यं तथापि रूपज्ञानात्स्वीक्रियते सर्वैर्यथा। १५०. स्तोकज्ञानादपि। १५१. मोहपरिक्षयाभावे। १५२. दशमगुणस्थानान्तानाम्। १५३. विद्यानन्दमहोदये। १५४. इतः परं यौगः। १५५. कामादि(इच्छादि)रेव प्रभवः कार्यम्।

१५६. न तु कर्मकृतः। १५७. कामादीनां रागादीनां प्रभव उत्पादः, स तु कार्यरूपश्चित्रो नानारूपः कर्मबन्धानुरूपाद् ज्ञानावरणादिकर्मकारणात्। १५८. स्वस्य कर्मणो, हेतू रागादिपरिणामः (अज्ञानमोहाहंकारादिरूपः)। १५९. शुद्धिर्भव्यत्वमशुद्धिरभव्यत्वम्। यस्मिञ्जीवे शुद्धिः स्वभावोस्ति स कदाचिन्मुक्तो भवति, नाशुद्धिभाक्। १६०. यसः। १६१. यस्य वस्तुनः कारणभूतस्य, विचित्रं कार्यं तस्येत्यर्थः। १६२. शालिबीजादेकरूपाच्छाल्यङ्कुरस्यैवोत्पत्तिर्न त्वन्यस्य। १६३. एकस्वभावेश्वरकृतत्वलक्षणे। १६४. हेतोरनुपपन्नत्वं तस्य ग्राहकं प्रमाणम्। १६५. एकस्वभावत्वेपि विचित्रकार्यदर्शनात्। सा च विचित्रता नवजीर्णतापेक्षया। १६६. एकस्वभाविनः (नित्यस्यैव क्षणिकस्यैव ता)। १६७. अपरिणामितया मतस्य कालादेरेव। १६८. कालादेः। १६९. व्यापकरूपया सह। १७०. तया अर्थक्रियया। १७१. इति व्यापकाभावे व्याप्याभावोत्र। १७२. नैयायिकः। १७३. खपुष्पादेः। १७४. असदित्येव प्रत्ययो यः सैव यार्थक्रिया। १७५. अर्थक्रियया। १७६. जैनः। १७७. व्यापिकार्थक्रियैवात्र। १७८. तत् सत्त्वम् (व्याप्यम्)। १७९.

एकत्रापि व्यापकावयवभूते व्याप्ये यदि व्यापकरूपं प्रवर्तते तर्हि तद्व्याप्तिरखण्डिता। अग्निधूमयोरपि न सर्वत्र व्याप्तिरस्ति। १८०. वस्तुनः। १८१. क्रमस्य यौगपद्यस्य। १८२. जैनः। १८३. एकामेवार्थक्रियां संपादयतः १८४. इति अन्तर्बाह्यार्थभेदेनार्थक्रियाद्वैविध्यं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि। १८५. अन्तरङ्गस्वज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारणा-वश्यंभावाभावे। १८६. एकक्षणस्थायित्वेन। १८७. नैयायिकः। व्याप्ययोः। १८८. व्यापकेन सह। १८९. करणमिन्द्रियम्। आदिशब्देन गुणकर्मादिग्रहः। १९०. प्रकृतप्रमाणेन कारणस्य (ईश्वररूपस्य) बाधनात्। १९१. एकस्वभावेश्वरबाधनेन। १९२. पञ्चमी। १९३. क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियासंभवात्। १९४. ईश्वरेण। १९५. इच्छायाः। १९६. ईश्वरादनर्थान्तरभूतः। अत्र अनर्थान्तरभूतोर्थान्तरभूतश्चेति पक्षद्वयं कृत्वा निरसितं क्रमेणेति विचार्यम्। 'नित्यैकस्वभावाया' इत्युपर्युक्ते पदेपि पक्षान्तरं कल्प्यम्। तद्यथा—इच्छा नित्यानित्या वा? तत्रापि प्रत्येकपक्षे सा पुनरेकस्वभावानेकस्वभावा वा? इति विकल्पान्तरमूह्यं, तत्क्रमेणैव चोत्तरं दत्तं पुरस्तात्तत्संप्रधार्यम्। १९७. ईश्वरस्य। १९८. उपकारान्तरमीश्वराद्भिन्नमभिन्नं वा? अभेदे नित्यत्वविरोध ईश्वरस्य। भेदे संबन्धासिद्धिरित्येवंरीत्या। १९९. षष्ठीप्रथमा इति रूपेण। २००. सिसृक्षायाः। २०१. ईशस्य। २०२. सिसृक्षायाः। २०३. नित्यपक्षवत्। २०४. ईश्वरात्। २०५. ईश्वरेण। २०६. स ईश्वरः। २०७. ईश्वरस्यायमभिसंधिरिति यो व्यपदेशः। २०८. सत्याम्। २०९. इच्छायाः। २१०. हेतोः। २११. अभिसंधेरनेकत्वं क्रमेणाक्रमेण वा? अक्रमत्वं चेत्तर्हि तत्र पक्षे इत्यर्थः। २१२. सकृदुत्पत्त्यादिप्रसङ्गरूपस्य। २१३. अभिसंधेरेव। २१४. वर्तिकादाहादीनाम्। २१५. विद्यमानोप्यसावभिसंधिरिच्छामन्तरेण इच्छापर्वूको वा भवेत्? २१६. अनपेक्षत्वं हि अपराया ईश्वरसिसृक्षायाः सकाशात्। २१७. तत्सिसृक्षानपेक्षजन्मानः। २१८. इतोग्रे 'उत्तरसिसृक्षातः' इत्यधिकपाठः कपुस्तके। २१९. तस्याः पूर्वपूर्वसिसृक्षाया। २२०. ईश्वरबोधस्य। २२१. सिसृक्षा तन्वादिकार्यं चेति द्वन्द्वः। २२२. सिसृक्षान्तरकार्याणाम्। २२३. तस्य ईश्वरबोधस्य। २२४. अनिमित्तत्वं तन्वाद्युत्पत्तौ। २२५. तस्य नित्येश्वरबोधस्य। २२६. तन्वादिकार्याणाम्। २२७. तत्र तन्वादौ। २२८ नित्येश्वरज्ञानस्य सकलजीवानां च व्यतिरेकाभावः समान एव यत इत्यर्थः। २२९. नन्वीश्वरज्ञानाभावे सकलकार्याणामभावो भवतु, न तु सकलात्मनामभावे ईश्वरबोधसद्भावे। तत ईश्वरबोधस्यैव व्यतिरेकः सिध्यति, न तु सकलात्मनामित्याह। २३०. सर्वोत्पत्तिमतो निमित्तकारणमिति षष्ठ्या विग्रहः कार्यः। २३१. 'निमित्तकारणम्' इति पाठान्तरम्। २३२. असर्वगतत्वाङ्गीकारे। २३३. ईश्वरबोधस्य। २३४. तत् तन्वादिकार्यं प्रति।

२३५. ईश्वरज्ञानं तद्बोधान्तरानपेक्षं तत्सापेक्षं वा? इति विकल्प्य पक्षद्वये दोष उद्भाव्यते। २३६. ईश्वरबोधान्तरानपेक्षाणाम्। अनित्येश्वरबोधे सिसृक्षातन्वादौ चेत्युभयत्र। २३७. अनवस्थालक्षणः। २३८. आदिना सिसृक्षातन्वादिग्रहणम्। २३९. कालेनापि देशेनापि। २४०. सकलात्मनाम्। २४१. एकस्वभावाभ्यां कार्यवैचित्र्यं न भवेद्यथा। २४२. महेश्वरबोधात्कार्यं न भवतीत्यनया। २४३. प्रयोजनम्। २४४. अर्थोत्र कार्यम्। २४५. ग्रन्थकृतानन्तरमेवोक्तस्य। २४६. सकलात्मनामेव कारणत्वापत्तिरत्रातिप्रसङ्गः। २४७. महेश्वरसिसृक्षयोरेकस्वभावत्वेपि कर्मवैचित्र्यात्कामादिवैचित्र्यमिति प्रतिविधानेन २४८. हेतुभ्यः। २४९. कार्यस्य। २५०. साध्यम्। २५१ अनुक्रमेण वर्तनं विरम्य प्रवृत्तिः २५२. विरम्य प्रवृत्त्यादिभ्यो हेतुभ्यः २५३. नैयायिकः। २५४. शरीरेन्द्रियोत्पत्तेः पूर्वम्। २५५. कुशल एव कौशलः, स्वार्थेऽण्, यथा द्वीतमेव द्वैतमिति। २५६. 'मृत्पिण्डः' मुद्रितप्रतौ पाठः। २५७. आत्मान्तरान्वेषणेपि। २५८. विरम्य प्रवृत्त्यादीनां प्रकृतसाधनानां यो व्यतिरेकस्तस्यानिश्चयात्। सति ईशे कार्यं नासीदित्येवं व्यतिरेकोत्र। २५९. तस्य व्यतिरेकः समर्थ्यते इति उत्तरपदेन क्रियाकारकसंबन्धः। २६०. नैयायिकमते आत्मा न तु स्वरूपेण चेतनः, किंतु पूर्वमचेतन एव पश्चाच्चेतनागुणेन समवायाच्चेतनो भवति। २६१. सतीश्वरे विरम्य प्रवृत्त्यादिसाधनं स्यात्रासतीत्यनेन। २६२. नैयायिकेन। २६३. अत्राहुर्जैनाः। २६४. ईश्वरस्तनुकरणभुवनादिनिमित्तकारणं न भवति, विगततनुकरण(इन्द्रिय)त्वान्मुक्तात्मवत्। २६५. अयं

दृष्टान्तोग्रेतनवाक्येन सह योजनीयः। कालो यथा वितनुकरणत्वात्तन्वाद्युत्पत्तौ कारणं न भवति तथेश्वरोपीति भावः। २६६. ईश्वरस्य। २६७. अपिशब्दो भिन्नक्रमे, तेन कर्मणामपीति कर्त्तव्योन्वयः। २६८. न केवलं सतनुकरण एवेति ध्वन्यतेऽपिना। २६९. घटकरणे कुम्भकार एव। २७०. कर्मणां तन्वादिकार्योत्पत्तौ कारणत्वकल्पनापेक्षया। २७१. सतनुकरणत्वं कुलाले कर्तृत्वेन निराक्रियतां, न पुनर्वितनुकरणे बुद्धिमत्त्वमित्यत्र न्यायस्य समानत्वात्। २७२. यौगम्। २७३. कारकाणां दण्डादीनाम्। २७४. सदाशिवलक्षणस्य।

२७५. ईश्वरस्याशरीरत्वान्न कारकप्रयोक्तृत्वं कुलालस्य तु सशरीरत्वात्तत्कारकप्रयोक्तृत्वं संभवतीति प्रश्ने सत्याह। २७६. किंतु इच्छादीनामेव तदङ्ग(कारण)त्वात्। २७७. कुलालस्य ईश्वरवज्ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नवत्त्वेनैव दृष्टान्तत्वं, न तु शरीरसत्त्वासत्त्वाभ्याम्। २७८. यदि तयोः सर्वथा साम्यं स्यात्तर्हि तयोर्मध्ये विशेषो (भेदः) नैव स्यात्। तथा चेदं दार्ष्टान्तिकमयं तु दृष्टान्त इति द्वैतभावोपि कथं स्यात्? २७९. ईश्वरो बुद्धीच्छाप्रयत्नवान् न, वितनुकरणत्वान्मुक्तात्मवदित्यनुमानात्तदभावे तदभावोवसेयः। २८०. यौगमतेनात्मानं व्यापकं मत्वा दोषोयमुद्भावितः। शरीराद्बहिर्नात्मनि बुद्ध्यादि तिष्ठति तन्मतानुसारम्। २८१. कालादौ च वितनुकरणत्वादेव न बुद्ध्याद्यस्ति। २८२. आत्मनस्तदा वितनुकरणत्वेपि बुद्धीच्छाप्रयत्नदर्शनात् (नैयायिकाशङ्का)। २८३. स्वमतं यौगमतं, व्यापकापेक्षया। २८४. जैनानाम्। २८५. विग्रहगतौ (पूर्वशरीरत्यागानन्तरं प्राक् चोत्तरशरीरग्रहणात्) कार्मणतैजसशरीरसद्भावात्। २८६. ईश्वरो धर्मी किं प्रमाणप्रतिपन्नो न वेति विकल्प्य यौगो जैनं पृच्छति। २८७. अनिष्टापादनसमये। २८८. ईश्वरस्य स्वयं संमतत्वात्। २८९. अकर्तृत्वादिविशिष्टस्य २९०. वितनुकरणत्वादिति। २९१. पूर्वं संसारापन्नस्यैव कस्यचिदात्मनः कदाचित्कर्मनाशे सति। २९२. सर्वसृष्टिकर्तृत्वबुद्ध्यादिसंपन्नत्वाभ्यां द्वाभ्यां विशेषणाभ्यां युक्तत्वं तस्येश्वरस्य नैव निर्विवादं सिध्यति, आत्मान्तरस्य मुक्तत्वेपि यौगैस्तथाऽस्वीकारात्। २९३. करणानि। २९४. समस्तकारकप्रयोक्तृत्वबुद्ध्यादिसंपन्नत्वाभ्याम्। २९५. ईशस्य। २९६. यौगमतानुसारेण। २९७. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ इति वचनम्। २९८. आगमस्य। २९९. युक्त्या अनुमानेन। ३००. तच्छरीरमपि आत्मान्तरशरीरबुद्धिमन्निमित्तकारणकं बुद्धिमदकारणकं वेति विकल्प्य दूषयन्ति जैनाः। ३०१. ईश्वरशरीरस्य कार्यत्वेपि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वास्वीकारेण कार्यत्वहेतोः पक्षाव्यापकत्वात्।

३०२. सृष्टिकर्तुरीशस्य। ३०३. नेतरस्य भवशरीरोत्पत्तौ निमित्तत्वमतो नानवस्था, बीजवृक्षादिवदनादित्वात्तच्छरीरप्रवाहस्य। ३०४. न केवलं स्वशरीरस्यैवोत्पत्तौ। ३०५. संसारिणाम्। ३०६. ईशस्य। ३०७. विरम्य प्रवृत्तिः स्थित्वा प्रवर्तनम्, अर्थसाधकक्रिया चेति द्वयं कथं भवतीत्याह—चेतनेति। ३०८. चेतनाधिष्ठानरहितस्य। ३०९. स्थित्वा प्रवर्तनादि। कुतः? ईशस्याप्यचेतनत्वात्। ३१०. स्थित्वा प्रवर्तनादि स्यादीशे तर्हि। ३११. प्रेरिताः। ३१२. चेतनाधिष्ठितत्वे। ३१३. यदि चेतनाधिष्ठितं न स्यात्तर्हि। ३१४. ईश्वरेण। ३१५. स्थित्वा प्रवर्तनेपि चेतनानधिष्ठानात्। ३१६. नैयायिकाशङ्का। ३१७. अनवस्थालक्षणो दोषः। ३१८. ईश्वरस्य स्वयं चेतनत्वात्। ३१९. प्रहीणो निकृष्टः। ३२०. अपरेश्वरम्। ३२१. यतः स स्वयं बुद्धिमानिति हेत्वर्थे पूर्वोक्तं विशेषणं ज्ञेयम्। तद्वदीश्वरत्वविशेषणदानस्य फलं प्रहीणाकरणत्वमिति मनसि हेत्वर्थं विचार्य 'ईश्वर' इत्यपि प्राग्विशेषितम्। ३२२. सातिशयं यो वेत्ति, यत्तद्विधौ स प्रहीणकारी न भवतीति दर्शनादिति भावः। ३२३. कर्मणामपि वैचित्र्यमीश्वरज्ञानगतं तत्कृतं चेति तत्रापि तथात्वं कथं जातमित्याशङ्का न निवर्तते इत्यर्थः। ३२४. कर्मणि। ३२५. अत्रापीश्वरनिमित्तत्वाविशेषात्। ३२६. कर्मणामीश्वरानिमित्तत्वे। ३२७. ईश्वरस्य कर्मणां च चेतनाधिष्ठितत्वाभावे च। ३२८. साधनस्य। ३२९. ईश्वरकर्मभ्याम्। ३३०. ईश्वरस्य। ३३१. बीजाङ्कुरवत्। ३३२. अनुमानेन सिद्धमित्यर्थः। ३३३. नन्वचेतनं कर्म प्राणिनः कथं स्वर्गादिकं प्रापयतीति चेदाह। ३३४. युक्त्या साधिते 'अचेतनात्कर्मबन्धात्कामादयः कामादिभ्यश्च कर्मबन्धवैचित्र्यमिति' स्वभाव एव वस्तुनस्ततोत्र

नोपालम्भः कर्त्तव्यो यौगेन। ३३५. ईश्वरे धत्तूरादौ वा प्रत्यक्षतो विषयीकृते चेतनस्वीकृतत्वे ततश्चाचेतनात्ततो चेतनपारतन्त्र्यचित्रीकरणादौ। ३३६. धत्तूरे भक्षिते सर्वं पीतरूपं भाति यतः। ३३७. कामादिकर्मबन्धयोः।

३३८. कामादिकर्मबन्धयोः परस्परमचेतनत्वचेतनत्वकरणरूपतया। ३३९. अनेककारणेन। ३४०. यतः स प्रासादादिः कार्यत्वे सत्यप्येकबुद्धिमत्कारणको न। ३४१. तन्वादीनाम्। ३४२. तत्तत्प्राण्यदृष्टेन। ३४३. प्रथमानुमानेन न एकानेकबुद्धिमत्कारणत्वमुच्यते, किंतु बुद्धिमत्कारणत्वसामान्यं साध्यते इत्याशङ्कायामाह। द्वितीयपक्षे सिद्धसाधनत्वसमर्थनेन। ३४४. विशेषस्तूपरिष्टात्सिद्धो भविष्यतीति कथं सिद्धसाधनमिति प्रश्ने प्राह। तस्य नैयायिकस्य। ३४५. यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोधिकरणसिद्धान्तः (गौ० सू० १.१.३०)। यस्यार्थस्य सिद्धौ जायमानायामेव प्रस्तुतस्य प्रकरणस्य सिद्धिर्भवति सः। यथा तद्द्व्यणुकादिकं पक्षीकृत्योपादानगोचरज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वे साध्यमाने सर्वज्ञत्वमीशस्य (गौ० वृ० १.१.३०)। ३४६. अनन्तरं निराकरिष्यमाणत्वादिति भावः। ३४७. बुद्धिमत्त्वमात्रेण सामान्येन सहितो विशेषस्तस्य। ३४८. सिद्धसाधनलक्षणो दोषो न। ३४९. दृष्टं विशेषाश्रयं यस्य, अदृष्टं विशेषाश्रयं यस्य वेति सामान्यं द्विधा। ३५०. कतिपयकारकप्रयोक्तृत्वासर्वज्ञत्वप्रतिहतशक्तित्वाविभुत्वसशरीरत्वादिदृष्टविशेषाश्रयं सामान्यम्। ३५१. स्वेष्ट ईशः। ३५२. समस्तकारकप्रयोक्तृत्वादि अदृष्टम्। ३५३. कुम्भादेः। ३५४. दृष्टादृष्टविशेषाश्रयत्वं विहाय अन्यविशेषाश्रयत्वमेव भविष्यतीत्युक्ते प्राह। ३५५. तथा सामान्यस्यासंभवादिति भावः। ३५६. यस्य कर्तृत्वमात्रस्य सिद्धौ। ३५७. अन्यस्य कर्तृविशेषेश्वरस्य। ३५८. प्रकरणेन क्षित्यादिकरणप्रघट्टकेन। ३५९. 'प्रयोक्ता' इति कपाठः। ३६०. एवमीश्वरसामान्यं यदि कुतश्चित्सिध्येत्तर्हि स्यादेवमित्यन्वयः। ३६१. बुद्धिमत्कारणसामान्यस्य। ३६२. दूषणान्तरे। ३६३. कार्यत्वादिति। ३६४. घटवदिति। ३६५. कार्यत्वं सर्वथा कथंचिद्वा तन्वादीनामिति विकल्प्य दूषयन्ति।

३६६. तत्त्वार्थालङ्कारे श्लोकवार्त्तिके। ३६७. 'तस्मान्नायमेकस्वभावेश्वरकृतः' इत्युक्तमत्रैव कारिकाप्रारम्भे। ३६८. मिथ्यादर्शनादिपरिणामात्मकाभिसंधिरशुद्धिः, सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मको भावः शुद्धिश्चेति उत्तरकारिकाद्वितीयव्याख्याने शुद्ध्य-शुद्धिशब्दार्थौ वक्ष्यते। ३६९. मीमांसकानाम्। ३७०. बन्धकारणस्य कामादिस्वभावस्य तद्विपरीतप्रवृत्त्या निराकर्तुमर्हत्वादित्यर्थः। ३७१. जीवानां शश्वत्कामादिस्वभावत्वे। ३७२. कामादिभावे तरतमभावोपलम्भविरोधाच्च। ३७३. सर्वदा। ३७४. प्रकृतिविनाशे मुक्तावस्थाप्राप्तौ यथा कामादिर्नोपलभ्यते। ३७५. प्रकृतिः। ३७६. पुरुषः। ३७७. यदि शुद्धिभाजां प्रतिमुक्तिस्तदा सा सर्वदा कुतो न भवेदित्याह। ३७८. स्वकाललब्धिश्च कथं चेति लब्धिसारादवलोकनीयम्। संक्षेपतस्तु सर्वार्थसिद्धौ द्वितीयाध्यायप्रारम्भेपि दर्शिता। ३७९. यथा माषमुद्गादौ कुत्रचित्पचनशक्तिरस्ति, ते च निमित्तसंनिधौ पचन्ति, येषु च वन्ध्येषु (कोरडू इति ख्यातेषु) तच्छक्तिर्नास्ति ते कदाचिदपि न पचन्ति। अत एव तयोर्व्यक्ती अपि क्रमेण साद्यनादी। तद्वज्जीवविशुद्ध्यशुद्ध्योर्ज्ञेयम्। ३८०. आदिना ज्ञानचारित्रसंग्रहः। ३८१. मिथ्यादर्शनादियोगात्। ३८२. योग्यताऽयोग्यते। ३८३. शुद्ध्यशुद्धी।

३८४. जीवा अशुद्धास्तु शरीरादिना पारतन्त्र्यादिहेतोः प्रत्यक्षानुमानप्रमाणाभ्यामनुभूयन्ते, परन्तु सदा शिवरूपाः (शुद्धस्वरूपाः अनादित एवेति) न केनचित्प्रमाणेन निश्चीयन्ते, अशुद्धितः शुद्धिकरणे सादिशुद्धेरनुमानगोचरत्वात्। इत्यादिविचारे कृते सति न सदा शिवरूपता कस्यचिदनुभवपथमुपढौकते। ३८५. शिवस्य विशुद्धिव्यक्तिः सादिर्विशुद्धिव्यक्तित्वादितरजीव-शुद्धिव्यक्तिवत्, पदार्थमात्रे विशुद्धिव्यक्तिवद्वा, इतीष्टविरोधः। ३८६. शुद्ध्यशुद्धिरूपायाः। ३८७. प्रादुर्भावः पर्यायः। ३८८. पर्यायापेक्षया। ३८९. द्रव्यत्वस्वभावापेक्षया। ३९०. कारिकायाः प्रकारान्तरेण व्याख्या। ३९१. अभिसंधिरभिप्रायः। ३९२. मूलं भावयति। तन्निमित्तं सम्यग्दर्शनादिघातसप्तप्रकृत्युपशमादि। ३९३. मिथ्यादर्शनादिकर्मोदयनिमित्तवशाज्जायते। तदुदयश्च सदा संसारे इति अशुद्धिव्यक्तिरप्यनादिः। ३९४. शुद्ध्यशुद्ध्योः। ३९५. जीवानाम्। ३९६. वक्ष्यमाणसादित्वानादित्व-प्रकारेण। ३९७. कुतः प्राह साद्यनादी प्रकृतशक्त्योर्व्यक्ती इति। ३९८. अशुद्धत्वमनादित एव मन्तव्यं, सादित्वे मते

सति ततः पूर्वं शुद्धेः संभवापत्तेः। शुद्धिस्तु न जीवानां पूर्वतः, पूर्वतः शुद्धिस्वीकारे पुनर्वन्धासंभवापत्तेः। न च बन्धो नास्तीति, प्रत्यक्षतो बन्धकृतेः शरीरादिपारतन्त्र्यस्यानुभवात्। इति बन्धस्याशुद्धदशायामेव संभवादनादिरशुद्धिः। शुद्धिस्तु प्रयोगजन्यत्वात्सादिः। कनकपाषाणगतसुवर्णस्याशुद्धिरनादिस्तच्छुद्धिस्तु सादिरिति दृष्टान्तोत्र भावनीयः। अयमेवात्र द्वयोः साद्यनादित्वेऽतर्कगोचरः स्वभावो विभावनीयः । ३९९. पुनः पुनर्विचारणीयाः। ४००. यौगः। ४०१. प्रश्ने। ४०२. अनुमानागमैर्निश्चितेपि पदार्थे स्वभावविरोधो नास्ति यतः। ४०३. भव्याभव्यत्वरूपाः। ४०४. अन्यथेति शेषः। ४०५. पदार्थानाम्। ४०६. पर्यनुयोगप्रसङ्गवत्। ४०७. कथमिदमिति प्रश्नप्रसङ्गः। ४०८. अस्ति चानयोः स्वातन्त्र्यम्। पर्यनुयोगार्हं तु केवलमनुमितं वस्तु, कुतः? अत इत्यादितर्केणैव तस्य तत्र निर्धारणात्। न च तथा प्रत्यक्षागमौ, प्रत्यक्षेण गृहीते उष्णेग्नौ, कुतोग्नेरुष्णत्वं? जलवत्पदार्थत्वाच्छैत्यमेव कुतो नेति पर्यनुयोगायोग्यत्वात्, तथैवागमेनापि निर्धारिते सूक्ष्मव्यवहितादिवस्तुनि कुत इत्थमिति पर्यनुयोगासंभवात्। अयमागमः सत्योऽसत्यो वेति सामान्यप्रश्नस्य उत्तरनिर्धारणं यावत्तदसत्यस्वीकारेण तदुक्तवस्तुनिश्चयाभाव इत्यन्यदेतत्। ४०९. स्वातन्त्र्यानुपपत्तौ। ४१०. शब्दादिर्धर्मी, स चासौ प्रत्यक्षश्चेति। ४११. तर्कागमयोरन्यतरस्य प्राधान्याप्राधान्यनियमाभावात्। ४१२. अनुमाने पक्षस्तावन्निश्चित एव वाच्यस्तदनिश्चयेऽनुमानोदयासंभवादिति सिद्धान्तितं खलु। निश्चयस्तु यदि कस्यचित्स्वातन्त्र्येण स्यात्तदैव तत्रानुमानं विधिनिषेधमुखेन प्रवर्तेत। स्वातन्त्र्येण निश्चयस्तु प्रत्यक्षागमगत एव। अतस्तन्निश्चिते पक्षे विशेषधर्मनिश्चयार्थमनुमानं प्रवर्तते, नत्वनुमाननिश्चिते पक्षे, तत्र प्रवृत्तौ, तत्पक्षस्याप्यनुमानेन, तदनुमितस्यापि पुनरनुमानेन निश्चयप्रकारेऽनवस्थायाः प्रवेशात्। तद्वद् प्रत्यक्षागमगृहीतावपि पदार्थावनुमानार्हौ तर्हि तत्राप्यनवस्था दुर्निवारा स्यात्। ततः कुत्रापि नानुमितिः स्यादिति भावः।

४१३. आदिना मोक्षमार्गप्रणेतृत्वकर्मभूभृद्भेत्तृत्वे ग्राह्ये। ४१४. ननु च सत्संख्यादेर्निर्देशस्वामित्वादेश्चोपायान्तरस्यापि संभवात् किमुच्यते नान्यथेति प्रश्ने सत्याह। ४१५. तत्त्वार्थाधिगमस्य। ४१६. आदिना विषयफलादिग्रहः। ४१७. उत्तरपदविशेषणमिदम्। ४१८. बौद्धाभिमतस्य। ४१९. ग्राहकम्। ४२०. बौद्धोक्तं निर्विकल्पकं ज्ञानम्। ४२१. नैयायिकोक्तम्। ४२२. सांख्योक्तम्। श्रोत्रादीन्द्रियाणां विषयाकारेण परिणतिर्वृत्तिः। ४२३. उक्तानां दर्शनादीनाम्। ४२४. परिच्छित्तेः। ४२५. तद्वत्ता भावाभाववत्ता। ४२६. प्रमितेः। ४२७. भावाभाववत्ता। ४२८. दूरदेशस्थेऽर्थे। ४२९. विशेष्यविषयकसन्निकर्षदर्शनादेरभावेपि। ४३०. ज्ञानाभावेपि सन्निकर्षसद्भावादेव पदार्थप्रमितेर्भावात्। ४३१. तत्त्वज्ञानान्तररूपस्य प्रमेयस्य, कर्तुरात्मनश्च। ४३२. द्वयस्यापि। ४३३. देहलीदीपकन्यायेनायं शब्दः पूर्वत्रोत्तरत्र च संबन्धनीयः। ४३४. इति विशेषणत्रयेण त्रयोपि लक्षणदोषा अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवनामानो व्यावर्तिताः। ४३५. सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वेऽपि प्रमाणलक्षणं कुत इत्युक्ते आह। अनेनासंभवद्बाधकपदसाफल्यं जातम्। ४३६. निश्चितपदस्य साफल्यमनेन। ४३७. सु इत्यस्य साफल्यमनेन। सुष्ठु, सकलदेशकालपुरुषापेक्षयेति व्याख्यानात्। प्रथमपरिच्छेदे तत्त्वोपप्लवादिनिराकरणावसरे तथैवोक्तत्वात्। ४३८. नैयायिकोक्तस्य। ४३९ सौगतीयस्य। ४४०. भाट्टस्य। ४४१. प्राभाकरस्य। ४४२. बुद्धेः प्रामाण्यमेवेति नियमाभावात्, असद्बुद्धेरपि बुद्धित्वात्। ४४३. बुद्धेः। ४४४. तिमिरादिना हि संकीर्णता – एकत्र विजातीयमेलनम्। तच्च प्रामाण्याप्रामाण्ययोरत्र। यथा द्विचन्द्रादिज्ञाने संख्याप्रकारबोधांशोऽप्रमाणः, चन्द्रत्वप्रकारकबोधांशस्तु प्रमाणः। एवमन्यत्रापि। ४४५. संकीर्णप्रमाणत्वं कथमित्युक्ते उदाहरणगर्भकं हेतुमाह। ४४६. अनुपहतत्वं काचकामलादिदोषेण। ४४७. देशस्य भूम्याः, प्रत्यासत्तिश्चन्द्रेण सह वर्तते इत्यादिप्रकारको ज्ञानांशः कदाचित्क्वचित्कस्यचिज्जायते, स अतथ्यार्थत्वादभूताकारावभासः। ४४८. एवं कदाचित् प्रमाणे संकीर्णत्वेपि संभवे सति। ४४९. तयोः संवादविसंवादयोः। ४५०. प्रमाणाप्रमाणत्वयोः। ४५१. 'व्यवस्थावत्' इति पाठः सम्यक्। ४५२. बौद्धापेक्षया। अथवा प्रत्यक्षवद्विशदज्ञानाभावापेक्षया। ४५३. अतत्त्वप्रतिपत्तिश्चेत्ततः कदाचित्तर्हीत्यर्थः। ४५४. एतत्पदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र ग्राह्यम्। ४५५. स्वयमिति प्रतिभासनात्। ४५६. अद्वयत्वमन्तस्तत्त्वापेक्षया। आदिशब्देन निरंशक्षणिकपरमाणुरूपग्रहः।

४५७. आदिना ग्राह्यग्राहकाकारादिग्रहणम्। ४५८. रूपादिस्वलक्षणानि च (बहिस्तत्त्वानि) यथा व्यावर्ण्यन्ते, तथैव तेषामदर्शनादिति संबन्धः। ४५९. सौगतैः। ४६०. ननु चैकान्तकल्पनायामपि स्वसंवेदनस्य संविन्मात्रस्य प्रतिभासितया प्रमाणतयैवाङ्गीकरणात्कुतो नान्तःसंवेदनं व्यवतिष्ठेत? इत्याशङ्क्याह। ४६१. द्वैताक्षणिकादिरूपेण.।

४६२. अर्थानां निरंशत्वं सिद्धं यस्मात्तव मते। ४६३. स्वलक्षणस्य। ४६४. सति। ४६५. तस्य रूपादिस्वलक्षणस्य। ४६६. विशेषस्य। ४६७. सदृशापरापरोत्पत्तिजननेनाभ्युपगमे। ४६८. पञ्चमी। ४६९. स्वलक्षणम्। ४७०. हेतोः। ४७१. सर्व क्षणिकं सत्त्वादित्याद्यनुमानम्। ४७२. हे बौद्ध! इति तव वचनेन तवैव दूषणमापद्यते। ४७३. तस्य रूपादिविशेषस्य। ४७४. प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पत्वेन। ४७५. अनेकान्तसिद्धौ। ४७६. कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिरिति संबन्ध। ४७७. ज्ञानक्षणे। ४७८ निरंशादिदर्शनस्य (प्रत्यक्षस्य) विकल्पोऽवस्तुनिर्भास इत्यादिवचनात्। ४७९. निरंशक्षणिकदर्शनेन तत्त्वप्रतिपत्तिर्मा भूदनुमानेन भविष्यतीत्याशङ्क्याह। ४८०. उभयोः पृथक्-पृथक् प्रभा ग्राह्या। ४८१. साक्षान्मणिप्रदीपप्राप्तिरूपाम्। ४८२. अनुमानं तदाभासश्च तयोः। ४८३. क्षणिकरूपग्राहकत्वेनेत्यर्थः। ४८४. स्वस्य तव। ४८५. प्रत्यक्षस्य। ४८६. मणिप्रभादर्शनं तृतीयप्रमाणं सिद्धमिति प्रमाणद्वयसंख्याविघटनात्। ४८७. द्वे प्रत्यक्षानुमाने त्वदभिमते। ४८८. मणिप्रभारूपे। ४८९. यतो दीपप्रभाप्रत्यक्षस्यापि दर्शनात्। ४९०. रजतत्वेन ग्रहणाच्छुक्तिकादर्शनं यथा न प्रत्यक्षम्। ४९१. प्रत्यक्षे। ४९२. नुः। ४९२(क) नुः। ४९३. अवलोकनस्य। ४९४. उच्यते तु अभ्रान्तत्वविशेषणम्। ४९५. तरुदर्शनस्य। ४९६. हे बौद्ध, अङ्गीक्रियमाणे। ४९७. द्वारे यत् कुञ्चिकाप्रवेशविवरं तत्र। ४९८. मणेः। ४९९. अतो मणिप्रभादर्शनं प्रत्यक्षे नान्तर्भवतीत्यर्थः। ५००. मणिप्रभायां मणिदर्शनं लैङ्गिकेऽपि नान्तर्भवति। ५०१. तस्य लैङ्गिकत्वे। ५०२. साधितं। केन दृष्टान्तेन क्षणिकत्वाद्यनुमानमपि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरेकत्वे साधितं न स्यात्। ५०३. पुंसः।

५०४. वर्तुलादित्वेन। ५०५. मण्युपेते देशे। ५०६. ममायं प्रतिभासो मणिसंस्थानवान्, एवं प्रतिभासत्वादन्यत्र संप्रतिपन्नप्रतिभासवदिति। स्यादित्यध्याहारः। ५०७. मणिप्रभायां मणिदर्शनस्याप्रत्यक्षत्वादसिद्धदृष्टान्तता। ५०८. अनुमानसत्यत्वसिद्धेः। ५०९. मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य। ५१०. सर्वदा संवादासिद्धेः। ५११. मिथ्याज्ञानं नहि सर्वदा विसंवादवर्जितमेकरूपमेव भवतीति युक्तम्। ५१२. अविसंवादनम्। ५१३. बौद्धविशेषः। ५१४. कुञ्चिकाविवरे मणिज्ञानस्यावस्तुविषयतया मिथ्याज्ञानत्वप्रकारेण। ५१५. आलम्बनप्रापणप्रकाराभ्याम्। ५१६. लैङ्गिकस्य। ५१७. अनुमानालम्बनं सामान्यमात्रम्। ५१८. स्वलक्षणे। ५१९. लैङ्गिकस्य। ५२०. अङ्गीकृते। ५२१. अनुमानविषये अग्न्यादिसामान्यस्वरूपे। ५२२. अनेनानुमानेन स्वरूपविप्रतिपत्तिर्निराकर्तव्या। ५२३. ननु प्रत्यक्षवदनुमानेपि यदि कथंचित्तत्त्वज्ञानत्वं तर्हि भेदः कुत इत्युक्ते प्राह। स च कारणभेद इन्द्रियलिङ्गाभ्यां प्रत्यक्षानुमानयोर्यथाक्रमम्। ५२४. प्रत्यक्षवद्विशदप्रतिभासनमनुमाने कुतो नेति नाशङ्कनीयं, प्रत्यक्षेपि दूरत्वादिकारणभेदादविशदत्वप्रतीतेरिति भावः। ५२५. पृथग्जनः साधारणजनः। ५२६. योगीतरप्रत्यक्षयोः। ५२७. अनेन संख्याविप्रतिपत्तिर्निराक्रियतेऽत्रत्यावधारणेन तत्त्वव्यवसायस्य प्रत्यभिज्ञानतर्काणां प्रापणत्वोपपत्त्या परपरिकल्पितद्वयादिसंख्याविघटनात्। ५२८. प्रत्यक्षेणाधिगतस्यैवार्थस्यानुमानादिनाधिगमात्।

५२९. सविकल्पकस्य। ५३०. निराकरोति। ५३१. व्यवसायस्य। ५३२. व्यवसायस्य। ५३३. निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण यदनिर्णीतं नीलादिकं तन्निर्णय एवात्मा यस्य सविकल्पकस्येति। ५३४. अनिश्चिताध्यवसायः। ५३५. सविकल्पकस्य। ५३६. निर्विकल्पकदर्शनानन्तरं समुद्भूतोधिगमोपि (व्यवसायरूपः) प्राथमकल्पिकोः, मुख्यवृत्त्या प्रमाणभूतस्य समुदितप्राक्तन-निर्णीतिरेवानधिगतलक्षणाध्यवसायवानेव। केचिदित्यमभिप्रायं वदन्ति, यन्निर्विकल्पकमन्तरेणैव विकल्पः प्रथमतः समुत्पद्यते इति हेतोरनधिगतग्राही स इति। ५३७. आदिभूत एव। ५३८. सविकल्पकस्य। ५३९. तस्या निर्णीतेः। ५४०. निर्विकल्पकस्य। ५४१. ननु निर्णीतिवशान्न तत्त्वव्यवस्थानं किन्तु परम्परया दर्शनवशादेवेति शङ्कायामाहुः। ५४२.

तस्मिन्नीले, अन्यस्यानीलादेः (समारोपरूपस्य) अनीलव्यावृत्तिर्नीलमिति शब्दार्थपरिज्ञानादेव व्यवच्छेदो भवति। ५४३. सौगतः। ५४४. सा निश्चितार्थस्मृतिः किं प्रमितिविशेषोत्पादिका न वेति विकल्पद्वयं कृत्वा विचार्यते। ५४५. प्रथमतः प्रत्यक्षतो निश्चिते धूमकेतौ तत्संबन्धिनी या' लैङ्गिकरूपा स्मृतिः, सा न विशेषप्रमितिजनिका, अतस्तस्या यथा न प्रामाण्यम्। ५४६. दृष्टेपि समारोपात्तादृगिति न्यायवचनात्। ५४७. स्मृतिरूपविकल्पेन। ५४८. व्याप्तिरूपायाः। ५४९. तेन विशेषपरिच्छेदाभावात्। ५५०. स्मृतिप्रामाण्यं कर्तृभूतम्।

५५१. एते द्वे वैशेषिकबौद्धयोः। ५५२. सांख्याभिमतानि। ५५३. न्यायवादिनाम्। ५५४. प्राभाकराणाम्। ५५५. जैमिनीयानाम्। ५५६. प्रत्याचष्टे इति पूर्वेण पदेन संबन्धः। ५५७. तस्याः स्मृतेः, तत्र आगमादिष्वन्तर्भावे। ५५८ अनन्तरमेवोक्तमनुमानान्तर्भावनम्। ५५९. दर्शनानन्तराध्यवसायस्य प्रामाण्यविषये उक्तं पूर्वम्। ५६०. प्रत्यक्षादिना। ५६१. व्याप्तिप्रतिपन्नेपि विशेषतयानुमानेन ग्रहणं यथा। ५६२. व्यवसायातिशयोपपत्तेः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। ५६३: व्यवसायातिशयोपपत्तावपि प्रामाण्यं कुत इत्युक्ते आह। ५६४ ननु व्यवसायसामर्थ्याधीनस्य कुतः?. अविसंवादाधीनत्वात्प्रमाणत्वस्येत्याशङ्कायामाहुः। ५६५. संशयादेरर्थव्यवसायात्मकत्वाभावेन विसंवादो यथा। ५६६. नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानादिति कारिकाव्याख्याने। ५६७. तर्कोहाद्यपरनामकम्। ५६८. लिङ्गलिङ्गिनोः संबन्धोऽविनाभावरूपोऽनिश्चितः, तस्य। ५६९. व्याप्तिप्रतिपत्तिकरणायेत्यर्थः। ५७०. चकारो भिन्नक्रमे। तेन 'योगिप्रत्यक्षस्य चापरीक्षाक्षमत्वात् ? इति मन्तव्यः पाठः। योगिप्रत्यक्षस्य तन्मतानुसारं निर्विकल्पकत्वेन व्याप्त्यग्राहकत्वम्। ५७१. अनुमानमपि व्याप्तिग्रहणे न क्षमम्। ५७२. अनुमानज्ञाने व्याप्तिज्ञानं कारणं सत् तेनैवानुमानेन गृह्यतेनुमानान्तरेण वा? तेनैव चेदन्योन्याश्रयः। अनुमानान्तरेण चेदनवस्था, व्याप्तिग्रहणायानुमानस्य अनुमानोत्पत्तये च व्याप्तिज्ञानस्योत्तरोत्तरं कल्पनानुषङ्गात्। ५७३. प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तम्। ५७४. ऊहग्रहणनिमित्तम्। ५७५. ऊहान्तरजन्मा।

५७६. ऊहस्य। ५७७. उपलम्भानुपलम्भरूपज्ञानेन जन्यत्वात्। ५७८. ऊहविषये ऊहप्रवृत्तेः। ५७९. अनवस्थानं नेति सम्बन्धः। ५८०. सौगताशङ्का। ५८१. तर्हि लिङ्गलिङ्गिनोः प्रतिपत्तिः कथमित्याशङ्क्य स एवाह। ५८२. अनुपलम्भग्राहकमनुमानं, उपलम्भग्राहकं तु प्रत्यक्षम्। ५८३. 'बौद्धमते निर्विकल्पकत्वात्प्रत्यक्षानुमानयोः' इति कपुस्तकटिप्पणम्। किंतु एकविषयकत्वादुभयोर्विचारायोग्यत्वं, विचारस्यानेकविषयकानेकज्ञानोपस्थितौ सत्यामेव संभवात्। 'तत एव विचारस्तर्केणैव साध्य इति भाव इत्यस्मन्मतम्। ५८४. लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धोस्ति, अनुमानान्यथानुपपत्तेः' इत्येवंरूपायाः। इति मीमांसकाः। ५८५. अर्थापत्तिः सम्बन्धज्ञानपूर्विका संबन्धज्ञानापूर्विका वेति विकल्प्य दूष्यते। ५८६. लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्त्यर्थापत्त्योः परस्परम्। ५८७. पुंसः। 'अपि' शब्दोत्राध्याहार्यः। ५८८. लिङ्गलिङ्गिनोः संबन्धविषयिकाया अर्थापत्तेरुदयोऽनिर्धारितसंबन्धपूर्वस्यापि पुंसः स्यात्। न च तथा संभवति। ५८९. देहलीदीपकन्यायेनोत्तरत्रापि योज्यं 'इति' शब्दः। ५९०. संबन्धज्ञानानुमानयोः। ५९१. संबन्धग्राहिका यार्थापत्तिस्तस्याः। ५९२. अनुमानान्तरमिव विवक्षितानुमानं संबन्धयुक्तमित्युपमानात्संबन्धप्रतिपत्तौ परस्पराश्रयणं यतः। ५९३. तत्त्वनिर्णयशब्देनेन्द्रियजो विकल्पः स्मृतिश्च गृह्यते। ५९४. प्रत्यवमर्शः प्रत्यभिज्ञा। ५९५. प्रतिबन्धाधिगमः तर्कः। ५९६. परमतापेक्षया व्यतिरेकः। ५९७. इन्द्रियमनोतीन्द्रियताजन्यसामर्थ्यानां त्रिधात्वात्। ५९८. अभ्रान्तम्। ५९९. द्वे 'तत्प्रमाणे' इत्यनेन मोक्षशास्त्रेणोक्ते, अथवा निर्दोषतया सिद्धे। ६००. प्रमाणद्वयं सिद्धं यतः। ६०१. कारिकाप्रथमव्याख्याने तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणमित्युक्तं, तेन प्रमाणस्याज्ञानादिस्वरूपविप्रतिपत्तिः परिहृता। द्वितीयव्याख्याने तु प्रमाणमेव तत्त्वज्ञानमित्यवधारणपरं वचनमुक्तं, तेन प्रमाणसंख्यायां या विप्रतिपत्तिः (केचित्त्रीणि प्रमाणानि मन्यन्ते, केचित्चत्वारि, पञ्च, षड् वा, केचिच्च (बौद्धाः) द्वे एव मन्यन्ते परं त्वन्यथा, इति) सा परिहृता। इतोग्रे विषयविप्रतिपत्तिं निराचिकीर्षवो वक्ष्यन्ते तत्रेत्यनेन। ६०२. व्यक्तिर्भेदः। ६०३. प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वयोर्मध्ये प्रत्यक्षस्य भेदं स्वरूपं चाख्यान्ति।

इन्द्रियालम्बनम्, अनुक्रमस्वभावं, व्यवहितपदार्थाग्रहणस्वभावं चातिक्रम्य वर्तते तत्केवलमित्यर्थः। ६०५. ६०४. 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' इति कारिकाव्याख्याने। ६०७. 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे। ६०६. कारिकाव्याख्याने। ६०८ सर्वज्ञस्य। ६०९. सर्वज्ञस्य। ६१०. ज्ञानावरणदर्शनावरणाभ्यामन्यत्। ६११. रागद्वेषादिकस्य मोहजन्यस्य ज्ञानदर्शनप्रतिरोधकस्य मोहान्तरायाशेषक्षये असंभवात्। ६१२. क्रमवृत्तित्वप्रकारमन्तरा। ६१३ इत्यनेन तस्य पञ्चप्रकारस्याहि ज्ञानस्य द्विधात्वेन विभज्य प्रमाणत्वमाख्यातं यतस्ततः क्रमवर्तिनो मत्यादेरपि प्रमाणत्वमिति सिद्धम्।

६१४. प्रकारान्तरासंभवादिति भाष्यपदं विवरीतुमिच्छुराशङ्क्य समर्थयते। ६१५. मत्यादीनि। ६१६. संभावनीयानि विकल्प्यानि एकं वा द्वे वा त्रीणि वा, कदाचिच्चत्वारि वा युगपदिति। ६१७. जीवे। ६१८. लब्धिरूपाणां योग्यतारूपाणां वा, न तु विषयान्परिच्छिन्दताम्।

६१९. उपयोजनस्यैकदा एकविषये एव संभवात्। ६२०-२१. छद्मस्थस्य युगपद् द्वौ उपयोगौ न स्तः, केवलिनस्तु स्त इति आर्षे विशिष्य नो(चो)क्तत्वात्। ६२२. 'तत्रैवेति' मुद्रितप्रतौ पाठः। ६२३. सौगताशङ्का। ६२४. संसारिणि। ६२५. व्यापारसहितानि। ६२६. 'उपलम्भन' इति पाठः सम्यक्। ६२७. प्रायोभावस्तु एकैकोपयोगस्यैव सर्वसंसारिषु, अतः एकैकस्य क्रमवर्तिन उपयोगस्य प्रसिद्धत्वमुक्तम्। ६२८. जैनः। ६२९. कालकृते। ६३०. विच्छेदः क्रमः। ६३१. चक्षुरादिज्ञानानाम्। ६३२. रूपज्ञानरसज्ञानादीनाम्। ६३३. ज्ञानपञ्चकस्य। ६३४. हे सौगत, अङ्गीक्रियमाणे। ६३५. सौगतेन क्रमभावितयाभ्युपगतयोः। ६३६. विच्छेदोपलक्षणस्य। ६३७. तदेव दीर्घशष्कुलीभक्षणकाले। ६३८. भाष्यद्वयं भावयति। ६३९. मानसप्रत्यक्षाणामनेकेषामपि क्रमोत्पादेपि शीघ्रशीघ्रतयोत्पादात्। ६४०. प्रतिभासभेदानाम्। ६४१. लघुवृत्तित्वेनोभयत्र। ६४२. 'इति' पदमध्याहार्यमत्र। इति हेतोः। ६४३. चक्षुरादिवेदनस्य क्रमवर्तित्वात्। ६४४. मत्यादिज्ञानस्वरूपमेव तद्वर्णने विषयः। ६४५. लब्ध्युपयोगाद्यपेक्षया।

६४६. मत्यादिज्ञानस्य। ६४७. स्याद्वादोपलक्षिततत्वम्। ६४८. नयस्याद्वादयोः। ६४९. केवलज्ञानापेक्षया। तदपि तत्त्वज्ञानमेव। ६५०. मत्यादिज्ञानापेक्षया। तदपि तत्त्वज्ञानमेव। ६५१. स्यात्क्रमावक्तव्यं, स्यादक्रमावक्तव्यं, स्यात्क्रमाक्रमावक्तव्यमिति भङ्गत्रयमादिशब्देन ग्राह्यम्। ६५२. षष्ठी। ६५३. प्रमाणवशादक्रमत्वे नयवशात् क्रमत्वे च सति। ६५४. अर्थग्रहणपरिणमनमेव ज्ञाने पर्यायः। ६५५. तत्त्वज्ञानम्। ६५६. इत्येवंरीत्या अवक्तव्यादयोपि पञ्च भङ्गा योजने सुगमाः। ६५७. अत्रापि शेषपञ्चभङ्गा योजयितुं सुसाध्याः। ६५८. कैवल्यस्य फल(व्यवहितम्)मुपेक्षा, शेषस्य मत्यादेः परंपराफलमादानहानधीः। पूर्वं (उपेक्षा) चापि फलं मत्यादेः। अज्ञाननाशस्तु सर्वस्यापि ज्ञानस्य साक्षात् फलमिति स्वानुभवगोचरमेतदिति कारिकार्थः। ६५९. केवलस्य। ६६०. मत्यादेः। ६६१. अज्ञाननाशः साक्षात्फलम्, उपेक्षा तु परंपराफलम्। ६६२. हेये उपादेये च। ६६३. सौगतः। ६६४. केवलिनः। ६६५. च इति पक्षान्तरे। ६६६. यथा अकरुणोपि प्राणी स्वात्मदुःखं निवर्तयति। ६६७. अयं प्राणी करुणावान् स्वात्मदुःखनिवर्तकत्वादिति प्रतिज्ञा हेतुप्रयोगोध्याहार्यः।

६६८. अकरुणावति। ६६९. अयं प्राणी स्वात्मन्यकरुणोस्ति स्वात्मदुःखनिवर्तकत्वाभावात्, इति बाधकेन प्रमाणेनाकरुणे विपक्षे स्वदुःखनिवर्तकत्वस्य हेतोरभावः साध्यते। ६७०. आदिना भयदुःखपरिग्रहः। ६७१. इत्येव बाधकप्रमाणम्। ६७२. साकल्येनैकदेशेन वा। ६७३. भयादेः। ६७४. तटस्थैः। ६७५. भगवति करुणाभावलक्षणः पूर्वोक्तः। ६७६. करुणास्तित्वं मत्वा तदुत्पत्तिकारणं किमिति प्रश्ने, न तदुत्पादकं केवलिनि कर्म, किंतु स्वभाव एवेति मन्यताम्। तथा च परम्परया स्वभाव एव तिष्ठति। ६७७. एवं कल्पनापेक्षयातः साक्षात्स्वभावकल्पनमेव वरं, यत्तथा स्वभावोस्ति केवलिनाम्। रागद्वेषादिजनिका संसारिजनवत्करुणा मास्तु। ६७८. कर्मणा करुणोत्पद्यते, तेन च भगवान्स्वपरदुःखं जिहासतीति परम्पराश्रयः किमर्थं क्रियते? स्वपरदुःखनिवर्तनस्वभाव एवाभिमन्यताम्। ६७९. उपेक्षासत्त्वे परदुःखनिराकरणसिद्धिस्ततो

भगवतः कथमित्युक्ते आह। तीर्थकरत्वं नामकर्म। ६८०. साक्षात्। ६८१. अव्यवहितम्। ६८२. स्वविषयकाज्ञाननिवृत्तिः। ६८३. अज्ञाननिवृत्त्यभावे। ६८४. निर्विकल्पकप्रत्ययस्य। अथवा सामान्यावलोके सत्यपि सन्निकर्षवन्न ज्ञानोत्पत्तिरिति भावः। ६८५. न केवलं मत्यादेरेव। ६८६. यथा क्षणपरिणामग्राहकस्य निर्विकल्पज्ञानस्य अर्थनिश्चायकत्वं न, तद्वत्सन्निकर्षस्य दर्शनस्य मत्यादेर्वाप्यर्थनिश्चायकत्वं न, इत्युभयोरप्यविसंवादकत्वं न। ६८७. विसंवादकत्वं निर्विकल्पस्य कुतः? अनुमानाश्रयान्यथानुपपत्तेः। ६८८. ज्ञानस्यैव साक्षात्फलमर्थाज्ञानाभाव इत्यनेन, ज्ञानस्य साक्षात्फलमर्थाज्ञानाभाव एवेत्यनेनोक्तेन भावेन वा। ६८९. यौगकल्पितम्।

६९०. सौगतोक्तम्। ६९१. व्यापारज्ञानलक्षणप्रमाणस्य। ६९२. परिच्छित्तिलक्षणस्य फलस्य। ६९३. तमोविनाश एव परम्परया प्रदीप इति यथा। ६९४. परशुस्तत्क्रिया छिदिश्चेत्युभयं पृथक् पृथगाश्रयोपलम्भात्। ६९५ नैयायिकाशङ्का। ६९६. स्वकीयरूपेण ६९७. स्वरूपम्। ६९८. प्रदीपरूपस्य। ६९९. प्रदीपात्। ७००. अव्यवहितत्वमेकत्वम्। ७०१. सौगतं प्रत्याह। ७०२. तद्भावविरोधं दर्शयन्ति। ७०३. मेयरूपता, ताद्रूप्यम्। ७०४. निर्विकल्पकस्य। ७०५. असारूप्याद् व्यावृत्तिरिति। ७०६. न हि सारूप्यमित्यादिना पूर्वं ग्राह्यसंविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्था निराकृता, अधुना तां स्वीकृत्यापि दूषणान्तरमुद्भाव्यते। ७०७. निर्विकल्पकत्वात्। ७०८. निर्विकल्पकदर्शनम्। ७०९. इदं विषमित्यजानतः। ७१० विषदर्शनम्। ७११. व्यामोहविच्छेदमन्तरेणापि। ७१२. दर्शनमात्रस्य ७१३. दर्शनानन्तरं यज्जातम्। ७१४. अधिगतत्वं हि दर्शनेन। ७१५. फलविषयेपि योजनीय इति प्रश्नः।

७१६. न पुनर्विधिविचारप्रस्तावद्योती। ७१७. अर्थम्। ७१८. समर्थः। ७१९. केवलिशब्देन श्रुतकेवली ग्राह्योत्र, अन्यथा 'तव' शब्देनोक्तस्य भगवतोपि केवलित्वे पुनरन्येषां तथा विशेषणदानस्य पौनरुक्त्यापत्तेः। तेन श्रुतकेवलिनां तवापि चेत्यर्थः कर्त्तव्यः। ७२०. यावति पदसमुदाये एकमाख्यातं वर्तते तावान्संघात इत्युच्यते। एते दशापि वाक्यशब्देनोच्यन्ते। ७२१. वाक्यान्तरगतपदनिरपेक्षा। ७२२. आख्यातशब्दस्य ७२३. वाक्यान्तरपदे। ७२४ सापेक्षत्वे सत्यपीत्यर्थः । ७२५ परापरवाक्यान्तरगतपरापेक्षया प्रकृतापरिसमाप्तेः। ७२६. वाक्यान्तरगतपदनिरपेक्षतया। ७२७. पदानाम्। ७२८. प्रकृतार्थापरिसमाप्तेः। ७२९. बहुपुरुषैरुच्चरितानां पदानां वाक्यत्वापत्तेः। ७३०. 'वारितम्' 'विदारितम्' इति पाठान्तरे स्तः। ७३१. तत् - वाक्यत्वम्। ७३२. निरंशः। ७३३. निरंशशब्दस्याप्रमाणत्वं कथं, यावता श्रावणप्रत्यक्षेण तस्य प्रतीयमानत्वादित्याशङ्क्याह। ७३४. अनुमानं तदग्राहकं स्यादित्यपि नेत्याह। तच्छब्देन निरंशोर्थः। ७३५. निरंशशब्दं विनापि। ७३६. एकोनवयवः शब्दो वाक्यस्फोटः। ७३७. नैयायिकोक्तलक्षणमेतत्। ७३८. कखगघेत्यादिरूपस्य। ७३९-७४०. पदानाम्। ७४१. स चास्मदभ्युपगत एव। ७४२. पदानां क्रमः।

७४३. पदानाम्। ७४४ बहुपुरुषैरुच्चारितानां मिलित्वा वाक्यत्वप्रसङ्गात् ७४५. द्रव्यरूपशब्दात्मकवाक्यस्य बुद्धिरूपतया प्रतीतेरस्वीकारात्। ७४६. परस्परसाकांक्षवाक्यान्तरपदनिराकाङ्क्षपदानामनुस्मरणस्य। ७४७. मध्यम्। ७४८.भाष्यकर्ताऽकलङ्कदेवः। ७४९. वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः (पदान्तरगतवर्णैः) समुदायः पदमिति पदस्य तल्लक्षणत्वात्। ७५०. नैयायिकः। ७५१. शब्दः परिणामी सत्त्वादित्यध्याहारः। ७५२. एतत्पर्यन्तं न पूर्णं वाक्यं भवत्विति पूर्वेण संबन्धः। कुत इत्याह हेतुमग्रे, तस्मादिति। ७५३. साकाङ्क्षत्वेपि वाक्यत्वे को दोष इत्युक्ते आह। ७५४. जैनानाम्। ७५५. जैनाः। ७५६. तत् - निगमनं केचिन्नाप्याकाङ्क्षन्ति यतः। ७५७. साधनमात्रेण। ६५८. यदि तर्हीत्यध्याहारः। ७५९. निगमनम्। ७६०. पर्वतोयमग्निमान्धूमवत्त्वादित्यादिनार्थनिश्चयेपि गिरिर्वह्निजन्मा इत्याद्यवयवान्तरापेक्षाऽनुपरमप्रसङ्गादित्यर्थः। ७६१. ननु यथोक्तलक्षणमन्तरेणापि प्रकरणादिना वाक्यसदृशेनार्थप्रतिपत्तिरस्त्येव, ततस्तत्र कथमिदं वाक्यलक्षणमुपपद्यते इत्यारेकायामाह। ७६२. आदिना लिङ्गौचित्यसामर्थ्यादिकं ग्राह्यम्। ७६३. भोजनसमये सैन्धवमानयेत्युक्ते यथा लवणं ज्ञात्वानीयते, न त्वश्वोऽप्रकृतत्वात्। ततः परस्परसापेक्षाणामित्यादि यत्प्रथमं

सिद्धान्तिभिरस्माभिः कल्पितं वाक्यलक्षणं, तस्य न परिहारो यदि, अपूर्णेनापि वाक्येन प्रकरणादिभिरर्थः प्रतिपद्यते इत्यर्थः। ७६४. 'सत्या' इत्याद्येकदेशश्रवणेन यथार्थबोधो भवति 'सत्या' इत्याद्येकदेशोच्चारणेनापि औचित्यादिकारण-वशात्सत्यभामार्थनिश्चयो यथा भवति जनानां तथान्यत्रापि वाक्यकल्पेन (ईषद्वाक्योच्चारणेनापि), प्रकरणादिगम्यपदान्तर-स्मरणादिना सहकृतेन (सापेक्षेण) अर्थप्रतिपत्तिर्भवितुमर्हति, अतोर्थप्रतिपादनधर्मो यथापूर्वलक्षिते वाक्येस्ति तथात्राप्युपलब्धेः प्राथमकल्पिकमेवेदमपि वाक्यं मन्तव्यं, यत्र प्रकरणादिनार्थबोध ईशदुच्चरितादिनिमित्तो भवति, अर्थप्रतिपत्तितया सदृशत्वात्। ७६५. विध्यादिशब्देन विधिनिमन्त्रणादिर्लिङ्लकारार्थो ग्राह्यः। विध्यादिशब्देन लिङ्लकारस्य स्यादिति क्रियारूपं सिध्यति परंतु नायं स शब्दो, निपात इति विशेष्योक्तत्वात्। निपातरूपस्य स्याच्छब्दस्यापि न केवलमनेकान्तोर्थः संशयादिष्वपि तदवृत्तेः। अतः संशयाद्यर्थव्यावृत्तये (प्रश्नादि) इति मूलोक्ते आदिपदेन संशयाद्योती च नेति निरासः कर्त्तव्यः।

७६६. 'सकलैकान्त' इति पाठान्तरम्। ७६७. त्वन्मतामृतबाह्यानामिति कारिकाव्याख्याने 'नहि किंचिद् रूपान्तरविकलमित्यादिना (षट्सप्ततितमपत्रस्थदशमपङ्क्ति आरभ्य। ७६८. यत्र प्रयुक्तस्तस्या ७६९. तस्यार्थसमुदास्याङ्ग-मित्यादिना (अवयव) तया (वाच्यवाचकरूपेण)। ७६९. 'मनवयवेन' इति पाठान्तरम्। तत्पाठानुसारी 'साकल्येन' इत्यर्थो भवति। अवयवेन इत्यस्य त्वेकदेशेन इत्यर्थः स्यात्। ७७०. प्रकृतार्थस्यावयवेन सूचनस्वभावत्वादिति भावः स्यात्। ७७१. न केवलं वाचका एव । ७७२. जीवादिसदादिशब्दादेरानर्थक्यलक्षणः। स्याच्छब्देनैव जीवादिविवक्षितार्थवचने स्याज्जीवोस्तीत्यादिषु 'जीवः' 'अस्ति)। इत्यादिशब्दोच्चारणं व्यर्थमित्याशङ्कयोक्तमिदम्। ७७३. स्याच्छब्देन। ७७४. जीवादिपदेन। ७७५. अविरोधः – विशेषपदोपादानसाफल्यं, स कथमित्यग्रे आह। ७७६. स्याज्जीव इत्युक्ते तत्प्रतिपक्षी अजीवोपि गमनीयः। ७७७. भेदकम्। ७७८. गम्यार्थरूपस्याजीवस्य सकाशादुपरतबुद्धिजनकत्वात्। ७७९. निपातः। ७८०. तस्या वाचः। ७८१. क्रमवृत्तित्वभावात्। ७८२. अतिशयज्ञानयुक्तौ द्वावेव स्तः—भगवान् (केवलीह) श्रुतपारंगतः, श्रुतकेवली च। तत्रापि द्वयोरपि वचनप्रवृत्तौ स्याच्छब्दस्य वचनानुसारिबुद्धेः क्रमवृत्तित्वादेव सर्वत्र। ७८३. स्याच्छब्दस्य ७८४. स्यादितिवादः शब्दः। ७८५. एतदर्थं स्वयमग्रे स्पष्टयन्ति। ७८६. किंशब्दाद्वृत्तौ निष्पन्नः, स एव चिद्विधिः चित् च न इत्यादिर्विधिः प्रकार इति किंवृत्तचिद्विधिः, किंचित् कथंचित् कथंचन इत्यादिरूपः। ७८७. विषयीकृत्य।

७८८. सप्त भङ्गान्त्रयांश्च अपेक्ष्येत्यर्थः। ७८९. शब्दनयास्तत्र केचित् केचिच्चार्थनयाः। ७९०. तौ द्वौ मूलनयौ, द्रव्यपर्यायार्थिकौ। ७९१. द्रव्यार्थिकापेक्षया शुद्धिः, अभेद इत्यर्थः, अशुद्धिः–भेदः। पर्यायार्थिकनयेन तु शुद्धिः–भेदः, अशुद्धिः–अभेद इत्यर्थो ग्राह्यः। ७९२. नयचक्रनाम्नि। ७९३. आदिना शब्दसमभिरूढैवंभूता ग्राह्याः। ७९४. सप्तसु मध्ये।

७९५. अर्थविषयकत्वात्। ७९६. अभेदेन। ७९७. इति शब्दव्युत्पत्तिः। ७९८. जीवोऽजीवो वेत्यादिभेदेन। ७९९. भेदकल्पनात्। ८००. आदिना गुणत्वादिग्रहः। सत्त्वे सिद्धेपि द्रव्यं गुणो वा? तत्रापि जीवोऽजीवो वा? तत्रापि संसारी मुक्तो वा, घटः कपालो वा? इत्यादिकल्पनाभेदेनाशुद्धत्वकारणेनोपाधिना सह स्वीकारोत्र। ८०१. सत्त्वादिनोपाधिना (भेदेन विशेषेण वा) सह। ८०२. व्युत्पत्तेः। सामान्यलक्षणं हि नैगमस्येत्थम्, अवर्तमानार्थस्य अन्यत्र संकल्पमात्रेण ग्राही नैगम इति। यथा ओदनं कर्तुं प्रयतमानस्य 'ओदनं करोमि' इति संकल्पः। न तदौदनपर्यायो निष्पन्नः। तथापि तत्सामग्र्यामसावोदनसंकल्पं करोति, तथा संकल्पाभावे करोमीति वर्तमान कालिकप्रयोगानुपपत्तेः। प्रयुक्ते च तथा, ततस्तेन संकल्पितयौदनव्यवहारः कृत इत्यनुमीयते। उत्तरे भेदानामुदाहरणानि नयचक्रतो बोद्धव्यानि।

८०३. पर्यायार्थिकस्य शुद्धविषयः पर्याय एव, स च पर्यायो भेदरूपोस्ति। अतो भेदविषयस्तु शुद्ध्यात्र संग्राह्यः। यावतांशेनाभेदो विषयीभवति तावानंशोऽशुद्धिजनकोऽशुद्धिमूलको वा ज्ञातव्यः। अतः पर्यायार्थिकनयभेदा

अशुद्ध्या (अभेदेन) भवन्तीति स्थितम्। ८०४. भेदेन। ८०५. शब्दस्य। ८०६. पर्यायवाचकशब्दानां परस्परं भेदेन वस्तुन्यपि भेददर्शनात्। ८०७. यावन्तः शब्दास्तावद्धा नया भिद्यन्ते, अभिप्रायविशेषस्यैव नयरूपत्वात् प्रतिशब्द-मभिप्रायभेदात् परोपदेशापेक्षया खलु शब्दपरिमाणा नयाः, स्वज्ञानविकल्पापेक्षया त्वनन्ता नयभेदाः संभवन्ति, अभिप्रायस्य विषयानुसारेणानन्तधात्वात्। अत एव स्वज्ञानापेक्षायां विकल्प(ज्ञानविकल्प)परिमाणाः शब्दापेक्षायां शब्दपरिमाणाश्चेति 'शब्दविकल्पपरिमाणा' इत्यस्यार्थः कर्त्तव्यः।

८०८. भेदकः। ८०९. स्याद्वादोयम्। ८१०. प्रत्यक्षपरोक्षतया। ८११ अनयोरेकतरेण ज्ञानेन यत्प्रतीयमानं वस्तु तदन्यतरशब्दवाच्यं स्यात्, यच्चानयोरेकतरेणापि न प्रतीतं तत् 'अन्यतम'(तृतीय)शब्दवाच्यं स्यात्, तच्चावस्त्वेव स्यादित्यर्थः। अथवानयोरेकतरं ज्ञानमपि 'अन्यतर'शब्दवाच्यं, तदितरं तृतीयं त्वन्यतमवाच्यं स्यात्। तथा ज्ञानं नास्त्येव, अवस्तुत्वादित्यप्यर्थः। ८१२. कारिकायां हेतुः। ८१३. तयोः केवलश्रुतज्ञानयोर्मध्येऽन्यतरं (यथा केवलम्) अभ्यर्हितं स्यादिति नियमितविचारं पुंसो विघटयतीत्यर्थः। परस्परमुभयोरपि हेतुरूपत्वात्कस्यचिदभ्यर्हितत्वाघटनात् । ८१४ तेन पुनर्जातेन केवलिना। ८१५. एवंरीत्या। ८१६. भवद्वचनेन। ८१७. कश्चिज्जैनः। ८१८. तत् सर्वतत्त्वप्रकाशने इति वचनम् । द्रव्यापेक्षयागमः सर्वतत्त्वप्रकाशकः सर्वद्रव्यमात्रप्रकाशको, न तु पर्यायसर्वस्वप्रकाशक इत्यर्थः। अयमेव भावोग्रे व्यज्यते। ८१९. समन्तभद्रस्वामिनाम्। ८२०. तस्य जीवादिसप्ततत्त्वस्य। ८२१. 'केवलमपीति' पाठान्तरमेतत्। ८२२. तयोर्भेदः परस्परं प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वकृत एव केवलम्। ८२३. साक्षात्करणादेव। ८२४. केवली। ८२५. आगमात्र। ८२६. केवलेन ज्ञातान् समस्तान्। ८२७. केवलेन ज्ञातानां मध्ये सूक्ष्मादीनामित्यर्थः। ८२८. तदुक्तं गोम्मटसारे ''पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अम्मभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो'॥ छाया प्रज्ञापनीया (भावा) अनन्तभागस्तु अनभिलप्यानां (किंतु केवलेन ज्ञातानां सर्वेषाम्)। प्रज्ञापनीयानां पुनः अनन्तभागस्तु श्रुतनिबद्धः॥

८२९. क्रियमाणे। ८३०. स्वकृते श्लोकवार्त्तिकालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च, परकृते राजवार्त्तिकालङ्कारादौ च। ८३१. आज्ञावादः। ८३२. दृष्टान्तेन सह। न तु विपक्षेण सहेत्येवकारार्थः। ८३३. विषयीकृतस्य। ८३४. स्याद्वादेन गृहीतार्थस्य (प्रतिज्ञातस्य) विशेषतासूचको हेतुर्नयः। ८३५. गम्यते साध्यार्थ इति कपाठः। ८३६. दृष्टान्तश्चासौ धर्मी च महानसादिः। ८३७. शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यमिति साध्यलक्षणत्वात्। ८३८. विपक्षेण सह न व्यञ्जक इत्यर्थः। ८३९ स्वसाध्येन सहाविनाभाविना। ८४०. श्लोकांशेन। ८४१ 'इति' शब्देन इति, अविरोधादित्यनेन तु इत्यर्थो ग्राह्यः। तेन विशेषणद्वये एवं सद्धेतुत्वं स्यादित्यर्थः। ८४२. स्वामिसमन्तभद्रेण। ८४३. अन्यथानुपपन्नत्वैकलक्षणस्य। ८४४. इत्यत्र। ८४५. अनेकत्र। ८४६. नोपपद्यते इति कारिकाव्याख्याने एव। ८४७. अन्यथानुपपत्तिप्रकारेण। ८४८. बौद्धाभिमतम्। ८४९. नैयायिकाभिमतं पञ्चावयवत्वमनुमानाङ्गम्। ८५०. दर्श्यते इत्यर्थः। ८५१. नित्यं वस्तु न भवेदर्थक्रियाऽभावात् क्षणिकैकान्तवत्।

८५२. अर्थक्रियायाः क्रमयौगपद्यं विहाय। ८५३. एवं प्रकारेण। ८५४. अन्यथानुपपत्तिरूपैकलक्षणे। ८५५. अन्यथानुपपन्नत्वम्। ८५६. अविनाभावः। ८५७. आदिशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्त्या एवं संबन्धः कर्त्तव्यो, यत् पूर्ववदादि-वीतादि-संयोग्यादीनि अनुक्रमेण व्याकरिष्यन्ति ग्रन्थकाराः। ८५८. हिमाचले। ८५९. तीर्थे। ८६०. तत्पुत्रत्वादेस्त्रिविधस्य हेतोः। ८६१. अन्यथानुपपन्नत्वस्य। ८६२. बौद्धमतेपि। न त्रैलक्षण्यम्। ८६३. अनुमानस्यैते त्रयो भेदाः सन्ति। ८६४. सांख्यमते केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिणां त्रिप्रकाराणां हेतूनां क्रमेणैताः संज्ञाः। ८६५. अनुमानसमर्थनक्रमः शिष्याशयवशान्न तु वादापेक्षया। ८६६. तदंशग्राहिका बुद्धिर्नयः। ८६७. धर्मान्तरं निराकुर्वाणा। ८६८. अन्यच्च सामान्यविशेषवस्तुग्रहणात्प्रमाणं, नयस्त्वेकान्तग्रहणात्, दुर्णयस्त्वितरांशविलोपादिति च।

८६९. यथास्तित्वस्य विपक्षो नास्तित्वं, तस्य। ८७०. त्रिकालवर्तिनां समुच्चय एकस्मिन्नवस्थानम्। ८७१ अविभ्राड् अपृथग् भावसंबन्धः सत्तासंबंधो यस्य स तथाभूतः। तद्द्रव्यमभेदापेक्षया एकं, भेदापेक्षयानेकम् । ८७२. स्याद्वादप्रविभक्तार्थ इत्यादिना। ८७३. द्रव्यपर्यायविषयः। ८७४. विवक्षितादितरधर्मस्योपेक्षां कृत्वा एकान्ततां साधयेन्न तु इतरधर्मत्यागं कृत्वेत्यर्थः। ८७५ अपृथक्स्वभावसंबन्धः। ८७६ अतो द्रव्यदृष्ट्या (सामान्यदृष्ट्या) यदेवैकं तदेव पर्यायापेक्षया (विशेषापेक्षया) अनेकमिति सिध्यति। ८७७. एकत्रैव भेदाभेदतया। ८७८. भेदकल्पनातः। ८७९ (पूर्वोक्तस्यैव सारोयम्) ८८०. हे नैयायिक। ८८१. तव मते सापेक्षाः सन्तो वस्तुभूताः प्रयोजनसाधकाश्च भवन्ति। ८८२. चेत्तर्हीत्यध्याहारः। ८८३ प्रत्यनीकधर्मस्य विचारसमयेऽपेक्षाऽभावादुपेक्षा, तेन निराकरणं प्रत्यनीकस्यापि धर्मस्य न जायते, तदेव सापेक्षत्वम्। ८८४. यदि सापेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मोपेक्षारूपं न स्यात्, किंतु प्रत्यनीकसहितत्वेन प्रत्यनीकरहितत्वेन वा ग्रहणरूपं भवेत्, तर्हि प्रमाणनययोः सकलविकलांशत्वेन मन्यमानो भेदो न सिध्येत् , द्वयोरविशेषात्।

८८५. प्रमाणस्यासाधारणस्वभावो धर्मन्तरादानरूपो, नयस्य धर्मान्तरोपेक्षारूपो, धर्मान्तरदुर्नयस्य तु धर्मान्तपरित्यागरूपः क्रमेणेत्यर्थः। ८८६. उपर्युक्त एव भावोऽर्थान्तरेणोच्यते। ८८७. तदतच्छब्देन विवक्षितेतरधर्मग्रहणम्। ८८८. विश्लेषां प्रमाणनयदुर्णयानाम्। ८८९. साधनवाक्येन। ८९०. सः अर्थस्तथान्यथा चावश्यं (विधिप्रतिषेधसाधकवाक्येन यथाक्रमं सिद्धः) वर्तते इति भावः। ८९१. एकान्ततया विचारे कृते, अर्थस्य सत्त्वासत्त्वयोर्विशेषो न स्यात्। ८९२. यथा तद्विषयाकारग्राहिका संवित्तिः प्रमाणनयभेदेनानेकधा तथा तद्विषयोपीत्यर्थः। ८९३. 'हेतो' इति मूलपाठो न समीचीनो भाति, प्रतिज्ञावाक्यत्वेन प्रथमान्तत्वोपपत्तेः। ८९४. प्रधानं लक्षणमन्यथानुपपत्तिः। ८९५. स्वं च विषयश्च तदाकारग्राहिका या संवित्तिस्तद्वदित्यर्थो, ज्ञानस्योभयविषयत्वात्। ८९६. तथा अनेकधर्मात्मकत्वेन। 'तस्य' इति पाठान्तरम्। ८९७. स्वरूपं च बुद्ध्यध्यवसितार्थश्च तयोः संवेदिनः। ८९८. मीमांसकानाम् । ८९९. एवं सर्वेषामपि मते ज्ञानस्यानेकविषयकत्वेनानेकाकारत्वं सूचितम्। ९००. उक्तमनुमानवाक्यम्। ९०१. विधिवाक्यमनेकांतसाधनाय यथोक्तं तथा निषेधवाक्येनैकान्ते दूषणमप्युद्भाव्यते पुरस्तात्। ९०२. साध्यम्। ९०३. 'सदित्यारो' इति खपाठः। ९०४. ननु चारोपितस्यापि प्रतिषेध्यत्वे 'द्रव्यान्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः' इत्यादि विरुध्येतेत्याशकङ्कायामाह।

९०५. अस्मदभिमते सुनयविषये। ९०६. सम्यक्। ९०७. सम्यक्। ९०८. एकान्ततानिवारणपरं साधनम्। ९०९. सर्वेषां कारकाणां यो व्यापारो जन्यजनकादिलक्षणः। ९१०. इत उत्तरार्धव्याख्या। ९११. इदं सर्वैकान्तवादिनः प्रति। ९१२. इदं सांख्यापेक्षया। ९१३. विधिप्रकारेण। अन्यथा-निषेधप्रकारेण। ९१४. यदि विधिनिषेधप्रकारेण तस्यावश्यंभावो न स्यात्। ९१५. तेन केवलविधिना केवलनिषेधेन च। ९१६. समन्तभद्रस्वामी। ९१७. नयभङ्गानां द्वितीयादीनाम्। ९१८. कर्तृ। ९१९. तदतद्वस्तुषु वर्तते या वाक् सा। ९२०. स्वरूपेणेव पररूपेणापि सदेवेत्यनुवदन्ती वाक् सत्या न, परस्परविरुद्धधर्मद्वयस्यैकेन शब्देन प्रतिपादनासंभवात्। अत एव तानि मृषावाक्यानि । ९२१. विरुद्धधर्माध्यासलक्षणमपि कुतोऽविरुद्धमित्युक्ते प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूतमिति विशेषणं साधनतया द्रष्टव्यम्। ९२२. प्रत्यक्षादिना तथैवानुभूयमानत्वात्। ९२३. विरुद्धधर्माध्यासलक्षणम्। ९२४. विधिसाधने प्रतिषेधैकान्तस्य निषेधः कर्तव्यः, परंतु विध्येकान्तवादी विधिवचनेन प्रतिषेधं न निरोद्धुं शक्नोति, केवलविधिवाक्येन प्रतिषेधपक्षाप्रतिषेधादित्यर्थः। ९२५. प्रतिषेधाभिधाने। ९२६. 'कथं तथार्थदेशनम्' पाठान्तरम्। ९२७. इमं घटमानयेति वाक्स्वभावः। ९२८. पटवागर्थस्य प्रतिषेधे निरङ्कुशः। ९२९. परार्थसामान्यनिरपेक्षम्। ९३०. 'वाच्यं' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९३१. षष्ठी। ९३२ विवक्षितादितरं सर्वम्। ९३३. वचनोच्चारणवैयर्थ्यात् प्रयोजनाभावात्। ९३४. वागर्थः। ९३५. बहिरन्तर्वा। ९३६. सामान्यमेव विशेषरहितं, विशेषो वा सामान्यशून्यो वस्तुस्वरूपमित्येवमाग्रहेण। ९३७. क्रमार्पिततद्वयाद्द्वैतमिति कारिकाचतुर्थपदव्याख्याने। ९३८. अन्यापोहत्वेन। ९३९. अस्तीति सत्सामान्यवाक्। ९४०. अस्तीति वागन्यापोहविकल्पस्योत्पादिका, न तु प्रतिपादिकेत्यर्थः।

९४१. 'मृषैव न' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९४२. सर्वप्राण्यपेक्षया। ९४३. जनः। ९४४. प्रतिपत्तुः स्वरूपादिना सन्नेवाभिप्रेतो भवति, न तु पररूपादिनाऽसन्। अनभिप्रेतं न प्रवर्तको जनः प्राप्नोति। ९४५. वस्तुनः। ९४६ अस्तीत्यादिशब्दवाच्यम्। ९४७. ईप्सितार्थक्रियाकारणम्। ९४८ नास्तित्वाविनाभावि। ९४९. प्रतिषेध्याविरोधित्वप्रकारेण। ९५०. एवम्। ९५१. मनसि कृत्य। ९५२. अभिप्रेत्य विधानेपि विधेयत्वं तस्य कुत इत्याह। ९५३. एतदेव व्यतिरेकमुखेन भावयन्ति। ९५४. सह। ९५५ कुटस्य यथा स्वज्ञानाभावादर्थज्ञानानुपपत्तिः। ९५६. यौगापेक्षया। ९५७. अन्यथेति शेषः।

९५८. "विधेयमेव सर्वथा प्रतिषेध्यं' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९५९ तत् तस्मात्। कस्मात्? तथैवादेयहेयत्वं यस्मात्। ९६०. तद्विशेषमाश्रित्य। ९६१. 'स्यादभिधेयः' मुद्रितप्रतौ नास्ति। ९६२. 'मिच्छता' इति पाठं मत्वा स्वामिनो भगवतो विशिषन्ति केचन किंतु व्याख्ययाग्रेतनया विरुद्धं तदिति चिन्त्यम्। ९६३ भव्यत्वे सति। तेषामित्यपि क्वचित्पाठः।

९६४. वसुनन्दि-आचार्याः केचिच्छब्देन ग्राह्याः, यतस्तैरेव स्वस्य वृत्त्यन्ते लिखितोयं श्लोकः। शास्त्रपरिसमाप्तौ मङ्गलवचनमिति वाक्येन वसुनन्द्याचार्यवचनेन चायमपि श्लोकः श्रीसमन्तभद्रभगवत्कृत एवेति ध्वन्यते। ततश्च भगवत्कृताः कारिकाः पञ्चदशाधिकशतप्रमा इति सिध्यति। किंतु 'केचिन्मन्यन्ते' इति शब्देनौदासीन्याद्वयं तु नेति च ध्वन्यते। तथा च विद्यानन्दमतेन चतुर्दशाधिकशतमेव ग्रन्थप्रमाणं स्यादिति च वक्तुं शक्यते। ९६५ परैः।

९६६. तत्त्वार्थसमूहद्योतिकाः। ९६७. अस्मिन् परिच्छेदे बन्धमोक्षकारणयोः प्रमाणनययोश्च विचारोस्ति। तत्र सांख्ययौगबौद्धादीनां या बन्धमोक्षकारणकल्पना, तां सदोषीकृत्य स्वमतानुमता सा साधिता। प्रमाणानां चान्यवादिकल्पितानां मध्ये दोषं प्रदर्श्य स्वाभिमतप्रमाणविशेषभेदाः साधिताः। तत्र स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कप्रमाणानि पृथक् साधितानि। बौद्धं प्रति सविकल्पप्रत्यक्षस्य समर्थनम्, केवलज्ञानस्य युगपत्सर्वावभासनसामर्थ्यं साधितम्। शेषाणां तु क्रमवर्तित्वं समर्थितम्। सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपरोक्षयोर्द्वयोर्भेदयोर्मध्येन्तर्भावोपि साधितः। स्याद्वादस्य नयस्य वस्तुरूपस्य च लक्षणपुरस्सरं वर्णनं वर्तते। ९६८. एतदनन्तरं मुद्रितप्रतौ निम्नलिखितौ द्वौ श्लोकौ उपलभ्येते।

वीरसेनाख्यमोक्षगे चारुगुणानर्घ्यरत्नसिन्धुगिरिसततम्।
सारतरात्मध्यानगे मारमदाम्भोदपवनगिरिगह्वरायितु।।
कष्टसहस्रीसिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था (नर्द्धा)।।

●

परिशिष्ट

(१)

भारतीय दर्शनों में प्रमाण-विमर्श

प्रमाण का प्रयोजन—

मनुष्य इतर प्राणियोंकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् एवं विचारशील है। अत: उसके लिए आवश्यक है उसे इष्टानिष्ट अथवा ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान अभ्रान्त हो। अत: प्रमाण की जिज्ञासा मनुष्यमें इसीसे जाग्रत हुई होगी। यही कारण है कि प्रमाणकी मीमांसा न केवल भारतके मनीषियों द्वारा की गई है। अपितु विश्वके सभी विचारकों एवं दार्शनिकोंने भी की है। [1]आचार्य माणिक्यनंदी प्रमाणका प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं कि प्रमाणसे पदार्थोंका सम्यग्ज्ञान और सम्यक् प्राप्ति होती है। पर प्रमाणाभाससे नहीं। आचार्य विद्यानंदने भी प्रमाणपरीक्षा (पृ० २८) में यही कहा है।

प्रमाण का स्वरूप—

'प्रमीयतेऽनेन तत्प्रमाणम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रमाण वह है जिसके द्वारा वस्तु प्रमित हो, सही रूपमें जानी जाए। प्रश्न है कि वह क्या है जिसके द्वारा वस्तु की सही जानकारी होती है ? इस पर सभी प्रमाणशास्त्रियोंने विचार किया है। [2]वैशेषिक दर्शनने निर्दोष ज्ञानको विद्या (प्रमाण) कहा है। उसीसे यथार्थ एवं सही प्रतिपत्ति होती है। गौतम अक्षपादके न्यायसूत्रमें प्रमाणका लक्षण उपलब्ध नहीं है। पर उनके भाष्यकार वात्स्यायनने[3] अवश्य उपलब्धि-साधन (प्रमाकरण) को सूचित किया है। उद्योतकर[4], जयन्तभट्ट[5] आदि नैयायिकोंने वात्स्यायनका ही अनुसरण किया है और उपलब्धि-साधन रूप प्रमाकरणको प्रमाण लक्षण स्वीकृत किया है। पर उदयनाचार्यने[6] यथार्थानुभवको प्रमाण कहा है। ज्ञात होता है कि अनुभूतिको प्रमाण माननेवाले मीमांसक प्रभाकरका यह उनपर प्रभाव है, क्योंकि उदयनके पूर्व न्यायदर्शनमें प्रमाण लक्षणमें 'अनुभव' पदका प्रवेश उपलब्ध नहीं होता। उनके पश्चात् तो विश्वनाथ[7], केशवमित्र[8], अन्नभट्ट[9], प्रभृति नैयायिकोंने अनुभव घटित ही प्रमाणका लक्षण किया है।

मीमांसक-मनीषी कुमारिलभट्टने[10] अपूर्वार्थविषयक ज्ञानको, जो निश्चित हो वाधविवर्जित हो, निर्दोष इन्द्रियादि कारणोंसे उत्पन्न हो और लोक सम्मत हो, प्रमाण माना है। उत्तरवर्त्ती सभी भाट्ट मीमांसकोंने उनके इस प्रमाणलक्षणको मान्यता दी है। [11]प्रभाकरने अनुभूतिको प्रमाण बतलाया है और उनके अनुवर्ती शालिकानाथ आदि ने उसका समर्थन किया है।

सांख्यदर्शनमें ईश्वरकृष्ण[12] आदि सांख्यविद्वानोंने इन्द्रियवृत्ति-इन्द्रियव्यापारको प्रमाण माना है।

बौद्ध दर्शन में बौद्धन्यायके प्रतिष्ठाता दिग्नागने[13] अज्ञातार्थके ज्ञापकको प्रमाण कहा है। धर्मकीर्तिने[14] इसमें 'अविसंवादि' पद और जोड़कर उसे परिष्कृत किया है। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने[15] सारूप्य-तदा-कारता और योग्यताको प्रमाणका लक्षण बतलाया, जो एक प्रकार से दिग्नाग और धर्मकीर्तिके प्रमाण-लक्षणोंका ही फलितार्थ है। इस तरह बौद्धदर्शनमें स्वसंवेदी, अज्ञातार्थज्ञापक, अविसंवादि, तदाकार ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया गया है।

जैन न्यायमें प्रमाण स्वरूप—

जैन न्यायमें प्रमाणका लक्षण हमें सर्वप्रथम आ० गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्रमें उपलब्ध होता है। उन्होंने[16] मति, श्रुत,

अवधि, मन:पर्यय और केवल इन आगमोक्त पाँच ज्ञानोंको सम्यक्ज्ञान कहकर उसे प्रमाण बतलाया। तथा दो भेदोंमें विभक्त कर आदि के दो ज्ञानोंको परोक्ष और शेष तीन ज्ञानोंको प्रत्यक्ष निरूपित किया है। उनके इस निरूपणसे कई महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। एक तो यह कि आगम में जो उक्त पाँच ज्ञान सम्यक्ज्ञानके रूपमें वर्णित हैं, उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकारने प्रमाण बतलाया है। दूसरा तथ्य यह कि उसके दो भेद हैं। और वे हैं—(१) परोक्ष (२) प्रत्यक्ष। तीसरा तथ्य यह है कि उन पाँच ज्ञानोंमें आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। दो ज्ञान हैं—मति और श्रुत। तथा तीन ज्ञान हैं—अवधि, मन:पर्यय और केवल। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकारके अनुसार प्रमाण वह है जो सच्चा ज्ञान है और वह उक्त परोक्ष और प्रत्यक्ष है। उन्हींसे यथार्थ प्रतिपत्ति सम्भव है।

गृद्धपिच्छ के बाद स्वामीसमन्तभद्र[१७] जो ज्ञान अपना और परका अवभास कराये वह प्रमाण है। जो केवल अपना या केवल परका अवभास कराता है वह ज्ञान प्रमाणकोटिमें सम्मिलित नहीं है। प्रमाणकोटिमें वही ज्ञान समाविष्ट हो सकता है जो अपनेको जाननेके साथ परको और परको जाननेके साथ अपनेको भी जानता है। और तभी उसमें सम्पूर्णता आती है। न्यायावतार सिद्धसेनने[१८] समन्तभद्रके उक्त लक्षणको अपनाते हुए उसमें एक विशेषण और दिया है। वह है 'बाद्यविवर्जित'। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकारके 'सम्यक्' पदके द्वारा वह गतार्थ हो जाता है।

यद्यपि 'स्वरूपस्य[१९] स्वतोगतेः', 'स्वरूपाधिगतेः परम्[२०]' आदि प्रतिपादनों द्वारा विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध प्रमाणको स्वसंवेदी स्वीकार करते हैं। तथा 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्[२१]', 'अज्ञातार्थ प्रकाशो[२२] वा' आदि कथनों द्वारा सौत्रान्तिक (बहिरर्थाद्वैतवादी) बौद्ध उसे केवल परसंवेदी मानते हैं। पर किसी भी तार्किकने प्रमाणको स्व और पर दोनोंका एक साथ प्रकाशक नहीं माना। जैन तार्किकोंने ही प्रमाणको स्व और पर दोनोंका एक साथ ज्ञापक स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य है कि ज्ञान एक चमचमाता हीरा अथवा ज्योतिपुञ्ज दीपक है, जो अपनेको प्रकाशित करता हुआ उसी कालमें योग्य बाह्यपदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। अत: स्वपरप्रकाशक यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण है।

पूज्यपादकी[२३] विशेषता यह है कि उन्होंने स्वपरप्रकाशक यथार्थज्ञानको प्रमाण मानते हुए सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण मानने वालोंकी मान्यताओंकी समीक्षा भी की है। उनका कहना है कि सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण मानने पर सूक्ष्म, व्यवहित और दूरके पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध सम्भव न होनेसे उनका ज्ञान नहीं हो सकता। फलत: सर्वज्ञताका अभाव हो जायेगा। इसके सिवाय चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी हैं।[२४] उसका पदार्थके साथ सन्निकर्ष न होनेसे वह अव्याप्त भी है। चक्षु बिना सन्निकर्षके ही ज्ञान कराती है।

अकलंक[२५], विद्यानंद[२६] और माणिक्यनंदि[२७] ने गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र और पूज्यपाद द्वारा स्वीकृत एवं समर्थित स्वार्थव्यवसायी सम्यग्ज्ञानको प्रमाणलक्षण स्वीकार करने के साथ ही अर्थके विशेषण रूपमें 'अनधिगत' अथवा 'अपूर्व' या 'अगृहीत-ग्राही' पदको उसमें और जोड़कर 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान' को प्रमाण कहा है और यही प्रमाणलक्षण जैनदर्शन में अधिक प्रतिष्ठित है। हेमचन्द्र[२८] ने अवश्य इस लक्षणसे प्रमाण पृथक् प्रमाण लक्षण प्रस्तुत किया है। उसमें न 'स्वपद है, और न 'अपूर्व' पद है। दोनोंको उन्होंने अनावश्यक बतलाया है। मात्र आचार्य गृद्धपिच्छोक्त सम्यग्ज्ञानकी तरह सम्यक् अर्थ निर्णयको उन्होंने प्रमाण कहा है। अभिनवधर्मभूषण[२९] ने विद्यानंद और माणिक्यनंदिका पूरा अनुगमन किया है। इस विवेचनसे इतना स्पष्ट है कि सम्यग्ज्ञानको एक स्वरसे सभी जैन दार्शनिकोंने प्रमाण माना है। सन्निकर्ष, इन्द्रिय, इन्द्रियवृत्ति, कारक साकल्य, ज्ञातृव्यापार आदिको अज्ञाननिवर्तक न होने से प्रमाण स्वीकार नहीं किया। इसका कारण यह है कि ये सब स्वयं अज्ञानरूप हैं और अज्ञानका निवर्तक निश्चय ही ज्ञानरूप होना चाहिए, जैसे अन्धकारका निवर्तक प्रकाश देखा जाता है और अज्ञान विरोधीज्ञान है। अत: सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रमाण-भेद—

उपर्युक्त प्रमाणके कितने भेद हैं और उन भेदोंकी सर्वप्रथम प्रतिपादक परम्परा कौनसी है ? इस सम्बन्धमें भारतीय दर्शन-ग्रन्थोंका आलोढन करने पर ज्ञात होता है कि वैशेषिक दर्शनके प्रणेता कणादने[३०] प्रमाणके प्रत्यक्ष और लैङ्गिक ये दो भेद स्वीकार किए हैं। उन्होंने इन दो के सिवाय अन्य प्रमाणोंकी न सम्भावना की है और न न्यायसूत्रकार अक्षपादकी तरह उनका स्वीकृत प्रमाणोंमें अन्तर्भाव करने आदि की चर्चा ही की है। इससे प्रतीत होता है कि प्रमाणके उक्त दो भेदोंकी मान्यता प्राचीन है। इसके अतिरिक्त चार्वाक ने प्रत्यक्षको तो माना है, किन्तु अनुमानको खण्डन करते हुए अस्वीकार किया है।[३१] तथा उपमान, आगम आदि की कोई चर्चा ही नहीं की, जबकि न्यायसूत्रकार[३२] ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम (शब्द) इन चार प्रमाणोंको स्वीकार किया है। तथा ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन चारका स्पष्ट रूपमें उल्लेख करके उनकी अतिरिक्त प्रमाणताकी आलोचना की है। साथ ही शब्दमें ऐतिह्यका और अनुमानमें शेष तीनोंका अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। कणादके व्याख्याकार प्रशस्तपाद[३३]ने अवश्य उससे मान्य प्रत्यक्ष और लैङ्गिक इन दो प्रमाणोंका समर्थन करते हुए उल्लिखित शब्द आदिका इन्हीं दो में समावेश किया है। तथा चेष्टा, निर्णय, आर्ष (प्रातिभ) और सिद्धदर्शनको भी इन्हीं दो के अन्तर्गत सिद्ध किया है। यदि वैशेषिकदर्शन से पूर्व न्यायदर्शन या अन्य दर्शनकी प्रमाण भेद-परम्परा होती तो चार्वाक उसके प्रमाणोंकी अवश्य आलोचना करता। इससे विदित होता है कि वैशेषिक दर्शनकी प्रमाण-द्वय मान्यता सबसे प्राचीन है।

वैशेषकों[३४]की तरह बौद्धों[३५]ने भी प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को स्वीकार किया है। शब्द सहित उक्त दो अर्थात् तीनको सांख्यों[३६]ने, उपमान सहित चारको नैयायिकों[३७]ने और अर्थापत्ति तथा अभाव सहित छहको, जैमिनियों (मीमांसकों) ने[३८] मान्य किया है। कुछ काल बाद जैमिनीय दो सम्प्रदायोंमें विभक्त हो गये—(१) भाट्ट (कुमारिलभट्टके अनुगामी) और (२) प्राभाकर (प्रभाकरके अनुयायी)। भाट्टों ने छहों प्रमाणोंको माना। पर प्राभाकरोंने अभाव प्रमाणको छोड़ दिया तथा शेष पाँच प्रमाणोंको अंगीकार किया। इस तरह विभिन्न दर्शनोंमें प्रमाण-भेदकी मान्यताएँ[३९] दार्शनिक क्षेत्रमें चर्चित हैं।

जैन-न्यायमें प्रमाणभेद—

जैन-न्यायमें प्रमाणके कितने और कौनसे भेद माने गये हैं। इसका विचार किया जाता है—

श्वेताम्बर जैन परम्परा में मान्य भगवतीसूत्र[४०] और स्थानांगसूत्र[४१] में चार प्रमाणोंका उल्लेख है—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान और ४. आगम। स्थानांग सूत्रमें एक दूसरी जगह व्यवसायके तीन भेदों द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोंका भी निर्देश है। संभव है सिद्धसेन और हरिभद्रके तीन प्रमाणोंकी मान्यताका आधार यही स्थानांगसूत्र हो। श्री दलसुख मालवणियाका विचार है कि उपर्युक्त चार प्रमाणोंकी मान्यता नैयायिक आदि सम्मत और तीन प्रमाणोंका कथन सांख्य आदि स्वीकृत परम्परा मूलक हो तो आश्चर्य नहीं। यदि ऐसा हो तो भगवतीसूत्र और स्थानांगसूत्र चार और तीन प्रमाणोंकी मान्यता लोकानुसरणकी सूचक होनेसे अर्वाचीन होना चाहिये।

दिगम्बर परम्पराके षट्खंडागममें[४२] मात्र ज्ञानमीमांसा उपलब्ध होती है। वहाँ तीन प्रकारके मिथ्या-ज्ञानों और पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञानोंको गिनाकर आठ ज्ञानोंका निरूपण किया गया है। वहाँ प्रमाण और प्रमाणाभासके रूपमें ज्ञानोंका विभाजन नहीं है और न प्रमाण तथा प्रमाणाभास शब्द ही वहाँ उपलब्ध होते हैं। कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें भी ज्ञानमीमांसाकी ही चर्चा है, प्रमाणमीमांसा की नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि उस प्राचीन कालमें सम्यक् और मिथ्या मानकर तो ज्ञानका कथन किया जाता था, किन्तु प्रमाण और प्रमाणाभास मानकर नहीं। पर एक वर्गके ज्ञानों को सम्यक् और दूसरे वर्गके ज्ञानोंको मिथ्या प्रतिपादन करनेसे अवगत होता है कि जो ज्ञान सम्यक् कहे गये हैं वे सम्यक् परिच्छित्ति करानेसे प्रमाण तथा जिन्हें मिथ्या

बताया गया है वे मिथ्या परिच्छित्ति करानेसे अप्रमाण (प्रमाणाभास) इष्ट हैं । इसकी संपुष्टि तत्त्वार्थ-सूत्रकारके निम्न प्रतिपादनसे भी होती है ।

मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानि ज्ञानम् । त.सू. १-९ ।

तत्प्रमाणे । त.सू. १-१० ।

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च । त.सू. १-३१ ।

इस प्रकार सम्यक्ज्ञान या प्रमाणके मति-श्रुत-अवधि आदि पाँच भेदों की परम्परा आगम में उपलब्ध होती है, जो अत्यंत प्राचीन है और जिस पर लोकानुसरणका कोई प्रभाव नहीं है ।

पर इतर दर्शनोंके लिये वह अलौकिक जैसी भी । क्योंकि अन्य दर्शनोंके प्रमाण निरूपणके साथ उसका मेल नहीं खाता था । अत: ऐसे प्रयत्न की आवश्यकता थी कि आगमका भी समन्वय हो जाय, और अन्य दर्शनोंके प्रमाण-निरूपण के साथ उसका भी मेल बैठ जाये । इस दिशामें सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्रकारने उक्त समाधान प्रस्तुत किया । उन्होंने स्पष्ट कहा कि जो मति आदि पाँच ज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान वर्णित है वह प्रमाण हैं और उसके दो भेद हैं—१. परोक्ष २. प्रत्यक्ष । अर्थात् आगममें जिन पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान कहा गया वे ही प्रमाण हैं । उनमें मति, श्रुत ये दो ज्ञान इन्द्रिय और मन सापेक्ष होने से परोक्ष तथा अवधि, मन:पर्यय और केवल ये तीन ज्ञान आत्म मात्रकी अपेक्षासे होने के कारण प्रत्यक्ष हैं । आचार्य गृद्धपिच्छका यह प्रमाण-द्वय विभाग इतना विचार युक्त और कौशल्यपूर्ण हुआ कि प्रमाणोंका वैविध्य एवं आनन्त्य भी इन्हीं दो में समाविष्ट हो जाता है । उन्होंने अति संक्षेपमें मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को भी प्रमाणान्तर होने का संकेत करके उन्हें मतिज्ञान बतलाते हुए उनका परोक्ष प्रमाणमें समावेश किया, क्योंकि ये सभी ज्ञान इन्द्रिय, मन आदि पर सापेक्ष हैं । वैशेषिकों और बौद्धोंने भी प्रमाणके दो भेद स्वीकार किए हैं, जैसा कि हम पहले कह आये हैं । पर वे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो भेद हैं तथा अनुमानमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कका समावेश संभव नहीं है । अतएव गृद्धपिच्छने इस प्रमाण द्वयको स्वीकार न कर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण द्वयका व्यापक विभाग प्रतिष्ठित किया । उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंके लिये उनका यह विभाग आधार सिद्ध हुआ । पूज्यपादने न्यायदर्शन आदि में पृथक् प्रमाणके रूपमें स्वीकृत उपमान, अर्थापत्ति और आगम आदि का पर सापेक्ष होने से परोक्षमें अंतर्भाव किया और सूत्रकारके प्रमाण द्वयका समर्थन किया । अकलंकने भी उनके प्रमाण द्वय की संपुष्टि की । साथ ही उन्होंने नये आलोकमें परोक्ष-प्रत्यक्षकी परिभाषाओं और उनके भेदोंका भी बहुत स्पष्टता के साथ प्रतिपादन किया है । परोक्ष प्रमाण की स्पष्ट संख्या हमें सर्वप्रथम उनके तर्क ग्रन्थों में ही उपलब्ध होती है । इतना ही नहीं, उनकी परिभाषायें भी उन्होंने दी हैं । लगता है कि गृद्धपिच्छ और अकलंकने जो प्रमाण निरूपण की दिशा प्रदर्शित की, उसी पर विद्यानंद, माणिक्यनंदि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण आदि जैन तार्किक चले हैं । साथ ही उनके कथनको पल्लवित एवं विस्तृत किया है ।



परिशिष्ट

(२)

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शनोंमें एक चार्वाक दर्शन है, जिसके प्रवर्त्तक बृहस्पति गुरु माने जाते हैं। इस दर्शनकी मान्यता है कि **'यद् दृश्यते तदस्ति यन्न दृश्यते तन्नास्ति'**— जो इन्द्रियोंसे दिखाई देता है वह है और जो दिखाई नहीं देता वह नहीं है। यह दर्शन एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है। प्रत्यक्षसे अगोचर कोई पदार्थ नहीं है, जिसे सिद्ध करनेके लिए अनुमान, आगम आदि प्रमाण माने जायें। इसका कहना है—

> **तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना**
> **नासौ मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।**
> **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां**
> **महाजनो येन गतः स पन्था।।**[१]

'तर्क (अनुमान) अप्रतिष्ठित है— उसमें व्यभिचार आदि दोष आनेसे वह सिद्ध नहीं होता, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न हैं— कोई वेदको प्रमाण मानता है, कोई आगमको स्वीकार करता है और कोई त्रिपिटकको अङ्गीकार करता है और इस प्रकार उनमें एकरूपता नहीं है, ऐसा कोई मुनि (आप्त) नहीं, जिसके वचनों (उपदेश) को प्रमाण माना जाये। अतः धर्मकी बात (चर्चा) को गुफामें रख देना चाहिए और जिस पथसे महाजन लोग गये वही पथ है— उसी पथका अनुसरण करना चाहिए। उसीमें लोकहित है।'

प्रतीत होता है कि इस दर्शनके प्रतिष्ठाता बृहस्पतिके समक्ष यज्ञानुष्ठान, पंचाग्नितप जैसे वैदिक क्रियाकाण्डका अधिक बोलबाला रहा और **'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्'** जैसे वाक्योंको उदाहृतकर उसे ही धर्म मान लिया गया था। लोगोंको इस लोककी अपेक्षा परलोक (स्वर्गप्राप्ति) की अधिक चिन्ता थी और उसीकी चर्चा एवं प्रवृत्ति ज्यादा थी। सम्भवतः उसीकी प्रतिक्रियामें **'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था'** यह कहा गया तथा इस दर्शनका उद्भव हुआ। यतः इसके प्रवर्त्तक 'बृहस्पति' कहे जाते हैं, इससे इसे **'बार्हस्पत्य'** दर्शन नामसे भी अभिहित किया गया है। 'खाओ-पियो, आनन्द करो' लोककी इस प्रवृत्तिका पोषण-समर्थन करनेसे इसे **'लोकायत'** दर्शन भी कहा गया है। बृहस्पतिने चार्वाक दर्शन पर सूत्र ग्रन्थ भी रचा था, जिसके सूत्रोंका उल्लेख ब्रह्मसूत्रके शांकर भाष्य, गीताकी नीलकण्ठी, श्रीधरी और मधुसूदनी टीकाओं तथा अद्वैत ब्रह्मसिद्धि आदिमें मिलता है। जैन और बौद्ध तर्क ग्रन्थोंमें भी वह क्वचित् पाया जाता है। पर वह समग्र ग्रन्थ उपलब्ध है या नहीं, यह ज्ञात नहीं।

अनुमानकी प्रतिष्ठा क्यों नहीं होती? इस सम्बन्धमें चार्वाकदर्शनका कहना है कि निश्चित अविनाभावी लिङ्ग (साधन) से लिङ्गी (साध्य) के ज्ञानकों अनुमान माना गया है।[२] वह लिङ्ग तीन प्रकारका है— १. स्वभावलिङ्ग, २. कार्यलिङ्ग और ३. अनुपलब्धि लिङ्ग। पर ये तीनों लिङ्ग सदोष हैं।[३] यथा– 'ये आमलक कसैले रससे युक्त हैं, क्योंकि

---

१. विद्यानन्द, अष्टसहस्री पृ० ३६, उद्धृत तथा सत्यशा० परी०, पृ० १५।

२. निश्चयाविनाभावाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानमित्यानुमानिकशासनम्।' लघु अनन्तवीर्य, प्रमेयर० भा० २-२।

३. 'इदं फलं कषायरसोपेतम्, आमलकंफलत्वात्, परिदृष्टामलकवत्' इत्यत्र मधुररसोयेपेतानामानलकफलेन व्यभिचार : वही, टिप्प०।

आमलक हैं। यहाँ आमलक (आंवला) रूप स्वभाव हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि देशान्तर अथवा कालान्तरमें दुग्धादि द्रव्यसे सिंचन करने पर आमलक मीठेरस वाले देखे जाते हैं, कसैले नहीं। इसी प्रकार 'यह वृक्ष है, क्योंकि आम्र है।' यहाँ आम्ररूप स्वभाव हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि दूसरे देशमें वह आम्रलताके रूपमें पाया जाता है। इसी तरह कार्यलिङ्ग भी अनैकान्तिक है।[१] जैसे– 'इस इन्द्रजालक घटमें अथवा बाँवीमें अग्नि है, क्योंकि धूम निकलता हुआ देखा जाता है।' यहाँ अग्निके बिना धूम होनेसे धूमरूप कार्यहेतु भी व्यभिचारी है और व्यभिचारी हेतुओंसे होनेवाला अनुमान अनुमानाभास है, सम्यक् अनुमान नहीं। अब रहा अनुपलब्धि हेतु, वह भी अभावका साधक होनेसे भावका साधक नहीं है और इस तरह अनुमानके जनक तीनों हेतु इष्टके साधक न होनेसे वे अनुमानकी प्रतिष्ठा करनेमें अक्षम हैं।

वैदिक वेदको, जैन आगमको और बौद्ध त्रिपिटकको मानते हैं और ये तीनों परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादक हैं। वेद यज्ञादि अनुष्ठानोंका प्रतिपादन करते हैं, आगम अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद आदिका निरूपण करता है तथा त्रिपिटक क्षणिकत्व, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदिका उपदेश करता है। इस प्रकार परस्पर विरोधी तत्त्वोंके प्रतिपादक होनेसे इन सभीको प्रमाण नहीं माना जा सकता। इनमें किसी एकको प्रमाण माननेपर अन्यको प्रमाण क्यों नहीं माना जाये ? यह प्रश्न असमाहित रहता है। अतः वेदादि श्रुतियाँ प्रमाण नहीं हैं।

मुनि (उपास्यदेव) भी एक नहीं है। कोई सुगतको सर्वज्ञ मानता है, कोई कपिलको सर्वज्ञ स्वीकार करता है और कोई शिवको सृष्टिकर्त्ताके रूपमें आप्त अङ्गीकार करता है। यदि सभीको सर्वज्ञ माना जाये, तो उनमें मतभिन्नता क्यों है ? सबका उपदेश एक-सा ही होना चाहिए। पर सबका उपदेश भिन्न-भिन्न है। इससे ज्ञात होता है कि सब आप्त नहीं है। इसलिए कहा है—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेतिका प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ।।[२]

अतएव देवता (आप्त) के रूपमें मुनि बृहस्पति ही सर्वज्ञ है,[३] क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष सिद्ध पृथिवी अप्, अग्नि और वायु इन चार ही भूततत्त्वोंका उपदेश दिया है। ये ही भूततत्त्व सभी प्राणियोंके जीवनाधार हैं और जिनके सद्भावमें किसीको विवाद नहीं है, ये सभीको स्वीकृत हैं।

इन चार भूतोंसे ही उनके शरीराकार परिणत होने पर चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। जैसे गुड़, महुआ आदिके संयोगसे मदिरा (मादक शक्ति) पैदा हो जाती है। अथवा स्नायु (तांत), तूंवी, वांसुरी, अंगूठे आदिके संयोगसे मधुर स्वर उत्पन्न होता है। अथवा एक ही वस्तुकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी उत्पत्ति हो जाती है। अथवा न पानमें, न कत्थामें, न सुपारीमें और न चूनेमें लाल रंग रहता है। किन्तु इन सबका बीड़ा बनाकर उसे चबानेसे लालरंगकी उत्पत्ति हो जाती है। उसी तरह चारों भूततत्त्वोंका विशेषरूपमें मिश्रण होने पर शरीरके साथ चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। शरीरके नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है। वह गर्भसे लेकर मरणपर्यन्त ही रहता है। वह अनादि-अनन्त नहीं है। अतः मृत्युके बाद कर्मफल भोगनेका प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि परलोकी (आत्मा) का देहसे भिन्न अभाव है और जब परलोकीका अभाव हैं तो उस कर्मफलके भोगनेके लिए प्राप्त होनेवाला परलोक (स्वर्ग, मोक्ष आदि) का भी अभाव सुतरां सिद्ध हो जाता है, जिसके लिए अनशन

---

१. तथा कार्यलिङ्गमपि गोपालघटिकादौ धूमस्य शक्रम् चान्यथापि भावात् पावकव्यभिचार्येव। ततः प्रत्यक्षमेवैकंप्रमाणमस्यैवाविसंवादकत्वादिति। —प्रमेयरत्नमाला २-२।

२. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, श्लोक० ३१४९। तथा उद्धृत, विद्यानन्द, अष्टसह०, पृ० ५।

३. 'इह आप्तस्तु कश्चिद् देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिरेव, प्रत्यक्षप्रसिद्धपृथिव्यादितत्त्वोपदेशात्। तथा हि–पृथिव्यप्तेजोवायव इति चत्वार्येव तत्त्वानि। कायाकारपरिणतेभ्यः पिष्टोदकगुडधातकीसंयोगान्मदशक्तिवत्..... तदात्मकं चैतन्यं जायते। तच्च गर्भादिमरणपर्यन्तं 'जीव आत्मा' इत्यादिव्यपदेशभाक् प्रवर्तते। गर्भात्पूर्वकाले मरणादुत्तरकाले च तदभावः।

—विद्यानन्द, सत्यशा० प०, पृ० १५

आदि तपों द्वारा शरीरको कष्ट पहुँचाया जाता है। पर शरीर को कष्ट देना मूर्खों जैसी मूढ़ता है।[१] अत: जब तक जियो, सुखपूर्वक जियो। प्राप्त शरीर पुन: मिला या न मिला, क्या भरोसा। कहा भी है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥१॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धि-पौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥२॥
स्त्रीं मुद्रां मकरध्वजस्य महतीं निर्वाणसम्पत्करीं,
ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्यासुखान्वेषिणः।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं भस्मीकृता लुण्ठिताः,
केचित् पञ्चशिखीकृता हि जटिनः कापलिकाचापरे[२]॥३॥

'जब तक जियो, सुखसे जियो। ऐसा कोई नहीं, जिसकी मृत्यु न हो। वह एक दिन अवश्य होगी। उससे किसीका बचाव नहीं। प्राप्त शरीर जब जलकर राख हो जावेगा, तो पुन: उसका मिलना कैसे सम्भव है ? अर्थात् सम्भव नहीं है।'

'अग्निहोत्र करना, तीनों वेदों (ऋक्, यजु और साम) का पाठ करना, त्रिदण्डी साधु बन जाना, शरीरमें भस्म पोतना, यह उन लोगोंने अपनी आजीविका (जीवनवृत्ति) बनाई है, जो स्वयं बुद्धि एवं पुरुषार्थ-विहीन हैं— जिनमें न बुद्धि (विवेकशक्ति) है और न उद्योगी हैं।'

'जो महती सुख-सम्पतिकी प्रदात्री एवं कामदेवकी मुद्रा स्त्रीका अज्ञानतावश तिरस्कार (अपमान या घृणा) करते हैं वे उस कामदेवके द्वारा ही निर्दयतापूर्वक लताड़े गये तथा अपहृत कर लिए गये। फलत: कोई पञ्चशिखाधारी हो गये, कोई जटाधारी बन गये और कोई खप्पर लेकर भिक्षावृत्ति करने लगे। ये सब कुबुद्धि हैं, जो मिथ्या सुखकी वांछा से इन वेषोंके धारण करनेमें प्रवृत्त हुए।'

इन पद्योंमें पिछला भर्तृहरिके शृङ्गारशतकका ७८वां श्लोक है। प्रथम पद्य अनेक ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है और बहुश्रुत है। ये तीनों विद्यानन्दने सत्यशासन परीक्षामें उद्धृत किये हैं।

इस दर्शनकी मान्यताका दिग्दर्शन अपने सर्वदर्शनसंग्रहमें माध्वाचार्यने भी किया है। हम उसे भी यहाँ संक्षेपमें दे रहे हैं—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवाय्वनिलानलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः॥
देहः स्थौल्यादिवियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी॥

'इस दर्शनमें पृथिवी, अप्, अग्नि और वायु— ये चार भूततत्त्व माने गये हैं। इन चार भूतोंसे चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे किण्वादि द्रव्योंसे मदशक्ति (मादकता) पैदा होती है। 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ' इस प्रकारका जो व्यवहार होता है वह समानाधिकरणसे देहमें ही होता है और इसलिए देह और जीव एक ही हैं, वह उससे भिन्न नहीं है तथा जब स्थूलता, कृशता आदिके न रहने पर 'मैं स्थूल नहीं हूँ', 'मैं कृश नहीं हूँ' आदि व्यवहार होता है तो वह देहमें ही होता

१. सत्यशा० प० पृ० १५
२. वही; पृ० १५, उद्धृत।

है, देहसे भिन्न आत्मामें नहीं। अतः देह ही आत्मा है, उससे भिन्न आत्मा नहीं है। 'मेरा यह शरीर है' इस प्रकारका जो शरीर और आत्माका भेद व्यवहार होता है वह मात्र औपचारिक है।

इस तरह चार्वाक दर्शन देहात्मवादी दर्शन है। **'चारवो वाचः येषां ते चार्वाकाः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार लोकको अच्छे लगनेवाले चारु वचन बोलनेसे ये चार्वाक कहे जाते हैं अथवा **'चर्वन्ति भक्ष्यन्ति जीवादिपरोक्षतत्वानि ये ते चार्वाकाः'**[1] इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीव, पुण्य, पाप, स्वर्ग, मोक्ष आदि परोक्ष तत्त्वोंका निषेध करने तथा अनुमान, आगम, सर्वज्ञ आदिको न माननेसे इन्हें चार्वाक कहा गया है।

स्मरण रहे कि चार्वाक दर्शन जब दार्शनिकोंकी विचार कोटिमें आ गया, तो उसपर खण्डन-मण्डनके रूपमें प्रचुर साहित्य लिखा गया। पर आज जितना खण्डनका साहित्य मिलता हैं उतना मण्डन का मूल साहित्य नहीं मिलता। अन्वेषण करने पर सम्भव है उनका कुछ मौलिक साहित्य पुस्तकालयों में उपलब्ध हो जाय। इत्यलम्।



---

१. षड्दर्शनसमुच्चय, पृ०४५१, सम्पादक, डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९८९, तृ०सं।

परिशिष्ट

(३)

जैन तार्किक और उनके विशिष्ट न्यायग्रन्थ

१.	आचार्य गृद्धपिच्छ (प्रथम शताब्दी)	१. तत्त्वार्थसूत्र
२.	स्वामी समन्तभद्र (ई० २ री, ३ री शती)	१. आप्तमीमांसा (देवागम) २. युक्त्यनुशासन ३. स्वयम्भूस्तोत्र ४. रत्नकरण्डक श्रावकाचार ५. जिनशतक
३.	सिद्धसेन (वि०स० ४-५ वीं शती)	१. सन्मतिसूत्र
४.	देवनन्दि-पूज्यपाद (वि०स० ६ वीं)	१. सर्वार्थसिद्धि
५.	श्रीदत्त (वि०सं० ६ वीं)	१. जल्पनिर्णय (अनुपलब्ध)
६.	पात्रस्वामी (वि०स० ६-७ वीं)	१. त्रिलक्षणकदर्थन (अनुपलब्ध)
७.	अकलंकदेव (ई० ७-८ वीं)	१. न्याय-विनिश्चय २. सिद्धि-विनिश्चय ३. प्रमाण-संग्रह ४. लघीयस्त्रय ५. देवागम-विवृति (अष्टशती)
८.	हरिभद्र (वि०स० ८ वीं)	१. अनेकान्तजयपताका २. अनेकान्तवादप्रवेश ३. शास्त्रवार्तासमुच्चय ४. षड्दर्शनसमुच्चय
९.	सिद्धसेन (द्वितीय) (९ वीं शती)	१. न्यायावतार
१०.	वादीभसिंह (९ वीं शती)	१. स्याद्वादसिद्धि
११.	बृहदनन्तवीर्य (९ वीं शती)	१. सिद्धिविनिश्यालंकार २. प्रमाणसंग्रहभाष्य (अनुपलब्ध)
१२.	कुमारनन्दि (८-९वीं शती)	१. वादन्याय (अनुपलब्ध)
१३.	विद्यानन्द (ई० ७७५-८४०)	१. विद्यानंदमहोदय २. आप्तपरीक्षा ३. प्रमाणपरीक्षा ४. पत्रपरीक्षा ५. अष्टसहस्री ६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ७. युक्त्यनुशासनालंकार ८. सत्यशासनपरीक्षा

	९. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र
१४. अनन्तकीर्ति (वि० ९वीं शती)	१. बृहत्सर्वज्ञसिद्धि
	२. लघुसर्वज्ञसिद्धि
१५. माणिक्यनन्दि (११वीं शती)	१. परीक्षामुख
१६. देवसेन (९ वीं शती)	१. नयचक्र
१७. वादिराज (१०२५ ई०)	१. प्रमाणनिर्णय
	२. न्यायविनिश्चयविवरण
१८. प्रभाचन्द्र (१०५३ ई०)	१. प्रमेयकमलमार्तण्ड
	२. न्यायकुमुदचन्द्र
१९. अभयदेव (ई० १२वीं)	सन्मतिटीका
२०. लघुअनन्तवीर्य (१२वीं शती)	१. प्रमेयरत्नमाला
२१. देवसूरि	१. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार
	२. स्याद्वादरत्नाकर
२२. हेमचन्द्र (ई० १०८७-११७३)	१. प्रमाणमीमांसा
२३. भावसेन त्रैविद्य (वि० १२-१३)	१. विश्वतत्त्वप्रकाश
	२. प्रमा-प्रमेय
२४. लघु समन्तभद्र (वि० १३ वीं)	१. अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका
२५. अभयचन्द्र (वि०सं० १३ वीं)	१. लघीयस्त्रयतात्पर्यवृति
२६. रत्नप्रभसूरि (वि०सं० १३ वीं)	१. स्याद्वादरत्नाकरावतारिका
२७. मल्लिषेण (वि० १४ वीं शती)	१. स्याद्वादमंजरी
२८. अभिनव धर्मभूषणयति (ई०१३५८-१४१८)	१. न्यायदीपिका
२९. शान्तिवर्णी	१. प्रमेयकण्ठिका
३०. नरेन्द्रसेन भट्टारक (वि०सं० १७८७)	१. प्रमाण-प्रमेयकलिका
३१. चारुकीर्ति भट्टारक (वि०सं० १८ वीं)	१. प्रमेयरत्नालंकार
३२. विमलदास (वि०सं० १८ वीं शती)	१. सप्तभंगीतरंगिणी
३३. अजितसेन (वि०सं० १८ वीं शती)	१. न्यायमणिदीपिका
३४. यशोविजय (वि०सं० १८ वीं शती)	१. अष्टसहस्री-त०वि०
	२. जैनतर्कभाषा
	३. न्यायालोक
	४. ज्ञानबिन्दु
	५. अनेकान्तव्यवस्था
	६. न्यायखण्डनखाद्य
	७. अनेकान्तप्रवेश
	८. शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका
	९. गुरुतत्त्वविनिश्चय.

❀❀❀

